# कालिदास-ग्रन्थावली

[ महाकवि कालिदास के सम्पूर्ण काव्यों एवं नाटकों का सानुवाद संग्रह ]

अनुवादक एवं सम्पादक

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री



किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड

रजिस्टर्ड आफिस ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद

# विषय सूची

## प्रथम (काव्य) खण्ड

### रघुवंश महाकाव्य



### कुमारसम्भव महाकाव्य

## मेघदूत



## ऋतुसंहार



---

# द्वितीय (काव्य) खण्ड

## अभिज्ञान शाकुन्तल

*अभिज्ञान शाकुन्तल के पात्रों का परिचय*

## विक्रमोर्वशीय



## मालविकाग्निमित्र

# प्राक्कथन

## कविकुलगुरु कालिदास

कालिदास भारतीय प्रतिभा के एक उज्ज्वल उदाहरण हैं। उनकी कृतियों की निखिल विश्व में प्रतिष्ठा है और संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों तथा नाटककारों में उनका अप्रतिम स्थान है। हमारे देश के तो वे सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं और उनकी समस्त कृतियों को हमारे यहां अनेक शताब्दियों पूर्व से अत्यधिक आदर-मान दिया जाता है। उन्होंने अपने महाकाव्यों, नाटकों तथा मेघदूत और ऋतुसंहार जैसे लघुकाव्यों में जो अनुपम सौन्दर्य भर दिया है, उसकी तुलना संस्कृत साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। लोकप्रियता की दृष्टि से भी कालिदास अद्वितीय हैं। उनकी रचनाएं विशिष्ट विद्वान और साधारण पढ़े-लिखे दोनों को समान रूप से प्रिय हैं। उनकी अनवद्य रचनाओं का आस्वादन जहां पण्डित-मूर्धन्य करते हैं वहीं संस्कृत का आरम्भ करने वाले छात्र भी उनकी सरल, सरस रचनाओं का आनन्द ले सकते हैं। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य का अध्ययन कालिदास की रचनाओं से ही होता है। सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने कालिदास और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में जो प्रशस्ति लिखी है उससे भी यही ध्वनित होता है। उनका कथन है :—

> वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीम्।
> अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्॥
> वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम्।
> लोके भूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः॥

अर्थात् महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन, बादरायण व्यासदेव का वेदान्त या शेषनाग पतंजलि का व्याकरण महाभाष्य, अक्षपाद गौतम का न्यायदर्शन आदि शास्त्र जिसने सम्यक् अध्ययन कर लिया है वही कालिदास की अनवद्य रचना-चातुरी का आ... स्वाद ले सकता है। यही नहीं, मल्लिनाथ ने इससे भी बढ़कर एक बात कही है, उससे ... यही ध्वनित होता है कि कालिदास की सूक्तियों का मर्मभेदन करना बड़े-बड़े पण्डितों का काम है। संस्कृत काव्यों के टीकाकारों में मल्लिनाथ का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। संस्कृत के अनेक उत्कृष्ट एवं जटिल महाकाव्यों पर उनकी टीकाएं यदि सौभाग्यवश सुलभ न होतीं तो वे आज इतने लोकप्रिय न होते। कालिदास की रचनाओं को लेकर स्वयं मल्लिनाथ ने अपने सम्बन्ध में कहा है—

> कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
> चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥

अर्थात् कालिदास की रचना के रहस्यों को केवल आज तक तीन ही व्यक्ति जान सके हैं। एक विधाता ब्रह्मा, दूसरी वाग्देवी सरस्वती तथा तीसरे स्वयं कवि कालिदास। मेरे समान अल्पज्ञ कालिदास का ठीक-ठीक समझने में असमर्थ हैं।

मल्लिनाथ के समान प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार भी जहा कालिदास की वाणी का रहस्य समझने मे अपनी अशक्तता प्रकट करते हैं वहा सामान्य संस्कृतज्ञो के लिए कालिदास की वाणी का वास्तविक तात्पर्य समझना सुगम नही है। अत यह कहना सर्वथा उचित ही है कि कालिदास की रचनाए बडे-बडे पण्डितो के विचार एव मनन की वस्तु हैं। वे अत्यन्त सरस, सरल तथा सुबोध होते हुए भी परम गम्भीर तथा निगूढ भावो से गुम्फित हैं।

महाकवि कालिदास की रचनाए संस्कृत-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधि है। उनके कारण ही इसका समस्त ससार मे उस समय भी आदर हुआ जब हमारा देश परतन्त्र तथा हेय था। कालिदास और उनकी रचनाओ के बिना विशाल-संस्कृत वाड्मय की महिमा अत्यन्त हेय हो जायगी। पाश्चात्य विद्वानो ने मुक्तकण्ठ से कालिदास की प्रशसा की है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध कवि गेटे ने कालिदास और उनकी कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के सम्बन्ध मे अपने एक पद्य मे जो कुछ कहा है, उसी से यह ज्ञात हो जाता है कि ससार के सुप्रसिद्ध महाकवियो मे कालिदास की क्या स्थिति है। गेटे के पद्य का साराश यह है—

"हे मित्र! यदि तुम वासन्ती युवावस्था के मनोरम पुष्प और ग्रीष्म तुल्य प्रौढावस्था के उत्तमोत्तम फल और अन्य एसी आत्मा को प्रभावित करने वाली श्रेष्ठ सामग्रिया एक ही स्थल पर ढूढना चाहते हो तो कालिदास की शकुन्तला पढो। उसमे पहुच कर न केवल तुम्हारी आत्मा ही सन्तुष्ट और शान्त होगी प्रत्युत तुम्हे स्वर्ग और मर्त्यलोक की सकल समृद्धिया भी वहा एक ही जगह पर मिल जायगी।"[1]

कालिदास को शताब्दियो पूर्व से ही 'कविकुलगुरु' कहा जाता है और आज भी वह उक्त पदवी के अधिकारी हैं। उनकी उपलब्ध कृतियों को संस्कृतज्ञ-समाज मे शताब्दियो पूर्व के समान ही आज भी परम आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसका कारण यह है कि वे मानव-जीवन की शाश्वत आकाक्षाओ एव प्रवृत्तियों के सूक्ष्मदृष्टा कवि हैं। उनकी अमर कविता की स्रोतस्विनी एसे अगाध सौन्दर्य एव प्रेम की लहलहाती पृष्ठभूमि पर प्रवहमान है, जो कभी शुष्क नही हो सकती। उन्होने इस नश्वर जगत् मे ऐसी मानवीय समस्याओ को अपना वर्ण्य विषय बनाया है जो काल एव देश की सीमा मे कभी बंध नही सकती। उनकी दृष्टि सदैव असीम सौन्दर्य का दर्शन करती थी और वे उस पावन प्रेम के पुजारी थे, जो कलुषित वासनाओ से प्रेरित होने नही सर्वस्व-समर्पण की उद्दाम लालसाओं सदैव लालायित रहता है।

कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य की उपासिका नही थी, उन्होने ने पात्रो मे अपनी सौन्दर्यप्रियता का जो मानदण्ड स्थिर किया है, उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वे क्या भीतर, क्या बाहर, क्या सुख, क्या दु ख, क्या सम्पत्ति क्या विपत्ति—सभी अवस्थाओ मे अक्षुण्ण रहने वाले अगाध सौन्दर्य के प्रेमी थे। निखिल विश्व ब्रह्माण्ड मे फैली हुई प्रकृति सुन्दरी की स्वर्गीय सुषमा को वे मानव-सौन्दर्य मे प्रतिमूर्त देखते थे। उनकी मान्यता थी कि जो सुन्दर और दर्शनीय होना है उसका हृदय कभी कुटिल-क्रूर नहीं हो सकता और जो वास्तव मे सुन्दर होता है, उसे आभूषण या मण्डन की भी आवश्यकता नही पडती। वे केवल नारी के अगो मे ही सौन्दर्य के द्रष्टा नही थे, अग-जग मे सर्वत्र व्याप्त सौन्दर्य को देख कर ही वे तृप्त होते थे। मानव-शरीर अथवा नारी के अगो का सौन्दर्य ही

---

१. वासन्तं कुसुमं फल च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमत. सन्तर्पणम् मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो।
ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥
गेटे के छन्द का महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी कृत संस्कृत पद्यानुवाद

उनका प्रिय वर्ण्य विषय नही था, वन, उद्यान, पर्वत, नदी, सरोवर, गिरि, गुहा, वन्य-जीव-जन्तु आदि की सुन्दरता को भी उन्होंने वही महत्व दिया है। नारी को वे केवल उपभोग की वस्तु नहीं मानते थे। उनका मत था कि वह गृहिणी है, सचिव है, सखी है और समस्त ललित कलाओ मे निष्णात, गृहस्वामिनी है। नारी के अगो का सौन्दर्य ही उसके लिए गौरव और सौन्दर्य की वस्तु नहीं है, उसका हृदय एव शील सदाचरण भी उसी के योग्य होना चाहिए। कालिदास के प्रेम की परिणति केवल उद्दाम काम-लालसा की क्षणिक तृप्ति मात्र नही थी, उनके पात्रो मे अपने प्रेम की रक्षा के लिए समस्त जीवन का उत्सर्ग कर देने की निष्ठा है। कालिदास सौन्दर्य को प्रेम मे तथा प्रेम को जीवन-समर्पण मे सफल मानते थे। उनके सौन्दर्य और प्रेम का आदर्श बहुत ऊचा था।

उन्होने अपने पात्रो मे प्रेम एव सौन्दर्य की जो उत्कृष्ट कल्पना की है वह प्राचीन भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुरूप है। पर स्त्री के प्रति कामुक भावना तो दूर दृष्टिपात करना भी कालिदास पाप समझते थे। यद्यपि वे यह स्वीकार करते थे कि प्रेम का ज्वार अपवादो की परवाह नही करता तथापि वे मानते थे कि पुरुषो को अपना चित्त पराई स्त्री के रूप या आकर्षण से विमुख रखना चाहिए। कालिदास ने प्रेम की सार्थकता को विवाह मे तथा विवाह की सार्थकता को सन्तानोत्पत्ति के मागलिक व्यापार मे स्वीकार किया है। उनके पात्रो मे जहा कही प्रेम-व्यापार हुआ है, वहा सर्वत्र इस प्राचीन भारतीय मर्यादा की यथेष्ट रक्षा हुई है। यही कारण है कि इस भारतीय कवि को और उसकी कृतियो को देश और काल की सकुचित सीमा मे बाधा नही जा सका और सहस्रो वर्षों से आज तक उसे सार्वभौम प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है।

कालिदास का प्रकृति प्रेम विश्व विश्रुत है। केवल सस्कृत-साहित्य मे ही नही विश्व साहित्य मे उनसे बढ कर प्रकृति का पुजारी कोई दूसरा कवि दिखाई नही पडता। सामान्य कवियो की भाति वे प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के रूप मे ही नही देखते थे। वे प्रकृति को प्रेम का पूरक मानते थे। उनकी दृष्टि मे मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड प्राकृतिक सौन्दर्य ही था। उनकी पार्वती, इन्दुमती, शकुन्तला, मालविका, उर्वशी आदि नायिकाओ के अग प्रत्यगो की शोभा प्राकृतिक उपादानो से बिल्कुल मिलती-जुलती है। कालिदास प्रकृति को मूक, अचेतन और निष्प्राण नही मानते थे, उनके मानव पात्रो की भाति उनके प्राकृतिक-पात्र भी सुख-दुःख, आनन्द-उल्लास, सवेदना आदि मनो-विकारो का अनुभव करते थे। उनके वृक्ष और लताए रोती थी, आसू बहाती थी, भेंट और उपहार समर्पित करती थी तथा कुशल-क्षेम पूछती थी। उनका मत है कि मनुष्य जब प्रकृति के जीवन से पृथक् हो जाता है तो यह समझ लेना चाहिए कि उसकी अन्तश्चेतना मन्थर हो गई है, उसकी आध्यात्मिक भूख मर गई है और उसमे समाज-कल्याण की भावना सूख रही है।

यो तो कालिदास की समस्त रचनाओ मे प्रकृति के जीवन से मानव-जीवन को प्रेरणा और उद्बोधन प्राप्त होने का सन्देश मिलता है किन्तु उनका अभिज्ञान शाकुन्तल तो जैसे प्रकृति के साथ मानवीय सम्बन्धो की एक मुखर चित्रशाला है। प्रकृति के साथ मनुष्य के मधुर सम्बन्धो की जो मनोहर छटा अभिज्ञान शाकुन्तल म दिखाई पडती है, उसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास की अद्वितीय सफलता और लोकप्रियता का एक कारण और भी है, वह है उनकी सुललित, सरस तथा अक्लिष्ट भाषा। वे सुरभारती के लाडले बेटे थे। उनकी कल्पनाए जितनी सुकुमार, उदात्त तथा मनोमोहिनी थी, उतनी ही उनकी कवित्व प्रतिभा भी शक्तिमती थी। वे जटिल से जटिल श्लोक बना सकते थे और उसमे क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा तथा अलकारो का प्रयोग भी कर सकते थे। किन्तु ऐसा होने पर भी उन्होंने कहीं

नाम मात्र के लिए भी पाण्डित्य-प्रदर्शन नही किया। एक प्रकृत चित्रकार की भांति अपनी सहज उद्भावनाओ को उन्होने बिना किसी प्रयास और आडम्बर के रख दिया है। बडी से बडी बातो को सरल सीधे शब्दो मे बाध दिया है। न अलकारो के पीछे पड कर उनके बोझ से कविता-कामिनी के कलेवर को कष्ट पहुचाया है और न जटिल छन्दो के बन्धो के मोह मे ग्रस्त होकर पण्डितो को भी अप्रसिद्ध धात्वर्थों के पीछे सिर खपाने की विपत्ति मे डाला है। मानो निसर्गकन्या शकुन्तला की भाति वे अपनी कविता-कामिनी को भी, दर्शन मात्र मे पण्डित-समाज के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली बनाना चाहते थे। उनकी कृतियों मे सस्कृत काव्यशैली अथवा नाट्यशैली का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई पडता है। कवियो की श्रेणी मे वे जहा सर्वश्रेष्ठ कवि हैं वहा उनकी तुलना का कोई अन्य नाटककार भी आज तक इस देश की धरती पर पैदा ही नही हुआ। जैसे मा भारती ने अपने इस लाडले बेटे को बिना किसी विकल्प के ही अपनी सारी निधियाँ सौंप दी थीं।

कालिदास की अपनी मौलिकता भी उनकी लोकप्रियता का कारण बनी है। यद्यपि उन्होने अपने वर्ण्य विषयो को प्राय प्राचीन ग्रन्थो से लिया है तथापि उनकी मौलिक उद्भावनाए वहा भी अक्षवित हैं। अनेक नीरस एव उपेक्षित इतिवृत्तो को प्राचीन सन्दर्भों से लेकर उन्होंने अपनी कल्पना के रग मे इस प्रकार से रँगा है कि मूल-ग्रन्थ के विषय पीछे पड गये हैं और कालिदास के पात्र तथा उनकी कल्पना प्रसूत घटनाए आगे आ गई हैं। अपनी रचना चातुरी से उन्होने उन प्राचीन विषयो का ऐसा स्वरूप परिवर्तन कर दिया है कि व स्वय मौलिक बन गए है।

कालिदास की प्रसादगुण पूर्ण, ललित पदावली विमडित, परिष्कृत शैली, उनकी वैदर्भी रीति के जिस प्रकार सर्वथा अनुरूप है उसी प्रकार उनकी सुकुमार कल्पना भी मधुर एव निगूढ भावों की अभिव्यजना मे पूर्ण समर्थ है। रस तो जैसे उनके दास थे। वे किसी भी रस का उत्तमता से परिपाक करने मे सिद्धहस्त थे। यद्यपि अलकार उनकी सूक्ष्म मर्मज्ञता के अनुगामी थे तथापि इनमे उपमा उनकी प्रियतमा थी। अनुप्रास अनायास ही उनकी पदावली के पीछे-पीछे भागते आते थे। स्वभावोक्ति उनकी रससिद्ध लेखनी मे अपने आप उतर कर नाचने लगती थी और उनके उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास भी अपनी अनुपम छटा से आज भी सुरभारती के सहस्रो श्लोको को पण्डितजनो का कठहार बनाये हुए है।

कालिदास की उपमा के सम्बन्ध मे तो यह प्रसिद्धि है ही कि उनके समान उपमा लिखने वाला कोई अन्य कवि पैदा ही नही हुआ। उनकी उपमाए अनुरूपता, सरसता और अपूर्वता की दृष्टि से बेजोड है। उनमे जहा पदे-पदे यथार्थता रहती है, वही विविधता भी उनका धर्म है। जहा प्राचीन शास्त्रों की गूढ उक्तियो को भी कालिदास ने अपनी उपमाओ के बीच मे बैठा दिया है वही लोक व्यवहार मे प्रतिदिन घटित होने वाले व्यवहार एव अनुभव भी उनकी उपमाओ के क्षेत्र मे बाहर नही जा सके हैं। यदि उनकी समग्र कृतियो से उनकी अनवद्य उपमाए एकत्र कर दी जाय तो उनको देख कर ही यह कहा जा सकता है कि कालिदास की प्रतिभा, कितनी, सर्वतोमुखी थी, उनका, शास्त्र ज्ञान, व्यवहार ज्ञान तथा अनुभव कितना गम्भीर और कितना व्यापक था।

कालिदास की सुकुमार कल्पना का चमत्कार उनकी कृतियो मे सर्वत्र मुखर है। वे मानव हृदय की कोमल भावनाओ के ही चित्रकार नही थे प्रत्युत उसकी उत्सुकता, विह्वलता, क्रोध, अमर्ष, आक्रोश, आवेग आदि मानसिक विकारो के भी प्रवीण द्रष्टा थे। जैसे बाह्य जगत् मे कोई गूढ से गूढ प्रसग भी उनसे अप्रकट नही रह सकता था वैसे ही अन्तर्जगत मे भी उनकी सर्वत्र गति थी। शृगार की विविध भावनाओ के तो वे सर्वश्रेष्ठ

चित्रकार थे। यही कारण है कि उनके नायक और नायिकाए ही नही उनके समस्त पुरुष और स्त्री पात्र भी अपने ढग मे अद्वितीय बन पडे हैं।

इस प्रकार क्या भाषा, क्या भाव—सर्वत्र कालिदास अद्वितीय प्रतिभा एव कवित्व शक्ति से सयुक्त दिखाई पडते हैं। काव्य जगत की एसी एक भी विशेषता नही मिलती जिसकी न्यूनता उनकी कृतियो मे कहीं भी दृष्टिगोचर हो। किसी समालोचक ने कालिदास के सम्बन्ध मे निम्नलिखित श्लोक की रचना बहुत कुछ समझ-बूझ कर ही की है। उसका कथन है—

पुरा कवीना गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

अर्थात् प्राचीन काल मे कवियो की गणना का प्रसग उपस्थित होने पर सर्वप्रथम कालिदास का नाम कनिष्ठिका अगुली पर रखा गया। किन्तु कालिदास की समानता करने वाले किसी अन्य कवि का नाम न होने के कारण दूसरी अगुली पर किसी का नाम जा ही नही सका। फलत कनिष्ठिका के बाद की दूसरी अगुली का नाम 'अनामिका' पड गया। आज भी कालिदास के समान कोई और कवि न होने के कारण उस अगुली का अनामिका नाम सर्वथा सार्थक सिद्ध हो रहा है।

कालिदास के सम्बन्ध मे सस्कृत के अमर गद्यकार बाणभट्ट का कथन है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मजरीष्विव जायते॥

अर्थात् कविवर कालिदास की आम की मजरी (बौर) के समान सरस और मधुर

उनका भी गुरु मानना यद्यपि समीचीन नही है तथापि यह सम्भवत जयदेव ने इन दोनो महानुभावो को देव अथवा ऋषि-कवि की श्रेणी मे रख कर ने मानव कवियो मे कालिदास को यह सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया है, जो उनके लिए सर्वथा समीचीन है।

कविवर सोड्ढल ने रघुवशकार कालिदास की प्रशसा करते हुए यह छन्द गाया है—

ख्यात. कृती सोऽपि च कालिदास. शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धो. पर पारमवाप कीर्ति॥

अर्थात् धन्य है वे श्रेष्ठ कवि कालिदास, जिनकी उज्ज्वल कीर्ति उनकी निर्दोष कविता के समान अमृत तुल्य तथा मधुर है। जैसे उनकी वाणी सूर्यवश का पूरा वर्णन करने मे समर्थ सिद्ध हुई है वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के उस पार पहुच गई है।

इस से स्पष्ट होता कि जैसे उस समय भी कालिदास की प्रसिद्धि समुद्र के पार विदेशो तक मे फैल गई थी।

कविवर श्रीकृष्ण ने कालिदास की भाषा के सम्बन्ध मे सुन्दर छन्द कहा है। वे कहते हैं—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघै.।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥

अर्थात् कमलिनी की भांति अस्पृष्ट दोष वाली (रात्रि में विकसित न होने वाली, दूसरे पक्ष मे दोषरहित) मुक्ताहार की भांति गुणसमूह से युक्त (अनेक सूत्रों में ग्रथित, दूसरे पक्ष में प्रमादादि गुणो से युक्त), प्रियतमा के अङ्ग की भांति विमर्द से (संवाहन अथवा मीजने आदि से, दूसरे पक्ष मे परीक्षण से) आह्लादकारिणी भाषा कालिदास को छोड कर किसी अन्य कवि को नहीं मिली है।

सुप्रसिद्ध आलंकारिक आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक मे एक स्थान पर कालिदास के सम्बन्ध मे जो आदर व्यक्त किया है उससे प्रकट होता है कि उस युग म भी, जब कि संस्कृत हमारे देश की राजभाषा थी और सारे देश में संस्कृत के अच्छे-अच्छे कवियों और पाठकों की बडी संख्या थी, कालिदास की ऊंची प्रतिष्ठा थी, उनकी रचनाओं का अत्यधिक मान था। उनका कथन है—

अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

अर्थात यद्यपि इस संसार में अनेक कवि पैदा होते है तथापि उनमे से कालिदास के समान दो-तीन या अधिक से अधिक पांच-छः व्यक्तियों को ही महाकवि की उपाधि दी जा सकती है।

गोवर्धनाचार्य ने कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहा है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती॥

अर्थात् कालिदास की सूक्तियां साभिप्राय, मधुर तथा कोमल रति विलासिनी (सुकुमार और मनोहर रमणी) के कण्ठस्वर की भांति, शिक्षा देते समय भी हमें आनन्द से विभोर कर जाती है।

संस्कृत-साहित्य मे आज भी अपनी अविचल प्रतिष्ठा रखने वाले उपर्युक्त कवियों अथवा समालोचकों की दृष्टि में कालिदास और उनकी कविता का जो महत्त्व ऊपर वर्णित है उसकी टीका-टिप्पणी अथवा भाष्य करने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं अति स्पष्ट है। उन सब का संक्षिप्त सारांश यही है कि कालिदास संस्कृत साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार हैं। उनकी सर्वतोमुखी कवित्व प्रतिभा के समान ही उनकी मनोहारिणी भाषा थी और उनकी अद्भुत कल्पना-शक्ति के अनुरूप ही उनकी राष्ट्र एवं समाज का हित साधन करनेवाली पूत दृष्टि थी। उनकी कविता का उद्देश्य आचार्य मम्मट के शब्दों में सोल्हों आने था।

कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे

अर्थात् कमनीय कांता के कोमल उपदेशों के समान उनकी रचना से हम सर्वत्र किसी न किसी मूल्यवान शिक्षा को हृदयंगम कर सकते हैं। उनकी कविता केवल मनोरंजन के लिए नहीं है अथवा न केवल इसीलिए है कि कुछ कवि और गिने चुने पाठक ही उसका अमन्द आनन्द ले सकें।

## कालिदास का जीवन-वृत्त

किन्तु हमारे दुर्भाग्य से उज्ज्वल भारतीय प्रतिभा के इस सर्वश्रेष्ठ रत्न के सम्बन्ध मे हमे कोई वास्तविक जानकारी आज नहीं मिलती। उनकी अनवद्य रचनाएं ही उनकी कीर्ति की गाथा हमें सुनाती है किन्तु अतीत काल से ही अति प्रयत्न करने पर भी अनुमानो के सिवा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी स्थिति, उनकी जीवनी तथा उनकी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हमे नहीं मिलते। यहीं नहीं, उनकी रचनाएं कौन-कौन है, कितनी हैं इस

सम्बन्ध में भी अभी विवाद है। कोई-कोई विद्वान कालिदास रचित निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम गिनाते हैं—

अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, कुमार सम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार, कुन्तेश्वर दौत्य, अम्बास्तव, कल्याणस्तव, कालीस्तोत्र, काव्यनाटकालंकार, गंगाष्टक, घटखर्पर, चण्डिकादण्डक स्तोत्र, चर्चास्तव, ज्योतिर्विदाभरण, दुर्घट काव्य, नलोदय, नवरत्नमाला, पुष्पवाणविलास, मकरन्दस्तव, मंगलाष्टक, महापद्मषट्क, रत्नकोष, राक्षसकाव्य, लक्ष्मीस्तव, लघुस्तव, विद्वद्विनोदकाव्य, वृन्दावनकाव्य, वैद्यमनोरमा, शुद्धचन्द्रिका, शृंगारतिलक, शृंगाररसाष्टक, शृंगारसारकाव्य, श्यामलादण्डक, श्रुतबोध और सेतुबन्ध।

इन सभी पुस्तकों में आज बहुतेरी प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्त हैं। किन्तु यह एक विवाद का विषय है। ऐसा लगता है कि कालिदास नाम के कई संस्कृत-कवि हो चुके हैं, जिनकी रचनाओं को ऊपर एक ही में मिलाकर रख दिया गया है। दसवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान कविवर राजशेखर ने तीन कालिदासों के सम्बन्ध में कहा भी है।[1] ऊपर की इन रचनाओं में कई ऐसी निम्नकोटि की साधारण पुस्तकें हैं, जिनकी रचना विश्वविश्रुत अभिज्ञान शाकुन्तल आदि के रचयिता कालिदास के द्वारा सम्भव नहीं जान पड़ती। कालिदास के जिन सात ग्रन्थों का रचयिता मानने में किसी को आपत्ति नहीं होती वे ऊपर दी गई पुस्तकों की नामावली में सर्वप्रथम उल्लिखित हैं। इनमें से चार (रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार) काव्य हैं तथा तीन (अभिज्ञान शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय) नाटक हैं। यद्यपि कोई-कोई विद्वान ऋतुसंहार को भी कालिदास की रचना मानने में सन्देह प्रकट करते हैं।

कालिदास के जीवन की घटनाएं नितान्त अज्ञात हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार वे उज्जयिनी के परमपराक्रमी शासक विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे और बाल्यकाल में निपट मूर्ख थे। पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे और कुछ धूर्त पण्डितों ने विद्यावती या विद्योत्तमा नाम की एक परम विदुषी स्त्री से उनका शास्त्रार्थ करा कर, उन्हें विजयी घोषित करके बड़ी युक्ति से उसी के संग उनका विवाह करा दिया था। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद जब विद्यावती को कालिदास की मूर्खता तथा अपने से पूर्व पराजित उन पण्डितों की धूर्तता का पता लगा तो वह बहुत दुःखी हुई और उसने परम मूर्ख कालिदास को घर से बाहर चले जाने का आदेश दिया। कालिदास ने भगवती की बड़ी आराधना की और उन्हीं के प्रसाद से इन्हें थोड़े ही दिनों में सभी विद्या और कला अपने आप आ गई। जब ये अपने घर लौटे तो विद्यावती ने बाहर का दरवाजा बन्द कर रखा था, जिससे कोई पर पुरुष घर में न प्रविष्ट हो सके। बन्द किवाड़ों को खुलवाने के अभिप्राय से कालिदास ने अपनी पत्नी विद्यावती को बुला कर संस्कृत में कहा—

*अनावृतकपाटं द्वारं देहि*

अर्थात् दरवाजे के बन्द किवाड़ों को खोल दो। विदुषी पत्नी को कालिदास की स्पष्ट वाणी सुन कर कुतूहल हुआ। उसने तुरन्त पूछा—

**अस्ति कश्चिद् वाग्विशेष**

अर्थात् क्या तुम्हारी वाणी में कुछ विशेषता आ गई है? कालिदास ने पत्नी का

१. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्। शृंगारे ललितोद्गारे कालिदास त्रयी किमु।

उचित समाधान किया और बताते है उन्होंने पत्नी को दिये गये उत्तर वाले वाक्य के शब्दो मे से एक-एक को लेकर एक एक काव्य का प्रणयन किया। सर्वप्रथम 'अस्ति' शब्द से आरम्भ कर के उन्होने कुमारसम्भव का प्रणयन किया, जिसके प्रथम का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

द्वितीय शब्द 'कश्चित्' से आरम्भ कर के कालिदास ने मेघदूत का प्रणयन किया जिसके प्रथम श्लोक का प्रथम चरण इस प्रकार है—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।

इसी प्रकार तृतीय शब्द 'वाक्' से उन्होने रघुवश का आरम्भ किया, जिसके प्रथम श्लोक मे वाक् शब्द समाविष्ट है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये

कालिदास के सम्बन्ध मे लकावासियो मे भी एक किवदन्ती प्रसिद्ध है। कहते हैं— कालिदास सिंहलद्वीप के राजा कुमारदास के 'जानकी हरण नामक महाकाव्य के प्रशसक थे। राजा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने कालिदास को अपने यहा बुलवाया तथा उनका बडा आदर-सत्कार कर के अपने यहाँ रखा। कालिदास राजा के प्रियपात्र बन गये, किन्तु दैवदुर्विपाक से उनकी घनिष्ठता वहाँ की एक सुन्दरी दासी से हो गई जिसके कारण बाद मे वहीं पर कालिदास की मृत्यु भी हो गई। राजा कुमारदास कालिदास की मृत्यु से इतने दुखी हुए कि कालिदास की जलती हुई चिता पर कूद कर उन्होने भी आत्महत्या कर ली। कहते है, सिंहलद्वीप के दक्षिण भाग मे अभी तक कालिदास की समाधि विद्यमान है।

कालिदास की जन्मभमि और स्थितिकाल के सम्बन्ध मे भी बडा विवाद है। अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हे बगाली मानते है तो कुछ लोग उन्हे कश्मीरी तथा कुछ लोग मालवा निवासी एव कुछ लोग आधुनिक उत्तर प्रदेश का निवासी बताते हैं। अधिकाश भारतीय विद्वान ईसा से ५७ वर्ष पूर्व उनकी स्थिति मानते है तो कुछ लोग उन्हे ईसा की चौथी अथवा छठी शताब्दी तक खीचते हैं। नीचे हम अति सक्षेप मे इन सभी मतों का सार दे रहे है।

कालिदास की जन्मभूमि होने का श्रेय भारतवर्ष को है, इसमे तो किसी को कोई आपत्ति नही है, किन्तु कुछ बगदेशीय विद्वान उनके नाम के कारण उन्हे नदिया निवासी बगीय मानते हैं और उनकी रचनाओ से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते है, जिनसे यह ध्वनित होता है कि वे बगाली हो सकते थे। इसी प्रकार कुछ विद्वान उन्हे कश्मीरी मानते हैं और उनकी रचनाओ मे कश्मीर की घाटियो तथा कश्मीर की वस्तुओ का मोहक वर्णन उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते है। किन्तु इन दोनो मतो की अपेक्षा कालिदास सम्बन्धी इधर-उधर बिखरी किंवदन्तियाँ तथा उनकी रचनाओं के सूत्रो से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यही है कि कालिदास की कर्मभूमि या लीलाभूमि होने का श्रेय मालव राजधानी उज्जयिनी को ही है। उज्जयिनी के प्रति कालिदास का प्रेम सर्वत्र मुखर है। मेघदूत मे यक्ष अपनी प्रियतमा के पास जाने वाले मेघ से कहता है—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्मभूरुज्जयिन्याः।

अर्थात् उत्तर की ओर जाने मे तुम्हे यद्यपि रास्ता कुछ टेढा पडेगा फिर भी तुम उस उज्जयिनी नगरी के राजभवनों को देखना मत भूलना क्योंकि आदि।

इस श्लोक मे ही नही इसके अतिरिक्त भी उज्जयिनी के प्रति कवि की अनन्य निष्ठा तथा स्निग्ध भावना उसकी कृतियो मे प्रकट है। यही नही, अपनी रचनाओ मे उन्होंने उज्जयिनी मे प्रवहमान क्षिप्रा नदी तथा वहा के अधिदेवता महाकाल का भी सादर उल्लेख किया है, जब कि कश्मीर अथवा बगाल के सम्बन्ध मे उन्होंने कही भी कोई पक्षपात नही दिखाया है। प्रसग उपस्थित होने पर इन सब के सम्बन्ध मे भी कुछ वर्णन भले ही कर दिया है।

कालिदास ने भारत-भूमि के सभी अचलो का यथेष्ट पर्यटन किया है। उनकी रचनाओ मे वर्णित भू-भागो तथा वहा की विशेषताओ को देखने से यह अनुमान होता है कि यातायात के साधनो की अत्यन्त दुर्लभता के उस युग मे बिना अपनी आखो से देखे हुए कोई भी कवि उन-उन प्रदेशो का वैसा जीवन्त वर्णन नही कर सकता था, जैसा कालिदास ने अपनी रचनाओ मे किया है। यह बहुत सम्भव है कि कालिदास का जन्म उज्जयिनी मे न हुआ हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से स्वीकार ही करना पडेगा कि उज्जयिनी कवि की बहुत समय तक कर्मभूमि रही है, जैसा कि उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य के नवरत्न होने की किंवदन्ती से भी प्रकट होता है।

कालिदास की रचनाओ मे हिमालय और गगा के प्रति सर्वत्र विशेष पक्षपात पाया जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि कालिदास जिस चिरन्तन भारतीय आदर्श और मर्यादा के कवि थे, उसकी कल्पना हिमालय और गगा के बिना सम्भव नही थी तथापि इन्ही के भरोसे कुछ विद्वान उनके इस पक्षपात का यह भी अर्थ निकालते हैं कि कालिदास का जन्म आधुनिक उत्तर प्रदेश के पूर्वीय अचल के किसी जनपद में हुआ रहा होगा। इसके विपरीत कुछ विद्वान हिमालय तटवर्ती उत्तर प्रदेश के पर्वतीय जनपदो मे उनकी जन्मभूमि होने का अनुमान करते हैं।

कालिदास का समय निश्चित करने मे भी परस्पर विरोधी तर्कों का इतना बडा जजाल है कि सामान्य पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। जैसा कि कहा जा चुका है कालिदास के सम्बन्ध में यह बहुप्रसिद्ध किंवदन्ती है कि वे उन्ही सम्राट विक्रमादित्य के समसामयिक थे, जिनका प्रवर्तित विक्रम सवत् ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व चलता है। किन्तु ये विक्रमादित्य कौन थे तथा इनका राजत्वकाल कब था—इसी मे बहुत विवाद है। कुछ पश्चिमी विद्वानो का कथन है कि विक्रमादित्य नाम का कोई सम्राट कभी हुआ ही नही। कुछ का कथन है कि विक्रमादित्य एक नही अनेक थे। कुछ का कथन है कि विक्रमादित्य किसी का नाम नही था, यह एक उपाधि मात्र थी, जिसे समय-समय पर कई राजाओ ने धारण किया था। किन्तु कुछ भी हो ये सारे तर्क उन विदेशियो के हैं, जो कभी भारतीय ऐश्वर्य एव विभूतियो को भली दृष्टि से नही देखना चाहते थे। हमारे देश के जीवन मे विक्रमादित्य की सत्ता के प्रति अविश्वास करने की स्थिति कभी पैदा नही हो सकती। उनके द्वारा प्रवर्तित विक्रम सवत्सर को यदि हम छोड भी दें, उपेक्षा भी कर दें तब भी विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखने वाली अनेकानेक जनश्रुतियो, कथाओ अथवा किंवदन्तियो को हम कहां तक छोड सकते हैं। हमारे देश का प्रत्येक पढा लिखा व्यक्ति बिना किसी इतिहास के पढे ही यह जान लेता है कि सम्राट विक्रमादित्य भारतीय सम्राटो के मुकुटमणि थे। उनकी प्रजावत्सलता, वीरता, धीरता, दानशीलता तथा परोपकार-परायणता की कथाए राम और कृष्ण की कथाओं के समान ही हमे प्रेरणा देती हैं। उनकी राजधानी उज्जयिनी थी। उन्होने एक भीषण युद्ध में विदेशी शक आक्रान्ताओ का समूल निर्दलन किया था और अपनी उस महान विजय के उपलक्ष्य मे उन्होंने एक नूतन सवत्सर का प्रचलन किया था, जो आज विक्रम सवत् के नाम से प्रसिद्ध है। इतने विपुल प्रमाणो एव तथ्यों के बाद भी

विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे यह कहना कि वे थे ही नही, अथवा ऐसा कोई राजा हुआ ही नही, युक्तिसगत नही प्रतीत होता।

फर्ग्यूसन नामक एक पाश्चात्य विद्वान कहते है कि विक्रमादित्य नाम का कोई सम्राट नही हुआ। सन् ५४४ ई० मे उज्जयिनी मे हर्ष नाम का एक राजा था जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। उसी ने शको को परास्त किया था और अपनी इस विजय की स्मृति मे उसी ने एक सवत् चलाया था जो आज विक्रम सवत् के नाम से प्रसिद्ध है। यह मत नितान्त अशुद्ध और भ्रामक है क्योकि यदि हर्ष ने ५११ या ५४४ ई० के आस-पास शको को पराजित किया तो ६०० वर्ष पूर्व का समय लेकर एक नूतन सवत् चलाने की उसे क्या जरूरत थी? इसके उत्तर मे फर्ग्यूसन यह कहते हैं कि कालिदास की रचनाओ मे शको, हूणो, पल्लवो तथा यवनो की चर्चा आई है और ये सभी भारतभूमि मे ५०० ई० के बाद ही आये थे। किन्तु फर्ग्यूसन महोदय यह नही सोचते कि कालिदास ने कही भी यह नही लिखा है कि इन जातियो का भारतभूमि के किसी भूभाग पर अधिकार था अथवा इनके साथ भारतभूमि पर किसी से युद्ध हुआ था। कालिदास ने तो रघु के दिग्विजय प्रसग मे इनका केवल नामोल्लेख भर किया है। भारत की उत्तर पश्चिम दिशा की ओर इन जातियो का निवास कालिदास एव तथोक्त हर्ष से भी सैकडो वर्ष पूर्व रहा होगा। अपने सुविस्तृत अनुभव एव ज्ञान से कालिदास ने इनका उल्लेख कर दिया होगा। उनके समान बहुश्रुत कवि को इतनी जानकारी होना कुछ कठिन नही है कि देश के किन-किन भू भागो मे किन-किन जातियों का निवास है।

फर्ग्यूसन महोदय तथा उनका मत मानने वाले लोग यह तर्क देते हैं कि विक्रम सवत् को ६०० वर्ष पीछे ले जाने का कारण यह है कि भारतवर्ष मे पाये जाने वाले अभिलेखो मे ६००वर्ष से पहले से विक्रम सवत् अर्थात् ४०० या ५०० या इसके बीच या आसपास के किसी सवत् का कोई उल्लेख कहीं नही मिलता। बात ठीक है, बहुत दिनो तक बात ऐसी ही रही, ५०० विक्रम सवत् से पूर्व का कोई शिलालेख या ताम्रपत्र कही नही मिला, किन्तु बाद मे मन्दसौर मे एक ऐसा शिलालेख मिला है जिस पर मालव सवत् ५२९ का उल्लेख है। अवश्य ही यह मालव सवत् आज का विक्रम सवत् ही था। इधर एक अन्य शिलालेख भी मिला है जो ४३० विक्रम सवत् का है। इन दोनो अभिलेखो को देखते हुए फर्ग्यूसन महोदय के सभी तर्क निस्सार हो जाते है।

इसी प्रकार कीथ आदि यूरोपियन विद्वानो ने तर्क दिया है कि कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य कोई सम्राट नही थे। यह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम था, जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त की उपाधि पराक्रमाक अथवा पराक्रमादित्य थी। यह चन्द्रगुप्त ई० सन् ३७५ से ४१३ तक राज्य करता रहा। इसके पुत्र का नाम कुमारगुप्त था और कुमारगुप्त के पुत्र का नाम स्कन्दगुप्त था। अपने इस मत की स्थापना मे कीथ आदि ने जिन युक्तियो का सहारा लिया है उनमे से मुख्य ये हैं—

१ चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन काल भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल था, उस समय समूचे भारत देश मे अपूर्व शान्ति और अपार समृद्धि थी। कालिदास की रचनाओ मे राजा और प्रजा की जिस सुख-समृद्धियो का वर्णन है, उससे यह ज्ञात होता है कि वह उसी समय मे विद्यमान थे।

२ चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने अनेक भयकर युद्ध कर के अपने साम्राज्य का विपुल विस्तार किया था। उसके इन युद्धो का जीवन्त वर्णन चौथी शताब्दी मे विद्यमान हरिषेण द्वारा लिखित प्रशस्तियो मे है। हरिषेण की उक्त प्रशस्तियो की कालिदास के रघु दिग्विजय के वर्णन से बहुत समानता है, इससे ज्ञात होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त के समय मे ही विद्यमान थे।

३ चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम कुमारगुप्त था। कालिदास ने अपने महाकाव्य कुमारसम्भव की रचना उसी को लक्ष्य करके की थी, ऐसा अनुमान होता है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर कुमार शब्द का प्रयोग भी किया है। यह कुमार शब्द अवश्य ही चन्द्रगुप्त को प्रसन्न करने के लिए कवि ने प्रयुक्त किया होगा। इससे भी ज्ञात होता है कि वह चन्द्रगुप्त के समय में विद्यमान थे।

४ यह तर्क और भी विचित्र है। कालिदास की समग्र रचनाओं में से गोप्ता अथवा गुप् धातु के विभिन्न प्रयोगों को चुन कर एकत्र किया गया है और उनके आधार पर यह तर्क दिया गया है कि यह कालिदास के हृदय में गुप्त वंश के प्रति विशेष निष्ठा का प्रमाण है। यही नहीं, उन्होंने अपनी रचनाओं में चन्द्र और इन्दु शब्दों का भी प्रयोग अधिक किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे चन्द्रगुप्त के समसामयिक थे।

इसी प्रकार की कुछ अन्यान्य युक्तियां भी हैं, जिन्हें देना व्यर्थ है। उन सब का तात्पर्य केवल इतना ही समझना चाहिए कि येन केनापि प्रकारेण कालिदास को ईसा की चौथी या छठी शताब्दी में ला कर बैठाना ही इन पाश्चात्य मनीषियों का प्रयत्न है क्योंकि वे ईसा से भी पूर्व भारतभूमि में कालिदास के समान एक महान कवि और नाटककार था, यह मानना उचित नहीं समझते।

ऊपर की युक्तियों के खण्डन इस प्रकार किए जाते हैं—

१ कालिदास के काव्यों और गुप्त सम्राटों की प्रवृत्तियों में महान् अन्तर है। प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया है कि गुप्त सम्राट वैसे ही कट्टर वैष्णव थे कालिदास जैसे कट्टर शैव थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में शिव की प्रार्थना एवं प्रशंसा जिस मुक्त हृदय से की है, उसका विष्णु के प्रति सर्वथा अभाव है। कालिदास के सभी नाटकों की नान्दी में शिव की स्तुतियां हैं, कुमार सम्भव में शिव और उनके परिवार का ही वर्णन है, जब कि प्रसंग आने पर भी विष्णु के वर्णन में उन्होंने जैसे जान बूझ कर कृपणता की है। एक कट्टर वैष्णव सम्राट का आश्रित कवि कभी इस प्रकार का दुःसाहस नहीं कर सकता था।

२ यदि कालिदास चन्द्रगुप्त की सभा के पण्डित होते तो अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रस्तावना में चन्द्रगुप्त की राज-सभा का उल्लेख करते, विक्रमादित्य की राज्य सभा का नहीं, क्योंकि किसी सम्राट का असली नाम छोड़कर केवल उसकी उपाधि का उल्लेख करना उसका अपमान करना है। यही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि यदि समुद्रगुप्त के समान परम पराक्रमी सम्राट कालिदास के समय के आस-पास या कुछ पहले कोई हुआ होता तो वे अवश्य ही उसका नामोल्लेख किसी न किसी प्रसंग में अवश्य करते। किन्तु कालिदास की किसी भी रचना में न तो चन्द्रगुप्त का कहीं उल्लेख है और न समुद्रगुप्त का ही।

३ कालिदास की किसी रचना में कुमार शब्द का प्रयोग देख कर उससे उनके चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त का समसामयिक होने का अनुमान करना नितान्त हास्यास्पद है, क्योंकि कुमार शब्द ऐसा है जिसका प्रयोग कालिदास से पूर्व किसी भी राजपुत्र या देवपुत्र के लिए सदैव किया जाता रहा है।

४ कालिदास की रचनाओं में गुप् धातु के प्रयोगों द्वारा उनका सम्बन्ध गुप्त वंश से जोड़ना बड़ी दूर की सूझ है। इसी प्रकार चन्द्र या इन्दु शब्द की बहुलता द्वारा चन्द्रगुप्त से उनके सम्बन्ध का उल्लेख करना भी हास्यास्पद है। क्योंकि यदि कालिदास को अपने आश्रयदाता सम्राट तथा उनके वंश का परिचय देना

अभीष्ट होता तो उन्हे इस कार्य से कौन रोक सकता था। अपनी अनेक रचनाओ मे से किसी एक की भी प्रस्तावना मे वह स्पष्ट रूप से दोनो का उल्लेख कर सकते थे। सत्य तो यह है कि किसी महाकवि की इतनी अधिक रचनाओं मे से किसी एक धातु या शब्दो के प्रयोग द्वारा उसका स्थितिकाल निश्चित करना नितान्त अनुचित और अव्यावहारिक है। किसी भी प्राचीन महाकवि की यदि इतनी रचनाए आज हमे उपलब्ध होती तो अवश्य ही उनमे भी गुप् धातु तथा चन्द्र और इन्दु शब्दो के इतने या इससे कुछ कम अधिक प्रयोग मिल सकते थे।

इन सब बातो को ध्यान मे रख कर यह कहना पडता है कि कालिदास और उनके आश्रयदाता विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे जो जनश्रुति परम प्राचीन काल से हमारे देश मे प्रचलित है उसे अन्यथा मानने की कोई आवश्यकता नही है। उनके आश्रयदाता उज्जयिनी के परमार वशीय सम्राट विक्रमादित्य थे, जिनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य था। इन्ही महेन्द्रादित्य ने क्षिप्रा के पावन तट पर महाकाल के मन्दिर का निर्माण करवाया था। कालिदास की रचनाओ मे इन्द्र के लिए महेन्द्र शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है, जो उनके महेन्द्रादित्य के प्रति गूढ प्रेम का ही प्रतीक है। इन्ही सम्राट विक्रमादित्य ने ईसा के जन्म से ५७ वर्ष पूर्व भारत पर आक्रमण करने के इच्छुक शको को परास्त किया था। यह तथा इनके पिता महेन्द्रादित्य दोनो कट्टर शैव थे, जैसा कि कालिदास स्वय भी थे। कथासरित्सागर, वैतालपचविंशतिका, द्वात्रिंशत् पुत्तलिका आदि संस्कृत-साहित्य के कथाग्रन्थो मे इन्ही विक्रमादित्य का उल्लेख है। यद्यपि ये सभी पुस्तकें ऐतिहासिक नहीं है तथापि कोई कारण ऐसा नही दिखाई देता है जो विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे इनमें वर्णित कथाओ को निराधार सिद्ध कर सके।

## कालिदास का व्यक्तित्व

कालिदास अपनी रचनाओ मे अत्यन्त प्रकट है। उन्हे पढने से यह तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि कालिदास नितान्त सहृदय व्यक्ति थे। परम सौन्दर्योपासक थे और विशुद्ध प्रेम के पुजारी थे। ससार के सभी सुखो और समृद्धियो का उन्होंने उपभोग किया था। प्रकृति के वे अनन्य भक्त थे, यद्यपि उनका नारी-सौन्दर्य के प्रति विशेष आकर्षण था।

कालिदास आदर्शवादी थे और उनमे प्राचीन भारतीय आदर्शों के प्रति अगाध निष्ठा थी। भारतीय सस्कृति के मूल्यवान तत्वों की उन्होने सर्वत्र प्रयत्नपूर्वक रक्षा की है और जहा तक बन पडा है श्रुतियो, स्मृतियो एव आचार-ग्रन्थो की मान्यताओ को स्वीकार कर के ही वे आगे बढ़ है। वर्णाश्रम धर्म के प्रति उनकी अगाध निष्ठा थी और उन्होने अपनी रचनाओं मे पदे पदे इनकी प्रतिष्ठा की यथेष्ट रक्षा की है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के समान ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के कर्तव्यो को भी उन्होंने सजगता से निभाया है। यद्यपि वे शासन मे राजाओ की परम्परा के अनुयायी थे तथापि उनकी राजा सम्बन्धी कल्पना अत्यन्त व्यापक थी। उनके राजा वही हो सकते थे जो प्रजा का सब प्रकार से हित साधन करे। उनके धन-सचय का उद्देश्य दान देना था और वे कम से कम इसलिए बोलना पसन्द करते थे कि सत्यवादी बने रह सकें। उनकी विजयाभिलाषा केवल यश के लिए थी तथा उनका प्रेम विवाह के लिए और विवाह सन्तानोत्पत्ति के लिए होता था। वे बाल्यावस्था मे विद्याभ्यास के, यौवन मे सुखो का उपयोग करने के, वृद्धावस्था मे मुनियो की तरह जीवन धारण करने के तथा अन्त मे योगाभ्यास द्वारा शरीर त्यागने के अभिलाषी होते थे।

कालिदास को कभी अभावो से सामना नही करना पडा था, क्योकि उनकी रचनाओ मे निर्धनता और अभावग्रस्त अवस्था का वर्णन बिल्कुल नही है। भौतिक सुख-साधनो

एव समृद्धियो मे वे पले थे। यदि कभी कोई दुःख सम्भव था तो वह किसी की मृत्यु या वियोग द्वारा ही। कालिदास का स्वभाव यद्यपि गम्भीर था तथापि विनोद की मात्रा भी उनमे कम नही थी। उनके विदूषको मे हास्यरस का जो सुन्दर परिपाक हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आयुर्वेद, गान्धर्वविद्या (सगीत शास्त्र), ज्योतिष तथा लोक व्यवहार मे दक्ष कवि कालिदास व्याकरण और धर्मशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। पुराणो और वैदिक साहित्य का भी उनका अच्छा अध्ययन था।

कालिदास चित्रकला और सगीत के भी अनन्य प्रेमी थे और घुमक्कड प्रकृति के थे। अपने पात्रो द्वारा उन्होने अपनी इन प्रवृत्तियो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके पात्र केवल भूमण्डल मे ही सैर-सपाटा नही करते, प्रत्युत नक्षत्रो एव ग्रहो-उपग्रहो के लोको मे भी उनका अबाध आवागमन होता है। उनकी कविता मे चित्रो के अकण की पर्याप्त सामग्री रहती है। यही नही, उनके पात्र भी ऐसा अच्छा चित्र बनाते हैं जिन्हे देख कर आज का पहुचा हुआ चित्रकार भी दाँतो तले उगली दबाता है। कालिदास का सगीत-प्रेम उनके पात्रो के मुह से ही प्रकट होता है। वे घोर विपत्ति मे भी अपने सगीत से ही अपना मनोरजन करते हैं।

इस प्रकार साहित्य, सगीत और कला—तीनो क्षेत्रो मे कालिदास को विशेष निपुणता प्राप्त थी। लोक व्यवहार मे भी उनकी सर्वतोमुखी गति थी और मानव-जीवन की सभी स्थितियो मे उनका अनुभव नितान्त गम्भीर और व्यापक था।

# कालिदास के काव्य

महाकवि कालिदास भारतीय काव्य-प्रतिभा के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उनको जन्म दे कर हमारे देश की धरती धन्य हुई है। सत्य तो यह है कि कालिदास केवल भारत के ही कवि नहीं है, उनकी कृतियों को देशकालातीत महिमा मिली है, उन्हें तो समूची पृथ्वी का कवि कहना ही उचित होगा। किसी भी देश में जन्मे कवि, साहित्यकार एवं सहृदयजनों को उनकी अमर रचनाएँ उसी प्रकार आनन्द-विह्वल और प्रेरित करती हैं जैसे किसी भारतीय को। जिसमें जितनी अधिक सहृदयता एवं संवेदनशीलता होगी वह उतना ही अधिक इस महाकवि की कृतियों का रसास्वादन कर सकेगा। कालिदास की कृतियों में जो रसमयता, जो आनन्दोत्पादकता एवं जो अविनश्वर सुन्दरता छिपी हुई है वह युगान्त तक उसी प्रकार बनी रहेगी। गगन-मण्डल के नक्षत्रों एवं ग्रह-पुंजों की भांति उनकी कान्ति कभी क्षीण होने वाली नहीं है। जिस प्रकार सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी आज उनका सम्मान और आदर है उसी प्रकार भविष्य में भी हजारों वर्षों तक वह सादर स्मरण किये जाते रहेंगे।

कालिदास के कवि-कर्म की किन विशेषताओं की चर्चा की जाय और किन्हें छोड़ा जाय। जिस प्रकार संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था उसी प्रकार कविता की विविध विधाओं के भी वह अद्वितीय स्रष्टा थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी कल्पना का क्षेत्र पृथ्वी, आकाश तथा पाताल तक ही नहीं सीमित था, मानव मन की गहरी गुत्थियों को भी वह बखवी समझते थे तथा वेद, व्याकरण अलंकार, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, वेदान्त, सांख्य, पदार्थ विज्ञान, इतिहास पुराण—आदि सभी विषयों में उनका अधिकार असामान्य था। अपनी कृतियों में उन्होंने जहां से जितना चाहा है उतना अंश ले कर उसे चमत्कृत किया है। यद्यपि कविता के नवों रसों के चित्रण में उन्हें बड़ी सफलता मिली है तथापि करुण और शृंगार रस के वर्णनों में तो जैसे वह वाग्देवता के अवतार बन गए हैं।

## ऋतुसंहार

महाकवि कालिदास की काव्य-कृतियों में रचनाक्रम के अनुसार ऋतुसंहार का प्रथम स्थान है, क्योंकि इसमें कालिदास की लेखनी का वह चमत्कार नहीं दिखायी पड़ता जो कुमारसम्भव, मेघदूत अथवा रघुवंश में है। प्रत्युत कहना तो यह चाहिए कि इसका स्तर उनसे निम्न कोटि का है। ऋतुसंहार में एक नवयुवक अथवा तरुण कवि की प्रतिभा का दर्शन होता है। संस्कृत वाङ्मय में यद्यपि छहों ऋतुओं का पारम्परिक वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है तथापि कालिदास के समान केवल छहों ऋतुओं पर एक काव्य लिखने का श्रेय किसी अन्य कवि को नहीं मिला है। हमारा देश छहों ऋतुओं का क्रीडांगण है। संसार में कहीं भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां ये छहों ऋतुएँ होती हों। लगता है महाकवि ने अपनी जन्मभूमि की इस विशेषता को प्रकट करने के लिए ही इस काव्य की रचना की है।

ऋतुसंहार में महाकवि कालिदास का प्रकृति-प्रेम अत्यन्त व्यापक एवं कमनीय रूप में चित्रित है। इससे प्रकट है कि प्रत्येक ऋतुओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताएँ जैसे कवि

की सुपरिचित रही हों। पशु-पक्षियों, पुष्पों, लताओ, वृक्षो, धरती, वायु एव आकाश के मनोज्ञ रूपो का जैसा जीवन्त चित्रण ऋतुसहार मे किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रत्येक ऋतु के वातावरण का मनोरम चित्र परदे की भाति एक के बाद दूसरा बदलता जाता है और उसके तापमान, उसमे फूलनेवाले पुष्प, भ्रमर, पशु-पक्षी आदि सबके साथ पाठकों का सम्पर्क होता है। इन सबके वर्णनो मे विचित्र रसानुभूति होती है। किन्तु ऋतुसहार की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह है कि इसमे प्रकृति के विविध उपादानो को उद्दीपन के रूप मे ही ग्रहण किया गया है। युवक कवि की कल्पना मे उद्दीपन के अतिरिक्त जैसे प्रकृति का कोई दूसरा विधान ही न रहा हो। जहाँ आदिकवि वाल्मीकि एव व्यास की रचनाओ मे इन ऋतुओ के उपादानो को आलम्बन प्रधान मानकर वर्णन किया गया है वहाँ कालिदास ने इन्हे मात्र उद्दीपन ही माना है।

कवि ने अपनी प्रियतमा को साक्षी देकर सर्वप्रथम ग्रीष्म ऋतु का मनोज्ञ वर्णन किया है। लगता है, ग्रीष्म कालिदास की प्रिय ऋतु रही है, क्योकि जहाँ-कही उसे मौका लगा है वहा ग्रीष्म को सर्वप्रथम स्थान दिया है। कवि की इस विचित्र रुचि का आधार सभवत उनकी कर्मभूमि उज्जयिनी का वातावरण ही रहा हो, जहाँ ग्रीष्म की शोभा एव उपादेयता हमारे देश के अन्य स्थानो की अपेक्षा अधिक होती है। अपनी सर्वप्रिय रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे भी उन्होंने ग्रीष्म का जो मनोहारि चित्रण किया है, उसकी छाया ऋतुसहार मे भी दिखायी पडती है। वैसे कालिदास को सभी ऋतुएँ प्रिय थी और उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना मे किसी न किसी ऋतु का वर्णन अवश्य किया है। कुमारसभव मे ऋतुराज वसन्त विक्रमोर्वशीय तथा मेघदूत मे वर्षा ऋतु का, अभिज्ञान शाकुन्तल मे ग्रीष्म का तथा रघुवश मे परम्परा के अनुसार सभी ऋतुओ का वर्णन कालिदास ने किया है। किन्तु इन सब वर्णनो मे जो विशेषताएँ हैं, उनकी छाप होते हुए भी ऋतुसहार की अपनी विशेषता है। इसमे नवयौवन सुलभ कल्पनाओ का प्राबल्य है। कतिपय स्थलो पर तो यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्त्रियो के सहवास मे अथवा रतिक्रीडा मे यह सुखदायी बने। इससे लगता है कि इस काव्य को कालिदास ने अपने नवयौवन मे लिखा था और इसका उद्देश्य तात्कालिक नागरिक समाज का मनोरजन था।

ऋतुसहार मे हमारे देश की छहो ऋतुओ के अनुसार ६ सर्ग हैं। इन सर्गों मे कम से कम १६ तथा अधिक से अधिक २८ छन्द है। ग्रीष्म से लेकर वसन्त ऋतु तक क्रमानुसार जो वर्णन किया गया है, उसमे तत्तद् ऋतुओ के वृक्षो, लताओ, पशु-पक्षियो तथा वातावरण के चित्रण मे ही कवि ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाया है। छन्द प्राय गेय हैं और उनकी भाषा इतनी सरल, सरस तथा प्राञ्जल है कि पाठक अनायास ही रसास्वादन मे निमग्न हो उठता है। प्रत्येक प्रसग मे प्रकृति की उन्मुक्त छटा का वर्णन तो है ही उसके कारण प्रेमी जनो पर पडने वाले उसके प्रभाव का भी मनोग्राही वर्णन है।

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन आरम्भ करते हुए ही कालिदास को इस बात की शिकायत होती है कि प्रचण्ड सूर्य के कारण इस ऋतु मे कामदेव कुछ शान्त हो गया है। फिर तो वह कामदेव को जगाने के प्रयत्नो मे लग जाता है। चन्द्रमा की निर्मल चाँदनी, रग-बिरग फौव्वारे, विविध प्रकार के मणि-रत्न, सुगन्धित द्रव्य, मनोहर हर्म्यतल, प्रियतमा के सुगोच्छ्वास से हिलती हुई मदिरा, वीणा के साथ गाए हुए मधुर गीत—ये सभी वस्तुएं ग्रीष्म ऋतु मे कामदेव के उद्दीपन के लिए परमावश्यक हैं। इसी प्रकार प्रेमिकाओ के लिए भी कवि ने ग्रीष्म ऋतु के उद्दीपन उपचारो की चर्चा की है। यद्यपि ये वर्णन ग्रीष्म ऋतु से सम्बन्धित नही हैं और इनमे प्राकृतिक दृश्यो का तो तनिक भी सम्बन्ध नही है तथापि जैसा कि पहले बता चुके हैं, कवि कालिदास का यह ग्रन्थ जिस अवस्था मे लिखा गया है, उसमे इसका न होना ही अस्वाभाविक होता। नव यौवन की उद्दाम लालसाओ का वर्णन

किए बिना वह अपने कविकर्म का निर्वाह कर ही नही सकता था। इन उद्दीपन उपचारो एव सामग्रियो की चर्चा के अनन्तर कालिदास की दृष्टि ग्रीष्म ऋतु के पशु-पक्षियो, लता-वृक्षो, एव वातावरण की ओर घूमती है और वह आग उगलने वाले भास्कर को किरणो से झुलसे हुए उन जगली पशुओ की प्यास से सन्तप्त हो उठता है जो सूखी हुई जीभ को निकाले हुए भ्रम से उन जगलो की ओर भागे जा रहे है जहाँ के अजन के समान नीले आकाश को ही वे जलाशय समझ बैठे हैं। कवि की सहानुभूति उन सर्पो से भी होती है जो प्रचण्ड धूप मे झुलसकर, अपना मुँह नीचे छुपाकर, बार-बार फुफकार छोडता हुआ मयूर की छाया मे कुण्डली मार कर बैठा हुआ है। हाथियो के समीप होने पर भी ग्रीष्म की असह्य ज्वाला मे दग्ध सिंह का भी कवि चित्रण करता है जो हतोत्साहित होकर जीभ से ओठो को चाट रहा है। जल की तलाश मे घूमते हुए जगली शूकरो का झुण्ड, धूप से तपे हुए मेढक, जुगाली करते हुए महिष, मर्कट इन सब की दुर्दशा का जो जीवन्त चित्रण कालिदास ने इस काव्य मे किया है, उससे प्रकट होता है कि ग्रीष्म की ज्वाला मे वन्य जीव-जन्तुओ का जीवन कितना दु खमय हो जाता है। वे अपनी जन्मजात शत्रुता भी भूल जाते हैं।

> गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसन्तप्तदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
> हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद् विपुलपुलिनदेशा निम्नगा सविशन्ति ॥
>
> ऋतुसंहार १।२७।

ग्रीष्म के प्रभाव का जो चित्रण कालिदास ने अपने इस काव्य मे किया है वह किसी सफल चित्रकार की तूलिका से कम रस-बोध करानेवाला नही है। प्राय सभी चित्रो मे बिम्ब ग्रहण कराने की पूर्ण क्षमता है।

आगे चल कर कवि ने ग्रीष्म के अनन्तर आनेवाली वर्षा ऋतु का स्वागत एक राजा के रूप मे किया है। एक कृषि प्रधान देश के महाकवि को वर्षा ऋतु की महिमा भली भाति ज्ञात है। वह जानता है कि वर्षा ऋतु पर ही समूचे वर्ष का कुशल-क्षेम निर्भर करता है अत वह आलम्बन और उद्दीपन दोनो ही भावो से वर्षा का मनोहर वर्णन करने म प्रवृत्त होता है।

कालिदास का वर्षा-वर्णन सस्कृत साहित्य मे अनूठा है। उसका निरीक्षण इतना सूक्ष्म है, जितना सस्कृत के किसी अन्य कवि से नही बन पडा है। कालिदास ने वर्षा के बादलो को अनेक रूपो मे देखा है, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारे देश के किसान देखते है, किन्तु साथ ही उसमे कवि की निरीक्षण प्रतिभा भी चरितार्थ हुई है। वर्षा के आगमन के साथ ही ससार के जीवन मे जो सुखदायिनी प्रेरणा अपने आप आविर्भूत हो जाती है, उसकी मनोहर झाकी कालिदास ने अपने इस काव्य मे सजाई है। अपनी भीषण ज्वाला मे अग-जग को सन्तप्त और पीडित करनेवाले ग्रीष्म के अनन्तर प्राणिमात्र मे स्फूर्ति, चेतना एव उल्लास की बिजली फैलाने वाली वर्षा ऋतु का शुभागमन होता है। उसके आते ही नदियो, पशु-पक्षियो तथा वनस्पति ससार मे नवजीवन थिरक उठता है। मयूर नाच उठते है, नदियाँ तटवर्ती द्रुमो को ढहाती हुई मटमैले पानी की बाढ के साथ अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए दौड पडती हैं। कर्ण-मधुर ध्वनियाँ करते हुए भ्रमरवृन्द पत्र-पुष्प विहीन नलिनियो को छोडकर नाचते हुए मयूरो के पखो को नया कमल समझकर उसी पर टूट पडते हैं। आदि, आदि।

ऋतुसहार मे वर्षा का वर्णन कालिदास ने बहुत जमकर किया है। इसका कारण कदाचित् यह भी है कि न केवल कृषि आदि जीवनोपयोगी पदार्थो के लिए ही अपितु काम-देव के राज्य मे भी वर्षा ऋतु का सनातन काल से विशेष महत्त्व रहा है। किन्तु कुछ बातो

मे अपनी दूसरी रचना मेघदूत मे उन्हे वर्षा ऋतु के वर्णन मे जो सफलता मिली है वह ऋतुसहार मे नही मिल सकी है। मेघदूत के वर्षा वर्णन मे कल्पना का मनोरम लालित्य है जबकि ऋतु सहार मे पारम्परिक तथा अनुभूत दृश्यो की जगमगाहट है। वर्षा ऋतु की प्रणयोद्दीपना भारतीय कवियो का चिर उपजीव्य रही है। मेघदूत के पूर्व मेघ मे कवि को इसके लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है, जबकि ऋतुसहार मे उतना अवकाश नही है। कुमार सम्भव का वर्षा वर्णन भी अपने ढग का अनोखा है, किंतु ऋतुसहार मे वर्षा ऋतु के सहज सौदर्य एव प्राकृतिक दृश्यो का जो चित्रण है वह उन्ही की प्रौढ रचनाओ मे अन्यत्र दुर्लभ है। एक दृश्य की बानगी लीजिए—

विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद् वक्रगतिप्रसर्पितम्।
स साध्वसैर्भेकुलै निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥

ऋतुसहार २।१३

ऋतुसहार का शरद् वर्णन ललित कल्पनाओ से बोझिल है। वर्षा ऋतु का आगमन जहाँ राजा के रूप मे हुआ है, वही शरद् को रूपरम्या नववधू के रूप मे कवि ने चित्रित किया है। नववधू की जो मनोज्ञ छटा कवि की कल्पना मे है वह सचमुच दर्शनीय है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टि: प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

ऋतुसंहार ३।१

शरदागमन मे कवि की प्रतिभा का प्रसाद देखते ही बनता है। वह पहले वातावरण को देखता है, जिसमे चतुर्दिक शुभ्रता ही शुभ्रता है। कास की झाडियो ने धरती को, निर्मल चादनी ने रातो को, हसो ने नदियो की जलराशि को, कमलो ने सरोवरो को, पुष्पो के भार से नीचे की ओर झुके हुए छतिवन के वृक्षो ने जगलो को तथा मालती के पुष्पो ने उपवनो को श्वेत शुभ्र बना दिया है। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि प्रकृति के उन सभी पदार्थों और स्थलो पर रमी है जो शरद् ऋतु मे किसी न किसी रूप मे बदले हुए से दिखायी पडते है। आकाशमण्डल मे जलविहीन पवनप्रेरित पयोदो को वह रजत, शख एव कमल के समान शुभ्र कान्ति धारण किए हुए इस प्रकार देखता है जैसे किसी राजा के ऊपर चँवर डुलाये जा रहे हो। कवि की दृष्टि घुटे हुए अजन की पिंडी के समान नीले आकाश, बन्धूक के लाल-लाल कुसुमों से ढँकी पृथ्वी, पके हुए धान से लदे हुए खेत, असभरी बालियो से झुके धान के पौधो, पुष्पो मे विनत मनोहर वृक्षो, विकसित कमलो से भरे सरोवरो की कमलिनियो को हिलाने वाले शीतल पवन की मादकता पर रीझ उठती है, जो तरुणो के मन को भी झकझोर देती है।

शारदीया रजनी की भावभरी झाकियो से ऋतुसहार का तृतीय सर्ग अतीव मनोमोहक बन गया है। चन्द्रमा एव ताराओ से विमण्डित नभोमण्डल को कवि ने एक ऐसे सरोवर के समान देखा है जिसमे मरकत मणि की नीली चमक से युक्त जलराशि भरी हो, राजहस बैठे हुए हो तथा अनेक कुमुद खिले हुए हों। शरद् ऋतु के उद्दीपन प्रसगो मे कवि ने अपनी कमनीय कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। विरही जनो को बिलखाकर उसने शरद ऋतु की प्रणयव्यजना का जो रूप खीचा है, वह इस प्रकार है—

परदेसी लोग जब शरद ऋतु मे खिले हुए नीले कमलो मे अपनी प्रियतमा की काली आखो की सुन्दरता देखते हैं, मतवाले हसो के मधुर-उन्मन कलरवों मे अपनी प्राणेश्वरी की करधनी की रुनझुन सुनते हैं तथा बन्धूक के लाल-लाल पुष्पो मे उनके मनोहर अधरो की लालिमा निहारते हैं तब वे अपनी सुध बुध खोकर विलाप करने लगते हैं।

मे तो उसका अक्षुण्ण स्थान है और शताब्दियो पूर्व से हमारे यहा के कवियो तथा काव्य-रसिकों पर इसका गहरा प्रभाव पडा है। मेघ जैसे अचेतन प्राणी द्वारा अपनी प्रेमिका के पास प्रेम का पावन सन्देश प्रेषण करने की कल्पना कालिदास के सिवा दूसरा कौन कवीश्वर कर सकता था। मेघदूत के सन्दर्भो से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि प्रेम की महिमा की प्रतिष्ठा ही मेघदूत का पावन उद्देश्य रहा है। धरती पर प्रकृति का जितना भी साम्राज्य है उसमे प्रणय के दूत को कही भी कोई बाधा नही मिलती। सर्वत्र अनुकूलता, सरसता, सहानुभूति, सहायता एव सेवा भावना ही उसे प्राप्त होती है। चचलगति पवन भी उसके अनुकूल बन जाता है, गर्व से भरा चातक भी बाई ओर आकर मधुर ध्वनि करने लगता है, और गर्भाधान का उत्सव मनाने वाली बलाकाएँ पक्तिबद्ध होकर उसकी सम्बर्धना के लिए तत्पर हो जाती है। इतना ही नही होता, अचेतन उत्तुग शैल भी उसके कण्ठालिगन के लिए आतुर हो जाता है, आसू बहा कर अपना स्नेह प्रकट करता है। लबे मार्ग मे सहायता एव विश्राम के बीसो साधन अनायास ही मिल जाते हैं और पावन प्रेम का सन्देश पहुचाने वाले की सहायता के लिए तत्पर होते है। कवि ने जान-बूझकर उसे वही मार्ग बताया है जो सर्वत्र स्नेह और सहानुभूति की अविरल शीतल छाया से आच्छादित है। निखिल विश्वब्रह्माण्ड को आनन्द एव सुख-शान्ति मे निमज्जित करने वाली प्रेम-सुधा का अतीव आह्लादकारी वर्णन कालिदास ने अपने मेघदूत मे किया है। प्रेम-जन का कर्म सर्वाधिक [illegible]

है, उसे कोई प्रेमीजन ही निभा सकता है। ८

को भी रसिक रूप मे ही चित्रित किया है।

है उन सब मे उसकी रसिकता को आप्यायित करने वाले पदार्थो तथा स्थलो को ही रखा गया है। वेगवती नदी, नीचै पर्वत, उज्जयिनी की ऊची अट्टालिकाएँ—ये सभी विलास-विभ्रम के उत्तेजक सम्बन्धो से समन्वित है। निर्विन्ध्या तथा गभीरा—ये दोनो नदिया तो मानो उसे प्रेयसी के रूप मे समर्पित की गयी है जिनका रसास्वादन वह अपनी महत्त्वपूर्ण यात्रा को किंचत्काल के लिए स्थगित करके करेगा। उसकी प्राणप्रिया सौदामिनी तो उसके सग है ही। मार्ग मे चचल भ्रू लताओं से सुशोभित सुन्दरी पौरागनाएँ, वार-वनिताएँ तथा देवयुवतियाँ सभी उसके स्वागत के लिए तैयार मिलेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने अपने इस खण्डकाव्य मे प्राकृत एव मानुषी प्रकृति मे प्रेम-सन्दर्भ के मामले मे कोई भेद नही माना है। चेतनाचेतन का भेद मिटा दिया है, क्योकि वह सर्वसामान्य के

के ऊपर इस प्रकार जलवृष्टि करना कि तत्काल हल से जुती हुई धरती गन्धवती हो उठे।

इस प्रकार मेघदूत मे कालिदास ने बडी निपुणता से अपने कविकर्म का निर्वाह किया है. प्रेम और शृंगार, वियोग और करुणा का जो मनोमुग्धकारी रूप इस छोटे-से काव्य मे दिखायी पडता है, वह अपनी दुर्लभ विशेषताओ के कारण अनुपम है और उसमे समस्त काव्यगत विशेषताओ के साथ भारतीय मर्यादा का भी अद्भुत समन्वय है।

मेघदूत से कविवर कालिदास की अनेक विशेषताओ का भी पता हमे लगता है। जहा वेद, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि विषयो की विशेषज्ञता दिखायी पडती है वही इतिहास, पुराण तथा भूगोल के ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। कवि को भारत के भूगोल का अच्छा ज्ञान था। उस युग मे न तो रेलें थी न वायुयान थे। दुर्गम वनो, पर्वतो तथा नदी-नदो के कारण एक छोर से दूसरे छोर तक पहुचना अत्यन्त दुष्कर था,

मे अपनी दूसरी रचना मेघदूत मे उन्हें वर्षा ऋतु के वर्णन मे जो सफलता मिली है वह ऋतुसहार मे नही मिल सकी है। मेघदूत के वर्षा वर्णन मे कल्पना का मनोरम लालित्य है जबकि ऋतु सहार मे पारम्परिक तथा अनुभूत दृश्यो की जगमगाहट है। वर्षा ऋतु की प्रणयोद्वेजना भारतीय कवियो का चिर उपजीव्य रही है। मेघदूत के पूर्व मेघ मे कवि को इसके लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है, जबकि ऋतुसहार मे उतना अवकाश नही है। कुमार सम्भव का वर्षा वर्णन भी अपने ढग का अनोखा है, किंतु ऋतुसहार मे वर्षा ऋतु के सहज सौंदर्य एव प्राकृतिक दृश्यो का जो चित्रण है वह उन्ही की प्रौढ रचनाओ मे अन्यत्र दुर्लभ है। एक दृश्य की बानगी लीजिए—

विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद् वक्रगतिप्रसर्पितम्।
स साध्वसैर्भेककुलैं निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥

ऋतुसहार २।१३

ऋतुसहार का शरद् वर्णन ललित कल्पनाओ से बोझिल है। वर्षा ऋतु का आगमन जहाँ राजा के रूप मे हुआ है, वही शरद् को रूपरम्या नववधू के रूप मे कवि ने चित्रित किया है। नववधू की जो मनोज्ञ छटा कवि की कल्पना मे है वह सचमुच दर्शनीय है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

ऋतुसहार ३।१

शरदागमन मे कवि की प्रतिभा का प्रसाद देखते ही बनता है। वह पहले वातावरण को देखता है, जिसमे चतुर्दिक शुभ्रता ही शुभ्रता है। कास की झाडियो ने धरती को, निर्मल चादनी ने रातो को, हसो ने नदियो की जलराशि को, कमलो ने सरोवरो को, पुष्पो के भार से नीचे की ओर झुके हुए छतिवन के वृक्षो ने जगलो को तथा मालती के पुष्पो ने उपवनों को श्वेत-शुभ्र बना दिया है। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि प्रकृति के उन सभी पदार्थों और स्थलो पर रमी है जो शरद् ऋतु मे किसी न किसी रूप मे बदले हुए से दिखायी पडते हैं। आकाशमण्डल मे जलविहीन पवनप्रेरित पयोदो को वह रजत, शख एव कमल के समान शुभ्र कान्ति धारण किए हुए इस प्रकार देखता है जैसे किसी राजा के ऊपर चॅवर डुलाये जा रहे हो। कवि की दृष्टि घुटे हुए अजन की पिंडी के समान नीले आकाश, बन्धूक के लाल-लाल कुसुमो से ढॅकी पृथ्वी, पके हुए धान से रूदे हुए खेत, असमरी बालियों से झुके धान के पौधो, पुष्पो से खिला मनोहर वृक्षो, विकसित कमलो से भरे सरोवरो की कमलिनियो को हिलाने वाले शीतल पवन की मादकता पर रीझ उठती है, जो तरुणो के मन को भी झकझोर देती है।

शारदीया रजनी की भावभरी झाकियो से ऋतुसहार का तृतीय सर्ग अतीव मनोमोहक बन गया है। चन्द्रमा एव ताराओ से विमण्डित नभोमण्डल को कवि ने एक ऐसे सरोवर के समान देखा है जिसमे मरकत मणि की नीली चमक से युक्त जलराशि भरी हो, राजहस बैठे हुए हो तथा अनेक कुमुद खिले हुए हो। शरद् ऋतु के उद्दीपन प्रसगो मे कवि ने अपनी कमनीय कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। विरही जनो को विलखाकर उसने शरद् ऋतु की प्रणयव्यजना का जो रूप खीचा है, वह इस प्रकार है—

परदेसी लोग जब शरद ऋतु मे खिले हुए नीले कमलो मे अपनी प्रियतमा की काली आखो की सुन्दरता देखते हैं, मतवाले हसो के मधुर-उन्मन कलरवो मे अपनी प्राणेश्वरी की कनककाची की रुनझुन सुनते हैं तथा बन्धूक के लाल-लाल पुष्पो मे उनके मनोहर अधरो की लालिमा निहारते हैं तब वे अपनी सुध बुध खोकर विलाप करने लगते हैं।

किए बिना वह अपने कविकर्म का निर्वाह कर ही नही सकता था। इन उद्दीपन उपचारो एव सामग्रियो की चर्चा के अनन्तर कालिदास की दृष्टि ग्रीष्म ऋतु के पशु-पक्षियो, लता-वृक्षो, एव वातावरण की ओर घूमती है और वह आग उगलने वाले भास्कर को किरणो से झुलसे हुए उन जगली पशुओ की प्यास से सन्तप्त हो उठता है जो सूखी हुई जीभ को निकाले हुए भ्रम से उन जगलो की ओर भागे जा रहे है जहाँ के अजन के समान नीले आकाश को ही वे जलाशय समझ बैठे है। कवि की सहानुभूति उन सर्पो से भी होती है जो प्रचण्ड धूप मे झुलसकर, अपना मुँह नीचे छुपाकर, बार-बार फुफकार छोडता हुआ मयूर की छाया मे कुण्डली मार कर बैठा हुआ है। हाथियो के समीप होने पर भी ग्रीष्म की असह्य ज्वाला मे दग्ध सिंह का भी कवि चित्रण करता है जो हतोत्साहित होकर जीभ से ओठो को चाट रहा है। जल की तलाश मे घूमते हुए जगली शूकरो का झुण्ड, धूप से तपे हुए मेढक, जुगाली करते हुए महिष, मर्कट इन सब की दुर्दशा का जो जीवन्त चित्रण कालिदास ने इस काव्य मे किया है, उससे प्रकट होता है कि ग्रीष्म की ज्वाला मे वन्य जीव-जन्तुओ का जीवन कितना दु:खमय हो जाता है। वे अपनी जन्मजात शत्रुता भी भूल जाते हैं।

> गजगवयमृगेन्द्राः वह्निसन्तप्तदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
> हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद् विपुलपुलिनदेशा निम्नगा संविशन्ति ॥
>
> ऋतुसंहार १।२७।

ग्रीष्म के प्रभाव का जो चित्रण कालिदास ने अपने इस काव्य मे किया है वह किसी सफल चित्रकार की तूलिका से कम रस-बोध करानेवाला नही है। प्राय सभी चित्रो में बिम्ब ग्रहण कराने की पूर्ण क्षमता है।

आगे चल कर कवि ने ग्रीष्म के अनन्तर आनेवाली वर्षा ऋतु का स्वागत एक राजा के रूप मे किया है। एक कृषि प्रधान देश के महाकवि को वर्षा ऋतु की महिमा भली भाँति ज्ञात है। वह जानता है कि वर्षा ऋतु पर ही समूचे वर्ष का कुशल-क्षेम निर्भर करता है अत वह आलम्बन और उद्दीपन दोनो ही भावो से वर्षा का मनोहर वर्णन करने म प्रवृत्त होता है।

कालिदास का वर्षा-वर्णन सस्कृत साहित्य मे अनूठा है। उसका निरीक्षण इतना सूक्ष्म है, जितना सस्कृत के किसी अन्य कवि से नही बन पडा है। कालिदास ने वर्षा के बादलो को अनेक रूपो मे देखा है, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारे देश के किसान देखते है, किन्तु साथ ही उसमें कवि की निरीक्षण प्रतिभा भी चरितार्थ हुई है। वर्षा के आगमन के साथ ही ससार के जीवन मे जो सुखदायिनी प्रेरणा अपने आप आविर्भूत हो जाती है, उसकी मनोहर झाकी कालिदास ने अपने इस काव्य मे सजाई है। अपनी भीषण ज्वाला मे अग-जग को सन्तप्त और पीडित करनेवाले ग्रीष्म के अनन्तर प्राणिमात्र मे स्फूर्ति, चेतना एव उल्लास की बिजली फैलाने वाली वर्षा ऋतु का शुभागमन होता है। उसके आते ही

नलिनियो को छोडकर नाचते हुए मयूरो के पखो को नया कमल समझकर उसी पर टूट पडते हैं। आदि, आदि।

ऋतुसहार में वर्षा का वर्णन कालिदास ने बहुत जमकर किया है। इसका कारण कदाचित् यह भी है कि न केवल कृषि आदि जीवनोपयोगी पदार्थो के लिए ही अपितु काम-देव के राज्य मे भी वर्षा ऋतु का सनातन काल से विशेष महत्त्व रहा है। किन्तु कुछ बातो

में अपनी दूसरी रचना मेघदूत में उन्हें वर्षा ऋतु के वर्णन में जो सफलता मिली है वह ऋतुसंहार में नहीं मिल सकी है। मेघदूत के वर्षा-वर्णन में कल्पना का मनोरम लालित्य है जबकि ऋतुसंहार में पारम्परिक तथा अनुभूत दृश्यों की जगमगाहट है। वर्षा ऋतु की प्रणयोद्वेजना भारतीय कवियों का चिर उपजीव्य रही है। मेघदूत के पूर्व मेघ में कवि को इसके लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है, जबकि ऋतुसंहार में उतना अवकाश नहीं है। कुमार सम्भव का वर्षा वर्णन भी अपने ढंग का अनोखा है, किंतु ऋतुसंहार में वर्षा ऋतु के सहज सौंदर्य एवं प्राकृतिक दृश्यों का जो चित्रण है वह उन्हीं की प्रौढ़ रचनाओं में अन्यत्र दुर्लभ है। एक दृश्य की बानगी लीजिए—

विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद् वक्रगतिप्रसर्पितम्।
स साध्वसैर्भेककुलैः निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्॥

ऋतुसंहार २।१३

ऋतुसंहार का शरद् वर्णन ललित कल्पनाओं से बोझिल है। वर्षा ऋतु का आगमन जहाँ राजा के रूप में हुआ है, वहीं शरद् को रूपरम्या नववधू के रूप में कवि ने चित्रित किया है। नववधू की जो मनोज्ञ छटा कवि की कल्पना में है वह सचमुच दर्शनीय है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

ऋतुसंहार ३।१

शरदागमन में कवि की प्रतिभा का प्रसाद देखते ही बनता है। वह पहले वातावरण को देखता है, जिसमें चतुर्दिक शुभ्रता ही शुभ्रता है। कास की झाड़ियों ने धरती को, निर्मल चाँदनी ने रातों को, हंसों ने नदियों की जलराशि को, कमलों ने सरोवरों को, पुष्पों के भार से नीचे की ओर झुके हुए छतिवन के वृक्षों ने जंगलों को तथा मालती के पुष्पों ने उपवनों को श्वेत-शुभ्र बना दिया है। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि प्रकृति के उन सभी पदार्थों और स्थलों पर रमी है जो शरद् ऋतु में किसी न किसी रूप में बदले हुए से दिखायी पड़ते हैं। आकाशमण्डल में जलविहीन पवनप्रेरित पयोदों को वह रजत, शंख एवं कमल के समान शुभ्र कान्ति धारण किए हुए इस प्रकार देखता है जैसे किसी राजा के ऊपर चँवर डुलाये जा रहे हों। कवि की दृष्टि घुटे हुए अंजन की पिंडी के समान नीले आकाश, बन्धूक के लाल-लाल कुसुमों से ढँकी पृथ्वी, पके हुए धान से लदे हुए खेत, अधभरी थालियों में झुके धान के पौधों, पुष्पों से विनत मनोहर वृक्षों, विकसित कमलों से भरे सरोवरों की कमलिनियों को हिलाने वाले शीतल पवन की मादकता पर रीझ उठती है, जो तरुणों के मन को भी झकझोर देती है।

शारदीया रजनी की भावभरी झाँकियों से ऋतुसंहार का तृतीय सर्ग अतीव मनोमोहक बन गया है। चन्द्रमा एवं तारागणों से विमण्डित नभोमण्डल को कवि ने एक ऐसे सरोवर के समान देखा है जिसमें मरकत मणि की नीली चमक से युक्त जलराशि भरी हो, राजहंस बैठे हुए हों तथा अनेक कुमुद खिले हुए हों। शरद् ऋतु के उद्दीपन प्रसंगों में कवि ने अपनी कमनीय कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। विरही जनों को बिलखाकर उसने शरद् ऋतु की प्रणयव्यंजना का जो रूप खींचा है, वह इस प्रकार है—

परदेसी लोग जब शरद् ऋतु में खिले हुए नीले कमलों में अपनी प्रियतमा की काली आँखों की सुन्दरता देखते हैं, मतवाले हंसों के मधुर-उन्मत्त कलरवों में अपनी प्राणेश्वरी की कनककाञ्ची की रुनझुन सुनते हैं तथा बन्धूक के लाल-लाल पुष्पों में उनके मनोहर अधरों की लालिमा निहारते हैं तब वे अपनी सुध बुध खोकर विलाप करने लगते हैं।

यही नही, कवि को इतने ही से सन्तोष नही है, वह शरद् की प्राकृतिक शोभा को रमणियों के अगो मे निहित करते हुए आगे कहता है—शरद् ऋतु की शोभा कही तो चन्द्रमा को छोडकर सुन्दरियो के मुख मे चली गयी है, कही हसो की मीठी बोलियो को छोडकर सुन्दरियों के मणिनूपुरो मे प्रविष्ट हो गयी है और कही बन्धूक पुष्पों की रक्तिमा को छोडकर उनके मनोहर अधरो मे बस गयी है।

इस प्रकार ऋतुसहार का शरद् वर्णन सयोग और विप्रलम्भ शृगार के उद्दीपन के रूप मे भी अतीव मनोमोहक हो उठा है और इस समूचे ऋतुसहार काव्य का सर्वश्रेष्ठ अश है।

है और अधिकाश मे रति-विलास के अनाकर्षक तथा औपचारिक प्रसगो की ही भरमार है। सुरतोत्सव मनानेवाली रमणियो के सुखविलास की भूमिका मे ही हेमन्त ऋतु का पर्यवसान हो गया है। यही दशा शिशिर ऋतु की भी है। शिशिर ऋतु मे तो कालिदास को जैसे भोग-विलास के सिवा कोई अन्य पदार्थ दिखा ही नही, जिसका वे वर्णन करते। प्रेमीजनो तथा रमणियो के रति-सुखों तथा सुरतान्त के दृश्यो की भद्दी चित्रावलियों मे ही हेमन्त और शिशिर का दयनीय पर्यवसान होता है। कही-कही, प्रकृति के दृश्यो की जो झाकी दिखायी भी पडती है, वह मन को रमानेवाली नही है। ऐसा लगता है कवि अजेय मदन के दर्प मे आकण्ठ डूब गया है और मिठाइयो, स्वादिष्ट चावल और ईख तक ही अपनी प्रतिभा का प्रसार कर पाता है।

ऋतुसहार का वसन्त वर्णन अतीव मनोहर है। इसके छन्दो की सख्या भी सर्वाधिक अर्थात् अडतीस तक पहुँचा दी गयी है। किन्तु ऋतुराज वसन्त का जैसा वर्णन कालिदास से अपेक्षित था, उसकी छटा ऋतुसहार से नही मिलती। इसमे प्राकृतिक दृश्यो का स्वतत्र चित्रण अति न्यून मात्रा मे है। कुल मिलाकर सात छन्दो मे ही वसन्त की अपार श्री सुषमा को बाधने की चेष्टा की गयी है और शेष छन्दो मे वासन्ती वातावरण एव पदार्थों का नवयौवन पर पडनेवाले उन्मादक प्रभाव का ही वर्णन किया गया है। वसन्त का आरम्भ ही सुरत व्यवसायियो के मन को बीधनेवाले योद्धा के रूप मे किया गया है, जो फूली हुई आम्र मजरियों का अमोघ बाण लेकर तथा अपने धनुष पर भ्रमरो की पक्तियो की प्रत्यचा चढाकर उपस्थित हुआ है।

कालिदास ने वसन्त के मदनोद्दीपक स्वरूप के चित्रण का आरम्भ इस प्रकार किया है—वृक्ष पुष्पयुक्त हो गए हैं, सरोवरो की जलराशि कमलो से आकीर्ण हो गयी है, पवन सुरभित हो गया है, दिन सुरम्य बन गया है और सन्ध्या सुहावनी हो उठी है। इसी से स्त्रिया सकाम हो गयी हैं। वसन्त ने बावलियो के जल को, मणिनिर्मित मेखलाओ को, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को, रमणियो को, मजरियो से लदे आम्रवृक्षो को—सब को एक साथ ही भाग्योदय का सन्देश दिया है। वसन्त ऋतु के उद्दीपन का प्रभाव विरही पथिको पर इतनी गहराई से पडता है कि आम के फूले हुए वृक्षो को देखकर वे नेत्र बन्द करके रोने लगते हैं और नासिका बद कर लेते हैं।

इसी प्रकार रति-विलास के प्रसगो का भी वसन्त वर्णन मे आधिक्य मिलता है जिसके कारण उसे 'शृगार दीक्षागुरु' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है और उसके अनन्य सखा और जेता कामदेव के रसायन का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥

ऋतुसहार ६।३५।

ऋतुसंहार का समष्टि वर्णन वस्तु मुखी नहीं है अर्थात् तत्तद् ऋतुओं में सुलभ वस्तुओं या पदार्थों का ही वर्णन उसमें नहीं किया गया है अपितु प्रत्येक ऋतु में सहज प्राप्य वस्तुओं द्वारा नवयुवक प्रेमीजनों के हृदयों में जो प्रेम-भावनाएं उद्भूत होती हैं उनका भी सजीव चित्रण किया गया है। प्रकृति एवं धरती तथा आकाश की मनोहरता के सजीव चित्रण में मानव जीवन के प्रणयमूलक दृश्यों का अद्भुत समन्वय बिठाया गया है। इस प्रकार ऋतुसंहार की गेय शैली तथा वर्णना-पद्धति का प्रभाव निश्चय ही अनेक शताब्दियों तक काव्य-रसिकों पर ही नहीं परवर्ती कवियों पर भी अमिट रहा है। आनन्द तथा सुख-विलास भरे मस्त जीवन के आराधक प्रेमीजनों के लिए तो यह आज भी उतना ही प्रेय है। प्रकृति में प्राप्य ऐन्द्रिय जीवन को उद्वेलित करनेवाले उपादानों की सजीवता तथा सुन्दरता का ऐसा मनोहर गेय काव्य कविकुलगुरु कालिदास की अनवद्य प्रतिभा से ही समुद्भासित हो सकता था।

## मेघदूत

कालिदास की काव्य कृतियों में मेघदूत का दूसरा स्थान मानना चाहिए, यद्यपि कतिपय आलोचकों की दृष्टि में यह उनकी सबसे अधिक प्रभावशाली तथा लोकप्रिय रचना के कारण तृतीय स्थान का अधिकारी है। संस्कृत के गीतिकाव्यों में तथा खण्डकाव्यों में मेघदूत को जो सर्वोच्च स्थान प्राप्त है वह किसी अन्य कवि की कृति को नहीं प्राप्त हो सका है। इसमें कथा-सूत्र का विधान अत्यल्प है और कुल मिलाकर लगभग सवा सौ छन्दों में ही इसकी समाप्ति भी हुई है किन्तु दाम्पत्य प्रेम से आर्द्र एवं कातर हृदय की मधुर-कोमल भावनाओं का जो मन्द्र मनोरम संवेग इसमें चित्रित हुआ है वह समस्त संस्कृत वाङ्मय में दुर्लभ है। अपनी प्राणोपम प्रियतमा के वियोग में विह्वल दूरस्थ पति की मनोव्यथा का जो मर्मस्पर्शी चित्रण इसमें किया गया है, कविकल्पना एवं काव्यप्रतिभा का जो प्रौढ़ स्वरूप इसमें दिखायी पड़ता है, प्रेम-रस की जो मादक व्यंजना इसमें पिरोयी गयी है, कोमलकान्त पदावली में सुमधुर गेयता का जो मणिकांचन योग इसमें बिठाया गया है वह संसार की किसी भी भाषा के काव्य में दुर्लभ है। इतनी छोटी-सी कथावस्तु को, इतने गिने-चुने छन्दों में इस महाकवि ने इस प्रकार से समुपस्थित किया है जैसा स्वयं वही कर सकता था। वैडूर्यमणि की भांति उसकी तुलना किसी अन्य काव्यकृति से नहीं की जा सकती।

संस्कृत साहित्य रसिकों ने मेघदूत को खण्डकाव्य की ही संज्ञा दी है यद्यपि किसी खण्डकाव्य के लिए जिस प्रकार के इतिवृत्त की आवश्यकता होती है वह मेघदूत में नहीं के बराबर है। यक्ष के विरह आदि की कथा इतनी छोटी है कि दस-पांच पंक्तियों में ही समाप्त की जा सकती है। यही नहीं, खण्डकाव्य की कथावस्तु में जिस गतिमयता की अपेक्षा होती है वह भी मेघदूत में नहीं है। खण्डकाव्य में विषय की प्रधानता होनी चाहिए जबकि मेघदूत में ऐसा भी कुछ नहीं है। यही कारण है कि सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान डा० कीथ मेघदूत को करुणगीति मानते हैं। किंतु मेघदूत में मृत्यु सम्बन्धी करुणा का वर्णन नहीं है जैसा कि किसी भी करुणगीति के लिए अनिवार्य है। इसमें तो शृंगाररस की ही प्रधानता है। अतः हमें तो यही मानना चाहिए कि मेघदूत एक विचित्र प्रकार का खण्ड काव्य ही है जिसकी टक्कर का कोई दूसरा खण्डकाव्य नहीं बन सका।

मेघ को दूत बनाकर प्रियतमा को सन्देश भेजने की कल्पना की प्रेरणा संभवतः महाकवि को आदिकवि वाल्मीकि से मिली होगी। कुछ लोग इसे अस्वाभाविक मानते हैं कि मेघ दूत का कर्त्तव्य कैसे निभा सकता है किन्तु उन्हें सोचना चाहिए कि इसका उत्तर स्वयं कालिदास ने ही दे दिया है—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। मेघदूत की अनुपम लोक-

प्रियता के कारण कालिदास के अनन्तर मेघदूत के ढग पर अनेक सन्देश काव्यो की रचनाएँ हुई। जिनमे से नेमिदूत, पवनदूत, हसदूत, उद्धवदूत, हनुमद्दूत आदि के नाम उल्लेखनीय है, किंतु इन दूत काव्यो को वह लोकप्रियता नही मिल सकी। इसका कारण यही रहा कि मेघदूत मे कल्पना एव भावनापक्ष की जो सहज तरलता एव विचित्र सयोग दिखाया गया है, उसका सम्पादन कालिदास ही कर सकते थे।

मेघदूत की कथावस्तु का सक्षेप इस प्रकार है—अलकापति यक्षराज कुबेर के सेवक एक यक्ष ने प्रमादवश कुछ अपराध किया। कुबेर ने उसे एक वर्ष के लिए देश निर्वासन का दण्ड दिया। कुबेर के कोप से पीडित वह यक्ष अलकापुरी को छोडने के लिए विवश हुआ तो उसने जनकतनया के स्नान से पवित्र जलवाले रामगिरि (रामटेक) नामक पर्वत पर अपना निवास बनाया। अपनी प्रियतमा से विरहित उस यक्ष के आठ महीने तो किसी प्रकार व्यतीत हुए और जब आषाढ का महीना लगा तो आकाश मे चारो ओर काले-काले बादल घिर आये। वर्षा आरम्भ हो गयी। उन काले मेघो के दर्शन से उस यक्ष का पत्नी-वियोग असह्य हो गया। वह विसूरने लगा कि जिस प्रकार अपनी प्राणप्रिया से विरहित होने के कारण मेरी दशा चिंतनीय बन गयी है उसी प्रकार मेरी प्रियतमा भी मेरे वियोग-जनित दुःख मे सन्तप्त हो रही होगी। ऐसा सोचते ही उसके मन मे अपनी प्रियतमा के पास अपने कुशल-क्षेम का सन्देश भेजने का विचार पैदा हुआ और उसने अपने सामने आकाश मे छाये हुए मेघ से अपना प्रेम-सन्देश भेजने का निश्चय किया। उसने यह भी नही सोचा कि धुआ, आग, पानी, वायु आदि तत्त्वो से बना हुआ अचेतन मेघ भला उसके प्रेम-सन्देश को किस प्रकार ले जा सकता था। सच बात तो यह थी कि वह इतना कामार्त हो चुका था कि उसके लिए चेतन अचेतन मे भेद ही नही रह गया था। उसने उसी पर्वत शिखर पर नव विकसित कुटज पुष्पो से अपने उस प्रेम-सन्देश को ले जानेवाले दूत मेघ की पूजा तथा स्तुति की और उसे अपनी प्रियतमा की नगरी अलकापुरी के जाने का मार्ग बतलाया।

सर्वप्रथम मालक्षत्र, आम्रकूट पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत की प्रचण्ड चट्टानो मे बहनेवाली नर्मदा नदी का वर्णन करके यक्ष ने अपने दूत को तात्कालिक दशार्ण देश की राजधानी विदिशा का मार्ग बतलाया। उसने कहा—विदिशा के पास ही नीचै पर्वत है, वहाँ पर थोडी देर ठहर कर विश्राम कर लेना। उस पर्वत शिखर पर कदम्ब के बडे बडे फूलो को खिले हुए देखकर तुम्हे ऐसा मालूम पडेगा जैसे तुमसे भेंट होने के कारण ही वह पर्वत पुलकित हो उठा हो। उस नीचै गिरि पर सुन्दर शिला-गृह बने हुए हैं, जिनमे वेश्याओ के अगराग की सुगन्ध फैलती है, जिससे विदिशा के मनचले नागरिको के उद्दाम यौवन की सूचना मिलती है।

विदिशा के अनन्तर यक्ष ने अपने प्रेमदूत से उज्जयिनी जाने का आग्रह किया है, यद्यपि वह मार्ग मे नही पडती थी। उज्जयिनी का वर्णन अतीव मनोहारि तथा विस्तृत है। उसने बताया—प्रियवर! उज्जयिनी के महाकालेश्वर के मदिर मे नृत्य करते समय, जिनकी करधनी बज रही है वे हाथो मे रत्नजटित दण्डयुक्त चँवरो को हिलाते रहने से थकी हुई वेश्याएँ तुम्हारे प्रथम वर्षा के जल की बूदो से नखक्षतो मे सुख पाकर तुझ पर अपने लवे लवे कटाक्षपात करेंगी। इसके अनन्तर मार्ग मे गभीरा नामक नदी, देवगिरि पर्वत पर अवस्थित स्वामिकार्तिकेय का मदिर, चर्मण्वती (चम्बल) नदी, दशपुर (मन्दसौर) ब्रह्मावर्त्त प्रदेश, कुरुक्षेत्र, सरस्वती एव गगा आदि नदियाँ तथा अन्त मे हिमालय पर बसी हुई अलकापुरी मिलेगी। अलकापुरी का वर्णन भी कालिदास ने बडा ही मनोरम किया है और उसमे कवि-कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखायी पडता है। इस प्रकार रामगिरि (रामटेक) से लेकर अलकापुरी तक मिलनेवाले पर्वत, प्रदेश, नगर, ग्राम, वन, उपवन, नद-नदी

आदि का वर्णन अतीव रमणीय तथा मनोमुग्धकारी है और ऐसा लगता है मानो हम चित्रपट के सामने सभी दृश्यों का अवलोकन करते हुए स्वयं उड़े जा रहे हैं। पूर्व मेघ की समाप्ति यहीं पर हो जाती है।

उत्तर मेघ मे कालिदास ने कुबेर की अलकापुरी तथा उस विरही यक्ष के भवन का चित्ताकर्षक वर्णन किया है। अलकापुरी का एक दृश्य लीजिए। यक्ष कहता है—हे प्रियवर ! अलकापुरी के भवन गगनचुम्बी हैं, वे मनोहर चित्रों से सुसज्जित हैं। उनमें मृदंग बजते रहते है और उनकी फर्शों पर रत्न जड़े हुए हैं। वहाँ के निवासी सदैव तरुण रहते हैं और यौवन का अमन्द आनन्द लूटते हैं। वहाँ के वृक्ष तथा लताएँ पुष्पों तथा फलों के भार से नम्र रहती हैं। मयूर आनन्दपूर्वक नृत्यमग्न रहते है तथा रातें चन्द्रमा के सुप्रकाश से युक्त होती हैं। अलकापुरी में स्वयं भगवान शंकर का निवासस्थान है, इसलिए कामदेव अपने धनुष और बाण का उपयोग वहाँ नहीं कर पाता, किंतु फिर भी वहाँ की चतुर सुन्दरियाँ अपने अमोघ कटाक्षों द्वारा कामदेव के सभी कर्तव्यों को पूरा करती है। इसी सुरम्य नगरी मे यक्षराज कुबेर के प्रासाद से उत्तर की तरफ मेरा अपना भवन है, जिसमे इन्द्रधनुष के समान रमणीय वदनवार बंधे हुए हैं।

यक्ष आगे कहता है—हे मित्र ! मेरा भवन ऐसा है कि उसे ढूंढने मे तुम्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होगी, उसे तो तुम दूर से ही पहचान लोगे। मेरे उस घर के उद्यान में मेरी प्रियतमा का लगाया हुआ पुष्पभार से विनत मन्दार का एक छत्राकार वृक्ष है, जिसके पुष्पों को सहज ही पाया जा सकता है। उसी के निकट एक सुन्दर बावली है, जिसमे मरकत मणि की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और जिसमे सुवर्ण के कमल खिले हुए रहते है। इसी बावली मे एक किनारे पर क्रीडापर्वत है, जिसके शिखर पर नीलमणि जड़े है तथा जो सुवर्णकदली के कुंज से घिरा हुआ है। वहीं पर माधवी मण्डप के समीप तुम्हें अशोक और बकुल के वृक्ष दिखायी पड़ेंगे, जिनके मध्य भाग में रत्नजटित एक सुवर्णस्तम्भ पर स्फटिक शिला है। उसी स्फटिक शिला पर प्रतिदिन सन्ध्या के समय मेरी प्रियतमा कङ्कणनाद-मधुर करतल-शब्दों से अपने गृह पालित मयूर को नृत्य की शिक्षा देती है। इन्हीं सब चिह्नों के द्वारा तुम अलकापुरी मे मेरे भवन को आसानी से पहचान सकोगे। उस क्रीडापर्वत पर क्षण भर बैठकर यदि तुम अपनी विद्युत-दृष्टि से मेरे भवन के अन्तर्भाग को देखोगे तो मेरी प्रियतमा दिखायी पड़ जायगी। उस समय वह मेरी कुशल कामना के निमित्त या तो देवाराधन में लीन मिलेगी अथवा विरहव्यथा से दुर्बल मेरे शरीर का अनुमान करके उसी भाव को चित्रित करनेवाला मेरा चित्र बना रही होगी, अथवा पींजरे में बैठी हुई मृदुभाषिणी मैना से पूछ रही होगी—क्यों री रसिके ! क्या तुझे भी कभी अपने स्वामी की याद आती है, तुझे तो वे बहुत प्यार करते थे। अथवा वह मैले वस्त्रों मे अपनी गोद मे वीणा रखकर मेरे सम्बन्ध में रचे हुए गीत गा रही होगी और अपने आंसुओं से भीगे हुए वीणा के तारों को पोंछ कर पूर्वाभ्यस्त मूर्च्छना को बारम्बार भूल जाती होगी ? अथवा भूमि पर बिखरे फूलों को गिन गिनकर वह मेरे शाप की अवधि के दिनों की गणना में तत्पर मिलेगी। विरह की व्यथा से अत्यन्त कृश अंगोंवाली हमारी प्रिया के केशों की अभ्यंग स्नान न करने के कारण बुरी दशा हो गयी होगी। वे निश्चय ही रूखे हो गये होंगे, और उनके कपोलों तक लटके हुए होंगे। हे मित्र ! सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से विरहित अत्यन्त दुःख तथा वेदना के भार से विह्वल पर्यंक पर लेटी हुई मेरी प्रिया को देखकर तुम्हें भी उसकी इस दयनीय दशा पर तरस आ जायगा, और निश्चय हो तू भी नूतन जलकण रूपी आंसू बहाने लगोगे।

मित्र ! ध्यान रखना, उस समय यदि मेरी प्यारी सो गयी हो तो कृपा कर एक प्रहर तक गर्जना न करके तू उसके जागने की प्रतीक्षा कर लेना क्योंकि बड़े प्रयास से प्राप्त स्वप्नावस्था में वह मेरे गाढालिंगन का आनन्द अनुभव कर रही होगी। तुम्हारी गंभीर

गर्जना से उसका स्वप्न टूट जाने का भय है। बाद में जब वह तेरे जलबिन्दु मिश्रित शीतल वायु के झोकों से जाग उठे तब मेरा कुशल संवाद सुनाते हुए तुम इतना भर कह देना—हे प्यारी! मैं रात-दिन तुम्हारी रूप-माधुरी का चिन्तन किया करता हूँ और अपने नेत्रों को कृतार्थ करने के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तेरी समानता ढूँढने में लगा रहता हूँ। तेरे कोमल अंगों की समानता मुझे प्रियंगु की लता में मिलती है। तेरे स्वच्छ कपोलों की समता चन्द्रमा में मिलती है। तेरी दृष्टि की समता चंचल-चकित हरिणियों के चितवन में मिलती है और तेरे भ्रुकुटि-विलास की समता नदी की पतली चंचल लहरियों में मिलती है। किन्तु हे निष्ठुरे! तेरे सम्पूर्ण अंगों की समानता किसी एक वस्तु में कहीं भी एकत्र देखने को नहीं मिलती। हे प्रिये! मैं कभी कभी मन ही मन यह अनुमान करता हूँ कि तू रूठकर मानिनी बनी कहीं बैठी होगी, अतः तुझे मनाने के लिए पत्थर की शिला पर गेरू से तेरी तस्वीर बनाने लगता हूँ। किन्तु ज्यों ही मैं अपने शिर को तेरे चरणों पर रखना चाहता हूँ त्यों ही मेरी आँखों में आँसुओं की धारा उमड़ पड़ती है और मेरी दृष्टि बंद हो जाती है, मुझे तेरा वह चित्र दिखायी ही नहीं पड़ता, कृतान्त इतना क्रूर और निर्दयी है कि वह हम दोनों के इस काल्पनिक संयोग को भी नहीं सहन कर सकता।

स्वप्न में कभी तेरा दर्शन जब होता है तो आलिंगन सुख के लिए मैं अपने हाथों को फैला देता हूँ। मेरी यह करुणाजनक अवस्था देखकर देवताओं के वृक्षों के पल्लवों पर मोतियों के समान नेत्रों से आँसुओं की बूँदें चूने लगती हैं। मैं बड़े धैर्य और विवेक से यह विरह वेदना सहन कर रहा हूँ। प्रिये! तू भी इसे मेरी ही तरह सहन करना क्योंकि सुख-दुःख सदा एक समान नहीं रहते। जिसे दुःख मिलता है उसे सुख भी मिलता है। रथ के पहिए की तरह ये दोनों क्रम से फिरा करते हैं। कभी दुःख सामने आता है और कभी सुख।

भगवान विष्णु जब अपनी शेष-शय्या त्याग कर उठेंगे तो उसी समय मेरे शाप का भी अन्त होगा। अब केवल चार महीने शेष हैं। तब तक तू यह दुःख सहन कर। स्वतंत्रता प्राप्त करते ही मैं अपने साथ तुझे ले आऊँगा और शरद्ऋतु की शुभ्र-ज्योत्स्ना में विविध प्रकार की प्रणय-लीला का आनन्द उठाऊँगा। मित्र मेघ! मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर अथवा मुझ पर प्रेम होने के कारण अनुकम्पा की भावना से तुम यह मेरी कामना पूरी करो। वर्षाकाल में अत्यन्त सुन्दर बनकर तुम अपने वांछित स्थान को चले जाना। मेरी कामना है कि मेरी भाँति तुम अपनी प्रेयसी विद्युल्लता से कभी वियोग का अवसर न आये।

मेघदूत की इस संक्षिप्त मनोरम कथावस्तु का शिल्प-विधान इतना मनोमोहक है कि कोटि-कोटि भारतवासी जनता का पिछली अनेक शताब्दियों से कण्ठहार बना हुआ है। भारतवर्ष में ही नहीं, विश्व के कोने-कोने में बसनेवाले काव्यरसिकों के बीच भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। इस छोटे से खण्डकाव्य में महाकवि कालिदास की सौन्दर्यान्वेषिणी दृष्टि तथा कल्पनाप्रवणता का चरम विकास हुआ है। इसके प्रत्येक छन्द में मनोहर चित्र उरहने की अद्भुत क्षमता है। रससिद्ध शिल्पी ने प्र[illegible] एवं अनिन्द्य चित्रों का अंकन इसमें किया है, [illegible] एवं मधुर भावों का इतना प्रभावकारी तथा [illegible] आसानी से नहीं मिलता। इसमें प्रायः प्रत्येक छन्द के आधार पर भावपूर्ण चित्रों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस खण्डकाव्य की शब्द रचना तथा छन्दोयोजना का चमत्कार तो और भी अनुपम है। एक-एक छन्द ऐसा है, मानो चमकते हुए निर्दोष बहुमूल्य हीरा है, जिसके उज्ज्वल शुभ्र प्रकाश से मन के अन्तरतम की निविड़ निराशा एवं कुण्ठा की तमिस्रा को दूर भगाने

की अपार क्षमता है। इसके अर्थरूपी महार्घ रत्नों को उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास श्लेष आदि मनोमोहक अलंकरणों में सुरुचि के साथ जड़ देने के कारण इसकी छटा और भी लुभावनी हो चली है। एक-एक छन्द में एक एक लघु काव्यों जैसा शिल्प एवं सौन्दर्य समाया हुआ है और हम क्या कोई भी काव्यरसिक यह कह सकता है कि महाकवि कालिदास ने यदि केवल इसी लघुकाव्य की रचना करके अपनी लेखनी को चिरविश्राम दे दिया होता तो भी वे अमर महाकवियों की श्रेणी में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करने के अधिकारी होते।

इस समूचे काव्य में विप्रलम्भ शृंगार का सरोवर उमड़ता दिखाई पड़ता है जिसमें तनिक सा भी अवगाहन करने से पाठक भी उसी रस में आकण्ठ मग्न हो उठता है। पूर्व मेघ में यद्यपि भौगोलिक मार्गों के कारण प्राकृतिक शोभा एवं सौन्दर्य का ही विशेष चित्रण है तथापि उत्तर मेघ में जब यक्ष अपनी और प्रियतमा की दयनीय विरह-वेदना का वर्णन करने लगता है तो करुण रस की सरिता उमड़ पड़ती है और पाठकों तथा काव्यरसिकों की सम्पूर्ण सहानुभूति यक्ष दम्पति की ओर अनायास ही उमड़ पड़ती है।

मेघदूत में यद्यपि विप्रलम्भ शृंगार रस की ही प्रधानता है और अपने-अपने प्रियतम के वियोगानल में दग्ध दो प्राणियों का सजीव चित्रण है तथापि इसमें दाम्पत्य जीवन की जो महती मर्यादा स्थापित है वह सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट एवं आदर्श है। एकपत्नी-व्रतधारी यक्ष तथा पतिपरायणा यक्ष पत्नी का जो मोहक चरित्र कालिदास ने प्रस्तुत किया है, वह उन्हीं की लेखनी द्वारा ही सम्भव था। कालिदास ने अपने इस महान कविधर्म का निर्वाह प्रायः सर्वत्र इसी रूप में किया है। उनकी नायिकाएँ केवल परम सुन्दरी, विविध कलाकौशल में प्रवीण, सहृदया, सच्ची प्रेमिका तथा स्वकर्तव्य परायणा ही नहीं होतीं, वरन उनमें अपने पति के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने की महत्त्वाकांक्षाएं भी होती हैं। वे अपने अपने पतियों की प्राण-वल्लभा तो होती ही हैं स्वयं भी उनके लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहती हैं। मेघदूत के यक्ष दम्पती—दोनों ही इसी प्रकार के हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कवि को अपने नायक एवं नायिका की विरह वेदना का सच्चा चित्र खींचने में जो अद्भुत सफलता मिली है उसके प्रति भारतीय जनता का सम्मान भी उतना ही अपार है। कालिदास ने अपने महान् दायित्व का निर्वाह सर्वत्र इसी रूप में किया है और इसी के फलस्वरूप उन्हें लोकसम्मान भी उसी रूप में मिला है।

मेघदूत की छन्दोयोजना जितनी जटिल तथा कष्टसाध्य है उतनी ही वर्ण्यविषय के अनुरूप तथा गेय होने के कारण अतीव लोकप्रियता का आधार भी बनी है। कुमारसम्भव, रघुवंश अथवा ऋतुसंहार की भांति उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वियोगिनी, रथोद्धता आदि सरल छन्दों का प्रयोग यदि कालिदास ने इस काव्य में भी किया होता तो कथावस्तु एवं शिल्पविधान की उत्कृष्टता के होते हुए भी इसमें उतनी सफलता उन्हें न मिली होती। मेघदूत की लोकप्रियता में उसके अद्भुत छन्दों की तथा उसकी सरस कोमलकान्त, भाव-विह्वला पदावली की भी विशेषता है। इस दीर्घकाय वृत्त में, समस्त तथा व्यस्त पदों एवं वाक्यों द्वारा कालिदास को अपनी कमनीय कल्पना को मूर्त रूप देने में बड़ी सुविधाएं मिली हैं। यद्यपि मन्दाक्रान्ता छन्द की रचना सुगम नहीं है तथापि कविकुलगुरु कालिदास के लिए तो जैसे उनके बाएं हाथ का खेल रही हो। मन्दाक्रान्ता नाम के अनुसार मन्दगति होने से इसमें वियोग शृंगार तथा करुण भावना का भार वहन करने की अद्भुत क्षमता है। कालिदास के पूर्ववर्ती कवियों ने इस छन्द का प्रयोग नहीं के बराबर किया है और कालिदास के परवर्ती कवियों ने भी जहां कहीं किया है, वहां कालिदास की भांति हस्तलाघव तथा सफलता उन्हें नहीं मिली है।

मेघदूत की इतनी प्रशंसा हमारे देश और विदेशों में हो चुकी है कि यदि उन्हें एकत्र संकलित कर दिया जाय तो हजारों पुस्तकें तैयार हो जायगी। हमारे देश के गौरव-ग्रन्थों

मे तो उसका अक्षुण्ण स्थान है और शताब्दियो पूर्व से हमारे यहा के कवियो तथा काव्य-रसिको पर इसका गहरा प्रभाव पडा है। मेघ जैसे अचेतन प्राणी द्वारा अपनी प्रेमिका के पास प्रेम का पावन सन्देश प्रेषण करने की कल्पना कालिदास के सिवा दूसरा कौन कवीश्वर कर सकता था। मेघदूत के सन्दर्भों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि प्रेम की महिमा की प्रतिष्ठा ही मेघदूत का पावन उद्देश्य रहा है। धरती पर प्रकृति का जितना भी साम्राज्य है उसमे प्रणय के दूत को कही भी कोई बाधा नही मिलती। सर्वत्र अनुकूलता, सरसता, सहानुभूति, सहायता एव सेवा भावना ही उसे प्राप्त होती है। चचलगति पवन भी उसके अनुकूल बन जाता है, गर्व से भरा चातक भी बाईं ओर आकर मधुर ध्वनि करने लगता है, और गर्भाधान का उत्सव मनाने वाली बलाकाएँ पक्तिबद्ध होकर उसकी सम्वर्धना के लिए तत्पर हो जाती है। इतना ही नही होता, अचेतन उत्तुग शैल भी उसके कण्ठालिगन के लिए आतुर हो जाता है, आसू बहा कर अपना स्नेह प्रकट करता है। लबे मार्ग मे सहायता एव विश्राम के बीसो साधन अनायास ही मिल जाते है और पावन प्रेम का सन्देश पहुचाने वाले की सहायता के लिए तत्पर होते है। कवि ने जान-बूझकर उसे वही मार्ग बताया है जो सर्वत्र स्नेह और सहानुभूति की अविरल शीतल छाया से आच्छादित है। निखिल विश्वब्रह्माण्ड को आनन्द एव सुख-शान्ति मे निमज्जित करने वाली प्रेम-सुधा का अतीव आह्लादकारी वर्णन कालिदास ने अपने मेघदूत मे किया है। प्रेम-दूत का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है, उसे कोई प्रेमीजन ही निभा सकता है। फलत कालिदास ने दौत्यकर्म मे नियुक्त मेघ को भी रसिक रूप मे ही चित्रित किया है। उसको मार्ग म जो भी सुविधाएँ बतायी गयी है उन सब मे उसकी रसिकता को आप्यायित करने वाले पदार्थों तथा स्थलो को ही रखा गया है। वेगवती नदी, नीचैं पर्वत, उज्जयिनी की ऊची अट्टालिकाएँ—ये सभी विलास-विभ्रम के उत्तेजक सम्बन्धो से समन्वित है। निर्विन्ध्या तथा गभीरा—ये दोनो नदिया तो मानो उसे प्रेयसी के रूप मे समर्पित की गयी है जिनका रसास्वादन वह अपनी महत्त्वपूर्ण यात्रा को कियत्काल के लिए स्थगित करके करेगा। उसकी प्राणप्रिया सौदामिनी तो उसके सग है ही। मार्ग मे चचल भ्रू लताओ से सुशोभित सुन्दरी पौरागनाएँ, वार-वनिताएँ तथा देवयुवतियाँ सभी उसके स्वागत के लिए तैयार मिलेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने अपने इस खण्डकाव्य मे प्राकृत एव मानुषी प्रकृति मे प्रेम-सन्दर्भ के मामले मे कोई भेद नही माना है। चेतनाचेतन का भेद मिटा दिया है, क्योकि वह सर्वसामान्य के

मेघ को 'अन्नदाता' के रूप मे ही देखती है, वह मेघ से प्रार्थना करता है कि—तुम मालक्षेत्र के ऊपर इस प्रकार जलवृष्टि करना कि तत्काल हल से जुती हुई धरती गन्धवती हो उठे।

इस प्रकार मेघदूत मे कालिदास ने बडी निपुणता से अपने कविकर्म का निर्वाह किया है. प्रेम और शृगार, वियोग और करुणा का जो मनोमुग्धकारी रूप इस छोटे-से काव्य मे दिखायी पडता है, वह अपनी दुर्लभ विशेषताओ के कारण अनुपम है और उसमे समस्त काव्यगत विशेषताओ के साथ भारतीय मर्यादा का भी अद्भुत समन्वय है।

मेघदूत से कविवर कालिदास की अनेक विशेषताओ का भी पता हमे लगता है। जहा वेद, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि विषयो की विशेषज्ञता दिखायी पडती है वही इतिहास, पुराण तथा भूगोल के ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। कवि को भारत के भूगोल का अच्छा ज्ञान था। उस युग मे न तो रेलें थी न वायुयान थे। दुर्गम वनों, पर्वतो तथा नदी-नदो के कारण एक छोर से दूसरे छोर तक पहुचना अत्यन्त दुष्कर था,

किन्तु लगता है कि विद्या एवं कला के उस महान् पुजारी ने अपनी जन्मभूमि के सभी अंचलों का प्रत्यक्ष ज्ञान अर्जित किया था।

कालिदास वास्तव में प्रेम एवं शृंगार के रससिद्ध कवीश्वर थे और इस दृष्टि से मेघदूत उनकी सभी कृतियों का सर्वोत्तम निदर्शन है। एक दृष्टि से कला तथा भाव—दोनों ही दृष्टियों से उसके समान निर्दोष एवं अनुपम रचना कोई दूसरी नहीं है जिससे किसी भी अंश में उसकी तुलना की जा सके।

## कुमारसंभव

कुमारसम्भव को कुछ लोग कालिदास के काव्यों में रचनाक्रम के अनुसार तृतीय स्थान देते हैं और कुछ का अनुमान है कि चूँकि इस महाकाव्य की रचना केवल आठ सर्गों तक ही कालिदासकृत है और उससे काव्य के नाम की चरितार्थता नहीं होती अतः यह उनकी अन्तिम और अपूर्ण रचना है। कुछ लोगों का अनुमान है कि कदाचित् आठवें सर्ग में शंकर-पार्वती की अति शृंगारिकता के कारण लोकमत की अप्रसन्नता के भय से इसे कालिदास ने अधूरा छोड़ दिया हो। किन्तु कुछ भी हो कुमारसम्भव अपने ढंग का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। अब तक प्राप्त हुई कुमारसम्भव की प्रतियों में सत्रह सर्ग मिलते हैं, जिनमें से आठ सर्गों को कालिदासकृत माना जाता है और शेष नव सर्गों के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि यह किसी अन्य कवि की रचना है, और वर्ण्य विषय के अनुरोध से उनकी पूर्ति की गयी है। कुछ लोग कुमारसम्भव को बाईस सर्गों का महाकाव्य मानते थे किन्तु सम्प्रति केवल सत्रह सर्ग उपलब्ध हैं, जिनमें कालिदास रचित आठ सर्ग हैं। संस्कृत काव्य ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथकृत संजीवनी टीका भी कुमारसम्भव के आदिम आठ सर्गों पर ही मिलती है। किन्तु इन आठ की कथा सर्गों में कुमार का जन्म नहीं होता वरन् शिव-पार्वती के समागम तक की कथा भी पूरी नहीं होती, ऐसे अपूर्ण काव्य ग्रन्थ की रचना में कवि का क्या तात्पर्य रहा होगा—इस सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तर हैं।

कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि उद्दाम शृंगार के नग्न वर्णन के कारण पार्वती ने क्रुद्ध होकर कवि को शाप दे दिया जिससे यह काव्य-ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। कुमारसम्भव के सबसे पुराने टीकाकार अरुणगिरि ने इस किंवदन्ती का स्पष्ट उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही इस काव्य-ग्रन्थ के सम्बन्ध में मतमतान्तर विद्यमान थे। किन्तु कोई भी कारण रहा हो, कुमारसम्भव के समुपलब्ध सत्रह सर्गों में आठ सर्ग ही कालिदास रचित हैं और शेष नव उनकी रससिद्ध लेखनी से नहीं निकले हैं—इसमें कोई विवाद तो हो ही नहीं सकता। दोनों रचनाएं अपनी उत्कृष्टता तथा साधारणता के कारण इतनी पृथक् हैं कि एक में कथमपि मिलायी नहीं जा सकतीं। इसमें प्रथम भाग के सर्गों की अपेक्षा दूसरे भाग के सर्गों की छन्द संख्या कम है। शैली और रस-भाव-व्यंजना में भी बहुत अन्तर है। कुमारसम्भव के नवम सर्ग से लेकर सत्रह सर्गों तक सात सर्ग ऐसे हैं जिनकी श्लोकसंख्या साठ से भी कम है जब कि पूर्वार्द्ध में केवल एक सर्ग में ही साठ से कम श्लोक हैं। यही नहीं, रघुवंश महाकाव्य में तो केवल दो ही सर्गों में साठ से कम श्लोक हैं।

इन शेष नव सर्गों की भाषा-शैली एवं वर्णना पद्धति भी बहुत साधारण है। अलंकारों एवं भाव-व्यंजनाओं की छटा भी उतनी उत्कृष्ट नहीं रह गयी है। प्रत्युत यति भंग, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध तथा व्यर्थ के नीरस पदों की बहुलता के कारण इतना चित्त उद्विग्न हो जाता है कि लगता है कि यदि यह दुस्साहस न किया गया होता तो काव्यरसिकों का कोई अहित न होता, वरन् इसके द्वारा तो कविकुलगुरु कालिदास की कीर्तिकौमुदी में अनायास ही त्रुटियों की कालिमा लगाने की दुश्चेष्टा की है। ऐसी नीरस रचना तो कालिदास कभी कर ही नहीं सकते थे।

कुमारसम्भव महाकाव्य मे केवल तीन ही मुख्य पात्र हैं। देवाधिदेव महादेव, जगज्जननी पार्वती तथा विश्वविजेता कामदेव। इन्ही तीनो अलौकिक चरित्रो के स्वरूप, स्वभाव और विविध व्यापारो तथा चेष्टाओ के वर्णन मे कालिदास ने अपनी अनवद्य काव्य प्रतिभा को चरितार्थ किया है। महादेव और पार्वती हमारे देश की कोटि कोटि जनता के चिर आराध्य हैं और भारतीय जन मानस मे उनका सर्वोच्च स्थान है। त्रैलोक्य के पिता तथा माता के रूप मे उनकी अनादि प्रसिद्धि है और उनकी सैकडो कथाए हमारे समाज मे सुप्रसिद्ध हैं। उनकी महती महिमा के गायन से भारतीय वाङमय का अद्भुत शृगार हुआ [illegible] स्वर्ग और [illegible] है। यद्यपि [illegible] की दृष्टि मे निन्दनीय बन गया है तथापि एक कवि के नाते कालिदास को दूषण भी नही दिया जा सकता। कालिदास का दृष्टिकोण व्यास और वाल्मीकि का नहीं था। वह शिव और पार्वती के अद्भुत स्वरूप और स्वभाव का ही चित्रण नही करना चाहते थे वरन् मर्त्यलोक के मरणधर्मा मानव की भाति सासारिक विषय-सुखो के प्रति उनकी क्या आस्था थी—इसका भी चित्रण वह करना चाहते थे। यदि कालिदास पुराणादि धार्मिक ग्रन्थो की भाति महादेव एव पार्वती के पुरातन एव पूज्य स्वरूप की ही प्रतिष्ठा करते तो सभव था कि उनकी रचना को वह अप्रतिम लोकप्रियता कदापि न मिलती जो आज मिली हुई है।

कुमारसम्भव की कथावस्तु का सक्षेप इस प्रकार है। एक बार चतुरानन ब्रह्मा के [illegible]

के हाथो मे उस प्रचण्ड और दुर्दान्त असुर का सहार हुआ। कथा का अति सक्षेप तो यही है किन्तु प्रत्येक सर्ग मे इस कथा वस्तु का इतना विस्तार किया गया है कि सत्रह सर्गों में इसकी समाप्ति हुई है। इसके प्रथम सर्ग मे पर्वतराज हिमालय, शिव के कैलास, यक्षों, गन्धर्वों एव विद्याधरो का मनोरम वर्णन है। हिमालय की सुन्दरता का जो मनोमोहक वर्णन इस काव्य के प्रारम्भ मे कालिदास ने किया है वह अनुपम और अनवद्य है। हिमालय की उपत्यकाओ मे यक्षिणियाँ और विद्याधरो की रमणिया क्रीडा करती है, गाती है और खेलती है। किन्नरिया मृगियों के पीछे दौडती हैं, सोने की रेत मे खेलती है और भोज पत्रो पर अपने प्रेमी जनो को प्रेम-सन्देश लिखती है।

ऐसे ही पावन एव सुरम्य स्थल पर भगवती पार्वती का जन्म होता है। कवि ने पार्वती के शैशव एव नवयौवन काल का अतीव मोहक वर्णन किया है। एक बार पार्वती अपने पिता हिमवान के समीप बैठी थी, इसी बीच वहां देवर्षि नारद जी आ गये। उन्होने भविष्यवाणी की कि यह कन्या शिव जी की अर्धांगिनी होगी। देवर्षि नारद जी की इस भविष्यवाणी पर पर्वतराज हिमवान का इतना दृढ विश्वास था कि उन्होने वयस्क होने पर भी पार्वती के विवाहादि की चिन्ता नही की। उस समय भगवान शिव हिमालय पर ही तपस्यालीन थ। उनकी सेवा करने की आज्ञा पर्वतराज ने अपनी पुत्री को दे दी। ठीक इसी समय तारकासुर के सत्रास से डरे हुए देवता लोग भगवान ब्रह्मा की शरण मे गये और उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की। सुप्रसन्न चतुरानन ने देवताओ से कहा—मैं स्वय तारकासुर को वरदान दे चुका हू अत मेरे द्वारा तो उसका वध कथमपि सम्भव नही है। आप लोग प्रयत्न करके पार्वती और परमेश्वर शकर जी का परिणय कराइए। उनके

संयोग से जो तेजस्वी पुत्र पैदा होगा वही तारकासुर का संहार करके आप लोगों को निर्भय बनाएगा।

ब्रह्मा की सलाह से देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में कामदेव को बुलाया और समाधिलीन शंकर के हृदय में पर्वतराज-पुत्री पार्वती के प्रति आकर्षण पैदा करने का कार्य-भार उसे सौंपा। बेचारा कामदेव पहले ही से शंकर जी के स्वभाव से डरता था, किन्तु देवराज की आज्ञा को अन्यथा करने की शक्ति भी उसमें नहीं थी। वह अपनी प्रियतमा रति तथा अपने अनन्य सहायक वसन्त को साथ लेकर हिमालय के उस सुरम्य स्थल को गया जहां शंकर जी समाधि-मग्न थे। वहाँ पहुंच कर शंकर जी के हृदय में कामवासना का बीज बोने के लिए सर्वप्रथम वसन्त ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित किया। शिव जी जिस पुण्य स्थल पर समाधि-लीन थे उस लता गृह के द्वार पर नंदी पहरा दे रहा था। उसकी आंखें बचा कर मदन अन्दर चला गया। समाधिमग्न शंकर जी का ध्यान उस समय परमात्मतत्त्व में लीन था। कुछ काल के अनन्तर समाधि टूटने पर शंकर जी की अनुमति से प्रहरी नंदी ने पार्वती को उनके समीप भीतर जाने दिया। पार्वती ने उनके चरणों में पुष्पांजलि अर्पण कर गंगा नदी में उत्पन्न कमलों के सूखे बीजों की माला को अपने हाथों से आगे बढ़ाया।

शिव और पार्वती के इस एकान्त संदर्भ को सब प्रकार से अनुकूल समझ कर कामदेव ने अपना कर्तव्य पूरा करने का निश्चय किया, क्योंकि इससे सुन्दर मौका मिलने की उसे कभी कोई आशा ही नहीं थी। उसने अपने विश्वविजयी धनुष पर सम्मोहन नामक अस्त्र चढ़ाया। कामदेव के शर-सन्धान करते ही हिमालय की उपत्यका में हलचल मच गयी। चराचर में द्वन्द्व-भावना का उद्दाम ज्वार उमड़ पड़ा और इसका परिणाम शंकर जी की चित्तवृत्ति पर भी पड़ा। वे चंचल हो उठे। किन्तु फिर सँभल गये। अपनी चित्त-वृत्तियों का दमन करके उन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में किया और इस प्रकार अकस्मात् अपने मनोविकार का कारण ढूंढने लगे। उन्होंने इधर उधर निगाह दौड़ाई तो सामने कामदेव को धनुष पर बाण चढ़ाये हुए देखा। फिर तो उनका सहज अमर्ष जाग उठा। अत्यन्त मानसिक विक्षोभ तथा क्रोध के कारण उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोल दिया जिससे भयंकर अग्नि की ज्वाला फूट पड़ी। उसी ज्वाला से जल कर कामदेव भस्म हो गया। अपने प्राणोपम पति की यह दशा देख कर रति तत्काल मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद उसे जब कुछ होश आया तो वह विलाप करने लगी। उसने ऐसा विलाप किया कि सारा तपोवन करुणामय हो गया। रति को सान्त्वना देने के लिए कामदेव का सखा वसन्त आया। उसे देख कर रति का शोक द्विगुणित हो गया। वह पिछले प्रणय-प्रसंगों का स्मरण करके अत्यन्त रुदन करने लगी। शोकातिशय के कारण रति अपना शरीर त्यागने के लिए तैयार हो गयी। किन्तु इसी बीच आकाशवाणी हुई कि जिस समय शिव जी पार्वती का पाणिग्रहण करेंगे उस समय वे तुम्हारे पति कामदेव को अवश्य प्राण-दान करेंगे। तब तक तुम्हें अपने शरीर की रक्षा करनी ही चाहिए।

इधर पार्वती ने अपनी आखों के सामने बेचारे कामदेव का दहन देखा था। अब तक तो उन्हें आशा थी कि शिव जी के साथ उनका परिणय हो जायगा किन्तु अब वह निराश हो गयी और शिव जी की प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या करने लगीं। अन्ततः पार्वती की कठोर तपस्या के कारण आशुतोष शंकर जी को प्रसन्न होना ही पड़ा। उन्होंने पार्वती के अविचल प्रेम की परीक्षा लेने के लिए स्वयं ब्रह्मचारी का वेश धारण किया और तपो-निरता कृशांगिनी पार्वती के समीप पहुँच गये। पार्वती ने ब्रह्मचारी का स्वागत-समादर किया। ब्रह्मचारी ने पार्वती से पूछा कि सब प्रकार के सुख-साधनों के होते हुए भी इस नवयौवन काल में इतनी कठोर तपस्या करने का क्या हेतु है? पार्वती ने ब्रह्मचारी को कोई उत्तर नहीं दिया। उनकी सखी ने बताया कि हमारी सखी आशुतोष शिव पर मोहित हो

चुकी है और उन्हे ही पति रूप मे प्राप्त करने के लिए यह कठोर तपस्या कर रही हैं। इस कोमल शरीर को तपस्या की अग्नि मे जलाने का यही महान् हेतु है। ब्रह्मचारी ने सखी की यह बातें सुन कर शिव जी की खूब निन्दा की। उनके सर्पाभरण का, रक्त बिन्दु टपकाने वाले गज चर्म के दुपट्टे का, श्मशान भूमि मे आवास का, अकिंचनता का, तीसरे नेत्र के कारण उत्पन्न होने वाली कुरूपता का ऐसा निन्दात्मक वर्णन आरम्भ किया कि पार्वती को और अधिक धैर्य रखना कठिन हो गया। उधर ब्रह्मचारी यह कहता जा रहा था कि ऐसे कुरूप तथा सब प्रकार से अयोग्य वर की प्राप्ति के लिए इतनी कठोर तपस्या करना सर्वथा असगत है। पार्वती जी आगे नही सहन कर सकी, उन्होंने ब्रह्मचारी को आडे हाथो लिया और उसकी प्रत्येक बात का सयुक्ति खण्डन करते हुए शिव जी के प्रति अपने अविरल प्रेम को तथा उन्हे पति रूप मे प्राप्त करने के अपने अटल निश्चय को ही प्रकट किया।

ब्रह्मचारी फिर कुछ कहने ही जा रहा था कि पार्वती जी अपने स्थान से उठ कर जाने को उद्यत हो गयी, क्योंकि अब उन्हे शिव जी की निन्दा सुनना असह्य था। अपने प्रति पार्वती की इस अविचल निष्ठा को देख कर शिव जी सुप्रसन्न हो गये और उन्होंने प्रत्यक्ष

भेज कर पार्वती की सगाई का प्रस्ताव भेजा। हिमवान ने अपनी पत्नी मेनका से सलाह ले कर शिव जी के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। शुभ मुहूर्त मे पार्वती जी के साथ शिव जी का परिणय हुआ। इस मगलमय अवसर पर पार्वती की वेशभूषा का, उनकी सखियो द्वारा किये गये हास-परिहास का, विवाह के लिए प्रस्थान करते समय शिव जी के परिजनो तथा बरातियों का, उनके नगर-प्रवेश के समय नगर की सुन्दरियो की जल्दबाजी का तथा विवाहोत्सव का सुविस्तृत और मनोमोहक वर्णन कालिदास ने किया है। विवाह के अनन्तर भोग विलास के मोहक प्रसगो मे शिव जी ने पार्वती के साथ सैकड़ों ऋतुएँ बिता दी।

इधर तारकासुर के भय से देवताओ का बुरा हाल था। अति विलब होते देख कर देवताओ के परामर्श से देवराज इन्द्र ने अग्नि को कबूतर के वेश मे शिव पार्वती के विलास-स्थल पर भेजा। पहले तो शिव जी को रसभग के कारण बडा क्रोध आया किन्तु जब अग्नि ने उन्हे देवताओ की दयनीय स्थिति की पूरी जानकारी दी तो वे प्रकृतिस्थ हुए और उन्होंने अपना वीर्य अग्नि मे स्थापित किया। अग्नि मे शिव जी का वीर्य धारण करने की शक्ति नही थी। उसने इन्द्र के परामर्श से स्वर्ग की गगा मे उस वीर्य को डाल दिया। किन्तु गगा जी उसे धारण नहीं कर सकी और उन्होने स्नान के लिए आयी हुई छ कृत्तिकाओ के शरीर मे उसे डाल दिया। इससे उन छहो को गर्भ रह गया। किन्तु उस तेजस्वी गर्भ का भार सहन करने मे वे छहो कृत्तिकाएँ भी असमर्थ हो गयी, उन्होंने अपने-अपने गर्भ को बेतो के वन मे विसर्जित कर दिया और स्वय वहाँ से चली गयी। उसी समय शिव और पार्वती विमान मे बैठ कर उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि उस मनोहर बालक पर पडी। उन्हे सारी स्थिति की जानकारी तो थी ही। अपने वीर्य से उत्पन्न उस बालक को लेकर वे अपने निवास को वापस आये। उक्त बालक छही दिनो की अल्पावधि मे बडा हो गया और सम्पूर्ण विद्याओ, शास्त्रो तथा शस्त्रो की कला मे पारगत हो गया। इस प्रकार कार्तिकेय अथवा स्कन्दकुमार की उत्पत्ति हुई। देवताओ की सामूहिक प्रार्थना पर शिव जी ने अपने उस बालक को देव सेना के सेनापति पद पर अभिषिक्त करने की स्वीकृति दे दी और उसे देवताओ के साथ स्वर्गलोक जाने की अनुमति भी दे दी। फिर तो सेनापति स्कन्द की अगुवाई मे देवताओं ने तारकासुर से युद्ध छेड दिया। तारका-

सुर को यद्यपि बड़े बुरे अपशकुन हुए किन्तु वह इतना दुरभिमानी था कि उसने देवताओं से युद्ध छेड़ ही दिया। बड़ा रोमांचकारी युद्ध हुआ और अन्त में कुमार कार्त्तिकेय के बाण से वह आततायी असुर मारा गया। स्वर्ग की देवियों ने कुमार पर पुष्प-वृष्टि की और देवताओं समेत देवराज की विपदा का सदा के लिए अन्त हो गया।

कुमारसम्भव की यह कथा कई पुराणों में भी प्रकारान्तर से वर्णित है किन्तु कालिदास की रससिद्ध वाणी का संस्पर्श पाकर वह इतनी तेजस्विनी और प्रभावशालिनी बन गयी है कि सैकड़ों वर्षों से काव्य रसिकों तथा सामान्य पाठकों का कण्ठहार बन गयी है। इस महाकाव्य का मुख्य वर्ण्यविषय शिव और पार्वती का विवाह है, जिसकी पुण्य-कथा अनादि काल से भारतीय समाज में समादृत है। पुरुष और प्रकृति के इस मंगल-मिलन के द्वारा न केवल धरती का ही दुःख-दैन्य दूर होता है प्रत्युत स्वर्ग के देवता भी उपकृत होते हैं और उनकी विपदाओं का सदा के लिए अन्त होता है। इस पुण्य कथा में आत्मा के द्वारा परमात्मा शिव की खोज एवं प्राप्ति का प्रतीक भी अनुस्यूत है और पार्वती द्वारा अपने प्रियतम शिव की उपलब्धि के कठोर अनुष्ठानों में भी यह भाव एक प्रकार से ओतप्रोत है। अरविन्द के शब्दों में 'कुमारसम्भव' में दैविक और लौकिक, स्वर्गलोक और मर्त्यलोक, त्याग और भोग, तपस्या एवं विलास का अपूर्व सामंजस्य सम्पन्न हुआ है।

कालिदास की सौन्दर्यप्रियता एवं आनन्दी प्रकृति का परिचय कुमारसम्भव में पदे-पदे मिलता है। सृष्टि के कण-कण में व्याप्त सौन्दर्य का अनुपम चित्रण कवि ने अनेक रूपों में किया है। वह चाहे प्राकृतिक सौन्दर्य हो, चाहे शारीरिक सौन्दर्य हो और चाहे स्वभावगत अथवा चरित्रगत। कवि की रसवन्ती वाणी एवं सौन्दर्यान्वेषिणी प्रतिभा के चमत्कार के स्थलों की कुमारसंभव में कमी नहीं है। नवयौवना पार्वती के रूप सौन्दर्य का चित्रण वह इस प्रकार करता है—

जिस प्रकार कुशल कलाकार की तूलिका द्वारा ठीक-ठीक रंग भरने से चित्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो जाता है, और सूर्य की किरणों से कमल खिल उठता है, उसी प्रकार पार्वती का शरीर भी नवयौवन के आगमन से सब प्रकार से खिल उठा है। जब वे चलती हैं तब उनके सहज रक्तवर्ण तथा कोमल चरणों के किंचित् उठे हुए अंगूठों के चमकते हुए पूर्णनखों में उठने वाली चमक को देख कर ऐसा मालूम होता है मानो पग-पग पर स्थल कमल उगते चले जा रहे हों। अपने उद्दाम यौवन के भार से झुकी हुई जब वे हावभाव के साथ चलती हैं, तब ऐसा मालूम पड़ता है मानो उनकी पैर की बिछियों से निकलने वाली मधुर ध्वनि को सीखने के लिए राजहंसों ने अपनी मदमाती चाल के बदले में पहले ही से सिखा दी हो। कालिदास को इतने से ही सन्तोष नहीं है। वे पार्वती के अन्यान्य अंगों की शोभा-सुषमा का और भी मादक वर्णन करते हैं और पार्वती के नख-शिख के वर्णन में अपनी रसवन्ती चेतना, रमणीय कल्पना, सूक्ष्म अन्वीक्षण की शक्ति तथा सहज ही काव्य गुणों को समाविष्ट करने वाली कवि-प्रतिभा का सर्वांशतः सदुपयोग किया है।

हिमालय के वर्णन में कवि ने अपने प्रकृति-प्रेम तथा हिमालय के प्रति भारत राष्ट्र की कोटि-कोटि जनता की आदर भावना का जिन शब्दों में बखान किया है वह अपने ढंग का अनूठा है। इसी प्रकार शिव के तपस्या स्थल पर कामदेव के साथ पहुंच कर वसन्त ने अपने रूप-वैभव का जो प्रसार-विस्तार एवं प्रदर्शन किया है वह भी कवि के वास्तविक प्रकृति-प्रेम तथा मधुर विलास चेतना का अनवद्य निदर्शन है। वसन्त एवं उसके सखा कामदेव ने जो अपनी माया फैलायी तो वह तपोवन आनन्द वन के रूप में परिणत हो गया। भ्रमर अपनी प्राणोपम प्रियतमा भ्रमरी के साथ पुष्प की कटोरी से मधु (मकरन्द) पान करने लगा, कृष्ण हरिण अपनी संगिनी हरिणी का सींग से खुजलाने लगा, हथिनी बड़े प्रेम तथा अनुराग से पंकज के पराग से सुरभित जल अपनी सूंड से निकाल-निकाल

कर अपने प्रियतम गजराज को पिलाने लगी और चक्रवाक आधी कुतरी गयी कमलनाल को लेकर अपनी प्रिया चक्रवाकी को भेंट करने लगा। इतना ही नहीं होता और आगे चल कर तो अचेतन वस्तुओ एव पदार्थों मे भी मानव-सुलभ रसार्द्रता मूर्तमान हो जाती है और वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियो को फैला कर उन लताओ मे लिपटने लगते हैं जिनके पुष्पो के गुच्छो के रूप मे बडे-बडे स्तन नीचे की ओर लटके हुए हैं और नव-किसलयों के रूप मे जिनके मनोहर होठ हिल-डुल रहे है।

कालिदास के प्रकृति-प्रेम एव शृगारप्रियता की भाँति ही उनकी प्रगाढ आध्यात्मिक भावना एव व्यावहारिकता की जानकारी भी कुमारसम्भव के अनेक सन्दर्भो मे मिलती है। समाधिमग्न शकर जी तथा तपोनिरता पार्वती के वर्णन मे कवि ने केवल पुराण प्रख्यात परम्पराओं का ही पालन नही किया है अपितु नवीन उपमाओं, उत्प्रेक्षाओ तथा व्यजनाओ से अपने वर्ण्य विषय की महिमा के साथ उन अलौकिक चरित्रो की महिमा को भी बहुत ऊंचा उठा दिया है। बुद्धि एव मन से भी अगम्य भगवान शकर की उस अविचल समाधि को देखकर कामदेव की सारी प्रतिभा एव उमग लुप्त हो जाती है, किन्तु दूसरे ही क्षण वन-देवियों के साथ मनोज्ञ मूर्ति पार्वती को देखते ही उसे पुन शक्ति प्राप्त हो जाती है। अपार अरूपम सौन्दर्य एव उद्दाम यौवन से अभिभूत गिरिराज-कन्या पार्वती की तपस्या यद्यपि अतीव उग्र है और तपस्या के कारण वह अतीव कृशागिनी भी हो गयी है तथापि उनके सौन्दर्य एव आकर्षण मे कमी कोई अभाव नही हुआ। वह उस समय भी कामदेव को उसकी खोई हुई शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करने मे समर्थ होती हैं। ऐसे दम्पती के पारस्परिक साक्षात्कार का जो मनोवैज्ञानिक एव प्रभावोत्पादक वर्णन कालिदास ने कुमारसम्भव मे किया है सभी दृष्टियों से बेजोड है।

कुसुम मे भी अति कोमल पार्वती का वज्र से भी अति कठोर शिव के साथ पाणिग्रहण कराने की कथा भारतीय मर्यादा एव आदर्श का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करती है। ससार मे अलौकिक सौन्दर्य एव उद्दाम यौवन का भार ढोते हुए भी तपोनिरता पार्वती का [illegible]

से गृहस्थ-मर्यादा का एव सामाजिक बन्धनो का तिरस्कार नहीं करती। इस मर्यादा-रक्षा का ध्यान कालिदास को प्रत्येक प्रसग पर रहता है। शकर जी जब पार्वती की अपने प्रति एक मात्र निष्ठा स द्रवित होकर उनकी अपार रूप-राशि पर झूम उठते हैं और अपने प्रति आकृष्ट होने का प्रणय निवेदन करते हैं तो पार्वती अपनी सखी के मुख से जो बातें कहलाती हैं वे युगो-युगो तक भारतीय पुत्रियो के लिए आदर्श की चरम मर्यादा स्थापित करती हैं। वे कहलाती हैं—मेरे विवाह के अन्तिम निर्णायक मेरे पिता जी है, अत उनकी स्वीकृति परमावश्यक है। इस प्रकार चिर प्रतीक्षित अभीप्ट वस्तु के सम्मुख उपस्थित होने पर भी पार्वती के मन मे उतावली या लोलुपता का कोई लक्षण नही होना और वे स्वय कुछ न कह कर अपनी सखी से उक्त बातें कहलाती है।

लोक-मर्यादा की यह रक्षा कुमारसम्भव के अनेक स्थलो पर है। शकर जैसे परमेश्वर को भी अपने विवाह के लिए लौकिक विधियो का आश्रय लिए बिना छुटकारा नही मिलता। वे सप्तर्षियो (पुरोहितो) का आह्वान करते है और सगाई का सन्देश कन्या के पिता के पास भेजते हैं। हिमालय पहले ही से शिव के साथ पार्वती के विवाह के लिए विचार कर चुके थे [illegible] ा के विवाह- [illegible] इसी प्रकार [illegible] मेना की

अर्धारना, अरुन्धती द्वारा उन्हें सान्त्वना प्रदान करना—ये सभी प्रसंग लोक-मर्यादा एवं भारतीय गृहस्थ जीवन का मनोरम चित्र समुपस्थित करते हैं और इनसे ज्ञात होता है कि महाकवि को ऐसे सन्दर्भों में भी लोक-मर्यादा का कितना ध्यान रहता है। पार्वती के विवाह की विधि प्रायः वही है जो आज भी हमारे द्विज-समाज में प्रचलित है।

कुमारसम्भव में कालिदास की काव्य प्रतिभा का चरम विकास अनेक स्थलों पर हुआ है। शिव-पार्वती, कामदेव-रति, हिमवान एवं मेना के विविध व्यापारों, चेष्टाओं एवं स्वभावों के चित्रण में कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। ये तीनों ही दम्पती यद्यपि अलौकिक एवं अधिदेव हैं, इनमें पूर्व एवं परवर्ती कवियों की भाँति अमानुषीय व्यवहारों एवं विशेषताओं का सन्निधान तनिक भी अस्वाभाविक न होता तथापि कवि ने इनके अधिदेवत्व की यथेष्ट रक्षा करते हुए भी इनके पारस्परिक सम्बन्धों को अतीव स्वाभाविक, लौकिक, मनोमोहक एवं प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। जिनके कारण ही ये पाठकों के इतने समीपवर्ती बन जाते हैं कि इनकी प्रणय केलि, इनकी तपस्या, इनके संयोग वियोग सभी सर्वसामान्य बन जाते हैं और पाठकों की सहज सहानुभूति इनके प्रति उमग उठती है। यही कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता है जो व्यास एवं वाल्मीकि की रचनाओं में हम नहीं मिलती। रससिद्ध कवि ने देवतत्व का जो मानुषीकरण किया है भले ही उसके कारण आध्यात्मिक लोग नाक-भौं सिकोड़ें किन्तु उन्होंने भारतीय साहित्य का जो अक्षय शृंगार किया है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कालिदास के शंकर महान योगीश्वर तथा महान् भोगी—दोनों ही थे। इसी प्रकार उनकी पार्वती अपार सौन्दर्य एवं दैवी विभूतियों का अधिष्ठान होते हुए भी मर्यादापरायण अर्धांगिनी हैं। उनमें अगाध तपोनिष्ठा के साथ शील, अविचल पतिभक्ति के साथ लोक मर्यादा, परायणता तथा अपने उद्देश्यों के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने की अपार सामर्थ्य-शक्ति है। दुर्जनों की तीव्र वाक्बाणों से घायल करना भी वे जानती हैं, यद्यपि सपत्नियों के ऊपर होने वाली अपनी सहज ईर्ष्या को काबू में करने की भी उनमें शक्ति है। उनकी अपार तपोनिष्ठा शंकर के समागम के साथ लुप्त हो जाती है और व पूर्ण मानवी बनकर अपने लोक-धर्म का निर्वाह करती हैं।

यही स्थिति कामदेव और रति की भी है। काम के निधन पर रति ने जो विलाप किया है वह पत्थरों को भी द्रवित कर देने वाला है। भारतीय पत्नी अपने प्राणोपम पति के लिए अपना जीवन एवं शरीर त्यागने को तैयार हो जाती है। रति को अपना शरीर जलाने में तनिक भी पीड़ा का भय नहीं हुआ। यदि भविष्यवाणी न हुई होती और उसे अपने पति को प्राप्त करने की शुभाशा न होती तो निश्चय ही कामदेव की भस्मी के साथ वह भी भस्म बन गयी होती। भारतीय पातिव्रत एवं पत्नीव्रत की इस महनीय मर्यादा का कालिदास ने बड़ी निपुणता से रक्षा की है और प्रेम भावना तथा भोग-विलास के वातावरण में भी अपने दायित्व को उन्होंने कहीं ओझल नहीं होने दिया है।

हिमवान और मेना के रूप में कवि ने कन्या के पिता और माता की जो भावभरी भूमिका निभाई है, वह अतीव रोचक, प्रेरणाप्रद तथा आदर्शपूर्ण है। अपनी कन्या के सुख के लिए माता पिता की आजीवन चिन्ता का जो हृदयग्राही वर्णन कुमारसम्भव में है वह अन्यत्र बहुत कम मिलता है। कन्या के विवाह एवं उसकी विदाई के दारुण प्रसंगों का बड़ा रोमांचकारी वर्णन कालिदास ने किया है। इस प्रकार महाकवि ने अपने देश एवं समाज के नैतिक उद्देश्य की गरिमा की प्रतिष्ठा की है और भोगवाद की प्रासंगिक चर्चा के साथ कामदेव का पराजय एवं दहन चित्रित कर के इसे मूर्तमान भी कर दिया है। कालिदास शारीरिक सुन्दरता को पाप का आश्रय नहीं मानते थे और वह चित्रित करना चाहते थे कि भारतीय नारी की शारीरिक सुन्दरता ही उसकी सर्वोत्कृष्ट सम्पदा नहीं है तथा वह आध्यात्मिक

सौन्दर्य के प्रति आत्म समर्पण कर के ऊचा उठना चाहती है। कुमार सम्भव की पार्वती के चरित्र मे हमे कालि

इस प्रकार कु
किया है, जो हमारे

## रघुवंश महाकाव्य

रघुवश महाकाव्य उन्नीस सर्गो का है और कालिदास रचित सभी काव्य ग्रन्थो मे कई कारणो से श्रेष्ठ माना जाता है। इसी से अनुमान होता है कि यह महाकाव्य कालिदास की अन्तिम रचना है, क्योकि इसमे कवि की कल्पना एव प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन पदे-पदे परिलक्षित होता है। रघुवश महाकाव्य के उन्नीस सर्गो मे सूर्यवंशी भगवान् रामचन्द्र के पूर्वजो और अनुजन्मा कुल उन्तीस राजाओ का वर्णन किया गया है और इस राज वश के आदिम प्रतिष्ठापक महाराज रघु के नाम पर इसका नाम रघुवश रखा गया है। इतने बडे राजवश का एक महाकाव्य के रूप मे वर्णन करना कुछ सरल काम नही था। यह कालिदास जैसे वाणी तथा लेखनी के धनी महाकवि द्वारा ही सम्भव था, क्योकि जिस महाकाव्य मे इतने नायक हो, उनकी सागोपाग विशेषताओ की एक महा-

चित्रशाला कह सकते है, जिसमे दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक कुल उन्तीस राजा आते हैं। इन उन्तीस नायको मे से कुछ गिने चुने चरित्रो को ही कालिदास की प्रतिभा ने उपकृत किया है और अनेक नायको को औपचारिक ढग से बडी वरुखी के साथ समाप्त कर दिया गया है।

रामतत्री तथा कोमलता का दर्शन पदे पदे मिलता है। रघुवश के पूर्वार्द्ध मे जिस प्रकार रघु के चरित्र को आदर्श रूप मे उठाया गया है और दिलीप तथा अज के चरित्र को उसके अग के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया है उसी प्रकार उत्तरार्द्ध मे अवतारी महापुरुष राम के चरित्र को उनकी पौराणिक मर्यादा के अनुसार अत्यन्त ऊचा उठा कर दशरथ तथा कुश के चरित्र को अग रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। कुश के अनन्तर तो जैसे रघुवश का उत्तरोत्तर ह्रास होना दिखाई पडता है और जो भी नृपतिगण चर्चित हैं वे अपनी तनिक सी छवि दिखा कर विलीन हो जाते हैं। अन्तिम राजा अग्निवर्ण के विलासी जीवन का करुण अन्त दिखा कर महाकवि ने अपने काव्य का भी अन्त कर दिया है।

इस प्रकार अपने अनवद्य रघुवश महाकाव्य मे महाकवि कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती एव सहवर्ती भारतीय जीवन एव परम्परा को अपनी काव्य प्रतिभा से इस प्रकार चमत्कृत किया है कि वह युगा-युगो के लिए चिरनवीन बन गयी है। रघुवश की सुविस्तृत कथा का सक्षेप इस प्रकार है—

आरम्भ मे महाकवि ने मगलाचरण के अनन्तर अपने सहज सकोच का वर्णन करते हुए

अपने पूर्ववर्ती कवियो वाल्मीकि आदि के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित की है और अपने ऊपर उनका ऋण स्वीकार किया है। निश्चय ही इस समुदाचार मे महाकवि की सहज उदारता ही प्रकट हुई है, क्योकि जहाँ तक कविकर्म का सम्बन्ध है, कालिदास अपने पूर्ववर्ती सभी कवियो को बहुत पीछे छोड गये है। रघुवंश मे यद्यपि मुख्य रूप से कवि को राम के चरित्र का वर्णन अभीष्ट था तथापि उसने उनके पूर्वजो एव अनुजन्माओ का भी लगे हाथ वर्णन किया है, और इसके लिए पुराणादि ग्रन्थो मे उपलब्ध सामग्री का अपने ढग से सदुपयोग किया है। कालिदास ने विष्णुपुराण एव वाल्मीकि रामायण आदि की वशावली मे कुछ परिवर्तन करके उसे ही अपना वर्ण्य विषय बनाया है और उक्त पुराण की लम्बी तालिका वाले सूर्यवंशी राजाओं के इतिहास को इस प्रकार एक सूत्र मे बाधा है कि पाठको तथा काव्य-रसिको को इसका ज्ञान भी नही होने पाता।

रघुवश का प्रथम नायक दिलीप था, जो वैवस्वत मनु के वश मे उत्पन्न हुआ था। वह उत्तर कोसल का स्वामी था और उसकी राजधानी अयोध्या थी। वह यद्यपि सब प्रकार से सुखी था तथापि उसे कोई सन्तान नही थी, जिसके कारण वह रात दिन चिन्ता मे लीन रहता था। एक दिन अपनी रानी सुदक्षिणा को साथ लेकर वह अपने कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम मे पहुचा और गुरु के चरणो मे शीश झुका कर कुशल क्षेम के अनन्तर अपने आने का प्रयोजन बतलाया। गुरुवर वशिष्ठ त्रिकालदर्शी थे, वह कुछ देर तक ध्यानमग्न होकर राजा की इस चिन्ता का कारण जानने के प्रयास मे लगे रहे फिर बोले—तुम एक दिन स्वर्ग से अपनी राजधानी को वापस लौट रहे थे और बहुत त्वरा मे होने के कारण मार्ग मे खडी हुई कामधेनु का उचित सत्कार नही कर सके थे। जिसके कारण तुम्हे यह शाप मिला है। इसकी निवृत्ति के लिए तुम्हें उसकी पुत्री नन्दिनी की सब प्रकार से सेवा करनी पडेगी। राजा ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और दूसरे ही दिन से नन्दिनी की सेवा मे तन मन से जुट गया। वह चरवाहे की भाति प्रति दिन नन्दिनी को चराने के लिए वन मे ले जाने लगा और भक्तिभाव से उसकी छाया की भाति सेवा मे दत्तचित्त रहने लगा। एक दिन जब राजा नन्दिनी को चराते समय वन की प्राकृतिक सुषमा का आनन्द ले रहा था तभी उसे गऊ का करुण-क्रन्दन सुनाई पडा। उसने बढ कर देखा तो एक वृद्ध सिंह नन्दिनी के ऊपर सवार दिखाई पडा। राजा ने फौरन अपने धनुष पर बाण चढाने की कोशिश की किन्तु उसका हाथ प्रत्यचा मे ऐसा फँस गया कि वह कुछ भी नही कर सका। वह मन ही मन बहुत झुझलाया किन्तु दूसरा कोई चारा नही था। राजा की इस विवशता का उपहास-सा करते हुए वह सिंह मनुष्य वाणी मे बोलने लगा। उसने कहा—मैं शिव जी के इस सुरक्षित वन्य-प्रदेश का रखवाला कुभोदर नामक सेवक हू और मुझे माता पार्वती ने अपने हाथो पाले पोसे गए इन देवदार के वृक्षो की रखवाली का भार सौंपा है। जो जीव-जन्तु भूले-भटके इधर आते हैं, वे मेरे आहार बनते हैं। राजा ने सिंह से गौ को छोडने का अनुरोध किया और उसके स्थान पर स्वय को उसका भक्ष्य बनाने का अनुरोध किया। सिंह ने उसे मित्र भाव से समझाया कि इस सम्पूर्ण धरती के तुम एकच्छत्र सम्राट हो। अभी जवान हो और कितना सुन्दर तुम्हारा शरीर है। भला एक गौ के लिए इन सबसे हाथ धो रहे हो—यह कैसी मूर्खता है। इस तरह की अनेक गौएं देकर तुम अपने गुरु को प्रसन्न कर सकते हो।

वीरात्मा राजा दिलीप को सिंह की यह बात क्यो कर स्वीकार होती। उसने कहा—क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह किसी पर अत्याचार न होने दे। यदि मैं ऐसे अवसर पर अपना शरीर बचाने की चेष्टा करूगा तो मेरा जीवन व्यर्थ है, ऐसे कलुषित जीवन का भार मैं नही ढोना चाहता। तुम जिसे एक साधारण गौ समझ रहे हो वह वैसी नही है। तुम्हे यदि शकर जी का साहाय्य न होता तो तुम्हारी इतनी हिम्मत नही थी जो तुम इस पर आक्रमण कर देते। अत मेरा अनुरोध है कि तुम इस गौ के स्थान पर मुझे ग्रहण करके

अपनी क्षुधा-निवृत्ति कर लो। इससे तुम्हारा भी काम हो जायगा और हमारे गुरु की गौ भी बच जायगी। सिंह सहमत हो गया। राजा का हाथ जो अब तक धनुष की डोर में फंसा था, छूट गया और वह धनुष-बाण फेंक कर मांस के पिण्ड की भांति सिंह के सामने पड़ कर उसके आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा था कि उसके ऊपर आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी और सामने खड़ी वशिष्ठ की गौ नन्दिनी का यह अमृत स्वर सुनायी पड़ा—वत्स ! उठो, तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।

राजा दिलीप का व्रत पूरा हुआ और कुछ समय पश्चात् उसकी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से एक परम तेजस्वी बालक पैदा हुआ, जिसका नाम रघु हुआ। रघु शीघ्र ही सभी विद्याओं और कलाओं में पारगत हो गया, जिसे दिलीप ने अपने सौवें अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के लिए यज्ञीय अश्व का संरक्षक बना कर राजधानी के बाहर भेजा। धरती पर किसी भी राजा में यह साहस नहीं हुआ कि रघु द्वारा संरक्षित उस अश्व को पकड़ता, किन्तु देवराज इन्द्र को यह कथमपि सह्य नहीं था कि दिलीप के सौ अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो और वह इन्द्र पद का अधिकारी बने। उसने अश्व को चुरा लिया। फिर तो रघु और इन्द्र के बीच घमासान युद्ध हुआ। अन्त में रघु के पराक्रम और निर्भीक स्वभाव पर सुप्रसन्न होकर देवराज इन्द्र ने दिलीप को उस यज्ञीय अश्व के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञों का पुण्य प्राप्त होने का वरदान दिया। तदनन्तर दिलीप ने रघु को साम्राज्य का अधिकारी बनाया और स्वयं साधनामय जीवन बिताने के लिए वन का मार्ग पकड़ा।

साम्राज्याधिरोहण के अनन्तर रघु ने दिग्विजय का अभियान किया और पूर्व बंगाल, आसाम, दक्षिण में रामेश्वरम् एवं केरल, पश्चिम में फारस और उत्तर में हिमालय तक के राज्यों में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। उसके मार्ग में जो बाधक बने उनका उन्मूलन किया और जो अनुगत हुए उन्हें सम्मानित किया गया। दिग्विजय के अनन्तर रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया और उसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया। यहां तक कि उसके पास मिट्टी के बरतन रह गये। इसी समय कौत्स नामक एक ब्रह्मचारी वटु गुरुगृह में अपनी शिक्षा समाप्त कर गुरु-दक्षिणा के लिए चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्रा मांगने के लिए रघु के पास आया। बेचारा रघु नाममात्र का सम्राट था, उसका खजाना एकदम खाली था, किन्तु ऐसे सुपात्र को रिक्त हस्त लौटाना भी उसे कथमपि सह्य नहीं था। अतः उक्त धन के संग्रहार्थ उसने कुबेर पर आक्रमण करने का विचार किया। कुबेर को रघु के इरादे का ज्यों ही ज्ञान हुआ त्यों ही उसने रातों-रात बिना किसी सूचना के रघु के खजाने को अनन्त धनराशि से भर दिया। रघु ने वह समस्त धन-राशि कौत्स को समर्पित करना चाहा किन्तु ब्रह्मचारी था जो चौदह सहस्र सुवर्ण मुद्रा से एक मुद्रा भी अधिक नहीं ले जाना चाहता था। दाता और याचक की यह निष्ठा अनुपम थी।

रघु को अज नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। जब वह युवा हुआ तो विदर्भ की राजकुमारी अनन्य सुन्दरी इन्दुमती के साथ स्वयंवर में उसका परिणय हुआ। इस स्वयंवर की यात्रा कर विदर्भ की राजधानी में स्वयंवर में निष्फल-मनोरथ राजाओं के साथ अज ने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया और विजयश्री भी प्राप्त की। अयोध्या में वापस आने पर रघु ने अपने पुत्र तथा पुत्रवधू का खूब स्वागत किया और अपने पिता दिलीप की भांति स्वयं अपने पुत्र अज पर साम्राज्य का भार सौंप कर वन की राह ली। वन में ही उसने एक दिन योग द्वारा अपने प्राणों को त्याग दिया। अज अपने नीति-निपुण मंत्रियों के साथ राज-कार्य चलाने लगा। अपनी रानी इन्दुमती के साथ उसका अनन्य प्रेम था। एक दिन अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ उद्यान में विहार कर रहा था कि आकाश मार्ग से उड़ते जा रहे देवर्षि नारद जी की वीणा से गिरी देवकुसुमों की माला नीचे गिर पड़ी, जिसकी चोट से सुकुमारी रानी का प्राणान्त हो गया। रंग में भंग की यह घटना बड़ी हृदय-

द्रावक रही। अज का संसार उजड़ गया और वह अत्यन्त अधीर हो कर विलाप करने लगा। उसके करुण विलाप को सुन कर उपवन के पशु-पक्षी और लता-वृक्ष भी रुदन करने लगे। अन्त में गुरु वसिष्ठ ने राजा को कहलाया कि इन्दुमती से तुम्हारा इतने ही दिनों का संयोग था। वह पूर्वजन्म में हरिणी नामक अप्सरा थी और तृणविन्दु नामक ऋषि की तपस्या में अन्तराय बनने के कारण मर्त्यलोक में जन्मी थी। उन्हीं ऋषि के कथनानुसार देवकुसुम के दर्शन तक ही उसे इस लोक में रहना था। अतः शोक करना निरर्थक है। इस बात से राजा का शोक कुछ दूर तो अवश्य हुआ किन्तु इन्दुमती के बिना उसे अपना जीवन निरर्थक मालूम पड़ने लगा। उसका पुत्र दशरथ अभी छोटा था, उसके वयस्क होने तक उसने अपना जीवन किसी न किसी प्रकार बनाये रखने का निश्चय किया। आठ वर्षों तक दशरथ के उचित पालन-पोषण के अनन्तर उसने एक दिन शुभ मुहूर्त में अपना साम्राज्य भार दशरथ के कन्धों पर डाल दिया और गंगा-सरयू के पुण्य संगम स्थल पर आमरण अनशन के द्वारा अपने शोक-जर्जर शरीर को उसने त्याग दिया।

इसके अनन्तर दशरथ साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। दशरथ और राम की कथा प्रायः वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि के जन्म, बाल्य जीवन, सीता स्वयंवर आदि के अनन्तर रावण द्वारा सीता के अपहरण, लंकाभियान, सकुल रावण विनाश एवं सीता के साथ रामादि का अयोध्या आगमन—ये सब कथाएँ ज्यों की त्यों यद्यपि रामायण से ही ली गयी हैं, तथापि इसमें जो रोचकता, आकर्षण, एवं काव्यसौंदर्य है, उसका रसास्वादन स्वयं ही किया जा सकता है। राम की कथा के अन्त में लक्ष्मण के मरण तथा राम के वैकुण्ठ गमन की कहानी तो इतनी हृदय-द्रावक है कि पत्थर भी पसीज जाय। श्रीराम ने अपने महाप्रस्थान से पूर्व अपने सुविस्तृत साम्राज्य को अपने चारों भाइयों के आठ पुत्रों में बाँट दिया। इन सब में सबसे बड़ा पुत्र कुश था। जिसे राम ने अपना विशेष उत्तराधिकारी बनाकर मुनिवर अगस्त्य द्वारा प्रदत्त विशेष रत्न भेंट स्वरूप दिया। कुश ने अपनी राजधानी कुशावती बनायी और अयोध्या परित्यक्त हो गयी। एक दिन आधी रात के समय सन्नाटे में कुश को अपने शयनगृह में टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में एक दुःखिनी स्त्री दिखायी पड़ी जिसका वेश वियोगिनी-सा था। उसने बताया कि वह उसके पूर्वजों द्वारा पालित अयोध्या है, जो इन दिनों उपेक्षिता होने के कारण दुर्दशाग्रस्त है। राजा कुश को अयोध्या पर बड़ी सहानुभूति हुई और वह अयोध्या वापस लौट आया और उसका पुनरुद्धार किया।

अयोध्या में एक बार सरयू में राजा कुश अपनी रानियों के साथ जलक्रीडा कर रहा था कि उसकी भुजा में बँधा हुआ श्रीराम द्वारा प्रदत्त वह विशेष रत्न गिर पड़ा, जो सब प्रकार से उसके तथा उसके साम्राज्य के मंगल का सूचक था और जिसे अपने आराध्य पिता की पवित्र यादगार के रूप में वह सदैव धारण किए रहता था। राजा कुश के शोक का वारापार नहीं था। खोजने के लिए मछुए लगाए गए किंतु रत्न का कहीं पता नहीं लगा। अनुमान यह हुआ कि उसे कुमुद नामक नागराज चुरा ले गया होगा। कुश ने कुमुद के विनाश के लिए ज्यों ही शरसन्धान किया त्यों ही सरयू की अपार जलराशि खौलने लगी। बड़ी-बड़ी तरंगें तटों पर टकराने लगीं और चतुर्दिक कोलाहल मच गया। अनुमान सत्य था। रत्न नागराज कुमुद की छोटी बहिन कुमुद्वती को मिला था जो अनन्य सुन्दरी थी। फिर तो कुमुद ने अपनी छोटी बहिन कुमुद्वती के साथ उक्त रत्न को कुश को समर्पित कर दिया। कुश ने रत्न के साथ कुमुद्वती को भी पत्नी रूप में अंगीकार किया। कुश को कुमुद्वती से अतिथि नामक पुत्र पैदा हुआ, जो शीघ्र ही सभी विद्याओं और कलाओं में पारंगत तथा पराक्रमी हुआ। कुश एक बार देवराज इन्द्र की सहायता के लिए दुर्जय नामक दानव

अपनी क्षुधा-निवृत्ति कर लो। इससे तुम्हारा भी काम हो जायगा और हमारे गुरु की गौ भी बच जायगी। सिंह सहमत हो गया। राजा का हाथ जो अब तक धनुष की डोर में फंसा था, छूट गया और वह धनुष-बाण फेंक कर मांस के पिण्ड की भांति सिंह के सामने पड़ कर उसके आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा था कि उनके ऊपर आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी और सामने खड़ी वशिष्ठ की गौ नन्दिनी का यह अमृत स्वर सुनायी पड़ा—वत्स! उठो, तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।

राजा दिलीप का व्रत पूरा हुआ और कुछ समय पश्चात उसकी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से एक परम तेजस्वी बालक पैदा हुआ, जिसका नाम रघु हुआ। रघु शीघ्र ही सभी विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो गया, जिसे दिलीप ने अपने सौवें अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के लिए यज्ञीय अश्व का संरक्षक बना कर राजधानी के बाहर भेजा। धरती पर किसी भी राजा में यह साहस नहीं हुआ कि रघु द्वारा संरक्षित उस अश्व को पकड़ता, किन्तु देवराज इन्द्र को यह कथमपि सह्य नहीं था कि दिलीप के सौ अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो और वह इन्द्र पद का अधिकारी बने। उसने अश्व को चुरा लिया। फिर तो रघु और इन्द्र के बीच घमासान युद्ध हुआ। अन्त में रघु के पराक्रम और निर्भीक स्वभाव पर प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र ने दिलीप को उस यज्ञीय अश्व के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ का पुण्य प्राप्त होने का वरदान दिया। तदनन्तर दिलीप ने रघु को साम्राज्य का अधिकारी बनाया और स्वयं साधनामय जीवन बिताने के लिए वन का मार्ग पकड़ा।

साम्राज्याधिरोहण के अनन्तर रघु ने दिग्विजय का अभियान किया और पूर्व बंगाल, आसाम, दक्षिण में रामेश्वरम् एवं केरल, पश्चिम में पारस और उत्तर में हिमालय तक के राज्यों में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। उसके मार्ग में जो बाधक बने उनका उन्मूलन किया और जो अनुगत हुए उन्हें सम्मानित किया गया। दिग्विजय के अनन्तर रघु ने विश्वजित् यज्ञ किया और उसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया। यहां तक कि उसके पास मिट्टी के बरतन रह गये। इसी समय कौत्स नामक एक ब्रह्मचारी बटु गुरुगृह में अपनी शिक्षा समाप्त कर गुरु-दक्षिणा के लिए चौदह करोड़ सुवर्ण मुद्रा मांगने के लिए रघु के पास आया। बेचारा रघु नाममात्र का सम्राट था उसका खजाना एकदम खाली था, किन्तु ऐसे सुपात्र को रिक्त हस्त लौटाना भी उसे कथमपि सह्य नहीं था। अतः उक्त धन के संग्रहार्थ उसने कुबेर पर आक्रमण करने का विचार किया। कुबेर को रघु के इरादे का ज्यों ही ज्ञान हुआ त्यों ही उसने रातो रात बिना किसी सूचना के रघु के खजाने को अनन्त धनराशि से भर दिया। रघु ने वह समस्त धन राशि कौत्स को समर्पित करना चाहा किन्तु ब्रह्मचारी था जो चौदह सहस्र सुवर्ण मुद्रा से एक मुद्रा भी अधिक नहीं ले जाना चाहता था। दाता और याचक की यह निष्ठा अनुपम थी।

रघु को अज नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। जब वह युवा हुआ तो विदर्भ की राजकुमारी अनन्य सुन्दरी इन्दुमती के साथ स्वयंवर में उसका परिणय हुआ। इस स्वयंवर की यात्रा कर विदर्भ की राजधानी में स्वयंवर में निष्फल मनोरथ राजाओं के साथ अज ने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया और विजयश्री भी प्राप्त की। अयोध्या में वापस आने पर रघु ने अपने पुत्र तथा पुत्रवधू का खूब स्वागत किया और अपने पिता दिलीप की भांति स्वयं अपने पुत्र अज पर साम्राज्य का भार सौंप कर वन की राह ली। वन में ही उसने एक दिन योग द्वारा अपने प्राणों को त्याग दिया। अज अपने नीति निपुण मन्त्रियों के साथ राज कार्य चलाने लगा। अपनी रानी इन्दुमती के साथ उसका अनन्य प्रेम था। एक दिन अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ उद्यान में विहार कर रहा था कि आकाश मार्ग से उड़ते जा रहे देवर्षि नारद जी की वीणा से गिरी दिव्यकुसुमों की माला नीचे गिर पड़ी, जिसकी चोट से सुकुमारी रानी का प्राणान्त हो गया। रंग में भंग की यह कहानी बड़ी हृदय

द्रावक रही। अज का संसार उजड़ गया और वह अत्यन्त अधीर हो कर विलाप करने लगा। उसके करुण विलाप को सुन कर उपवन के पशु-पक्षी और लता-वृक्ष भी रुदन करने लगे। अन्त में गुरु वसिष्ठ ने राजा को कहलाया कि इन्दुमती से तुम्हारा इतने ही दिनो का संयोग था। वह पूर्वजन्म मे हरिणी नामक अप्सरा थी और तृणविन्दु नामक ऋषि की तपस्या मे अन्तराय बनने के कारण मर्त्यलोक मे जन्मी थी। उन्ही ऋषि के कथनानुसार देवकुसुमो के दर्शन तक ही उसे इस लोक मे रहना था। अत शोक करना निरर्थक है। इस बात से राजा का शोक कुछ दूर तो अवश्य हुआ किन्तु इन्दुमती के बिना उसे अपना जीवन निरर्थक मालूम पड़ने लगा। उसका पुत्र दशरथ अभी छोटा था, उसके वयस्क होने तक उसने अपना जीवन किसी न किसी प्रकार बनाये रखने का निश्चय किया। आठ वर्षों तक दशरथ के उचित पालन-पोषण के अनन्तर उसने एक दिन शुभ मुहूर्त मे अपना साम्राज्य-भार दशरथ के कन्धों पर डाल दिया और गंगा-सरयू के पुण्य संगम स्थल पर आमरण अनशन के द्वारा अपने शोक-जर्जर शरीर को उसने त्याग दिया।

इसके अनन्तर दशरथ साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। दशरथ और राम की कथा प्राय. वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि के जन्म, बाल्य जीवन, सीता स्वयंवर आदि के अनन्तर रावण द्वारा सीता के अपहरण, लंकाभियान, सकुल रावण विनाश एवं सीता के साथ रामादि का अयोध्या आगमन—ये सब कथाएँ ज्यों की त्यों यद्यपि रामायण से ही ली गयी हैं, तथापि इसमे जो रोचकता, आकर्षण, एवं माधुर्यसौंदर्य है, उसका रसास्वादन स्वयं ही किया जा सकता है। राम की कथा के अन्त मे लक्ष्मण के मरण तथा राम के वैकुण्ठ गमन की कहानी तो इतनी हृदय-द्रावक है कि पत्थर भी पसीज जाय। श्रीराम ने अपने महाप्रस्थान से पूर्व अपने सुविस्तृत साम्राज्य को अपने चारो भाइयो के आठ पुत्रो मे बाट दिया। इन सब मे सबसे बड़ा पुत्र कुश था जिसे राम ने अपना विशेष उत्तराधिकारी बनाकर मुनिवर अगस्त्य द्वारा प्रदत्त विशेष रत्न भेंट स्वरूप दिया। कुश ने अपनी राजधानी कुशावती बनायी और अयोध्या परित्यक्त हो गयी। एक दिन आधी रात के समय सन्नाटे मे कुश को अपने शयनगृह मे टिमटिमाते दीपक के प्रकाश मे एक कुलिनी स्त्री दिखायी पड़ी जिसका वेश वियोगिनी-सा था। उसने बताया कि वह उसके पूर्वजो द्वारा पालित अयोध्या है, जो इन दिनो उपेक्षिता होने के कारण दुर्दशाग्रस्त है। राजा कुश को अयोध्या पर बड़ी सहानुभूति हुई और वह अयोध्या वापस लौट आया और उसका पुनरुद्धार किया।

अयोध्या मे एक बार सरयू मे राजा कुश अपनी रानियो के साथ जलक्रीडा कर रहा था कि उसकी भुजा मे बँधा हुआ श्रीराम द्वारा प्रदत्त वह विशेष रत्न गिर पड़ा, जो सब प्रकार से उसके तथा उसके साम्राज्य के मंगल का सूचक था और जिसे अपने आराध्य पिता की पवित्र यादगार के रूप मे वह सदैव धारण किए रहता था। राजा कुश के शोक का वारापार नहीं था। खोजने के लिए बहुत उपाए गए, किन्तु रत्न का कहीं पता नहीं लगा। अनुमान यह हुआ कि उसे कुमुद नामक नागराज चुरा ले गया होगा। कुश ने कुमुद के विनाश के लिए ज्यों ही शरसन्धान किया त्यों ही सरयू की अपार जलराशि खौलने लगी। बड़ी-बड़ी तरंगें तटों पर टकराने लगी और चतुर्दिक कोलाहल मच गया। अनुमान सत्य था। रत्न नागराज कुमुद की छोटी बहिन कुमुद्वती को मिला था जो अनन्य सुन्दरी थी। फिर तो कुमुद ने अपनी छोटी बहिन कुमुद्वती के साथ उस रत्न को कुश को समर्पित कर दिया। कुश ने रत्न के साथ कुमुद्वती को भी पत्नी रूप मे अंगीकार किया। कुश को कुमुद्वती से अतिथि नामक पुत्र पैदा हुआ, जो शीघ्र ही सभी विद्याओं और कलाओ मे पारंगत तथा पराक्रमी हुआ। कुश एक बार देवराज इन्द्र की सहायता के लिए दुर्जय नामक दानव

से युद्ध के लिए गया था। उसने दानव को तो मार डाला किन्तु स्वयं भी उसके हाथो वीरगति को प्राप्त हुआ।

कुश के बाद अतिथि उसका सुयोग्य उत्तराधिकारी बना। उसमे जवानी भी थी, सुन्दरता भी थी तथा ऐश्वर्य भी था। किन्तु ये तीनो ही मिलकर उसे विचलित नही कर सके। उसने अपने साम्राज्य पर यथाविधि शासन किया। वह सदा सतर्क रहता था और चारो ओर गुप्तचरो का जाल बिछाये रहता था। उसने भी अपने महान पूर्वजो की भाति अनेक महान यज्ञ किए तथा प्रचुर दक्षिणाएँ दी। अतिथि का पुत्र निषध था। वृद्धावस्था मे अतिथि के शरीरावसान पर वही शासक बना। निषध के पश्चात् उसका पुत्र नल शासक हुआ। नल से लेकर ध्रुवसन्धि तक उन्नीस राजाओ ने शासन किया। इनका वर्णन अति सक्षिप्त अथवा नाममात्र का है। ध्रुव सन्धि का पुत्र सुदर्शन अभी छ वर्ष का बालक था कि सिंह का शिकार खेलते समय उसका शरीरान्त हो गया। मन्त्रियों ने सुदर्शन को राजा बनाया। उस बालक राजा के प्रति अयोध्या की प्रजा अनन्यभाव से अनुरक्त थी और अपने पिता की भाति उसका सम्मान करती थी। वयस्क होकर सुदर्शन सुयोग्य शासक बना और अपनी प्रजा का बडी न्यायपरायणता तथा कुशलता से पालन-पोषण किया। अपने पुत्र अग्निवर्ण को राज्य का भार सौंप कर सुदर्शन तपश्चर्या के लिए नैमिषारण्य चला गया।

अग्निवर्ण महाकवि कालिदास के इस महाकाव्य का अन्तिम नायक था। वह अत्यन्त आरामतलब तथा सुकुमार प्रवृत्तियो का शासक था। नृत्य, गान, राग-रग और मदिरा मे उसकी बडी आसक्ति थी और इन सब दुर्व्यसनो से उसे तनिक भी अवकाश नही मिलता था कि दरबार मे बैठ सके। एक बार बहुत दिनो तक प्रजा को जब उसके दर्शन नही हुए तो बडा आग्रह किया गया। तब उसने झरोखे मे बैठकर अपना एक पैर नीचे लटका दिया। अन्तत परिणाम यही हुआ जो होना था। अत्यन्त दुर्व्यसनी अग्निवर्ण को क्षयरोग हो गया और सुयोग्य चिकित्सको के अनेक प्रयत्नो के बाद भी उसकी प्राणरक्षा नही की जा सकी। वह जब मृत्यु को प्राप्त हुआ तो उसकी पत्नी गर्भवती थी। मन्त्रियो ने पत्नी का ही राज्याभिषेक किया। वह अपने सुयोग्य मन्त्रियो के परामर्श से शासन का सब कार्यभार सभालने लगी। धीरे-धीरे वह इतनी तेजस्विनी शासक बनी कि उसके आदेश की उपेक्षा करने का दु साहस कोई नही कर सकता था।

अति सक्षेप मे रघुवश की यही कथावस्तु है जिसका अवसान नितान्त आकस्मिक-सा प्रतीत होता है, इसी के आधार पर कुछ लोगो का अनुमान है कि कदाचित इस काव्य का कलेवर पहले और बडा रहा हो। कुछ विद्वानो ने इसके २६ सर्ग होने का दावा किया है तथा २० से लेकर २६ सर्ग तक रघुवश के कही कही पर उपलब्ध होने की भी चर्चा की है। किन्तु सस्कृतज्ञ समाज मे इस सामग्री का अभी तक कोई पता-ठिकाना नही चल सका है।

रघुवश महाकवि कालिदास की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। इसकी भाषा, वर्णनाशैली इतनी सरल, सरस तथा आकर्षक है कि साधारण सस्कृत जाननेवाला भी इसका रसास्वादन कर सकता है। हिन्दी मे सुप्रसिद्ध रामचरित मानस की भाति इसकी सस्कृतज्ञ समाज मे अनुपम प्रतिष्ठा है। परम प्राचीन काल से इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि आज तक इस महाकाव्य पर तैतीस टीकाएं उपलब्ध हैं और इसी एक रचना को लेकर कालिदास को रघुकार, दीपशिखा आदि विशेषणो से पुकारा जाता है।

रघुवश महाकाव्य की सर्वाधिक विशेषता यद्यपि उसकी सरलता तथा सरसता है तथापि उसके विविध चरितनायको की विचित्र कथावस्तुए एव उनके चरित्र की अपनी विशेषताओ के कारण भी इसकी रमणीयता मे चार चाद लगे हैं। इसके सभी नायक—अकेले श्रीराम को छोडकर—पूरे मनुष्य हैं जबकि मेघदूत तथा कुमारसभव आदि मे

देवजाति के नायक हैं। रघुवंश के नायकों का केवल जन्म ही इस धरती पर नहीं हुआ था वरन वे इसी धरती को स्वर्ग बनाने वाले नर-रत्नों में से रहे। उनके चरित्रों में अतिमानवता कहीं नहीं थी। यद्यपि उनकी धीरता, वीरता, तपस्या एवं यज्ञाराधान के कारण देवलोक भी सन्त्रस्त होता था। यही कारण है कि सामान्य पाठकों तथा काव्यरसिकों के मन में रघुवंश के सभी पात्रों के प्रति स्वाभाविक प्रेम-कुतूहल, आदर तथा सहानुभूति उत्पन्न होती है। यही कारण है कि रघुवंश के अधिकांश नायक अपने किन्हीं-किन्हीं गुणों एवं विशेषताओं के कारण शताब्दियों से भारतीय जनमानस के प्रेरणा-स्रोत बन गए हैं। जहाँ राजा दिलीप अतीव भक्तिमान, श्रद्धावान, तपोनिरत, गोब्राह्मण सेवा-व्रती तथा क्षत्रियोचित आदर्श के लिए शरीर त्यागने को तैयार था वहीं रघु परमदानी, सर्वस्व त्यागी तथा प्रभावशाली था, उसके संकेत पर देवता भी काँपते थे। इसी प्रकार अज उच्च कोटि का कला-प्रेमी, दाम्पत्य जीवन के प्रति अडिग आस्थावान था। राजा दशरथ समस्त राजगुणों से सम्पन्न थे और इ.लोक तथा परलोक दोनों को ही सुखमय बनाने की उन्हें चिंता थी। किंतु श्रीराम में अपने पूर्वजों के समस्त उत्तमोत्तम गुणों का समन्वय हुआ था, वे धरती पर मानवता की उच्चता के चरम शृंगार थे। किन्तु श्रीराम के चरित्र में अर्धांगिनी सीता के साथ जो अन्याय हुआ उससे अथवा किसी दूसरे कारण से उनके बाद रघुवंश का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा और दिलीप की वह ओजस्वी परम्परा हतप्रभ होकर अस्तोन्मुख होने लगी है। अपनी काव्य प्रतिभा एवं कला को सर्वांग रूप से प्रदर्शित करने के लिए ही कालिदास को इतनी महती कथावस्तु को अपनाना पड़ा, यदि वे मेघदूत तथा कुमारसम्भव की भाँति एक ही नायक-नायिका का चित्रण करते तो मानव स्वभाव की इतनी विशेषताओं, जीवन की इतनी विविध स्थितियों एवं घटनाओं तथा काव्य के सभी अंगोपांगों का सुन्दर चित्रण एवं प्रदर्शन नहीं कर सकते थे। तब उन्हें अपनी अपार कवित्व प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति के प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र नहीं मिल सकता था।

रघुवंश का कथा-प्रवाह कहीं शिथिल नहीं होता। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसकी सरसता सर्वत्र अबाध और समान रूप से प्रवाहित होती है। यद्यपि बीच बीच में अनेक मोड़ आते हैं और अनेक अप्रासंगिक सरस उपाख्यानों को भी कथावस्तु का अंग बनाया गया है तथापि उनके कारण मूल कथावस्तु का ही अतीव उपकार हुआ है। उनके कारण कथा के चमत्कार में कई गुनी वृद्धि हो गयी है। बीच बीच के प्रसंगों के दृश्य चरित्र चित्रण, वर्णनावली, घटनाएँ सब मिलकर काव्य की एकरूपता को अत्यधिक निखार और सँवार देती हैं। रघुवंश के राजाओं में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था एवं वर्णाश्रमों के प्रति उतनी ही निष्ठा है जितनी अपने साम्राज्य के सुदृढ़ संघटन एवं संचालन की। गौ-ब्राह्मण सेवा से लेकर प्रजा के रंजनार्थ वे सब कुछ करने को उद्यत रहते थे। यज्ञाराधन उन सब का व्यसन था, किन्तु दान देने में वे इतने मुक्तहस्त थे कि अपने लिए भी कुछ शेष नहीं छोड़ते थे। इतनी ही क्यों स्वयं कालिदास के शब्दों में समूचे रघुवंश का आदर्श इस प्रकार था।

- रघुवंश में वर्णित ये नृपतिगण जीवन पर्यन्त उच्च संस्कारों से शुद्ध, फल की प्राप्ति तक निरन्तर कर्मरत, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के एकच्छत्र स्वामी, स्वर्गलोक तक रथ पर चढ़कर जाने वाले, विधिपूर्वक यज्ञहवनादि के कर्ता, इच्छा के अनुसार याचकों के सत्कार करने में पटु, अपराध के अनुसार दण्डदाता, समय के अनुसार सतर्कतापूर्वक कार्य करने वाले, त्याग के लिए धन के संग्रही, सत्य के लिए मर्यादा में रहकर बात करने वाले, सन्तान प्राप्ति के लिए गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले, बाल्यावस्था में विद्याध्ययन, यौवनावस्था में विषय-सुख की अभिलाषा करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों जैसा जीवन बिताने

वाले और अन्त मे योग द्वारा शरीर का त्याग करने वाले थे। कदाचित् जो इन आदर्शों के अपवाद स्वरूप थे, उन्हे कवि की सहानुभूति नहीं के बराबर मिली है।

रघुवश मे कालिदास ने जिन उन्तीस राजाओ का चरित अकित किया है, उनके नाम क्रमश इस प्रकार है। (१) दिलीप, (२) रघु, (३) अज, (४) दशरथ, (५) राम, (६) कुश, (७) अतिथि, (८) निषध, (९) नल, (१०) नभ, (११) पुण्डरीक, (१२) क्षेमधन्वा, (१३) देवानीक, (१४) अहीनगु, (१५) पारियात्र, (१६) शिल, (१७) उन्नाभ, (१८) वज्रनाभ, (१९) शखण, (२०) व्युषिताश्व, (२१) विश्वसह, (२२) हिरण्यनाभ, (२३) कौशल्य, (२४) ब्रह्मिष्ठ, (२५) पुत्र, (२६) पुष्य, (२७) ध्रुवसन्धि, (२८) सुदर्शन तथा (२९) अग्निवर्ण।

इन सभी राजाओ मे लगभग २० राजाओ का —निषध से लेकर ध्रुवसन्धि तक तो बहुत ही कम वर्णन है। ऐसा लगता है कि उनके सबध मे कवि को अच्छी सामग्रियाँ नही मिली अथवा इनके व्यक्तित्व से वह उतना प्रभावित नहीं हो सका।

रघुवश महाकाव्य मे अपनी उपमाओ के लिए सुख्यात कालिदास की प्रतिभा का चमत्कार देखते ही बनता है और यह तथ्य निर्विवाद रूप से सामने आता है कि किसी भी देश या किसी भी भाषा का अन्य कोई कवि इस क्षेत्र मे कालिदास की तुलना नही कर सकता। यो तो कवि की अन्य कृतियो मे भी उपमालकार की अनूठी छवि दर्शनीय है किन्तु रघुवश मे तो उपमाओं का ठाट ही लगा हुआ है। उनम उपमान और उपमेय का अद्भुत सादृश्य है। जिस किसी भाव, विचार या उक्ति को सुस्पष्ट करने के लिए कालिदास ने अपनी उपमा का प्रयोग किया है उस उक्ति अथवा उपमा का सयोग ऐसा बन पडा है जैसे दूध म शर्करा का। जिस प्रकार शर्करा को दूध मे अलग कर दिया जाय तो दूध फीका हो जाता है उसी प्रकार कालिदास की उपमा को यदि उनकी उक्ति से अलग कर दिया जाय तो वह नितान्त फीकी बन जाती है। यही स्थिति कालिदास की उत्प्रेक्षा, दृष्टात, अर्थान्तरन्यास एव स्वभावोक्ति आदि अलकारो मे भी चरितार्थ होती है। प्राय अन्य कविगण अपनी उपमाओं मे उपमान और उपमेय के लिंग और वचन मे कही कहीं मेल नहीं रख पाते किन्तु कालिदास की उपमाए इस दिशा मे भी अनवद्य है।

कालिदास की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे बडी से बडी बातें एक ही वाक्य मे इस प्रकार कह देते है जैसे वह बिना प्रयास के कही गयी हो और उसके निर्माण मे उन्हे तनिक भी आयास न करना पडा हो। सचमुच वाणी उनकी वशवर्तिनी थी। कुछ बानगी लीजिए।

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।
विष वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वय छेत्तुमसाम्प्रतम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप।
त्याज्यो दुष्ट प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।

रघुवश महाकाव्य म कालिदास की काव्य प्रतिभा के साथ उनके विराट पाण्डित्य एव वैदुष्य की अनेक झाकिया मिलती है। लगता है वे सर्वशास्त्रज्ञ थे, लोकव्यवहार का उन्हे गम्भीर ज्ञान था। साधारण राजनीति, कूटनीति आदि मे भी वह पारगत थे और अपने देश की धरती और प्रकृति के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। यह सत्य है कि वे राजप्रासादों के भीतर के सर्वाधिक उनके निकट, दीन दुखियो, तथा पीडितो के प्रति अपार सहानुभूति थी। यही कि वे विलास के गायक हो उच्च नागरिक जीवन के चित्रण मे भी उन्हे सिद्धहस्तता प्राप्त थी। मानव मन की तो उन्हे बहुत अधिक जानकारी थी। पशु-पक्षियो की प्रकृति

एव स्वभाव के भी वे पारखी थे। अपनी प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति के बल से उन्होंने पौराणिक पात्रो मे भी ऐसा नवीन आकर्षण और ओजस पैदा कर दिया है कि वे चमक उठे हैं। इसी प्रकार सामान्य प्रसगो तथा वर्णनो को भी एक ही दो वाक्यो मे वे इस प्रकार चमत्कृत कर देते है कि सहृदय झूम उठते है। राम के बाण द्वारा ताडका राक्षसी के वध का वर्णन कालिदास के शब्दो मे सुनकर कौन ऐसा है जो झूम न उठे।

इसी प्रकार आकाशमार्ग द्वारा लका से अयोध्या वापस लौटती हुई सीता को नीचे के दृश्यो का अवलोकन कराते हुए कवि ने श्रीराम के मुख से जो कुछ कहलाया है वह भी समूचे सस्कृत वाड्मय मे अद्वितीय है। गगा यमुना के सगम-स्थल की मनोहर झाकी भी कालिदास के शब्दो मे अनुपम है।

इसी प्रकार अज के विलाप तथा रघु के दिग्विजय की यात्रा के वर्णन प्रसग भी रघुवश के अनवद्य अश हैं। दिलीप द्वारा नन्दिनी के चारण का दृश्य भी कवि ने ऐसा खीचा है जो पाठको को रसाप्लावित कर देता है। अलकार तो जैसे कालिदास की कविताकामिनी के अग-प्रत्यगो पर अनायास लिपटे रहते थे। क्या शब्दालकार, क्या अर्थालकार—सब का अनायास जमघट रघुवश के श्लोको पर लगा हुआ है। सभवत एक भी ऐसा श्लोक नही होगा जिसमे कोई न कोई अलकार न हो। कही कही तो एक ही श्लोक मे अनेक अलकारो का सकर है।

कालिदास के जीवनादर्शों का भी रघुवश के अर्थान्तरन्यासो मे विचित्र ग्रन्थन हुआ है। जीवन की गभीर तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियो को भी उन्होंने इसमे गूथा है और इसे सब प्रकार से निर्दोष एव गुणाकर बनाने का सफल प्रयास किया है। यही कारण है कि यह महाकाव्य सस्कृत साहित्य मे अतीव लोकप्रिय हुआ है। हमारे देश मे ऐसा एक भी सस्कृत काव्यरसिक नही मिलेगा जिसने कालिदास के रघुवश का रसास्वादन न किया हो। अन्य कवि अथवा उनकी अन्य कृतियां भले ही रह जायँ किन्तु रघुवश तो सस्कृत साहित्य के भव्य प्रासाद का मनोहर गोपुर (प्रवेश द्वार) है। उसमे प्रवेश करने पर समूचे सस्कृत वाड्मय के अवगाहन की बलवती प्रेरणा मिलती है, इसीलिए किसी समीक्षक ने कहा है—

क इह रघुकारे न रमते।

मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ जो महाकवि कालिदास की कृतियो का हिन्दी अनुवाद करने का सुयोग मुझे मिल सका। यद्यपि मेरे पूर्व कालिदास की रचनाओं के अनेक हिन्दी अनुवाद सुलभ थे तथापि कालिदास के शब्दो से ही मुझे पुन इनके हिन्दी अनुवाद की प्रेरणा मिली। वे कहते हैं—

अथवा कृतवाग्द्वारे वशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभि ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति ॥ रघुवश १।४

इसी प्रकार इस अनधिकार चेष्टा मे भी मुझे स्वय महाकवि की इस युक्ति का ही सबल मिला।

मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामन ॥ रघुवंश १।३

मैंने सचमुच उपहास योग्य कार्य किया है अथवा इस मेरे प्रयास मे हिन्दी काव्यरसिको के योग्य भी कुछ बातें हैं, इसका भार मैं अपने पाठको पर ही छोड़ता हूँ। अनुवाद कैसा

वाले और अन्त मे योग द्वारा शरीर का त्याग करने वाले थे। कदाचित् जो इन आदर्शो के अपवाद स्वरूप थे, उन्हे कवि की सहानुभूति नही के बराबर मिली है।

रघुवश मे कालिदास ने जिन उन्तीस राजाओ का चरित अकित किया है, उनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं। (१) दिलीप, (२) रघु, (३) अज, (४) दशरथ, (५) राम, (६) कुश, (७) अतिथि, (८) निषध, (९) नल, (१०) नभ, (११) पुण्डरीक, (१२) क्षेमधन्वा, (१३) देवानीक, (१४) अहीनगु, (१५) पारियात्र, (१६) शिल, (१७) उन्नाभ, (१८) वज्रनाभ, (१९) शखण, (२०) व्युषिताश्व, (२१) विश्वसह, (२२) हिरण्यनाभ, (२३) कौशल्य, (२४) ब्रह्मिष्ठ, (२५) पुत्र, (२६) पुष्य, (२७) ध्रुवसन्धि, (२८) सुदर्शन तथा (२९) अग्निवर्ण।

इन सभी राजाओ मे लगभग २० राजाओ का —निषध से लेकर ध्रुवसन्धि तक तो बहुत ही कम वर्णन है। ऐसा लगता है कि उनके सबध मे कवि को अच्छी सामग्रियाँ नही मिली अथवा इनके व्यक्तित्व से वह उतना प्रभावित नही हो सका।

रघुवश महाकाव्य मे अपनी उपमाओ के लिए सुख्यात कालिदास की प्रतिभा का चमत्कार देखते ही बनता है और यह तथ्य निर्विवाद रूप से सामने आता है कि किसी भी देश या किसी भी भाषा का अन्य कोई कवि इस क्षेत्र मे कालिदास की तुलना नही कर सकता। यो तो कवि की अन्य कृतियो मे भी उपमालकार की अनूठी छवि दर्शनीय है किन्तु रघुवश मे तो उपमाओ का ठाट ही लगा हुआ है। उनमे उपमान और उपमेय का अद्भुत सादृश्य है। जिस किसी भाव, विचार या उक्ति को सुस्पष्ट करने के लिए कालिदास ने अपनी उपमा का प्रयोग किया है उस उक्ति अथवा उपमा का सयोग ऐसा बन पडा है जैसे दूध म शर्करा का। जिस प्रकार शर्करा को दूध से अलग कर दिया जाय तो दूध फीका हो जाता है उसी प्रकार कालिदास की उपमा को यदि उनकी उक्ति से अलग कर दिया जाय तो वह नितान्त फीकी बन जाती है। यही स्थिति कालिदास की उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास एव स्वभावोक्ति आदि अलकारो मे भी चरितार्थ होती है। प्राय अन्य कविगण अपनी उपमाओ मे उपमान और उपमेय के लिंग और वचन मे सही सही मेल नही रख पाते किन्तु कालिदास की उपमाएं इस दिशा मे भी अनवद्य हैं।

कालिदास की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे बडी से बडी बातें एक ही वाक्य मे इस प्रकार कह देते हैं जैसे वह बिना प्रयास के कही गयी हो और उनके निर्माण मे उन्हे तनिक भी आयास न करना पडा हो। सचमुच वाणी उनकी वशवर्तिनी थी। कुछ बानगी लीजिए।

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।
विष वृक्षोऽपि संवर्ध्यं स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।

रघुवश महाकाव्य म कालिदास की काव्य प्रतिभा के साथ उनके विराट व्यक्तित्व एव वैदुष्य की अनेक झाकिया मिलती हैं। लगता है व सर्वशास्त्रज्ञ थे, कोशागार पर उन्हे गम्भीर ज्ञान था। सामान्य राजनीति, कूटनीति आदि मे भी वह पारगत थे और अपने देश की धरती और प्रकृति के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। यह सच है कि वे भारत के गौरव थे यद्यपि उनमे निर्धनो, दीन दुखियो, तथा पीडितो के प्रति अपार सहानुभूति थी। प्रकृति के चित्रण के समान ही उनको नागरिक जीवन के चित्रण मे भी पूर्ण सिद्धहस्तता प्राप्त थी। मानव मन की तो उन्हे बहुत अधिक जानकारी थी। मनुष्यो की प्रकृति

एवं स्वभाव के भी वे पारखी थे। अपनी प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति के बल से उन्होंने पौराणिक पात्रों में भी ऐसा नवीन आकर्षण और ओजस पैदा कर दिया है कि वे चमक उठे हैं। इसी प्रकार सामान्य प्रसंगों तथा वर्णनों को भी एक ही दो वाक्यों में वे इस प्रकार चमत्कृत कर देते हैं कि सहृदय झूम उठते हैं। राम के बाण द्वारा ताडका राक्षसी के वध का वर्णन कालिदास के शब्दों में सुनकर कौन ऐसा है जो झूम न उठे।

इसी प्रकार आकाशमार्ग द्वारा लका से अयोध्या वापस लौटती हुई सीता को नीचे के दृश्यों का अवलोकन कराते हुए कवि ने श्रीराम के मुख से जो कुछ कहलाया है वह भी समूचे सस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय है। गगा यमुना के सगम-स्थल की मनोहर झांकी भी कालिदास के शब्दों में अनुपम है।

इसी प्रकार अज के विलाप तथा रघु के दिग्विजय की यात्रा के वर्णन-प्रसग भी रघुवश के अनवद्य अग हैं। दिलीप द्वारा नन्दिनी के चारण का दृश्य भी कवि ने ऐसा खींचा है जो पाठकों को रसाप्लावित कर देता है। अलकार तो जैसे कालिदास की कविताकामिनी के अग-प्रत्यगों पर अनायास लिपटे रहते थे। क्या शब्दालकार, क्या अर्थालकार—सब का अनायास जमघट रघुवश के श्लोकों पर लगा हुआ है। सभवत एक भी ऐसा श्लोक नहीं होगा जिसमें कोई न कोई अलकार न हो। कहीं कहीं तो एक ही श्लोक में अनेक अलकारों का सकर है।

कालिदास के जीवनादर्शों का भी रघुवश के अर्थान्तरन्यासो में विचित्र ग्रन्थन हुआ है। जीवन की गभीर तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को भी उन्होंने इसमें गूथा है और इसे सब प्रकार से निर्दोष एव गुणाकर बनाने का सफल प्रयास किया है। यही कारण है कि यह महाकाव्य सस्कृत साहित्य में अतीव लोकप्रिय हुआ है। हमारे देश में ऐसा एक भी सस्कृत काव्यरसिक नहीं मिलेगा जिसने कालिदास के रघुवश का रसास्वादन न किया हो। अन्य कवि अथवा उनकी अन्य कृतियाँ भले ही रह जायें किन्तु रघुवश तो सस्कृत साहित्य के भव्य प्रासाद का मनोहर गोपुर (प्रवेश द्वार) है। उसमें प्रवेश करने पर समूचे सस्कृत वाङ्मय के अवगाहन की बलवती प्रेरणा मिलती है, इसीलिए किसी समीक्षक ने कहा है—

क इह रघुकारे न रमते।

मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ जो महाकवि कालिदास की कृतियों का हिन्दी अनुवाद करने का सुयोग मुझे मिल सका। यद्यपि मेरे पूर्व कालिदास की रचनाओं के अनेक हिन्दी अनुवाद सुलभ थे तथापि कालिदास के शब्दों से ही मुझे पुन इनके हिन्दी अनुवाद की प्रेरणा मिली। वे कहते हैं—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ रघुवंश १।४

इसी प्रकार इस अनधिकार चेष्टा में भी मुझे स्वय महाकवि की इस युक्ति का ही सबल मिला।

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ रघुवंश १।३

मैंने सचमुच उपहास योग्य कार्य किया है अथवा इस मेरे प्रयास में हिन्दी काव्यरसिकों के योग्य भी कुछ बातें हैं, इसका भार मैं अपने पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। अनुवाद कैसा

है, इसकी परीक्षा वे सुधी पाठक करेंगे जिनके योग्य हाथो मे यह पुस्तक जायगी। सुवर्ण का खरा खोटा-पन अग्नि मे डालने से ही ज्ञात होता है।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य मे मैंने अपने पूर्ववर्ती सभी लेखको और अनुवादको की मूल्यवान कृतियो से यथेष्ट सहायता प्राप्त की है, एतदर्थ मैं उनका अतीव आभारी हूँ।

त्रिपाठी निकेतन, कृष्णनगर
इलाहाबाद,
शनिवार वैशाख कृष्ण ८, २०२२

रामप्रताप त्रिपाठी

# कालिदास के नाटक

महाकवि कालिदास की सभी कृतियों का भारतीय वाङ्मय में अप्रतिम स्थान है। उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों तथा नाटककारों में की जाती है। उनकी सभी रचनाएँ अनुपम हैं। क्या काव्य क्या नाटक, सब में वे अद्वितीय हैं। प्रकृत सन्दर्भ में हम महाकवि कालिदास के तीनों नाटकों के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

महाकवि कालिदास के तीन नाटक हमें उपलब्ध होते हैं। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल। इन तीनों में मालविकाग्निमित्र कालिदास की पहली नाट्य कृति है। इसका कारण यह है कि इसमें उनकी अन्य दोनों नाट्य-कृतियों के समान रूपक-प्रतिभा की चारुता नहीं दिखाई पड़ती। यद्यपि यह सत्य है कि अभिनय, संवाद तथा कथानक की मधुरता की दृष्टि से यह संस्कृत नाटकों में अपना प्रमुख स्थान रखता है तथापि अभिज्ञान शाकुन्तल जैसी सफाई इसमें नहीं है। कालिदास जैसे रस-सिद्ध कवीश्वर के प्रथम प्रयास के अनेक लक्षण इसमें सुप्रकट हैं। प्रकारान्तर से इस नाटक का निम्नलिखित श्लोक भी हमारे कथन की सम्पुष्टि करता है।

> पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
> मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

अर्थात् न पुराना होने से सब अच्छा हो सकता है और न नया होने से कोई काव्य उपहास अथवा उपेक्षा की वस्तु बनता है। विद्वान् लोग परीक्षा करके उत्तम को ग्रहण करते हैं। दूसरों के अनुभव अथवा विश्वास के आधार पर अपनी भी राय कायम करना तो मूर्खों का काम है।

इसी प्रकार इस नाटक के नान्दी-वाक्य में भी कालिदास ने एक नवयुवक की प्रथम-प्रयासोचित भावना द्वारा अपनी इस रचना को ससंकोच प्रस्तुत किया है। किन्तु प्रथम प्रयास होने पर भी मालविकाग्निमित्र संस्कृत-साहित्य की अतीव मनोहर एवं लोकप्रिय रचना है। इसमें कवि ने बड़े संकोच किन्तु निपुणता के साथ अपनी नाट्यकला का प्रदर्शन किया है। इस नाटक में कुल पाँच अंक हैं। इसमें शुंग वंश के राजा अग्निमित्र और विदर्भ की राजकुमारी मालविका के प्रेम और विवाह का मनोहर वर्णन है और दो प्रेमियों के पारस्परिक प्रणय की कथा को बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

महाकवि ने, अपनी, समस्त, रचनाओं की भाँति इस नाटक का आरम्भ भी शिव की वंदना से किया है। प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि आज महाकवि कालिदास रचित मालविकाग्निमित्र नाटक का अभिनय किया जायगा। पारिपार्श्विक कहता है कि नये कवि कालिदास की नाट्यरचना की अपेक्षा लब्धप्रतिष्ठ रससिद्ध कवि भास, सौमिल्ल कविपुत्र जैसे नाटककारों की कला का प्रदर्शन अधिक उपयुक्त तथा सामयिक होगा, सूत्रधार ऊपर दिए गए श्लोक द्वारा पारिपार्श्विक को रसास्वादन कराता है।

नाटक की कथावस्तु का अति संक्षेप इस प्रकार है। विदर्भ के राजा माधवसेन अपनी

छोटी बहिन मालविका का विवाह पूर्व विदिशा के राजा अग्निमित्र से करना चाहते थे। अग्निमित्र की धारिणी और इरावती—नामक दो रानियां थी। माधवसेन का चचेरा भाई यज्ञसेन अग्निमित्र से द्वेष रखता था, वह नही चाहता था कि माधवसेन मालविका का विवाह अग्निमित्र से करे। उसन माधवसेन को राज्यच्युत करके बदी बना लिया। [illegible] चाहता था। उसने [illegible] के समीप भेजने का [illegible] की बहिन कौशिकी मूर्च्छित हो गयी। होश आने पर उसने देखा कि मालविका वहाँ नही है। दस्युओ ने सुन्दरी मालविका को उपहार के रूप मे अग्निमित्र के साले तथा सीमान्त रक्षक वीरसेन को भेंट रूप मे अर्पित कर दिया। वीरसेन ने मालविका की सगीत मे रुचि देखकर अपनी बहिन धारिणी के पास भेज दिया। धारिणी के निर्देश से मालविका सगीताचार्य गणदास से सगीत की शिक्षा प्राप्त करने लगी। वही पर सन्यासिनी कौशिकी ने मालविका को देखा और पहचान भी लिया परन्तु कारणवश उसका परिचय उसने किसी दूसरे से नही कराया।

एक दिन रानी धारिणी ने एक चित्र बनाया जिसमे परिजन के रूप मे मालविका भी चित्रित थी। राजा अग्निमित्र ने जब यह चित्र देखा तो उन्होंने सुन्दरी मालविका का परिचय जानना चाहा। किन्तु रानी ने जान बूझ कर कोई उत्तर नही दिया। सयोगात् वही कुमारी वसुलक्ष्मी भी थी। उसने बाल सुलभ-चचलता मे कह दिया—इसका नाम मालविका है। रानी धारिणी के मन मे खटका पैदा हो गया और वह इस प्रयत्न मे लग गयी कि किसी भी तरह राजा की लोलुप-दृष्टि से मालविका को दूर रखा जाय।

उधर अग्निमित्र मालविका से मिलने के लिए आतुर हो गए। उन्होंने अपने नर्म-सचिव विदूषक से अपने मन की व्यथा बतायी। विदूषक ने राज दरबार के दो नाट्याचार्य गणदास तथा हरदत्त मे झूठी अफवाहे फैला कर विरोध का कृत्रिम वातावरण पैदा कर दिया। उन दोनो ने स्वय राजा से यह निर्णय देने के लिए कहा कि दोनो मे कौन श्रेष्ठ है—इसका निर्णय आप ही कर दें। राजा ने अपनी ओर से सन्यासिनी कौशिकी को मध्यस्थ बनाना चाहा। निश्चय हुआ कि दोनो आचार्यों की शिष्याएँ अपने स्वाभाविक वेश मे अभिनय प्रदर्शित करें। जिसकी शिष्या प्रथम आएगी वही श्रेष्ठ आचार्य माना जायगा। दोनो आचार्य राजी हो गए। रानी धारिणी ने बडा प्रयास किया कि यह प्रदर्शन रुक जाय, लेकिन सब की मिली भगत के सामने उसकी एक नही चली और प्रदर्शन का आयोजन किया ही गया।

वयोवृद्ध होने के कारण गणदास को पहले अवसर मिला। उनकी शिष्या मालविका अपने सहज वश विन्यास मे जब पर्दे पर आयी तो उसके दिव्य सौन्दर्य को देखकर राजा अग्निमित्र मुग्ध हो उठ। उधर मालविका ने सगीत का भाव प्रदशन करते हुए राजा से आत्मनिवेदन किया। राजा तथा सभी परिजन मन्त्रमुग्ध की भांति देखते रहे। नृत्य जब समाप्त हुआ तो द्वितीय नाट्याचाय हरिदास को यह कह कर टरका दिया गया कि आप प्रयोग दूसरे दिन देखा जायगा क्य कि अब भोजन का समय हो गया है। इस नृत्य-प्रदश बाद राजा की विरह-वदना असह्य हो उठी। विदूषक ने राजा के कथनानुसार राज स्थिति से वकुलावलिका को अवगत कराया जो मालविका की अनन्य विश्वासपात्र सर

राजा अग्निमित्र के अन्त पुर मे एक प्रमदवन था। एक अशोक वृक्ष के लिए रानी धारिणी ने अपनी दासी मालविका को उस पर पाद-प्रहार के लिए भेज स्वय उसके पैरो मे कष्ट था। मालविका अपनी सखी वकुलावलिका के साथ क के समीप पहुची तो पूर्व निश्चयानुसार राजा भी वही पहुच गया। वही पर

दूसरे के प्रति प्रकट शब्दों में अपनी अनन्य प्रणय-भावना व्यक्त की, किन्तु ठीक इसी समय राजा की दूसरी रानी इरावती भी वहीं पहुंच गयी, जिससे रंग-ढंग बिगड़ गया। राजा ने बहाना बनाते हुए कहा कि मैं तो तुम्हें ही ढूंढते हुए यहां आया था, किन्तु इरावती के अमर्ष का पारावार नहीं था। वह वहां से राजा को फटकार बताते हुए चली गयी और रानी धारिणी को इस घटना की चर्चा कुछ नमक मिर्च लगा कर कर आयी। फिर तो रानी धारिणी ने अपनी दोनों दासियों मालविका और बकुलावलिका को अन्तःपुर के कारावास में बन्द करा दिया और एक परिचारिका का पहरा बैठा कर ताकीद कर दी कि बिना मेरी मुद्रा (मुहर) देखे उन्हें कारावास से मुक्ति न दी जाय।

मालविका तथा बकुलावलिका के कारावास से राजा को बड़ी निराशा तथा वेदना हुई किन्तु वह परवश थे। विदूषक ने पुनः उपाय रचा। उसने राजा को रानी धारिणी के पास भेज दिया और स्वयं केतकी के कांटे से सांप के काटने जैसा निशान बना कर ऐसा स्वांग रचा कि मानो उसका अन्त अति समीप है। साथ ही उसने रोते हुए यह भी प्रचारित किया कि मैं रानी के अभिनन्दनार्थ बगीचे में फूल लेने गया था वहीं काले सर्प ने डँस लिया। रानी को जब यह पता लगा तो बेचारी बड़े धर्मसंकट में पड़ी कि यदि यहीं इसका प्राणान्त हुआ तो इस ब्रह्महत्या का पातक मुझे ही लगेगा। राजा ने विदूषक की विष-चिकित्सा के लिए अपने निजी वैद्य ध्रुवसिद्धि के पास भेजा। ध्रुवसिद्धि ने चिकित्सा के लिए ऐसी नागमुद्रा की आवश्यकता बताई जो केवल रानी धारिणी के पास थी। रानी धारिणी ने तत्क्षण अपनी उक्त मुद्रा जयसेना नामक दासी के द्वारा विदूषक के चिकित्सार्थ भेज दी। मुद्रा पाते ही विदूषक का कृत्रिम विषवेग अपने आप शान्त हो गया और उसने बड़ी निपुणता से उक्त मुद्रा द्वारा मालविका और बकुलावलिका को कारागार से मुक्त करा लिया और दासी को कह दिया कि राजा ने अनिष्टकर ग्रहों की शान्ति के लिए सभी बन्दी छोड़े जा रहे हैं।

तदनन्तर पूर्व संकेतानुसार समुद्रगृह में राजा अग्निमित्र, विदूषक, मालविका तथा बकुलावलिका का मिलन हुआ। वहीं पर राजा और मालविका दिल खोल कर एक दूसरे से मिल सके। किन्तु ठीक इसी समय दूसरी रानी इरावती पुनः वहीं पहुंच गयी। उसके साथ उसकी दासी निपुणिका भी थी। रानी ने पुनः सबको खूब फटकारा और बकुलावलिका को तो आड़े हाथों लिया। वह बेचारी सकपका गयी और स्पष्ट रूप से कह दिया कि इसमें मेरा क्या दोष है। जब स्वयं महाराज आकृष्ट हो गए हैं तो मैं क्या करती। इरावती महारानी धारिणी के पास इस काण्ड की सूचना भेजना ही चाहती थी कि उसी समय अन्तः-पुर की ओर से एक दासी दौड़ती हुई आयी और उसने सशंकित स्वर से बताया कि पिंगल वानर ने कुमारी वसुलक्ष्मी को इतना डरा दिया है कि उसकी हिचकी बंध गयी है। राजा ने सुनते ही कहा—चलो, मैं उसे होश में करता हूँ। इधर यह खबर भी मिली कि मालविका ने जिस अशोक वृक्ष का दोहद किया था, उसमें फूल निकल आए हैं। मालविका को इससे कुछ आशा बंधी कि कदाचित् महारानी धारिणी उसका आदरसत्कार करें।

इसी बीच राजा अग्निमित्र के पास सूचना आती है कि सैनिकों ने यज्ञसेन को पराजित कर माधवसेन को पुनः राज्याधिकारी बना दिया है। राजा अपने प्यारे विदूषक के साथ प्रमदवन के उस अशोक वृक्ष की पुष्प-समृद्धि देखने गए थे कि उन्हें उनके पिता पुष्पमित्र ने, जो उन दिनों अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे, दूत के द्वारा यह सूचना भेजी कि कुमार वसुमित्र (धारिणी के पुत्र) ने सिन्धु-तटवर्ती यवनों का पराभव कर यज्ञ के अश्व को छुड़ा लिया है। अब अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न होने वाला है, अतः सपरिवार सम्मिलित हों। अपने पुत्र की विजय-वार्ता से रानी धारिणी फूली न समाईं। उन्होंने मालविका को राजा को अर्पित करने का फैसला किया और राजा से स्पष्ट कह दिया कि आपने पुत्र विजय का जो प्रिय

सवाद सुनाया है, उसका अनुरूप पारितोषिक स्वीकार करें। सुन्दरी मालविका सन्यासिनी कौशिकी द्वारा अलकृत होकर वहा उपस्थित थी। उस समय उसकी अलौकिक छटा देखने ही योग्य थी। इसी क्षण विदर्भ नरेश माधवसेन द्वारा उपहार रूप मे भेजी गयी दो शिल्पिकाएँ भी वहाँ हाजिर की गयी। उन्होने मालविका को देखते ही कहा—हमारी राजकुमारी यहाँ कैसे ? उन्हे पहचान कर मालविका की आखो मे भी आसू भर आये। शिल्पिकाओ ने रूप-परिवर्तन करने पर भी सन्यासिनी कौशिकी को भी पहचान लिया। इस पर सभी लोग आश्चर्य मे भर गए। फिर तो राजा अग्निमित्र के पूछने पर सन्यासिनी कौशिकी तथा उन दोनो शिल्पिकाओ ने मालविका का परिचय देते हुए सम्पूर्ण पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया।

रानी धारिणी ने कौशिकी से पूछा कि—आपने इतने दिनो तक यह तथ्य क्यो छिपा रखा था। कौशिकी ने कहा—महारानी ! यह जान-बूझ कर ही किया गया था। मालविका के लिए एक सिद्ध पुरुष का कथन था कि यह एक वर्ष तक दासी का जीवन बिताएगी। फिर तो दूसरी रानी इरावती से परामर्श करके रानी धारिणी ने मालविका को पुरस्कार के रूप मे राजा अग्निमित्र को सदा के लिए अर्पित कर दिया।

इस नाटक मे कुल दो दर्जन के लगभग पात्र है जिनमे से ग्यारह पुरुष तथा शेष स्त्री पात्र हैं। नाटक की कथावस्तु इतनी रोचक तथा प्रेमानुभूति से ओतप्रोत है कि दर्शक या पाठक अन्त तक नूतन प्रकरण तथा रहस्यपूर्ण वृत्तान्तो के प्रति उत्कण्ठित बने रहते हैं। इसके सवादो मे अतीव सजीवता तथा क्षिप्रता है। कथावस्तु का प्रवाह अपने आप आगे बढता जाता है और नूतन घटनाएँ यकायक सामने आती जाती है। नाटक के नायक राजा अग्निमित्र तथा नायिका मालविका का चरित्र चित्रण कवि ने इतनी सूक्ष्मता तथा गहराई से किया है कि उनके प्रति पाठको की सहानुभूति अन्त तक उत्तरोत्तर घनीभूत होती जाती है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलन और वियोग, पुन मिलन और वियोग दिखाकर कवि ने अपनी नाट्य-कृति मे एक विचित्र चमत्कार पैदा कर दिया है और इसी प्रसग मे सयोग और विप्रलम्भ शृगार का सुन्दर परिपाक हुआ है। नाटक की भाषा अतीव सरल, सरस, मनोहर, प्रसादगुण पूर्ण तथा चित्ताकर्षक है। सरस एव विनोदपूर्ण, सामयिक एव चुटीली उक्तियो के कारण वह और भी जीवन्त हो गयी है। नाटको के सवादो मे प्रत्युत्पन्न मतित्व की अद्भुत छाप है। मानसिक भावो के सूक्ष्म एव गभीर चित्रण मे तथा मनो-विकारो के विश्लेषण मे भी कालिदास की प्रतिभा का जादू पदे-पदे प्रस्फुटित होता दिखायी पडता है। यद्यपि यह सत्य है कि इसमे अभिज्ञान शाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय की सफाई और मानसिक भावो का उतना गभीर विश्लेषण नही है तथापि सस्कृत-साहित्य की अन्य नाट्य कृतियो की अपेक्षा तो इस सुन्दर कहना ही पडेगा । इसका कारण कदाचित यही है कि इस नाटक मे कवि ने दो प्रेमियो के प्रेम प्रसगो को ही अपना वर्ण्य विषय बना कर मानव जीवन अथवा समाज की व्यापक गतिविधियो का उतना स्पश नही किया है जितना अपनी अन्य कृतियो मे। इसकी कथावस्तु का आरम्भ और अवसान अन्तःपुर के भीतर ही सीमित तथा अवरुद्ध है। दो कला प्रेमियो के शास्त्रार्थ प्रसग तथा एक-दो अन्य छिट पुट घटनाओ के सिवा इसमे उस समय के समाज की किन्ही अन्य विशेषताओ पर अधिक प्रकाश नही पडता।

नाटक मे प्राकृतिक दृश्यो तथा शृगार रस के उत्तेजक प्रसगो का इतना सजीव वर्णन है कि उन्हें यदि पृथक् से सकलित कर दिया जाय तो वे मुक्तको की शोभा धारण कर लेते हैं। इस नाटक म भी कालिदास ने ग्रीष्म ऋतु का मनोहारि वर्णन किया है, जो अभिज्ञान शाकुन्तल के ग्रीष्म वर्णन से कम प्रभावपूण और स्वाभाविक नही है—

एक झाँकी लीजिए—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद् वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥

मालविकाग्निमित्र २।१२

प्रसंग दोनों कलाविदों के शास्त्रार्थ का है। आचार्य हरदत्त कहता है—राजन्! हंसगण वापी के कमलों की शीतल छाया में आँखें बन्द किए हुए बैठे हैं, कबूतर सन्तप्त राजप्रासाद की वलभी पर जाना नहीं चाह रहे हैं, मयूरगण प्यास से व्याकुल होने के कारण इधर-उधर का चक्कर काट कर फौवारे के पास पुनः-पुनः बैठ रहे हैं, भगवान भास्कर अपनी प्रचण्ड देदीप्यमान किरणों से उसी प्रकार प्रभासमान हो रहे हैं जिस प्रकार अपने प्रशस्त राजगुणों के कारण आप चमक रहे हैं।

शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलम्भ के मनोरम प्रसंगों की अनोखी छटा तो सम्पूर्ण मालविकाग्निमित्र में देखी जा सकती है। नवयौवना मुग्धा नायिका के प्रथम प्रियतम समागम का जो मनोग्राही चित्र कालिदास ने खींचा है उसमें कूची से रंग भरने मात्र की कमी है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगों की चित्रमयता भी अतीव मनोहर है। नायक राजा अग्निमित्र में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के अनुसार धीरोदात्त तथा धीर ललित—दोनों के गुणों का समागम दिखायी पड़ता है। इसका मुख्य रस शृंगार है यद्यपि प्रसंगात् छिट-पुट अन्य रसों का भी परिपाक है। इस नाटक का विदूषक कालिदास के सभी विदूषकों से अधिक सफल हुआ है। उसकी उक्तियों में स्वाभाविकता के साथ-साथ प्रभावकारिता तथा यथेष्ट आकर्षण है, उसने हास्यरस की उत्तम भूमिका निभाई है। दोनों रानियों का चरित्र भी भारतीय नारी जीवन के अभिजात्य का उत्तम निदर्शन है। महारानी धारिणी तथा इरावती—दोनों ही राजा अग्निमित्र पर प्राणपण से निछावर हैं किन्तु राजा अपनी कमजोरियों के कारण विवश है। दोनों ही रानियाँ राजा की परस्त्रीआसक्ति का महत्व नहीं कर पातीं, किन्तु परिस्थितियों के कारण उन्हें भी विवश होना पड़ता है। किन्तु दोनों में महारानी धारिणी में गंभीरता तथा सकारात्मकता की मात्रा स्पष्ट दिखाई पड़ती है जब कि इरावती अधिक वाचाल, तुनुकमिजाज तथा स्फुटवादिनी है। सन्यासिनी कौशिकी का चरित्र कालिदास ने बड़ी सतर्कता से निर्वाहित किया है और कहीं से भी उसके ऊपर कोई छींटा नहीं पड़ने दिया है। यद्यपि राजा के अन्तःपुर में रहने के कारण वह लोक-व्यवहार के लिए विवश थी तथापि उसकी मर्यादा चतुर्दिक् से अनवगत रही है। उसने अनेक कष्ट उठा कर भी अपने भाई तथा स्वामी के मनोरथ को पूरा करने का सफल प्रयास किया है। दासी बकुलावलिका अपनी सखी मालविका के लिए सब कुछ करने और सब कुछ सहने को तैयार है। इसी प्रकार अन्यान्य चरित्र भी हैं जो अपने दर्शन एवं संवाद के साथ ही अपने व्यक्तित्व का सुस्पष्ट परिचय देते हुए दिखायी पड़ते हैं। कालिदास की यही विशेषता है कि उनके पात्र अपने प्रथम वाक्य में ही अपना यथेष्ट परिचय दे डालते हैं।

किन्तु इतना होते हुए भी राजा अग्निमित्र का चरित्र वैसा ऊँचा नहीं है जितना एक सम्राट के लिए अभीष्ट है। उसमें राजकाज के प्रति उतनी आसक्ति नहीं है जितनी विषय-वासना के प्रति। जहाँ उसका वृद्ध पिता पुष्यमित्र तथा नवयुवक पुत्र वसुमित्र अपने अश्वमेध यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं वहीं वह अन्तःपुर की रँग-रेलियों में आकण्ठ डूबा हुआ है। कदाचित उसकी अवस्था भी ४५, ५० वर्ष के लगभग रही होगी, किन्तु फिर भी उसकी प्रणय-लीला में कोई व्यवधान नहीं है। रानी धारिणी के इस कटाक्ष पर भी वह चुप रहता है कि—यदि राजकार्यों में भी आर्यपुत्र इतनी ही

तत्परता दिखाने तो बहुत अच्छा होता। यही नही, वह इतना भीरु है कि अपनी दोनो रानियो से अपने मन की अभिलाषा भी व्यक्त नही कर पाता है। नवयुवक कालिदास की लेखनी द्वारा अपनी प्रथम नाट्यकृति मे इस प्रकार के चरित्र की अवतारणा इस कारण भी क्षम्य है कि उस युग के सामाजिक एव राजनीतिक जीवन मे इन्ही प्रवृत्तियो का बोल बाला था।

इस नाटक की नायिका मालविका प्रणय की देवी है। उसका चरित्र-चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म एव मनोग्राही हुआ है। उसमे सरलता एव सकोच-प्रियता इतनी अधिक है कि एक राजा की बहिन होकर भी उसने अन्त पुर मे दासियो की भाति जीवन विताया और कभी अपने सम्बन्ध मे एक वाक्य भी नही बोली। उसका प्रणय इतना उद्दाम था कि अपने प्रियतम की प्राप्ति के लिए कारावास के जीवन को भी उसने सुख से विताया, अपनी स्वामिनियो के क्रोध एव ईर्ष्या का भाजन बनी, किन्तु कही भी व्याकुल अथवा कर्तव्यविमूढ नही हुई। उसकी यह प्रणय विह्वलता ही हमे नाटक के सभी दृश्यो मे दिखायी पडती है।

कदाचित ऐसे महान प्रणयी नायक के लिए ऐसी प्रेम-विह्वला नायिका ही उपयुक्त हो सकती थी। अन्यथा नाटक को उतनी सफलता नही मिल सकती थी जितनी मिल सकी है। मालविकाग्निमित्र की अभिनेयता भी उसका सहज गुण और आकर्षण है। इसके रग मच की प्रस्तुति मे कोई विशेष बाधा नही है यही कारण है कि आजकल के सस्कृत-रसिक समाज मे भी उसे आये दिन अभिनीत किया जाता है।

## विक्रमोर्वशीयम्

विक्रमोर्वशीय महाकवि कालिदास की द्वितीय नाट्य कृति है, इसमे भी मालविकाग्निमित्र की भाति आरम्भ मे इष्ट देवता शकर की वन्दना की गयी है तथा इसमे भी पाच अक हैं। दशरूपककार धनजय के मतानुसार इसे त्रोटक कहा जा सकता है। इसमे चन्द्रवशीय चक्रवर्ती सम्राट पुरूरवा तथा पुराणप्रख्यात अप्सरा उर्वशी की प्रणय-कथा का विशद वर्णन है। कतिपय समालोचको की मान्यता है कि इस नाटक की रचना करके महाकवि कालिदास ने अपने आश्रयदाता उज्जयिनी के चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य के यश और नाम को अमर बनाने तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने का सफल प्रयास किया है। इस नाट्य कृति मे कवि कालिदास की वाणी मे उनकी प्रथम कृति की अपेक्षा अधिक निखार दिखाई पडता है। इसकी कथावस्तु का सक्षेप इस प्रकार है—

गगा-यमुना के सगम-स्थल प्रयाग के समीप प्रतिष्ठानपुर मे सम्राट पुरूरवा की राजधानी थी। सम्राट पुरूरवा एक बार अपने रथ पर चढे हुए सूर्य मण्डल से अपनी राजधानी को वापस लौट रहे थे कि उन्हे आकाश मार्ग मे ही कुछ स्त्रियो के रोने चिल्लाने की आवाज सुनाई पडी। यह आवाज देवलोक की सुप्रसिद्ध अप्सराओ का था, जिनकी प्रिय सखी उर्वशी को हिरण्यपुरवासी केशी नामक दैत्य पकड ले गया था। सम्राट ने उर्वशी की केशी द्वारा रक्षा की। इस प्रथम मिलन मे ही दोनो का प्रणय हो गया, किन्तु मर्यादावादी सम्राट ने उर्वशी को उसके प्रियजनो को सौप दिया और स्वय अपनी राजधानी को वापस आ गया। यद्यपि गन्धर्वराज चित्ररथ द्वारा उपकृत देवराज ने उन्हे अभिनन्दित करने के लिए देवलोक आने का निमत्रण भेजा था तथापि उस समय वह वापस चले आये और फिर कभी देवराज से दर्शन करने का वादा किया।

इधर उर्वशी के प्रथम-दर्शन से ही सम्राट् का चित्त उद्विग्न हो गया था। राजकाज मे उनका तनिक भी मन नही लगता था। काशिराज की कन्या उशीनरी उसकी रानी थी, वह भी सम्राट् की अन्यमनस्कता के कारण दुखी थी। पुरूरवा ने अपने अन्तरग सखा विदूषक मे अपने मन की व्यथा बतला दी थी किन्तु देवलोक की अप्सरा से सयोग कराने का उपाय एक मर्त्यलोकवासी विदूषक किस प्रकार कर सकता था। इसी बीच रानी उशीनरी को अपनी

बुद्धिमती निपुणिका नामक दासी द्वारा किसी प्रकार विदूषक से सम्राट् की उदासीनता का कारण देवलोक की अप्सरा उर्वशी पर अनुरक्त होने की सूचना मिल जाती है।

एक बार सम्राट अपने अन्तःपुर के प्रमदवन में अपने नर्म सचिव विदूषक के साथ अपनी गंभीर कामवेदना तथा विरहाग्नि की चर्चा में व्यस्त था कि वहीं पर देवलोक से उर्वशी भी अपनी अनन्य सखी चित्रलेखा के साथ उसका हाल-चाल जानने की इच्छा से उतरी क्योंकि उसके चित्त की भी बहुत कुछ वही दशा थी। जब से उसने पुरूरवा को देखा था तभी से उस पर अपना सर्वस्व निछावर करने का संकल्प ले चुकी थी। किन्तु देवलोक की मर्यादा उसके मार्ग में बाधक थी। दोनों सखियाँ तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से प्रमदवन में घूम रही थीं। राजा और विदूषक तो उन्हें नहीं देख सकते थे किन्तु वे दोनों उनकी सारी गतिविधि को देख रही थीं। उर्वशी ने देखा और स्वयं अपने कानों से सुना कि उसके वियोग में सम्राट अत्यंत विह्वल हो गया है और उसकी निष्ठुरता की चर्चा कर रहा है। उर्वशी से रहा नहीं गया। उसने भोजपत्र पर राजा के आरोप का उत्तर देते हुए लिखा कि—मेरी भी वही मनःस्थिति है जो आपकी है। ऐसा न समझिए कि आपको दुःख में रखकर मैं मौज में हूँ।

उर्वशी ने यह भोजपत्र राजा के विदूषक के ऊपर छोड़ दिया। पहले तो वह बहुत डरा, किन्तु जब राजा को ज्ञात हुआ कि यह तो उसकी प्राणप्रिया उर्वशी का पत्र है तो दोनों को परम प्रसन्नता हुई। फिर तो उर्वशी तथा उसकी सखी अपनी तिरस्करिणी हटा कर राजा के समीप प्रत्यक्ष प्रकट हो गयीं। राजा ने उन्हें अपने आसन पर बिठाया, किन्तु इसी बीच उसे स्वर्गलोक वापस जाना पड़ा क्योंकि भरत के सिखाये हुए रसों का अभिनय लोकपालों समेत देवराज देखना चाहते थे और उसे बुलाने के लिए एक देवदूत भेजा था। निराश उर्वशी चली गयी, जिससे राजा को बहुत खेद हुआ। उसके मन बहलाने का साधन उर्वशी का लिखा हुआ उक्त पत्र था, किन्तु विदूषक की असावधानी से वह उड़ कर रानी औशीनरी के हाथ में पड़ गया था। राजा उसे ढूंढने में परेशान था। रानी ने उक्त पत्र को अपने हाथों से सम्हाले हुए कहा—आर्यपुत्र ! परेशान न हों, यह है वह पत्र। राजा सकपका गए और रानी का अमर्ष दूर करने के लिए उसके पैरों पर गिर कर मनाने लगे, किन्तु रानी क्रोध में इतनी भरी हुई थी कि वहाँ रुकी भी नहीं, तुरन्त अन्तःपुर को वापस चली गयी, जिससे राजा का मन बहुत उदास हो गया।

रानी चली तो गयी किन्तु उसे अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ। उसने मन ही मन संकल्प किया कि राजा की प्रसन्नता के लिए वह उनकी चहेती के साथ भी प्रीतिपूर्ण व्यवहार करेगी। इसी समय अभिसारिका के वेश में उर्वशी पुनः आ गयी। उसे स्वर्गलोक के अभिनय में सम्वाद लिखने के स्थान पर पुरूरवा का नाम ले लेने के कारण भरत मुनि ने शाप दे कर स्वर्ग-च्युत कर दिया था। किन्तु देवराज इन्द्र की कृपा से उसे इतनी छूट मिली थी कि वह सम्राट पुरूरवा की पत्नी के रूप में तब तक पृथ्वीलोक में रहे जब तक पुत्र का मुँह न देख ले। उर्वशी को जब रानी औशीनरी के हृदय की यह बातें मालूम हो गयीं कि वह उसके साथ प्रेमवश व्यवहार करेगी तो वह परम प्रसन्न हुई। उर्वशी की सखी चित्रलेखा ने सम्राट से निवेदन किया—महाराज ! मेरी सखी का आप इस तरह ध्यान रखें, जिससे इसे स्वर्गलोक की याद न सताए।

राजा पुरूरवा उर्वशी को प्राप्त कर निहाल हो उठा और उसके दिन बड़े सुख-सौभाग्य से बीतने लगे। एक समय उर्वशी राजा के साथ गन्धमादन पर्वत पर विहार के लिए गयी। वहाँ मन्दाकिनी के तट पर एक परम सुन्दरी विद्याधरी बालिका को देख कर राजा उसे अपलक नेत्रों से निहारने लगे। उर्वशी को इससे बड़ा अमर्ष हुआ और वह रूठ कर राजा से दूर वन में पहुँच गयी। कुछ देर बाद राजा भी उर्वशी को ढूँढते हुए वहाँ पहुँचे, किन्तु

उन्हें कहीं भी उर्वशी दिखायी नहीं पड़ी। राजा ने वन का चप्पा-चप्पा ढूंढा। वनों, पर्वतों, वृक्षों, लताओं, पशु-पक्षियों सबसे उर्वशी को पूछते हुए वह उन्मत्तों की भांति प्रलाप करने लगे। इसी विह्वलता की दशा में उन्हें एक स्थान पर एक लालमणि मिल गयी, जिसके धारण करते ही लतारूपी उर्वशी से उनकी भेंट हो गयी। फिर तो दोनों ही परम आह्लादित हुए। उर्वशी ने राजा के उपालम्भ का उत्तर देते हुए कहा—महाराज! मैं तो इस वन प्रान्त में स्वामिकार्तिकेय के नियम के कारण लतारूप में परिणत हो गयी थी, क्योंकि कुमार जीवन बिताने के लिए उन्होंने यह नियम बना दिया था कि जो भी स्त्री यहां आएगी वह लता के रूप में बदल जायगी। आप को जो लालमणि मिली है, वह बहुमूल्य संगमन मणि है, उसी के प्रभाव से आपके साथ हमारा यह पुनर्मिलन सम्भव हो सका है।

राजा को जब यह बातें ज्ञात हुईं तो वहाँ और अधिक रहना अनुचित समझ कर वह अपनी राजधानी को तत्काल वापस लौट आये और पहले ही की तरह सुखपूर्वक पुन आमोद-प्रमोद में मग्न हो गए।

किन्तु सम्पूर्ण सुख-सौभाग्य के होते हुए भी राजा को कोई सन्तान न होने की चिन्ता बराबर सताती ही रहती थी।

एक बार राजा गंगा-यमुना के संगम-स्थल पर स्नानार्थ गया। उसकी प्रियतमा उर्वशी भी उसके साथ थी। उक्त संगमन मणि को, जिसे उर्वशी हेमसूत्र के साथ सदैव अपने मस्तक पर धारण करती थी उस समय निकाल कर उसने अपनी दासी को दे दिया था। दासी ने उसे एक दोने में रखकर लाल कपड़े में बांध लिया था। इसी बीच एक चील ने मांस का टुकड़ा समझ कर उसे झपट लिया और देखते ही देखते दूर आकाश में उड़ गयी। राजा ने जब तक अपना धनुष-बाण सम्हाल कर उसे मार गिराने का प्रयास किया तब तक वह उनके बाणों की पहुंच से बाहर हो चुकी थी। राजा की आज्ञा से नगर के रक्षकों को उक्त चील का पीछा करके मणि छीन लाने का हुक्म दे दिया गया।

पुरूरवा तथा उर्वशी को इस मणि को खोने का बड़ा दुःख था। वह विदूषक के साथ उद्विग्न भाव से बैठा था कि इतने में ही कंचुकी एक बाण और वह मणि लेकर वहां आ पहुंचा। राजा ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की किन्तु जब उसने उस बाण पर अंकित अक्षर पढ़े तो उसके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा क्योंकि उस पर छोटे छोटे अक्षरों में लिखा था—*"उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न इला-पुत्र पुरूरवा के पुत्र और शत्रुओं की आयु का* संहार करने वाले आयु का यह बाण है।"

राजा ने सोचा कि यह अनहोनी कहां से हुई। कुमार-वन की उक्त दुर्घटना को छोड़ कर वह सदैव मेरे साथ रही है। और उस समय भी वह लता के रूप में रही, तब फिर उसे पुत्र कब पैदा हुआ? कभी ऐसा भी तो नहीं हुआ कि उर्वशी में गर्भ के लक्षण देख गए हों। राय फिर यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? वह विदूषक के साथ इसी ऊहापोह में व्यस्त था कि कंचुकी ने आकर सूचित किया कि महर्षि च्यवन के आश्रम से एक तपस्विनी अपने साथ एक बालक लेकर आयी है और आपसे मिलना चाहती है।

तपस्विनी के साथ बालक को जब राजा ने देखा तो उनका मन वात्सल्य भावना से आर्द्र हो गया। राजा ने तपस्विनी को आदरपूर्वक प्रणाम किया तो उसने शुभाशीर्वाद के साथ उस बालक से कहा—बेटा! यह तुम्हारे पिता जी हैं, इन्हें प्रणाम करो। बालक ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

राजा के पूछने पर तपस्विनी ने बताया, जब इस बालक का जन्म हुआ तो उर्वशी इसे हमारे पास रख आयी थी। *भगवान च्यवन ने क्षत्रियोचित नियमों के अनुसार इसके* सभी संस्कार सम्पन्न किए हैं। आज इसने तपस्वियों के आश्रम-धर्म का उल्लंघन किया है, एक बाण से एक पक्षी को मार डाला है। अतः महर्षि च्यवन ने मुझे आज्ञा दी है कि इसे आप

तथा उर्वशी के समीप पहुंचा दू। इतने में ही कंचुकी के साथ उर्वशी भी वहीं आ गयी। अपने पुत्र को देखते ही उर्वशी उमड़ पड़ी। कुमार ने भी अपनी माता का चरण स्पर्श किया। तपस्विनी ने विदा मांगते हुए कहा—यह तुम्हारी थाती मैंने तुम्हें सौंप दी है, मुझे जाने की आज्ञा दो, क्योंकि मेरे आश्रम धर्म में बाधा होगी। तपस्विनी जब चली गयी तो उर्वशी कुछ स्मरण करके रोने लगी। राजा को उर्वशी का यह अकारण रुदन बड़ा विचित्र मालूम पड़ा। उन्होंने उलाहना देते हुए पूछा—प्रिये ! यह हम लोगों के मंगल मनाने का अवसर है, तुम रो क्यों रही हो ? उर्वशी ने राजा को मर्म की बातें बताते हुए कहा—महाराज ! आज से हम दोनों के संयोग की अवधि समाप्त हुई। मैं पुत्र के मुख को देखने तक ही आपके साथ रह सकती थी। तुम्हारे वियोग भय के कारण ही मैंने अपने पुत्र को छिपा दिया था।

राजा को उर्वशी की बातें सुनकर बड़ा धक्का लगा। उसने कहा—ठीक है, तुम स्वर्ग जा सकती हो, मैं भी तुम्हारे पुत्र कुमार आयु को राजा बना कर अब वन जाऊंगा। इसी समय देवर्षि नारद ने इन्द्र का सुखद संवाद सुनाते हुए कहा—जब तक आप इस संसार में जीवित रहेंगे तब तक उर्वशी आप की सहधर्मिणी के रूप में साथ रहेंगी। राजा और उर्वशी को इससे परम आह्लाद हुआ मानो स्वर्ग ही उनके हाथों में आ गया हो। देवर्षि नारद ने कुमार आयु का राज्याभिषेक किया। चारों ओर जय-जयकार होने लगा। मांगलिक वाद्य बजने लगे और वैतालिकों ने स्तुतिगान किया।

इस प्रकार पुरूरवा और उर्वशी के पुराणप्रख्यात चरित को महाकवि कालिदास ने अपने मनोरम भाव, भाषा, शैली और शिल्प की मौलिकता से ऐसा स्वरूप प्रदान किया है कि वह चिरनवीन बन गया है। कवि की कल्पना का चमत्कार तो इसमें देखते ही बनता है। भरत मुनि का शाप, स्वामिकार्तिकेय के वन का अद्भुत नियम, उर्वशी का लता रूप में परिवर्तन, पुरूरवा का प्रणयोन्माद एवं प्रलाप—यह सभी महाकवि कालिदास की मनोरम कल्पना के प्रसून हैं, और इन्हीं प्रसंगों के कारण समूचे नाटक में और कथावस्तु में नव जीवन आ गया है। कालिदास की शृंगारप्रियता का इस नाटक में भी पदे-पदे परिचय मिलता है। संयोग और विप्रलम्भ दोनों का उत्तम परिपाक इसमें हुआ है, यद्यपि विप्रलम्भ का अतीव विस्तार कुछ खटकता है। इस नाटक में कुल अठारह पात्र हैं, जिनमें से दस पुरुष पात्र तथा आठ स्त्री पात्र हैं। इससे न केवल पात्रों के चरित्रों का पूर्ण विकास ही हुआ है वरन् नाटक की अभिनेयता भी सुकर हो गयी है।

विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु के समान इसकी भाषा भी मनोरम है। यद्यपि यह सच है कि अभिज्ञान शाकुन्तल का भाषासौष्ठव इसमें नहीं है और न उतना प्रवाह एवं क्षिप्रता ही है तथापि प्रसाद गुण से पूर्ण होने के कारण इसकी भाषा का निखरा हुआ रूप संस्कृत के अन्य नाटकों में दुर्लभ है। छोटे-छोटे गेय छन्दों के तथा मनोरम रसभरे संवादों के कारण भी इस नाटक की शोभा में चार चांद लग गए हैं। विक्रमोर्वशीय में मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा कालिदास की नाट्यकला का अधिक विकास हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों तथा सन्दर्भों का वर्णन इस नाटक में भी अतीव मनोहर है, और इसी प्रकार नारी-सौन्दर्य के सन्दर्भों में भी कालिदास की अत्यधिक सफलता मिली है। इन दोनों प्रसंगों में कालिदास की निपुणता का एक चमत्कार इस अवतरण में देखने योग्य है—

आपिभृते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गङ्गारोधः पतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥

विक्रमोर्वशीय १।७

प्रसग केशी के आतक से मूर्च्छित उर्वशी के होश मे आने का है। कवि ने इस दृश्य मे मालोपमा की अनूठी छवि अकित की है। चन्द्रोदय हो रहा है, रजनी अन्धकार के परदे से बाहर निकलती जा रही है। धुए का सिलसिला टूटता जा रहा है और आग अपने ज्वालामय भास्वर रूप मे निखरती जा रही है, कगारो के टूट कर गिरने से जल मे जो गदगी आ गयी थी, वह शनै -शनै बैठती जा रही है और गगा निर्मल सलिला होती जा रही है। ठीक इसी तरह सुन्दरी उर्वशी की मूर्च्छा धीरे-धीरे दूर होती जा रही है और इसका निसर्ग मनोहर रूप निखरता जा रहा है। इन तीनो उपमाओ मे सुन्दरी उर्वशी के मूर्च्छापगम का सौन्दर्य कितना सटीक और मनोहर चित्रित किया गया है।

उर्वशी के दिव्य रूप की एक झाकी लीजिए—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तप्रभः
शृङ्गारैकरसः स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूपं पुराणो मुनिः॥

विक्रमोर्वशीय १.८

परम सुन्दरी उर्वशी की सृष्टि मे मनोहर कान्ति वाले चन्द्रमा ब्रह्मा बने हो या शृगार के अवतार कामदेव अथवा विविध पुष्पो के भाण्डार वसन्त। क्योकि यह तो असभव सा दिखाई पडता है कि निरतर वेदो के अभ्यास मे रत रहने के कारण नीरस हृदय ब्रह्मा ने स्वय इसकी रचना की हो, वे तो समस्त विषय-वासनाओ से विमुक्त हो चुके हैं।

इस नाटक मे भी कवि ने ग्रीष्म ऋतु का मनोरम चित्राकन किया है। यथाप्रसग अन्यान्य ऋतुओं तथा प्राकृतिक दृश्यो का भी सजीव वर्णन है। राजधानी के वैभव विलास के समान ही तपोवन की एकान्तता एव सुरम्यता मे भी कवि की प्रतिभा का प्रसाद आह्लादकारी है। इस नाटक मे जीवन के कुछ अन्य प्रसगो मे भी कवि को रस मिला है। और मालविकाग्निमित्र की भाति इसके नायक और नायिका अन्त पुर की रगरेलियो से बाहर निकल कर तपोवन एव आवास मे भी अपना जीवन बिताना चाहते हैं।

इस नाटक का नायक पुरूरवा अग्निमित्र की भाति विषय-भोगो मे ही अनुरक्त नही है। उसे अपनी मर्यादा एव लोकप्रतिष्ठा का भी भय है और जनता मे उसके लिए अतीव आदर तथा स्नेह है। उसकी वीरता ऐसी है कि देवराज इन्द्र भी उसकी सहायता के आकाक्षी है और सहृदयता तथा उदारता ऐसी है कि तनिक से अपराध पर अपनी सहधर्मिणी के पैरो पर गिरने मे भी उसे सकोच नही है। उर्वशी के वियोग पर उसकी विह्वलता हृदयद्राविणी है। उसका प्रेम मात्र शारीरिक एव भौतिक नही है। अपने प्राणो को देकर भी वह अपने प्रेमास्पद को पाना चाहता है। वह दुष्यन्त की भाति अपनी प्रेयसी को सद्य भूल जाने वाला नही है। वह उर्वशी के लिए शरीर त्यागने को तैयार है जब कि दुष्यन्त अपनी शकुन्तला को राजधानी मे वापस आते ही भूल जाता है। पुरूरवा मे प्रेम का जो उच्चादर्श पाया जाता है वह अन्य नायको मे दुर्लभ है।

नायिका उर्वशी मे दैवी और मानुषी गुणो का विलक्षण मिश्रण है। उसमे जितना अलौकिक सौन्दर्य और रूप है उतने ही उत्कृष्ट गुणो की भी वह खान है। न केवल अपने प्रियतम के लिए ही, वरन् अपनी सखियो के प्रति भी वह उतनी ही स्नेहशील है। राजा के साथ उसे उतनी प्रगाढ प्रीति हो गयी है कि वह अपने मानापमान की भी चिन्ता नही करती। अपनी सपत्नी उशीनरी की इन्द्राणी से तुलना करती है। उसे मालूम है कि राजा उशीनरी को प्यार करते हैं, किन्तु फिर भी राजा के प्रति उसे कोई ईर्ष्या नहीं होती। अपने प्रियतम पुरूरवा के लिए उर्वशी ने जो प्रेम दिखलाया है वह भी अन्य नायिकाओं मे

दुर्लभ है। अपने सद्यःजात पुत्र को भी वह इस भय से अपनी सखी को दे आती है कि यदि पुत्र का मुख राजा देख लेंगे तो देवराज के वचन के अनुसार उसे राजा से अलग होना पड़ेगा। एक माता के लिए इससे बढ़कर पति-प्रेम दिखलाना असंभव है। अप्सरा होते हुए भी उर्वशी ने लौकिक कुल-वधुओं के समान जो आदर्श जीवन निभाया है, उसके कारण उसके चरित्र की कीमत और बढ़ जाती है।

रानी उशीनरी या औशीनरी उस युग की एक सामान्य राजमहिषी है। उसे जैसा होना चाहिए था, वैसी ही वह है। अपने पति की इच्छा की पूर्ति ही उसका धर्म एवं कर्तव्य है, फिर भी अपनी सपत्नी के प्रति भी उसका व्यवहार आदर्श रहा। उसके चरित्र में कहीं भी कोई लांछन नहीं लगाया जा सकता। नाटक में कंचुकी का चरित्र बहुत निखरा हुआ है। वृद्धावस्था में स्त्री-जनों की सेवा उसे बहुत खटकती है। बेचारे का जीवन कारावास के बंदी के समान है। एक अवसर पर वह कहता है—

> सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी
> पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
> अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती शरीरं
> सेवाकारा परिणतिरहो स्त्रीषु कष्टाधिकारः॥

सभी लोग जवानी में अर्थ-संचय की चेष्टा करते हैं और वृद्धावस्था में पुत्रों पर भार डालकर विश्राम की इच्छा करते हैं। परन्तु हम अभागे कंचुकियों का जीवन तो कारावास के बंदी के समान है, प्रतिदिन सेवा करते रहो और अपना शरीर खपा दो। सचमुच स्त्रियों की सेवा में रहना अतीव कष्टकारी है।

जितनी मालविकाग्निमित्र
दरपूर्ति की चिन्ता में तथा
मवश मनोरंजन होना

है तथापि वह स्थिरस्वार्थी है और राजा तथा रानी दोनों को ही प्रसन्न करना चाहता है। अन्यान्य दास-दासियों के चरित्र भी अच्छे बन पड़े हैं। दासी निपुणिका अपनी स्वामिनी के हितों की सजग प्रहरी है और कोई भी ऐसा अवसर नहीं चूकती जब अपनी स्वामिनी का कोई हिताहित देखती है।

इस प्रकार कुल मिला कर विक्रमोर्वशीयम् महाकवि कालिदास की अनवद्य नाट्य-कृति है और अपने इन्हीं उत्तमोत्तम गुणों के कारण सैकड़ों वर्षों से हमारे देश के काव्य-रसिकों के बीच अतीव लोकप्रिय हुई है। इसके अनेक सुगेय छंद संस्कृत रसिकों के कण्ठ-हार बने हुए हैं। सूक्तियों एवं अर्थान्तरन्यासों के कारण भी इसकी शोभा बहुत बढ़ गई है।

## अभिज्ञान शाकुन्तलम्

अभिज्ञान शाकुन्तल का विश्ववाङ्मय में ऊंचा स्थान है। हम भारतीयों के बीच तो यह सूक्ति सुप्रसिद्ध ही है कि—

'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'

अर्थात् काव्य में नाटक तथा नाटकों में अभिज्ञान शाकुन्तल के समान कोई दूसरी रचना नहीं है। इस नाटक में महाकवि कालिदास की नाट्यकला का ही चरम विकास नहीं हुआ है अपितु उनकी काव्य प्रतिभा का भी यह सर्वोत्तम उदाहरण है। यह नाटक अपनी विचित्र कथावस्तु, गोचर शैली, रचना-चातुरी, स्वाभाविकता तथा आदर्श चरित्रों के कारण इतना सर्वप्रिय हो चुका है कि समूचे संसार के काव्य-रसज्ञों की प्रिय पाठ्य-

सामग्री बन गयी है। इसमे सात अक है तथा इसके आरम्भ तथा अन्त मे भी महाकवि ने अपने अभीष्ट देव शकर जी की स्तुति की है।

इस नाटक की मूल कथा महाभारत के आदिपर्व से ली गयी है, किन्तु कवि ने इसमे अनेक मौलिक परिवर्तन करके इसकी कथावस्तु का इतना मनोहर विकास किया है कि अनेक पुराणो तथा परवर्ती साहित्यों मे अभिज्ञान शाकुन्तल की कथावस्तु को ही एतिहासिक सामग्री के रूप में स्वीकार किया गया है। इस नाटक मे नायक सम्राट दुष्यन्त तथा नायिका मुनिपोषिता कन्या शकुन्तला के मिलन-वियोग तथा पुन मिलन की कथा को बडे रोचक ढग से प्रस्तुत किया गया है। कथा का अति सक्षेप इस प्रकार है—

हस्तिनापुर मे पुरुवश के प्रतापी सम्राट दुष्यन्त एक दिन शिकार खेलते हुए कण्व मुनि के आश्रम के समीप पहुच गये और वही पर एक मृग के पीछे उन्होने अपना घोडा दौडाया। मृग वगपूर्वक मुनि के आश्रम मे घुस गया। राजा ने उसे मारने के लिए अपने धनुप पर तीर चढाया ही था कि किसी ने रोक दिया। राजा की सेना पीछे छूट गयी थी। वह अकेले ही मुनिवर कण्व के तपोवन मे प्रवेश करता है। महर्षि कण्व तपोवन मे नही हैं, उनके शिष्यो ने राजा का स्वागत-समादर किया। राजा ने वही पर दो सखियो के साथ वृक्ष सींचती हुई परम सुन्दरी शकुन्तला को देखा। शकुन्तला का दिव्य सौन्दर्य और नवयौवन देखकर वह प्रथम साक्षात्कार मे ही मुग्ध हो उठे। इसी बीच एक भौंरा शकुन्तला के मुखमण्डल पर मडराने लगा और उसके कशपाश मे लगे पुष्पो की सुगन्धि का अनुकरण करते हुए वह जहाँ कहीं जाती उसका अनुसरण करने लगा। शकुन्तला डर गयी और उसने सहायता के लिए अपनी सखियो को पुकारा। परिहासवश सखियो ने कह दिया कि इसे रोकने की शक्ति हम लोगो मे नही है, तुम इस देश के राजा दुष्यन्त को पुकारो। तपोवन और उसके निवासियों की रक्षा राजा ही करता है।

दुष्यन्त पहले ही से शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य पर रीझे हुए थे और मिलने के लिए उत्सुक थे। अब तो प्रकट होने का अवसर भी उन्हे मिल गया था। किन्तु अपने को दुष्यन्त के रूप मे प्रकट करना उचित न समझ कर दुष्यन्त के धर्माधिकारी के रूप में उसने अपना परिचय दिया। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला भी मोहित हो गयी। राजा को जब सखियो से पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि शकुन्तला मुनिकन्या नही है वह मेनका के गर्भ से उत्पन्न विश्वामित्र की सन्तान है तो उसने मन मे सोचा कि तब तो मेरी मनःकामना पूर्ण हो सकती है, जिसे मैं अब तक अग्नि समझ रहा था वह तो शरीर पर धारण करने योग्य रत्न है। बातचीत के सिलसिले मे सखियो से यह छिपा नही रह सका कि शकुन्तला और इस भद्र राजपुरुष मे परस्पर प्रेमभाव के अकुर उत्पन्न हो चुके हैं। उन्होने कहा भी कि यदि आज तात कण्व आश्रम मे मौजूद होते तो ।

आश्रम मे ही शकुन्तला और दुष्यन्त गान्धर्व विधि से प्रणय सूत्र मे आबद्ध हो गये। इसकी जानकारी शकुन्तला की दोनो सखियो को है। इसी अवसर पर राजा को आवश्यक कार्य के कारण अपनी राजधानी को वापस लौट जाना पडा। लौटते समय उसने शकुन्तला को अपने नाम से अकित एक अगूठी देते हुए आश्वासन दिया कि मेरे नाम के जितने अक्षर इस पर अकित हैं उतने ही दिनो के भीतर मैं तुम्हें अपने अनुचरो द्वारा अपनी राजधानी बुलवा लूगा।

किन्तु विधि का विधान कुछ दूसरा ही था। दुष्यन्त के तपोवन से जाने के अनन्तर शकुन्तला उसके वियोग म इतनी व्यथित और उद्विग्न हो उठी कि उसे अपने तन-मन का कोई ध्यान नहीं रहा। एक जगह चुपचाप बैठकर वह विसूरती रही। ऐसे ही क्षणो मे क्रोध के मूर्तमान रूप दुर्वासा मुनि महर्षि कण्व के आश्रम मे पधारे। शून्यहृदया शकुन्तला से उनका स्वागत-समादर कुछ भी नहीं हो सका। होता भी कैसे, उसे तो किसी कार्याकार्य

का ध्यान ही नहीं था। अपने इस अपमान पर अत्यन्त क्रुद्ध दुर्वासा ने उस अबोध को यह शाप दे दिया कि तुम जिसको स्मरण करने मे इतनी भूली हुई हो कि मुझ जैसे अतिथि के स्वागत-सत्कार का ध्यान भी नही रह गया है, वह तुम्हें ऐसा भूल जायगा कि याद दिलाने पर भी तुम्हें याद नहीं करेगा। दुर्वासा यह कहकर कण्व के आश्रम से जाना ही चाहते थे कि शकुन्तला की सखियो ने बहुत अनुनय-विनय किया और कहा—महाराज! यह इस अबोध कन्या का पहला अपराध है, उसे क्षमा कर दें। दुर्वासा ने कहा—मेरा वचन अलीक है। इसका पति इसे भूलेगा अवश्य। किन्तु जब यह उसे राजा द्वारा दी गयी अगूठी दिखाएगी तो उसे इसकी याद आ जायगी।

सखियो ने वियोगाग्नि मे पीडित शकुन्तला को यह बात नहीं बतायी। उसे तो यह भी पता नहीं था कि कौन आया और कौन गया। दुर्वासा का शाप सचमुच प्रतिफलित हुआ। अपनी राजधानी पहुच कर दुष्यन्त अपने राजकार्यो मे इतना व्यस्त हो गया कि उसे शकुन्तला की याद भी नही रही। इसी बीच कुछ दिन और बीत गये और महर्षि कण्व सोमतीर्थ की यात्रा से अपने आश्रम को वापस आए। यज्ञशाला मे प्रवेश करते ही आकाशवाणी द्वारा उन्हे शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रेम-सम्बन्ध तथा शकुन्तला के गर्भवती होने का सवाद मिल गया। इधर शकुन्तला की दोनों सखियाँ अधिक दिन बीत जाने के कारण राजा के प्रति क्षुब्ध हो रही थी। अनसूया सोच रही थी कि कही ऋषि दुर्वासा के शाप के कारण ही महाराज हमारी सखी को न भूल गए हो। वह किसी तपस्वी द्वारा उक्त अगूठी भेज कर दुष्यन्त को शकुन्तला की याद दिलाने की बात सोच रही थी कि उसे महर्षि कण्व के आदेश से शकुन्तला की विदाई करने का शुभ-सवाद सुनाई पडा।

शकुन्तला की विदाई का प्रसग इतना करुण, सहज और आकर्षक है कि पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। स्वय महर्षि कण्व कह उठते हैं कि मुझ जैसे वैराग्यशील को यदि कन्या का प्रथम-वियोग इतना क्लेश पहुचा रहा है तो गृहस्थ जन इसे कैसे सहन करते हैं। शकुन्तला निसर्ग की कन्या थी। तपोवन मे उसका इतना जीवन बीता था। वन के पशु-पक्षी, वृक्ष, लताएं—सब मे उसका ममत्व था। कालिदास ने इनमे भी मानवीय ममता की डोर फेंक कर ऐसा सजीव चित्रण किया है जिसकी तुलना किसी भी वाङ्मय में दुर्लभ है। ये सब आश्रमवासिनी शकुन्तला की विदाई ठीक उसी ढग से करते हैं जैसे गृहस्थजन अपनी कन्या का। महर्षि कण्व का समूचा आश्रम करुणा मे आप्लावित हो जाता है। पशु-पक्षी एव लता-वृक्ष तक करुणा-विगलित होकर फूट पडते हैं। शकुन्तला अपने प्रियतम की राजधानी की ओर प्रस्थान करती है। उसे आश्रम की धरती की ममता इतना बाधे हुए है कि वह अपने पोषक पिता महर्षि कण्व से पूछती है कि—तात! मैं पुन कब आपके चरणो मे आ सकूगी। कण्व कहते है—बेटी! जब तू चक्रवर्ती सम्राट की जननी बन कर और अपने बेटे पर साम्राज्य का भार सौंपकर अपने पति के साथ वाणप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करेगी तभी यहां आएगी। महर्षि शकुन्तला को गृहस्थाश्रम मे योग्य कुलवधू बनने के लिए कुछ सीख भी देते हैं। उसके बाद महर्षि के दो शिष्य शार्ङ्गरव और शारद्वत तथा आर्या गौतमी के साथ शकुन्तला अपने पति की राजधानी की ओर प्रस्थान करती है।

दुष्यन्त को शकुन्तला की तनिक भी याद नही थी। जब कण्व के दोनो शिष्यों तथा आर्या गौतमी के साथ एक रूपवती स्त्री के उनके समीप महर्षि कण्व के आदेशानुसार आने की सूचना दी गयी तो उसने यज्ञशाला में उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था के लिए कहकर स्वय भी वहा पहुचा। परस्पर कुशल-क्षेम के अनन्तर शिष्यो ने जब अपने गुरु का आदेश सुनाते हुए कहा—मेरी अनुपस्थिति मे इस कन्या के साथ आपने जो गान्धर्व-विवाह किया था, वह ठीक ही था। आप सज्जनों तथा गुणी जनो मे श्रेष्ठ है और शकुन्तला भी मूर्तिमती

सत्कर्म है। ऐसे सुयोग्य वर-वधू का सयोग करा के प्रजापति ने बहुत दिनो की निन्दा दूर कर दी है। अब आप अपनी इस गर्भिणी सहधर्मिणी को स्वीकार करें। किन्तु दुष्यन्त को तो कुछ भी स्मरण नही था। उसने सहज भाव से कहा—क्या सचमुच मरा इनके साथ विवाह हुआ है? कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव ने कहा—महाराज! यदि आपको अपना किया हुआ कार्य अप्रिय लग रहा हो तो भी राजा के नाते अपना धर्म नही छोडना चाहिए। दुष्यन्त ने पुन इनकार किया और कहा—आप इस प्रकार की असत्कल्पना क्यो करते है?

शकुन्तला के हृदय की गति चिन्तनीय होती जा रही थी। उसे स्वप्न मे भी ऐसी आशा नही थी। आर्या गौतमी ने उसके मुख पर से घूघट हटा दिया। उन्हे आशा थी कि शायद अब राजा उसे पहचान लेगा। किन्तु दुष्यन्त ने स्पष्ट कह दिया—इस गर्भवती स्त्री को मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ, जब कि मैने इसके साथ विवाह किया ही नही है। इस तरह तो लोग मुझे क्षेत्री (दूसरे पुरुष द्वारा गर्भवती स्त्री का पति) कहने लगेंगे।

दुष्यन्त की इस करतूत से महर्षि कण्व के दोनो शिष्यो को सहज अमर्ष हुआ। उन्होने बहुत खरी-खोटी सुनाई, किन्तु राजा धर्मसकट मे पडा था। फिर तो शकुन्तला ने दुष्यन्त द्वारा दी गयी अँगूठी को दिखला कर उसे याद दिलाने का निश्चय किया। वह अपनी अगुली से अगूठी उतारने लगी, किन्तु वह अगूठी थी कहा? बेचारी हताश हो गयी। गौतमी ने कहा—लगता है, जिस समय शचीतीर्थ मे तुम आचमन कर रही थी वह [illegible]

दें। हम लोग जाते है। शकुन्तला भी उनके पीछे-पीछे जब चलने को उद्यत हुई तो शार्ङ्गरव ने डाटते हुए कहा—अभागी! क्या अब तू स्वतन्त्र होना चाहती है। यदि राजा का कहना सत्य है अर्थात् उनके साथ तेरा गान्धर्व-विवाह नही हुआ है तो तू पतिता है और पिता जी के आश्रम मे नही जा सकती और यदि तेरा कथन सत्य है, तेरा चरित्र शुद्ध है तो तेरे लिए पति के घर मे दासी के रूप मे भी रहना श्रेयस्कर है।

बेचारी शकुन्तला ठिठक गयी। उसकी दयनीय दशा देख कर पुरोहित सोमरात ने एक उपाय सुझाया, बोला—महाराज! ज्योतिषियो ने कहा है कि आपका पुत्र चक्रवर्ती होगा। यदि इसके गर्भ से जन्म लेने वाले बालक मे चक्रवर्ती के लक्षण दिखायी दें तो समझना चाहिए कि इसका कथन सत्य है और तब इसे अन्त पुर मे निवास देना चाहिए। अन्यथा इसे अपने पिता के यहा वापस कर दिया जायगा। अत जब तक प्रसव न हो तब तक के लिए इसे मेरे यहाँ रहने दें। दुष्यन्त को भी इस बात मे कोई आपत्ति नही दिखाई पडी। सोमरात ने शकुन्तला को अपने साथ चलने के लिए कहा। किन्तु वह इतनी दु खी थी कि उसने धरती में समाने की इच्छा की। इसी बीच अद्भुत घटना घटी। थोडी ही दूर जा कर पुरोहित सोमरात ने लौट कर बताया—महाराज! अप्सरातीर्थ के समीप एक दिव्य ज्योति आई और उस स्त्री को उठा कर कही चली गयी। दुष्यन्त ने कहा—यह अच्छा ही हुआ।

किन्तु दुष्यन्त मन ही मन दु खी रहने लगा। वह सोचने लगा कि क्यो मेरे चित्त मे ऐसा विकल्प हो रहा है। कहने के लिए तो मैंने उस स्त्री को इनकार दिया, फिर भी मन यही कहता है कि उसकी बातें सत्य हैं। किन्तु उन्हे बहुत स्मरण करने पर भी शकुन्तला के सम्पर्क की कोई स्मृति नही हुई।

दुष्यन्त का एक साला राजधानी का नगरपाल था। एक दिन दो प्रहरियो के साथ

वह घूम रहा था कि कुम्भिलक नामक एक मछुए को पकड़ा जो महाराज दुष्यन्त के नाम से अंकित अंगूठी बाजार में बेच रहा था। पूछने पर उसने बताया कि एक दिन पकड़ी गयी रोहू नामक मछली के पेट से उसे यह अंगूठी मिली है। उसे पकड़ कर दुष्यन्त के सामने जब दरबार में उपस्थित किया गया तो उस अंगूठी को देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला के सम्पर्क की सारी घटनाएँ स्मरण हो आयीं। मछुए को तो इनाम देकर छोड़ दिया गया किन्तु दुष्यन्त की दशा पागलों जैसी हो गयी। अपनी प्रेयसी शकुन्तला के लिए वह विह्वल हो गया। राज-काज त्याग दिया और दिन रात शकुन्तला की चिन्ता में लीन हो गया। उसने स्वयं शकुन्तला का एक चित्र बनाया, जिसमें तपोवन का दृश्य था, दोनों सखियाँ थीं और कुछ प्राकृतिक दृश्य भी थे। उसी को देख कर किसी प्रकार चित्त बहलाया करता था। न किसी से मिलना-जुलना और न कोई अन्य मनोरंजन। उसके विदूषक माढव्य को छोड़ कर कोई दूसरा उससे मिल भी नहीं सकता था।

इसी बीच बसन्त ऋतु का आगमन हुआ। परम्परा के अनुसार प्रतिवर्ष होने वाला बसन्तोत्सव भी रोक दिया गया और समूची राजधानी में सन्नाटा रहा। उधर शकुन्तला को उसकी माता मेनका अप्सरातीर्थ से उठा ले गयी थी और महर्षि कश्यप के आश्रम में रख आयी थी, किन्तु उसे इस बात की चिन्ता तो थी ही कि किसी प्रकार दुष्यन्त से शकुन्तला का पुनर्मिलन सम्भव हो। इसीलिए एक दिन उसने अपनी सहेली सानुमती नामक अप्सरा को राजा दुष्यन्त का हाल चाल लेने के लिए भेजा। सानुमती अदृश्य हो कर दुष्यन्त के अन्तःपुर में आयी। उसने देखा कि शकुन्तला की विरहाग्नि में राजा दुष्यन्त की कितनी दयनीय दशा हो चुकी है। उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया है और बसन्तोत्सव तक रोक दिया गया है। उसे राजा की इस दयनीय दशा से परम प्रसन्नता हुई। वह तत्काल स्वर्गलोक को वापस चली गयी, जिससे अपनी सखी मेनका को यहाँ की सब बातें सुना सके।

इधर इसी बीच दुष्यन्त को विदूषक माढव्य के रोने चिल्लाने की आवाज सुनाई पड़ी। राजा तत्क्षण अपने मित्र की रक्षा के लिए जब धनुष-बाण लेकर वहाँ पहुँचा तो उसे कुछ भी नहीं दिखायी पड़ा। किन्तु माढव्य के रुदन का स्वर सुनायी पड़ रहा था। तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से वह कोई माढव्य के साथ अदृश्य हो गया था। राजा को इस पर बड़ा क्रोध आया, उसने अपने धनुष पर शर का सन्धान करते हुए कहा—मेरे इस बाण से अब तेरा विनाश निश्चय है। अपने मित्र को बचा कर मैं अभी तेरे प्राण लेता हूँ।

यह भूत वास्तव में इन्द्र का सारथी मातलि था। राजा को विरह दशा में देख कर उसने उसे क्रुद्ध करने का यह उपाय रचा था। इन्द्र के रथ की ओर इशारा करते हुए मातलि ने कहा—महाराज! इस समय दानवों के साथ देवराज इन्द्र का घोर युद्ध हो रहा है। उन्होंने अपनी सहायता के लिए आपको तत्काल बुलाया है। दुष्यन्त तत्काल दानवों से युद्ध करने के लिए चल पड़े। वहाँ पहुँच कर उन्होंने दानवों को परास्त किया, जिससे देवराज इन्द्र परम प्रसन्न हुए। उन्होंने देवताओं के सामने उन्हें अपने सिंहासन पर बिठाया और बड़े आदर सत्कार के बाद अपने रथ में ही उन्हें विदा किया। स्वर्ग से उतरते हुए मातलि ने हेमकूट पर्वत पर अपना रथ उतारा और कहा—महाराज! यह सामने महर्षि कश्यप का आश्रम है और वहीं पर महर्षि तपस्या में लीन हैं। राजा महर्षि कश्यप के उस तपोवन की अपूर्व शोभा देख कर मुग्ध हो गये और बोले—यह तपोवन और यहाँ के निवासी धन्य हैं।

मातलि ने राजा को बताया कि महर्षि कश्यप इस समय अपनी पत्नी अदिति तथा दूसरी ऋषि पत्नियों को पातिव्रत धर्म का उपदेश कर रहे हैं। राजा को एक अशोक वृक्ष के नीचे कुछ देर रुकने का अनुरोध कर वह महर्षि कश्यप को राजा के आगमन की सूचना

देने के लिए गया। इसी बीच राजा की दाहिनी भुजा फडकने लगी और कुछ दूरी पर स्त्रियों की आवाज सुनाई पडी, जिनके साथ एक चचल बालक खेल रहा था। उन्होने देखा कि वह बच्चा इतना धृष्ट और निर्भय है कि सिंह के बच्चे के केश पकड कर नोच रहा है और उसके दात गिनने के लिए उसका मुह खोलवा रहा है। तपस्विनी स्त्रिया उसे मना कर रही हैं और डरा रही हैं कि यदि तू इस सिंह के बच्चे को छेडेगा तो सिंहिनी तेरे ऊपर झपटेगी। किन्तु बच्चा मुह बना कर उनकी बातो की कोई चिन्ता नही करता और पूर्ववत् खेलता रहता है। उस बच्चे को देखकर दुष्यन्त के हृदय मे वात्सल्य की भावना उमडने लगी। सिंह के शावक को अत्यन्त परेशान करते देखकर तपस्विनियों ने दुष्यन्त से उस बालक को दूर हटाने का अनुरोध किया। दुष्यन्त ने आगे बढकर कहा—एक ऋषि कुमार को ऐसा नहीं करना चाहिए।

धीरे धीरे दुष्यन्त को यह ज्ञात हो गया कि यह दूसरा कोई नही शकुन्तला का ही पुत्र है। उन्होने यह भी देख लिया कि इसके हाथ मे चक्रवर्ती राजा के लक्षण है। इतने मे ही एक सखी ने घबराकर कहा—अरे इसकी बाहु का रक्षा-कवच कहा गया। वह रक्षा कवच नीचे गिर गया था। राजा ने उसे उठा कर उन्हे थम्हाना चाहा तो वे चिल्ला उठी—आप उसे छुएँ नही, नही तो महर्षि कश्यप के शाप से यह साप बन कर आपको डॅस लगा। इसे केवल यह बालक और इसके माता-पिता ही छू सकते हैं। अब तो राजा को यह पक्का विश्वास हो गया कि यह पुत्र मेरा ही है और मेरी प्रियतमा शकुन्तला यही है। उधर तपस्विनियों ने भी उस बालक की मुखाकृति को राजा से बिल्कुल मिलती जुलती देख कर तथा इस रक्षाकवच के उठा लेने पर भी कोई अनिष्ट न हुआ देख कर यह समझ गयी कि यह स्वय राजा दुष्यन्त ही हैं।

इसी बीच शकुन्तला भी वहाँ आ गयी। राजा ने उसके चरणों में गिर कर क्षमा मागी और स्वीकार किया कि—प्रिये ! मैंने तुम्हारे साथ बडी निष्ठुरता की है मेरा भ्रम दूर हो चुका है। जिस प्रकार कोई अन्धा अपने सिर पर की माला को सर्प समझ कर फेंक दे वैसा ही मैंने किया है। शकुन्तला ने आसू भरे नेत्रों तथा उमडते हृदय से राजा को उठा लिया और पूछा—प्राणनाथ ! आपको मेरा स्मरण कैसे हुआ। दुष्यन्त ने अगूठी निकाल कर देते हुए कहा—इसी अगूठी के मिलने पर।

इतने मे ही मातलि भी वहाँ पहुच गए और राजा को पुत्र तथा पत्नी से मिलने के उपलक्ष्य मे बधाइयाँ दी। फिर तो सब लोग महर्षि कश्यप एव अदिति के समीप पहुच और राजा ने अपने पुत्र सर्वदमन तथा पत्नी शकुन्तला के साथ उन्हे प्रणाम किया। महर्षि कश्यप ने आशीर्वाद देकर दुर्वासा के शाप का कारण बताते हुए राजा एव शकुन्तला को आशीष दिया और एक शिष्य द्वारा महर्षि कण्व के यहा भी शकुन्तला और दुष्यन्त के पुन-मिलन का सुखद सवाद भेजा।

अभिज्ञान शाकुन्तल की यह मनोरम कथा महाभारत की सक्षिप्त कथा से बहुत विस्तृत तथा परिवर्तित है। इस नाटक का आरम्भ इतने नाटकीय ढग से हुआ है कि प्रथम दृश्य मे ही इसका गभीर प्रभाव पडता है। महाकवि ने महाभारत के अनुपयोगी वर्णनो को काट-छाटकर कथा के प्रवाह में ऐसे मनोरम मोड प्रस्तुत किए हैं कि नाटकीय तत्वो मे नवजीवन आ गया है। पात्रो के व्यक्तित्व मे भी ऐसा परिवर्तन कर दिया है मानो वे बिल्कुल बदल गए हैं। जहाँ महाभारत की शकुन्तला अत्यन्त प्रगल्भ, स्पष्टवादिनी, निर्भीक तथा धृष्ट स्वभाव की है वहीं अभिज्ञान शाकुन्तल की शकुन्तला मे अपनी कुल-मर्यादा, लज्जा एव प्रेमानुभूति की पराकाष्ठा सुरक्षित है। वह अन्त तक नितान्त मुग्धा ही बनी रहती है। इसी प्रकार दुष्यन्त के चरित्र मे भी बडा अन्तर है। कतिपय घटनाएँ कालिदास की कल्पना से प्रसूत हैं, जिनके बिना नाटक की सफलता सदिग्ध हो जाती।

प्रेम और सौन्दर्य का ऐसा सरस, हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी चित्रण जैसा अभिज्ञान शाकुन्तल में है अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें तपोवन और राज दरबार के बीच उस युग में कैसा संबंध था—इसका भी मनोरम चित्रण हुआ है। साथ ही देवलोक में मर्त्यलोकवासियों का कितना महत्त्व था—इसे भी दर्शाया गया है। भारतीय जीवन के सभी अंगों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, एवं वानप्रस्थ की सूचना को गृहस्थाश्रम में बड़ी निपुणता से सन्निहित किया गया है। तथा चारों वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्रों का भी मनोहर दिग्दर्शन कराया गया है।

काव्य रसों की अनूठी छटा के कारण अभिज्ञान शाकुन्तल के दृश्यों का अपना महत्त्व है। शृंगार के दोनों अंगों, संयोग और विप्रलम्भ का जितना जीवन्त वर्णन इसमें मिलता है उतना संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं मिलता। वियोगाग्नि में दग्ध शकुन्तला और दुष्यन्त की मनोदशा को देख कर पाठक द्रवित हो उठते हैं। इसी प्रकार शकुन्तला की विदाई का प्रसंग तो समूचे विश्व-वाङ्मय में अद्वितीय है जैसा कि कहा जाता है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोकचतुष्टयम्॥

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के सभी दृश्य करुण रस के बोझ से विगलित हैं। यथाप्रसंग वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र तथा वात्सल्य रसों का भी पूर्ण परिपाक शाकुन्तल के दृश्यों में आस्वाद्य है। उसमें ओज के साथ मनोज्ञता और क्षिप्रता के साथ भावप्रांजलता का अनोखा समन्वय है। कालिदास नारी एवं प्रकृति सौन्दर्य के अनुपम चितेरे हैं। उनकी रसमयी तूलिका का चमत्कार शाकुन्तल में सर्वत्र देखा जा सकता है। उनके वर्णनों में इतनी सजीवता है कि रंगों और रेखाओं के बिना ही समूचे दृश्यों का अवतारण अतीव सुलभ है।

कालिदास के नाटकों की परिणति सुखान्त होती है, यद्यपि विक्रमोर्वशीयम् के अन्त में उर्वशी का क्षणिक वियोग दिखायी पड़ता है तथापि देवराज के प्रसाद से वह पुनः प्राप्त हो जाती है। अभिज्ञान शाकुन्तल के अन्तिम दृश्य में प्रेमियों के संयोग की जो परिणति कवि ने दिखाई है उसमें लोककल्याण की शाश्वत पृष्ठभूमि सन्निहित है। सर्वदमन अथवा भरत के रूप में इस विशाल राष्ट्र के राष्ट्रपिता का किशोर दर्शन अतीव मोहक और प्रेरक है। न केवल उसका जन्म ही अपितु उसके किशोर जीवन का आरम्भ कश्यप जैसे वीतराग तपस्वी ऋषि के आश्रम में होता है। वह बाल्यकाल से ही उदात्त संस्कारों की शिक्षा प्राप्त करता है, किन्तु फिर भी उसमें सिंह-शावकों का दाँत गिनने की उद्दाम आकांक्षा है। ऐसे लोक विमोहक शारीरिक एवं पराक्रमिक सौन्दर्य समन्वित किशोर पर महाकवि ने अपने राष्ट्र का भावी भार सौंपा है और कामना की है कि—

प्रवर्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां न हीयताम्।

कालिदास के समान लोक-मंगल की ऐसी उद्दाम आकांक्षा अन्यत्र कहाँ मिलेगी। शाकुन्तल में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का जो सामंजस्य दिखाया गया है वह अतीव व्यावहारिक तथा प्रेरणाप्रद भी है। यद्यपि कवि साम्राज्यवादी है, सम्राट या राजा में उसे परमात्म तत्त्व का दर्शन होता है तथापि प्रजा का सब प्रकार से अनुरंजन ही उसके सम्राट का जीवन-व्रत था। उनके तीनों नाटकों के नायक और नायिका साधारण जनता के कल्याण-कार्यों में रुचि लेते हैं। उनके योग-क्षेम की चिन्ता करते हैं और अपने पुरुषार्थ और तेजस्विता के कारण देवताओं के स्वामी का भी अर्घ्य और आसन प्राप्त करते हैं।

कालिदास वास्तव मे प्रेम के कवि है। उनके कविकर्म मे घृणा और जुगुप्सा को कोई स्थान है ही नही। उनके प्रेम का राज्य प्राणिमात्र पर ही नही, अचेतन तत्त्वो तक फैला हुआ है। यद्यपि सुन्दरता उन्हे सर्वत्र प्रिय है और भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता की सूक्ति को उन्होने सर्वत्र चरितार्थ किया है तथापि उनके मन मे कुरूप और दलितो के प्रति भी अपार सहानुभूति है। भाग्यशालियो की भाति भाग्यहीनो का भी उन्होने पक्ष लिया है।

शाकुन्तल की भाषा एव शैली की छटा तो निराली ही है। संस्कृत वाङ्मय मे तो इसकी तुलना किसी अन्य ग्रन्थ से की ही नही जा सकती, स्वय कालिदास को भी इसके समान सफलता अन्य काव्यो मे नही मिली है। इसीलिए समीक्षक लोग इसे महाकवि की अन्तिम एव अनवद्य रचना मानते है। इसकी भाषा अतीव सरस, सजीव, प्राजल, परिमार्जित तथा प्रवाहमयी है। इसके सवादो मे इतनी सहजता एव क्षिप्रता है, प्रभावोत्पादकता एव चुस्ती है कि उसमे पात्रो का व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है। स्थान-स्थान पर

की यह शक्ति कई गुना बढ गयी है। अलकारो
सर्गिक छन्दो मे मणिमुक्ता की भाति अलकारो
भी यत्र-तत्र अलकारो की अनुपम छटा दिखायी

पडती है। उपमा, उत्प्रेक्षा एव स्वभावोक्ति अलकारो से समन्वित सन्दर्भो का तो इस नाटक मे सर्वत्र विशेष महत्त्व है।

अचेतन अथवा प्रकृति के जड पदार्थों का मानवीकरण करके महाकवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल की सुन्दरता मे चार चाद लगा दिये हैं। तपोवन के पशु-पक्षी, लता-वृक्ष सब मे मानवोचित सवेदन की गहरी छाप है। इसी प्रकार गृहस्थ धर्म की ऊची मर्यादा का ध्यान भी कवि को सर्वत्र रहता है। महर्षि कण्व जैसे वीतराग तपस्वी को भी राज-घरानो की स्त्रियो के जीवनादर्शो की जानकारी है। पुत्री के वियोग मे सभी विगलित हो उठते हैं और उसके पालन-पोषण के साथ ही उसके सुख पूर्ण भविष्य की चिन्ता मे तब तक लगे रहते हैं जब तक वह योग्य पात्र को सौपी नहीं जाती। कन्या को वह भी पराये घर की धरोहर मानते हैं।

कालिदास अपने नायको तथा नायिकाओ के तथा पात्रो के चरित्र चित्रण के साथ अपने नाटको मे रस व्यजना पर भी अधिक ध्यान देते है। उनके अनेक पात्र यद्यपि इसी धरती के निवासी तथा दिव्य गुणो एव अलौकिक सौन्दर्य के स्वामी हैं तथापि उनमे मानवीय सवेदना एव सहानुभूति की गहरी छाप होती है। उनके नायक नायिकाओ मे रसज्ञता के साथ पराक्रमपूर्ण आदर्श जीवन बिताने की अदम्य कामना रहती है। वे एक ही क्षण मे अपनी प्रियतमा के असह्य वियोग को भुला कर प्रजा के रक्षार्थ धनुष बाण धारण कर सकते हैं। उनके तीनो नाटको के नायकों तथा नायिकाओ मे चरित्र की अनेक समानताएं पाई जाती हैं। इसका कारण कदाचित उस युग का समाज था, जिसमे कालिदास ने अपना जीवन बिताया था। उनके नायक अग्निमित्र, पुरूरवा और दुष्यन्त—तीनो का नायिकाओ से प्रेम प्रौढ वय मे होता है और तीनो के अन्तःपुर मे प्रथमोढाहिता रानियाँ भी हैं। उनकी तीनो ही नायिकाएँ प्रथमत दीनावस्था मे दिखायी पडती हैं और प्रथम दर्शन मे ही उनमे प्रेमाकुर पैदा होता है, क्योंकि नायकों द्वारा वे कर्मणा अथवा मनसा उपहृत होती है। मालविका जैसी परम सुन्दरी को दासी के रूप मे देख कर राजा अग्निमित्र के हृदय मे सदय भाव उत्पन्न होता है, केशी द्वारा अपहृता तथा मूर्छिता उर्वशी की विपत्तियो का अन्त पुरूरवा द्वारा होता है तथा अपमानिता शकुन्तला का उद्धार दुष्यन्त करता है। इस प्रकार नायको के उपकारो से दबी हुई इन नायिकाओ का प्रेम सहज रूप मे पुष्पित और पल्लवित होता है। इस प्रकार कालिदास के नायको और नायिकाओ मे प्रेमाकुर समान रूप से वर्धमान होता है और दोनो ही परस्पर मिलने के लिए आतुर होते हैं। दोनो की वियोग-

जनित व्यथा में भी विचित्र समानता होती है और नायिकाएँ नायकों और नायक नायिकाओं की गतिविधि को छिप-छिप कर जानना चाहते हैं। नायिकाओं के विरह में सखियां एवं दासियों तथा नायकों के विरह में विदूषकों द्वारा मिलने वाली सहायता भी तीनों नाटकों में बहुत कुछ एक-सी चित्रित की गयी है। इसी प्रकार कालिदास की नायिकाओं से उनके नायकों के मिलन का सन्दर्भ भी वीररस के प्रसंगों से ही निष्पन्न हुए हैं यद्यपि इसमें दो के लिए दैवी शक्तियों की भी सहायता ली गयी है। अग्निमित्र को मालविका तब दी जाती है जब रानी धारिणी को अपने पुत्र के विजय का शुभ सन्देश मिलता है किन्तु पुरूरवा को उर्वशी और दुष्यन्त को शकुन्तला से मिलाने का कार्य अनुरञ्जित देवराज इन्द्र की कृपा से सम्भव होता है। देवराज इन्द्र द्वारा प्रेषित देवर्षि नारद पुरूरवा और उर्वशी के चिर साहचर्य का शुभ-सन्देश देते हैं जो दानवों को पराजित करके लौटने पर महर्षि कश्यप के आश्रम में शकुन्तला का दुष्यन्त से पुनर्मिलन होता है।

कालिदास का प्रेम-सन्दर्भ अथवा शृंगार-प्रसंग केवल वासनात्मक नहीं है। तीनों नाटकों के अन्त में यशस्वी सन्तानों की सूचना एवं उपस्थिति को देख कर यह मानना पड़ता है कि इस स्थिति में भी लोक-मंगल की व्यापक भूमिका को वह कभी भूलने वाले नहीं हैं। अग्निमित्र को वसुमित्र जैसा दिग्विजयी तथा पुरूरवा और दुष्यन्त को कुमार आयु तथा भरत जैसे भावी सम्राटों का पिता होने का सौभाग्य मिलता है। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' की अपनी मंगलाकांक्षा को वह कभी उपेक्षित नहीं कर पाते।

शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त धीरोदात्त प्रकृति के हैं। उनमें जितनी अपार सुन्दरता एवं सुकुमारता है उतनी ही वीरता, धीरता तथा गम्भीरता भी है। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली है कि देखने वाला बिना बताए ही समझ लेता है कि यह कोई महापुरुष हैं। मृगया एवं युद्ध—दोनों में ही उन्हें दक्षता प्राप्त है। वह उत्कृष्ट प्रेमी होने के साथ ही उत्तम पति हैं और रसिक-शिरोमणि होने के साथ ही अपराजेय योद्धा हैं। उनका आत्म-संयम भी आदर्श है। शकुन्तला जैसी परम सुन्दरी को भी वह स्मृति-विभ्रम की दशा में तिरस्कृत कर देते हैं। अपनी माता एवं गुरुजनों के प्रति उनमें अपार आदर भावना है तथा अपनी प्रजा के हित-चिन्तन एवं न्याय-निष्ठा में भी वह उसी प्रकार जागरूक हैं। उनमें कर्त्तव्यपरायणता, दया तथा प्रजा-प्रेम के साथ लोभ-ईर्ष्या-द्वेषादि दुर्गुणों के प्रति तीव्र घृणा है। जो कुछ वह करते हैं उसे पूरा करते हैं। दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला को भूल जाने के शाप से उनकी रक्षा हो जाती है। उनमें आत्म प्रशंसा को सुनने का भूख नहीं है। दानवों के विजय से वापस लौटते समय मार्ग में मातलि जब उनकी प्रशंसा करने लगता है तब वह कहते हैं —जो कुछ मैंने किया है, उसका श्रेय देवराज इन्द्र को है। राजा की धर्म-कर्म के मामलों में भी सूक्ष्म दृष्टि है और शास्त्रीय चर्चा के समान ही संगीत, नृत्य एवं चित्रकला में भी उनकी असामान्य गति है। ऐसे सर्वगुणोपेत नायक की चरित्र-रचना में महाकवि कालिदास की अपूर्व सफलता मिली है।

नायिका शकुन्तला जितनी ही अलौकिक सुन्दरी तथा गुणवती है उतनी ही भोली भाली और सौम्य भी। तपोवन में पालिता होने के कारण उसका प्रकृति से असामान्य स्नेह है। लताओं, वृक्षों, मृगों-मृगियों तथा पक्षियों से भी उसका मन-सम्बन्धियों-सा नाता है। वह पहले स्वयं पौधों में पानी देती है और तब स्वयं खाती-पीती है। मृग के छौनों की परिचर्या में उसके भावी मातृत्व की छाप दिखाई पड़ती है। वह अत्यन्त परिश्रमशील होने के साथ-साथ अपने मन की बातें दूसरों से न कहने की भी मर्यादा की रक्षा करती है। वह आश्रम के कुलपति की पालिता कन्या है किन्तु इस पर भी उसमें अभिमान की रेखा तक नहीं अंकित है। अपने अलौकिक रूप से वह बे-खबर है। वह इतनी भावना-प्रवण तथा सरल है कि महर्षि दुर्वासा के आगमन की भी उसे चिन्ता नहीं रहती। अपने पति के

प्रति तो उसमे अनन्य अनुराग है। उसके लिए उसका प्रियतम दुष्यन्त ही समूचा ससार है। इसी प्रकार अपने गुरुजनो एव प्रियजनो के प्रति भी उसमे अपार आदर तथा स्नेह है। इस प्रकार शकुन्तला का उज्ज्वल चरित्र भारतीय नारी जाति की उज्ज्वल मर्यादा का प्रतीक है। ससार के साहित्य मे ऐसी प्रेयसी, सुन्दरी, शीलवती तथा आदर्श नारी का चित्रण दुर्लभ है।

इसी प्रकार शाकुन्तल के अन्यान्य चरित्रो के चित्रण मे भी कालिदास को अपूर्व सफलता मिली है। कुलपति महर्षि कण्व नैष्ठिक ब्रह्मचारी नित्य अग्निहोत्रपरायण, तथा लोकमगल की उच्च भावना से भरे हुए हैं। शकुन्तला को उन्होंने अपनी ओर से सन्तान की भाति पाला, जो नि स्वार्थ प्रेम का अनोखा उदाहरण है। उनमे पिता और माता की समन्वित ममता है। लोक-विरक्त होते हुए भी उन्हे गृहस्थ धर्म की मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रहता है। उन्हे मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान है। इसी प्रकार विदूषक का चरित्र भी हास्य रस की अवतारणा मे पूर्ण सफल है। वह पेटू तो है ही, राजा का मुहलगा भी है। उसमे बात पचाने की शक्ति नही है फिर भी राजा का नर्म सचिव है। प्रकृति का डरपोक तथा कोमल होने के कारण उसमे कष्ट सहने की तनिक भी क्षमता नही है। ऊपर से दूसरो की दृष्टि मे स्वय को निर्बुद्धि दिखाने की उसमें अद्भुत क्षमता है यद्यपि उतना बेवकूफ वह है नही। शार्ङ्गरव और शारद्वत आश्रम वासी नवयुवक हैं, उनमे आश्रम की सहज कोमलता भी है और अवसर आने पर कठोरता भी दिखाई पडती है। दोनो के हृदय मे अपने कुलपति महर्षि कण्व के प्रति अपार आदर है। इन्हे भी लोकाचार का थोडा बहुत ज्ञान है, कोरे तपस्वी ही ये नही हैं। इसी प्रकार राज दरबार के आचारों की भी इन्हे जानकारी है। इन दोनो के चरित्रो मे भी थोडा अन्तर है। जहा शार्ङ्गरव भावुक प्रकृति का है और चिरकाल से आश्रम मे रहने का अभ्यासी होने के कारण राज दरबार के प्रति वितृष्ण भावना रखता है वहीं शारद्वत दार्शनिक प्रकृति का है, सासारिक सुख-भोगो मे डूबे हुए लोगो को देख कर वह सदय हो उठता है। शार्ङ्गरव अधिक वावदूक तथा असहिष्णु है, क्रोध की सहज धारा मे वह बह जाता है किन्तु शारद्वत प्रकृत्या गभीर तथा क्षमाशील है। उसमे विवाद को शान्त करने की इच्छा है। देश काल के अनुसार बातें करना भी वह जानता है।

स्त्री पात्रो मे अनसूया और प्रियवदा को ही हम अधिक पाते हैं। ये दोनो अपने-अपने नामो के अनुरूप स्वभाव वाली भी हैं और इनमे अपनी सखी शकुन्तला के प्रति अपार स्नेह है। शकुन्तला की हित चिन्ता ही उनका कर्तव्य बन जाता है। दोनो चतुर भी है और व्यावहारिक भी। जिस समय शकुन्तला का राजा दुष्यन्त से प्रथम मिलन होता है उस समय दोनो कुछ दूर खडी हो कर देखती है कि कोई दूसरा उन्हे देख न ले। जब गौतमी उधर आती दिखाई पडती हैं तो चक्रवाक वधू को कुछ कहने का बहाना बना कर वे शकुन्तला को इसकी सूचना दे देती है। दुर्वासा के शाप से दोनो चिन्तित हो जाती है और किसी प्रकार अनुनय विनय करके उसके शाप की निवृत्ति भी करा लेती है, किन्तु शकुन्तला चिन्तित न होने पावे—इस भय से उसे कुछ बतलाती भी नही। शकुन्तला की बिदाई के बाद आश्रम उन्हे सूना सूना दिखायी पडता है। इनके स्वभाव मे भी थोडा बहुत अन्तर है। अनसूया सदैव शकुन्तला को सुखी बनाने की बात सोचती है, उसे अपने आराम और सुख की तनिक भी इच्छा नही है। स्वभाव से भी वह कम बोलने वाली तथा गभीर है, जब कि प्रियवदा बडी खुशदिल और मृदुभाषिणी है। उसकी बातो मे मजाक का पुट रहता है। अनसूया की दृष्टि कुछ सशक रहती है। वह इधर उधर की बातें भी सोचती विचारती है जब कि प्रियवदा ठीक इससे विपरीत स्वभाव की है। वह किसी का भी शीघ्र ही विश्वास कर लेती है और प्रत्येक प्रसग मे अच्छे पहलू को ही देखती है, बुराई की ओर उसका ध्यान भी नही

जाता। अनसूया में गम्भीरता और संकटों से निपटने की क्षमता है तथा प्रियंवदा शीघ्र ही घबरा जाने वाली तथा आनन्दित हो जाने वाली नारी है।

इसी प्रकार अन्यान्य चरित्रों के विकास में भी कालिदास ने पौराणिक एवं लोक-जीवन की उच्च मर्यादाओं की रक्षा की है।

इस नाटक के अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाम पड़ने का कारण भी बता देना प्रासंगिक होगा। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के अनन्तर अपने नामाक्षरों से अंकित एक अंगूठी दी थी। महर्षि दुर्वासा ने अपने शाप की मोचन-विधि बताते हुए कहा था कि उसी अंगूठी के दिखाने से ही राजा को शकुन्तला की याद आएगी। किन्तु जब शकुन्तला को उक्त अंगूठी दिखाने का अवसर आया तो वह उनके हाथ में थी ही नहीं, वह तो शचीतीर्थ में स्नान करते समय गिर कर मछली का आहार बन चुकी थी। बाद में मछुए के द्वारा जब उक्त अंगूठी राजा के हाथों में पहुंचती है तब उन्हें अपनी प्रियतमा शकुन्तला की स्मृति जागी हो जाती है और वह विरहाग्नि में जलने लगता है। इस प्रकार इसी अंगूठी के देखने पर शकुन्तला की जो याद आती है, उसी के कारण इसका अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाम पड़ा है। अभिज्ञान कहते हैं पहचानने की वस्तु को।

संसार के ऐसे सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न के सम्बन्ध में इतनी बातें कही जा सकती हैं जिनसे पृथक् ग्रन्थ बन सकता है। इसकी समीक्षा संसार के चोटी के साहित्य रसिकों ने की है। मैंने तो अति संक्षेप में केवल उन्हीं बातों की चर्चा की है, जो अत्यावश्यक थीं।

त्रिपाठी निकेतन,
७० पी० टी०, कृष्णनगर
इलाहाबाद।

रामप्रताप त्रिपाठी
चैत्र नवरात्र षष्ठी, २०२२ वि०

श्री गणेशाय नमः

# रघुवंशमहाकाव्यम्

## प्रथमः सर्गः

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥५॥

## प्रथम सर्ग

वाणी और अर्थ की भाँति (अलग-अलग होकर भी) नित्य मिले हुए, संसार के माता-पिता पार्वती और महेश्वर को मैं (कालिदास) वाणी और अर्थ को भली भाँति प्राप्त करने के लिए प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वंश और कहाँ थोड़े-से विषयों को ग्रहण करनेवाली मेरी बुद्धि। अतः अज्ञान के कारण तिनकों आदि से बनी नाव के द्वारा दुस्तर सागर को पार करनेवाले के समान मेरी दशा है ॥ २ ॥

फिर भी, कवियों के यश का अभिलाषी बनकर मैं मन्दबुद्धि उसी तरह उपहास का पात्र बनूँगा जैसे लंबे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल को तोड़ने की अभिलाषा करनेवाला बौना होता है ॥ ३ ॥

अथवा (वाल्मीकि आदि) पूर्ववर्ती कवियों के द्वारा वर्णित (रामायण आदि) प्रबन्ध रूपी द्वारवाले इस (सूर्य) वंश के वर्णन में, मणियों को छेदनेवाली हीरे की सुई से छिदी हुई मणि में सूत्र (धागे) की भाँति मेरी गति है ॥ ४ ॥

(फिर भी) मन्दबुद्धि मैं (कालिदास) जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त निषेकादि संस्कारों से शुद्ध, फल की सिद्धि पर्यन्त कर्म-रत रहने वाले, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के शासक, स्वर्ग तक

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥६॥

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥७॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥८॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥९॥

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥१०॥

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥११॥

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥१२॥

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥१३॥

रथ पर चलने वाले, विधिपूर्वक अग्नि मे आहुति देनेवाले, याचकों को मनचाहा दान करने वाले, अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाले, उचित समय पर सावधान रहने वाले, सत्पात्र मे दान देने के निमित्त धन एकत्र करने वाले, यश की अभिलाषा से विजय की इच्छा करनेवाले, सन्तान के निमित्त विवाह करनेवाले, बाल्यकाल मे विद्या सीखनेवाले, युवावस्था मे भोग के अभिलाषी, वृद्धावस्था मे मुनियो के समान जीवन बिताने वाले एव अन्तिम अवस्था मे (शरीर त्याग के समय) योग (चित्तवृत्तियो के निरोध) द्वारा शरीर त्याग करने वाले रघुवंशियो के यश का वर्णन कर रहा हूँ। यद्यपि मेरी वाणी का वैभव अल्प है तथापि उनके गुणो ने मेरे कानो मे आकर मुझे इतना प्रेरित कर दिया है कि मैं (अपनी शक्ति का विचार किए बिना ही) उनके वर्णन के लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ ॥ ५–९ ॥

भले और बुरे का विवेचन करने वाले पण्डित लोग मेरे उस वर्णन को सुनने के अधिकारी हैं, क्योंकि सुवर्ण की विशुद्धि अथवा श्यामता (अशुद्धि) की परीक्षा अग्नि मे ही की जाती है ॥ १० ॥

वेदों मे प्रणव (ओंकार) के समान (इस धरती के) राजाओं मे प्रथम मनु नाम के राजा हुए, जो मनीषियों के पूज्य थे ॥ ११ ॥

उस पवित्र मनुवश मे अति पवित्र राजाओं मे चन्द्रमा के समान 'दिलीप' नाम से प्रसिद्ध एक राजा उत्पन्न हुआ, जो क्षीर-समुद्र मे चन्द्रमा के समान था ॥ १२ ॥

चौडी छाती, बैल के समान कन्धे, साल वृक्ष के समान ऊचे, लबी भुजाओ वाले राजा दिलीप का शरीर अपने सभी कामों को करने मे सक्षम था। वह ऐसा मालूम पड़ता था मानो स्वय क्षत्रिय धर्म ही शरीर धारण किए हो ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥१४॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥१६॥

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१७॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥१८॥

सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥१९॥

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥

सबमें अधिक बलवान (अधिक स्थिर) सभी लोगों के तेज को अपने प्रभाव से (अपनी कान्ति से) नीचा दिखानेवाले राजा दिलीप जैसे अपने सर्वाधिक ऊँचे शरीर से (इस) पृथ्वी को सुमेरु पर्वत के समान दबा कर बैठे थे ॥१४॥

उनकी (मनोहर) आकृति के समान ही उनकी (प्रखर) बुद्धि थी। बुद्धि के समान ही वह शास्त्रों के अभ्यासी थे। अपने शास्त्र ज्ञान के अनुरूप ही वह सत्कर्मसंपादक थे और प्रारम्भ किए हुए कर्म के अनुरूप उन्हें फल-प्राप्ति होती थी ॥ १५ ॥

भयङ्कर (तेज, प्रताप आदि) और मनोहर (दया, दाक्षिण्य) आदि राजगुणों के कारण वह राजा दिलीप अपने आश्रितों के लिए (ग्राहादि) जलजन्तु एवं रत्नों से भरे हुए समुद्र की भाँति (एक साथ ही) अप्रधर्षणीय और सेवनीय थे ॥ १६ ॥

शिक्षक अथवा सारथी के समान उस राजा दिलीप की, रथ के पहिये की भाँति चलने वाली प्रजाएँ मनु के समय से निर्दिष्ट मार्ग से तनिक भी इधर-उधर नहीं हुईं ॥ १७ ॥

वह राजा दिलीप अपनी प्रजा के कल्याण के लिए ही उनसे उसी प्रकार कर लेता था जिस प्रकार सहस्र गुना बनाकर बरसाने के लिए सूर्य धरती से रसों को खींचता है ॥ १८ ॥

उस राजा दिलीप की सेना उनके छत्र और चामर की भाँति केवल शोभार्थ थी, क्योंकि उनके मनोरथों की सिद्धि केवल दो उपायों से होती थी। प्रथम तो शास्त्रों में प्रविष्ट उनकी पैनी बुद्धि से, द्वितीय धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से ॥ १९ ॥

अपने विचारों को गुप्त रखनेवाले एवं हर्ष-शोकादि हृद्गत विकारों को छिपाने वाले उस राजा दिलीप के (साम-दानादि) उपाय पूर्वजन्म के संस्कारों की भाँति अपने परिणामों द्वारा ही मालूम पड़ते थे ॥ २० ॥

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥२१॥
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥२२॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥२३॥
प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥
दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥
न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥२७॥

राजा दिलीपने बिना (किसी से) डरे हुए अपने शरीर की रक्षा की। बिना रोगी हुए अपने धर्मों का पालन किया। बिना लोभ के धन का संग्रह किया और बिना आसक्त हुए विषय सुखों का अनुभव किया ॥ २१ ॥

(दूसरो के वृत्तान्तो को) जानते हुए भी मौन धारण करना, सामर्थ्य रहते हुए भी (अपकारों को) क्षमा करना, दान करके भी अपनी बड़ाई न करना—आदि परस्पर विरोधी गुण एक साथ रहने के कारण उनके सहोदर की भांति थे॥ २२ ॥

विषयों से बिना आकृष्ट हुए (विषयों के वश में न रहते हुए) समस्त विद्याओं के पारगामी, धर्म में (विशेष) रुचि रखने वाले उस राजा दिलीप को, (अपनी इन विशेषताओं के कारण) बिना बुढ़ापा आए ही जैसे वृद्धता प्राप्त हो गई ॥ २३ ॥

नम्रता आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियों से रक्षा करने से एवं अन्नादि द्वारा पालन-पोषण करने के कारण वह राजा दिलीप ही अपनी प्रजाओं का पिता था और उनके अपने पिता तो केवल उनके जन्म देने वाले रहे ॥ २४ ॥

लोक-मर्यादा की स्थिरता के लिए अपराधियों को दण्डित करनेवाले एवं सन्तान-प्राप्ति के लिए विवाह करने वाले उस मनीषी राजा दिलीप के अर्थ और काम भी जैसे धर्म ही थे ॥ २५ ॥

राजा दिलीप ने यज्ञ के लिए पृथ्वी को दुहा (प्रजाओं से भाग लेकर ग्रहण किया) और इन्द्र ने धान्य (की वृद्धि) के लिए स्वर्ग को दुहा (वृष्टि की)। इस प्रकार ये दोनों (दिलीप और इन्द्र) परस्पर अपनी अपनी सम्पत्ति के विनिमय द्वारा स्वर्ग लोक और पृथ्वी लोक की रक्षा में तत्पर रहे ॥२६॥

(पृथ्वी के) अन्य राजाओं ने भय से रक्षा करनेवाले उस राजा दिलीप के यश का अनुकरण नहीं किया, क्योंकि दिलीप के राज्य में "चोरी" शब्द केवल श्रवण-गोचर ही रह गया था ॥ २७ ॥

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदंगुलीवोरगक्षता ॥२८॥

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥३०॥

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥

सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥३४॥

उस राजा दिलीप के लिए, द्वेष करने योग्य होकर भी सज्जन व्यक्ति उसी प्रकार प्रिय था जिस प्रकार रोगी के लिए कड़वी औषधि। किन्तु अत्यन्त प्रिय जन होकर भी दुर्जन उसी प्रकार त्याज्य था जैसे साँप से काटी हुई अंगुलि ॥ २८ ॥

निश्चय ही विधाता ने उस राजा दिलीप की रचना (पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाशादि) महाभूतों का निर्माण करनेवाली सामग्री से की थी, क्योंकि जिस प्रकार वे तत्त्व निरन्तर परोपकार में रत रहते हैं उसी प्रकार राजा दिलीप के गुण भी दूसरों के उपकार के लिए ही थे ॥ २९ ॥

राजा दिलीप ने एक नगरी की भाँति उस सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन किया, जिसका परकोटा चारों दिशाओं के समुद्रतट थे और जिसकी परिखा स्वयं समुद्र थे। किसी अन्य राजा ने दिलीप के समान पृथ्वी पर शासन नहीं किया था ॥ ३० ॥

उस राजा दिलीप की, यज्ञ की पत्नी दक्षिणा के समान मगध वंश में उत्पन्न सुदक्षिणा नाम की पत्नी थी, जो (संसार में) अपनी चतुरता के कारण प्रसिद्ध थी ॥ ३१ ॥

यद्यपि राजा दिलीप के अन्तःपुर में अनेक रानियाँ थीं, तथापि राजा दिलीप उस मनस्विनी रानी सुदक्षिणा तथा लक्ष्मी से ही अपने को स्त्रीवान समझता था ॥ ३२ ॥

राजा दिलीप अपने मन के नितान्त अनुरूप उस रानी सुदक्षिणा से स्वयं पुत्र के रूप में उत्पन्न होने के लिए बहुत उत्सुक था; किन्तु उसके मनोरथ का फल बहुत विलम्ब होने पर भी नहीं मिला ॥ ३३ ॥

(अतः) सन्तान प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने के हेतु उसने अपनी भुजाओं से उतारे हुए पृथ्वी के भारी शासन-भार को सचिवों को सौंप दिया ॥ ३४ ॥

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥३७॥
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥
परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम्।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥

राज्य भार को मन्त्रियो पर सौंपने के अनन्तर पुत्र की कामना से पवित्र होकर वे दोनो पति-पत्नी राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा (सर्वप्रथम) ब्रह्मा की पूजा करके अपने (कुल) गुरु वसिष्ठ के आश्रम को गए ॥ ३५ ॥

मधुर किन्तु गभीर शब्द करनेवाले एक रथ पर, वर्षाकाल के मेघ पर चढे हुए बिजली और ऐरावत की भाति वे दोनो दम्पती—सुदक्षिणा और दिलीप चले ॥ ३६ ॥

आश्रम मे भीडभाड के कारण गुरु को क्लेश न हो—इसलिए उन्होने बहुत गिने-चुने परिचारको को अपने साथ रखा। किन्तु फिर भी अपनी महानुभाविता (प्रभाव) के कारण वे सेना से घिरे हुए की भाति मालूम पड रहे थे ॥ ३७ ॥

सुखकर स्पर्श से युक्त, शालवृक्ष से निकली हुई सुगध से आमोदित, पुष्पो के परागो को उडानेवाली एव अपनी मन्दगति से वन की पक्तियो को किंचित् कँपा देने वाली वायु दिलीप और सुदक्षिणा की सेवा कर रही थी ॥ ३८ ॥

(अपने) रथ के चक्को से निकलने वाली आवाज को सुनकर (बादलो की आवाज के भ्रम से) ऊपर मुह किए हुए मयूरो की, दुहरे षड्ज स्वर का अनुकरण करनेवाली एव मन को प्रसन्न करनेवाली, वाणी को उन्होने सुना ॥ ३९ ॥

समीप मे ही (केवल) रथ के मार्ग को छोडकर कुछ दूर खडे किन्तु रथ की ओर (अपलक) दृष्टि लगाए मृगो के जोडो मे परस्पर एक दूसरे की आखो की समानता को उन्होंने देखा ॥ ४० ॥

पक्ति बाधकर चलने के कारण बिना खम्भे के वन्दनवार की भाति सुशोभित अस्फुट मधुर ध्वनि करने वाले सारस पक्षियो को (ऊपर) देखकर वे कभी-कभी अपने मुखो को ऊपर की ओर भी कर लेते थे ॥ ४१ ॥

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥४३॥

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥४४॥

हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥

काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥४६॥

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥

अभिलाषा की सिद्धि की सूचना देनेवाले वायु की अनुकूलता के कारण (रथ के) घोड़ों की खुरों से उठनेवाली धूल से उन दोनों की केशराशि एवं सिरपेंच अछूते ही रहे ॥४२॥

सरोवर में (चंचल) लहरों के झकोरों से शीतल, अपने निःश्वासों का अनुकरण करनेवाले कमलों की मनोहर सुगंध को उन्होंने सूंघा ॥४३॥

स्वयं दान किए हुए, यज्ञ के स्तम्भों से चिह्नित ग्रामों में, विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों के कभी निष्फल न होने वाले आशीर्वादों को उनके अर्घ्य स्वीकार करने के अनन्तर उन्होंने ग्रहण किया ॥४४॥

गौओं के ताजा दूध से निकाले हुए मक्खन को (उपहारार्थ) लेकर उपस्थित अहीरों के गांवों में रहनेवाले वृद्धों से मार्ग के जंगली वृक्षों के नामों को उन्होंने पूछा ॥४५॥

(मार्ग में) जाते हुए उज्ज्वल वेशधारी उन दोनों (राजा दिलीप एवं सुदक्षिणा) की शिशिर (ऋतु की) समाप्ति के अनन्तर (चैत्री पूर्णिमा को) चित्रा नक्षत्र एवं चन्द्रमा के योग के समान अनिर्वचनीय शोभा हुई ॥४६॥

पण्डितों के समान बुद्धिमान एवं प्रियदर्शन राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा को (मार्ग में पड़नेवाली) अद्भुत वस्तुएँ दिखाते हुए यह भी नहीं जान सके कि उनका मार्ग कब समाप्त हो गया ॥४७॥

दूसरों के लिए दुर्लभ यश वाले राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ परम संयमी महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में सायंकाल के समय जब पहुंचे, तब उनके वाहन बहुत थक चुके थे ॥४८॥

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥५१॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥
अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥५४॥
तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥

महर्षि वसिष्ठ का आश्रम दूसरे-दूसरे वनो से समिधा, कुश और फलादि लेकर लौटे हुए ऐसे तपस्वियों से भरा हुआ था, जिनकी[1] अगुआनी अदृश्य अग्नि कर रहे थे ॥४९॥

पर्णशालाओ के द्वार को छेंककर खड़े हुए एवं नीवार के कुछ भाग को पानेवाले, ऋषिपत्नियो की सन्तानो के समान मृगो से वह (महर्षि वसिष्ठ का आश्रम) भरा हुआ था ॥५०॥

(आश्रम मे) वृक्षो की सिंचाई के अनन्तर उनके थाल्हो से जल पीने के अभ्यासी पक्षियों के विश्वास के लिए मुनिकन्याएँ जल डालने के साथ ही वृक्षों को छोडकर हट गई थीं ॥५१॥

आश्रम की पर्णशालाओ के आगनो मे, घाम के न रहने के कारण नीवार को बटोर-कर इकट्ठा कर दिया गया था और उनमे मृग गण बैठकर जुगाली कर रहे थे ॥५२॥

जलती हुई अग्नि की सूचना देनेवाली एवं वायु के द्वारा चारो ओर फैली हुई, आहुति की सुगन्ध से आमोदित धूम-राशि आश्रम की ओर आनेवाले अतिथियो को पवित्र कर रही थी ॥५३॥

आश्रम मे पहुच जाने के बाद राजा दिलीप ने अपने सारथी को, घोडो को विश्राम कराओ—ऐसी आज्ञा देकर पहले अपनी पत्नी सुदक्षिणा को रथ मे नीचे उतारा और फिर स्वयं रथ से नीचे उतरे ॥५४॥

सभा के नियमो के जानकार एवं जितेन्द्रिय मुनियो ने रानी के सहित, नीतिशास्त्र रूपी नेत्रोंवाले अतएव अभिनन्दनीय उस राजा दिलीप की विधिवत् पूजा की ॥५५॥

---

१. बाहर से लौटनेवाले आहिताग्नि मुनियो की अगुआनी अग्नि करते हैं।

विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
८ अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥५६॥
तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥५७॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥५८॥
अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥५९॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥६१॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥६२॥

राजा दिलीप ने सायंकाल के हवन जपादि अनुष्ठानों के अनन्तर स्वाहा से सेवित अग्निदेव की भाँति सुशोभित अरुन्धती से सेवित महर्षि वसिष्ठ का दर्शन किया ॥ ५६ ॥

मगध-पुत्री रानी सुदक्षिणा एवं राजा दिलीप ने महर्षि वसिष्ठ एवं अरुन्धती के चरणों का स्पर्श किया और गुरु वसिष्ठ तथा गुरुपत्नी अरुन्धती ने अत्यन्त प्रेम के साथ उनका आशीर्वादादि से स्वागत-सत्कार किया ॥ ५७ ॥

मुनिवर वसिष्ठ ने आतिथ्य सत्कारादि से मार्ग में रथ की थकावट से मुक्त मुनि तुल्य राजा दिलीप से उनके राज्य[1] का कुशल-क्षेम पूछा ॥ ५८ ॥

कुशल-क्षेम की वार्ता के अनन्तर शत्रुओं के नगरों को जीतनेवाले, वक्ताओं में प्रवीण एवं विपुल धन-सम्पदा के स्वामी राजा दिलीप ने अथर्व वेद के निधिस्वरूप महर्षि वसिष्ठ से अपने प्रयोजन की बात कही ॥ ५९ ॥

(गुरुदेव !) मेरे राज्य के सातों[2] अंगों में भला कुशल क्यों न हो क्योंकि जिसकी दैवी (दुर्भिक्ष आदि) एवं मानुषी (चोरी आदि) आपदाओं के प्रतिहर्ता स्वयं आप (विद्यमान) हैं ॥ ६० ॥

परोक्ष अथवा दूर से ही शत्रुओं को शान्त कर देनेवाले, मन्त्रद्रष्टा आपके मन्त्र केवल प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाले लक्ष्य का भेदने में समर्थ मेरे बाणों को मानो व्यर्थ कर देते हैं ॥ ६१ ॥

हे हवन करने वाले गुरुदेव ! आप जो विधिपूर्वक अग्नि में आहुति डालते हैं, वह (हमारे राज्य में) अकाल से सूखते हुए धान एवं वृक्षादिकों के लिए वृष्टि बन जाती है ॥ ६२ ॥

---

१. स्वामी, मन्त्री, नगर, राष्ट्र, खजाना, दण्ड तथा मित्र—इन्हीं सातों को राज्य कहते हैं। २. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना।

पुरुषायुषजीविन्यो निरातंका निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥६३॥

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥६४॥

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥६५॥

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥६६॥

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥६७॥

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥६८॥

(हे गुरुदेव ! ) मेरी प्रजा, जो पूरे सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहती है, निर्भय रहती है, तथा ईति (अति वर्षा, सूखा, चूहा, टिड्डी, तोता आदि पक्षियों की बाधा) से निर्मुक्त रहती है, उसका कारण केवल आप का ब्रह्मतेज (सदाचरण एवं वेद-वेदांगादि के अध्ययन अध्यापन से प्राप्त पुण्य फल) है ॥ ६३ ॥

ब्रह्मपुत्र ! आप जैसे गुरु द्वारा इस प्रकार सर्वथा मेरे कुशल क्षेम की चिन्ता रखने के कारण, विपत्तियों एवं बाधाओं से मुक्त मेरी सम्पदा निरन्तर स्थिर एवं अचचल क्यों न रहे ॥ ६४ ॥

किन्तु गुरुदेव ! आप की इस शिष्य वधू में अपने समान सन्तति को न प्राप्त कर मैं इस रत्न प्रसवा सम्पूर्ण पृथ्वी के द्वारा भी सुप्रसन्न नहीं हूँ। (पुत्र-रत्न के बिना वह सब प्रीतिकर नहीं है।) ॥ ६५ ॥

निश्चय ही मेरे बाद अपने पिण्ड का विलोप देखने वाले, स्वधा के संग्रह में लीन मेरे पितर गण श्राद्ध में (मेरे द्वारा दिए गए अन्नादि) को प्रेम एवं उत्साह से नहीं ग्रहण कर रहे हैं ॥ ६६ ॥

मेरे बाद (जल को) दुर्लभ समझकर वे पितरगण इस समय मेरे द्वारा दिए गए जल को भी निश्चय ही अपने निःश्वासों से थोड़ा गरम करके पीते होंगे—(ऐसा मेरा अनुमान है) ॥६७॥

इस प्रकार गुरुदेव ! यज्ञों के अनुष्ठान से विशुद्ध चित्त होकर भी मैं सन्तान के अभाव के कारण मुर्दैव शोक में डूब कर उस लोकालोक पर्वत के समान बन गया हूँ, जो एक ओर सूर्य की अवस्थिति के कारण प्रकाशमान रहता है और दूसरी ओर व्याप्त अन्धकार के कारण अधकारपूर्ण रहता है ॥ ६८ ॥

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥६९॥

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥७०॥

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥७२॥

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥७३॥

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥७४॥

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥

तपस्या एवं दान से जो पुण्य होता है वह दूसरे लोक में सुख देनेवाला होता है किन्तु शुद्ध वंश में उत्पन्न सन्तान तो इस लोक एवं परलोक—दोनों में सुख पहुँचानेवाली होती है ॥ ६९ ॥

हे विधाता! स्नेहपूर्वक स्वयं सींचे गए आश्रम के फलरहित वृक्ष की भाँति, ऐसी सन्तान से हीन मुझको देखकर भी आप क्यों नहीं दुःखी हो रहे हैं? ॥ ७० ॥

हे भगवन्! मेरे इस अन्तिम पैतृक ऋण को, बिना स्नान किए हुए हाथी के मर्म को पीड़ा पहुँचानेवाले खूँटे के समान, असह्य पीड़ा पहुँचाने वाला समझिए ॥ ७१ ॥

हे तात! इस पैतृक ऋण से जिस प्रकार से भी मेरा छुटकारा हो, वैसा उपाय करने की आप कृपा करें। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशियों की कठिन समस्याओं को सुलझाने की क्षमता आप में ही है ॥ ७२ ॥

इस प्रकार राजा दिलीप की प्रार्थना को सुनकर महर्षि वसिष्ठ ध्यान में दोनों आँखों को मूँदे हुए क्षण भर के लिए उस सरोवर की भाँति शान्त बने रहे, जिसमें रहनेवाली मछलियाँ सो गई हों ॥ ७३ ॥

चित्त की एकाग्रता के कारण महर्षि वसिष्ठ का अन्तःकरण अत्यन्त विशुद्ध हो गया था अतः उन्होंने पृथ्वीपति दिलीप को सन्तति न प्राप्त होने का कारण जान लिया और फिर राजा से (इस प्रकार) कहा ॥ ७४ ॥

(हे राजन्!) पहिले किसी समय इन्द्र का दरबार करके भूमण्डल की ओर वापस लौटते समय तुम्हारे मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन्।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः॥७६॥
अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा॥७७॥
स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे॥७८॥
ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः॥७९॥
हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति॥८०॥
सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा॥८१॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात्॥८२॥

ऋतुकाल का स्नान करनेवाली इस रानी सुदक्षिणा का, धर्म-लोप' के भय से स्मरण करते हुए तुमने, प्रदक्षिणा करने योग्य कामधेनु का उचित समादर (प्रदक्षिणा) नहीं किया॥ ७६॥

'क्योंकि तू मेरी अवज्ञा कर रहा है, अतः मेरी सन्तति की आराधना किए बिना तुझे सन्तति न होगी'—ऐसा उन्होंने तुझे शाप दे दिया था॥ ७७॥

(किन्तु हे राजन्!) कामधेनु के उस शाप को न तो तुमने सुना और न तुम्हारे सारथी ने ही सुना, क्योंकि (उस समय संयोग से) क्रीडा के लिए आए हुए बन्धनमुक्त दिग्गज आकाश-गंगा के प्रवाह में बड़ा शोर मचा रहे थे॥७८॥

उसी कामधेनु के अनादर के कारण तुम अपने मनोरथ को अवरुद्ध समझो, क्योंकि पूज्य व्यक्तियों की पूजा का उल्लंघन करने से कल्याण में बाधा पड़ती ही है॥ ७९॥

किन्तु वह कामधेनु तो इस समय चिरकाल में सम्पन्न होनेवाले वरुण के यज्ञ में दही-घृतादि की आवश्यकता-पूर्ति के लिए उस पाताल लोक में विराजमान है, जिसका द्वार भुजगों से अवरुद्ध (होने के कारण तुम्हारे लिए दुर्गम) है॥ ८०॥

अतः तुम कामधेनु की पुत्री को, उसी का प्रतिनिधि मानकर शुद्ध मन से अपनी रानी के साथ पूजा करो, क्योंकि सुप्रसन्न होकर वह भी (तुम्हारी) अभिलाषा पूरी करनेवाली है॥ ८१॥

(राजा दिलीप से) इस प्रकार बातें करते समय ही महर्षि वसिष्ठ की आहुति का एकमात्र साधन वह कामधेनु-पुत्री नन्दिनी वन से चरकर वापस लौटी॥ ८२॥

---

१. ऋतुकाल का स्नान करनेवाली पत्नी के समीप जो पति नहीं जाता उसे भ्रूण-हत्या का पाप लगता है।

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ॥८३॥

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥८४॥

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात्।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥८५॥

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥८६॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥८७॥

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥८८॥

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥८९॥

पल्लव के समान चिकने एवं श्वेत युक्त लाल रंगवाली एवं ललाट भाग में कुछ टेढ़े श्वेत रोमावली का चिह्न धारण किए हुए नन्दिनी द्वितीया के चन्द्रमा से सुशोभित सन्ध्या के समान (उस समय) शोभा पा रही थी ॥ ८३ ॥

किंचित् गरम, यज्ञान्त स्नान से भी अधिक पवित्र, बछड़े को देखने के कारण बहते हुए अपने दुग्ध की धारा से पृथ्वी को सींचती हुई नन्दिनी का स्तनभाग घड़े के समान (दिखाई पड़ रहा) था ॥ ८४ ॥

अपनी खुरों से उठी हुई, समीपस्थ होने के कारण शरीर को छूती हुई धूलि के कणों से राजा दिलीप को ऋषियों-मुनियों से सेवित तीर्थजल में स्नान करने की शुद्धि वह (नन्दिनी) दे रही थी ॥ ८५ ॥

शकुन-शास्त्र के जानने वाले तपोनिधि वसिष्ठ जी ने पुण्यदर्शना नन्दिनी को देखकर, पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना में सफल राजा दिलीप से फिर यह कहा ॥ ८६ ॥

'हे राजन् ! अब तुम अपनी पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा की सिद्धि को बहुत समीप ही समझो, क्योंकि चर्चा करने ही यह कल्याणदायिनी नन्दिनी तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो गई है ॥ ८७ ॥

वन में उत्पन्न होनेवाले मूल-फलादि को खाकर तुम इस नन्दिनी के पीछे-पीछे चल कर, निरन्तर अभ्यास से अधिगत होनेवाली विद्या की भाँति इसे सुप्रसन्न करने की चेष्टा करो ॥ ८८ ॥

(हे राजन्) तुम इस नन्दिनी के चलने पर चलना। रुकने पर रुक जाना। बैठने पर बैठना और पानी पीने पर पानी पीना ॥ ८९ ॥

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥९०॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥९१॥
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥९२॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥९३॥
सत्यामपि तपः सिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥९४॥
निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥९५॥
इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वशिष्ठाश्रमाभिगमनो
नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

और तुम्हारी पत्नी सुदक्षिणा भक्ति एवं श्रद्धा से युक्त चन्दनादि से पूजित इस नन्दिनी के पीछे पीछे प्रात काल तपोवन की सीमा तक पहुँचाएँ और सायंकाल के समय भी (तपोवन की सीमा से बाहर निकलकर) इसकी अगुआनी करें ॥ ९० ॥

इस प्रकार तुम तब तक इस नन्दिनी की सेवा करो, जब तक वह सुप्रसन्न न हो जाय। तुम्हारे इस (मंगलमय) अनुष्ठान में कोई विघ्न न पड़े जिससे अपने पिता की भांति तुम भी सुपुत्रवानों में अग्रगण्य बनो ॥ ९१ ॥

देश और काल को जानने वाले एवं प्रीतिमान राजा दिलीप ने अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ विनीत भाव से अपने उपदेष्टा गुरु की आज्ञा को 'ऐसा ही करूँगा' कहकर स्वीकार किया ॥ ९२ ॥

इस प्रकार आज्ञा देने के अनन्तर रात्रि के प्रथम प्रहर के बीतने के बाद प्रत्येक दोषों को जाननेवाले तथा सत्य एवं प्रियवादी, ब्रह्मा के पुत्र महर्षि वसिष्ठ ने परमवैभवशाली राजा दिलीप को शयन करने की आज्ञा प्रदान की ॥ ९३ ॥

व्रतों के प्रयोगों को जाननेवाले मुनिवर वसिष्ठ ने अपनी तपस्या के प्रभाव से ही राजोचित उपभोग की सामग्री की व्यवस्था करने की सामर्थ्य होते हुए भी, नन्दिनी के सेवारूपी व्रत का विचार करके, (उसी दिन से ही) राजा दिलीप के लिए वन में निवास करनेवाले (मुनिजनों) के लिए उचित सामग्री का ही प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥

राजा दिलीप ने संयम नियम के साथ कुलपति वसिष्ठ द्वारा निर्दिष्ट (बताई गई) पर्णकुटी में अपनी पत्नी के साथ निवास कर कुश से बनी हुई चटाई पर शयन किया और आश्रमवासी शिष्यों के अध्ययन से निशा का अवसान समझ कर (प्रात काल होने से पूर्व ही) निद्रा त्याग दी ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में वसिष्ठाश्रमगमन नामक
प्रथम सर्ग समाप्त ॥१॥

—•—

## द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥
आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

## द्वितीय सर्ग

(रात्रि बीत जाने के बाद) प्रात काल यशोधन प्रजापति राजा दिलीप ने अपनी पत्नी सुदक्षिणा द्वारा चन्दन एव माला से विभूषित मुनिवर वसिष्ठ की गौ नन्दिनी को, जब जगल मे चराने के लिए छोडा तब उसका बछडा दूध पिलाकर बांधा जा चुका था ॥ १ ॥

पतिव्रता नारियो मे सर्वाग्रगण्य राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरो के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का उसी प्रकार अनुसरण किया जैसे (मनु आदि की बनाई हुई) स्मृतिया वेद के वाक्यो के अर्थों का अनुसरण करती हैं ॥ २ ॥

दयालु एव यशस्वी राजा दिलीप ने अपनी पत्नी सुदक्षिणा को वापस लौटाकर उस कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की रक्षा मे तत्पर हो गए, जो अपने चारो स्तनो मे मानो चारों समुद्रो को धारण किए हुए गौ-रूप-धारिणी पृथ्वी की भांति थी ॥ ३ ॥

गो-सेवा का व्रत पालन करने के लिए नन्दिनी के पीछे-पीछे चलते हुए राजा दिलीप ने अपने बचे हुए अनुचरो को भी वापस लौटा दिया। उन्हे अपने शरीर की रक्षा के लिए भी किसी दूसरे पुरुष की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वैवस्वत मनु के वश मे जन्म लेनेवाले अपने ही पराक्रम से आत्मरक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

सम्राट् दिलीप नन्दिनी को कभी तो स्वादयुक्त कोमल-कोमल तृणो के कवल खिलाते थे, कभी उसके शरीर को खुजलाते थे, और कभी उसके ऊपर बैठने वाले मच्छडो और डांसो को उडाते थे। उसकी गति मे वे कभी बाधा नहीं डालते थे और वह जहां जाना चाहती थी जाने देते थे। इस प्रकार नन्दिनी की सेवा मे वह तत्पर हो गए ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥७॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥८॥

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥९॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

राजा दिलीप, जब नन्दिनी खड़ी हो जाती थी तो स्वयं खड़े हो जाते थे। जब वह चलने लगती थी तो वह भी चलने लगते थे। जब वह बैठ जाती थी तो वह भी बैठ जाते थे। जब वह जल पीती थी तो वह स्वयं जल भिलाषी होते थे। इस प्रकार राजा दिलीप छाया की भाँति उसके पीछे-पीछे चलते थे ॥ ६ ॥

(छत्र चामरादि) राजचिह्नों से वियुक्त होने पर भी वह अपनी तेजस्विता के कारण राजलक्ष्मी को धारण किए हुए उस गजराज की भाँति सुशोभित हो रहे थे, जिसकी मद-रेखा बाहर से अप्रकट हो किन्तु भीतर मद विद्यमान हो ॥ ७ ॥

लताओं एवं वल्लरियों की टेढ़ी-मेढ़ी (सूत की भाँति) पतली शाखाओं से राजा दिलीप के शिर के बाल उलझे हुए थे। (उस समय) अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर वह महर्षि वसिष्ठ की हवन-धेनु नन्दिनी की रक्षा के बहाने मानो जंगल के दुष्ट जीवों का नियन्त्रण करने के लिए जंगल में घूम रहे थे ॥ ८ ॥

(सदैव) अपने साथ घूमने वाले अनुचरवर्ग से वियुक्त, वरुण के समान तेजस्वी राजा दिलीप के समीपवर्ती वृक्षों ने, (अपनी शाखाओं पर बैठे हुए) उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा मानो उनका जय-जयकार किया ॥ ९ ॥

वायु से कंपाई गई कोमल बाल-लताओं ने अग्नि के समान (तेजस्वी) समीप में अवस्थित एवं पूजनीय राजा दिलीप के ऊपर मंगलसूचक लाजों द्वारा नगर निवासिनी कन्याओं के समान अपने पुष्पों की वर्षा की ॥ १० ॥

राजा दिलीप के धनुष धारण किए रहने पर भी दया से विहीन अन्तःकरण के द्वारा सूचित दयार्द्रभाव युक्त शरीर को विशेष रूप से देखनेवाली हरिणियों ने अपनी आँखों के बड़ी होने का सुन्दर फल प्राप्त किया ॥ ११ ॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सता मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

राजा दिलीप ने, वायु से भरे हुए छिद्रों के कारण गूँजते हुए बाँसों के द्वारा वंशी के समान मधुर ध्वनि से युक्त कुंजों अथवा लतागृहों में वन की अधिष्ठात्री देवियों द्वारा उच्च स्वर में गाए जाते हुए अपने यश को सुना ॥ १२ ॥

पर्वतीय झरनों के नन्हे-नन्हे जल बिन्दुओं से युक्त, वृक्षों के किंचित् हिलते हुए पुष्पों की सुगंध से आमोदित, शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु ने (व्रत के अनुष्ठान में) छत्र से रहित होने के कारण धूप से मुरझाए हुए एवं अपने सदाचरण से पवित्र राजा दिलीप की सेवा की ॥ १३ ॥

जगत की रक्षा में तत्पर राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के बिना ही दावाग्नि शान्त हो गई, (वृक्षों में) फलों और पुष्पों की विशेष वृद्धि हो गई और वन्य जीव-जन्तुओं में से किसी बलवान ने अपने से निर्बलों को नहीं सताया ॥ १४ ॥

नूतन किसलयों के समान लाल रंग की सूर्य की किरणें और मुनिवर वसिष्ठ की गौ-नन्दिनी—ये दोनों दिशाओं के मध्य भाग को अपने-अपने संचरण से पवित्र करके, दिन के समाप्त होने पर अपने-अपने आश्रयस्थान की ओर गमनोद्यत हुईं ॥ १५ ॥

पृथ्वी-लोक के पालक राजा दिलीप देवताओं, पितरों एवं अतिथियों के प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली उस नन्दिनी के पीछे-पीछे चले। सत्पुरुषों द्वारा सम्माननीय राजा दिलीप से युक्त नन्दिनी की (उस समय) वैसी ही शोभा हुई जैसे सत्पुरुषों के अनुष्ठान द्वारा प्रत्यक्ष श्रद्धा की शोभा होती है ॥ १६ ॥

राजा दिलीप, छोटे-छोटे तालाबों में से निकले हुए बनैले सुअरों के झुण्डों से युक्त, अपने आश्रय-भूत वृक्षों की ओर उन्मुख मयूरों से सुशोभित तथा बैठे हुए हरिणों के झुण्डों से सेवित हरी-भरी घासों के मैदानों से चतुर्दिक् श्याम ही श्याम दिखाई पड़नेवाले वन को देखते हुए चले ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥
वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥२०॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥
गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य साध्यं च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

केवल एक बार की ब्याई हुई नन्दिनी एवं राजा दिलीप—ये दोनो (नन्दिनी) अपने स्थूल स्तनो के भार को धारण करने के प्रयास के कारण एवं (राजा) अपने शरीर के स्थूल होने के कारण सुन्दर धीमी गति से चलते हुए तपोवन की ओर आने वाले मार्ग को सुशोभित कर रहे थे ॥ १८ ॥

मुनिवर वसिष्ठ की धेनु नन्दिनी के पीछे-पीछे वन से लौटते हुए राजा दिलीप को उनकी पत्नी रानी सुदक्षिणा ने अपने निर्निमेष एवं प्यासे नेत्रो से देखा ॥ १९ ॥

मार्ग मे राजा दिलीप द्वारा आगे की गई और (आश्रम के समीप) उनकी पत्नी सुदक्षिणा द्वारा अगुआनी की गई (आगे से ली गई) नन्दिनी की शोभा उस समय वैसी ही हुई जैसी दिन और रात के मध्य भाग मे अवस्थित सन्ध्या की होती है ॥ २० ॥

अक्षतों से युक्त पात्र को हाथों मे लिए हुए रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध देनेवाली नन्दिनी की प्रदक्षिणा तथा वन्दना करके उसके चौड़े, दोनों सींगो के मध्य-स्थल का अपने प्रयोजन की सिद्धि के द्वार की भांति पूजन किया ॥ २१ ॥

(दिन भर से वियुक्त) अपने बछड़े को देखने के लिए उत्सुक होने पर भी नन्दिनी ने स्थिर होकर रानी सुदक्षिणा की पूजा ग्रहण की—यह देखकर राजा दिलीप और उनकी रानी सुदक्षिणा बहुत प्रसन्न हुई। क्योंकि अपने मे भक्ति रखनेवाले लोगो के विषय मे नन्दिनी के समान बड़े लोगो की प्रसन्नता की सूचना ही प्रयोजन सिद्धि की सूचना थी ॥२२॥

अपने बाहुबल से शत्रुओ का विनाश करने वाले राजा दिलीप ने गुरु पत्नी समेत गुरु के चरणों मे श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर सायंकालिक कृत्यों को समाप्त कर, दुह चुकने के बाद सुखपूर्वक बैठी हुई उस नन्दिनी की पुनः सेवा की ॥ २३ ॥

भूलोक के रक्षक राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ, जिसके समीप मे बलि एवं प्रदीप रखे हुए थे ऐसी बैठी हुई नन्दिनी के बैठ जाने के पीछे बैठे और क्रम से उसके सो जाने के बाद सोये और प्रातःकाल उसके सोकर उठ जाने के बाद उठे ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥
तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥
स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥
ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥
वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति के लिए रानी सुदक्षिणा के साथ व्रत को धारण किए हुए प्रशंसनीय कीर्ति से युक्त, दीन जनों के उद्धारक राजा दिलीप के इक्कीस दिन बीत गए ॥ २५ ॥

अगले (बाईसवें) दिन मुनिवर वसिष्ठ की उस धेनु ने अपने अनुचर (राजा दिलीप) की दृढ़ भक्ति को जानने की इच्छा से, गंगाजी के जल प्रवाह के समीप उगी हुई छोटी छोटी घासों से युक्त पार्वती के पिता (हिमालय) की गुफा में प्रवेश किया ॥ २६ ॥

नन्दिनी हिंसक जन्तुओं द्वारा मन से भी आक्रमण के योग्य नहीं है—यह समझकर पर्वतीय दृश्य को देखने में तल्लीन राजा दिलीप ने, जिसके आक्रमण को नहीं देखा-ऐसा एक सिंह सहसा नन्दिनी को बनावटी ढंग से फाड़ने की (क्रूर) चेष्टा करने लगा ॥ २७ ॥

गुफा में टकराई हुई प्रतिध्वनि से द्विगुणित नन्दिनी के आर्तनाद ने दीन-दुखियों के रक्षक राजा दिलीप की पर्वतीय दृश्यों के अवलोकन में लीन दृष्टि को इस प्रकार तुरन्त अपनी ओर खींच लिया जैसे कोई घोड़े की लगाम को पकड़कर खींच लेता है ॥ २८ ॥

धनुर्धारी राजा दिलीप ने श्वेतयुक्त लाल रंगवाली नन्दिनी के ऊपर बैठे हुए उस सिंह को गेरू के पर्वत की ढाल पर उगे हुए पुष्पित लोध के वृक्ष के समान देखा ॥ २९ ॥

सिंह को देखने के अनन्तर, सिंह के समान गति वाले, शरणागत रक्षक, शत्रुओं को बलात् उखाड़ देने वाले राजा दिलीप ने (सिंह की इस करतूत को) अपना अपमान समझ कर मारने योग्य उस सिंह को मारने के लिए अपने तरकस से बाण निकालने की इच्छा की ॥३०॥

(किन्तु) प्रहार करनेवाले राजा दिलीप का दाहिना हाथ नख की कान्ति से विभूषित कङ्कपत्रवाले बाण के मूल भाग में ऐसा चिपक गया कि उनकी अंगुलियाँ उसमें सट गईं। और उस समय वह तरकस से बाण निकालने के (निष्फल) प्रयत्न में लगे हुए चित्रलिखित के समान खड़े रह गए ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

हाथ के इस प्रकार रुक जाने से राजा दिलीप का क्रोध बहुत बढ़ गया। उस समय वह मन्त्र और ओषधि से जिसका पराक्रम अवरुद्ध कर दिया गया हो—ऐसे सर्प की तरह, समीप में ही स्थित अपराधी को छू न सकने के कारण अपने तेज से ही भीतर-भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

नन्दिनी को दबाकर बैठे हुए उस सिंह ने, सज्जनों के पक्षपाती, मनुवंश के कीर्ति-पताका, सिंह के समान पराक्रमी एवं अपनी भुजाओं के इस प्रकार के अवरोध से चकित राजा दिलीप को अपनी मनुष्य-वाणी से पुनः चकित करते हुए कहा—॥ ३३ ॥

हे पृथ्वीपति ! आपका परिश्रम व्यर्थ है। मुझ पर फेंका गया भी आप का अस्त्र निष्फल ही रहेगा। क्योंकि वृक्षों को उखाड़नेवाली वायु की शक्ति पर्वत को नहीं उखाड़ सकती ॥ ३४ ॥

कैलास पर्वत के समान श्वेत बैल पर चढ़ने के इच्छुक अष्टमूर्ति शिवजी के चरण रखने के अनुग्रह से मेरी पीठ पवित्र हो चुकी है (अर्थात् मेरी पीठ पर चरण रखकर शंकर जी अपने वाहन वृषभ पर चढ़ते हैं) मैं निकुम्भ (शिव जी का एक गण) का मित्र हूँ और मेरा नाम आप कुम्भोदर समझें ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! तुम जो यह अपने आगे खड़े हुए देवदारु के वृक्ष को देख रहे हो, इसे शंकर जी ने अपने पुत्र के समान माना है। यह कार्तिकेय की माता पार्वती के सुवर्ण के घट-रूपी स्तनों से निकले हुए दुग्ध रूपी जल के सुन्दर स्वाद को जानता है ॥ ३६ ॥

किसी समय अपने गण्डस्थल को खुजलाते हुए किसी जंगली हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल को उधेड़ दिया था। पार्वती जी ने इस पर ऐसा शोक किया था मानो दैत्यों के अस्त्रों से स्कन्दकुमार आहत हो गए हों ॥ ३७ ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति॥३८॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव॥३९॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति॥४०॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार॥४१॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः॥४२॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये॥४३॥

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥४४॥

उसी समय से जंगली हाथियों को डराने के लिए त्रिशूलधारी शंकर जी ने अपने समीप में आए हुए प्राणियों द्वारा जीविका निर्वाह करने की सिंह-वृत्ति देकर मुझे इस पर्वत की गुफा में (रखवाली के लिए) नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

शंकर जी द्वारा निर्दिष्ट भोजन के समय पर उपस्थित इस गौ के रक्त का भोजन, राहु के लिए चन्द्रमा की सुधा के समान मुझ अत्यन्त भूखे के लिए पर्याप्त है ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने प्रयत्नों में निष्फल तुम अपनी लज्जा छोड़कर वापस लौट जाओ, (क्योंकि) तुम अपनी गुरुभक्ति दिखला चुके। जो रक्षा करने योग्य वस्तु शस्त्र से भी अरक्षणीय होती है, वह नष्ट होकर भी शस्त्रधारियों के यश को नष्ट नहीं करती। (अर्थात् जिस वस्तु की रक्षा शस्त्र से नहीं की जा सकती उसके नष्ट हो जाने से शस्त्रधारी का यश नष्ट नहीं होता।) ॥ ४० ॥

नराधिपति दिलीप ने इस प्रकार धृष्टता से भरी सिंह की वाणी सुनकर शंकर जी के प्रभाव द्वारा अपने अस्त्र का अवरोध समझकर अपने (पराक्रम के) विषय में अपमान की भावना को शिथिल कर लिया ॥ ४१ ॥

पहले पहल अपने बाण के सञ्चालन में निष्फल-प्रयत्न होने वाले राजा दिलीप भगवान् शंकर के अवलोकन से निश्चेष्ट किए गए, वज्र का प्रहार करने के इच्छुक वज्रपाणि देवराज इन्द्र की भाँति, उस सिंह से इस प्रकार बोले—॥ ४२ ॥

हे मृगराज! यद्यपि निश्चेष्ट प्रयत्न मुझ दिलीप की यह बात, जिसे मैं कहना चाहता हूँ, अत्यन्त परिहास के योग्य है, तथापि आप सभी प्राणधारियों के मनोगत भावों को जानते हैं, इसी आशा से मैं कुछ निवेदन करूँगा ॥ ४३ ॥

चराचर जगत की उत्पत्ति, पालन और संहार के आदि कारण भगवान् शिव जी मेरे मान्य हैं और मेरे आगे ही नष्ट होनेवाली, अग्निहोत्र-सम्पन्न गुरुदेव वशिष्ठ की गो-धन-सम्पत्ति यह नन्दिनी भी मेरे लिए उपेक्षा की वस्तु नहीं है ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥४५॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे॥४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि॥४८॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः॥४९॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः॥५०॥

आप चूंकि अपने समीप आने वाले प्राणियो से अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं, अत मेरे शरीर से अपनी जीवन की रक्षा कीजिए और दिन के समाप्त होने पर उत्कण्ठित छोटे बछडेवाली महर्षि वसिष्ठ की इस गौ को छोड दीजिए ॥ ४५ ॥

राजा दिलीप के ऐसा कहने पर भगवान शकर के अनुचर उस सिंह ने अपने दातों की कान्ति से हिमालय पर्वत की गुफा के अन्धकार को दूर करते हुए, कुछ हँसकर राजा दिलीप से इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

एकच्छत्र ससार की प्रभुता, नूतन युवावस्था और अत्यन्त सुन्दर यह शरीर—इन सब (बहुमूल्य वस्तुओ) को स्वल्प नन्दिनी-रूप फल के लाभ के कारण छोडते हुए तुम मुझे विचार मे मूर्ख मालूम पड रहे हो ॥ ४७ ॥

हे राजन्! यदि तुम्हारी प्राणियो के ऊपर दया है तो तुम्हारे मर जाने पर तो केवल यही एक गौ कल्याण का उपभोग कर सकेगी। किन्तु हे प्रजानाथ! यदि तुम जीवित बचे रहते हो तो अपने पिता की भाँति तुम भी सदैव अपनी (असख्य) प्रजा की (सभी प्रकार की) आपदाओ से रक्षा कर सकोगे ॥ ४८ ॥

अथवा हे राजन्! एक ही धेनु होने के कारण, उसके नष्ट होने के अपराध से अत्यन्त क्रुद्ध, अग्नि के समान तेजस्वी अपने गुरु वसिष्ठ जी से यदि तुम्हे डर लग रहा है तो तुम उनके क्रोध को घडे के समान थनोवाली करोडो गौए देकर दूर करने मे समर्थ हो ॥ ४९ ॥

अत हे राजन्! तुम सब प्रकार के कल्याणो का उपभोग करनेवाले, अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योकि बुद्धिमान लोग सभी समृद्धियो से युक्त राज्य को ही इन्द्र का पद मानते हैं, केवल भूतल के स्पर्श मात्र की ही भिन्नता इसमे है। (अर्थात स्वर्ग मे और समृद्धिशाली राज्य मे केवल यही अन्तर है कि स्वर्ग मे पृथ्वी का स्पर्श नही होता।) ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥५२॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥५३॥

कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥५४॥

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥५५॥

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥५६॥

इतना कहकर सिंह के चुप हो जाने पर, गुफा में पहुँची हुई उसके शब्दों की प्रतिध्वनि द्वारा मानो (हिमवान्) पर्वत भी उसी सिंह की बातों को ही ऊँचे स्वर में राजा दिलीप से कहने लगा॥५१॥

भगवान् शंकर के अनुचर उस सिंह की इस बात को सुनकर नरदेव राजा दिलीप ने देखा कि सिंह से आक्रान्त होने के कारण कातर नेत्रों वाली नन्दिनी उन्हीं की ओर देख रही है। अतः अत्यन्त दया से भरकर वह पुनः बोले—॥५२॥

(हे मृगराज!) दूसरों को नष्ट होने से जो बचाए—यह उन्नत क्षत्रिय शब्द का अर्थ है। इसका यह अर्थ संसार भर में अति प्रसिद्ध है। अतः इस क्षत्रिय शब्द के तात्पर्य के विपरीत आचरण करनेवाले पुरुष के राज्य और अपयश से मलिन प्राणों का क्या है? (अर्थात् जो विनाश होने से दूसरों की रक्षा न कर सके उस क्षत्रिय के राज्य और प्राणों को धिक्कार है।)॥५३॥

महर्षि वसिष्ठ जी के क्रोध की शान्ति अन्यान्य दूध देनेवाली गौओं के देने से भला कैसे हो सकती है? क्योंकि उनकी इस धेनु को तुम कामधेनु से कम महत्त्व की न समझो। इस पर तुमने जो आक्रमण किया है, वह भगवान शंकर का प्रभाव है॥५४॥

अतः कामधेनु के समान प्रभावशालिनी इस नन्दिनी के बदले में अपना शरीर देकर तुम्हारे द्वारा उसकी प्राण-रक्षा करना मेरे लिए न्यायसंगत है। क्योंकि इस प्रकार तुम्हारी पारणा (व्रत अथवा उपवास के बाद का भोजन) व्यर्थ न होगी और मुनिवर वसिष्ठ की हवनादि क्रियाएँ भी होती रहेंगी॥५५॥

अपने स्वामी द्वारा पराधीन होने के कारण आप भी इस बात के महत्त्व को भली भाँति जानते होंगे, क्योंकि उक्त देवदारु की रक्षा में आप भी महान् यत्न करते हैं। जिस वस्तु की रक्षा का भार सेवक पर रहता है यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक जीता बचा रह जाय तो भला वह अपने स्वामी के सम्मुख कैसे खड़ा हो सकता है॥५६॥

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

और यदि तुम यह समझते हो कि मैं अवध्य हूँ तो तुम कृपाकर मेरे यश शरीर पर दया करो, क्योंकि मुझ जैसे विवेकशील मनुष्यों की दृष्टि में अवश्य नष्ट होनेवाले (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पाचों महाभूतों द्वारा निर्मित शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती। (अर्थात् मुझे अपने शरीर का मोह उतना नहीं है, जितना अपने यश को नष्ट होने से बचाने का है, अतः तुम मेरे यश की रक्षा करो।) ॥५७॥

लोग कहते हैं कि बातचीत से ही मित्रता का सम्बन्ध पैदा होता है, तो वह मित्रता इस वन में मिलनेवाले हम दोनों के बीच स्थापित हो चुकी है। इसलिए हे भूतनाथ के अनुचर! तुम्हें मित्र के नाते अपने एक मित्र की (मेरी) प्रार्थना को निष्फल करना उचित नहीं है॥ ५८॥

"अच्छा, ऐसा ही करो"—ऐसी वाणी बोलनेवाले सिंह के सम्मुख तत्क्षण बन्धन से मुक्त भुजाओंवाले राजा दिलीप ने, अपने हथियारों को त्याग कर अपने शरीर को मांस के पिण्ड की भांति समर्पित कर दिया ॥५९॥

उस क्षण भयानक सिंह के आक्रमण की प्रतीक्षा में नीचे मुख किए हुए प्रजा पालक राजा दिलीप के ऊपर विद्याधरों के हाथों से मुक्त पुष्पों की वृष्टि हुई ॥ ६० ॥

राजा दिलीप ने—"हे वत्स! उठो"—इस प्रकार अमृत के समान प्यारी वाणी को सुनकर जब उठकर देखा तो अपने आगे स्थित, थन से दूध बहाती हुई नन्दिनी को अपनी माता के समान पाया और उक्त सिंह उन्हें (अपने सामने) नहीं दिखाई पड़ा ॥ ६१ ॥

आश्चर्य से युक्त राजा दिलीप से नन्दिनी बोली—हे साधु स्वभाव वाले राजन्! मैंने अपनी माया प्रकट कर यह तुम्हारी परीक्षा ली थी। महर्षि वसिष्ठ के प्रभाव से स्वयं यमराज भी जब मुझ पर प्रहार करने में असमर्थ हैं तो इन सिंहादि हिंस्र जन्तुओं की क्या सामर्थ्य है? (जो मुझ पर आक्रमण कर सकें) ॥ ६२ ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥६४॥

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश॥६५॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥६६॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण॥६७॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव॥६८॥

हे पुत्र! गुरुवर महर्षि वसिष्ठ में तुम्हारी गहरी भक्ति है और मुझ में तुम्हारी अतीव अनुकम्पा है—अतः इन दोनों बातों से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। इसलिए तुम (मनोवाछित) वर माग लो। तुम मुझे निरी दूध देनेवाली गौ मत समझो, मैं सुप्रसन्न होकर सभी अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाली हूँ॥६३॥

नन्दिनी के ऐसा कहने पर, याचकों को सम्मानित करनेवाले एवं अपने बाहुबल से वीर की उपाधि अर्जित करनेवाले राजा दिलीप ने दोनों हाथ जोड़कर अपनी रानी सुदक्षिणा में वंश को चलाने वाले एवं अनन्त कीर्तिवाले पुत्र की याचना की॥६४॥

उत्तम दूध देनेवाली नन्दिनी ने पुत्र के अभिलाषी राजा दिलीप से "ऐसा ही होगा"—यह प्रतिज्ञा की और यह आदेश दिया कि "हे पुत्र! मेरे दूध को तुम पत्ते से बने दोने में दुहकर पी लो" ॥६५॥

'हे माता! मैं बछड़े के पीने से एवं गुरुजी के हवन के प्रयोजन से बचे हुए तुम्हारे थन से निकले हुए दूध को, पालन की गई पृथ्वी के छठवें भाग की भांति गुरुवर वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके ही पीना चाहता हूँ॥६६॥

इस प्रकार से राजा दिलीप द्वारा प्रार्थना करने पर महर्षि वसिष्ठ की गौ नन्दिनी और अधिक प्रसन्न हुई और राजा दिलीप के साथ हिमालय की उस गुफा से वह बिना किसी परिश्रम के अपने आश्रम की ओर वापस लौटी॥६७॥

निर्मल चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख नृपतिवर दिलीप ने, अपनी अत्यधिक प्रसन्नता की सूचना देनेवाली मुख की कान्तिमा आदि चिह्न से जिनका अनुमान स्वयं किया जा सकता था—ऐसी नन्दिनी के अनुग्रहरूपी बातों को पुनरुक्त वाणी की भांति गुरुवर वसिष्ठ से कहा और तदनन्तर अपनी प्रिया सुदक्षिणा को भी बताया॥६८॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दंपती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥७०॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥
श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥
तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥७३॥
पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥७४॥

अनिन्दित स्वभाववाले तथा सज्जनो के प्रेमी राजा दिलीप ने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त कर बछडे के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी के दूध को श्वेत-मूर्ति धारी यश की भांति अत्यधिक तृष्णा के साथ पिया ॥ ६९ ॥

जितेन्द्रिय महर्षि वसिष्ठ ने (दूसरे दिन) प्रात काल पूर्वोक्त गो-सेवा-रूप व्रत की पारणा कर चुकने के अनन्तर प्रस्थान कालोचित स्वस्त्ययनादि करके उन दोनो—राजा दिलीप एव रानी सुदक्षिणा—का उनकी राजधानी (अयोध्या) की ओर प्रस्थान करवाया ॥ ७० ॥

राजा दिलीप ने आहुति दिए हुए अग्नि की तथा वसिष्ठ जी की प्रदक्षिणा कर चुकने के अनन्तर उनकी पत्नी अरुन्धती तथा बछडे समेत नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके अपनी राजधानी को प्रस्थान किया। इस मगलमय अनुष्ठान से (उस समय) उनका तेज अत्यन्त बढ गया था ॥ ७१ ॥

अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ व्रतादि के कष्टो को सहनेवाले राजा दिलीप कानो को सुख देनेवाली ध्वनि से युक्त एव ऊंची-नीची जमीन के धक्को से मुक्त होने के कारण परम सुखदायी अपने रथ पर चढ कर (सुनने से कानो को सुख देनेवाले तथा विघ्न-बाधाओं से विनिर्मुक्त) अपने सफल मनोरथ की भांति (अपनी राजधानी अयोध्या के) मार्ग पर चले ॥७२ ॥

प्रवास के कारण देखने के लिए उत्कण्ठा उत्पन्न करने वाले एव पुत्र-प्राप्ति के लिए किए गए अनुष्ठान से दुर्बल अगो से युक्त राजधानी मे नए-नए आए हुए राजा दिलीप को उनकी प्रजा ने अत्यन्त अतृप्त नेत्रो से इस प्रकार पिया (देखा) जैसे (कृष्ण पक्ष मे बहुत दिनो तक न दिखाई पडनेवाले एव लोकहित के लिए देवताओ को अमृत दान के कारण क्षीण शरीर वाले द्वितीया के) चन्द्रमा को अतृप्त नेत्रो से लोग देखते हैं ॥ ७३ ॥

इन्द्र के समान कान्तिवाले राजा दिलीप ने पुरवासियो द्वारा अभिनन्दित होकर चारो ओर फहराती पताकाओ से विभूषित अपनी राजधानी अयोध्या मे प्रवेश करके, सर्पराज वासुकि के समान बलशाली अपनी भुजाओं पर पुन. पृथ्वी-पालन का भार धारण किया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

इति महाकवि श्री कालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनी-
वरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

इसके बाद रानी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप के कुल की शाश्वत समृद्धि के लिए महान लोकपालों के तेजों से अनुप्रविष्ट गर्भ को इस प्रकार धारण किया जिस प्रकार महर्षि अत्रि के नेत्रों से निकली हुई चन्द्रमा रूपी ज्योति को आकाश ने तथा अग्नि से फेंके गए (स्कन्द को पैदा करने वाले) शंकर जी के तेज को गंगा जी ने धारण किया था ॥ ७५ ॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में नन्दिनी द्वारा
वर-प्रदान नामक द्वितीय सर्ग समाप्त ॥२॥

— • —

## तृतीयः सर्गः

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ ॥१॥

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥२॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥३॥

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥४॥

न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥५॥

## तृतीय सर्ग

इसके अनन्तर महारानी सुदक्षिणा ने, जिसका समय उपस्थित हो गया था, जो उसके स्वामी राजा दिलीप का अभीष्ट था, जो उसकी सखियों के नेत्रों को आनन्दित करनेवाली चन्द्रिका का प्रादुर्भाव-स्वरूप था एवं इक्ष्वाकुवंश की सन्तति का जो आदि कारण था, ऐसे गर्भ के लक्षण को धारण किया ॥ १ ॥

शरीर के दुर्बल हो जाने के कारण सुदक्षिणा ने अपने सभी आभूषण नहीं पहने थे। उसके मुख का रंग लोध्र के पुष्प के रंग के समान दिखाई पड़ता था। उस समय वह प्रभात काल की उस रजनी के समान दिखाई पड़ती थी, जिसमें बिरले नक्षत्रों के साथ साथ स्वल्प प्रकाश युक्त चन्द्रमा विराजमान हो ॥ २ ॥

पृथ्वीपति राजा दिलीप एकान्त में मिट्टी की सुगन्धि से युक्त सुदक्षिणा का मुख सूंघकर उसी प्रकार तृप्ति नहीं पा सके जिस प्रकार ग्रीष्मावसान अर्थात् आषाढ़ के महीने में बादलों की बूंदों से सींचे गए वनराजियों के बीच में अवस्थित छोटे छोटे तालाबों (गड्ढों) को सूंघकर हाथी नहीं तृप्त होते ॥ ३ ॥

क्योंकि दिगन्तातक जिसके रथ की गति रहेगी—ऐसा उसका चक्रवर्ती पुत्र, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्ग का भोग करता है वैसे ही सम्पूर्ण भू मण्डल का भोग करेगा, अत सुदक्षिणा ने अन्यान्य रसों का तिरस्कार कर धरती की मिट्टी का स्वाद लेने में अपनी अभिलाषा प्रकट की थी ॥ ४ ॥

मगध पुत्री सुदक्षिणा (कदाचित्) लज्जावश अपनी कोई अभिलाषा मुझसे न बताती होगी—ऐसा समझकर उत्तर कोसल के राजा दिलीप अपनी प्रियतमा की सखियों से बारम्बार सुदक्षिणा की मनचाही वस्तुओं की पूछ-ताछ करते रहते थे ॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न ह्यष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥६॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥७॥

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥८॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥९॥

प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसंपदाम्।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥१०॥

सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥११॥

गर्भिणी रानी सुदक्षिणा का चित्त जिस किसी वस्तु की अभिलाषा करता था, उसे वह उसी समय (राजा दिलीप द्वारा) मंगवाई हुई देखती थी। क्योंकि धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाए हुए राजा दिलीप की मनचाही वस्तु स्वर्ग लोक में भी अप्राप्य नहीं रहती थी ॥ ६ ॥

रानी सुदक्षिणा ने धीरे-धीरे गर्भावस्था के मनोरथों से जो व्यथा गर्भिणियों को होती है, उसे पार कर लिया। उनके अंग प्रत्यंग भी सुपुष्ट हो गए। उस समय उनकी शोभा उस लता के समान हुई, जो पुराने पत्तों के झड़ जाने के बाद नूतन मनोहर पल्लव धारण किए हो ॥ ७ ॥

कुछ दिन बीत जाने के बाद अत्यन्त स्थूल और चारों ओर से नीले वर्ण के मुखवाले रानी सुदक्षिणा के दोनों कुच मण्डलों ने भ्रमरों से व्याप्त सुन्दर कमल की दो कलियों की शोभा को तिरस्कृत कर दिया ॥ ८ ॥

राजा दिलीप ने अपनी गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को, अपने भीतर रत्नों की निधि धारण करनेवाली सागराम्बरा (सागर रूपी वस्त्रों से सुशोभित) पृथ्वी, अभ्यन्तर में अग्नि को धारण करनेवाली शमी की लकड़ी एवं अन्तर्लीन जलों वाली सरस्वती नदी के समान समझा ॥ ९ ॥

बुद्धिमान राजा दिलीप ने, जैसा उनका अपनी रानी में प्रगाढ़ स्नेह था, जैसी ऊंची उनके मन की उदारता थी, अपने बाहुबल द्वारा दिग दिगन्त से उपार्जित जैसी उनकी अक्षय सम्पदा थी, और मुझे पुत्र उत्पन्न होगा—इस विश्वास से उन्हें जितना सन्तोष था, उन सब के अनुरूप क्रमानुसार (भावी सन्तति के) पुंसवनादि संस्कारों का अनुष्ठान सम्पन्न किया ॥ १० ॥

रानी सुदक्षिणा के समीप अन्तःपुर में आने पर राजा दिलीप, लोकपालों के अंशों से युक्त गर्भ की गुरुता के कारण प्रयत्नपूर्वक अपने आसन को त्यागनेवाली तथा उपचार (प्रणाम करने) के लिए अंजलि बांधने में शिथिल हाथों एवं तरल नेत्रों से युक्त रानी सुदक्षिणा को देखकर परम आनन्दित हुए ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥१२॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम्।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥१३॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥१६॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥१७॥

(आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा के इन सब लक्षणों को देखकर) बाल चिकित्सा में दक्ष विश्वास पात्र वैद्यों द्वारा गर्भ की रक्षा के उचित प्रयत्न कर चुकने पर एवं ठीक समय उपस्थित होने पर सन्तति जनने को उन्मुख अपनी प्रियतमा सुदक्षिणा को, वर्षा के लिए उन्मुख बादलों से घिरी हुई आकाश-स्थली की भांति, राजा दिलीप ने सुप्रसन्न होकर देखा ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर इन्द्राणी के समान रानी सुदक्षिणा ने प्रसव का ठीक समय उपस्थित होने पर, उच्च स्थान में अवस्थित सूर्य के सान्निध्य से अस्त न होने वाले पांचों ग्रहों के द्वारा जिसकी भाग्य-सम्पत्ति सूचित हो रही थी, ऐसे पुत्र-रत्न को उसी प्रकार पैदा किया, जैसे प्रभाव, उत्साह एवं मंत्र से उत्पन्न शक्ति द्वारा अक्षय सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

उस (मांगलिक) अवसर पर दिशाएँ निर्मल हो गईं। सुखदायी (शीतल, मंद, सुगंधित) वायु बहने लगा। अग्नि की लपटें प्रज्वलित होकर एवं दक्षिण की तरफ घूमकर आहुति ग्रहण करने लगीं। इस प्रकार उस क्षण सभी मंगलदायी शुभ शकुन हुए। (क्यों न हो) इस तरह के महापुरुषों का जन्म जगत के कल्याण के लिए जो होता है ॥ १४ ॥

सूतिका-गृह में शय्या के चतुर्दिक् फैलनेवाले उस सुन्दर जन्मधारी बालक के निजी तेज से सहसा अर्धरात्रि के दीपकों की कान्ति लुप्त हो गई और वे चित्र में खींचे गए दीपक की भांति मालूम पड़ने लगे ॥ १५ ॥

राजा दिलीप को अमृत के समान प्यारे पुत्रोत्पत्ति के मांगलिक समाचार को सुनानेवाले अन्तःपुरचारी अनुचरों के लिए केवल तीन ही वस्तुएँ अदेय रह गईं। वे तीन ये थीं, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल राजछत्र तथा दोनों चामर ॥ १६ ॥

वायु-रहित प्रदेश में स्थित कमल की भांति निश्चल-निर्निमेष नेत्रों से अपने सुन्दर पुत्र के मुख को अत्यन्त तृष्णापूर्वक पीते (देखते) हुए राजा दिलीप का पुत्र-दर्शन से उत्पन्न प्रगाढ़ आनन्द, चन्द्रमा के दर्शन से उत्पन्न महान समुद्र के जल की वृद्धि के समान उनके शरीर के भीतर नहीं समा (ठहर) सका और बाहर निकल पड़ा ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥१८॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥

तपोवन से आकर तपस्वी पुरोहित वसिष्ठ द्वारा सम्पूर्ण जातकर्म संस्कार के सम्पन्न किए जाने पर दिलीप का वह पुत्र, सान पर चढ़ाए हुए खान से निकले हीरे के समान और अधिक सुशोभित हुआ ॥ १८॥

कानों को सुख देनेवाली, मांगलिक मृदंग तुरही आदि बाजों की समवेत ध्वनियाँ वेश्याओं के नृत्य गानादि के साथ मगध-कन्या सुदक्षिणा के पति राजा दिलीप के भवन में ही नहीं फैली प्रत्युत देवताओं के मार्ग आकाश में भी फैल गईं। (अर्थात् राजा दिलीप के पुत्रोत्सव का सुखद संवाद सुनकर देवताओं ने भी दुन्दुभि बजाई।) ॥ १९॥

सम्यक् रीति से प्रजा का पालन करने वाले राजा दिलीप के (कारागार में) कोई कैदी नहीं था, जिसे पुत्र-जन्म से हर्षित होकर वह छोड़ते, किन्तु उस अवसर पर राजा स्वयम् अपने पितरों के ऋणरूपी बन्धन से (अवश्य) मुक्त हुए ॥ २० ॥

शब्दों के अर्थों को जाननेवाले पृथ्वीपति दिलीप ने, यह समझकर कि यह बालक सभी शास्त्रों का पारगामी (परम विद्वान) होगा और युद्ध में शत्रुओं का अतिक्रमण करेगा, अतः लघु (रघु) धातु के गमनार्थक रूप का विचार कर अपने उस पुत्र का 'रघु' नाम रखा ॥२१॥

वह बालक (रघु) सभी प्रकार की धन-सम्पदा से युक्त अपने पिता के प्रयत्नों से अपने मनोहर अंगों के साथ दिन-प्रतिदिन, सूर्य की किरणों को प्राप्तकर (शुक्ल पक्ष के) बाल चन्द्रमा की भांति बढ़ने लगा ॥२२॥

जिस प्रकार स्वामि कार्तिकेय के जन्म से पार्वती और शंकर जी को, तथा जयन्त के जन्म से इन्द्राणी और पुरन्दर को सुख मिला था, उसी प्रकार का सुख उन्हीं के (स्वामि कार्तिकेय एवं जयन्त के) समान पुत्र के जन्म से पार्वती और शंकर तथा इन्द्राणी और पुरन्दर के समान प्रतापी सुदक्षिणा और दिलीप को भी मिला ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥२४॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम्।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥२८॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥

चक्रवाक दम्पती (चकवा और चकवी) की भांति राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा में, एक दूसरे के हृदय को परस्पर आकृष्ट करने वाला जो प्रगाढ़ प्रेम था, वह उनके एकमात्र पुत्र रघु के द्वारा विभक्त हो जाने पर भी एक दूसरे के ऊपर बढ़ता ही गया ॥ २४ ॥

बालक (अब) धाय के द्वारा पहले बताए गए शब्दों का उच्चारण करने लगा, उसकी अंगुलि पकड़कर चलने लगा, उसके प्रणाम करने की शिक्षा देने पर बड़ों को नमस्कार करने लगा और इस प्रकार अपनी इन सब बातों से वह अपने पिता के हर्ष को बढ़ाने लगा ॥ २५ ॥

शरीर के स्पर्श-संयोग से उत्पन्न सुख के द्वारा अपनी त्वचा पर मानो अमृत बरसाने वाले पुत्र को गोद में लेकर आनन्द की अधिकता के कारण राजा दिलीप अपनी आंखों को बन्द करके चिरकाल से अभिलषित पुत्र-स्पर्श-सुख का अनुभव करते रहे ॥ २६ ॥

मर्यादा-रक्षक राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्मवाले अपने इस पुत्र के द्वारा अपने वंश को उसी प्रकार से स्थिर मान लिया जैसे प्रजापति ब्रह्मा अपने सर्वगुणोपेत विष्णु अवतार के द्वारा अपनी सृष्टि को स्थिर मानते हैं ॥ २७ ॥

मुण्डन-संस्कार सम्पन्न हो जाने पर बालक रघु ने चंचल शिखाओं वाले अपने समवयस्क मंत्रि-पुत्रों के साथ, वर्णमाला का भलीभांति परिचय पा चुकने के अनन्तर उसी के द्वारा सम्पूर्ण वाङ्मय में इस प्रकार प्रवेश किया जैसे नदी के मुहाने से होकर (मकरादि जीव) समुद्र में प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

[illegible] के अनन्तर [illegible] में [illegible]

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥३०॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षिताबभूदेकधनुर्धरोऽपि सः॥३१॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥३२॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥३३॥

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत॥३४॥

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥३५॥

प्रखर प्रतिभा सम्पन्न रघु ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि (गुरु शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थज्ञान तथा तत्त्वज्ञान आदि बुद्धि के गुणों द्वारा)। चार समुद्रों के समान (अति गहन एवं विस्तृत) चारों (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति) विद्याओं को क्रमशः इस प्रकार अधिगत किया जिस प्रकार दिशाओं का स्वामी सूर्य पवन का भी अतिक्रमण करने वाले अपने अश्वों से चारों दिशाओं को पार कर लेता है॥ ३०॥

रघु ने पवित्र रुरु मृग का चर्म धारण कर मन्त्र युक्त अस्त्रों की शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की। उसके पिता राजा दिलीप केवल चक्रवर्ती सम्राट् ही नहीं थे प्रत्युत सम्पूर्ण धरती पर वह एक विख्यात धनुर्धारी भी थे॥ ३१॥

रघु ने क्रम से युवावस्था प्राप्त की और उसका शैशव-काल समाप्त हो गया। उस समय गम्भीरता एवं सुन्दरता से युक्त अपने शरीर को उसने इस प्रकार पुष्ट किया जैसे दमन करने योग्य छोटा बछड़ा बढ़कर साँड़ बन गया हो और हाथी का छोटा बच्चा बढ़कर मदोन्मत्त गजराज बन गया हो॥ ३२॥

इसके बाद पिता दिलीप ने राजकुमार रघु का गोदान (केशान्त) संस्कार करने के अनन्तर विवाह संस्कार संपन्न किया। वे राज कन्याएँ रघु को अच्छे पति के रूप में प्राप्त कर उसी प्रकार सुप्रसन्न हुईं जिस प्रकार रोहिणी आदि दक्ष की कन्याएँ चन्द्रमा जैसे सत्पति को प्राप्त कर सुप्रसन्न हुई थीं॥ ३३॥

रघु युवावस्था को प्राप्तकर गाड़ी के जुए की भाँति लंबी भुजाओं वाले, अत्यन्त बलवान, विशाल स्कन्ध एवं किवाड़ के समान विस्तृत वक्षस्थल वाले बन गए और अपने विशाल शरीर (डील डौल) से उन्होंने यद्यपि अपने पिता को पराजित कर दिया था तथापि अपनी विनयशीलता के कारण वह अब भी छोटे ही दिखाई पड़ते थे॥ ३४॥

तदनन्तर चिरकाल से स्वयं धारण किए हुए प्रजापालनादि राजकाज के विपुल भार को हल्का करने की इच्छा से राजा दिलीप ने स्वभाव से ही सरल तथा शास्त्रों के अभ्यास से विनम्र समझ कर रघु को युवराज की पदवी से विभूषित किया॥ ३५॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम्।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥३६॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥३७॥

नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥३८॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥३९॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥४०॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥४१॥

विनयादि (सुगन्धि आदि) गुणों की अभिलाषिणी राजलक्ष्मी (सुन्दरता की देवी) ने राजा दिलीप रूपी प्रमुख स्थान के समीप में ही अवस्थित युवराज पदधारी रघु को अपना आस्पद समझ कर अंश रूप में इस प्रकार से प्राप्त किया जिस प्रकार सुन्दरता की देवी पुराने कमलों को छोड़ कर उन्हीं के समीप में अवस्थित नूतन उत्पलों में अपना आस्पद समझ कर पहुंच जाती है ॥३६॥

वायु के सहायक होने से अग्नि, बादलों के अभाव से युक्त शरत्काल के सहायक होने से सूर्य तथा गण्डस्थल पर बहने वाले मद-प्रवाह से युक्त गजराज की भांति अपने प्रतापी पुत्र रघु से युक्त होने पर राजा दिलीप (अपने शत्रुओं के लिए) अत्यन्त दुःसह हो गए ॥३७॥

इन्द्रोपम ऐश्वर्यशाली राजा दिलीप ने अनेक राजकुमारों के साथ धनुर्धारी रघु को अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा में नियुक्त कर एक कम सौ यज्ञों को निर्विघ्न सम्पन्न किया ॥३८॥

उसके (निन्यानवे अश्वमेध यज्ञों के सम्पन्न कर लेने के) बाद विधि-पूर्वक यज्ञ करने वाले राजा दिलीप ने पुनः (सौवां अश्वमेध) यज्ञ करने की इच्छा से जब बन्धन-रहित अश्व छोड़ा तब बिना किसी रोक टोक के चलने वाले उस अश्व को गुप्त वेशधारी इन्द्र ने धनुर्धारी रक्षकों के आगे से ही हरण कर लिया ॥३९॥

(इस घटना से) अत्यन्त विषाद के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ एवं विस्मित रघु की सेना वहां जैसे ही स्थित हुई वैसे ही सर्वविदित प्रभाव से युक्त मुनिवर वसिष्ठ की गौ नन्दिनी अपनी इच्छा से घूमती हुई दिखाई पड़ गई ॥४०॥

सत्पुरुषों द्वारा पूजित दिलीपनन्दन रघु ने नन्दिनी के पुण्यप्रद शरीर से निकले हुए (मूत्र) जल से अपने दोनों नेत्रों को धोकर इन्द्रियों से अगोचर विषयों में भी देखने की शक्ति प्राप्त कर ली ॥४१॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥४३॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥४४॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥४५॥

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥४६॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥४७॥

नरदेव दिलीप के पुत्र रघु ने देखा तो पूर्व दिशा में उनके घोड़े को चुरा कर ले जाते हुए पर्वतों के पंखों को काटने वाले देवराज इन्द्र दिखाई पड़े। उनका घोड़ा इन्द्र के रथ में रस्सी से बंधा हुआ तुड़ाने का प्रयत्न कर रहा था और उनका सारथी उसे बार-बार संभाल रहा था ॥४२॥

रघु ने निमेष (पलक भांजने) की क्रिया से शून्य सौ आँखों तथा हरे रंग के घोड़ों से उस अश्व के चुराने वाले को भलीभांति पहचान कर इन्द्र समझ लिया और फिर आकाश भेदी गंभीर स्वर में उन्हें मानो पीछे की ओर लौटाने की चेष्टा करते हुए यह कहा—॥४३॥

हे देवराज! विद्वान् लोग आपको ही यज्ञों का भाग ग्रहण करने वाले देवताओं में सर्वाग्रगण्य बताते हैं। तब फिर निरन्तर यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त मेरे पिता के यज्ञ को आप इस प्रकार विनष्ट करने के लिए क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं? ॥४४॥

आप त्रैलोक्य के स्वामी हैं। दिव्यचक्षु हैं। अतः आपको तो यज्ञ का विध्वंस करने वाले (राक्षसों आदि) का सदा नियंत्रण करना चाहिए। और ऐसी स्थिति में यदि आप स्वयं धर्म के आचरण में तत्पर सत्पुरुषों की क्रियाओं में विघ्न डालते हैं तो यज्ञादि सत्कर्मों का विनाश ही समझना चाहिए ॥४५॥

हे मघवन्! इसलिए अश्वमेध यज्ञ के मुख्य अंग इस अश्व को तो आपको छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि (दूसरों को) वेद-शास्त्रों के मार्ग को प्रदर्शित करने वाले महानुभाव लोग निन्दनीय मार्गों का अवलम्बन नहीं करते ॥४६॥

इस प्रकार रघु द्वारा कही गई धृष्टता से भरी वाणी को सुन कर देवताओं के स्वामी इन्द्र ने आश्चर्य से युक्त होकर अपने रथ को पीछे की ओर लौटा दिया और रघु की बातों का (इस प्रकार) उत्तर देना आरम्भ किया—॥४७॥

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥४९॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥५०॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥५२॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥५३॥

हे राजपुत्र ! तुम जो बातें कह रहे हो वह ठीक है। किन्तु यश को ही अपना सर्वस्व मानने वाले हम जैसे लोगों को, दूसरों से अपने यश की रक्षा करनी चाहिए। आपके पिता जगत भर में सुप्रसिद्ध उस (हमारे) यश का अपने इस यज्ञ के द्वारा उल्लंघन करना चाहते हैं ॥४८॥

जिस प्रकार से अकेले विष्णु ही पुरुषोत्तम कहे जाते हैं और जिस प्रकार से अकेले त्र्यम्बक ही महेश्वर कहे जाते हैं, कोई दूसरा नहीं, उसी प्रकार से मुनि लोग अकेले मुझे ही शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञों का करने वाला) समझते हैं। हम लोगों के ये तीनों शब्द दूसरे पुरुष के लिए नहीं हैं ॥४९॥

अतः तुम्हारे पिता के इस सौवें अश्वमेध यज्ञ के अश्व को कपिल मुनि के समान मैंने अपहृत कर लिया है। अब इस घोड़े को वापस करने का प्रयत्न तुम मत करो, और सगर के पुत्रों के मार्ग पर पैर मत रखो ॥५०॥

इन्द्र की यह बात सुन कर अश्व के रक्षक रघु ने निर्भयता के साथ हँसकर इन्द्र से फिर ऐसा कहा—हे देवराज ! यदि आप का यही (इस अश्व को न छोड़ने का ही) निश्चय है तो शस्त्र ग्रहण कीजिए। क्योंकि रघु को जीते बिना आप सफल मनोरथ नहीं हो सकते ॥५१॥

रघु ने ऊपर की ओर मुँह उठा कर इन्द्र से ऐसा कहकर अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और अति सुन्दर आलीढ[1] नामक मुद्रा में विशेष शोभा देने वाली अपने देह की ऊँचाई से पिनाकधारी शंकर जी का अनुकरण करते हुए वह खड़ा हो गया ॥५२॥

रघु के स्तम्भ के समान बाण से हृदय पर चोट लगते ही पर्वतों को खंडित करने वाले देवराज इन्द्र ने भी क्रुद्ध होकर, नूतन मेघ-घटाओं पर क्षण भर के लिए लक्षित होने वाले अपने धनुष पर कभी व्यर्थ न होने वाला बाण चढ़ाया ॥५३॥

१. जिस पैंतरे में दाहिना पैर आगे की ओर कुछ झुका हुआ हो और बाँया पैर पीछे की ओर तना हुआ हो, उसे आलीढ नामक मुद्रा कहते हैं।

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥५४॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥५७॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥५८॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥५९॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥६०॥

भयङ्कर असुरों के रक्त से सुपरिचित उस बाण ने रघु के विशाल वक्षस्थल में प्रवेश कर के, पहले कभी न चखे गए मनुष्य के रक्त का कौतूहल के साथ पान किया ॥५४॥

स्वामिकार्तिकेय के समान पराक्रमी राजकुमार रघु ने भी ऐरावत को तीव्रगति से चलाने के कारण कठोर अंगुलियों वाली एवं इन्द्राणी के (मुख पर बने हुए) तिलकादि चिह्नों से अंकित देवराज इन्द्र की भुजा में अपने नाम से अंकित बाण गड़ा दिया ॥५५॥

एक दूसरे मयूर के पंखवाले बाण से उसने इन्द्र की विशाल वज्र रूपी ध्वजा को काट गिराया, जिसे इन्द्र ने देवताओं की लक्ष्मी के केश को बलपूर्वक काटने जैसा (अपमान-जनक) समझ कर उस पर अत्यन्त क्रोध किया ॥५६॥

इस प्रकार एक दूसरे पर विजय प्राप्ति की इच्छा रखने वाले उन दोनों रघु और इन्द्र का, गरुड और सर्प के समान भयङ्कर दिखाई पड़ने वाले, ऊपर और नीचे की ओर मुख किए हुए बाणों के द्वारा भयङ्कर युद्ध हुआ। उस समय उनके समीप ही सिद्ध (इन्द्र के) और सैनिक (रघु के समीप) चुपचाप खड़े रहे ॥५७॥

निरन्तर प्रबल प्रयत्नपूर्वक फेंके गए शस्त्रास्त्रों की वर्षा से अत्यन्त असहनीय तेज वाले रघु को रोकने में देवराज इन्द्र उसी प्रकार असफल हो गए जिस प्रकार से मेघ अपने से ही निकली हुई बिजली रूपी अग्नि को अपनी जल राशि से नहीं बुझा पाता ॥५८॥

इसके बाद रघु ने हरिचन्दन से चर्चित (इन्द्र की) कलाई पर (अवस्थित), मथे जाते हुए समुद्र की भाँति गम्भीर शब्द करनेवाली इन्द्र के धनुष की प्रत्यञ्चा को अपने अर्द्ध-चन्द्र (अर्धचन्द्र की आकृति के समान फल वाले) बाण से काट डाला ॥५९॥

इस प्रकार अपने धनुष की प्रत्यञ्चा के कट जाने से इन्द्र का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया। अतः उन्होंने अपने प्रचण्ड शत्रु (रघु) का विनाश करने के लिए अपने धनुष को छोड़ कर पर्वतों के पंखों को काटने में पटु एवं फैलती हुई प्रभा के मण्डल से युक्त अपने अस्त्र वज्र को अपने हाथों में लिया ॥६०॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिस्वनैः॥६१॥

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते॥६२॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः॥६३॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम्॥६४॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्॥६५॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम्॥६६॥

इन्द्र के उस वज्र द्वारा छाती पर गहरी चोट लगने के कारण राजकुमार रघु अपने सैनिको की आसुओं के साथ ही धरती पर गिर पडे। किन्तु क्षण भर मे ही अपनी चोट की उपेक्षा कर के वह अपने सैनिको की हर्ष-ध्वनि के साथ उठ कर खडे हो गये॥६१॥

वज्र की (भीषण) चोट खाकर भी शस्त्रो के व्यवहार से निष्ठुर बनी हुई शत्रुता की भावना को देर तक निभाने वाले राजकुमार रघु की इस अत्यन्त वीरता पर वृत्र के मारनेवाले देवराज इन्द्र परम प्रसन्न हुए। क्यो न हो, गुण अपने लिए सर्वत्र स्थान बना ही लेता है॥६२॥

देवराज इन्द्र ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—अत्यन्त वेग एव शक्ति के कारण पर्वतो पर भी मुक्त होकर प्रहार करने वाले मेरे इस वज्र को तुम्हे छोडकर किसी और ने सहन नही किया है। अत (अपनी इस महान् वीरता पर) हमे तुम परम प्रसन्न समझो। (बोलो) इस घोडे को छोड कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो?॥६३॥

इसके अनन्तर अपने तूणीर से आधे निकाले हुए, सुवर्ण के पख की प्रभा से अगुलियो को प्रभायुक्त बनाने वाले अपने बाण को फिर तूणीर मे रखते हुए प्रिय वादी महाराज दिलीप के पुत्र रघु ने देवराज इन्द्र को (इस प्रक र) उत्तर दिया—॥६४॥

हे प्रभु! यदि आप अश्व को छोडने योग्य नही समझते तो निरन्तर यज्ञानुष्ठान मे प्रयत्नशील मेरे पिता विधिपूर्वक इस यज्ञ की समाप्ति होने पर जो भी फल होता है, उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करें—(यही मेरी प्रार्थना है)॥६५॥

हे लोको के स्वामी! इसके अतिरिक्त आप यह भी व्यवस्था करे कि घर जाने पर शिव जी के एक अश होने के कारण मुझ जैसे व्यक्ति के लिए कठिनाई से प्राप्त होने वाले प्रजानाथ राजा दिलीप आपके सवादवाहक दूत से ही (यहाँ के) इस वृत्तान्त को सुनें॥६६॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥६७॥

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥६८॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥६९॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

मातलि नामक सारथी वाले देवराज इन्द्र रघु से—तुम जैसा कह रहे हो, वैसा ही होगा—यह वचन कह कर जिस मार्ग से आए थे उसी पर लौट गए और सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी (इतना प्रयत्न करने पर भी अश्व के न मिलने से) अत्यन्त प्रसन्न न होकर अपनी राजधानी की ओर वापस लौट गए ॥६७॥

इन्द्र के दूत द्वारा पहले ही से उक्त संवाद पाने वाले प्रजा के स्वामी महाराज दिलीप ने, अत्यन्त प्रसन्नता के कारण शिथिल हाथो से, वज्र के घाव से चिह्नित (अपने पुत्र) रघु के शरीर का स्पर्श करते हुए उनका अभिनन्दन किया ॥६८॥

जिसकी आज्ञा सब के लिए शिरोधार्य थी, ऐसे पृथ्वीपति राजा दिलीप ने आयु के समाप्त होने पर स्वर्गारोहण की इच्छा से मानो निन्यानवे अश्वमेध यज्ञों की सीढ़ियाँ लगाईं ॥६९॥

इसके बाद महाराज दिलीप ने विषयो से चित्त की निवृत्ति हो जाने पर, शास्त्रोक्त रीति से युवावस्था को प्राप्त अपने पुत्र रघु को श्वेतच्छत्र के रूप में राज्य चिह्न देकर, महारानी सुदक्षिणा के साथ ऋषियों-मुनियों के वन के वृक्षों की छाया में आश्रय ग्रहण किया। क्योंकि यौवन की समाप्ति पर इक्ष्वाकु वंश के राजाओं का यही कुल-व्रत रहा है ॥७०॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में रघु राज्याभिषेक नामक तृतीय सर्ग समाप्त ॥३॥

—•—

# चतुर्थः सर्गः

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः॥१॥

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः॥२॥

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥३॥

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्॥४॥

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥५॥

परिकल्पितसांनिध्या काले काले च बन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती॥६॥

# चतुर्थ सर्ग

पिता द्वारा प्रदत्त राज्य को प्राप्त कर रघु सूर्य द्वारा सायंकाल दिए गए तेज को प्राप्त करने वाले अग्नि के समान अधिक शोभायमान हुआ॥१॥

महाराज दिलीप के अनन्तर राज्य पद पर रघु को सिंहासनासीन सुनकर, राजाओं के हृदय में पहले ही से जो धूमयुक्त सन्तापाग्नि थी, वह प्रज्वलित-सी हो उठी॥२॥

इन्द्र की पताका के समान उस रघु के नवीन अभ्युदय को देखकर ऊपर आँखें उठा कर देखने वाली उसकी प्रजा, सन्तानों समेत आनन्दित हुई॥३॥

हाथी की भांति अथवा हाथियों पर चलने वाले रघु ने दो चीजों पर एक साथ ही पैर रखा, एक तो अपने पिता से प्राप्त राज्यसिंहासन पर, दूसरे शत्रुओं के समूहों पर॥४॥

लक्ष्मी स्वयं अदृश्य होकर भी प्रभामण्डल से अनुमान किए जाने वाले अपने कमल-रूप छत्र से, साम्राज्य के अभिषेक से अभिषिक्त रघु की सेवा में उपस्थित हुई॥५॥

और सरस्वती ने समय-समय पर बन्दीजनों के समीप रह कर प्रशंसा के अधिकारी रघु को सारगर्भित प्रार्थनाओं द्वारा सम्मानित किया॥६॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः।
तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुंधरा ॥७॥

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥८॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥९॥

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥१०॥

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥११॥

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥१२॥

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥१३॥

यद्यपि सम्माननीय मनु प्रभृति राजाओं द्वारा यह पृथ्वी भोगी जा चुकी थी, तथापि इस राजा रघु के राज्य में वह ऐसी मालूम पड़ी, जैसे उसमें पहले इसका उपभोग किसी ने नहीं किया था ॥७॥

राजा रघु ने अपराध के अनुकूल दण्ड देकर उसी प्रकार से सब लोगों का मन हर लिया जिस प्रकार से न अति शीतल और न अति उष्ण दक्षिण की वायु सब का मन हर लेती है ॥८॥

रघु ने अपने गुणों की अधिकता से अपने पिता राजा दिलीप के विषय में प्रजा की उत्कण्ठा को उसी प्रकार से कम कर दिया, जिस प्रकार से आम का फल आ जाने पर उसके फूल (बौर) के प्रति लोगों की उत्सुकता नहीं रह जाती ॥९॥

नीति शास्त्र के जानने वाले (मन्त्रियों) अथवा विद्वानों ने उस राजा को धर्म एवं अधर्म—दोनों से युक्त नीतियां बतलाईं किन्तु राजा ने केवल धर्मनीति को ही अपनाया, अधर्म युक्त नीति का पक्ष नहीं लिया ॥१०॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतों के भी गुणों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) का उत्कर्ष हुआ और इस प्रकार उस नूतन राजा के राज्य में सभी वस्तुएं नूतन जैसी हो गईं ॥११॥

जैसे आह्लाद उत्पन्न करने के कारण चन्द्रमा को चन्द्रमा और सन्ताप देने के कारण सूर्य को तपन कहा जाता है, उसी प्रकार प्रजा को सुप्रसन्न रखने के कारण उसका 'राजा' यह नाम नितान्त सार्थक हुआ ॥१२॥

यद्यपि राजा रघु के नेत्र बहुत बड़े और कानों तक फैले हुए थे पर वे अपने गूढ़ कर्तव्यों की परख कराने वाले शास्त्रों के ज्ञान से ही अपने नेत्रों की सफलता मानते थे ॥१३॥

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥१४॥

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥१५॥

वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥१६॥

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥१७॥

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥१८॥

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥१९॥

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥

(पिता द्वारा) प्राप्त राज्य में शत्रुओं का निर्मूलन करके स्वस्थ एवं शान्तचित्त होने के बाद राजा रघु के सामने कमलों के चिह्नवाली शरत् ऋतु दूसरी राज्यलक्ष्मी के समान उपस्थित हुई ॥१४॥

अच्छी तरह से जल बरसा देने के कारण छोटे छोटे टुकड़ों में बँटे हुए मेघों द्वारा मार्ग छोड़ कर हट जाने से, अत्यन्त कठिनता से सहने योग्य राजा रघु एवं सूर्य का प्रताप एक साथ ही सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो गया ॥१५॥

एक ओर देवराज इन्द्र ने अपना वर्षाकालिक धनुष रख दिया और दूसरी ओर राजा रघु ने अपने विजय देने वाले धनुष को धारण किया, क्योंकि दोनों ही प्रजा के कल्याणार्थ एक के बाद एक समान रूप से अपने-अपने धनुष को तैयार रखते थे ॥१६॥

श्वेतकमल-रूपी छत्र एवं फूली हुई कास-रूपी चवर को धारण करके शरत् ऋतु ने राजा रघु का अनुकरण तो किया किन्तु उसकी शोभा को नहीं प्राप्त कर सकी ॥१७॥

सुप्रसन्नता के कारण मनोहर मुख वाले राजा रघु और निर्मल कान्ति वाले चन्द्रमा—दोनों के प्रति उस अवसर पर आँख वाले लोगों की समान प्रीति थी ॥१८॥

(उस समय) हंसों की पंक्तियों में, नक्षत्रों में और कुमुद के पुष्पों से भरे हुए जलाशयों में राजा रघु के ऐश्वर्य का श्वेत-यश ही मानो फैला हुआ था ॥१९॥

ईख की छाया में बैठी हुई धान की रखवाली करनेवाली स्त्रियाँ, पृथ्वी की रक्षा करने वाले उस राजा की शूरता, दयालुता आदि सद्गुणों के विकास की कथा का गायन, उसकी कुमारावस्था से आरम्भ करके करती थीं ॥२०॥

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥२१॥

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥२२॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥२३॥

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥२४॥

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥२५॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥२६॥

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥२७॥

महान् प्रतापी अगस्त्य के उदय से जल निर्मल हो गया और रघु के उदय से अपने पतन की आशंका के कारण उसके शत्रुओं का मन क्षुब्ध होकर मलिन हो गया ॥२१॥

मद से उन्मत्त, बडे-बडे ककुद (डील) वाले तथा नदियों के तटों को गिरानेवाले बडे बडे साँडों ने, लीलापूर्वक खेल की भाँति उस रघु के पराक्रम का अनुकरण किया ॥२२॥

हाथियों के मद के समान गन्ध बिखेरने वाले सप्तपर्ण (छितवन) के फूलों से आहत राजा रघु के हाथियों ने भी मानो स्पर्द्धा के कारण सात धाराओं में ही मदस्राव आरम्भ किया। (अपने प्रतिस्पर्धी को देखने पर मदवाले हाथियों में सात स्थानों से मद-स्राव होता है) ॥२३॥

नदियों को पार करने में सुगम बनाती हुई और मार्ग के कीचड को सुखाती हुई शरद् ऋतु ने (प्रभावशक्ति एवं मन्त्र शक्ति से सम्पन्न) राजा रघु को उत्साह शक्ति से युक्त होने के पहिले ही दिग्विजय यात्रा के लिए प्रेरित किया ॥२४॥

घोडों की नीराजना (शान्ति का अनुष्ठान) की विधि में भली भाँति होम की गई अग्नि ने, दाहिनी ओर जानेवाली अपनी ज्वाला के बहाने मानो अपने हाथ से ही रघु को विजय दे दी। ॥२५॥

अपने पृष्ठवर्ती शत्रुओं का निर्मूलन कर, राजधानी और सीमावर्ती नगरों की रक्षा की सुव्यवस्था कर तथा इष्ट देवताओं का शुभाशीर्वाद प्राप्त करके छह प्रकार की सेना लेकर रघु ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया ॥२६॥

नगरनिवासिनी वृद्धा स्त्रियों ने दिग्विजय के लिए प्रस्थित रघु के ऊपर मंगलार्थ खीलें उसी प्रकार बरसाईं जैसे क्षीरसागर की लहरों ने मन्दराचल से उठी हुई दूध की बूँदों की वर्षा भगवान् विष्णु के ऊपर की थी ॥२७॥

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥२८॥
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥२९॥
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति- चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥३०॥
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥३१॥
स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥
त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपः।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥३३॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥

प्राचीनबर्हि अर्थात् इन्द्र के समान रघु ने अनुकूल वायु द्वारा फहराती हुई पताकाओं से अपने शत्रुओं को मानो भयभीत करते हुए सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥२८॥

रथों से उड़ी हुई धूल से आकाश को पृथ्वीतल के समान तथा बादलों के समान हाथियों से पृथ्वीतल को आकाश की भांति बनाते हुए वह आगे बढ़े ॥२९॥

सबसे पहले उनका उग्र प्रताप, उसके बाद (सेना का) कोलाहल, फिर धूल, और सबसे पीछे उनके रथ आदि चले। इस प्रकार उनकी सेना चतुरंगिनी की भांति आगे बढ़ी ॥३०॥

रघु ने (प्रभाव, उत्साह तथा मंत्र) शक्ति से सम्पन्न होकर जल से रहित मरु प्रदेशों को जल से युक्त, नावों से पार करने योग्य नदियों को सुख से पार करने योग्य तथा (अंधेरे) जंगलों को प्रकाश से युक्त कर दिया ॥३१॥

पूर्व में समुद्र की ओर जानेवाली अपनी विशाल सेना को साथ ले जाते हुए रघु ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे भगवान् शंकर की जटा से निकली हुई गंगा को पूर्व-समुद्र की ओर ले जाते हुए राजा भगीरथ ॥३२॥

करों में लाभ से वंचित कर देने, राज्य से अपदस्थ कर देने तथा अनेक प्रकार के युद्धों में पराजित कर देने से शत्रु राजाओं से शून्य रघु की दिग्विजय यात्रा का मार्ग वैसे ही प्रशस्त (निष्कण्टक) बन गया, जैसे फल-पुष्पादि के गिरा देने, वृक्षों को समूल उखाड़ कर फेंक देने तथा तहस-नहस कर देने से हाथी का मार्ग साफ हो जाता है ॥३३॥

इस प्रकार विजयी राजा रघु पूर्व दिशा के समस्त राज्यों पर अपना अधिकार जमा कर ताड़ के वनों के कारण श्याम वर्ण के दिखाई पड़ने वाले समुद्र के तट पर पहुंच गए ॥३४॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम्॥३५॥
वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः॥३६॥
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥३७॥
स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ॥३८॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्।
अंकुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः॥३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः॥४०॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम्॥४१॥

उद्दण्ड राजाओं (वृक्षों) को उखाड कर फेंक देने वाले, नदी के वेग के समान राजा रघु के सामने सुह्म देश के राजाओं ने बेंत के समान प्रवाह में झुक जाने की (वैतसी) नीति अपना कर अपनी रक्षा की॥३५॥

सेनानी रघु ने नौकाओं द्वारा युद्ध करने को तत्पर वंग देश के राजाओं का दर्प अपनी शक्ति से चूर्ण कर गंगा की धारा के मध्य भाग में अवस्थित द्वीपों पर अपने विजय-स्तम्भों की स्थापना की॥३६॥

और वंग देश के नृपति गण रोपे गए धान की भांति रघु के पाद-पद्मों में झुक गए। राज्य को छीन कर फिर से राजा बनाए जाने के कारण उन नृपतियों ने (उखाड कर फिर से लगाए गए धान के पौधों की भांति) रघु को बहुत अधिक उपहार भेंट किए॥३७॥

राजा रघु ने सेना सहित हाथियों द्वारा निर्मित पुल से कपिशा नदी को पार किया और फिर उत्कल देश के राजाओं द्वारा बताए हुए मार्ग से कलिंग देश की ओर प्रस्थान किया॥३८॥

राजा रघु ने महेन्द्र पर्वत के शिखर पर अपने प्रताप को इस तरह से प्रविष्ट किया जैसे महावत कठिनाई से पीडा अनुभव करने वाले गंभीरवेदी हाथी के मस्तक में अपने अंकुश को प्रविष्ट करता है॥३९॥

जिस प्रकार शिलाओं की वर्षा करके पर्वतों ने अपने पंख काटने वाले देवराज इन्द्र का सामना किया था उसी प्रकार कलिंग देश के राजा ने हाथियों पर से शस्त्रों की वर्षा कर रघु का सामना किया॥४०॥

राजा ककुत्स्थ के वंशज रघु ने महेन्द्र पर्वत के ऊपर शत्रुओं द्वारा चलाए गए नाराच नामक लोहे के बाणों की वर्षा को सहन कर विजयश्री को उसी प्रकार प्राप्त किया जैसे शास्त्रीय विधि से मंगल अभिषेक कर लेने पर कोई राजा राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करता है॥४१॥

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥६१॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव ॥६३॥

खजूर के वृक्षो मे बँधे हुए हाथियो के मद स्राव होने से सुगन्धियुक्त गण्डस्थलो पर, भ्रमरो की पंक्तियाँ नागकेसर के फूलो को छोड कर आ बैठी ॥५७॥

जिस समुद्र ने, कहा जाता है कि प्रार्थना करने पर परशुराम जी को (केवल) रहने के लिए स्थान दिया था, उसी ने रघु के लिए पश्चिम देश के राजाओं के बहाने कर दिया ॥५८॥

उस केरल प्रदेश मे रघु ने त्रिकूट पर्वत को ही अपना ऊँचा विजयस्तम्भ बनाया, जिस पर उसके मतवाले हाथियों ने अपने दांतो के प्रहारो से, स्पष्ट रूप मे उसके पराक्रम को अंकित कर दिया था ॥५९॥

इसके बाद रघु ने, तत्त्वज्ञान से इन्द्रिय नामक शत्रुओ को जीतने वाले योगी के समान पारस देश के राजाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए स्थल मार्ग से प्रस्थान किया ॥६०॥

उसने यवनों की स्त्रियों के मुख-कमलो पर मदिरापान से छाई हुई लालिमा को उसी प्रकार सहन नही किया, जैसे असमय मे उठा हुआ बादल कमलो पर छाए हुए प्रातःकालिक सूर्य की कोमल किरणो को नही सहन करता ॥६१॥

(वहाँ पर) रघु एव पश्चिम दिशा के अश्व सेनाओ से सुसज्जित यवन राजाओ के बीच ऐसा भीषण संग्राम हुआ, जिसमे उडती हुई धूल मे प्रतिपक्षी योद्धाओं की पहचान उनके धनुष की टकारों से ही होती थी ॥६२॥

रघु ने, मधुमक्खियों से भरे हुए मधु के छत्तो की तरह दाढी-मूछो से युक्त पारस के यवन राजाओं के शिरो को, भाले की अनी की तरह फाल वाले अपने बाणों से काट-काट कर पृथ्वी को पाट दिया ॥६३॥

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥६६॥

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥६७॥

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥६९॥

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥७०॥

युद्ध भूमि मे मरने से बचे हुए राजा लोग अपने-अपने शिरस्त्राणों (पगडी) को उतार कर रघु की शरण मे आए क्योंकि महान् पुरुषों का क्रोध प्रणाम करने मात्र से दूर हो जाता है ॥६४॥

रघु के सैनिको ने, अगूर के लता-कुञ्जो मे मृग-चर्म बिछा कर अगूर के फलो से निर्मित मदिरा का पान कर, विजय-प्राप्ति मे आई हुई अपनी थकावट को दूर किया ॥६५॥

इसके बाद रघु ने, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणो द्वारा जल का शोषण करने के लिए उत्तरायण की ओर जाते हैं उसी प्रकार अपने बाणो से उत्तर दिशा के राजाओं का उन्मूलन करने के लिए कुबेर द्वारा अधिष्ठित उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥६६॥

रघु के अश्वों ने, सिन्धु नदी के तट पर लोट कर अपनी थकावट दूर की एव कुमकुम तथा केसर से ममन्वित अपने कधो को झकझोर दिया ॥६७॥

वहाँ हूण राजाओं पर अपना पराक्रम दिखला कर रघु ने अपने युद्ध के पराक्रम से, उनकी स्त्रियों के कपोलो को, पीट-पीट कर रोने के कारण लाल रग का बना दिया ॥६८॥

रण-भूमि मे रघु के प्रताप को सहन करने मे असमर्थ होकर कबोज देश के राजा, रघु के हाथियो के बाधने की जजीरों से रगड खाए हुए अखरोट के वृक्षो के साथ ही झुक गए ॥६९॥

कम्बोज देश के गर्वच्युत राजाओं ने कोसलेश्वर रघु को बहुत-से उत्तम नस्ल के अश्व तथा सुवर्ण की बडी-बडी राशियाँ उपहार के रूप मे निरन्तर प्रदान की, किन्तु इससे रघु को अभिमान नहीं हुआ ॥७०॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥८५॥

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥८६॥

सत्यान्ते सचिवसखःपुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिःशमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम्।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥८८॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

इस प्रकार विजयी राजा रघु चारों दिशाओं को जीत कर, छत्रहीन राजाओं के मुकुटों पर, अपने रथ से उठी हुई धूल को जमाते हुए (अपनी राजधानी को) वापस लौटे ॥८५॥

(इसके बाद) राजा रघु ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया, जिसमें दक्षिणा के रूप में अपना सर्वस्व दे दिया जाता है। (यह उचित ही था) क्योंकि सज्जन लोग पानी बरसाने वाले बादल की भाँति सर्वस्व त्याग करने के लिए ही (धन का) अर्जन करते हैं ॥८६॥

राजा ककुत्स्थ के वंश में उत्पन्न रघु ने अपने विश्वजित् नामक यज्ञ की समाप्ति पर मंत्रियों को साथ ले, उन (विजित) राजाओं के, जिनकी पत्नियाँ दीर्घकाल के विरह के कारण मिलने के लिए उत्कण्ठित थीं, बड़े-बड़े उपहार दे कर, उनके पराजय से उत्पन्न ग्लानि एवं दुःख को दूर कर दिया और फिर उन्हें अपनी-अपनी राजधानी को वापस लौट जाने की आज्ञा दे दी ॥८७॥

अपनी-अपनी राजधानी को विदा होने के समय राजाओं ने, रेखा के रूप में अंकित [illegible]

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में रघुदिग्विजय नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥४॥

— ० —

# पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥१॥

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥२॥

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥३॥

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥४॥

कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥५॥

## पाँचवाँ सर्ग

उक्त विश्वजित् यज्ञ में अपने कोश को अशेष रूप से दे डालने वाले राजा रघु के समीप, चौदहों विद्याओं को प्राप्त कर, महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा चुकाने के उद्देश्य से (धन माँगने के लिए) उपस्थित हुए ॥१॥

असामान्य शील-समुदाचार से सम्पन्न, यश से प्रकाशमान तथा अतिथियों का सत्कार करनेवाले राजा रघु, अपने पास सुवर्ण का पात्र न होने के कारण, मिट्टी के पात्र में पूजा की सामग्री रख कर, शास्त्र-ज्ञान से प्रकाशित अतिथि के सामने उपस्थित हुए ॥२॥

शास्त्र को जाननेवाले, मान को ही अपना धन माननेवालों में अग्रणी एवं अपने कर्तव्य को समझनेवाले, प्रजानाथ रघु, आसन पर बैठे हुए तपोधन कौत्स का विधिवत् पूजन करके, उनके सम्मुख आकर हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोले ॥३॥

हे कुशाग्रबुद्धि कौत्स जी ! मन्त्रों के स्मरण करनेवाले ऋषियों में श्रेष्ठ आपके गुरु महाराज तो कुशल से हैं न ? जिस प्रकार सूर्य से (समस्त संसार को) चेतना मिलती है, उसी प्रकार अपने गुरु से आपने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है ॥४॥

शरीर, वाणी और मन से देवराज इन्द्र के धैर्य का नष्ट करनेवाला जो आपके गुरु महर्षि वरतन्तु का तीन प्रकार का तप है, वह कभी (देवराज इन्द्र द्वारा प्रेरित) विघ्नों द्वारा नष्ट तो नहीं हो रहा है ? ॥५॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥६॥

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥७॥

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥८॥

नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥९॥

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥१०॥

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥

थाल्हे बना कर, जल से सींच कर आदि आदि उपायों द्वारा पुत्र के समान पाले गए (पथिकों आदि की) थकावट को दूर करनेवाले आपके आश्रम के जो वृक्ष हैं, कहीं उन पर आँधी-तूफान या दावाग्नि की बाधा तो नहीं पहुँची ॥६॥

मुनि लोग यज्ञादि अनुष्ठानों के साधन-स्वरूप कुशों से, अति वात्सल्य के कारण जिनकी खाने की इच्छा को नहीं रोक पाते, और जो उनकी गोद की शय्या में ही अपनी नाभि के नाल को गिरा देते हैं—ऐसे हरिणियों के छोटे छोटे बच्चे तो संकटों से मुक्त हैं न ? ॥७॥

जिन तीर्थों की जलराशि से नित्य स्नानादि की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं जिनसे पितरों का तर्पण होता है और जिनके बालुकामय तटों पर उञ्छवृत्ति से चुन गए अन्न के छठे भाग सुशोभित रहते हैं उन तीर्थों के जल आप लोगों के लिए कल्याणकारी तो हैं न ? ॥८॥

उचित समय पर आए हुए अतिथियों के भागों की भी जिसमें कल्पना की जाती है और जो आप लोगों के शरीर की रक्षा के मुख्य साधन हैं उन वन में उत्पन्न होने वाले नीवार एवं साँवा आदि धान्यों को गाँवों से आने वाले भूसा खाने वाले गाय भैंस आदि पशु तो नहीं चर जाते हैं ? ॥९॥

क्या आपके गुरु महर्षि वरतन्तु ने सुप्रसन्न होकर आपको भली भाँति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति दे दी है क्योंकि सभी आश्रम वालों का उपकार करने में समर्थ दूसरे आश्रम (गृहस्थाश्रम) में प्रवेश करने के लिए यह आपका उपयुक्त समय है ॥१०॥

आप हमारे पूजनीय हैं अतः आपके आगमन से ही मेरा मन संतुष्ट नहीं है। मेरा मन तो इस बात से उत्कण्ठित है कि आप मेरे लिए कोई आज्ञा दें। और क्या गुरु की आज्ञा से अथवा स्वयं अपनी इच्छा से मुझे सम्मानित अथवा कृतार्थ करने के लिए ही वन से यहाँ आए हैं ? ॥११॥

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥१२॥

सर्वत्र नो वार्त्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥१३॥

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तयातिशेषे।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥१४॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥१५॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥

अपने अर्घ्य में प्रयुक्त पात्र से ही जिसके सम्पूर्ण धन के व्यय हो जाने का अनुमान हो रहा था—ऐसे राजा रघु की उदारता से भरी हुई उक्त वाणी को सुन कर भी वरतन्तु के शिष्य कौत्स अपने कार्य की सिद्धि के प्रति निराश होकर इस प्रकार बोले—॥१२॥

हे राजन्! आप सभी जगह हम लोगों का कल्याण समझें क्योंकि आपके स्वामी होने पर प्रजा का अकल्याण कैसे हो सकता है। भला सूर्य के प्रकाशमान होने पर अन्धकार समूह द्वारा लोगों की दृष्टि को अवरुद्ध करने की कल्पना कैसे की जा सकती है? ॥१३॥

पूज्यजनों के प्रति भक्ति की भावना रखना तो आपके कुल की परम्परागत विशेषता है। हे परमभाग्यशालिन् महाराज! किन्तु आप तो अपनी भक्ति से अपने पूर्वजों को भी लाँघ गए हैं। किन्तु मुझे खेद है कि मैं उचित समय बीत जाने के बाद याचना के लिए यहाँ प्रस्तुत हुआ हूँ ॥१४॥

हे राजन्! सत्पात्रों में अपना सर्वस्व दान दे देने के अनन्तर आपके पास (अब) केवल शरीर मात्र शेष रह गया है, इससे आप वन में रहनेवाले मुनियों द्वारा बालों (फलों) के चुन लिए जाने पर शेष नीवार के खड़े हुए डंठल की तरह शोभा दे रहे हैं ॥१५॥

सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी विश्वजित् यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर आप अकिंचन बन गए हैं—यह उचित ही है। क्योंकि देवताओं द्वारा क्रम से अमृत पी लेने के कारण चन्द्रमा की कला का क्षय होना, उसकी वृद्धि से कहीं अधिक प्रशंसनीय होता है ॥१६॥

इसलिए अपने लिए कोई दूसरा कार्य न होने के कारण मैं अपने गुरु को दिए जाने वाले धन को अन्यत्र से प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। आपका कल्याण हो। चातक भी, जिसके भीतर से जल रिक्त हो गया है, ऐसे शरद ऋतु के मेघ से याचना नहीं करता ॥१७॥

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य।
किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥१८॥

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥१९॥

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥२०॥

निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥२१॥

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम्।
अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥२२॥

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥२३॥

इतनी बात कह कर अन्यत्र जाने के इच्छुक महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स को रोक कर रघु ने पूछा—'हे विद्वान्! आप अपने गुरु जी को कौन-सी वस्तु देना चाहते हैं और कितनी देना चाहते हैं' ॥१८॥

तब विधिपूर्वक यज्ञ सम्पन्न करनेवाले, अभिमान के आवेश से शून्य, चारों वर्णों एवं आश्रमों को अपने मार्गों पर चलानेवाले राजा रघु से उस विद्वान् ब्रह्मचारी ने इस प्रकार कहा—॥१९॥

चौदहों विद्याओं को सविधि समाप्त कर हमने गुरु दक्षिणा के लिए जब अपने गुरु महर्षि वरतन्तु से प्रार्थना की, तब उन्होंने बहुत दिनों तक नियम एवं निष्ठापूर्वक की गई मेरी सेवाओं को ही मुख्य दक्षिणा के समान समझा ॥२०॥

किन्तु बारम्बार दक्षिणा ग्रहण करने के लिए मेरे प्रार्थना करने पर हमारे गुरु को क्रोध आ गया और उन्होंने मेरी दरिद्रता का कोई विचार न करके मेरे द्वारा प्राप्त की गई चौदह विद्याओं के अनुसार—'मुझे चौदह करोड़ मुद्राएँ लाकर दो'—इस प्रकार की आज्ञा दी ॥२१॥

(इस प्रकार गुरु की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास आया था, किन्तु) आपके पूजन करने के पात्र से ही मैं यह समझ गया कि आपके पास केवल 'प्रभु' शब्द शेष है (धन-सम्पत्ति नहीं है) और यहाँ विद्या का मूल्य (गुरु-दक्षिणा में देने के लिए) अत्यधिक है। अतः मैं इस अवसर पर आपसे याचना करने का उत्साह नहीं कर रहा हूँ ॥२२॥

चन्द्रमा के समान कान्तिवाले तथा पाप-रहित चेष्टाओंवाले, जगत के एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् रघु ने, पूर्वोक्त प्रकार से वेदज्ञों में श्रेष्ठ ब्राह्मण कौत्स द्वारा निवेदन किए जाने पर पुनः इस प्रकार कहा—॥२३॥

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥२४॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥२५॥

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥२६॥

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥२७॥

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥२८॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥२९॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात्।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव शृङ्गं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥३०॥

शास्त्रों के पारगामी विद्वान् गुरु की दक्षिणा के याचक कौत्स रघु के समीप से विफल मनोरथ होकर दूसरे दाता के पास चले गए—इस प्रकार के अपवाद की नई चर्चा मेरे बारे में नहीं फैलनी चाहिए ॥२४॥

इसलिए आप सभी लोगों से पूजित मेरे इस सुप्रसिद्ध अग्निहोत्र-भवन में चतुर्थ अग्नि के समान निवास करते हुए दो-तीन दिनों तक ठहरने का कष्ट सहन कीजिए। सम्माननीय ! तब तक मैं आपका मनोरथ सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा ॥२५॥

यह बात सुन कर सुप्रसन्न ब्राह्मण कौत्स ने राजा रघु की कभी निष्फल न होने वाली प्रतिज्ञा को उसी रूप में स्वीकार कर लिया। उधर रघु ने भी यह देखकर कि पृथ्वी सारा धन दे चुकी है, कुबेर से धन लेने की कामना की ॥२६॥

महामुनि वसिष्ठ के मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित होने के प्रभाव के कारण रघु के रथ की गति समुद्र, आकाश और पर्वतों में भी उसी प्रकार कभी नहीं रुकती थी, जिस प्रकार से वायु की सहायता पाकर बादल की गति इन तीनों मार्गों पर भी बाधा रहित होती है ॥२७॥

(धरती के) सामान्य राजा के समान कुबेर को बलपूर्वक जीतने की इच्छा से प्रस्थान करनेवाले गम्भीर राजा रघु ने रात के आरम्भ होने पर ही अपने उस रथ में जा कर शयन किया, जिसमें उनके शस्त्रादि रखे जा चुके थे ॥२८॥

प्रातःकाल होने पर जब राजा (कुबेर पर अभियान करने के लिए) तैयार हुए तो उनके कोशागार पर नियुक्त अधिकारियों ने आश्चर्य में भर कर उनसे कहा कि—'कोशागार में आकाश से सुवर्ण की वृष्टि हुई है' ॥२९॥

जिस पर राजा रघु अभियान करने जा रहे थे—ऐसे कुबेर द्वारा प्राप्त चमकती हुई सुवर्ण की सम्पूर्ण राशि को, वज्र से खण्डित सुमेरु पर्वत के खण्ड के समान राजा रघु ने कौत्स को प्रदान कर दिया ॥३०॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥३२॥

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥३३॥

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥३४॥

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम्।
राजापि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥३५॥

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥३६॥

अयोध्या नगरी के निवासियों के लिए गुरु की अपेक्षित दक्षिणा से अधिक धन के प्रति निःस्पृह कौत्स एवं याचक की इच्छा से अधिक दान देने के अभ्यासी राजा रघु—ये दोनों ही अभिनन्दनीय हुए ॥३१॥

इसके बाद सुप्रसन्न-मन महर्षि कौत्स ने अपने गुरु के आश्रम की ओर प्रस्थान करते हुए, सैकड़ों ऊँटों तथा घोड़ियों द्वारा उक्त सुवर्ण राशि को यथास्थान पहुँचा देने का प्रबन्ध करनेवाले एवं विनय-भाव से शिर को झुकाए हुए राजा रघु का स्पर्श करते हुए यह कहा—॥३२॥

न्यायपूर्वक धन का उपार्जन, उसकी वृद्धि, रक्षा एवं सत्पात्र को दान—इन चार प्रकार की राज-वृत्तियों का पालन करनेवाले राजा को यदि धरती इच्छानुसार धन-सम्पदा दे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु आपका प्रभाव तो कल्पना से भी परे है, जो आपने अपनी अभिलषित वस्तु को स्वर्ग से दुह लिया ॥३३॥

सभी प्रकार के कल्याणों को प्राप्त करनेवाले आपके लिए पुत्र के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का आशीर्वाद देना पुनरुक्ति के समान (व्यर्थ) है। आपके पिता ने जैसे आपके समान प्रशंसनीय पुत्र प्राप्त किया है उसी प्रकार आप भी अपने जैसे गुणों से समन्वित पुत्र प्राप्त करें ॥३४॥

राजा रघु को इस प्रकार का आशीर्वाद देकर ब्राह्मण कौत्स अपने गुरु वरतन्तु के समीप चले गए। और थोड़े ही समय में राजा रघु को भी उनकी कृपा से उसी प्रकार पुत्र-लाभ हुआ, जैसे जीवधारी लोग सूर्य से प्रकाश प्राप्त करते हैं ॥३५॥

महाराज रघु की रानी ने ब्राह्ममुहूर्त में स्कन्दकुमार के समान राजकुमार को जन्म दिया, इसी कारण से पिता ने ब्रह्मा के नाम पर अपने उस आत्मज का नाम 'अज' रखा ॥३६॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥३७॥

उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥३८॥

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥३९॥

तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥४१॥

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥४२॥

उस बालक का अपने पिता के समान ही तेजस्वी रूप था, उसी प्रकार का उसका पराक्रम था और उसी प्रकार के स्वाभाविक गौरव से वह भी युक्त था। जिस प्रकार एक दीपक से जलाया गया दूसरा दीपक, पहले दीपक से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार वह पुत्र भी अपने जन्मदाता पिता से भिन्न नहीं था ॥३७॥

गुरुजनों द्वारा विधिपूर्वक समस्त विद्याएँ प्राप्त तथा युवावस्था के चिह्नों के प्रकट होने से विशेष सुन्दर दिखाई पड़ने वाले अज को चाहती हुई भी राजलक्ष्मी ने रघु की आज्ञा की आकांक्षा उसी प्रकार से की, जिस प्रकार से सुशीला कन्याएँ पिता की आज्ञा चाहती हैं ॥३८॥

इसके अनन्तर अपनी बहिन इन्दुमती के स्वयम्वर के निमित्त कुमार अज को बुलवाने के लिए उत्कण्ठित विदर्भ देश के राजा भोज ने अपने एक विश्वासपात्र दूत को महाराज रघु के समीप भेजा ॥३९॥

रघु ने राजा भोज को अपने सम्बन्ध के योग्य समझ कर तथा पुत्र की अवस्था को विवाह-योग्य समझ कर सेना के सहित अपने युवराज अज को समृद्धिशालिनी विदर्भ नरेश की राजधानी के लिए भेज दिया ॥४०॥

राजाओं के योग्य तम्बुओं में रहने और शयनादि की व्यवस्था तथा नगर के ढंग पर, नगर से लाई गई उपहार स्वरूप आरामदेने वाली सामग्रियों से युक्त राजकुमार अज के लिए मार्ग में निर्मित निवासस्थान, अपनी राजधानी के उद्यानों में बने हुए क्रीडा-स्थलों के समान ही थे ॥४१॥

मार्ग की मंजिल को पूरा करनेवाले युवराज अज ने, जल के कणों से शीतल वायु द्वारा हिलते हुए चिरविल्व (चिलबिल) के वृक्षों से सुशोभित नर्मदा के तट पर, धूल में धूसरित पताकाओंवाली अपनी सेना को ठहराया ॥४२॥

अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥४३॥

निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ [redacted] भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥४६॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्ददीपे मदवुर्दिनश्रीः ॥४७ ॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥४८॥

(नर्मदा के तट पर सेना के ठहराने के) अनन्तर एक ऐसा जगली हाथी (नर्मदा के) जल मे से बाहर निकला, जिसके जल मे डुबकी लगाने की पूर्व सूचना उसके ऊपर मंडराती हुई भ्रमरो की पक्तियो से मिल रही थी और मद के धुल जाने से जिसका गण्डस्थल स्वच्छ हो गया था ॥४३॥

(जल मे डूब कर स्नान करने के कारण) गेरु के बिल्कुल धुल जाने पर भी, पत्थर की शिलाओ पर टकराने के कारण विशेष रूप से कुण्ठित तथा नीले रग की ऊपर की ओर खिची रेखाओ से चितकबरे बने हुए उसके दोनो दांत यह बता रहे थे कि वह (नर्मदा तटवर्ती) ऋक्षवान् नामक पर्वत की शिलाओ से क्रीडा कर चुका है ॥४४॥

जोर से चिग्घाडते हुए (नर्मदा) के तट की ओर आते हुए अपने सूंड को शीघ्रता के साथ आगे-पीछे घुमाते और बडी-बडी लहरो को काटते हुए, वह (जगली गजराज) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो गजशाला की अर्गला (जजीर) को तोडने की चेष्टा कर रहा हो ॥४५॥

पर्वत के समान विशाल आकारवाला वह जगली गजराज, सेवार की मजरियो के समूहो को अपनी छाती से आगे की ओर खीचता हुआ तनिक पीछे से (नर्मदा के) तट पर पहुंचा, जब कि उससे टकराई हुई जलराशि से युक्त नदी का प्रवाह तट के ऊपर आकर उसके पहिले ही पहुँच गया ॥४६॥

उस एकाकी गजराज के गण्डस्थल से निरन्तर होनेवाली मद की वर्षा, जो कुछ देर के लिए जल मे स्नान करने के कारण शान्त हो गई थी (सेना के) पालतू हाथियो को देखकर पुन उद्दीप्त हो उठी ॥४७॥

सप्तपर्ण (छितवन) के दूध के समान कडवी सुगन्ध बिखरनेवाले उस जगली गजराज के मद की असह्य गन्ध को सूंघ कर (रघु की) सेना के हाथियो ने, अपने महावतो के रोकने के तीव्र प्रयत्नो को निष्फल कर दिया और मुंह फेर कर पीछे की ओर भागने लगे ॥४८॥

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार॥४९॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः॥५०॥

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे॥५१॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः॥५२॥

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य॥५३॥

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत्।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य॥५४॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम्॥५५॥

उस जंगली गजराज ने, अपने-अपने बन्धनों को तुड़ाकर भाग जाने के कारण बिना घोड़ों के, धुरों के टूट जाने से इधर उधर उलटे पड़े हुए रथों से, एवं स्त्रियों की रक्षा के लिए घबराए हुए योद्धाओं से युक्त उस शिविर को कोलाहल से भर दिया ॥४९॥

जंगली हाथी राजा के लिए अवध्य होता है—यह बात कुमार अज को शास्त्रों द्वारा ज्ञात थी, अतः उन्होंने उस आगे बढ़ते हुए गजराज को रोकने की इच्छा से, अपने धनुष को थोड़ा ही खींच कर एक बाण से उसके मस्तक पर आघात किया ॥५०॥

फिर तो उस बाण के लगते ही उस जंगली गजराज ने अपना हाथी का रूप छोड़ दिया और इस प्रकार विस्मय में पड़ी हुई सेना के देखते ही देखते, जगमगाते हुए प्रकाश के बीच गगनचारी गन्धर्व का मनोहर रूप धारण कर लिया ॥५१॥

इसके अनन्तर अपने प्रभाव से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की, युवराज अज के ऊपर वर्षा करके अपने श्वेत दाँतों की कान्ति से वक्षःस्थल पर लटकती हुई विशुद्ध बड़े बड़े मोतियों की मालाओं की कान्ति को बढ़ाते हुए, बोलने में निपुण उस गन्धर्व ने कहा—॥५२॥

अपने गर्व के कारण मतङ्ग ऋषि के शाप से गज योनि को प्राप्त करनेवाले मुझको आप गन्धर्वपति प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद जानें ॥५३॥

(गज-योनि प्राप्त करने का) शाप देने के अनन्तर उनके चरणों पर गिर कर मैंने उनसे जब विनीत प्रार्थना की तो महर्षि पीछे मुझ पर दयालु हो गए। (क्यों न होते) गर्मी तो अग्नि और धूप के सम्पर्क से पैदा होती है, शीतलता तो जल का स्वभाव ही है ॥५४॥

इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न 'अज' नामक राजकुमार जब तुम्हारे गण्डस्थल को अपने लोहे के बने हुए बाण द्वारा बेधेंगे, तब तुम अपने शरीर-सम्बन्धी पूर्व गौरव से फिर युक्त हो जाओगे—ऐसा उन तपोनिधि महर्षि मतङ्ग ने मुझसे (उसी समय) कहा था ॥५५॥

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥

संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम्।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम्।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५८॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥५९॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥६०॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥६१॥

बहुत दिनों से मैं आपके दर्शनों की प्रार्थना कर रहा था। आप जैसे बलवान् ने मुझे उस शाप से मुक्त कर दिया है। अतः ऐसी स्थिति में यदि मैं अपने उपकार के बदले में आपका कोई उपकार नहीं करूँगा तो मेरे लिए अपना स्थान प्राप्त करना ही व्यर्थ हो जायगा ॥५६॥

हे प्राणवत्प्रिय मित्र अज ! आप सम्मोहन नामक मेरे गान्धर्व अस्त्र को ग्रहण करें, जिसके प्रयोग और वापस लेने के लिए पृथक्-पृथक् मंत्र हैं। इस अस्त्र द्वारा इसके प्रयोक्ता को शत्रु की हिंसा नहीं करनी पड़ती और विजय की प्राप्ति हो जाती है ॥५७॥

(मेरे ऊपर बाण प्रहार करने के कारण) आप लज्जित न हों, क्योंकि मुझ पर प्रहार करते हुए भी आप क्षण भर के लिए दयालु बन गए थे। इसलिए जब मैं आपसे स्वयं प्रार्थना कर रहा हूँ तब आपको अस्वीकृति के रूप में कठोरता नहीं दिखानी चाहिए ॥५८॥

मनुष्यों में चन्द्रमा के समान अस्त्रों को जाननेवाले युवराज अज ने—'जैसा आप कह रहे हैं, वैसा ही करूँगा'—यह कह कर चन्द्रमा से उत्पन्न पुण्य-सलिला नर्मदा के जल का आचमन किया और उत्तर दिशा की ओर मुख कर शाप-मुक्त प्रियंवद से उक्त गान्धर्व अस्त्र के मंत्र को ग्रहण किया ॥५९॥

इस प्रकार मध्य मार्ग में बिना किसी पूर्व निश्चित कारण के दैवयोग से मित्र बने हुए उन दोनों में एक (गन्धर्व) तो चैत्ररथ प्रदेश को चला गया और दूसरा (अज) सुन्दर-सुव्यवस्थित शासन के फलस्वरूप रमणीय विदर्भ देश की ओर गया ॥६०॥

अज के आगमन का समाचार सुन कर विदर्भ-नरेश के हृदय में अत्यन्त हर्ष हुआ और वे नगर के समीप में अवस्थित अज से मिलने के लिए उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे ऊँची लहरों से युक्त समुद्र चन्द्रमा से मिलने के लिए आगे बढ़ता है ॥६१॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम्॥६२॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास॥६३॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव॥६४॥

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम्।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः॥६५॥

रात्रिर्गता मतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी॥६६॥

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥६७॥

युवराज अज के आगे-आगे चलते हुए विदर्भ नरेश भोज ने अपने नगर में प्रवेश करके विनम्रता के साथ अपना सम्पूर्ण वैभव अज को समर्पित कर दिया और उनकी सेवा इस प्रकार से की कि वहाँ पर उपस्थित लोगों ने राजा भोज को अतिथि और अज को घर का स्वामी समझा॥६२॥

महाराज रघु के प्रतिनिधि अज ने, राजा भोज के नमस्कार करते हुए अधिकारियों द्वारा बताए गए नूतन तबुओं वाले मनोहर राजसी निवास स्थान में, जिसके प्रवेश द्वार के सामने की वेदी पर भरे हुए मंगल कलश रखे थे, इस प्रकार से निवास किया, जैसे किशोरावस्था के बाद आनेवाली युवावस्था में कामदेव का निवास होता है॥६३॥

उस पद निर्मित राज-मण्डप में, जिसके स्वयम्वर के लिए राजा लोग एकत्र हुए थे, उस परम सुन्दरी कन्याओं में श्रेष्ठ इन्दुमती को प्राप्त करने के अभिलाषी अज को, पुरुष के अभिप्राय को समझने में असमर्थ मुग्धा नवोढा नायिका की भांति निद्रा बहुत देर में नयनाभिमुखी हुई॥६४॥

प्रातःकाल होने पर, दोनों कानों के आभूषणों से जिनके मोटे-मोटे दानों कन्धे दब गए हैं शय्या में ऊपर बिछाई गई चद्दर की रगड़ से जिसके अंगों में लगे हुए अंगराग मिट गए हैं तथा जो उत्तम ज्ञान से सुशोभित हैं, उन अज को, उनके समवयस्क उदार वाणी वाले सूत पुत्रों ने (आगे वर्णित) स्तुति पाठ के द्वारा जगाया॥६५॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! अब रात बीत चुकी है। आप शय्या त्याग करें। ब्रह्मा ने संसार के भार को दो भागों में बाँटा है, जिनमें से एक को आपके पिता ने नींद का त्याग कर उठा लिया है, अब दूसरे भार को आप भी उठ कर संभालने की कृपा करें॥६६॥

रात्रि में नींद के कारण आप अपने प्रति जिसकी उत्सुकता को नहीं देख सके हैं, वह लक्ष्मी, खण्डिता नायिका के समान जिस चन्द्रमा के साथ अपना मन बहलाव कर रही थी, वह चन्द्रमा भी पश्चिम दिशा का आश्रय लेकर तुम्हारे मुख की कान्ति के समान कान्ति को त्याग रहा है अर्थात अस्त हो रहा है। (अतः निराश्रित लक्ष्मी को ग्रहण करें)॥६७॥

## षष्ठः सर्गः

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्॥१॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्॥२॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह॥३॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥४॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव॥५॥

## छठवाँ सर्ग

कुमार अज ने स्वयवर-स्थल पर राजकीय प्रसाधनों से सुसज्जित मचों पर रखे हुए सिंहासनों पर सुन्दर वेश-भूषा में बैठे हुए, विमान पर बैठे हुए देवताओं का अनुकरण करनेवाले राजाओं को देखा॥१॥

रति की प्रार्थना को स्वीकार कर शिवजी द्वारा जिसे अपना पूर्व शरीर वापस मिल गया है—ऐसे कामदेव के समान सुन्दर, काकुत्स्थ उपाधि से विभूषित राजकुमार अज को देखनेवाले राजाओं का मन इन्दुमती के विषय में निराश हो गया॥२॥

राजकुमार अज, विदर्भ-नरेश भोज द्वारा दिखाई गई सुन्दर सीढ़ियों के रास्ते से अपने लिए निर्दिष्ट मच पर उसी प्रकार पहुँचे, जिस प्रकार मृगराज का शिशु चट्टानों के मार्ग द्वारा ऊँचे पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है॥३॥

(उस समय) बहुमूल्य रंगीन चादरों से आच्छादित रत्न-जटित आसन पर विराजमान कुमार अज की शोभा की तुलना मयूर की पीठ पर बैठे हुए कुमार कार्तिकेय के साथ अच्छी तरह से की जा सकती थी॥४॥

(स्वयवर में उपस्थित) उन राजाओं की पंक्तियों में लक्ष्मी (शोभा) ने विशेष प्रभा उत्पन्न होने के कारण कठिनाई से दिखाई पड़ने वाले अपने स्वरूप को उसी प्रकार से प्रकट किया जिस प्रकार से बादलों की पंक्तियों में हजारों खण्डों में बिखरी हुई बिजली अपना रूप दिखाती है॥५॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः॥६॥
नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः॥७॥
अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके।
संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः॥८॥
पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥९॥
मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥१०॥
तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु॥११॥
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥१२॥

बहुमूल्य आसनों पर बैठे हुए तथा सुन्दर-श्रेष्ठ आभूषणों को धारण किए हुए स्वयंवर में उपस्थित उन राजाओं के बीच में रघु के पुत्र अज अपने अप्रतिम तेज से उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार से कल्प-वृक्षों के मध्य में पारिजात ॥६॥

नगर-निवासियों के नेत्र-समूह सभी राजाओं को छोड़कर अज पर ही इस प्रकार से केन्द्रित हो गए जिस प्रकार से भ्रमरों की पंक्तियाँ फूले हुए वृक्षों को छोड़ कर उस जंगली हाथी के गण्डस्थल पर जाकर बैठ जाती हैं, जिससे तीव्र मद-स्राव होता रहता है ॥७॥

इसके अनन्तर राजाओं की वंश-परम्परा की जानकारी रखनेवाले बन्दीजनों द्वारा सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी राजाओं की स्तुति की जाने पर, अगुरु (अगर) के सार से बनी हुई धूप की सुगन्धि फैल जाने पर, ऊपर पताकाओं के फहराने पर, नगर के समीपवर्ती उपवनों में रहनेवाले मयूरों को (मस्त बनाकर) उन्मुक्त भाव से नचाने वाली शंखध्वनि के किए जाने पर, चतुर्दिक मांगलिक-वाद्य तुरही आदि बजने लगे, जिनकी आवाज दिगन्तों तक फैल गई। ठीक इसी अवसर पर पति का स्वयं वरण करनेवाली, विवाह के योग्य वस्त्रों तथा आभूषणों से विभूषित कुमारी इन्दुमती ने अपनी परिचारिकाओं से सुशोभित कहारों द्वारा उठाकर लाई गई पालकी में बैठकर, सभी मंचों के मध्य में बनी हुई मुख्य सड़क पर प्रवेश किया ॥८–१०॥

सैकड़ों नेत्रों का लक्ष्यबिन्दु बनी हुई कन्या के रूप में उपस्थित विधाता की उस विशिष्ट रचना (इन्दुमती) पर, वहाँ पर उपस्थित राजा लोग अन्तःकरण से रीझ उठे और अपने आसनों पर शरीर मात्र बैठे रहे ॥११॥

इन्दुमती के प्रति अपनी स्पष्ट अभिलाषा रखनेवाले उन राजाओं में, प्रेम की अग्रदूती के समान अनेक प्रकार की शृंगारिक चेष्टाएँ, वृक्षों में नूतन पल्लवों की शोभा के समान होने लगीं ॥१२॥

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तः परिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥१३॥

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥१४॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥१५॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥१६॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥१७॥

किसी राजा ने अपने हाथों में लीला कमल की नाल पकड़कर, उसकी चंचल पंखुड़ियों से भ्रमरों को भगाया और भीतर में परागों के मण्डल से बंधे हुए उस लीला-कमल को घुमाया। (अपने हाथ में स्थित इस लीला कमल के समान तुम्हारे साथ मैं भ्रमण करूँगा—यह उस राजा का अभिप्राय था, किन्तु इन्दुमती ने समझा कि हाथ को घुमानेवाला यह राजा कुलक्षणी है।) ॥१३॥

दूसरे विलासी राजा ने अपने कंधे से नीचे की ओर सरकी हुई तथा रत्नजटित बिजायठ की छोर में अँटकी हुई माला को, अपने मुख को थोड़ा तिरछा करते हुए यथास्थान रखा। (मैं इसी माला के समान तुम्हारा आलिंगन करूँगा—यह राजा का अभिप्राय था, किन्तु इन्दुमती ने समझा कि इस राजा का कोई अंग दूषित है, जिसे यह इसी बहाने से छिपा रहा है।) ॥१४॥

उसके अतिरिक्त एक दूसरे राजा ने अपनी आँखें तिरछी करके (कटाक्ष से) उसे देखा और अपने पैर की अँगुलियों के अग्र भाग को टेढ़ा करके, जिससे कि उसके नखों की छटा तिरछी होकर निकलने लगी, सुवर्ण की बनी हुई पैर रखने की चौकी को कुरेदने लगा। (इस संकेत से वह इन्दुमती को अपने समीप बुला रहा था, किन्तु इन्दुमती ने समझा कि धरती को कुरेदना अमांगलिक है।) ॥१५॥

किसी अन्य राजा ने अपने बाएँ हाथ को अपने आधे आसन पर रख दिया, जिससे उसका बायाँ कन्धा कुछ ऊँचा हो गया और उसका हार (वक्षस्थल से) अलग होकर उसकी पीठ पर पहुँच गया—और (ऐसी मुद्रा में ही) वह अपने बाईं ओर स्थित अपने मित्र से कुछ बातें करने लगा। (राजा का अभिप्राय था कि इसी प्रकार तुझे भी मैं अपने बाईं ओर बैठा कर प्यार की बातें करूँगा, किन्तु इन्दुमती ने समझा कि दूसरों के सामने मुख फेर कर बातें करनेवाला यह राजा अपने कर्त्तव्यों पर अडिग रहनेवाला नहीं है।) ॥१६॥

एक युवक राजा ने विलासिनियों के विलासार्थ निर्मित दन्तपत्र (कान का एक आभूषण) के समान श्वेत वर्ण के केतकी के पुष्प की पंखुड़ियों को, अपनी प्रिया के नितम्ब को विभूषित करने के अभ्यस्त नखाग्रों से फाड़ डाला। (इसी प्रकार मैं सुरतिकाल में तुम्हारे भी नितम्बों को अपने नखाग्रों से चिह्नित करूँगा—यह राजा का अभिप्राय था, किन्तु इन्दुमती ने समझा कि तृण-छेदन की अशुभ प्रकृति से यह राजा ग्रस्त है।) ॥१७॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥१८॥
कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥१९॥
ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥२०॥
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥२१॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥२३॥

कोई अन्य राजा लाल कमल के समान रक्त वर्ण की हथेली एवं ध्वजा के चिह्नों से युक्त रेखाओं वाले अपने हाथ से, अपनी रत्नजटित अंगूठी की कान्ति से युक्त पासों को उछाल रहा था। (मैं तुम्हारे साथ इसी प्रकार रति-क्रीडा करूंगा—यह उस राजा का अभिप्राय था, किन्तु इन्दुमती की राय में वह राजा जुआरी था।) ॥१८॥

कोई राजा उचित स्थान पर अवस्थित होते हुए भी, इधर-उधर सरके हुए के समान अपने मुकुट पर अपना हाथ लगाए हुए था, जिससे उसके हाथ की अंगुलियों का छिद्र भाग मुकुट के हीरे की किरणों से व्याप्त हो गया था। (मस्तक पर रहने पर भी तुम्हें अपने मुकुट के समान मैं भार नहीं मानूंगा—यह राजा का अभिप्राय था, और इन्दुमती यह समझ रही थी कि अपने मस्तक पर हाथ रखने वाला यह कुलक्षणी राजा है) ॥१९॥

इसके अनन्तर प्रत्येक राजा के आचरण एवं वंश-परम्परा की जानकारी रखने वाली पुरुषोचित धृष्ट सुनन्दा नाम की द्वारपालिका ने इन्दुमती को सर्वप्रथम मगध-नरेश के समीप ले जाकर उससे कहा—॥२०॥

यह राजा अपने शरणागतों के रक्षक है। अपार बलशाली हैं तथा मगध देश की प्रतिष्ठा हैं। यह अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने में विचक्षण तथा शत्रुओं को सन्तप्त करने से यथार्थ नाम वाले 'परन्तप' नामक राजा हैं॥२१॥

दूसरे हजारों राजा इस धरती पर हैं, किन्तु पृथ्वी तो इनसे ही राजायुक्त कही जाती है। क्योंकि नक्षत्रों, ताराओं तथा ग्रहों से युक्त होने पर भी रात चन्द्रमा के कारण ही ज्योतिष्मती कहलाती है॥२२॥

इन राजा परन्तप ने निरन्तर यज्ञ करके सहस्र नेत्रों वाले इन्द्र का नित्य आवाहन किया है और इस प्रकार इन्द्राणी के (पति-विरह के कारण) पाण्डु रंगवाले कपोलों पर बिखरी हुई अलकों को, चिरकाल तक पारिजात के पुष्पों से रहित बनाया है॥२३॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥२४॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥२५॥
तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥२६॥
जगाद चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥२७॥
अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥२८॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥२९॥

यदि तुम चाहती हो कि वरण करने योग्य इस राजा (परन्तप) से तुम्हारा पाणिग्रहण हो तो तुम अपने प्रवेश (वधू-प्रवेश) के समय ऊँचे-ऊँचे महलों की खिडकियों पर बैठी हुई पाटलिपुत्र की स्त्रियों के लिए उत्सव-स्वरूप बनो ॥२४॥

सुनन्दा के ऐसा कहने पर दूर्वायुक्त महुए की बनी हुई माला को कुछ नीचे की ओर गिराती हुई कृशाङ्गी इन्दुमती बिना कुछ बोले ही (उक्त राजा को) सरल आदर (भावशून्य) के साथ प्रणाम करके आगे बढ गई ॥२५॥

[illegible]

के) समीप ले गई ॥२६॥

उसने इन्दुमती से कहा—इस अगदेश के राजा के मनोहर यौवन की शोभा की कामना देवागनाएँ भी करती है। इसके राज्य मे गज शास्त्र की रचना करने वाले विशेष हाथियों को शिक्षित करते हैं। पृथ्वी पर रहते हुए भी यह राजा वास्तव मे इन्द्र के पद का आनन्द भोगता है ॥२७॥

शत्रुओं की स्त्रियों के स्तनों पर मोती के समान बडी-बडी आसुओं के बूदों को फैलाते हुए इस (अग देश के) राजा ने मानो उनके (मोतियों के) हारों को छीनकर भी उन्हे बिना धागे के हार पहना दिये है ॥२८॥

स्वभाव से ही भिन्न भिन्न स्थानों मे रहने वाली लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही इस (अग देश के) राजा मे एक साथ निवास करती हैं (अर्थात् यह राजा ऐश्वर्यशाली होने के साथ ही परम विद्वान् भी है।) हे कल्याणी! अपनी शोभा एवं मधुरवाणी के कारण तुम उन दोनों के मध्य मे तीसरी बनने के सर्वथा योग्य हो ॥२९॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥३०॥
ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥३१॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥३२॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥३३॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्॥३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥३५॥
तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्॥३६॥

तदनन्तर अंगदेश के राजा पर से अपनी आँखे हटाकर राजकुमारी इन्दुमती ने अपनी माता की सहेली सुनन्दा से (यहाँ से) 'चलो'—ऐसा कहा। वह राजा सुन्दर नहीं था—ऐसी बात नहीं थी, और न यही बात थी कि इन्दुमती को भले-बुरे की पहचान नहीं थी। अपितु बात वास्तव में यह थी कि—लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं॥३०॥

इसके बाद प्रतिहारिणी सुनन्दा ने इन्दुमती को शत्रुओं से असहनीय, नूतन यौवनावस्था से सुशोभित, नये उदित हुए चन्द्रमा के समान विशेषरूप से दर्शनीय एक अन्य राजा को दिखलाया॥३१॥

(उसने कहा—)लंबी बाहु, विशाल वक्षस्थल तथा पतली कमरवाला यह राजा अवन्ति देश का स्वामी है। विश्वकर्मा द्वारा अपनी शान पर चढ़ाकर यत्नपूर्वक खरादे हुए सूर्य की भाँति यह शोभायमान है॥३२॥

प्रभु शक्ति, मंत्र शक्ति तथा उत्साह शक्ति—इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न इस राजा की दिग्विजय यात्रा में आगे चलने वाले अश्वों की खुरों से उड़ी हुई धूल सामन्त राजाओं के मुकुटमणियों की प्रभा के अँकुरों को अपने भीतर छिपा लेती है॥३३॥

महाकाल के मन्दिर (उज्जयिनी) के समीप निवासी तथा चन्द्रमा को शिर पर धारण करने वाले शंकरजी का समीपवर्ती यह अवन्तीपति कृष्णपक्ष में भी अपनी प्रियाओं के साथ चाँदनी युक्त रात्रियों का अनुभव करता है॥३४॥

हे केले के स्तम्भ के समान जंघावाली इन्दुमती! क्या इस युवक राजा के साथ सिप्रानदी की तरंगों को छूकर बहने वाली हवा से झूमते हुए एक से एक फैले हुए उद्यानों में विहार करने की तुम्हारी अभिलाषा है?॥३५॥

उच्च कोटि की सुकुमारता से सुशोभित, खिली हुई कुमुदिनी के समान इन्दुमती ने मित्ररूपी कमलों को खिलाने वाले तथा अपने प्रताप से शत्रु-रूपी कीचड़ को सुखाने वाले सूर्य के समान उस राजा के प्रति अपनी कोई अभिरुचि नहीं दिखलाई॥३६॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥३७॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥३८॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥३९॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥४०॥

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥४१॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥४२॥

तदनन्तर सुनन्दा ने कमलपत्र के भीतरी भाग के समान कान्तिवाली, समस्त गुणों से विभूषित, विधाता की अनुपम रचना, सुन्दर दांतों वाली उस इन्दुमती को अनूप नरेश के सामने ले जाकर पुनः यह कहा—॥३७॥

युद्ध-स्थल में जिसके सम्बन्ध में यह अनुभव किया जाता रहा कि इसके सहस्रों हाथ हैं, अठारहों द्वीपों में जिसने अपने यज्ञस्तम्भ स्थापित किए थे तथा जो दूसरों के लिए अप्रयुक्त राजा की उपाधि से विभूषित था—ऐसा एक योगी (ब्रह्मज्ञानी) कार्त्तवीर्य नामक राजा था ॥३८॥

... बात सोचने के साथ ही सोचने वाले के
प्रकार वह अपनी प्रजा के मन में भी
रनेवाला प्रशासक था ॥३९॥

धनुष की प्रत्यञ्चा के बन्धन से निश्चेष्ट भुजाओंवाला, ग्लानि और क्लेश से गहरे निःश्वासों से युक्त दस मुखोंवाला तथा देवेन्द्र-विजयी रावण उस राजा कार्त्तवीर्य के कारागार में तब तक बन्दी के रूप में पड़ा था, जब तक वह राजा प्रसन्न नहीं हुआ ॥४०॥

शास्त्रों तथा वृद्धजनों की सेवा में तत्पर प्रतीप नामक यह राजा उसी राजा कार्त्तवीर्य के वंश में उत्पन्न हुआ है। आश्रयजनित दोष से प्रचलित लक्ष्मी के इस अपयश को कि वह चंचला है, इस राजा ने दूर कर दिया है ॥४१॥

युद्ध में अग्नि की सहायता का वरदान प्राप्त कर यह राजा प्रतीप क्षत्रियों के लिए कालरात्रि के समान भयंकर परशुराम के फरसे की तीक्ष्ण धारा को, कमल की पंखुड़ियों जैसी सामर्थ्यवाली समझता है ॥४२॥

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥४३॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः॥४४॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी॥४५॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः॥४६॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव संनिविष्टा।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु॥४७॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥४८॥

यदि तुम्हारे मन में (इस राजा की राजधानी) माहिष्मती नामक नगरी के तटरूपी नितम्ब की करधनी के समान, जल की स्वच्छ धारा से मनोहर रेवा (नर्मदा) नदी को, इसके राजभवनों की जालीदार खिड़कियों से देखने की इच्छा हो तो इस लम्बी भुजाओं वाले राजा की गोद की शोभा बन जाओ॥४३॥

देखने में अत्यन्त सुन्दर होने पर भी वह राजा इन्दुमती को वैसे ही अच्छा नहीं लगा जैसे कमलिनी को, शरत्-ऋतु द्वारा मेघों के आवरण नष्ट कर दिए जाने पर भी चन्द्रमा अच्छा नहीं लगता॥४४॥

अन्तःपुर की रक्षा में नियुक्त सुनन्दा ने स्वर्गादि अन्य लोकों में जिसकी कीर्ति का गायन होता था और जो अपने शुद्ध आचरण के द्वारा माता और पिता दोनों के ही कुलों के दीपक के समान था, उस शूरसेन देश के राजा सुषेण को दिखाकर कहा—॥४५॥

विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान में परायण यह राजा नीप के वंशज हैं। इनके आश्रय में आकर (क्षमा, वीरता, दया, ज्ञानादि) गुणों में उसी प्रकार पारस्परिक विरोध नहीं रह गया है जिस प्रकार से शांत मुनियों के आश्रम में (सिंह-मृग, गो-व्याघ्र आदि) जंगली पशु अपना स्वाभाविक विरोध त्याग देते हैं॥४६॥

नेत्रों को मनोहर लगने वाले इस राजा की शोभा अपने भवन में तो चन्द्रमा की किरणों के समान प्रवेश करती है, किन्तु छज्जों पर जमे हुए घास के अंकुरों वाले शत्रुओं के महलों में इसका तेज असह्य हो उठता है॥४७॥

जलक्रीडा के समय इस राजा के अन्तःपुर की स्त्रियों के स्तनों पर लगे हुए चन्दनादि के धुल जाने के कारण, मथुरा नगर में होते हुए भी सूर्य-कन्या यमुना ऐसी जान पड़ती है, मानो उसमें गंगा की लहरों का जल मिल गया है॥४८॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥४९॥
संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि! यौवनश्रीः ॥५०॥
अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥५१॥
नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥५२॥
अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥५३॥
असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥५४॥
ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥५५॥

गरुड से भयभीत यमुना में अपना निवास स्थान बनाने वाले कालियनाग द्वारा प्रदत्त समस्त वक्षस्थल को अपनी चमक से जगमगाने वाले मणि को धारण किए हुए यह राजा सुषेण मानो कौस्तुभमणिधारी भगवान श्रीकृष्ण को भी लज्जित करता है ॥४९॥

हे सुन्दरी! इस युवक राजा को अपने स्वामी के रूप में स्वीकार कर, कोमल पल्लवों पर लगाई गई पुष्पों की शैय्या से सुशोभित कुबेरोद्यान चैत्ररथ के समान मनोहर उस वृन्दावन में तुम अपने यौवन के फल का सुन्दर उपभोग करना ॥५०॥

और वर्षाऋतु में मनोहर गोवर्धन पर्वत की गुफाओं में, जल की शीतल बूंदों से सिंचित तथा शिलाजीत की गंध से आमोदित चट्टानों पर बैठकर तुम मयूरों का नृत्य देखना ॥५१॥

जल की भँवर के समान सुन्दर नाभिवाली तथा निकट भविष्य में दूसरे की वधू बनने वाली राजकुमारी इन्दुमती उस राजा को भी त्यागकर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जिस प्रकार समुद्रतक जाने वाली नदी मार्ग में आए हुए पर्वतों को त्यागकर आगे बढ़ जाती है ॥५२॥

इसके अनन्तर परिचारिका सुनन्दा ने केयूर से सुशोभित भुजाओं वाले तथा शत्रु के पक्ष को पीड़ित करने वाले हेमांगद नामक कलिंग देश के राजा के समीप उपस्थित, पूर्ण चन्द्रमा के समान मनोहर मुखवाली राजकुमारी इन्दुमती से इस प्रकार कहा—॥५३॥

महेन्द्र पर्वत के समान शक्तिवाला यह हेमांगद नामक राजा महेन्द्र पर्वत तथा महासमुद्र का स्वामी है। इसकी (दिग्विजय) यात्राओं में सेना के उन हाथियों के बहाने, जिनके गण्डस्थल से मद चूता रहता है, मानो स्वयं महेन्द्रपर्वत ही आगे-आगे चलता है ॥५४॥

सुन्दर भुजाओं वाला यह राजा धनुर्धारियों में अग्रणी है और इसकी दोनों भुजाओं में बन्दनी बनाई गई शत्रुओं की राजलक्ष्मियों के अंजनयुक्त आंसुओं से सिक्त दो रेखाओं के समान प्रत्यञ्चा के आघात से उत्पन्न दो चिह्न बने हुए हैं ॥५५॥

यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥५६॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥५७॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥४८॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥५९॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥६०॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥६१॥

अपने राजभवन मे सोये हुए इस (हेमागद नामक) राजा को, समीप मे अवस्थित वह समुद्र जगाता है, जो अपने गम्भीर घोष से समय की सूचना देने वाली तुरही की आवाज को वन्द कर देता है और जिसकी लहरें इसके राजभवन की खिडकियो से दिखाई पडती हैं ॥५६॥

ताल के वनो से 'मरमर' की आवाज करने वाले उन समुद्र के तटो पर तुम इसके साथ विहार करना, जहाँ दूसरे-दूसरे द्वीपो से लवग के पुष्पो को लाने वाली हवा तुम्हारे पसीने की बूंदों को सुखा देगी ॥५७॥

रूप से लोभनीय वह भोजराज की छोटी वहिन इन्दुमती, सुनन्दा द्वारा बहुत लुभाए जाने पर नीति अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा दूर खीची गई लक्ष्मी के समान, प्रतिकूल भाग्य वाले उस हेमागद नामक राजा के समीप से दूर हट गई ॥५८॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा ने देवता के समान मनोहर रूपवाले, उरग नामक नगर के स्वामी के समीप जाकर पूर्वोक्त भोजराज की भगिनी इन्दुमती से--हे चकोर के समान नेत्रों वाली ! इधर देखो--यह कहा ॥५९॥

कधो पर लटकते हुए हार को धारण किए हुए तथा हरिचन्दन का अगराग लगाए हुए यह पाण्ड्य देश का राजा, प्रात काल की धूप से रक्तवर्ण के शिखर से सुशोभित तथा झरनों से जल बहाते हुए हिमालय के समान शोभा पा रहा है ॥६०॥

महान् विन्ध्य गिरि को रोकने वाले तथा समुद्र को सम्पूर्ण रूप से पीकर पुन निगल देने वाले महर्षि अगस्त्य, सुप्रसन्न होकर अश्वमेध यज्ञ की सफल समाप्ति पर आयोजित अवभृथ स्नान से गीले शरीर वाले इस राजा के सौस्नातिक (यज्ञान्त के अवसर पर सुखपूर्वक स्नान के पूछने वाले) बनते है ॥६१॥

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥६२॥
अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥६३॥
ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥६४॥
इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥६५॥
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥६६॥
संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥६८॥

बहुत पुरानी बात है कि जनस्थान के विनाश की आशङ्का से उद्धत लङ्कापति रावण ने, शिवजी द्वारा दुर्लभ ब्रह्मशिर नामक अस्त्र के प्राप्तकर्ता इस पाण्ड्य नरेश से सन्धि करने के अनन्तर ही इन्द्रलोक के विजय का प्रस्थान किया था ॥६२॥

महान् कुलीन वंश में उत्पन्न इस पाण्ड्य देश के राजा के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण कर के तुम विशाल पृथ्वी के समान रत्नों से युक्त समुद्र-रूपी मेखला से अलङ्कृत दक्षिण दिशा की सपत्नी बन जाओ ॥६३॥

ताम्बूल की लताओं से घिरे हुए वृक्षों से सुशोभित तथा छोटी इलायची की लताओं से वेष्टित चन्दन के वृक्षों से युक्त उस मलयाचल की भूमि में तुम निरन्तर विहार करने के लिये प्रसन्न हो जाओ, जहाँ तमाल के पत्तों की शैय्या बनी रहती है ॥६४॥

यह राजा नीले कमल के समान श्यामवर्ण का है, और तुम गोरोचन के समान गौरवर्ण की तथा कृशाङ्गिनी हो अतः तुम दोनों का यह (विवाह) सम्बन्ध बिजली तथा मेघ के समान एक दूसरे की शोभा को बढ़ाने वाला हो ॥६५॥

विदर्भ देश के राजा की बहिन इन्दुमती ने अपनी परिचारिका सुनन्दा के इस उपदेश के लिए अपने मन के भीतर उसी प्रकार कोई स्थान नहीं दिया, जिस प्रकार सूर्य के न दिखाई देने पर बँधे हुए कोष वाले (मुकुलित) कमल में चन्द्रमा की किरणों को स्थान नहीं मिलता ॥६६॥

पति को स्वयं वरण करने वाली इन्दुमती, रात्रि में चलती हुई दीपक की लौ के समान जिस-जिस राजा को (पीछे) छोड़कर आगे बढ़ती गई, वह-वह राजा राजमार्ग (सड़क) की अट्टालिका के समान उदास होता गया ॥६७॥

राजकुमारी इन्दुमती के अपने सम्मुख उपस्थित होने पर रघु के पुत्र अज के मन में यह व्याकुलता छा गई कि 'यह मुझे वरण करेगी या नहीं वरण करेगी।' (किन्तु फिर) उनकी दाहिनी भुजा ने बिजायठ बाँधने के स्थान पर फड़क कर उनका सन्देह दूर कर दिया ॥६८॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली॥६९॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा॥७०॥
इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः॥७१॥
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः॥७२॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ॥७३॥
*जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः।*
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः॥७४॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥७५॥

सम्पूर्ण शरीरावयवों से अभिनन्दनीय उस कुमार अज को पाकर, राजकुमारी इन्दुमती अब अन्य राजाओं के पास जाने से रुक गई। (क्योंकि) खिले हुए आम के समीप पहुँच कर भ्रमर की पंक्ति किसी दूसरे वृक्ष की कामना नहीं करती॥६९॥

बातचीत के पूर्वापर प्रसंग को समझने वाली सुनन्दा ने चन्द्रमा के समान मोहक कान्ति वाली इन्दुमती को अज में अपना चित्त रमाए हुए देखकर विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥७०॥

(पूर्वकाल में) इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न, राजाओं में श्रेष्ठ, प्रख्यात गुणों वाले 'ककुत्स्थ' नाम के एक राजा हो गए हैं। इसी कारण से उत्तर कोशल के महत्त्वाकांक्षी नृपतिगण इस 'काकुत्स्थ' शब्द को पदवी के रूप में धारण करते आ रहे हैं॥७१॥

युद्धभूमि में वृषभ-रूपधारी इन्द्र पर सवार होकर शिवजी का स्वांग करते हुए उस ककुत्स्थ राजा ने अपने बाणों से असुरपत्नियों के कपोलों को चित्रित चिह्नों से शून्य कर दिया था॥७२॥

ऐरावत नामक गजराज को हाँकने के कारण नीचे खिसके हुए इन्द्र के बिजायठ से अपने बिजायठ को टकराते हुए (अर्थात् ऐरावत पर इन्द्र के साथ बैठ हुए) वे राजा ककुत्स्थ अपने ही श्रेष्ठ स्वरूप को प्राप्त करने वाले इन्द्र के आधे आसन पर बैठते थे॥७३॥

उसी ककुत्स्थ राजा के कुल में महान् यशस्वी कुलदीपक दिलीप नाम के राजा हुए, जो इन्द्र की कुण्ठा को दूर करने के उद्देश्य से ही निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करके ही रुक गए॥७४॥

उन राजा दिलीप के शासनकाल में, क्रीडास्थलों के मध्यमार्ग में (बेसुध) सोई हुई मद पीकर मतवाली रमणियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं हिला-डुला सकता था तो फिर उनका अपहरण करने का साहस कौन कर सकता था॥७५॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥७७॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥७८॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७९॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥८०॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥८१॥

उन्हीं राजा दिलीप के पुत्र महान् यज्ञ विश्वजित् को सम्पन्न करने वाले महाराज रघु इस समय पृथ्वी का शासन कर रहे हैं। उन्होंने चारों दिशाओं से (जीतकर) अर्जित एवं सर्वधित अपनी विपुल सम्पदा को दानकर अपने पास केवल मिट्टी का पात्र मात्र रहने दिया है ॥७६॥

उनकी कीर्ति पर्वतों के ऊपर फहरा रही है, समुद्रों को पार कर गई है, नागों के लोक पाताल में भी छाई हुई है, एवं आकाशादि ऊर्ध्वलोकों में भी व्याप्त है, उनकी गति को कोई रोकनेवाला नहीं है। उनकी कीर्ति के इस विस्तार की कोई सीमा नहीं है ॥७७॥

यह (तुम्हारे सम्मुख) राजकुमार अज, देवराज इन्द्र से जयन्त के समान राजा रघु से उत्पन्न हैं। सम्पूर्ण गुणों को धारण करने की क्षमता वाले यह राजकुमार अपनी शिक्षणावस्था में ही अपने पिता के समान इस पृथ्वी के महान् शासन भार को धारण करते हैं ॥७८॥

कुल से, अनुपम सुन्दरता से, नई युवावस्था से, और उन-उन विनयादि प्रधान गुणों (शास्त्रज्ञान, शील, दया, दाक्षिण्यादि) से अपने नितान्त अनुकूल इन राजकुमार अज को तुम वरण करो और इस प्रकार रत्न सुवर्ण से संयुक्त हो जाय ॥७९॥

इस प्रकार सुनन्दा के वचन के अनन्तर राजकुमारी इन्दुमती ने अपनी लज्जा को संकुचित (न्यून) करके स्वयंवर की माला के समान अपनी प्रसन्नतापूर्ण एवं निर्मल दृष्टि से कुमार अज का स्वीकार कर लिया ॥८०॥

राजकुमारी इन्दुमती उस समय राजकुमार अज से संबंधित अपना प्रगाढ़ अनुराग को अपनी शालीनता के कारण प्रकट नहीं कर सकी। किन्तु उसका यह अनुराग कुंचित (घुंघराले) केशोंवाली उस राजकुमारी के शरीर को भेदकर रोमाञ्च के बहाने से बाहर निकल ही पड़ा ॥८१॥

तयागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥८२॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥८३॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः॥८४॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥८५॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत्॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयम्वरवर्णनो
नाम षष्ठः सर्गः॥

राजकुमार अज मे अपनी सखी इन्दुमती के उस प्रगाढ अनुराग (के चिह्नों) को देखकर प्रतिहारिणी सुनन्दा ने परिहासपूर्वक उससे कहा—'आर्ये! हम अब दूसरी जगह चलें—' जिस पर वधू इन्दुमती ने उसे आँखें तरेर कर देखा॥८२॥

करभ (हाथी के सूँड, अथवा कलाई से कनिष्ठिका अंगुली के मूल भाग तक का स्थान) के समान जाँघोंवाली राजकुमारी इन्दुमती ने मंगलचूर्ण से किंचित् श्वेत एवं लालरंग की माला को, अपने मूर्तमान अनुराग की भाँति अपनी धाय सुनन्दा के हाथों से अज के गले में यथास्थान पहनवाया॥८३॥

वरण करने योग्य राजकुमार अज ने मंगलमय पुष्पों से निर्मित तथा विशाल वक्षस्थल पर लटकती हुई उस माला से इस प्रकार का अनुभव किया मानों विदर्भ नरेश भोज की बहिन ने उसके कण्ठ मे अपना बाहु-पाश ही अर्पण कर दिया हो॥८४॥

उस स्वयंवर मे दो समान गुणवालों के इस विवाह-सम्बन्ध से सुप्रसन्न नागरिकों ने वहाँ पर समुपस्थित अन्य राजाओं के कानों में चुभने वाला यह एक ही वाक्य कहा कि—मेघ से मुक्त यह चन्द्रिका चन्द्रमा से मिल गई और जह्नु ऋषि की यह कन्या गंगा अपने अनुरूप समुद्र में मिल गई॥८५॥

फिर तो वह मण्डप, जिसमें एक ओर वरपक्ष सुप्रसन्न हो रहा था और दूसरी ओर वह निराश नृपतिमण्डल था, ऐसे प्रभातकालिक सरोवर की भाँति मालूम पड़ने लगा जिसमें एक ओर तो कमल खिले हुए हों और दूसरी ओर कुमुदों की पंक्तियाँ मुकुलित पड़ी हों। ॥८६॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य मे इन्दुमती स्वयंवर वर्णन नामक
छठा सर्ग समाप्त।

## सप्तमः सर्गः

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥१॥
सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥२॥
सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥३॥
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम्।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥४॥
ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५॥

## सातवाँ सर्ग

इसके अनन्तर विदर्भनरेश भोज योग्य वर से युक्त (अतएव) साक्षात् स्कन्दकुमार से युक्त उनकी पत्नी देवसेना के समान दिखाई पड़ने वाली अपनी बहिन इन्दुमती को लेकर अपने नगर में प्रवेश के लिए चल पड़े ॥१॥

भोजराज की बहिन इन्दुमती के प्रति असफल मनोरथ हो जाने से अपने सुन्दर स्वरूप और वेश-विन्यास को निष्फल मानने वाले (स्वयंवर में उपस्थित अन्य) राजा लोग प्रातःकालिक नक्षत्रों के समान कान्तिविहीन-से होकर अपने-अपने शिविरों में चले गये ॥२॥

वहाँ स्वयंवर के स्थल पर इन्द्राणी के सामीप्य के कारण, स्वयंवर में विघ्न पहुँचाने वालों का अभाव था। इसी कारण से काकुत्स्थ अज से ईर्ष्या करने वाले राजा लोग भी वहाँ शान्त बने रहे। ॥३॥

पुष्पों आदि से बनाई गई नूतन रचनाओं द्वारा पूर्णरीति से सजाए गए, इन्द्रधनुष के समान प्रकाशमान तोरणों से सजे हुए तथा पताकाओं की छाया से जिसकी धूप निवारित की जा चुकी है—ऐसे राजमार्ग पर राजकुमार अज अपनी वधू इन्दुमती के साथ पहुँचे ॥४॥

इसके अनन्तर सुवर्ण निर्मित जालियों से बनी खिड़कियों वाले प्रासादों में, राजकुमार अज को देखने में तन्मय नगर की रमणियों ने अपने दूसरे सारे काम काज त्याग दिए और वे इस प्रकार का व्यवहार करने लगीं ॥५॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥६॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥७॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥८॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥९॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥१०॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥११॥
ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा॥१२॥

खिडकी की ओर सहसा दौडकर जाने वाली एक रमणी ने, खुलकर गिरती हुई माला से मुक्त अपनी केशराशि को, हाथ से रोककर भी तब तक बांधने की चिन्ता नहीं की जब तक खिडकी के पास वह स्वयं पहुँच नहीं गई॥६॥

कोई रमणी महावर लगाती हुई दासी से फैलाये गये अपने पैर के अग्रभाग को, जिसमें गीला रंग लगा हुआ था, वैसे ही खींच लिया और अपनी स्वाभाविक मन्दगति को छोडकर खिडकी तक महावर से युक्त पैरों के निशान बना डाले॥७॥

एक दूसरी रमणी, अपनी दाहिनी आंख में अंजन लगाकर बाईं आंख में बिना अंजन लगाये ही, अंजन की शलाका को हाथ में लिए हुए झरोखे के पास तक पहुँच गई॥८॥

झरोखे के बीच से देखती एक दूसरी रमणी ने चलते समय छूटी हुई अपनी फुफ्फी को भी नहीं बाँधा और नाभिप्रदेश में प्रवेश करने वाली आभूषणों की चमक वाले अपने हाथ से अपनी साडी को पकडे हुए ही खडी रही॥९॥

इस अवसर पर शीघ्रता से उठी हुई किसी रमणी की आधी गूँथी गई करधनी, उसके शीघ्रता से पैर चलाने के कारण पग-पग पर रत्नों के गिर जाने से अंगूठे में लगा सूत का धागा मात्र बन कर रह गई॥१०॥

(अज और इन्दुमती को देखने के लिए) अत्यन्त उत्कण्ठित उन स्त्रियों के मदिरापान से गन्धयुक्त तथा चंचल-नेत्र-रूपी भ्रमर पंक्तियों से सुशोभित मुखों से, जिनका रिक्त स्थान भर गया था अर्थात् उक्त प्रकार की रमणियों से ठसाठस भरे हुए वे प्रासादों के झरोखे कमलों से अलंकृत के समान हो रहे थे॥११॥

रघु के पुत्र कुमार अज को अपनी दृष्टि से पान करती हुई उन रमणियों का ध्यान किसी दूसरी वस्तु की ओर नहीं गया। जैसे उनकी शेष इन्द्रियों की गतिविधि उनके नेत्रों में ही पूर्णरूप से प्रविष्ट हो गई हो॥१२॥

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥१३॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥१४॥
रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तया हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥
इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥१६॥
ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥

पीछे पीछे अवस्थित राजाओं द्वारा मनोरथ के रूप मे वरण की गई भोजराज की बहिन इन्दुमती ने स्वयम्वर को ही अच्छा माना—यह अच्छा ही हुआ, अन्यथा वह इन्दुमती विष्णु भगवान को लक्ष्मी के समान, सर्वथा अनुरूप अपने पति को कैसे प्राप्त कर सकती थी ॥१३॥

स्पृहा करने योग्य शोभा से युक्त यह जोडी यदि परस्पर न मिलती तो निश्चय ही विधाता द्वारा इन दोनो मे इतना अपार सौन्दर्य प्रदान करने का परिश्रम निष्फल हो जाता ॥१४॥

निश्चय ही ये दोनो (पूर्व जन्म मे) रति और कामदेव थे जो इस जन्म मे इन्दुमती और अज के रूप मे उत्पन्न हुए, क्योकि इस कुमारी इन्दुमती ने हजारो राजाओ के बीच में इस राजकुमार अज का ही प्राप्त किया। सत्य है, मनुष्य का मन पूर्वजन्म की बातो को जानता है ॥१५॥

उपर्युक्त प्रकार से नगर की स्त्रियो के मुख से निकली हुई एव कानो को सुख देने वाली बातो को सुनते हुए कुमार अज, मगलमय प्रसाधनो से अलकृत अपने सम्बन्धी भोजराज के राजमहल मे पहुँच गए॥१६॥

तदनन्तर अज, कामरूप देश के राजा के ऊपर हाथ रखकर हथिनी के ऊपर से शीघ्र नीचे उतर गए और उसके बाद उन्होंने विदर्भनरेश भोज द्वारा बतलाए गए अन्त पुर के मध्यवर्ती आगन मे इस प्रकार प्रवेश किया मानो वहाँ पर उपस्थित रमणियो के मन मे प्रविष्ट हुए हो ॥१७॥

बहुमूल्य सिंहासन पर समासीन राजकुमार अज ने, राजा भोज द्वारा लाए हुए रत्नो समेत मधुपर्क युक्त अर्घ्य को तथा दो वस्त्रो को, वहाँ उपस्थित रमणियो के कटाक्षो के साथ ग्रहण किया ॥१८॥

रेशमी वस्त्र से सुशोभित कुमार अज को अन्त पुर के विनयशील रक्षक इन्दुमती के समीप इस प्रकार से ले गए जैसे बिखरी हुई फेन की पक्तियो वाला समुद्र, चन्द्रमा की नूतन किरणो द्वारा तट के समीप पहुँचा दिया जाता है ॥१९॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयाञ्चकार॥२०॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन॥२१॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन॥२२॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥२३॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥२४॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ॥२५॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥२६॥

वहाँ पर सत्कृत तथा अग्नि के समान तेजस्वी राजा भोज के पुरोहित ने घृतादि हवनीय सामग्रियों से अग्नि में आहुति देकर तथा अग्नि को ही विवाह में साक्षी बनाकर वर और वधू का पारस्परिक मिलन करा दिया॥२०॥

राजकुमार अज अपने हाथ से वधू इन्दुमती का हाथ पकड़ कर इस प्रकार बहुत अधिक सुन्दर दिखाई पड़े, जैसे आम का वृक्ष अपने पल्लवों के बीच में अशोक लता के पल्लवों को धारण करके सुशोभित होता है॥२१॥

इससे वर अज की कलाई का ऊपरी भाग रोमाञ्चित हो उठा और कुमारी इन्दुमती की अंगुलियों में पसीना हो गया। उस समय ऐसा मालूम पड़ा मानो कामदेव ने इन दोनों में अपनी चेष्टा को समान रूप से विभक्त कर दिया हो॥२२॥

परस्पर देखने का कार्य समाप्त हो जाने पर लौटी हुई किन्तु एक दूसरे को देखने के लिए फिर भी लालायित, पूरे प्रदेश तक फैली हुई उन दोनों (अज तथा इन्दुमती) की दृष्टियाँ लज्जाजनित मनोहर सकोच में पड़ गईं॥२३॥

उठती हुई ज्वाला से युक्त अग्नि की प्रदक्षिणा करती हुई वह जोड़ी ऐसी शोभायमान हुई जैसे सुमेरु पर्वत के समीप चारों ओर चक्कर लगाते हुए दिन और रात्रि एक साथ मौजूद हों॥२४॥

ब्रह्मा के समान पूजनीय पुरोहित के कहने पर, बड़े-बड़े नितम्बों वाली उस लज्जावती वधू ने, जिसके नेत्र उस समय मतवाले चकोर के समान लग रहे थे, अग्नि में लावों की अंजलि डाली॥२५॥

हवनीय सामग्री, शमी के पल्लव तथा खीलों की सुगन्धि से आमोदित पवित्र धुआँ अग्नि में से ऊपर उठा और अपनी शिखा से राजकुमारी के कपोलों का स्पर्श कर वह थोड़े समय के लिए उसके कर्ण का आभूषण जैसा बन गया॥२६॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः॥३३॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य॥३४॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः॥३५॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः॥३६॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम्॥३७॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः॥३८॥

कुण्डिनपुराधीश भोज त्रैलोक्य-विख्यात अज के साथ मार्ग के तीन पड़ावों पर तीन रात्रि रह कर वैसे ही वापस लौट आये जैसे अमावस्या समाप्त हो जाने पर चन्द्रमा सूर्य से अलग हो जाता है॥३३॥

वे नृपतिगण पहले ही से (दिग्विजय के प्रसंग में) हर एक की सम्पत्ति को ग्रहण कर लेने से कोसलेन्द्र रघु पर अत्यन्त रुष्ट थे, इसलिए संयुक्त होकर वे उनके पुत्र अज द्वारा स्त्री रत्न की प्राप्ति को सहन नहीं कर सके॥३४॥

(फिर तो) राजाओं के उन्मत्त उद्धत समूह ने भोज की बहिन इन्दुमती को ले जाते हुए उस राजकुमार अज को (मध्य मार्ग में) उसी प्रकार रोक दिया, जिस प्रकार बलि द्वारा दिए गए ऐश्वर्य को स्वीकार करते हुए वामन भगवान के चरणों को इन्द्र शत्रु प्रह्लाद ने रोक लिया था॥३५॥

राजकुमार अज ने इन्दुमती की रक्षा के लिए अपने बहुत से योद्धाओं से युक्त, अपने ज्ञानी एवं अनुभवी पिता के सामने से चले आने वाले मंत्री को (सतर्क रहने का) आदेश देकर स्वयं उन राजाओं की संयुक्त सेना का उसी प्रकार से सामना किया जिस प्रकार से उमड़ता हुआ सोन नद भागीरथी गंगा के प्रवाह को रोक देता है॥३६॥

पैदल पैदल के साथ, रथ पर सवार योद्धा रथ पर सवारों के साथ, घुड़सवार लोग घुड़सवारों के साथ, हाथी पर सवार योद्धा हाथी पर सवार सैनिकों के साथ युद्ध में भिड़ गए– इस प्रकार वह युद्ध समान प्रतिद्वंद्वियों के मध्य होने लगा॥३७॥

रणभेरी के बजने पर धनुर्धारियों को एक दूसरे की बातें नहीं सुनाई पड़ रही थीं। वे अपने कुल के नामों का उच्चारण तो नहीं करते थे किन्तु अपने-अपने बाणों पर अंकित अक्षरों से ही उन्होंने मानों एक-दूसरे को अपना अपना विख्यात नाम बतला दिया था॥३८॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥३९॥
मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि।
बभुः पिबन्तःपरमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥४०॥
रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥४१॥
आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥४२॥
स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥४३॥
प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥४४॥
अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥४५॥

युद्ध-स्थल मे घोड़ो (की खुरो) से उत्पन्न, स्यन्दनो की पहियो से सघन की गई तथा हाथियों के कानों की फटकार से फैलाई गई धूलि ने क्रमशः नेत्रों के अनन्तर अथवा वस्त्र

हुई, मछलियाँ
मानो वास्तविक
मछलियाँ नूतन वर्षा के मटमैले जल को पी रही हों ॥४०॥

धूल के अति घनीभूत हो जाने के कारण युद्धस्थल मे पहियों की घरघराहट से रथ का, हिलते हुए घण्टों की घनघनाहट से हाथी का तथा अपने स्वामी का नाम लेने से (सैनिकों मे) अपने और पराए का ज्ञान होता था ॥४१॥

युद्ध-स्थल मे चारों ओर फैले हुए दृष्टि-पथ को रोकने वाली धूल के उस अन्धकार मे, हथियारों से आहत घोड़े, हाथियों और योद्धाओं के शरीर से बहने वाले रक्त का प्रवाह बाल-सूर्य (के समान) बन गया ॥४२॥

नीचे भूतल मे रक्त-प्रवाह से नष्ट की गई तथा उसके ऊपर वायु से कम्पित वह धूल, अंगार के रूप मे बची हुई अग्नि के, पहले ऊपर उठे हुए धुएँ के समान प्रकट हो रही थी ॥४३॥

रथों पर सवार योद्धागण प्रहार की मूर्च्छा के दूर होने पर (मूर्च्छितावस्था मे) घोड़ों को (युद्धभूमि से) वापस लाने वाले अपने सारथियों को उलाहने दे-देकर, पहले की देखी गई पताकाओं से पहचाने गये अपने उन पूर्व प्रतिद्वन्द्वियों पर क्रुद्ध होकर प्रहार करने लगे ॥४४॥

आधे मार्ग मे ही प्रतिद्वन्द्वी के बाणों से काटे गये, सधे हुए हाथों वाले धनुर्धारियों के बाणों के फल वाले पूर्वार्द्ध भाग, अपने तीव्र वेग के कारण, अपने लक्ष्यों पर पहुच ही जाते थे ॥४५॥

आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥४६॥
पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥४७॥
तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥४९॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥५०॥
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥५१॥
अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित्।
व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥५२॥

हाथियों की लड़ाई में, छुरे की धार के समान तीक्ष्ण धार वाले चक्रों से कटे हुए हाथी पर सवार वीरों के कटे हुए मस्तक, उनकी केशराशि में बाज-पक्षियों के नखाग्रों में फँसे होने के कारण विलम्ब से नीचे की ओर गिरते थे ॥४६॥

पहले प्रहार करने वाले घुड़सवार ने, बदले में प्रतिप्रहार करने में असमर्थ और अपने घोड़े की पीठ पर मूच्छित शरीर पड़े हुए शत्रु पर फिर से प्रहार नहीं किया अपितु यह कामना की कि उसका शत्रु पुनः जीवित हो जाय ॥४७॥

अपने शरीर से निःस्पृह कवचधारियों की नंगी तलवारों का प्रहार बड़े-बड़े दाँतों पर पड़ने से उठने वाली आग की चिनगारियों को, भयभीत हाथियों ने अपनी सूँड़ों से निकले हुए जल-शीकरों द्वारा शांत कर दिया ॥४८॥

बाणों से कटे हुए मस्तक-रूपी फलों से परिपूर्ण, इधर उधर गिरे हुए शिरस्त्राण-रूप प्यालों से आकीर्ण तथा रक्त-रूपी मदिरा के प्रवाह से युक्त वह रणभूमि मृत्यु देवता की मद्य पान-स्थली के समान लगने लगी ॥४९॥

पक्षियों द्वारा दोनों ओर नोचे गए बाहु के टुकड़े को, उनसे छीनकर एक मांसप्रिय सिआरिन ने, उस बाहु में बँधी हुई बिजायठ की कोर से अपनी तालु के कट जाने के कारण त्याग दिया ॥५०॥

शत्रु की तलवार से छिन्न-मस्तक कोई योद्धा तत्काल ही विमान पर आरूढ़ होकर देवता बन गया और अपनी बाईं ओर देवांगना से सुशोभित होकर वह युद्धभूमि में अपने नाचते हुए धड़ को स्वयं देखने लगा ॥५१॥

कोई दो योद्धा अपने-अपने सारथियों के मारे जाने के कारण स्वयं ही सारथी और रथी बन गए। और जब उनके घोड़े भी मार डाले गए तो वे गदा लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे और जब गदा भी टूट गई तो बाहुयुद्ध करने लगे ॥५२॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥५३॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम्।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥५४॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥५५॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥५६॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥५७॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥५८॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥५९॥

आपस में एक दूसरे के प्रहार से एक साथ ही मारे गए दो वीरों में, देवयोनि के प्राप्त होने पर भी, एक ही देवांगना को चाहने के कारण पूर्ववत् विवाद बना रहा ॥५३॥

आगे और पीछे की ओर बहने वाली वायु के द्वारा क्रमशः उठाई गई समुद्र की लहरों के समान उन दोनों सेनाओं के समूहों ने जय और पराजय—दोनों प्राप्त किया ॥५४॥

शत्रु समूह द्वारा अपनी सेना के छिन्न भिन्न कर दिये जाने पर भी महान् तेजस्वी अज शत्रु की सेना की ओर ही अग्रसर होता गया। वायु से धुआँ भले ही दूर हो जाय किन्तु जहाँ घास रहती है वहाँ तो अग्नि रहती ही ॥५५॥

रथ, तूणीर, कवच और धनुष को धारण कर [illegible] उस परम तेजस्वी प्रतापी वीर अज ने सम्पूर्ण राजाओं के समूह को उसी प्रकार रोक लिया जिस प्रकार प्रतापी [illegible] ने प्रलय में [illegible] समुद्र की जलराशि को रोक लिया था ॥५६॥

युद्ध भूमि में तूणीर के मुख पर [illegible] दाहिने हाथ को [illegible] हुए अज [illegible] दिखाई पड़ते थे। बार-बार कान तक खींची गई उस वीर के धनुष की प्रत्यंचा मानो शत्रुओं का विनाश करनेवाले बाणों को स्वयम् उत्पन्न कर रही थी ॥५७॥

तदनन्तर अज ने क्रोध से [illegible] अत्यन्त लाल [illegible] स्पष्ट [illegible] (अर्थात्) [illegible] हुंकार करते हुए शत्रुओं के सिरों से पृथ्वी को पाट दिया ॥५८॥

तदनन्तर युद्धभूमि में उपस्थित उन सभी राजाओं ने [illegible] हाथी है प्रधान जिसमें—ऐसी सम्पूर्ण सेनाओं से, कवचों को [illegible] सभी प्रकार के शस्त्रों से एवं सभी प्रकार के उपायों से एकाकी अज पर प्रहार करना शुरू किया ॥५९॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥६१॥
ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥
ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥६३॥
शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥६४॥
सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥६५॥
स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥६६॥

शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों के समूहों से अज का रथ बिल्कुल ढँक गया और वह केवल अपने रथ की ध्वजा के ऊपरी भाग से इस प्रकार पहचाना जाने लगा जिस प्रकार गिरती बरफ से आच्छादित दिन का प्रथम भाग किंचित् प्रकाशवाले सूर्य से लक्षित होता है ॥६०॥

तब कुसुमसायक कामदेव के समान सुन्दर परम जागरूक महाराज रघु के पुत्र अज ने प्रियम्वद नामक गन्धर्व से प्राप्त, नींद उत्पन्न करने वाले प्रस्वापन नामक गन्धर्वास्त्र का (उन शत्रुओं पर) प्रयोग किया ॥६१॥

इससे उन राजाओं की सेना गहरी नींद में सो जैसी गई। उसकी स्थिति ऐसी हो गई कि सैनिकों के हाथ धनुष खींचने में निष्क्रिय से हो गए। उनके शिरस्त्राण सरक कर एक ओर कंधे पर जा गिरे और उनके शरीर पताकाओं के दण्डों के सहारे लुढ़क गए॥६२॥

तब राजकुमार अज ने प्रियतमा इन्दुमती द्वारा रस प्राप्त करने वाले अपने अधरोष्ठ पर शंख रखकर बजाया। अपने इस व्यापार से वह एकाकी वीर अज इस प्रकार सुशोभित हुआ मानो अपने बाहुबल से अर्जित अपने मूर्तमान यश का ही पान कर रहा हो ॥६३॥

अज के शंख की आवाज को पहचान कर वापस लौटे हुए उसके अपने योद्धाओं ने, शत्रुओं को पराजित करने वाले राजकुमार अज को, मुकुलित (मुख के बन्द होने के कारण शोभाविहीन) कमलों के बीच में चमकते हुए प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान देखा ॥६४॥

महाराज रघु के पुत्र अज ने इस रणभूमि में आज तुम लोगों के यश को ले लिया तथा कृपाकर तुम्हारे प्राणों को नहीं लिया—इन अक्षरों को अज ने उन शत्रु-राजाओं की पताकाओं पर, बाणों के रक्त-लिप्त अग्रभागों से लिखवा दिया ॥६५॥

शिरस्त्राण के हट जाने से जिसकी केशराशि इधर-उधर बिखरी हुई थी तथा जिसके ललाट पर पसीने की बूँदें छाई हुई थीं—ऐसे राजकुमार अज ने धनुष के एक छोर पर अपना हाथ रखते हुए अपनी भयभीत प्रिया इन्दुमती के समीप जाकर यह कहा—॥६६॥

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि पश्यानुमता मयासि।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः॥६७॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमावभासे।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः॥६८॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम्॥६९॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा-
मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव॥७०॥

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥७१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजेन्दुमती-
पाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः

अपने इन शत्रुओं को जरा
देखो, ल्ता के द्वारा ये (बेचारे)
मेरे ह

शत्रुओं के कारण उत्पन्न दुःख से तत्काल छूटा हुआ उस राजकुमारी इन्दुमती का मुख, निःश्वास की भाप के दूर हो जाने से अपनी स्वाभाविक निर्मलता को प्राप्त दर्पण की भाँति अतीव सुन्दर दिखाई देने लगा॥६८॥

(अपने पति के प्रचण्ड पराक्रम से) प्रसन्न होने पर भी लज्जा से पराभूत होने के कारण इन्दुमती ने स्वयं नहीं अपितु अपनी सहेलियों के द्वारा अपने प्रियतम अज का उसी प्रकार अभिनन्दन किया जिस प्रकार नूतन बादलों की बूँदों से सींची गई भूमि मयूर की वाणियों द्वारा मेघ-समूह का अभिनन्दन करती है॥६९॥

इस प्रकार पराजित शत्रु राजाओं के मस्तक पर अपना बायाँ चरण रखकर निर्दोष अज उस अनिन्दनीय इन्दुमती को अपने संग लेकर आगे चल पड़े। उस समय रथों तथा घोड़ों की धूलि से रूखे केशाग्रों से सुशोभित इन्दुमती ही उनकी मूर्तिमती विजयश्री बन गई थी॥७०॥

पहले ही जिन्हें सब समाचार मिल गया था—ऐसे महाराज रघु, प्रशंसनीय पत्नी समेत वापस लौट हुए विजयी कुमार अज का अभिनन्दन कर और उन पर कुटुम्ब का भार समर्पित कर शान्तिमार्ग अर्थात् मुक्ति के लिए समुत्सुक हुए क्योंकि सूर्यवंशी राजा अपनी सन्तान के राज्यभार सम्हालने के योग्य हो जाने पर गृहस्थाश्रम में नहीं रहते थे॥७१॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश नामक महाकाव्य में अज द्वारा इन्दुमती का पाणिग्रहण नामक सातवाँ सर्ग समाप्त॥

# अष्टमः सर्गः

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥१॥
दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥२॥
अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥३॥
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥४॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥५॥

# आठवां सर्ग

इसके बाद महाराज रघु ने, मनोहर विवाह के मंगल सूत्र को धारण करते ही, उस राजकुमार अज के हाथों में दूसरी इन्दुमती के समान पृथ्वी को भी सौंप दिया ॥१॥

राजकुमार लोग जिस राज्य को (विष आदि देकर) पाप-कर्मों द्वारा भी अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते है, उसे उपस्थित होने पर भी अज ने, पिता की आज्ञा है–इस कारण से स्वीकार किया, भोग की तृष्णा से नहीं ॥२॥

महर्षि वसिष्ठद्वारा छिड़के गए पवित्रजल से अज के साथ अभिषेक का अनुभव करके पृथ्वी ने मानो अपने निर्मल उच्छ्वास द्वारा अपनी कृतार्थता प्रकट की ॥३॥

अथर्ववेद के ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ द्वारा अभिषेक का संस्कार सम्पन्न किए जाने पर राजकुमार अज शत्रुओं के लिए दुर्धर्ष हो गया। क्योंकि क्षत्रिय तेज से समन्वित होने पर जो ब्रह्मतेज होता है वह पवन और अग्नि के समागम के समान(असह्य)हो जाता है ॥४॥

प्रजा ने उस नूतन राजा अज को लौटे हुए यौवनवाला राजा रघु ही माना। क्योंकि उसने (अपने पिता) रघु से केवल उनका ऐश्वर्य ही नहीं ग्रहण किया था अपितु उनके सम्पूर्ण गुणों को भी ग्रहण किया था ॥५॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥६॥
सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥७॥
अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥८॥
न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥९॥
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥१०॥
गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥११॥
तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥१२॥

सभी प्रकार की समृद्धियों एवं ऐश्वर्यों से युक्त पैतृक पद ने अज को प्राप्त किया और अज के नूतन यौवन ने विनय को। इस प्रकार कल्याणयुक्त दोनों से (अपनी जोड़ी से) मिलकर दोनों की शोभा अधिक बढ़ गई ॥६॥

यह सोचकर कि कहीं वह बलात् उपभोग से उद्विग्न न हो जाय—लम्बी भुजाओं वाले अज ने सद्यः प्राप्त पृथ्वी का नूतन ब्याही वधू के समान सदय होकर उपभोग किया ॥७॥

प्रजावर्ग में से सभी लोग यही सोचते थे कि—राजा मुझे ही सबसे अधिक मानते हैं। सैकड़ों नदियों में समुद्र के समान अज के द्वारा किसी का भी कभी तिरस्कार नहीं हुआ ॥८॥

न बहुत तीक्ष्ण, न बहुत मन्द किन्तु मध्यम गति से बहती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षों को जड़ से न उखाड़कर उन्हें झुका देती है उसी प्रकार अज ने भी न बहुत कठोर और न बहुत सरल—किन्तु मध्यम शासन द्वारा पृथ्वी के राजाओं को राज्य से च्युत नहीं किया अपितु उन्हें झुकाकर अपने वश में कर लिया ॥९॥

इसके अनन्तर महाराज रघु ने जब यह देख लिया कि उनका पुत्र अज उन्हीं के समान अमात्यों आदि में अपनी प्रतिष्ठा बना चुका है तो कभी न कभी विनष्ट होने वाले स्वर्गादि विषयों में भी वह निःस्पृह बन गए ॥१०॥

दिलीप के वंश में उत्पन्न नृपतिगण वृद्धावस्था में अपने गुणवान पुत्रों को राज्यभार सौंपकर वृक्षों के वल्कल धारण करने वाले मुनियों के मार्ग का ग्रहण करते रहे हैं ॥११॥

वनवास के लिए तैयार पिता रघु के चरणों में, पगड़ी से सुशोभित अपने मस्तक को रखकर पुत्र अज ने प्रणाम किया और याचना की कि—मुझे छोड़कर आप वन में न जाइए ॥१२॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥१३॥
स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥१४॥
प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥१५॥
यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥
अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥१७॥
नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥१८॥
अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥१९॥

पुत्रवत्सल रघु ने आँसुओं से भरे हुए मुखवाले अज की अभिलाषा पूरी की। किन्तु जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को एक बार त्याग कर फिर नहीं अपनाता उसी प्रकार उन्होंने भी अपने छोड़े हुए राज्यादि के ऐश्वर्य को फिर से ग्रहण नहीं किया ॥१३॥

जितेन्द्रिय महाराज रघु ने अन्तिम आश्रम (सन्यासाश्रम) का जीवन अंगीकार कर नगर के बाहर अपना निवासस्थान बनाया और उनके पुत्र द्वारा भोगी जाने वाली राज्य लक्ष्मी ने पुत्रवधू के समान उनकी सेवा की ॥१४॥

शान्ति (सन्यासाश्रम) में अवस्थित पुराने राजा तथा अभ्युदय को प्राप्त करने वाले नूतन राजा से युक्त वह (इक्ष्वाकु) कुल उस समय उस आकाश के समान शोभायमान हुआ जो अस्त होते हुए चन्द्रमा तथा उदयोन्मुख सूर्य से युक्त रहता है ॥१५॥

सन्यासी और राजा के चिह्नों को धारण किए हुए महाराज रघु तथा अज को लोग मुक्ति एवं महान् अभ्युदय रूप फल वाले दो धर्मों के भूलोक में अवतीर्ण हुए अंश के समान देखते थे ॥१६॥

अज ने एक ओर अजित पद को प्राप्त करने के लिए निपुण अमात्यों से सम्पर्क स्थापित किया और दूसरी ओर रघु ने अविनश्वर मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शी योगियों की संगति की ॥१७॥

युवक राजा अज ने प्रजा को देखने के लिये न्याय के आसन को स्वीकार किया और वयोवृद्ध राजा रघु ने चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए निर्जन स्थान में कुश के पवित्र आसन को ग्रहण किया ॥१८॥

एक राजा (अज) ने प्रभुशक्ति अर्थात् कोश एवं दण्ड की सम्पत्ति के द्वारा बाहर के राजाओं को वश में किया तो दूसरे राजा (रघु) ने समाधि के अभ्यास से अपने शरीर में अवस्थित प्राण, अपानादि वायुओं को वश में किया ॥१९॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात्।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥२०॥
पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥२१॥
न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥
अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥
श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥
अकरोत्स तदौर्ध्वदेहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥२६॥

नूतन राजा ने शत्रुओं द्वारा आरम्भ किए गए कार्यों के फलों को भस्म कर दिया तथा दूसरा (प्राचीन) राजा (रघु) अपनी ज्ञानमय अग्नि से अपने कर्मों को भस्म करने में लग गया ॥२०॥

अज ने सन्धि, विग्रहादि छहों गुणों का प्रभाव देखकर उनका (यथावसर) प्रयोग किया तथा मिट्टी और सुवर्ण को समान समझने वाले रघु ने भी सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणों को जीत लिया ॥२१॥

स्थिर होकर अपने कर्त्तव्यों में अडिग रहने वाले नूतन राजा (अज) ने फल के दृष्टिगोचर होने तक काम से विश्राम नहीं लिया तथा स्थिर बुद्धिवाले प्राचीन राजा (रघु) ने परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन होने तक अपनी योगविधि नहीं त्यागी ॥२२॥

इस प्रकार अनुचित कार्यों में लगे हुए अपने शत्रुओं तथा इन्द्रियों के प्रति सदैव सतर्क तथा अभ्युदय एवं मोक्ष में नितांत आसक्त उन दोनों (अज तथा रघु) ने (अपनी अपनी) अभीष्ट दोनों सिद्धियाँ प्राप्त कीं ॥२३॥

इसके बाद सबमें समान दृष्टि रखने वाले महाराज रघु अज की इच्छा से कुछ वर्षों तक जीवन बिता कर योग-समाधि के द्वारा माया-रूपी अन्धकार से अतीत एवं अव्यय परम पुरुष परमात्मा में विलीन हो गए ॥२४॥

अग्निहोत्र परायण रघु के पुत्र अज ने पिता के शरीर त्याग करने की बात सुनकर देर तक आँसू बहाए और सन्यासियों को साथ लेकर उनका अग्निरहित अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया ॥२५॥

पिता के श्राद्ध के विधान को भलीभांति जानने वाले अज ने पिता के प्रति अपनी असीम श्रद्धा के कारण उनका पारलौकिक (तिलोदक पिण्डदानादि) कार्य सम्पन्न किया, यद्यपि योग के मार्ग से शरीर त्याग करनेवाले पुत्र द्वारा दिए गए पिंडदानादि की आकांक्षा नहीं करते ॥२६॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥२७॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम्।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥२८॥

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥२९॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥३०॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥३१॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दनम् ॥३२॥

परमार्थ को जानने वाले उपदेष्टाओं द्वारा यह बताए जाने पर कि मोक्ष को प्राप्त अपने पिता के लिए शोक नहीं करना चाहिए—अज की मनोव्यथा शान्त हो गई और तब धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उन्होंने भूमण्डल को एकमात्र अपने अधीन (शोषित) किया ॥२७॥

महान् पुरुषार्थी उस अज को पति रूप में प्राप्त कर पृथ्वी और अज की पत्नी इन्दुमती में से, प्रथम तो बहुत से रत्नों को पैदा करने वाली हुई और दूसरी ने वीर पुत्र को उत्पन्न किया ॥२८॥

विद्वान् लोग दस सौ अर्थात् एक सहस्र किरणों वाले (सूर्य) के समान कान्तिमान अपनी कीर्ति से दसों दिशाओं में सुप्रसिद्ध दशकण्ठ (रावण) के शत्रु (रामचन्द्र) के पिता को दशरथ नाम से जानते हैं ॥२९॥

वेद-शास्त्रादि के अध्ययन, यज्ञ तथा पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ऋषि, देवता तथा पितरों के ऋण से छुटकारा पाए हुए राजा अज परिवेश (सूर्य के चारों ओर कभी कभी दिखलाई पड़ने वाला गोल घेरा) से मुक्त सूर्य की भांति अतीव शोभायमान हुए ॥३०॥

(उस राजा अज का) बल दुःखियों का भय दूर करने के लिए तथा शास्त्रों का अध्ययनादि विद्वानों के स्वागत-सत्कार के लिए था। (इस प्रकार) सर्वसमर्थ उस अज की केवल धन-सम्पदा ही परोपकार के लिए नहीं थी अपितु उसकी गुणवत्ता भी परार्थ के लिए थी ॥३१॥

हमारी प्रजा को कहीं से भी कोई भय नहीं है—यह समझ कर निश्चिन्त तथा सुन्दर सन्तान के पिता राजा अज एक बार इन्दुमती के साथ नगर के उपवन में उसी प्रकार क्रीडा निरत हुए, जिस प्रकार देवताओं के पालक इन्द्र शची के साथ विहार कर रहे हों ॥३२॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥३३॥
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरो नवेशिताम्।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः॥३४॥
भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥३५॥
अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम्।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम्॥३६॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचंद्रा तमसेव कौमुदी॥३७॥
वपुषाकरणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥३८॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः॥३९॥

उसी अवसर पर दक्षिण समुद्र के तट पर अवस्थित गोकर्णनामक तीर्थ स्थान में प्रतिष्ठित शिवजी के समीप वीणा बजाकर स्तुति करने के लिए नारद जी सूर्योदय के मार्ग अर्थात् आकाश मार्ग से जा रहे थे॥३३॥

दिव्य पुष्पों से गूथी हुई तथा (नारद जी की) वीणा के ऊपरी भाग में लटकाई हुई माला को तीव्रवायु ने, मानो अपने को सुगन्धित करने के लोभ से हरण कर लिया॥३४॥

(उस क्षण) पुष्पों के पीछे दौड़ने वाले भ्रमरों से घिरी हुई नारद जी की वह वीणा मानो वायु द्वारा किए गए इस अपमान के उद्वेग से उत्पन्न, अंजन से मलिन आंसुओं को बहाती हुई सी दिखाई पड़ी॥३५॥

(तदनन्तर) वह दिव्यमाला अपने पराग तथा सुगन्ध की अधिकता से लताओं के ऋतु-सम्बन्धी ऐश्वर्य (सुगन्धियों) को दबा कर राजा अज की प्रियतमा इन्दुमती के विशाल-स्तनों के ऊपरी भाग पर आ गिरी॥३६॥

अपने सुन्दर स्तनों की क्षणमात्र की सखी बनी हुई उस माला को देखकर विह्वल, अज की प्रिया इन्दुमती राहु से अपहृत चन्द्रमा वाली चन्द्रिका के समान मोहित हो (मर) गई॥३७॥

चेतना-शून्य शरीर से गिरती हुई इन्दुमती ने पति (अज) को भी गिरा दिया। तैल-बिन्दु के टपकने (चूने या गिरने) के साथ ही दीपक की लौ भी निश्चय ही पृथ्वी को प्राप्त करती है॥३८॥

फिर तो दोनों (इन्दुमती और अज) के आस-पास उपस्थित सेवकों की चीख-पुकार से भयभीत कमलयुक्त सरोवरों के पक्षी भी, समान रूप से दुःखी हो कर, उस उपवन में रुदन करने लगे॥३९॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥४०॥
प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥४१॥
पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥४२॥
विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥४३॥
कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥४४॥
अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥४५॥
स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥

राजा अज की मूर्छा तो पंखा आदि से दूर हो गई किन्तु रानी इन्दुमती जैसी की तैसी ही पड़ी रही। क्यों न हो, आयु के शेष रहने पर ही चिकित्सा आदि के उपाय भी सफल होते हैं ॥४०॥

चेतना के नष्ट हो जाने से टूटे हुए तार वाली वीणा के समान स्थित अपनी प्रियतमा को राजा अज ने अत्यन्त प्रेम से उठाकर अपने सुपरिचित गोद में ले लिया ॥४१॥

पति की गोद में स्थित तथा प्राणों के निकल जाने से शोभाविहीन इन्दुमती प्रातःकाल में मलिन मृगचिह्न को धारण करने वाले चन्द्रमा के समान दिखाई पड़ रही थी ॥४२॥

राजा अज अपनी सहज धीरता को भी छोड़कर आँसू से रुँधे हुए कण्ठ से विलाप करने लगे। संतप्त होकर जब लोहा भी नरम हो जाता है तब शरीरधारियों के विषय में क्या कहा जाय ॥४३॥

पुष्प भी यदि शरीर पर गिर कर आयु हर लेने (मारने) में समर्थ हो सकते हैं तब फिर खेद है कि भविष्य में मारने वाले दैव के लिए दूसरी कौन-सी ऐसी वस्तु बची है, जो साधन न बनेगी ॥४४॥

अथवा महाकाल कोमल वस्तु को कोमल वस्तु द्वारा ही मारने की व्यवस्था करता है। इस विषय में तुषार (पाला) पड़ने से नष्ट होने वाली कमलिनी मुझे उदाहरण के रूप में पहले मिल चुकी है ॥४५॥

यदि यह माला प्राणों का हरण करने वाली है तो हृदय पर रखी हुई यह मेरे प्राणों का हरण क्यों नहीं कर रही है? ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है ॥४६॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥४७॥
कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥४८॥
ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥४९॥
दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥५०॥
सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥
मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम्।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥
कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥५३॥

अथवा मेरे भाग्य की प्रतिकूलता से विधाता ने इस (माला) को वज्र बना दिया है, जो इसने वृक्ष को (मुझको) तो नहीं गिराया किन्तु उससे लिपटी हुई लता (तुम) को नष्ट कर दिया ॥४७॥

मेरे द्वारा वारम्वार अपराध करने पर भी जब तुमने कभी मेरा अपमान नहीं किया है, तब फिर एकाएक नितांत निरपराध इस जन को बातचीत करने योग्य भी क्यों नहीं मानती हो ॥४८॥

हे सुन्दर हास वाली प्रिये ! निश्चय ही तुम मुझे शठ और अपने साथ छलपूर्वक प्रेम करने वाला समझती हो। क्योंकि (ऐसा समझकर ही) मुझसे बिना कुछ कहे ही तुम इस लोक से परलोक को, फिर कभी न लौटने के लिए चली गई हो ॥४९॥

यह मेरा अधम जीवन यदि पहले प्रिया के पीछे चला गया था तो फिर उसके बिना ही लौट क्यों आया ? अब यह अपनी करनी के अनुसार प्रबल विरह वेदना को सहन करे ॥५०॥

सुरतक्रीडा के परिश्रम से उत्पन्न पसीने की बूंदें भी तुम्हारे मुख पर शलक रही हैं और तुम अपने स्वाभाविक रूप में ओझल हो गई हो। देहधारियों की इस असारता को धिक्कार है ॥५१॥

मैंने तो मन से भी कभी तुम्हारा अप्रिय पहले कभी नहीं किया तब फिर मुझे (इस प्रकार) क्यों छोड़ रही हो। मैं तो नाममात्र के लिए इस पृथ्वी का स्वामी बना हुआ हूँ, मेरा सम्पूर्ण प्रेम तो स्वभावतः तुम्हीं में केंद्रित रहा है ॥५२॥

हे करभोरु ! फूलों से भलीभांति गुँथी हुई भौंरों के समान काली तथा घुँघराली तुम्हारी इन अलकों को हिलाता हुआ वन मेरे मन में तुम्हारे वापस लौटने (जीवित होने) का सन्देह पैदा कर रहा है ॥५३॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥५४॥
इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम्।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥५५॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम्।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥
इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥६०॥

इसलिए हे प्रिये ! तुम शीघ्र ही चेतना लाभ करके मेरे दुःख को उसी प्रकार दूर कर सकती हो जिस प्रकार प्रकाशयुक्त औषधियाँ रात्रि मे हिमालय की गुफा के अन्धकार को दूर करती हैं ॥५४॥

हिलती-डुलती अलको से युक्त किन्तु सभापण से शून्य तुम्हारा यह मुख, रात्रि मे भीतर घुसे हुए भ्रमरो के गुंजार से रहित मुकुलित कमल के समान मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है ॥५५॥

रजनी चन्द्रमा को फिर प्राप्त करती है, चकवी अपने प्रियतम चक्रवाक को फिर प्राप्त करती है—इस तरह वे दोनों अपने अपने विरह की अवधि को (समाप्त होने वाली होने के कारण) सहन कर लेते है। किन्तु तुम तो सदा के लिए चली गई हो अतः तुम मुझे क्यो नही जलाओगी ? ॥५६॥

नूतन पल्लवो की शय्या पर भी जो तुम्हारा शरीर दुखने लगता था हे सुन्दर जघाओ वाली ! तुम्हारा वही शरीर भला चितारोहण कैसे सहन करेगा ? ॥५७॥

यह पहली तथा एकान्त मे भी साथ रहने वाली तुम्हारी सखी करधनी, जो तुम्हारी चचल गति की समाप्ति के साथ मौन हो गई है, सदा के लिए सोई हुई तुम्हारे सग, शोक से मरी हुई नही लक्षित हो रही है—यह बात नही है, अर्थात् वह भी मानो तुम्हारे साथ ही मर गई है ॥५८॥

कोयलो मे अपना सुन्दर भाषण, कलहसियो मे अपनी सुन्दर मतवाली गति, हरिणियो मे चचल चितवन और पवन से किंचित् हिलती हुई लताओ मे मनोहर विलास—इन सब अपने गुणों को, स्वर्ग मे जाने के लिए उत्कण्ठित तुमने निश्चय ही मुझे देखकर (मेरा ध्यान रखकर) स्थापित किए थे किन्तु तुम्हारे विरह मे अत्यन्त पीड़ित मेरे हृदय को थे सभी सम्हालने मे असमर्थ हो रहे ॥५९-६०॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥६१॥
कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥६२॥
स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम्।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥६३॥
तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ॥६४॥
समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥६५॥
धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥६६॥
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥

तुमने इस आम और प्रियगुलता की जोडी बनाई थी। इनका विवाह सस्कार किए बिना ही तुम चली जा रही हो–यह अतीव अनुचित हो रहा है ॥६१॥

तुमसे प्राप्त (पाद-प्रहार-रूप) दोहद से युक्त यह अशोकवृक्ष जिस पुष्प को उत्पन्न करेगा, तुम्हारे केशपाश के अलकार योग्य उस पुष्प को भला मैं किस प्रकार से तुम्हारे दाह सस्कार के अनन्तर तिलाजलि मे प्रदान करूंगा ॥६२॥

हे सुन्दर शरीरवाली ! दूसरो के लिए दुर्लभ तुम्हारे बजते हुए नूपुरो से युक्त चरणो की कृपा को स्मरण करते हुए के समान यह अशोक अपनी पुष्प रूपी आँसुओ को बरसाता हुआ तुम्हारे लिए ही शोक प्रकट कर रहा है ॥६३॥

हे किन्नर के समान (मधुर) कण्ठवाली ! (सुगन्धि मे) तुम्हारे नि श्वास का अनुकरण करने वाले इन मौलसिरी के पुष्पो से, मेरे साथ आधी गूँथी हुई विलास-मेखला को बिना पूरा किए हुए ही तुम क्यो सो गई हो ॥६४॥

तुम्हारी ये सखियाँ सुख-दु ख मे समान सुख दु ख का अनुभव करने वाली हैं। यह (तुम्हारा) *बालक प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान सुन्दर है और मैं तुम्हारे प्रेम मे पहले ही* के समान एकरस हूँ। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी तुम्हारा ऐसा व्यवहार निश्चय ही बड़ा क्रूर मालूम पड रहा है ॥६५॥

आज मेरी धीरता नष्ट हो गई है। क्रीडा समाप्त हो गई है। गान विरत हो गए हैं। ऋतुएँ उत्सव-शून्य हो गई है। आभूषण पहनने का प्रयोजन समाप्त हो गया है और शय्या सदा के लिए सूनी हो गई है ॥६६॥

तुम मेरी गृहिणी, सचिव, एकान्त की सहेली और मनोहर कलाओ के प्रयोग मे प्रिय शिष्या रही हो, अतः तुम्ही बतलाओ, तुम्हारा हरण करते हुए निर्दयी काल ने मेरा क्या नही हरण कर लिया ? ॥६७॥

मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥६८॥
विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥६९॥
विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥७०॥
अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥७१॥
प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥७२॥
अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥७३॥
स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥७४॥

हे मतवाले नेत्रोंवाली ! मेरे द्वारा प्रथम पी गई स्वादिष्ट मदिरा को पीकर तुम अब मेरी आँसुओं से दूषित तथा परलोक मे प्राप्त तिलयुक्त जलांजलि का पान किस प्रकार कर सकोगी ॥६८॥

सभी प्रकार के ऐश्वर्यों के शेष रहते हुए भी तुम्हारे बिना अज का बस इतना ही (जितना तुम्हारे साथ भोग चुका था) सुख था—ऐसा समझ लो, क्योंकि अन्यान्य लुभावने पदार्थों से कभी न आकृष्ट होनेवाले मेरे सारे भोग-विषय तुम्हारे ही अधीन थे ॥६९॥

इस प्रकार अपनी प्रियतमा के लिए करुणाजनक विलाप करते हुए कोसलेश्वर अज ने उस उपवन के वृक्षों को भी मानो गिरते हुए मकरन्द रूपी आँसुओं से सिक्त कर दिया ॥७०॥

इसके अनन्तर आत्मीय जनों ने किसी प्रकार से अज की गोद से अलग कर दिव्य-पुष्पमाला-रूपी अन्तिम शृंगार से विभूषित उस सुन्दरी को अगर तथा चन्दनों के इन्धनों वाली अग्नि (चिता) के लिए समर्पित कर दिया ॥७१॥

राजा अज परम विद्वान् होकर भी अत्यन्त शोक से प्रिया के पीछे मर गए—इस लोक-निन्दा के भय से ही (राजा ने) अपने शरीर को रानी इन्दुमती के शरीर के साथ नहीं जलाया, अपितु जीवित रहने की इच्छा से नहीं ॥७२॥

इसके अनन्तर विद्वान राजा अज ने गुणमात्रावशेष अपनी सुन्दरी रानी के उद्देश्य से दस दिनों के बाद ही सभी श्राद्ध क्रियाएँ, विस्तार के साथ, नगर के उस उपवन में ही सम्पन्न कीं ॥७३॥

इन्दुमती के बिना, रात बीतने के बाद प्रभाहीन चन्द्रमा के समान उस राजा ने नगर की स्त्रियों के मुखपर बहने वाले अश्रुओं में अपने शोक के प्रवाह को देखते हुए राजधानी में प्रवेश किया ॥७४॥



अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥७५॥
असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥७६॥
मयि तस्य सुवृत्त वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥७७॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥७८॥
चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥
स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥८०॥
भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे।
इतिचोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥८१॥

इसके अनन्तर किसी यज्ञ की दीक्षा का संकल्प ग्रहण किए हुए गुरु वसिष्ठ ने अपने आश्रम पर रहते हुए ही योगदृष्टि से पत्नीवियोग से मोहित राजा अज को इस प्रकार अत्यन्त दुःखी जानकर अपने एक शिष्य द्वारा निम्नांकित सन्देश भेजा— ॥७५॥

[illegible] दुःख के कारण आपको अपनी [illegible] हैं ॥७६॥

हे सदाचारपरायण! उनके छोटे से सन्देश के शब्दों वाली वह वाणी मेरे पास है, उसे आप सुनें और अपने अत्यन्त पराक्रम के लिए सुप्रसिद्ध हे राजन्! मेरी उस वाणी को आप अपने हृदय मे धारण करें ॥७७॥

अपने प्रतिबन्ध रहित ज्ञानमय नेत्रों से वह महामुनि (वसिष्ठजी) अजन्मा पुराण पुरुष (वामन भगवान) के पगों मे अर्थात् त्रैलोक्य मे स्थित भूत, वर्तमान तथा भविष्य को (एक साथ ही) देखते रहते है। (अतः उनकी इस वाणी मे आप सन्देह न करें।) ॥७८॥

पूर्वकाल मे अतीव उग्र तपस्या मे निरत तृणबिन्दु नामक ऋषि से डरकर देवराज इन्द्र ने उनके समीप समाधि भंग करने वाली हरिणी नामक एक देवांगना को भेजा था ॥७९॥

उन्होंने शान्तिरूपी तट के लिए प्रलयकालिक तरंगों के समान अपनी तपस्या मे विघ्न पड़ने के कारण उत्पन्न क्रोध से, अपने सम्मुख मनोहर विलास दिखाने वाली उस अप्सरा-(हरिणी) को 'तुम मानुषी हो जाओ—ऐसा शाप दे दिया था ॥८०॥

'हे भगवन्! यह दासी पराधीन है। आप उसके इस प्रतिकूल आचरण को क्षमा करें'—इस प्रकार कह कर शरण मे आई हुई उस अप्सरा को महर्षि तृणबिन्दु ने देव-पुष्प देखने की अवधि तक पृथ्वी पर रहने वाली मानुषी बना दिया था ॥८१॥

अथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥८२॥
तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥८३॥
उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥८४॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥
अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥८६॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥८८॥

वही (हरिणी नामक अप्सरा इस प्रकार शापग्रस्त होकर) क्रथकैशिक वंश की कन्या के रूप में जन्म लेकर और बहुत दिनों तक तुम्हारी पटरानी बनकर, आकाश से नीचे गिरे हुए, अपने शाप से मुक्त होने के कारण-स्वरूप दिव्य-पुष्प को पाकर (शरीर त्याग के लिए) विवश हो गई। (मर गई।) ॥८२॥

इसलिए अब उसके मर जाने की चिन्ता करना व्यर्थ है। क्योंकि जो प्राण धारण करता है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है। आपको इस पृथ्वी की देखभाल करनी चाहिए क्योंकि नृपतिगण पृथ्वी से ही पत्नी वाले कहे जाते हैं ॥८३॥

अपने अभ्युदय के काल में आपने अभिमान भरी बातों को त्यागकर अपने अध्यात्मज्ञान का परिचय दिया है। अत इस मानसिक सन्ताप के उपस्थित होने के अवसर पर आप अपने उस ज्ञान का पुन दृढ़तापूर्वक परिचय दें ॥८४॥

आप भला रो-रोकर उसे कहाँ से प्राप्त कर सकेंगे? उसके पीछे मरकर भी तो आप उसे नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि मरे हुए जीवों की अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं ॥८५॥

अत मन से शोक को दूर करके अपनी पत्नी को पिण्डदानादि से आप तृप्त करें, क्योंकि निरन्तर बहनेवाला स्वजनों का आँसू (परलोक में) प्रेतात्मा को जलाता है—ऐसा मनु आदि का कथन है ॥८६॥

मरना तो शरीरधारियों का स्वभाव ही है। विद्वान् लोग कहते हैं कि जीवन ही विकृति है। जन्तु यदि जीव क्षणमात्र भी श्वास लेता हुआ ठहरता है तो वह लाभवान है ॥८७॥

मूढबुद्धि इष्टजनों के नाश को हृदय में चुभा हुआ काँटा समझता है और धैर्यवान् व्यक्ति तो उसी को (मोक्ष के साधन-भूत) श्रेष्ठमार्ग द्वारा हृदय में गड़े हुए काँटे को निकाला हुआ समझता है ॥८८॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥८९॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥९१॥

तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥९२॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥९३॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥९४॥

जब अपने ही शरीर और आत्मा का भी सयोग और वियोग सुना जाता है (देखा जाता है) तब फिर बाह्यविषयों का वियोग विद्वान् को क्यों दुःख दे—यह तुम्हीं बताओ ॥८९॥

हे जितेन्द्रियों मे श्रेष्ठ ! तुम्हारा साधारणजन की भांति शोक के वश मे होना उचित नहीं है, क्योंकि यदि हवा के चलने पर वृक्ष तथा पर्वत—दोनों चचल हो जायें तो दोनों मे अन्तर ही क्या रह जायगा ॥९०॥

राजा अज ने श्रेष्ठ बुद्धिवाले उपदेष्टा (वसिष्ठ) के वचन को—ऐसा ही करूँगा—इस प्रकार कह कर ग्रहण किया और उनके शिष्य मुनि को विदा दे दी। किन्तु (ऐसा लगता था मानो) इन्दुमती के विरह-दुःख से भरे हुए अज के हृदय मे स्थान न पाकर वह उपदेश उनके गुरु के समीप ही वापस चला गया ॥९१॥

सत्य तथा प्रिय वक्ता अज ने, अपने पुत्र के (अबोध) बाल्य होने के कारण अपनी प्रियतमा इन्दुमती के चित्रादि देखकर और स्वप्न मे उसके क्षणिक मिलन का सुख उठाते हुए किसी प्रकार आठ वर्ष का समय व्यतीत किया ॥९२॥

शोकरूपी काँटे ने राजा अज के हृदय को बलात् उसी प्रकार बेध दिया था, जैसे पीपल का नन्हा पौधा किसी भवन की छत को बलात् फोड देता है। फिर तो प्राणों का अन्त करने वाले तथा चिकित्सकों द्वारा असाध्य घोषित रोग को उस (अज) ने हितकर माना क्योंकि यह उसकी प्रियतमा (इन्दुमती) के अनुगमन मे शीघ्रता का कारण (बना हुआ) था ॥९३॥

इसके अनन्तर राजा अज ने भलीभाँति शिक्षित, कवचधारी अपने कुमार (दशरथ) को प्रजाओं की रक्षा के कार्य मे विधिपूर्वक नियुक्त कर, अपने रोगग्रस्त शरीर की कष्ट-दायिनी स्थिति से मुक्ति पाने की इच्छा से प्रायोपवेशन (उपवास द्वारा शरीर त्याग) का सकल्प ग्रहण किया ॥९४॥

तीर्थेतोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥९५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजविलापो नाम अष्टमः सर्गः॥

(तदनन्तर) राजा अज ने जाह्नवी गंगा और सरयू के जल के पुण्य संगम से निर्मित तीर्थस्थान में अपने शरीर को त्यागकर तत्काल ही देवताओं की सूची में स्थान प्राप्त किया और फिर वह पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दरी प्रियतमा के साथ नन्दनकानन स्थित क्रीड़ागारों में विहार करने लगे ॥९५॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश में अजविलाप नामक
आठवां सर्ग समाप्त ॥

# नवमः सर्गः

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः॥१॥
अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम्।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः॥२॥
उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम्।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम्॥३॥
जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे॥४॥
दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम्।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम्॥५॥

## नवाँ सर्ग

संयम से इन्द्रियों को वश में रखनेवाले तथा संयमियों एवं राजाओं—दोनों में ऊँचा स्थान प्राप्त करने वाले महारथी राजा दशरथ अपने पिता (की मृत्यु) के अनन्तर उत्तरकोशल देश की प्रजा पर शासन करने लगे॥१॥

अपने पूर्वजों से प्राप्त नगरों समेत समूचे देश की प्रजा का जो उन्होंने (राजा दशरथ ने) उचित रीति से पालन किया, इससे (क्रौञ्च नामक) पर्वत में छिद्र करने वाले अर्थात् स्वामिकार्तिकेय के समान तेजस्वी उनका प्रजावर्ग उनके प्रति अतिशय स्नेह करने वाला बन गया॥२॥

पण्डित लोग बल नामक असुर को मारने वाले देवराज इन्द्र तथा राजा मनु के वंश में उत्पन्न राजा दशरथ-इन दोनों को उचित अवसर पर जल तथा धन की वृष्टि करने के कारण लोगों के परिश्रम को दूर करने वाला कहते हैं॥३॥

[illegible] राजा होने
[illegible] ने का प्रश्न
[illegible] थी॥४॥

दसों दिशाओं के अन्त तक विजय प्राप्ति करने वाले रघु और उसके अनन्तर अज द्वारा जिस प्रकार से पृथ्वी का पोषण हुआ था उसी प्रकार पूर्ण पराक्रमी दशरथ को स्वामी के रूप में प्राप्त कर पृथ्वी पुनः शोभित नहीं हुई-ऐसा नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत वह उसी प्रकार सुख-समृद्धियों से परिपूर्ण रही॥५॥

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥६॥

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥७॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥८॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम्॥९॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः॥१०॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः॥११॥

राजा दशरथ ने समान भाव से धन की वृष्टि करके तथा असत्पुरुषों का नियमन करके क्रमशः वरुण सहित यमराज और कुबेर का तथा अपने तेज से सूर्य का अनुकरण किया। (अर्थात् जिस प्रकार से यम सबको समान दृष्टि से देखते हैं, कुबेर धन बरसाते हैं, वरुण दुष्टों का नियमन करते हैं वैसे ही राजा दशरथ भी करते थे) ॥६॥

अपने अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील राजा दशरथ को न तो शिकार का व्यसन, न जुआ, न चन्द्रमा की परछाईं वाली मदिरा और न नवयौवन शालिनी प्रियतमा—कोई भी अपने वश में नहीं कर सका॥७॥

उस राजा ने अपने शासनाधिरूढ होने पर (अर्थात् अपने शासनकाल में) इन्द्र के सामने भी दीनतापूर्ण वाणी का व्यवहार नहीं किया, हास-परिहास के प्रसंगों में भी कभी झूठ का नहीं किया और अपने शत्रु को भी कड़वी बातें नहीं कहीं॥८॥

पृथ्वी के राजाओं ने रघुकुलश्रेष्ठ दशरथ से समृद्धि और विनाश—दोनों को ही प्राप्त किया। क्योंकि अपनी आज्ञा का उल्लंघन न करने वालों के वह मित्र थे, तथा अपनी प्रति-स्पर्धा करने वालों के लिए वह लौह तुल्य (कड़े) हृदय वाले थे॥९॥

अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए राजा दशरथ ने अपने एक रथ के द्वारा समुद्रों द्वारा चतुर्दिक् वेष्टित पृथ्वी को जीत लिया और हाथियों तथा तीव्रगामी अश्वों से युक्त उनकी सेना तो केवल उनका विजयघोष मात्र करती (चलती) थी॥१०॥

गुप्त होने की शक्ति रखने वाले अथवा कवचवृन्द के कारण सुरक्षित अपने एकमात्र अनुपम रथ से पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने वाले धनुर्धारी तथा कुबेर के समान सम्पत्ति-शाली उस राजा दशरथ के लिए, मेघों के समान गर्जना करते हुए समुद्रों ने विजय की दुन्दुभियाँ बजाईं॥११॥

शमितपक्षवलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
सशरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥१२॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥१३॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥१४॥

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥१५॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥१६॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोशलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥१७॥

पुरन्दर इन्द्र ने सैकड़ों नोक वाले अपने वज्र से पर्वतों के पंखों की शक्ति को नष्ट किया तथा नवीन कमल के समान मनोहर मुखवाले राजा दशरथ ने बाणों की वृष्टि करने वाले अपने ध्वनियुक्त धनुष से शत्रुओं के पक्ष के लोगों का बल नष्ट किया ॥१२॥

सैकड़ों राजाओं ने उस अखण्ड पुरुषार्थवाले राजा (दशरथ) के चरणों में, उसके नखों के रंग से मिश्रित अपने मुकुटों के रत्नों की किरणों से उसी प्रकार प्रणाम किया जैसे देवता लोग इन्द्र को प्रणाम करते हैं। ॥१३॥

मन्त्रियों के द्वारा छोटे-छोटे बालकों से नमस्कार करवाने वाली और अलकों के संस्कार से विरहित अपने शत्रुओं की स्त्रियों पर कृपा करके राजा दशरथ अलका के समान समृद्धि-शालिनी अपनी नगरी (अयोध्या) की ओर महासमुद्र के किनारे से वापस लौट आए ॥१४॥

किसी अन्य शासक के श्वेतच्छत्र का अधिकारी न होने पर भी, अग्नि तथा चन्द्रमा के समान कान्ति वाले राजा दशरथ द्वादश राजमण्डलों में अधीश्वर अर्थात् चक्रवर्ती होते हुए भी, लक्ष्मी को थोड़ा भी दोष या छिद्र पाने पर छोड़कर चली जाने वाली चंचला सोचकर सर्वदा निरालस अर्थात् कर्तव्यपरायण बने रहते थे ॥१५॥

पतिपरायणा कमलासना अथवा कमलहस्ता लक्ष्मी ने अतिथियों अथवा याचकों से कभी विमुख न होने वाले ककुत्स्थवंशोत्पन्न उस राजा दशरथ को और अपने पति भगवान् विष्णु को छोड़कर दूसरे किस राजा अथवा देवता की सेवा की, अर्थात किसी की नहीं ॥१६॥

पति को ही देवता माननेवाली मगध, कोशल एवं कैकय देश की राजकन्याओं (सुमित्रा, कौशल्या और कैकेयी) ने शत्रुओं पर अपने बाणों का आरोपित करनेवाले उस राजा (दशरथ) को उसी प्रकार अपने पति के रूप में प्राप्त किया, जिस प्रकार पर्वतों की पुत्रियाँ (नदियाँ) समुद्र को प्राप्त करती हैं ॥१७॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥१८॥
स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥१९॥
क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥२०॥
अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम्।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥२१॥
अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥२२॥
असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥२३॥

अपने शत्रुओं के विनाश के उपायों में दक्ष राजा दशरथ अपनी (उपर्युक्त) तीनों प्रियतमा स्त्रियों तथा अपने प्रजावर्ग को विनीत करने की इच्छा से प्रभु, मन्त्र तथा उत्साह —इन तीनों शक्तियों के साथ पृथ्वी पर आए हुए शत्रुनाशक उपायों में दक्ष हरिताश्व इन्द्र की भांति शोभायमान हुए॥१८॥

उस महारथी राजा दशरथ ने युद्धस्थल में इन्द्र की सहायता करके अपने बाणों से भयमुक्त देवांगनाओं के द्वारा अपने बाहुबल के पराक्रम के गीत गवाए॥१९॥

अश्वमेध यज्ञों में अपने मुकुटों को अलग रख देने वाले और अपने बाहुबल से दिग्विजय द्वारा धन अर्जित करने वाले तमोगुण से विहीन उस राजा (दशरथ) ने तमसा और सरयू नदियों के तटों को सुवर्ण-निर्मित यज्ञ-स्तम्भों की ऊंचाई से (स्थापना करके) सुशोभित किया॥२०॥

शिवजी ने मृगचर्म और दण्ड से विभूषित, कुश-निर्मित मेखलाधारी, वाणी का संयम धारण कर हाथ में हरिण की सींग[1] लिए हुए, यज्ञ की दीक्षा में दीक्षित राजा दशरथ के ही शरीर में निवास कर उसे अनुपम कान्ति से सुशोभित किया॥२१॥

यज्ञ की समाप्ति पर अवभृथ स्नान से विशुद्ध, जितेन्द्रिय एवं देवसभा में बैठने योग्य राजा दशरथ अपने उन्नत ललाट को केवल जल-वृष्टि करने वाले नमुचि शत्रु इन्द्र के लिये विनम्र करते थे॥२२॥

(इस प्रकार) अनुपम महारथी, परम बलवान्, इन्द्र के आगे-आगे चलने वाले धनुर्धर उस राजा (दशरथ) ने सूर्य के सम्मुख उड़ने वाली रणभूमि की धूलि का राक्षसों के रक्त से अनेक बार शान्त किया था॥२३॥

---

१. अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित होने पर यजमान को अपने हाथ से शरीर खुजलाने का निषेध रहता है अतः वे हरिण का सींग लिये रहते हैं, जिससे शरीर की खुजलाहट को शान्त करते हैं।

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥२४॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥२५॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥२७॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥२९॥

इसके अनन्तर यम, कुबेर, वरुण एवं इन्द्र के समान धुरीण श्रेष्ठ पराक्रमशाली एवं चक्रवर्ती उस राजा (दशरथ) की मानो सेवा करने के लिए ही वसन्त ऋतु नूतन-नूतन पुष्पों से युक्त होकर आ पहुँचा ॥२४॥

कुबेर द्वारा पालित (उत्तर) दिशा में जाने के अभिलाषी, सारथी अरुण द्वारा प्रेरित अश्वों वाले सूर्य ने, हिम (तुषार) को दूर करके प्रातःकाल के वातावरण को निर्मल करते हुए मलयपर्वत का त्याग किया (अर्थात् सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण में गए) ॥२५॥

पहले पुष्प निकले, फिर नूतन पल्लव आए और उसके बाद भ्रमरों और कोयलों ने बोलना आरम्भ किया। इस प्रकार वसन्त ऋतु क्रमानुसार वृक्षों वाली वनस्थली में उतर कर प्रकट हुआ ॥२६॥

नीति तथा परोपकारादि गुणों से समृद्ध तथा सत्पुरुषों के उपकार में प्रयुक्त की जाने वाली राजा (दशरथ) की सम्पत्ति के याचकों के समान, वसन्त ऋतु से परिपुष्ट सरोवर की कमलिनियों को भ्रमरों तथा जलचर पक्षियों ने घेर लिया ॥२७॥

वसन्त ऋतु में उत्पन्न अशोक वृक्ष का केवल पुष्प ही कामोद्दीपक नहीं हुआ, वरन् विलासियों को उन्मत्त करने वाला, उनकी प्रियतमाओं के कानों में आभूषण बना हुआ अशोक का नवपल्लव भी कामोद्दीपक हुआ ॥२८॥

वसन्त ऋतु द्वारा उपवन की शोभा के रूप में निर्मित पत्ररचना (वर्णाभरण) के समान दिखाई पड़ने वाले, प्रचुर मधुदान करने में दक्ष रक्त पुष्पधारी कुरबक (कटसरैया) के वृक्ष भ्रमरों को गूँजने की प्रेरणा देने लगे ॥२९॥

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥३०॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥३१॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥३२॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहृतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥

मधुरभाषिणी स्त्रियों के मुख की मदिरा से उत्पन्न और उन्हीं के गुणों का अनुसरण करते हुए पुष्पों के खिलने से मधु के लोभी एवं लम्बी-लम्बी पंक्तियों को बाँधकर आते हुए भ्रमरों ने बकुल (मौलसिरी) के वृक्षों को व्याकुल (आकीर्ण) कर दिया ॥३०॥

(नायिका) वसन्तश्री के द्वारा (नायक) पलाश के वृक्षों में उत्पन्न कलियों के समूह, मदिरा के प्रभाव से लज्जाविहीन रमणी के द्वारा अपने प्रियतम के अंगों पर किए गए नखक्षत-रूपी आभूषण के समान शोभा देने लगे ॥३१॥

दन्तक्षत के कारण आहत सुन्दरियों के अधरों के लिए कठिनाई से सह्य एवं नितम्ब स्थल से करधनी को हटाने वाली ठण्ड को सूर्य ने एकदम दूर तो नहीं किया किन्तु उसे कम अवश्य कर दिया ॥३२॥

हावभाव की सूचना देने वाले व्यापारों के अभ्यास के लिए मानो सन्नद्ध (नर्तकी) के समान स्थित, मलयगिरि की वायु से कम्पित पल्लवों वाली कलियों से युक्त आम की डालियों ने, राग तथा द्वेष को जीतनेवालों के मन को भी मतवाला बना दिया ॥३३॥

सुगन्धि युक्त पुष्पों से लदी वन-पंक्तियों में सर्वप्रथम कोयलों द्वारा बोली गई संक्षिप्त वाणी मितभाषिणी मुग्धा रमणियों की (अति संक्षिप्त) बोलियों के समान सुनी गई ॥३४॥

वे उपवन की लताएँ, जिनके गीत, कानों को सुख देने वाली भ्रमरों की गुंजारें थीं, जिनके दाँतों की कोमल कांति स्वयं उनके पुष्प थे, और जिनके हाथ, मानो हवा के हिलाए गए पल्लव थे, (सुन्दरियों की भाँति) अतीव मनोहर लग रही थीं ॥३५॥

मधुर विलास की क्रीडा को परितार्थ करने में दक्ष, अपनी सुगन्ध से बकुल के पुष्पों को पराजित करने वाले तथा कामदेव के साथी मदिरा का, रमणियों ने अपने प्रियतमों के प्रति अखण्ड प्रेम की भावना से पान किया ॥३६॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः॥३७॥
उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः॥३८॥
अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम्॥३९॥
हुतहुताशनदीप्तिवनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम्॥४०॥
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥४१॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी॥४२॥

पुष्पित कमलों से सुशोभित एवं मद के कारण मधुर कलरव करते हुए चंचल जलपक्षियों से युक्त घर की बावलियाँ ऐसी शोभा दे रही थीं मानो वे मधुर मुस्कराहट से सुन्दर मुखों वाली एवं ढीली होने के कारण बजती हुई करधनी पहने सुन्दरी स्त्रियाँ हों॥३७॥

वसन्त ऋतु द्वारा खण्डित, चन्द्रमा के उदय से पीतवर्ण के मुख की शोभावाली रात्रि-रूपी वधू, प्रियतम के समागम का सुख न पाने वाली खण्डिता नायिका के समान (उत्तरोत्तर) क्षीण होती गई॥३८॥

हिमांशु चन्द्रमा ने, तुषार के दूर हो जाने के कारण निर्मल कान्तिवाली तथा रतिक्रीडा से उत्पन्न परिश्रम को दूर करने वाली अपनी किरणों से उन्नत मकराकृति पताका वाले कुसुमसायक कामदेव को और भी तेजस्वी अथवा तीव्र बना दिया॥३९॥

प्रज्वलित अग्नि के समान कान्तियुक्त, जो (कनेर का) पुष्प, वनलक्ष्मी के सुवर्ण निर्मित आभूषणों का प्रतिनिधित्व कर रहा था, उन कोमल पंखुड़ियों तथा परागों से युक्त अपने प्रियतमों द्वारा लगाए गए सुन्दर पुष्प को सुन्दरियों ने अपनी अलकों में धारण किया॥४०॥

कज्जल के बिन्दु के समान सुन्दर, पुष्प समूहों पर मंडराते हुए भ्रमरों से चित्रित तिलक के वृक्ष, स्त्रियों के तिलक के समान वनस्थली को सुशोभित नहीं करते थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता॥४१॥

वृक्षों की सुन्दरी विलासिनी के समान मल्लिका की लता, पराग तथा सुगन्धि से युक्त, अपने नवपल्लवरूपी अधरों से सलग्न तथा पुष्पों से भरी अपनी मादक मुस्कान की शोभा से चित्त को उन्मद बना रही थी॥४२॥

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसंनिभः ॥४८॥

अरुण की अरुणिमा को भी तिरस्कृत करने वाले (लाल रंग के) वस्त्र, कानों में आभूषण बने हुए यव के अंकुर एवं कोयलों की कूक—इन कामदेव के सेनारूपी साधनों ने विलासी पुरुषों को स्त्रियों में नितान्त आसक्त बना दिया ॥४३॥

उज्ज्वल पराग में सुपुष्ट अंगोंवाली भ्रमरों की पंक्तियों के बैठने से सुशोभित तिलक वृक्ष की मंजरी, केश-पाश को बाँधने वाली जालियों में गुँथे मोती के दानों के समान दिखलाई पड़ने लगी ॥४४॥

भ्रमरों की पंक्तियाँ धनुष धारण करने वाले कामदेव की पताका (के वस्त्र) एवं वसन्त ऋतु की शोभा को बढ़ाने के लिए सुन्दर मुखचूर्ण (पाउडर) के समान, वायुसहित उपवन में उड़ते हुए पुष्प-पराग के पीछे पीछे-चल पड़ीं ॥४५॥

नए झूले पर चढ़कर वसन्तोत्सव का आनन्द मनाती हुई रमणियों ने, झूलने में प्रवीण होते हुए भी, अपने प्रियतमों के कण्ठ से लिपटने की इच्छा से, बैठने वाले आसन में बँधी डोरियों को पकड़ने में अपनी भुजा-रूपी लताओं को ढीला कर दिया ॥४६॥

अरे ! तुम मान को त्याग दो और विरोध समाप्त कर लो, आनन्द लेने के लिए उपयुक्त जवानी बीत जाने के बाद फिर नहीं मिलती—इस प्रकार के कोयलों के कामोत्तेजक वचन कहने पर मानो स्त्रियाँ (सचमुच अपना) मान-भंग करके अपने प्रियतमों के साथ रमण करने लगीं ॥४७॥

इसके अनन्तर स्त्रियों के साथ इच्छानुसार वसन्तोत्सव का आनन्द मनाकर विष्णु, वसन्त एवं कामदेव के समान राजा (दशरथ) ने मृगया का आनन्द लेने की इच्छा की ॥४८॥

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४९॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥५०॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥५१॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥५२॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरंगमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥५३॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोपितकेशरी ॥५४॥

यह मृगया चलते हुए लक्ष्य को मार गिराने का अभ्यास कराती है, (जीवों के) भय एवं क्रोध की चेष्टाओं से परिचय कराती है एवं शरीर की थकावट को जीतने से (शरीर मे) फुर्ती लाती है—अतः अपने मन्त्रियों से परामर्श लेकर राजा मृगयार्थ वन को गए॥४९॥

मृगो से भरे हुए वन मे जाने योग्य वेश धारण कर, राजाओं में सूर्य के समान तेजस्वी राजा (दशरथ) ने अपने विशाल कंधे पर धनुष धारण कर, अश्व की खुरों से उड़ी हुई धूल से आकाश को मानो ढँक-सा दिया ॥५०॥

वनमाला से अपनी केशराशि को बाँधे, वृक्षों के पत्तों के समान हरे रंग का कवच पहने एवं अश्व की उछलती हुई चाल से हिलते हुए कुण्डलों से सुशोभित राजा (दशरथ) रुरु नामक मृगों से युक्त वन में शोभायमान हुए ॥५१॥

छरहरी लताओं मे अपने शरीर को तथा भ्रमरों मे नेत्रों की चेष्टाओं को सङ्क्रमित (केन्द्रित) कर वनदेवियों ने मार्ग में (जाते हुए) सुन्दर नेत्रों वाले तथा नीति से कोसल की प्रजा को आनन्दित करने वाले राजा (दशरथ) को देखा ॥५२॥

[illegible]

इसके बाद अपने धनुष की टंकार से सिंहों को उत्तेजित करने वाले मनोव्यथा से मुक्त नरश्रेष्ठ राजा (दशरथ) ने, प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को सुवर्ण—के समान पीले रंग की बिजली रूपी डोरी वाले इन्द्र-धनुष को, भाद्रपद महीने के समान ग्रहण किया ॥५४॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५५॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥५६॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया सधन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार ॥५७॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥५८॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥५९॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥

राजा के सम्मुख मृगों का एक झुण्ड आया, जिसमें थन पीने के लिए उत्सुक मृगों के छौने हरिणियों की गति को बारबार रोक रहे थे और जिसके आगे मुख में कुश दबाए गर्वोन्मत्त एक कृष्णसार मृग चल रहा था ॥५५॥

वेगवान घोड़े पर चढ़े हुए राजा (दशरथ) के द्वारा अभिलषित वह मृगों का झुण्ड तूणीर के मुख से निकाले गए बाण के कारण इधर-उधर बिखर गया और तब उनकी अश्रुयुक्त एवं भय-व्याकुल दृष्टियों के देखने से वन का रंग इस प्रकार श्यामल वर्ण का हो गया मानो चंचल वायु के कारण नीले कमल की पंखुड़ियाँ बिखर गई हों ॥५६॥

विष्णु अथवा इन्द्र के समान पराक्रमशाली धनुर्धर राजा ने निशाना बनाए हुए हरिण के शरीर को आड़ में करके खड़ी हुई हरिणी को देखकर, अपने कान तक खींचे गए धनुष पर रखे हुए बाण को भी, अपने स्त्री के प्रति अतीव प्रेमी स्वभाव का होने के कारण, दयार्द्र चित्त होकर, उतार लिया ॥५७॥

भय के कारण हरिणों के अत्यन्त चंचल सुन्दर नेत्रों द्वारा (नेत्रों को देखकर) अपनी प्रौढ़ प्रियतमाओं के नेत्रों की विलासपूर्ण चेष्टाओं का स्मरण करते हुए राजा की दृढ़ मुट्ठी अन्य मृगों पर बाण चलाने की इच्छा होते हुए भी कान के समीप तक पहुंच कर ढीली पड़ गई ॥५८॥

(इसके बाद) राजा ने मोथे के अंकुरों के ग्रास के तिनकों से व्याप्त, बड़ी दूर तक गीले पद-चिह्नों की पंक्तियों से स्पष्ट, तत्काल ही गड्ढों से निकल कर भागे हुए सुअरों के झुंडों के मार्ग का अनुसरण किया ॥५९॥

घोड़े पर शरीर को थोड़ा झुकाकर प्रहार करते हुए राजा को, अपनी गरदन के बालों को खड़ा कर सुअरों ने मारना चाहा, किन्तु राजा के बाणों द्वारा सहसा अपनी आश्रयों के आश्रयभूत वृक्षों में वे स्वयं बिंध गए हैं—ऐसा वे नहीं जान सके ॥६०॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥६१॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
शृङ्गं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥६३॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥६४॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान्।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥६५॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥६६॥

वेग से प्रहार करने वाले आक्रमणकारी एक भैंसे की आख मे राजा द्वारा खीचकर मारा गया बाण, उसके (भैंसे के) शरीर को भेदकर इस प्रकार बाहर निकल गया कि उसके पख मे रक्त भी नही लगा। (इस प्रकार) उसने भैंसे को तो पहले गिराया और स्वय बाद मे गिरा ॥६१॥

राजा ने अपने तीव्र क्षुरप्र नामक (अर्धचन्द्राकार) बाणो से बारहसिगो की अधिकाश सीगो को काट काट कर उन्हे हल्के शिरो वाला बना दिया। अभिमानियो को विनयी बनाने के लिए नियुक्त राजा ने उनकी सीगो को सहन नही किया। उनकी दीर्घायु को नहीं सहन किया—ऐसी बात नही थी ॥६२॥

निर्भीक राजा ने गुफाओ मे से निकल कर अपने ऊपर टूट पडने वाले बाघों को, विशेष रूप से सीखे गये हस्तलाघव द्वारा, क्षणभर मे ही उनके खुले हुए मुखो मे बाण भरकर, तूणीर बना दिया। वे उस समय ऐसे दिखाई पडने लगे मानो आधी से उखडे हुए पुष्पित सर्ज (आसन) के वृक्ष की फुनगियाँ हो ॥६३॥

कुजो मे छिपे हुए सिंहो को मारने के इच्छुक राजा (दशरथ) ने, वज्र के निर्घोष के समान तीव्र धनुष की टकार से उन्हे व्याकुल कर दिया। ऐसा मालूम पडा कि निश्चय ही उन अत्यन्त प्रतापी सिंहो के लिए राजा के मन मे इसलिए ईर्ष्या उत्पन्न हुई होगी कि इन जगली पशुओ के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग क्यो किया गया है ? ॥६४॥

ककुत्स्थ वशोत्पन्न राजा (दशरथ) ने गज-समूहों से घोर विरोध करने वाले उन सिंहो को मारकर, जिनके टेढे-मेढे नखो के अग्रभागो मे गज-मुक्ताएँ लगी थी, युद्धकार्य मे उपकार करने वाले हाथियो के ऋण से अपने को मुक्त हुआ समझा ॥६५॥

चमर मृगो के चारो ओर अपने घोडे को दौडाते हुए तथा धनुष को कान तक खीचकर भल्ल नामक बाण मारने वाले राजा (दशरथ), उन्हे शत्रुपट (अपने शत्रु) राजाओ के समान श्वेतरग के बालो वाले चामरो से रहित बना करके शान्त हो गए॥६६॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥६७॥

तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥६८॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥६९॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥७०॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितवन्दिमङ्गलानि ॥७१॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥

राजा ने अपने घोड़े के समीप उड़ते हुए सुन्दर कलाप वाले मयूरों को अपने बाण का लक्ष्य इसलिए नहीं बनाया कि (उन्हें देखकर) रंग-बिरंगी मालाओं से गूंथे तथा रतिक्रीड़ा में बन्धन के शिथिल हो जाने से बिखरे हुए अपनी प्रियतमा के केश पाशों में तुरन्त उनका मन जा लगा ॥६७॥

(इस प्रकार) राजा के कठिन मृगया-विहार करने से उत्पन्न मुख पर फैले पसीने की बूँदों के समूहों को, शीतल हिमकणों से युक्त तथा पल्लवों के बन्द कोषों को खोलने वाले वन के वायु ने आचमन (पान) कर लिया ॥६८॥

इस प्रकार अपने दूसरे कर्त्तव्यों को भूले हुए, राज्यभार को मन्त्रियों पर डाले हुए तथा निरन्तर सेवन से अधिक आसक्तियुक्त राजा (दशरथ) को मृगया ने चतुर कामिनी के समान अपने वश में कर लिया ॥६९॥

राजा ने सुन्दर पुष्पों तथा नूतन पल्लवों की शय्या से युक्त एवं प्रकाशमान ओषधियों के दीपक से सुशोभित रजनी को वहीं पर अपने परिजनों से वियुक्त होकर बिताया ॥७०॥

प्रातःकाल बजे हुए नगाड़े की ध्वनि के समान ध्वनि करने वाली हाथियों के कानों की आवाज से निद्रामुक्त राजा (दशरथ), पक्षियों के मधुर कलरव-रूपी वन्दीजनों की मंगल-स्तुतियों को सुनकर अतीव प्रसन्न हुए ॥७१॥

इसके बाद एक बार रुरु मृगों का पीछा करते हुए अपने निजी सहायकों की दृष्टि से ओझल हो, अति परिश्रम से फेन गिराते हुए घोड़े पर आरूढ़ राजा बहुसंख्यक तपस्वियों से सेवित तमसा नदी के तट पर जा पहुँचे ॥७२॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्य।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥७३॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥७५॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥७६॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥७७॥

तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥७८॥

उस तमसा नदी के जल (प्रवाह) में घड़ा भरने से उत्पन्न मधुर किन्तु गम्भीर आवाज हुई, जिसे हाथी का शब्द समझकर राजा ने शब्दवेधी बाण मारा ॥७३॥

यद्द हाथी के मारने का कार्य राजा के लिए निषिद्ध था, किन्तु राजा (दशरथ) ने उसका उल्लंघन किया। (सच है) विद्वान् पुरुष भी राजसी गुणों से अभिभूत होकर अनुचित मार्ग पर पदार्पण कर बैठते हैं ॥७४॥

'हा तात'—ऐसा कह कर किए गए चीत्कार को सुनकर राजा का उत्साह लुप्त हो गया। बेंतों के झुरमुट में हुए उस चीत्कार के कारण का पता लगाते हुए उन्होंने हाथ में घड़ा लिए बाण से आहत उस मुनिकुमार को देखा। फिर तो वह ऐसे दुःखी हुए मानो वह बाण उन्हीं के हृदय में चुभ गया हो ॥७५॥

विख्यात (रघु) कुल में उत्पन्न राजा ने घोड़े से नीचे उतरकर उस मुनिकुमार से उसका कुल पूछा तो जल के घड़े पर अपने शरीर को टिकाए हुए लड़खड़ाते शब्दों में उसने बताया कि—वह अब्राह्मण (वैश्य पिता से शूद्र माता में उत्पन्न करण संज्ञक) मुनि का पुत्र है ॥७६॥

उसके ऐसा बताने पर राजा बिना उसके शरीर से बाण को निकाले ही, उसे उसके अन्धे माता पिता के समीप ले गए और एकलौते पुत्र वाले उन लोगों से उक्त प्रकार में अज्ञान में किए गए अपने (इस अपराधयुक्त) कार्य के सम्बन्ध में बतलाया ॥७७॥

फिर तो उक्त दम्पत्ति ने बहुत विलाप करके अपने (प्यारे) बालक की छाती में गड़े हुए बाण को, उसको मारने वाले राजा के हाथ से बाहर निकलवाया, जिससे वह बालक (तत्काल) मर गया। इसके बाद वृद्ध मुनि ने चुल्लू में आँसुओं को ही लेकर राजा को यह शाप दिया ॥७८॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ॥७९॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥८०॥

इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥८१॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा संपाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥८२॥

इति श्रीमहाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥

'हे राजन्! आप भी वृद्धावस्था में मेरे ही समान पुत्र के शोक से मरेंगे'—ऐसा शाप देने वाले उस वृद्ध मुनि से, जो पहले चोट खाकर बाद में विष उगलने वाले सर्प के समान था, स्वयं पहले अपराध करने वाले कोसल नरेश दशरथ ने कहा—॥७९॥

पुत्र के मुख-कमल की शोभा न देखने वाले मुझ पर आपने यह अनुग्रह-रूपी शाप गिराया है। ईंधन से बढ़ी हुई अग्नि कृषियोग्य भूमि को जलाकर भी उसे अत्यधिक बीज के अङ्कुरों को उत्पन्न करने वाली बनाती है॥८०॥

पुनः पृथ्वीपति दशरथने (उस मुनि से) कहा—'मैं अति क्रूरकर्मा हूं, अतः आपके सम्मुख वध करने योग्य हूं। मुझे क्या करना चाहिए, आदेश दें।' किन्तु उक्त मुनि अपनी पत्नी के साथ मृतक पुत्र का अनुगमन करना चाहते थे अतः उन्होंने (अपने लिए) एक जलती हुई चिता तैयार करने के लिए कहा—॥८१॥

राजा के समीप तब तक उनके अनुचर पहुंच चुके थे, अतः उन्होंने शीघ्र ही मुनि की आज्ञा पूरी की। अपने इस पाप-कर्म के कारण राजा धैर्यरहित होकर अन्तःकरण में स्थित उस विनाशकारी शाप को उसी प्रकार धारण करते हुए अपनी राजधानी को लौट आए जिस प्रकार समुद्र बड़वानल को धारण करता है॥८२॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में मृगयावर्णन नामक
नवाँ सर्ग समाप्त॥

# दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥१॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥२॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरं नृपः।
प्राङ् मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥३॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥४॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम्।
अभिजग्मुर्निदाघार्तश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥५॥

# दसवाँ सर्ग

इस प्रकार देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी, पूर्ण समृद्धिशाली राजा दशरथ के पृथ्वी पर शासन करते हुए कुछ कम दस हजार वर्ष बीत गए॥१॥

(किन्तु) वे अपने पूर्वजों के ऋण से उन्मुक्त करने के साधन-स्वरूप और तत्काल ही शोक-रूपी अन्धकार को दूर करने वाली पुत्र-रूपी ज्योति को नहीं प्राप्त कर सके ॥२॥

मन्थन से पूर्व जिसके रत्नों की उत्पत्ति प्रकट नहीं हुई थी, उस रत्नाकर समुद्र की भांति राजा दशरथ भी लम्बी अवधि तक--सन्तान के लिए कुछ उपाय करने तक-(पुत्र की) प्रतीक्षा करते रहे ॥३॥

तब ऋष्यशृंग आदि महात्मा एवं अन्तःकरणजयी ऋत्विजों ने सन्तान के अभिलाषी राजा (दशरथ) के लिए पुत्रेष्टि नामक यज्ञ का आरम्भ कराया ॥४॥

ठीक उसी समय पुलस्त्य ऋषि के वंशज रावण द्वारा पीड़ित देवता लोग उसी प्रकार भगवान् विष्णु की शरण में गए थे जैसे धूप से पीड़ित पथिकजन वृक्ष की छाया में जाते हैं ॥५॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्॥६॥
भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्॥७॥
श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे॥८॥
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम्।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम्॥९॥
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम्।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा॥१०॥
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम्॥११॥
दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम्॥१२॥

देवता लोग (ज्योंही) समुद्र (भगवान विष्णु के निवास स्थान क्षीर-समुद्र) के समीप पहुँचे (त्योंही) आदिपुरुष भगवान विष्णु योगनिद्रा से जाग गए। किसी काम में व्यवधान का न होना उस कार्य की सफलता की शुभ-सूचना है॥६॥

देवताओं ने शेषनाग के शरीर पर विराजमान भगवान विष्णु को देखा, जिनका शरीर शेषनाग के फणों में विद्यमान प्रकाश की किरणें बिखेरने वाली मणियों से जगमगा रहा था॥७॥

भगवान विष्णु ने अपने चरणों को कमलासना लक्ष्मी की गोद में रखा था, जिन्होंने करधनी पहनने के स्थान को रेशमी दुपट्टे से ढँका था और अपने कर-पल्लवों से उनके चरणों को पलोट रही थीं॥८॥

खूब खिले हुए श्वेत-कमल के समान उनकी आँखें थीं और प्रभात की धूप के रंग के समान उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा था। इस प्रकार शरत्काल के दिन के समान उनकी (निराली) छटा योगियों के लिए अतीव सुखदायिनी थी॥९॥

भगवान विष्णु ने अपने विशाल वक्षस्थल पर समुद्र के सर्वस्व कौस्तुभ मणि को धारण कर रखा था, जो लक्ष्मी की चेष्टाओं के लिए दर्पण के समान था और अपनी चमक से उनके श्रीवत्स नामक चिह्न को प्रकाशमान कर रहा था॥१०॥

वृक्षों की शाखाओं के समान दिव्याभरणों से विभूषित अपनी विशाल भुजाओं से (उस समय) वह ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानो (समुद्र के) जल में कोई दूसरा पारिजात वृक्ष आविर्भूत हो गया हो॥११॥

दैत्यों की रमणियों के कपोलों पर कस्तूरी से बनी रेखाओं और चित्रकारियों को नष्ट करने वाले उनके सजीव अस्त्र उनका जय-जयकार कर रहे थे॥१२॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥१३॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥१४॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम्।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥१५॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥

शेषनाग के साथ अपना (वंशपरम्परागत) विरोध छोड़े हुए, वज्र के प्रहारों के चिह्नों से चिह्नित गरुड विनीत मुद्रा में उनके सम्मुख हाथ जोड़कर उपस्थित थे ॥१३॥

योगनिद्रा की समाप्ति के अनन्तर अपनी निर्मल एवं पवित्र दृष्टि से, सुखपूर्वक शयन का समाचार पूछने के लिए आए हुए भृगु आदि ऋषियों को वह अनुगृहीत कर रहे थे ॥१४॥

दर्शन के अनन्तर उन देवताओं ने असुरों के विनाशक, स्तुति के योग्य, वाणी और मन से अगोचर भगवान् विष्णु को प्रणाम कर उनकी इस प्रकार स्तुति की ॥१५—॥

पहले विश्व की सृष्टि करने वाले, उसके अनन्तर उसका पालन-पोषण करने वाले, और फिर उसका संहार करने वाले तीन रूपों में स्थित आत्मस्वरूप आपको (हम सबका) नमस्कार है ॥१६॥

सर्वदा मधुर रहने वाला एकरस वर्षा का जल जैसे देश-देश में पहुँच कर अन्यान्य रसों वाला हो जाता है उसी प्रकार विकार रहित तुम भी (सत्त्वादि) गुणों में स्थित होकर उक्त स्रष्टा आदि रूपों को धारण करते हो ॥१७॥

हे भगवन्! तुम अपरिमेय होकर भी समस्त लोकों को मापने वाले हो, निस्पृह होकर भी प्रार्थना को पूरी करने वाले हो, अजित होकर भी जयशील हो और अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी इस स्थूल जगत् के कारण-स्वरूप हो ॥१८॥

ऋषि लोग तुम्हें हृदय में विद्यमान होते हुए भी दूरवर्ती, कामनाओं से सर्वथा रहित होते हुए भी तपस्वी, दयालु होकर भी दुःख से अछूता और पुराण-पुरुष होते हुए भी जरारहित जानते हैं ॥१९॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥२०॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम्।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥२१॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥२२॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥२३॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥२४॥
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥२५॥
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥

हे भगवन्! तुम सर्वज्ञ हो, तुम्हें सम्पूर्ण रीति से कोई नहीं जान पाता। सबके कारण होते हुए भी तुम स्वयम्भू (स्वयं उत्पन्न होने वाले) हो, सबके स्वामी होकर भी स्वामी-रहित हो और एकाकी होते हुए भी सभी रूपों को धारण करने वाले हो ॥२०॥

विद्वान् लोग कहते हैं कि सामवेद के सातों (रथन्तर आदि) मन्त्रों से तुम्हारी स्तुति की गई है, सातों समुद्रों के जल में तुम शयन करते हो, तुम्हारे मुख में सातों अग्नियों का निवास है और सातों लोकों के एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो ॥२१॥

आपके चतुर्मुख रूप ब्रह्मा से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाले ज्ञान, काल की अवस्था की सूचना देने वाले सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—ये चार युग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त जन-समाज की सृष्टि हुई है ॥२२॥

योगी लोग अभ्यास द्वारा वशीकृत एवं मन के द्वारा हृदय में अवस्थित आपके ज्योतिःस्वरूप का अपनी मुक्ति के लिए ध्यान करते हैं ॥२३॥

अजन्मा होकर भी जन्म (अवतार) लेने वाले, इच्छारहित होकर भी शत्रुओं का नाश करने वाले और सोते हुए भी सर्वदा जागरूक आपकी वास्तविकता को कौन जानता है? ॥२४॥

अवतार धारण कर शब्द आदि विषयों को भोगने, कठोर तपस्या करने एवं असुरों का विनाश कर प्रजा की रक्षा करने के साथ ही तुम तटस्थ (उदासीन) होकर रहने में समर्थ हो ॥२५॥

सांख्य आदि शास्त्रों द्वारा अनेक प्रकार से भिन्न बनाए जाने पर भी, पुरुषार्थ को सफल बनाने वाले सभी मार्ग आपमें ही जाकर उसी प्रकार समाप्त होते हैं जैसे गंगा के प्रवाह अन्त में समुद्र में जाकर गिरते हैं ॥२६॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूः संनिवृत्तये ॥२७॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥२८॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥२९॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥३०॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥

इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥३३॥

तुम्हीं में अपना ध्यान केन्द्रित करने वाले और तुम्हीं को अपना सम्पूर्ण कर्म समर्पित करने वाले विरक्त लोगों को बारम्बार जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए एकमात्र तुम्हीं गति हो ॥२७॥

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानने योग्य होकर भी पृथ्वी आदि के रूप में विद्यमान आपकी महिमा के विस्तार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वेदवाक्य और अनुमान—इन्हीं दो के द्वारा आप जाने जा सकते हैं। आपके विषय में क्या कहा जाय ? ॥२८॥

स्मरण करने मात्र से आप अपने जनों को पवित्र कर देते हैं। फिर तो स्मरण करने से ही दर्शन पूजन आदि के रूप में आपके प्रति किए जाने वाले व्यवहारों का जो लाभ होता है उसके पुण्य का वर्णन कौन कर सकता है ॥२९॥

समुद्र के रत्नों एवं सूर्य की किरणों के समान वाणी और मन से अगोचर आपके चरित स्तुति की सीमा से परे हैं ॥३०॥

तुम्हें कोई भी वस्तु अप्राप्त अथवा अप्राप्तव्य (नहीं मिलने योग्य) नहीं है। किन्तु लोक पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्म का कारण है ॥३१॥

तुम्हारी महिमा का गायन करके यदि वाणी चुप हो जाती है तो केवल इसलिए कि वह थक जाती है अथवा उसकी सामर्थ्य की समाप्ति हो जाती है, इसलिए नहीं कि तुम्हारे गुणों की सीमा इतनी ही है ॥३२॥

इस प्रकार उपर्युक्त प्रार्थना कर उन देवताओं ने भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लिया। क्योंकि देवताओं की ये उक्तियाँ सर्वोच्च स्थिति वाले भगवान् विष्णु की स्तुतिमात्र नहीं थीं अपितु उनमें उनकी वास्तविकता का कथन भी था ॥३३॥

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥३४॥

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥३५॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥३७॥

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥३८॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम्।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥४०॥

कुशल-क्षेम का प्रश्न करके अपनी प्रीति प्रकट करने वाले भगवान् विष्णु से देवताओं ने कहा कि—बिना प्रलयकाल के ही तट (मर्यादा) से ऊपर आकर उथल-पुथल मचाने वाले राक्षस-रूपी समुद्र से (संसार को) भय उत्पन्न हो गया है ॥३४॥

तदनन्तर अपनी वाणी से समुद्र की गर्जना को भी तिरस्कृत करते हुए भगवान् विष्णु जब बोले तब उनके स्वर से (क्षीर) समुद्र के तट पर अवस्थित पर्वतों की गुफाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं ॥३५॥

वर्णों के उच्चारण स्थानों से भलीभाँति उच्चारित की गई और इसी कारण से संस्कारयुक्त उस प्राचीन कवि (विष्णु भगवान्) की वाणी मानो चरितार्थ हो गई ॥३६॥

सर्वसमर्थ (भगवान् विष्णु) के मुख से निकली हुई तथा दाँतों की कान्ति से युक्त वह वाणी (उन्हीं के) चरण से ऊपर की ओर बहने वाली गंगा के समान सुशोभित हुई ॥३७॥

हे देवताओ! मैं जानता हूँ कि राक्षस (रावण) के द्वारा आप लोगों की महिमा एवं पराक्रम उसी प्रकार आक्रान्त हो गए हैं जैसे तमोगुण द्वारा शरीरधारियों के सत्त्व एवं रजोगुण आक्रान्त हो जाते हैं ॥३८॥

बिना इच्छा के ही प्रविष्ट पाप द्वारा सन्तप्त सज्जन के हृदय के समान उस राक्षस से सताए गए अपने तीनों लोकों की जानकारी मुझे है ॥३९॥

और असुरों के संहार रूप उद्देश्य के एक होने के कारण इन्द्र के द्वारा मेरे कर्तव्य के सम्बन्ध में प्रार्थना करना उचित नहीं है। वायु तो स्वयमेव अग्नि का सारथी बन जाता है ॥४०॥

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥४१॥

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥४२॥

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः।
दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥४३॥

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम् ॥४४॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥४५॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥४६॥

मोक्षध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान्।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥४७॥

अपनी तलवार की धार से नहीं काटे गए अपने दसवें शिर को उस राक्षस ने मानो मेरे सुदर्शन चक्र के प्राप्त होने योग्य भाग के समान सुरक्षित रखा है ॥४१॥

ब्रह्मा के वरदान के कारण मैंने उस दुरात्मा शत्रु की वृद्धि को उसी प्रकार सहन किया जैसे चन्दन अपने ऊपर साँप के आरोहण को सहन करता है ॥४२॥

मनुष्यों के प्रति अपमान की भावना रखनेवाले उस राक्षस ने तपस्या से सुप्रसन्न ब्रह्मा से यह वरदान माँग रखा है कि देवताओं की आठ प्रकार की जातियों में से मुझे कोई भी न मार सके ॥४३॥

अतः मैं राजा दशरथ की सन्तान बनकर अपने तीक्ष्ण बाणों से उसके मस्तकरूपी कमलों के समूह को युद्धभूमि में बलि-पूजा के योग्य बनाऊँगा ॥४४॥

यज्ञकर्त्ताओं द्वारा विधिपूर्वक दिए गए हवि के भाग को अब आप लोग शीघ्र ही मायावी राक्षसों के बिना छुए ही पूर्ववत् प्राप्त करेंगे ॥४५॥

आकाश में विमानों से चलने वाले, (किन्तु रावण के भय से अपने को) मेघों की आड़ में छिपाने वाले पुण्यात्मा देवता लोग, अब आकाश-मार्ग में रावण के पुष्पक विमान को देखकर उत्पन्न भय से चकित होना छोड़ दें ॥४६॥

हे देवताओं ! बन्दिनी अप्सराओं की उन वेणियों के बन्धनों को अब आप लोग शीघ्र ही खोलेंगे जो नलकूबर के शाप से नियन्त्रित होने के कारण महर्षि पुलस्त्य के वंशज रावण द्वारा बलात्कारपूर्वक केशों के पकड़ने से दूषित नहीं हुई हैं ॥४७॥

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥४८॥

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥४९॥

अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥५०॥

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥

अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः।
प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥५४॥

इस प्रकार वह कृष्ण (विष्णु) रूपी मेघ, रावणरूपी अनावृष्टि से म्लान देवता-रूपी सस्यों पर अपने वाणीरूपी-अमृत की वर्षा करके अन्तर्धान हो गया ॥४८॥

इन्द्र आदि देवताओं ने (रावण वध रूपी) देवकार्य के लिए तत्पर भगवान् विष्णु का, अपने-अपने अंशों से (सुग्रीव, अंगद आदि वानरों का रूप धारण कर) उसी प्रकार अनुगमन किया जिस प्रकार वृक्ष अपने पुष्पों से वायु का अनुगमन करते हैं ॥४९॥

इसके अनन्तर उधर राजा दशरथ की पुत्रेष्टि यज्ञ की समाप्ति के अवसर पर यज्ञाग्नि से एक दिव्य पुरुष बाहर निकला, जिसे देखकर ऋत्विक् लोग आश्चर्य से भर गए ॥५०॥

आदि पुरुष (भगवान् विष्णु) के अधिष्ठान (निवास) होने के कारण (दिव्य पुरुष के द्वारा भी) बड़ी कठिनाई से उठाए गए स्वर्ण के पात्र में स्थित पायस (दूध से बनी) चरु (खीर) को वह (दिव्य पुरुष) अपने दोनों हाथों में लिए हुए था ॥५१॥

राजा दशरथ ने प्रजापति ब्रह्मा के यहाँ से आए हुए उस दिव्य पुरुष द्वारा लाई गई खीर को उसी प्रकार ग्रहण किया जिस प्रकार समुद्र द्वारा प्रकट किए गए जल के सार अर्थात् अमृत को देवराज इन्द्र ने ग्रहण किया था ॥५२॥

इसी से राजा दशरथ के ऐसे महनीय गुणों का चारों ओर वर्णन किया जाता है, जो अन्य राजाओं के लिए दुर्लभ हैं, क्योंकि तीनों लोकों के कारण स्वरूप भगवान् विष्णु ने स्वयं उनके यहाँ जन्म लेने की अभिलाषा की ॥५३॥

राजा ने उस चरु के रूप में विष्णु के तेज को दोनों स्त्रियों (कौशल्या तथा सुमित्रा) में उसी प्रकार बाँटा जिस प्रकार सूर्य अपने प्रातःकाल का आतप आकाश तथा पृथ्वी के लिए विभक्त करता है ॥५४॥

अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केकयवंशजा।
अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥५६॥

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥५७॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसंभवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥५८॥

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ॥५९॥

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥६०॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥

राजा की कौशल्या बडी पत्नी थी तथा कैकेयी प्रिय पत्नी थी अत उसने तीसरी पत्नी सुमित्रा को उन दोनो के द्वारा ही (चरु का भाग) देकर सम्मानित करना चाहा ॥५५॥

अपने बहुज्ञ पति के मन की बातो को जानने वाली उन दोनो रानियो (कौशल्या तथा कैकेयी) ने अपना-अपना आधा आधा भाग सुमित्रा के लिए दे दिया ॥५६॥

वह (सुमित्रा) अपनी दोनों सपत्नियो मे उसी प्रकार से अतिशय प्रीति रखती थी जिस प्रकार भ्रमरी हाथी की मद चुवाने वाली कनपटी की धाराओं से प्रेम रखती है ॥५७॥

जिस प्रकार से अमृता नामक सूर्य की किरणें जल को अपने गर्भ मे धारण करती हैं, उसी प्रकार से उन (तीनों) रानियो ने प्रजा के कल्याण के लिए विष्णु भगवान् के उस अश को अपने गर्भ मे धारण किया ॥५८॥

एक ही साथ गर्भ धारण करने वाली वे तीनों रानियाँ अपनी पीली पडी हुई शरीर-कान्ति से ऐसी सुशोभित हुई जैसे भीतर फल का आरम्भ हो जाने पर पीले वर्ण की अनाज की फसल सुशोभित होती है ॥५९॥

उन (तीनों) रानियो ने स्वप्न मे देखा कि शख, खड्ग, गदा, धनुप एव चक्र धारण करने वाली छोटी-छोटी मूर्तियाँ उनकी रक्षा कर रही है और आकाशमण्डल मे अपने सुनहले पखो के प्रभासमूह को बिखेरते हुए तथा अपने तीव्र वेग से मेघों को खींचने वाला गरुड़ उन्हें उड़ाये ले जा रहा है ॥६०-६१॥

६

विनत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम्।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया॥६२॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे॥६३॥
ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः॥६४॥
विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव॥६५॥
अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती।
पुत्रं तमोऽपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः॥६६॥
राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥६७॥
रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसः।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन्॥६८॥
शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा॥६९॥

हाथ में कमल-रूपी पंखे को लिए हुए तथा अपने स्तनों के मध्य भाग में लटकती हुई कौस्तुभ मणि को धारण करने से अति शोभायुक्त लक्ष्मी उनकी सेवा कर रही है॥६२॥

आकाशगंगा में स्नान किए वेदों का पा करने वाले सातों ब्रह्मर्षि उनकी उपासना कर रहे हैं॥६३॥

अपनी रानियों द्वारा इस प्रकार के स्वप्नों को देखने की चर्चा सुनकर राजा (दशरथ) परम प्रसन्न हुए और जगद्गुरु विष्णु भगवान् के पिता होने के कारण उन्होंने अपने को सर्वश्रेष्ठ माना॥६४॥

सर्वत्र व्यापक एकाकी विष्णु अपने आपको विभक्त करके उन (रानियों) के गर्भों में, निर्मल जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान अनेक रूपों में विद्यमान थे॥६५॥

इसके बाद प्रसूति का समय आने पर राजा की पतिव्रता श्रेष्ठ रानी (कौशल्या) ने, रात्रि में प्रकाश देने वाली औषधि के समान, पापनाशक पुत्र को प्राप्त किया॥६६॥

उस पुत्र के मनोहर शरीर को देखकर पिता दशरथ ने, संसार के लिए सर्वाधिक मंगलकारी उस पुत्र का राम—यह नाम रखा॥६७॥

रघुवंश के दीपक के समान, अपरिमित तेजस्वी उस पुत्र से प्रसूति-गृह के दीपक मानो फीके पड़ गए॥६८॥

(सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर) कृशोदरी माता कौशल्या राम के शय्या पर आने पर ऐसी शोभायमान हुई जैसे शरद् ऋतु में पतली धारावाली गंगा अपने बालुकामय तट पर चढ़ाए गए नीले कमल के साथ सुशोभित होती हो॥६९॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥७०॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥७१॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥७३॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥७५॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः ।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥

रानी कैकेयी से भरत नामक शीलवान पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने अपनी माता को विनय द्वारा लक्ष्मी के समान सुशोभित किया ॥७०॥

रानी सुमित्रा ने लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न नामक जुडवाँ पुत्रो को उसी प्रकार जन्म दिया जिस प्रकार से भलीभाँति अभ्यास द्वारा प्राप्त की गई विद्या ज्ञान और विनय को जन्म देती है ॥७१॥

[illegible]

राम, लक्ष्मण, भरत एव शत्रुघ्न-इन चारो मूर्तियो मे भगवान् विष्णु के अवतरित होने पर रावण से भयभीत इन्द्रादि पतियो (दिक्पालो) की दिशाओ ने मानो धूलरहित वायु से सुख की साँस ली ॥७३॥

राक्षसराज रावण द्वारा पीडित अग्निदेव धुएँ से रहित होकर तथा सूर्य निर्मल होकर मानो अपने-अपने दु खो से मुक्त हो गए ॥७४॥

रामचन्द्रादि के जन्म के समय राक्षसो की लक्ष्मी ने मानो रावण के मुकुटो से गिरी हुई मणियो के बहाने अपने आँसू पृथ्वी पर गिराए। (अर्थात् इधर अयोध्या मे जब रामादि के जन्म हुए तभी रावण का मुकुट सिर पर से गिर पडा और उसकी मणियाँ धरती पर फैल गई।) ॥७५॥

राजा दशरथ के पुत्र उत्पन्न होने पर पुत्रजन्म के उपलक्ष्य मे बजाए जानेवाले वाद्यो का आरम्भ सर्वप्रथम देवताओ की दुन्दुभि ो ने किया ॥७६॥

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥७७॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥७८॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥७९॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम्।
अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥८०॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥८१॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥८२॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥८३॥

राजा दशरथ के राजभवन में (देवताओं द्वारा) पारिजात के पुष्पों की जो वर्षा हुई वही इस महान् मंगल के कार्यों की प्रथम रचना बन गई ॥७७॥

जातकर्म आदि संस्कारों से संस्कृत तथा धाय के दूध को पीनेवाले वे चारों बालक अपने पिता के हृदय में पहिले ही से उत्पन्न आनन्द के साथ ही साथ बढ़ने लगे ॥७८॥

उन चारों बालकों की स्वाभाविक विनम्रता शिक्षा के द्वारा उसी प्रकार बढ़ने लगी, जिस प्रकार से अग्नि का स्वाभाविक तेज हविष्यान्न पाकर बढ़ जाता है ॥७९॥

परस्पर प्रेम रखने वाले उन राजकुमारों ने रघु के उस निर्दोष कुल को उसी प्रकार प्रकाशमान कर दिया जैसे वसन्तादि ऋतुएँ परस्पर विरोधरहित होकर नन्दन कानन की शोभा बढ़ाती हैं ॥८०॥

(उन चारों राजकुमारों में) आपस में समान रूप से भ्रातृभाव होते हुए भी जिस प्रकार से राम और लक्ष्मण अपने प्रेम के कारण जोड़े के रूप में बन गए थे, उसी प्रकार भरत तथा शत्रुघ्न का भी पारस्परिक प्रेम के कारण जोड़ा बन गया था ॥८१॥

उन चारों भाइयों में से दो-दो भाइयों की एकता उसी प्रकार कभी नहीं टूटी जिस प्रकार से वायु और अग्नि की तथा चन्द्रमा और समुद्र की एकता कभी नहीं टूटती ॥८२॥

प्रजाओं के स्वामी इन चारों राजकुमारों ने अपने प्रभाव और विनय से अपनी प्रजा का चित्त उसी प्रकार से हर लिया जैसे ग्रीष्मावकाश में काले मेघों से घिरे हुए दिन प्रजा का मन हर लेते हैं ॥८३॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥८४॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥८५॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥८६॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रामावतारो नाम
दशमः सर्गः ॥

राजा दशरथ के वे चारों पुत्र अलग अलग इस प्रकार सुशोभित होते थे मानो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों के साक्षात् अवतार हों ॥८४॥

वे पितृभक्त राजकुमार अपने विनयादि गुणों से चारों दिशाओं के स्वामी अपने पिता को इस प्रकार आनन्दित करने लगे मानो अपने बहुमूल्य रत्नों के साथ चारों दिशाओं के समुद्र हों ॥८५॥ -

जिस प्रकार दैत्यों की तलवारों की धारा को भग्न करने वाले अपने चारों दाँतों से ऐरावत, फल की सिद्धि से जिसके प्रयोग का अनुमान होता हो ऐसे (साम, दाम, दण्ड और भेद नामक) चारों उपायों से नीति, और जूए के समान अपनी लम्बी चार भुजाओं से विष्णु भगवान् सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् विष्णु के उन चारों अंशों से (रामादि चारों पुत्रों से) राजाओं के राजा महाराज दशरथ सुशोभित हुए ॥८६॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में रामावतार नामक
दसवाँ सर्ग समाप्त ॥

# एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते॥१॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता॥२॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः॥३॥
तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः॥४॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखण्डकावुभौ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ॥५॥

# ग्यारहवाँ सर्ग

कुशिक वंशोत्पन्न मुनिवर विश्वामित्र ने राजा दशरथ के पास आकर काकपक्ष (काकुल) धारी राम को, अपने यज्ञ में होने वाले विघ्नों की शान्ति के लिए माँगा, क्योंकि तेजस्वी व्यक्तियों की आयु नहीं देखी जाती॥१॥

विद्वानों का समादर करने वाले राजा (दशरथ) ने बड़ी कठिनाई से प्राप्त अपने पुत्र राम को लक्ष्मण समेत मुनिवर (विश्वामित्र) को सौंप दिया, क्योंकि रघुवंशियों के सामने, प्राणों की याचना करनेवालों की भी याचना कभी असफल नहीं होती॥२॥

राजा ने जब तक उन दोनों (राम और लक्ष्मण) के नगर से बाहर जाने के लिए राजमार्ग की (सफाई, छिड़काव एवं पुष्प-पल्लवों आदि से) सजावट की आज्ञा दी तब तक (त्योंही) वायु ने धूल साफ कर दी और मेघों ने आकर जल बरसा दिया तथा देवताओं ने आकाश से पुष्पवृष्टि करके मार्गों को सजा दिया॥३॥

अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उद्यत धनुर्धारी राम और लक्ष्मण ने पिता के चरणों में झुककर प्रणाम किया। प्रवास में जाने वाले उन झुके हुए राजकुमारों पर राजा दशरथ के आँसुओं की बूँदें टपक पड़ीं॥४॥

पिता के नेत्रों से निकले हुए अश्रु-बिन्दुओं से उन धनुर्धारियों की चोटियाँ कुछ भीग गईं। और इस प्रकार जब वे मुनिवर विश्वामित्र के पीछे-पीछे चले तो मार्गों के दोनों ओर खड़े हुए नागरिकों ने मानो अपनी दृष्टियों से तोरण सजा दिया॥५॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥६॥
मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥७॥
वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥८॥
तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥९॥
पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥१०॥
तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥११॥

मुनिवर विश्वामित्र केवल लक्ष्मण के ही साथ रामचन्द्र जी को ले जाना चाहते थे, अतः राजा (दशरथ) ने अपनी सेना को उनके साथ न भेजकर केवल अपना आशीर्वाद ही दिया, क्योंकि वही उन दोनों की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ था ॥६॥

अपनी माताओं के चरणों का स्पर्श कर महान् तेजस्वी मुनिवर विश्वामित्र के पद-चिह्नों पर चलने वाले वे दोनों राजकुमार इस प्रकार सुशोभित हुए जैसे महान् तेजस्वी सूर्य की गति के वशीभूत होकर चलने वाले चैत्र तथा वैशाख के महीने सुशोभित होते हैं ॥७॥

शैशव के कारण लहरों के समान इधर-उधर हिलती हुई भुजाओं वाले उन दोनों राजकुमारों का चचल गमन भी उसी प्रकार मनोहर लग रहा था जिस प्रकार से वर्षा ऋतु आने पर तरंगरूपी चचल बाहुओं वाले भिद्य और उद्ध्य नामक नद अपने नाम के अनु-रूप उमड कर चल रहे हों और अपने किनारों को काटने की चेष्टा कर रहे हों ॥८॥

मणिखचित फर्श पर चलने के योग्य वे दोनों राजकुमार मुनिवर विश्वामित्र द्वारा सिखाई गई बला तथा अतिबला नामक विद्याओं के प्रभाव से मार्ग में तनिक भी नहीं कुम्हलाए। मानों वे अपनी माताओं के समीप ही घूम रहे हों ॥९॥

वाहनों पर चलने योग्य, अपने छोटे भाई (लक्ष्मण के) साथ रामचन्द्रजी, पुराने इतिहासों के ज्ञाता तथा अपने पिता (दशरथ जी) के मित्र मुनिवर विश्वामित्र के द्वारा सुनाए गए पूर्व वृत्तान्तों को सुनते हुए (वन मार्ग पर) इस प्रकार चले जा रहे थे मानों सवारी से जा रहे हों। उन्हें पैदल चलने का भान भी नहीं हुआ ॥१०॥

सुस्वादु जलराशि से सरोवरों ने, मधुर कलरवों से पक्षियों ने, सुगन्धियुक्त पुष्पों के परागों से वायु ने, अपनी (शीतल) छाया से मेघों ने उन दोनों राजकुमारों की सेवा की ॥११॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम्।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥१२॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥१३॥

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥१४॥

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी ॥१५॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥१६॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम्।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥१७॥

तपस्या में निरत ऋषियों-मुनियों ने इन दोनों (राम लक्ष्मण) के क्षणिक दर्शन में जो सुख प्राप्त किया, वैसा सुख उन्हें कमलों से शोभायमान जलाशयों अथवा थकावट को दूर करने वाले वृक्षों के देखने से भी नहीं मिल सका था ॥१२॥

धनुषधारी, दशरथ के पुत्र राम जब शिवजी द्वारा भस्म किए गए कामदेव के वन में पहुँचे तो उन्होंने अपने सुन्दर शरीर से उसका प्रतिनिधित्व किया अपने कर्मों से नहीं ॥१३॥

जिनके शाप की बात उन्हें (मुनिवर विश्वामित्र द्वारा) ज्ञात हो चुकी थी, वह सुकेतु की कन्या ताड़का उन्हें उस मार्ग में उस स्थान पर मिली, जिसे उसने जनशून्य कर दिया था। (उसे देखकर) उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) ने अपने धनुष के सिरों को पृथ्वी पर टेककर सहज ही प्रत्यञ्चा चढ़ा ली ॥१४॥

तदनन्तर उनके धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार को सुनकर कृष्णपक्ष की रात्रि के समान कान्तिवाली वह ताड़का प्रकट हुई। अपने कानों में पहने हुए हिलते कपाल-कुण्डलों से उस समय वह ऐसी लग रही थी मानो मेघों की सघन माला में बगुलों की पंक्तियाँ उड़ती जा रही हों ॥१५॥

अपने तीव्र वेग से मार्ग के वृक्षों को कँपाती हुई, प्रेतों का चीथड़ा (कफन) पहने हुई तथा अति भयङ्कर गर्जन करने वाली उस ताड़का ने, श्मशान भूमि से उठी हुई आँधी के समान रामचन्द्र जी को (सहसा) अभिभूत कर दिया ॥१६॥

लाठी के समान एक भुजा को ऊपर उठाए, मनुष्यों की आँतों की करधनी लटकाए हुए उस ताड़का को सामने आती देखकर रघुवंश शिरोमणि रामचन्द्र जी ने अपने बाण के साथ ही, मानो स्त्री को मारने के सम्बन्ध में अपनी करुण भावना को भी छोड़ दिया ॥१७॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥१८॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम्।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥१९॥

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२०॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥२१॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥२२॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पिताहर्णम्।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥२३॥

रामचन्द्र जी के उस वाण ने पत्थर के समान कठोर ताडका की छाती में जो छिद्र किया वह मानो राक्षसों के उस देश मे, जहाँ अब तक यमराज का प्रवेश भी नहीं हुआ था, प्रवेश करने के लिए एक द्वार-सा बन गया ॥१८॥

बाण द्वारा हृदय के बिध जाने पर वह भूमि पर गिर पड़ी और अपने उस गिरने से उसने अपने वन की भूमि को ही केवल नहीं कम्पित किया अपितु तीनों लोकों को पराजित करने के कारण स्थिर रावण की लक्ष्मी को भी कम्पित कर दिया ॥१९॥

कामदेव के समान सुन्दर रामचन्द्र के, कठिनाई से सहन करने योग्य बाण से आहत होकर वह ताडका राक्षसी, जो दुर्गन्धित रक्त-रूपी चन्दन से लिप्त थी प्राणियों के नाशक यमराज की पुरी को प्रस्थान किया ॥२०॥

इसके बाद ताडका का वध करनेवाले रामचन्द्र ने, अपने इस पराक्रम से सन्तुष्ट मुनिवर विश्वामित्र से मन्त्रसमेत नैर्ऋत राक्षसों के विनाशक अस्त्र को उसी प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्य से इन्धन को जलानेवाला तेज प्राप्त करती है ॥२१॥

इसके अनन्तर रामचन्द्र जी मुनिवर विश्वामित्र द्वारा बताए गए पवित्र वामन के आश्रमवाले स्थान पर पहुँचे, जहाँ अपने पूर्वजन्म (वामनावतार) की अपनी लीलाओं का स्मरण करते हुए भी उन्होंने उसके प्रति अपनी उत्सुकता प्रकट की ॥२२॥

इसके बाद मुनिवर विश्वामित्र अपने उस तपोवन में पहुँचे, जहाँ उनके शिष्यों ने उनकी पूजा की सामग्री तैयार की थी। वृक्षों ने अपने पल्लवों की अञ्जलियाँ बाँध रखी थीं और हिरणों का समूह उन्हें देखने के लिए मुँह उठाए हुए था ॥२३॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥२४॥
वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषितम् ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥२५॥
उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥२६॥
तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥२७॥
सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥२८॥
यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥२९॥
इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥३०॥

उस तपोवन में दशरथ के पुत्र राम तथा लक्ष्मण ने अपने बाणों से अपने यज्ञ के लिए दीक्षित मुनिवर विश्वामित्र की विघ्नों से उसी प्रकार रक्षा की जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य क्रमशः घनान्धकार से जनता की रक्षा करते हैं ॥२४॥

(एक दिन) बन्धूक (दुपहरिया) के पुष्प के समान रक्त की बड़ी-बड़ी बूँदों से दूषित यज्ञ की वेदी को देखकर ऋत्विजों ने अपना अपना कार्य बन्द कर दिया और खदिर निर्मित स्रुव आदि को छोड़कर वे आश्चर्य में पड़ गए॥२५॥

ठीक उसी समय अपने तरकस से बाण निकालते हुए राम ने ऊपर मुख करके, आकाश में गीधों के परों की हवा से कम्पित पताकाओं वाली राक्षसों की सेना देखी ॥२६॥

रामचन्द्र ने उस राक्षस-सेना में, यज्ञ-विध्वंसक राक्षसों के दो मुखियाओं (सुबाहु और मारीच) को अपना निशाना बनाया, दूसरों को नहीं। क्योंकि बड़े-बड़े सर्पों पर पराक्रम दिखाने वाला पक्षिराज गरुड़ कभी जल के साँपों पर प्रहार नहीं करता ॥२७॥

अस्त्र विद्या में दक्ष राम ने अपने धनुष पर अति तीव्र वेगवाले वायु देवता के अस्त्र वायव्यास्त्र को चढ़ाया, जिसने पर्वत के समान विशालकाय ताड़कापुत्र (मारीच) को पके हुए पत्ते के समान नीचे गिरा दिया ॥२८॥

दूसरा ताड़का पुत्र सुबाहु नामक जो राक्षस था और अपनी माया से जो इधर-उधर घूम रहा था, उसको कुशल योद्धा राम ने अपने क्षुरप्र नामक बाण से (टुकड़े-टुकड़े करके) आश्रम के बाहर पक्षियों के लिए बाँट दिया ॥२९॥

इस प्रकार यज्ञ के विघ्नों को दूर करनेवाले उन दोनों (राम लक्ष्मण) के युद्धोचित पराक्रम का अभिनन्दन करके ऋत्विजों ने अपने मौन व्रतधारी कुलपति (विश्वामित्र) के यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न किया ॥३०॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातरावबभृथाप्लुतो मुनिः।
आशिषा मनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥३१॥
तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥३२॥
तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥३३॥
प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥३४॥
राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥३५॥
तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥३६॥

यज्ञ की समाप्ति पर अवभृथ स्नान करके मुनिवर विश्वामित्र ने प्रणाम करते समय हिलती हुई चोटियों वाले उन दोनों भाइयों को आशीर्वाद देकर, अपने कुश से फटी हुई हथेली वाले हाथों से उनका स्पर्श किया ॥३१॥

इसी अवसर पर धनुषयज्ञ का निश्चय करने वाले मिथिलाधिपति राजा जनक ने, मुनिवर विश्वामित्र को निमन्त्रित किया था। जितेन्द्रिय ऋषि विश्वामित्र मिथिला की ओर जाते हुए, राजा जनक के धनुष के विषय में कौतूहल भरे राम और लक्ष्मण को भी अपने साथ ले गए ॥३२॥

मार्ग को समाप्त कर वे तीनों यात्री (एक दिन) सायंकाल उस सुन्दर आश्रम के वृक्षों के नीचे ठहरे, जिनके नीचे महान् तपस्वी गौतम की पत्नी क्षण भर के लिए इन्द्र की पत्नी बन गई थी ॥३३॥

(अपने पति गौतम के शाप से) पत्थर बनी गौतम पत्नी (अहल्या) को, जो बहुत लम्बी अवधि के बाद अपना सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ वह निश्चय ही पापनाशी रामचन्द्र जी के चरण-रज की कृपा थी ॥३४॥

अर्थ और काम के सहित शरीरधारी धर्म के समान राम और लक्ष्मण के साथ आए हुए मुनिवर विश्वामित्र का नाम सुनकर राजा जनक ने पूजा के लिए उनकी अगवानी की ॥३५॥

स्वर्गलोक से पृथ्वी पर उतरे हुए पुनर्वसु नक्षत्र के जोड़े के समान सुशोभित राम और लक्ष्मण-इन दोनों को पीते हुए (देखते हुए) मिथिला निवासियों का मन पल भर के लिए अपनी पलकों के गिरने को भी विडम्बना मानता रहा ॥३६॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयांबभूव सः॥३७॥
तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया॥३८॥
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम्।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्॥३९॥
ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे॥४०॥
प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम्।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव॥४१॥
एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि॥४२॥

यज्ञ-स्तम्भ वाले यज्ञ की विधि समाप्त हो जाने पर समय की गति पहचानने वाले, कुशिक वंश की उन्नति करने वाले मुनिवर विश्वामित्र ने, (शिवजी के) धनुष को देखने के लिए उत्सुक रामचन्द्र जी की चर्चा राजा जनक से की॥३७॥

राजा जनक ने उच्च (रघु) कुल में उत्पन्न बालक (रामचन्द्र) के सुन्दर शरीर को देख और अपने कठिनाई से झुकाए जानेवाले धनुष की बात को सोचकर अपनी पुत्री सीता के विवाह के लिए जो प्रतिज्ञा की थी, उस पर पश्चात्ताप किया॥३८॥

उन्होंने मुनिवर विश्वामित्र से कहा—हे भगवन्! बड़े बड़े मदवाले गजराज भी जिस कार्य को नहीं कर सकते, उसी कार्य में निष्फल प्रयत्न वाले हाथी के बच्चे के प्रयास का अनुमोदन करने का उत्साह मुझे नहीं हो रहा है॥३९॥

हे तात! उस धनुष ने अनेक धनुषधारी नृपतियों को लज्जित किया है और वे अपने धनुष की प्रत्यञ्चा के निरन्तर आघात से उत्पन्न घट्टों से सुशोभित अपनी भुजाओं को धिक्कारते हुए यहां से प्रस्थान कर चुके हैं॥४०॥

मुनिवर विश्वामित्र ने उनसे कहा—इनकी शक्ति मैं आपसे बतलाता हूँ, अथवा बतलाना ही व्यर्थ है। जैसे वज्र अपनी शक्ति को पर्वत पर प्रकट करता है, उसी प्रकार आपके धनुष में ही इनका पराक्रम आपको स्पष्ट होगा॥४१॥

इस प्रकार यथार्थ वचन कहने वाले मुनिवर विश्वामित्र के वचन से राजा जनक ने काकपक्षधारी बालक रामचन्द्र के पराक्रम पर उसी प्रकार विश्वास किया, जिस प्रकार बीर बहूटी के बराबर चिनगारी में भी दाहक शक्ति का विश्वास किया जाता है॥४२॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥४३॥
तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद् वृषध्वजः ॥४४॥
आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥४५॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥४६॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥४८॥

तब मिथिलाधिपति राजा जनक ने अपने पार्श्ववर्ती अनुचरों के समूहों को उसी प्रकार उक्त धनुष को लाने का आदेश दिया जिस प्रकार सहस्रनेत्र इन्द्र अपने तेजोमय धनुष को लाने के लिए मेघों के समूहों को आदेश देते हैं ॥४३॥

(धनुष के आ जाने पर) दशरथ पुत्र राम ने सोये हुए अजगर के समान उस भयंकर धनुष को देखकर उठा लिया, जिसके द्वारा वृषभध्वज शिवजी ने तेज भागने वाले यज्ञ-रूपी मृग के पीछे अपना बाण छोड़ा था ॥४४॥

सभा में समुपस्थित सामन्तों आदि के साश्चर्य देखते ही देखते रामचन्द्र जी ने पर्वत के समान भारी उस धनुष पर, अल्पायास के द्वारा उस प्रकार प्रत्यञ्चा चढ़ा दी जिस प्रकार कामदेव अपने कोमल पुष्प-धनुष पर चढ़ा देता है ॥४५॥

[illegible] समान कर्कश [illegible] यह जानकर [illegible]

इसके बाद मिथिला नरेश राजा जनक ने, जिनके बल की परीक्षा शिव-धनुष के द्वारा हो चुकी थी, और जिन्होंने धनुष को तोड़कर अपने पराक्रम का शुल्क भी चुकता कर दिया था, ऐसे रामचन्द्रजी को, दैवयज्ञ से उत्पन्न अपनी पुत्री सीता जी को साक्षात् लक्ष्मी के समान देने की घोषणा कर दी ॥४७॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा जनक ने तुरन्त ही परम तेजस्वी तथा तपोनिधि विश्वामित्र के समीप में, अग्नि को साक्षी करने के समान मानकर अपनी दैवयज्ञ से उत्पन्न पुत्री सीता को रामचन्द्र जी के लिए सौंप दिया ॥४८॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥४९॥
अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥५०॥
तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल वलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥५१॥
आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥५२॥
तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥
पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥५४॥

महान् तेजस्वी राजा जनक ने अपने पूजनीय पुरोहित को राजा दशरथ के पास यह सन्देश लेकर भेजा कि मेरी कन्या का विवाह हो जाने से राजा निमि के इस कुल को अब आप अपने सेवक के रूप में स्वीकार करें ॥४९॥

राजा दशरथ अपने पुत्र के लिए योग्य वधू चाहते थे, (उसी समय) अनुकूल पुत्रवधू को प्राप्त होने का सन्देश कहने वाला राजा जनक का पुरोहित उनके समीप पहुँच गया। सच है, कल्पवृक्ष के फल के समान पुण्यात्मा जनों की अभिलाषा तत्काल ही पूर्ण हो जाती है ॥५०॥

इन्द्र के मित्र जितेन्द्रिय राजा दशरथ ने उस पुरोहित का सत्कार कर उससे पूरा सन्देश सुना और मिथिला की ओर अपनी सेना की धूल से सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करते हुए (उसी समय) प्रस्थान भी कर दिया ॥५१॥

राजा दशरथ ने (राजा जनक की नगरी के) उपवनों को रौंदने वाली अपनी सेना के साथ मिथिला नगरी को घेर लिया। फिर तो उस नगरी ने प्रेम से इस बन्धन को उसी प्रकार सहन कर लिया जिस प्रकार रमणी अपने प्रियतम के अतिशय सम्भोग को सहन कर लेती है ॥५२॥

शिष्टाचार परायण एवं वरुण तथा इन्द्र के समान तेजस्वी उन दोनों राजाओं (जनक तथा दशरथ) ने मिलकर अपनी प्रतिष्ठा एवं महिमा के अनुरूप सीता आदि कन्याओं तथा राम आदि पुत्रों के विवाह-समारोह का विस्तारपूर्वक सम्पन्न करने का आयोजन किया ॥५३॥

रघुकुल शिरोमणि राम ने पृथ्वी की पुत्री सीताजी के साथ, लक्ष्मण ने सीता की छोटी बहिन उर्मिला के साथ और उनके महान पराक्रमी जो दो छोटे भाई (भरत तथा शत्रुघ्न) थे, उन्होंने कुशध्वज की कृशोदरी कन्याओं के साथ विवाह किया ॥५४॥

ते चतुर्यसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥५५॥
ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥५६॥
एवमात्तरतिरात्मसंभवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥५७॥
तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥५८॥
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥५९॥
श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥६०॥
भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥६१॥

नववधुओं से विवाह करके वे चारों भाई राजा दशरथ के सिद्धि युक्त साम, दान, भेद और दण्ड—इन चारों उपायों के समान सुशोभित हुए ॥५५॥

सभी राजकुमारियाँ राजपुत्रों से तथा वे सभी राजपुत्र राजकुमारियों से कृतार्थ हो गए। वधू और वरों का यह समागम प्रकृति तथा प्रत्यय के पारस्परिक मिलन के समान सिद्ध हुआ ॥५६॥

इस प्रकार अतीव अनुराग से भरे राजा दशरथ मिथिलापुरी में अपने चारों पुत्रों का विवाह-संस्कार सम्पन्न कर, राजा जनक को विदा दे मार्ग में तीन दिनों का पड़ाव करके अयोध्या की ओर वापस लौटे ॥५७॥

उनके मार्ग में पताकारूपी वृक्षों को छिन्न-भिन्न करने वाली प्रतिकूल वायु ने उनकी सेना को उसी प्रकार पीड़ित किया जिस प्रकार तट के ऊपर बहने वाला नदी का प्रवाह ऊपरी भूमि को पीड़ित करता है ॥५८॥

इसके बाद अपने चारों ओर बने हुए भयंकर परिवेश मण्डल से युक्त सूर्य, गरुड़ द्वारा मारे गये सर्प के शरीर से वेष्टित उसके फण से गिरी हुई मणि के समान दिखलाई पड़ने लगा ॥५९॥

बाज पक्षी के पंख के समान मटमैले बालोंवाली तथा सायंकाल के मेघों के समान रक्त से भीगे हुए वस्त्रों वाली दिशाएँ उस समय रजस्वला स्त्रियों के समान देखने के योग्य नहीं रह गईं ॥६०॥

सूर्य जिस दिशा में थे, उसी दिशा में स्थित सियारिनें, क्षत्रियों के रक्त से अपने पितरों का तर्पण करनेवाले परशुराम जी को मानो बुलाती हुई-सी रुदन करने लगीं ॥६१॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम्॥६२॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात्॥६३॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः॥६४॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही॥६५॥

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन्॥६६॥

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम्।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः॥६७॥

उस प्रतिकूल वायु आदि अपशकुनों को देखकर अपने कर्त्तव्य को जानने वाले राजा ने इनकी शान्ति के लिए अपने गुरु वसिष्ठ से पूछा और उन्होंने—इसका अन्त अच्छा ही होगा—यह कह कर उनका दुःख कम किया॥६२॥

सहसा उठी हुई प्रकाश की राशि (राजा की सेना में) सामने प्रकट हुई। सैनिकों ने जिसे बहुत देर तक आँखें मल कर देखा तो जाना कि वह किसी पुरुष की आकृति है॥६३॥

वह (परशुराम) अपने पिता का अंश—यज्ञोपवीत—के रूप में तथा माता का अंश—धनुष—के रूप में धारण किए हुए थे। उस समय वह चन्द्रमा से युक्त सूर्य तथा सर्प से युक्त चन्दन वृक्ष के समान शोभा पा रहे थे॥६४॥

क्रोध से क्रूर हृदय तथा मर्यादा का भंग करने वाले परशुराम ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करते समय अपनी काँपती हुई माता का सिर काट लिया था और इस प्रकार उन्होंने पहले तो घृणा को जीत लिया था और तदनन्तर (क्षत्रियों का समूल विनाश कर) पृथ्वी को जीता था॥६५॥

अपने दाहिने कान पर लटकती हुई एक रुद्राक्ष की माला को धारण किए हुए परशुराम क्षत्रियों के इक्कीस बार विनाश करने की गणना को धारण करते हुए की भाँति सुशोभित हो रहे थे॥६६॥

राजा दशरथ को, जिनके चारों पुत्र अभी बालक ही थे, अपने पिता (जमदग्नि) के वध से उत्पन्न क्रोध से क्षत्रियों के (समूल) विनाश के लिए कृतसंकल्प परशुराम जी को तथा अपनी (वर्तमान) दशा को देखकर बड़ा विषाद हुआ॥६७॥

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥६८॥
अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥६९॥
तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥७०॥
क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥७१॥
मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥७२॥
अन्यथा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात्।
व्रीडमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥७३॥

अपने पुत्र (रामचन्द्र) तथा भयकर शत्रु के रूप मे उपस्थित (परशुराम) मे वर्तमान "राम" यह नाम, हार तथा सर्प मे समान रूप से वर्तमान रत्न समूह के समान राजा दशरथ को आनन्ददायक तथा भयजनक दोनो ही सिद्ध हुआ ॥६८॥

"अर्घ्य' अर्घ्य" कहते हुए राजा (दशरथ) की ओर न देखकर परशुराम जी ने अपने प्रचण्ड क्रोध से क्षत्रियों को जलाने वाली ज्वाला के समान तथा भयकर तारा (पुतलियों) वाली अपनी ृष्टि को वहां डाला जहां भरत के बड़े भाई रामचन्द्र जी (विराजमान) थे ॥६९॥

युद्धार्थ समुद्यत, अपने धनुष को मुट्ठी मे दबाए तथा अँगुलियो के बीच अपने बाण को घुमाते हुए परशुराम जी ने अपने सम्मुख उपस्थित रामचन्द्र जी से यह कहा— ॥७०॥

(पितृवध रूप) मेरा महान् अपराध करने के कारण समूची क्षत्रिय जाति मेरा शत्रु है, उसे अनेक बार नष्ट करके मैं शान्त हो चुका था किन्तु इधर तुम्हारी वीरता की चर्चा सुनकर मुझे वैसा ही क्रोध हुआ है जैसे डण्डे की चोट खाकर सर्प क्रोधित हो जाता है ॥७१॥

उस मिथिलेश जनक के धनुष को
कि तुमने मेरे पराक्रम के शिखर

पहले इस सम्पूर्ण ससार मे 'राम' शब्द कहने पर लोगा को मेरा ही बोध होता था, किन्तु इधर तुम्हारा अभ्युदय होने पर तुममे उस शब्द का जो अधिक सम्पर्क बढ रहा है, वह मुझे लज्जित कर रहा है ॥७३॥

विभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः॥७४॥

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः॥७५॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम्॥७६॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः॥७८॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम्॥७९॥

पर्वतों पर भी कुण्ठित न होने वाले अपने अस्त्र (परशु) को धारण किये रहने पर भी मेरे दो शत्रु समान अपराध वाले हैं। प्रथम है (मेरे पिता के) गौ तथा बछड़े का हरण करने वाला कार्त्तवीर्य अर्जुन और दूसरे मेरे यश का हरण करने के लिए उद्यत तुम॥७४॥

इसलिए अनेक बार क्षत्रियों का विनाश करने में समर्थ मेरा पराक्रम, तुझे बिना पराजित किए हुए, मुझे सन्तुष्ट नहीं कर रहा है। क्योंकि अग्नि का महत्त्व इसी में माना जाता है कि वह समुद्र में भी तृण के समान जले॥७५॥

शिवजी के जिस धनुष को तुमने तोड़ डाला है, उसे भगवान् विष्णु ने पहले ही से शक्तिहीन कर दिया था—ऐसा समझो। नदी के प्रवाह से जर्जरित मूल वाले तीर के वृक्ष को मामूली हवा भी गिरा देती है॥७६॥

इसलिए तुम मेरे इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर इसे बाणसमेत खींचो। युद्ध हमारे साथ भले ही न हो किन्तु इस प्रकार से भी मैं तुम्हें तुल्य बाहुबल वाला एवं तुमसे अपने को पराजित मान लूँगा॥७७॥

अथवा यदि मेरे परशु की चमकती हुई धार से डरकर तुम कायर हो गए हो तो धनुष की प्रत्यञ्चा की चोटों से व्यर्थ ही कठोर बनी हुई अंगुलियों वाले अपने हाथों को जोड़कर मुझसे अभयदान माँग लो॥७८॥

देखने में भीषण परशुराम जी के ऐसा कहने पर रघुवंश-शिरोमणि रामचन्द्र जी के ओठ मुस्कराहट से हिल उठे। और उन्होंने परशुराम जी से धनुष माँग लेना ही उनका उचित उत्तर समझा॥७९॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत्।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः॥८०॥
तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम्।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः॥८१॥
तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव॥८२॥
तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः॥८३॥
न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम्॥८४॥
प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम्।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा॥८५॥
भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम्।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया॥८६॥

अपने पूर्व जन्म (अवतार) के धनुष को लेकर राम अत्यधिक सुन्दर दिखाई पड़ने लगे। नूतन मेघ अकेले ही सुन्दर लगता है और यदि वह इन्द्रधनुष से युक्त हो जाय तो फिर क्या कहना?॥८०॥

बलवान् रामचन्द्र जी ने धनुष के एक सिरे को भूमि पर रखकर जब धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तब राजाओं (क्षत्रियों) के शत्रु परशुराम धूमरहित अग्नि के समान निस्तेज हो गए॥८१॥

एक दूसरे के आमने-सामने खड़े हुए उन दोनों (रामचन्द्र तथा परशुराम) को, जिनमें से एक का तेज बढ़ता जा रहा था और दूसरे का तेज कम होता जा रहा था, जनता इस प्रकार देख रही थी मानों वे दिन बीतने के बाद सायंकाल के समय चन्द्रमा और सूर्य हों॥८२॥

कार्तिकेय के समान पराक्रमी तथा कृपालुता से कोमल रामचन्द्र जी ने, अपने से कुण्ठित पराक्रम वाले परशुराम जी की ओर तथा धनुष पर चढ़े हुए अपने अमोघ बाण की ओर देखते हुए यह कहा—॥८३॥

यद्यपि तुमने मुझे अपमानित किया है तथापि ब्राह्मण हो—इस कारण से तुम पर मैं निर्दयता से प्रहार नहीं करना चाहता। किन्तु कहो तो इस बाण से तुम्हारी गति को नष्ट करूँ अथवा तपस्या से उपार्जित तुम्हारे स्वर्गलोक का विनाश करूँ॥८४॥

तब रामचन्द्र जी से परशुराम बोले—वस्तुतः आप पुरुष पुरातन हैं—यह मैं नहीं जानता हूँ—ऐसी बात नहीं है। किन्तु मैं यह देखना चाहता था कि पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने पर आपमें कितना वैष्णव तेज है। इसी से मैंने आपको क्रुद्ध किया॥८५॥

अपने पिता के शत्रुओं का विनाश करने वाले एवं समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी को सत्पात्रों को दान करने वाले मुझ परशुराम की आप जैसे परमेष्ठी के हाथों मिली हुई यह पराजय भी प्रशंसनीय है॥८६॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥८७॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम्।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः। ८८॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत्।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥८९॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥९०॥

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥९१॥

तस्मिन्गते विजयिनं परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम्।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥९२॥

अत हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी! पुण्य-तीर्थों में जाने के लिए मेरी अभिलषित गति की आप रक्षा करें। भोग के प्रति लाभ रहित मेरे लिये स्वर्ग का मार्ग यदि सीमित भी हो जायगा तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा ॥८७॥

रामचन्द्र जी ने—ऐसा ही होगा—कहकर परशुराम की प्रार्थना स्वीकार कर ली और पूर्व की ओर मुख करके अपना बाण छोड़ दिया। पुण्य कार्य का करने वाला होते हुए भी वह बाण परशुराम जी के लिए स्वर्ग के मार्ग का रोकने वाला दुर्लंघ्य परिघ बन गया ॥८८॥

क्षमा कीजिए—ऐसा कहते हुए रामचन्द्र जी ने भी परशुराम के दोनों चरणों का स्पर्श किया। क्या न हो, बलवान लोगों के लिए बल से जीते गए शत्रु के प्रति विनय का व्यवहार उनकी कीर्ति का बढ़ाने वाला होता है ॥८९॥

(परशुराम जी ने कहा—) अब मैं माता से प्राप्त राजसिक गुणों को दूर कर पिता से प्राप्त शान्ति का लाभ कर रहा हूँ। इस प्रकार आपके द्वारा दिया गया प्रशमनीय परिणाम युक्त यह दण्ड भी मेरे लिए अनुग्रह बन गया है ॥९०॥

लक्ष्मण समेत रामचन्द्र जी से—मैं जा रहा हूँ, देवताओं का कार्य करने वाले आपको कभी विघ्न न सताए—ऐसा कह कर ऋषि परशुराम वहीं अन्तर्हित हो गए ॥९१॥

परशुराम जी के चले जाने पर पिता (राजा दशरथ) ने विजयी राम को स्नेह से अपनी छाती से लगा लिया और उन्हें फिर से उत्पन्न हुए के समान माना। क्षण भर के लिए शोकविह्वल (राजा दशरथ) को उसी प्रकार सन्तोष मिला जैसे दावाग्नि से पीड़ित वृक्ष को वृष्टि होने से मिलता है ॥९२॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥९३॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

इसके अनन्तर शिवजी के समान राजा दशरथ ने मार्ग मे तैयार सुन्दर तम्बू-डेरों मे कुछ रातें बिता कर अपनी उस अयोध्या नगरी मे प्रवेश किया, जिसके झरोखे मानो मिथिला की राजकुमारी सीता जी को देखने वाली स्त्रियो के नेत्र-रूपी नील-कमलों से सजे हुए मालूम पड़ते थे ॥९३॥

महाकवि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य मे सीताका विवाह वर्णन नामक ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥

# द्वादशः सर्गः

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥१॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥२॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः।
प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥३॥

तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥४॥

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥५॥

# बारहवाँ सर्ग

विषय-रूपी स्नेह का पूर्ण उपभोग करके जीवन की अन्तिम अवस्था को प्राप्त राजा दशरथ उषाकाल के दीपक की उस लौ के समान हो गए, जिसका निर्वाण (बुझना) समीप हो ॥१॥

वृद्धावस्था ने, मानो कैकेयी के विषय में सन्देह करके सफेद बालों के बहाने कानों के समीप आकर उनसे यह कहा कि—राम को राज्यलक्ष्मी सौंप दो ॥२॥

नगरनिवासियों के प्रिय रामचन्द्र जी के अभ्युदय की चर्चा ने प्रत्येक नागरिक को उसी प्रकार हर्ष से भर दिया जिस प्रकार छोटी-सी नहर उपवन के वृक्षों को हर्षित कर देती है ॥३॥

क्रूर निश्चयों वाली कैकेयी ने, रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के लिए तैयार की गई सामग्रियों को, शोक से उष्ण राजा दशरथ की आंसुओं से दूषित कर दिया ॥४॥

अतिशय क्रोधी स्वभाव वाली कैकेयी ने स्वामी के अनुनय-विनय करने पर, राजा द्वारा प्रतिज्ञा के रूप में दिए गए दो वरदानों को इस प्रकार निकाल कर रखा जैसे मेघ से सींची हुई भूमि बिल में घुसे हुए दो सर्पों को उगल देती है ॥५॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥६॥

पित्रा दत्तां रुदन्रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥७॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥८॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद् गुरुमलोपयन्।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥९॥

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम्।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥१०॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम्।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥११॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥१२॥

उनमें से एक के द्वारा उसने चौदह वर्ष के लिए रामचन्द्र जी को निर्वासित करा दिया और दूसरे के द्वारा अपने पुत्र (भरत) के लिए उस राजलक्ष्मी की माँग की, जिसका एकमात्र परिणाम उसका वैधव्य हुआ ॥६॥

पिता द्वारा दी गई पृथ्वी को पहले रामचन्द्र ने रोते हुए स्वीकार किया था और बाद में उन्होंने पिता के वन जाने की आज्ञा को सुप्रसन्न होकर स्वीकार किया ॥७॥

आश्चर्य से भरे हुए लोगों ने (पहले) सुन्दर रेशमी वस्त्रों को पहनते हुए (तथा बाद में वन जाते समय) वल्कल-वस्त्र धारण करते हुए रामचन्द्र जी के मुख के वर्ण को समान रूप में देखा ॥८॥

रामचन्द्र जी ने अपने पिता को सत्य से नहीं डिगाया और सीता तथा लक्ष्मण को साथ लेकर दण्डकारण्य में प्रवेश करने के साथ प्रत्येक सुजन के चित्त में भी प्रवेश किया ॥९॥

रामचन्द्र जी के वियोग से दुःखी राजा (दशरथ) ने भी अपने ही कर्म के फल स्वरूप प्राप्त शाप का स्मरण करके एकमात्र अपने शरीर के त्याग को ही प्रायश्चित्त समझा ॥१०॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः॥१३॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान्॥१४॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः।
लक्ष्म्या निमंत्रयांचक्रे तमनुच्छिष्टसंपदा॥१५॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः॥१६॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः।
ययाचे पादुके पश्चात् कर्तुं राज्याधिदेवते॥१७॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम्।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक्॥१८॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत्॥१९॥

कैकेयी के पुत्र भरत, अपने पिता की इस प्रकार से घटित मृत्यु को सुनकर केवल अपनी माता से ही नहीं, अपितु राज्यलक्ष्मी से भी विमुख बन गए॥१३॥

सेना समेत भरत आश्रमवासी मुनियों द्वारा बताए गए उन वृक्षों को, जिनके नीचे लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र ने निवास किया था, आंसूभरे नेत्रों से देखते हुए उनके पीछे-पीछे चल पड़े॥१४॥

चित्रकूट के वन में निवास करते हुए रामचन्द्र जी से पिता की मृत्यु का संवाद कह कर भरत ने उनसे उस राज्यलक्ष्मी का अंगीकार करने की प्रार्थना की, जिसको स्वयं उन्होंने छुआ भी नहीं था॥१५॥

भरत ने अपने भाई रामचन्द्र जी द्वारा राज्यलक्ष्मी के अस्वीकार कर देने पर पृथ्वी को स्वयं स्वीकार करके अपने को परिवेत्ता (होने का दोषी) माना। (बड़े भाई से पहिले यदि छोटे भाई का विवाह हो जाय तो हिन्दू-धर्म-शास्त्र के अनुसार छोटे भाई को परिवेत्ता होने का दोष लगता है)॥१६॥

स्वर्गवासी पिता की आज्ञा से विचलित करने में राम को असमर्थ समझकर भरत ने उनसे बाद में राज्य का अधिष्ठातृ देवता बनाने के लिए उनकी दोनों खड़ाऊँ मांगीं॥१७॥

भाई (रामचन्द्र जी) के द्वारा —अच्छा ऐसा ही करो— कह कर विदा किए जाने पर भरत ने नगर (अयोध्यापुरी) में प्रवेश नहीं किया अपितु नन्दिग्राम में जाकर बड़े भाई की थाती के रूप में राज्य का पालन किया॥१८॥

राज्य के लोभ से विमुख होकर एवं इस प्रकार से अपने बड़े भाई में दृढ़-भक्ति दिखला कर भरत ने माता अपनी माता की करतूतों का प्रायश्चित्त किया॥१९॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥२०॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात् ॥२१॥
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥२२॥
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥२३॥
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥२४॥
प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥२५॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥२६॥

रामचन्द्र जी ने भी सीता जी के सग वन्य (भोज्य) पदार्थों से जीवन निर्वाह करते हुए एवं शान्त रहते हुए अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन मे युवावस्था मे ही वृद्ध इक्ष्वाकुवंशियों के व्रतो का पालन किया ॥२०॥

एक समय रामचन्द्र जी मानो कुछ श्रान्त होकर सीता जी की गोद मे लेटकर उस वृक्ष के नीचे सो गए थे, जिसकी छाया को उन्होंने अपने प्रभाव से स्थिर कर लिया था ॥२१॥

(उसी अवसर पर) इन्द्र के पुत्र जयन्त ने पक्षी (कौए) का रूप धारण कर अपने पजो से सीता जी के दोनो स्तनों को, मानो उन पर रामचन्द्र जी के द्वारा किए नख क्षत के चिह्नों मे दोष दिखाते हुए की तरह, विदीर्ण कर दिया ॥२२॥

सीता जी के द्वारा जगाये जाने पर रामचन्द्र जी ने उस पर एक कास की सीक का बाण छोडा, जिससे अपनी एक आख गँवाकर उसने अपने प्राणो की रक्षा की ॥२३॥

रामचन्द्र जी ने (अयोध्या के) समीप होने से फिर भरत जी के आगमन की आशका कर उत्कण्ठित हरिणो से सुशोभित उस चित्रकूट की भूमि का त्याग दिया ॥२४॥

अतिथियों का सत्कार करनेवाले रामचन्द्रजी ऋषियो के आश्रमो मे ठहरते हुए इस प्रकार से दक्षिण दिशा की ओर गए जिस प्रकार सूर्य वर्षा के नक्षत्रों मे होता हुआ दक्षिणायन मे प्रवेश करता है ॥२५॥

विदेहराज जनक की नन्दिनी सीता जी रामचन्द्र जी के पीछे-पीछे जाती हुई ऐसी शोभायमान हुई मानो कैकेयी द्वारा रोके जाने पर भी स्वय राज्यलक्ष्मी राम के गुणों का अनुसरण करती जा रही हो ॥२६॥

अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥२७॥

संध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥२८॥

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥२९॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥३०॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥३१॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥३२॥

सा सीतासंनिधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥३३॥

अनसूया (अत्रि ऋषि की पत्नी) द्वारा दिए गए पवित्र सुगन्धि से भरे अङ्गराग से सीता जी ने उस वन को पुष्पों पर से उड़ते हुए भ्रमरों द्वारा व्याप्त कर दिया ॥२७॥

सायंकाल के मेघ के समान पिङ्गल (लाल-पीला) वर्ण का विराध नाम का एक राक्षस चन्द्रमा के मार्ग को रोकने वाले राहु के समान रामचन्द्र जी के मार्ग को रोककर खड़ा हो गया ॥२८॥

संसार को चूसने वाले उस राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच में अवस्थित सीताजी का इस प्रकार से हरण कर लिया जैसे सावन और भादों के महीनों के मध्य में वृष्टि को सूखा हर लेता हो ॥२९॥

ककुत्स्थवंशोत्पन्न राम और लक्ष्मण ने उस विराध नामक राक्षस को मारकर, इस उद्देश्य से कि वह अपनी अपवित्र गन्ध से आश्रम-भूमि को दूषित न कर दे, उसे भूमि खोदकर नीचे दबा दिया ॥३०॥

इसके बाद रामचन्द्र जी ने अगस्त्य मुनि की आज्ञा से, अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए पञ्चवटी में उसी प्रकार निवास किया जैसे अगस्त्य के आदेश से विन्ध्याचल अपनी पूर्वावस्था में टिका हुआ था ॥३१॥

पञ्चवटी में रावण की छोटी बहिन शूर्पणखा काम से पीड़ित होकर रामचन्द्र जी के समीप उसी प्रकार से आई जैसे धूप से पीड़ित सर्पिणी चन्दन वृक्ष के समीप जाती है ॥३२॥

शूर्पणखा ने सीता जी के सामने ही अपने कुल का परिचय दिया और कहा कि मैं आपको पति बनाना चाहती हूँ। जब काम स्त्रियों पर अतिमात्रा में व्याप्त हो जाता है तो वह समय-कुसमय को नहीं जानता ॥३३॥

कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥३४॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता।
साभूद्रामाश्रयाभूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥३५॥

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम्।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥३६॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम्।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥३७॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात्।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥३८॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम्।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम्। ३९॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥४०॥

वृषभस्कन्ध राम ने उस अत्यन्त कामुक शूर्पणखा से कहा—हे बाले! मैं तो स्त्री से युक्त हूँ, अतः मेरे छोटे भाई लक्ष्मण के पास तुम जाओ— ॥३४॥

पहले बड़े भाई के समीप जाने के कारण लक्ष्मण के द्वारा भी अस्वीकार कर दिए जाने पर वह पुनः राम के पास आई। इस प्रकार (उस समय) उसकी स्थिति उस नदी के समान हो गई, जो कभी इस किनारे की ओर व कभी उस किनारे की ओर झुकती है ॥३५॥

सीता जी की हँसी ने, क्षणमात्र के लिए सुन्दरी बनी उस शूर्पणखा को उसी प्रकार अतीव क्षुब्ध कर दिया जैसे वायु के शांत रहने से निश्चल समुद्रतट को चन्द्रोदय क्षुब्ध कर देता है ॥३६॥

तुम मेरी ओर देखो—इस उपहास का फल तुम शीघ्र ही प्राप्त करोगी। तुम यह समझ लो कि तुम्हारे द्वारा किया गया मेरा यह अपमान हरिणी द्वारा बाघिन का अपमान है ॥३७॥

भय के कारण पति की गोद में छिपती हुई सीता से ऐसा कह कर उसने अपने नाम के अनुरूप (राक्षसी का) भयंकर रूप धारण किया ॥३८॥

लक्ष्मण ने, पहले कोकिला के समान मधुर बोलने वाली तथा बाद में शृगालिनी के समान भयंकर वाणी में बोलने वाली शूर्पणखा को जब सुना तो यह समझ लिया कि यह मायाविनी राक्षसी है ॥३९॥

फिर तो अपनी पर्णकुटी में जाकर लक्ष्मण ने तलवार खींच ली और शीघ्र ही उसकी कुरूपता को दुगुना करके उसे और भी भयंकर आकृतिवाली बना दिया ॥४०॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया।
अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥४१॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम्।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥४२॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥४३॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥४४॥

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥४५॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम्।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥४६॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥४७॥

शूर्पणखा ने आकाश में पहुँच कर टेढ़े-मेढ़े नखों वाली, बाँस के समान कठोर पोरोंवाली तथा अङ्कुश के समान आकारवाली अपनी उंगलियों से उन दोनों (रामचन्द्र तथा लक्ष्मण) को धमकाया ॥४१॥

(वहाँ से चलकर) उसने शीघ्र ही जनस्थान में पहुँचकर खर आदि राक्षसों से रामचन्द्र के इस व्यवहार की चर्चा की, जो राक्षसजाति के लिए नये अपमान की बात थी ॥४२॥

राक्षसों ने, जो उन नाक-कान-कटी शूर्पणखा को अपने आगे किया मानो वही राम पर अभियान करने वाले उन राक्षसों के लिए महान् अमङ्गल बन गया ॥४३॥

शस्त्र उठाकर अपनी ओर आते हुए उन अभिमानी राक्षसों को देखकर रामचन्द्र ने अपनी विजय की आशा को अपने धनुष में केन्द्रित कर दिया तथा सीता को लक्ष्मण के अधीन सौंप दिया ॥४४॥

यद्यपि दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी अकेले थे और उधर राक्षसों की संख्या हजारों में थी, तथापि युद्धभूमि में राक्षसों ने राम को अपनी संख्या के समान ही देखा ॥४५॥

सदाचारपरायण काकुत्स्थवंशोत्पन्न राम ने दुष्टों द्वारा की गई अपनी बुराई के समान ही राक्षसों द्वारा भेजे गये दूषण नामक राक्षस (खर के भाई) को सहन नहीं किया ॥४६॥

रामचन्द्रजी ने उसे (दूषण को) तथा खर और त्रिशिरा को अपने बाणों से मार गिराया। यद्यपि वे बाण एक-एक करके चलाए गए थे तथापि ऐसा जान पड़ता था, मानो वे एक साथ ही धनुष से छूटे हों ॥४७॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः॥४८॥
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम्।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किंचन॥४९॥
सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी॥५०॥
राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम्।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत्॥५१॥
निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु॥५२॥
रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः॥५३॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम्।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः॥५४॥

देह को छिन्न-भिन्न कर पार जाने वाले एवं पहले ही के समान शुद्ध तीक्ष्ण उन बाणों ने राक्षसों की आयु का ही पान किया, उनका रक्त तो पक्षियों ने ही पिया॥४८॥

रामचन्द्र जी के बाणों से राक्षसों की उस महती सेना के काटे जाने पर किसी ने धड़ को छोड़कर ऊपर उठा हुआ और कुछ नहीं देखा॥४९॥

देवताओं के शत्रु राक्षसों की वह सेना बाणों की वर्षा करने वाले रामचन्द्र जी से युद्ध करके फिर से कभी न जागने के लिए (सदा के लिये) गीधों की छाया के नीचे सो गई॥५०॥

रामचन्द्र जी के अस्त्रों से मारे गए उन राक्षसों के इस अशुभ समाचार को रावण के समीप पहुंचाने के लिए (उस समय) एकमात्र शूर्पणखा ही बची रही॥५१॥

अपनी बहिन शूर्पणखा को अंगविहीन करने तथा प्रिय बान्धव खरदूषणादि के मरने को, कुबेर के छोटे भाई रावण ने अपने दसों सिरों पर रामचन्द्र जी के पैर रखने के समान समझा॥५२॥

रावण ने (सुवर्ण के) मृगरूपधारी राक्षस (मारीच) के द्वारा राम और लक्ष्मण को धोखा देकर सीता जी का हरण कर लिया। पक्षियों के राजा (जटायु) ने अपने प्रयास से उसे कुछ क्षणों के लिए विघ्न पहुँचाया॥५३॥

सीता जी को खोजते हुए उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) ने कटे हुए पंखों से युक्त जटायु गृद्ध को देखा, जो अपने कण्ठगत प्राणों द्वारा राजा दशरथ की मित्रता से उऋण हो गया था॥५४॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम्।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥
तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥५६॥
वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥५७॥
स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥५८॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥
प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥

उस गृध्रराज जटायु ने उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) से यह तो बता दिया कि रावण ने सीता जी का हरण किया है किन्तु अपने महान् कार्य (रावण से युद्ध करने की चर्चा) को अपने घावों से ही निवेदन करके वह चुप हो गया ॥५५॥

(जटायु को इस प्रकार देखकर) राम और लक्ष्मण का पितृशोक नया-सा हो गया था। उन्होंने पिता के समान ही उसकी अग्नि संस्कार से लेकर समस्त और्ध्वदैहिक क्रियाएँ सम्पन्न कीं ॥५६॥

(रामचन्द्र जी द्वारा) मारे जाने पर शाप से निर्मुक्त कबन्ध के बतलाने पर अपने ही समान विपत्ति में पड़े हुए वानर (सुग्रीव) से रामचन्द्र जी की मित्रता हो गई ॥५७॥

रामचन्द्र जी ने बालि को मारकर, उसके चिर अभिलषित (बालि के) स्थान पर सुग्रीव को इस प्रकार से स्थापित किया जिस प्रकार से (अस्, पा, घ्रा आदि) धातुओं के स्थान पर (भू, पिब, जिघ्र आदि) आदेश रखा जाता है ॥५८॥

अपने स्वामी (वानरराज सुग्रीव) के द्वारा प्रेरित वानर इधर-उधर सीता जी को खोजने के लिए रामचन्द्रजी के मनोरथ के समान घूमने लगे ॥५९॥

सम्पाति (जटायु के बड़े भाई) से भेंट होने पर सीता जी का कुछ वृत्तान्त मालूम कर वायु के पुत्र हनुमान जी ने समुद्र को उसी प्रकार पार किया जैसे निःस्पृह व्यक्ति संसार (के बन्धनों) को पार करता है ॥६०॥

लङ्कापुरी में सीताजी को ढूँढते हुए हनुमान जी ने, विष की लताओं से घिरी संजीवनी लता के समान, राक्षसियों से चारों ओर घिरी हुई सीता जी को देखा ॥६१॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥६२॥
निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामक्षवधोद्धतः।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥
प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥६४॥
स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥६५॥
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥६६॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संबाधवर्त्मभिः ॥६७॥
निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥६८॥

वानर (हनूमान जी) ने सीता जी को उनके पति रामचन्द्र जी की दी हुई अंगूठी पहचान के रूप में दी, वह मानों सीता जी के आनन्दजनित आंसुओं की बूंदों से निकली हुई के समान थी ॥६२॥

सीता जी को उनके प्रिय (रामचन्द्र जी) के सन्देशों से आनन्दित कर तथा अक्षयकुमार को मारकर आवेश में भरे हनुमान जी ने क्षणमात्र के लिए शत्रु के बन्धन को सहन कर लंकापुरी को जला दिया ॥६३॥

(इस प्रकार) कृतकृत्य होकर हनुमान जी ने स्वयं आए हुए मूर्तिमान सीता के हृदय के समान सीता जी द्वारा बदले में दिए गए अभिज्ञान (पहचान), के रत्न को रामचन्द्र जी को (ले जाकर) दिखलाया ॥६४॥

अपने हृदय पर उस रत्न को रखकर रामचन्द्र जी उसके स्पर्श से मोहित हो गए और उससे उन्होंने केवल स्तन स्पर्श से रहित सीताजी के आलिंगन का सा सुख पाया ॥६५॥

अपनी प्रियतमा सीता का वृत्तान्त सुनकर उनसे मिलने के लिए उत्कण्ठित राम ने लंकापुरी के चतुर्दिग अवस्थित समुद्र के घेरे को मामूली खाई के समान समझा ॥६६॥

फिर तो उन्होंने शत्रु के विनाश के लिए प्रस्थान किया और न केवल पृथ्वी पर अपितु आकाश में भी बड़ी कठिनता से समाने वाली वानरों की सेना उनके पीछे-पीछे चली ॥६७॥

समुद्र-तट पर अवस्थित रामचन्द्र जी के समीप विभीषण आए। राक्षसों की राज्य-लक्ष्मी ने मानों स्नेह से उनकी बुद्धि में प्रवेश करके उन्हें (इस कार्य के लिए) प्रेरित किया हो ॥६८॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः॥६९॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः॥७०॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः॥७१॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम्।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः॥७२॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः॥७३॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम्।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत्॥७४॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम्।
प्राङ् मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता॥७५॥

रघुवंश-शिरोमणि राम ने (विभीषण को) उन्हें राक्षसों का ऐश्वर्य (राज्य) देने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि समय पर आरम्भ की गई नीतियों का सुफल मिलता ही है॥६९॥

रामचन्द्रजी ने वानरों के द्वारा क्षारसमुद्र पर सेतु बँधवाया, जो भगवान विष्णु के शयन के लिए पाताल से ऊपर आकर अवस्थित शेषनाग के समान मालूम पड़ता था॥७०॥

उस सेतुमार्ग से समुद्र के पार उतरकर रामचन्द्र जी ने अपने पिङ्गल (लाल-पीले) वर्णवाले वानरों से लङ्कापुरी को इस प्रकार घेर लिया, मानो उस पुरी के चारों ओर सोने की दूसरी दीवार-सी बन गई हो॥७१॥

लङ्कापुरी में वानरों और राक्षसों का भयङ्कर युद्ध हुआ, जिसमें ककुत्स्थवंशोत्पन्न राम और पुलस्त्य के वंशज रावण के जयघोष से दिशाएँ भर गईं॥७२॥

(उस भीषण) युद्ध में (वानरों द्वारा फेंके गए) वृक्षों से परिघ नामक अस्त्र और पत्थरों की शिलाओं से मुद्गर आदि तोड़ डाले गए, (उनके) नखों ने शस्त्रास्त्रों को व्यर्थ बना दिया और पर्वतों ने हाथियों को नष्ट कर दिया॥७३॥

(माया निर्मित) रामचन्द्र जी के कटे हुए सिर को देखकर मूर्च्छित सीता जी को त्रिजटा ने—यह माया है—कह कर जीवन धारण करवाया॥७४॥

मेरे स्वामी जीवित हैं—यह जानकर सीता जी ने अपने शोक को बिल्कुल त्याग दिया, किन्तु पहले तो यह—अपने प्राणनाथ की मृत्यु को सत्य मानकर भी मैं जीवित रह गई—यह सोचकर बहुत लज्जित थीं॥७५॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्यो: क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥७६॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥७७॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥७८॥

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किंचित्पर्यशेषयत् ॥७९॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनः शिलः ॥८०॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥८१॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥८२॥

दशरथ के पुत्र रामचन्द्र और लक्ष्मण का वह क्षणिक क्लेश स्वप्न की घटना के समान बन गया, जिसमे मेघनाद द्वारा चलाए गए नागपाश के बन्धन को गरुड ने आकर काट दिया था ॥७६॥

इसके बाद पुलस्त्य के वंशज ने अपनी शक्ति से लक्ष्मण के हृदय में प्रहार किया, जिससे चोट न लगने पर भी राम का हृदय अत्यन्त शोक से विदीर्ण हो गया ॥७७॥

हनूमान द्वारा लाई गई (सजीवनी नामक) औषधि से व्यथारहित होकर लक्ष्मण ने अपने बाणो से फिर से लंका की स्त्रियो को रुलाने का आचार्यत्व किया ॥७८॥

लक्ष्मण ने मेघनाद की गर्जना और इन्द्रधनुष के समान शोभावाले उसके धनुष—इन दोनो मे से किसी को भी शेष नही छोडा (ठीक उसी तरह) जैसे शरद्ऋतु बरसात के मेघ-गर्जन एव इन्द्रधनुष को नही रहने देती ॥७९॥

कपिराज सुग्रीव ने कुम्भकर्ण को उसकी बहन (शूर्पणखा) के समान बुरी स्थिति मे पहुँचा दिया। छीनी से कटे हुए, मन शिला (लालरग की एक धातु) के पर्वत के समान वह रामचन्द्रजी के सामने आकर मार्ग रोककर खडा हो गया ॥८०॥

तुम निद्रा के प्रेमी हो, तुम्हारे भाई ने तुम्हें असमय मे व्यर्थ ही जगा दिया—ऐसा कहते हुए मानो रामचन्द्र जी के बाणो ने उसे लम्बी निद्रा मे सुला दिया ॥८१॥

अन्यान्य बहुतेरे राक्षस भी वानरो की सेना के बीच मे इस प्रकार आकर गिरे, मानो उनके रक्त की नदियो मे समर भूमि से उडी हुई धूल गिर रही हो ॥८२॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥८३॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम्।
हरियुग्मं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥८४॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥८५॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम्।
यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥८६॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात्।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥८७॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥८८॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम्।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥८९॥

तदनन्तर पुलस्त्य का वंशज रावण पुनः युद्ध करने के लिए यह निश्चय करके अपने भवन से निकला कि आज संसार या तो रावण से विहीन होकर रहेगा या राम से विहीन होकर रहेगा ॥८३॥

रामचन्द्र को पैदल एवं रावण को रथसमेत देखकर इन्द्र ने कपिलवर्ण वाले घोड़ों से युक्त एक रथ उनके लिए भेजा ॥८४॥

आकाशगंगा की लहरों को स्पर्श करने वाली वायु द्वारा फहराती हुई पताका से सुशोभित उस विजयी रथ पर रामचन्द्रजी देवसारथी (मातलि) के हाथों का सहारा लेकर बैठे ॥८५॥

मातलि ने रामचन्द्र जी को इन्द्र का वह कवच पहनाया जिस पर राक्षसों के अस्त्र, कमल की कोमल पंखुड़ियों के समान व्यर्थ बन गए ॥८६॥

बहुत दिनों के बाद एक दूसरे के दर्शन से, अपना-अपना पराक्रम दिखाने का अवसर मिलने के कारण वह राम-रावण का युद्ध मानों चरितार्थ हो गया ॥८७॥

कुबेर का अनुज वह रावण यद्यपि (अपने पुत्रों आदि की मृत्यु हो जाने से) अकेला था तथापि अपनी भुजाओं, सिरों एवं जांघों आदि अंगों की बहुलता से वह पहले से भिन्न दिखाई पड़ता था, मानों वह अपनी माता के वंश में ही अपने पूर्ण परिवार के साथ विद्यमान हो ॥८८॥

लोकपालों के विजेता, अपने मस्तकों से शिवजी को प्रणाम करने वाले और कैलाश पर्वत को उठाने वाले अपने शत्रु रावण को राम ने असाधारण वीर माना ॥८९

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥९०॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥९१॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥९२॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥९३॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥९४॥

अयःशंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥९५॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम्।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥९६॥

अत्यन्त क्रोध से भरे रावण ने रामचन्द्र जी की फड़कती हुई अतएव सीता से मिलने की सूचना देती हुई दाहिनी बाहु में एक बाण मारा ॥९०॥

रामचन्द्र जी द्वारा छोड़ा हुआ बाण रावण के हृदय को बेधकर पृथ्वी में इस प्रकार घुस गया मानो पातालवासी नागों से कोई प्रिय सन्देश कहने के लिए गया हो ॥९१॥

वाणी का वाणी से तथा अस्त्रों का अस्त्र से प्रतिकार करते हुए उन दोनों (राम रावण) का विवाद, वादी तथा प्रतिवादी के समान, एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए अत्यन्त बढ़ गया ॥९२॥

बारी-बारी से अर्थात् कभी राम का पराक्रम बढ़ने से तथा कभी रावण का पराक्रम बढ़ने से, विजयश्री दोनों के लिए उसी प्रकार समान होकर रह गई जैसे दो लड़ते हुए उन्मत्त गजराजों के बीच की दीवाल ॥९३॥

आक्रमण तथा प्रत्याक्रमण से प्रसन्न देवताओं तथा राक्षसों द्वारा की गई पुष्पों की वर्षा को, उनके एक दूसरे के ऊपर चलाए गए बाणों के समूहों ने सहन नहीं किया ॥९४॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण ने अपने शत्रु रामचन्द्र पर लोहे की कीलों से जड़ी हुई विजयिनी शतघ्नी (अस्त्र विशेष) से उसी प्रकार प्रहार किया मानों स्वयं यमराज ने अपना कूटशाल्मलि नामक अस्त्र चलाया हो ॥९५॥

रामचन्द्र जी ने अपने रथ के समीप तक न पहुंचने वाली उस शतघ्नी को तथा राक्षसों की (विजय की) आशा को अपने अर्धचन्द्राकार मुख वाले बाणों से केले के समान सुखपूर्वक काट गिराया ॥९६॥

अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम्॥९७॥
तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम्।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम्॥९८॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत्।
स रावण शिरः पंक्तिमज्ञातव्रणवेदनाम्॥९९॥
बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः।
रराज रक्षः कायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा॥१००॥
मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि।
मनो नातिविश्वास पुनः संधानशङ्किनाम्॥१०१॥
अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभिसुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात॥१०२॥
यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्यमापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम्।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय॥१०३॥

अनुपम धनुर्धारी रामचन्द्रजी ने अपनी प्रियतमा सीता के शोक-रूपी काँटे को निकालने के लिए औषधि के समान अपने अमोघ ब्रह्मास्त्र को (रावण के वधार्थ) अपने धनुष पर चढ़ाया॥९७॥

आकाश में सैंकड़ों खण्डों में व्याप्त होकर चमकते हुए अग्रभागवाला वह ब्रह्मास्त्र ऐसा भयंकर दिखाई पड़ा मानों भयंकर फणों से युक्त शेषनाग का शरीर हो॥९८॥

रामचन्द्र जी ने मन्त्रपूर्वक छोड़े गए उस अस्त्र से, वेदना का अनुभव न करते हुए रावण के मस्तक के समूह को आधे पल में काटकर गिरा दिया॥९९॥

शीघ्र ही गिरते हुए राक्षसराज रावण के शरीर से कटे हुए कण्ठों के खण्डों का वह समूह जलराशि में तरङ्गों से अनेक भागों में विभक्त प्रातःकाल के सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान सुशोभित हुआ॥१००॥

रावण के उन कट कर गिरे हुए सिरों को देखते हुए भी, उनके फिर से जुट जाने की आशंका करने वाले देवताओं के मन में (उसके मर जाने का) अधिक विश्वास नहीं हुआ॥१०१॥

तदनन्तर निकट भविष्य में घटित रामराज्याभिषेक में मणिबन्ध युक्त होने वाले, रावण के शत्रु रामचन्द्र जी के मस्तक पर देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की। उन पुष्पों की अतिशय सुगन्ध के कारण मत्त गजराजों के मदजल का पान करने से भारी पंखों वाले भ्रमर समूह, दिग्पालों के गजराजों के गण्डस्थल को छोड़कर उन पुष्पों पर ही आ गए॥१०२॥

इन्द्र के सारथी मातलि ने धनुष से प्रत्यञ्चा को समेटे हुए देवताओं के कार्य से निवृत्त रामचन्द्र जी से आज्ञा प्राप्त कर, नामाङ्कित रावण के बाणों से चिह्नित पताका के दण्ड वाले अपने सहस्रों घोड़ों से युक्त रथ को स्वर्ग में पहुँचाया॥१०३॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥१०४॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रावणवधो नाम
द्वादशः सर्गः ॥१२॥

रघुवंश के स्वामी रामचन्द्रजी ने अग्नि-परीक्षा से पवित्र अपनी प्रियतमा सीता को ग्रहण कर, अपने प्रियमित्र विभीषण को अपने शत्रु रावण की राज्यलक्ष्मी सौंपकर, सूर्यतनय सुग्रीव तथा लक्ष्मण के साथ विभीषण को भी साथ लेकर अपने भुजबल से जीते गए श्रेष्ठ (पुष्पक) विमान पर बैठ कर अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया॥१०४॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में रावण-वध नामक
बारहवाँ सर्ग समाप्त॥१२॥

# त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥१॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥३॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥५॥

# तेरहवाँ सर्ग

इसके बाद (पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को जाते हुए) गुणों के पारखी, राम नाम से विख्यात भगवान विष्णु, शब्द गुणवाले अपने पद अर्थात् आकाश को (पुष्पक) विमान से पार करते हुए रत्नाकर समुद्र को देखकर अपनी पत्नी सीता जी से एकान्त में (धीरे से) यह बोले— ॥१॥

हे विदेहराज पुत्री ! मलय पर्वत तक मेरे द्वारा बनाए गए सेतु से विभक्त, फेनयुक्त इस समुद्र को देखो, जो आकाश-गंगा से विभक्त निर्मल सुन्दर तारागणों से युक्त शरद् ऋतु के आकाश के समान दिखाई पड़ रहा है ॥२॥

यज्ञ करने के इच्छुक हमारे पूर्वज (राजा सगर) के यज्ञ का घोड़ा जब पाताल लोक में कपिल मुनि के समीप पहुँचाया गया तो उसे प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को खोदने वाले हमारे पूर्वजों ने इस समुद्र की सीमा को बढ़ाया था ॥३॥

सूर्य की किरणें इससे गर्भ (जल) धारण करती हैं, रत्नों की इसमें वृद्धि होती है। जल ही जिसका इन्धन है—ऐसी वाडवाग्नि को यह समुद्र धारण करता है और इसी से आनन्ददायी चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है ॥४॥

उक्त अनेक प्रकार की अवस्थाओं को ग्रहण करते हुए तथा अपनी महिमा से दसों दिशाओं में व्याप्त होकर स्थित विष्णु भगवान् के समान इस समुद्र का स्वरूप ऐसा है अथवा इतना है—यह कहना सम्भव नहीं है ॥५॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥६॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥८॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥९॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥११॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥१२॥

प्रलयकाल मे योगनिद्राधारी भगवान् विष्णु ससार का सहार कर नाभि से उत्पन्न कमल पर स्थित आदि ब्रह्मा से स्तुति किए जाते हुए इसी समुद्र मे शयन करते हैं ॥६॥

इन्द्र द्वारा सैकडो पर्वतो के पक्ष काटे जाने पर, दर्पविहीन पर्वतो ने इस समुद्र मे उसी प्रकार आश्रय लिया था जिस प्रकार शत्रुओ द्वारा पराजित राजा किसी धर्मात्मा एव तटस्थ राजा की शरण लेते हैं ॥७॥

प्रलयकाल मे बढा हुआ इस समुद्र का स्वच्छ जल आदिवराह द्वारा पाताल से उठाकर (विवाह कर) लाई गई पृथ्वी (रूपी वधू) का घूघट बन गया था ॥८॥

यह समुद्र स्त्रियो मे अन्यो की अपेक्षा असाधारण भोग करने वाला है। अपना मुख अर्पित करने मे स्वभाव से ही धृष्ट नदियो का यह अधर-पान करता है और स्वय अपने तरग रूपी अधरो का दान करने मे चतुर होने से उन्हे अधरपान कराता भी है ॥९॥

अपने विस्तृत मुख के कारण जलचर जीवो समेत नदी के मुहाने के जल को पीकर ये तिमि नामक बडी-बडी मछलियाँ मुह को बन्द कर लेती है और छिद्रयुक्त मस्तको के ऊपरी भाग से (फौव्वारा के समान) जलधारा को ऊपर फेक रही है ॥१०॥

गजराज के समान विशाल मगरो के एकाएक उछलने से दो भागो मे विभक्त समुद्र के फेनो को देखो, जो इन मगरो के जबडो के समीप क्षणभर के लिए स्थित होकर उनके कानो के चामर बन जाते है ॥११॥

तीर की वायु का पान करने के लिए बाहर निकले हुए विशाल तरगो के समान स्थित ये मणिधर सर्प सूर्य की किरणो के पडने से चमकती हुई फण-स्थित मणियो के द्वारा ही पहचानने मे आते हैं ॥१२॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥१३॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥१४॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥१५॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥
एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥
कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम्।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥
क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥

तुम्हारे अधर के समान लाल रंग के मूँगों के ऊपर, एकाएक तरंगों के वेग से आकर उनके अंकुरों में फँसा हुआ शंखसमूह किसी प्रकार कठिनाई से अलग हो पाता है ॥१३॥

जल को पान करने का आरम्भ करते ही, समुद्र की भँवर में फँसकर उसके वेग से घूमते हुए मेघ के द्वारा यह समुद्र फिर से मन्दराचल द्वारा मथे जाते हुए के समान शोभा धारण कर रहा है ॥१४॥

दूर से लोहे द्वारा निर्मित पहिये की हाल के समान दिखाई पड़ने वाला, इस क्षार समुद्र का तट, तमाल और ताल वृक्षों की पतली और श्यामलवर्ण की वन पंक्ति से, किनारे पर लगी कीचड़ की शोभा को धारण कर रहा है ॥१५॥

हे विशाल लोचनों वाली सीते ! समुद्रतट की वायु केतकी के पुष्पों के परागों से तुम्हारे मुख को, मानों मुझे तुम्हारे बिम्बाफल के समान सुन्दर अधरों में सतृष्ण एवं श्रृंगार के विलम्ब को सहने में असमर्थ समझ कर, अलंकृत कर रहा है ॥१६॥

विमान के वेग के कारण हम लोग फलों से झुके हुए सुपारी के वृक्षों से युक्त उस समुद्र तट पर झट से पहुँच गए हैं, जहाँ की रेत पर खुली हुई सीपों से निकल कर मोतियों का समूह बिखरा हुआ पड़ा है ॥१७॥

हे करभोरु एवं मृगनयनी सीते ! तनिक पीछे छूटे हुए मार्ग को तो देखो ! ऐसा दिखाई पड़ता है मानों दूर से हटते हुए समुद्र के भीतर से, वनों के समेत यह पृथ्वी निकलती सी आ रही है ॥१८॥

जैसी मेरी मन की अभिलाषा होती है यह विमान वैसा ही चलता है। देखो, कहीं पर यह देवताओं के मार्ग से, कहीं पर बादलों के मार्ग से तो कहीं पक्षियों के मार्ग से चलने लगता है ॥१९॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥२०॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥२१॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥२५॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥

ऐरावत के मदजल से सुगन्धित, आकाशगंगा की तरंगों के स्पर्श से शीतल यह आकाश-वायु, मध्याह्न के कारण उत्पन्न तुम्हारे मुख के पसीने को सुखा रही है ॥२०॥

हे कुपित होने वाली! कुतूहलवश विमान की खिड़की से बाहर निकाले हुए हाथ से मेघ को जब तुम स्पर्श करती हो तब चमकती हुई बिजली रूपी कंकणवाला यह मेघ मानो तुम्हें दूसरा आभूषण प्रदान करता है ॥२१॥

ये वल्कलधारी तपस्वी अब जनस्थान को निर्विघ्न मानकर चिरकाल से छोड़े हुए अपने आश्रमों में आकर निवास करने लगे हैं और यहाँ आकर उन्होंने नवीन पर्णशालाओं का निर्माण भी आरम्भ कर दिया है ॥२२॥

यह वही वन-स्थली है, जहाँ तुम्हें ढूँढते हुए मैंने तुम्हारे द्वारा फेंके हुए और तुम्हारे चरण-कमल से अलग होने के दुःख से मानो चुपचाप पृथ्वी पर पड़े हुए एक नूपुर को पाया था ॥२३॥

हे भयभीत होने वाली! इन लताओं ने बोलने में असमर्थ होने के कारण झुके हुए पल्लवों वाली अपनी शाखाओं से कृपापूर्वक मुझे उस ओर का मार्ग बतलाया था, जिस ओर से तुम्हें राक्षस रावण हर कर ले गया था ॥२४॥

कुश के अंकुरों की ओर से उदासीन हरिणियों ने अपनी ऊपर की ओर उठी हुई बरौनियों वाली आँखों को, दक्षिण दिशा की ओर घुमाकर, मुझ अनजान को तुम्हारा मार्ग बतलाया था ॥२५॥

आकाश को छूने वाला माल्यवान नामक पर्वत का यह शिखर सामने दिखाई पड़ रहा है, जहाँ पर नूतन मेघ ने जल को, तथा मैंने तुम्हारे विरह से उत्पन्न आँसुओं को साथ ही बरसाया था ॥२६॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥
पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्घनगर्जितानि ॥२८॥
आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२९॥
उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥३०॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥
इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥

यहीं पर वर्षा की धारा से आहत पोखरों की सोंधी-सोंधी सुगन्ध, आधे खिले हुए कदम्ब के पुष्पों का केसर और मयूरों की सुन्दर वाणी, तुम्हारे बिना मेरे लिए असह्य बन गयी थी ॥२७॥

हे भीरु! इसी जगह पहले के अनुभव किए गए (बादलों के गरजने पर) अधिक कम्पन से युक्त तुम्हारे आलिंगन को स्मरण करते हुए मैंने (इस पर्वत की) गुफाओं में बढ़ते हुए मेघ के गर्जनों को किसी प्रकार (बड़ी कठिनता से) सहन किया था ॥२८॥

इसी मन्दराचल पर धारापूर्वक वर्षा होने से भीगी हुई पृथ्वी से निकलती हुई भाप के द्वारा खिली हुई कलियों वाले कन्दली के पुष्पों ने, जो विवाह के समय (यज्ञाग्नि के) धूएं से लाल तुम्हारी आंखों की शोभा का अनुकरण कर रहे थे, मुझे शोक से भर दिया था ॥२९॥

समीपवर्ती बेंत के उपवनों से आच्छादित और कुछ-कुछ दिखाई पड़ने वाले चंचल सारसों से युक्त पम्पा नामक सरोवर की जल की राशि को, दूर से पड़ती हुई मेरी दृष्टि मानो बड़ी कठिनाई से पी (देख) रही है। ।३०॥

हे प्रिये! इसी पम्पा सरोवर में तुमसे दूर पड़ा हुआ मैं, चक्रवाक पक्षी के ऐसे जोड़ों को बड़ी चाह भरी दृष्टि से देखा करता था, जो आपस में एक-दूसरे से वियुक्त नहीं होते थे और एक दूसरे को कमल का मकरन्द दिया करते थे ॥३१॥

(इसी पम्पा सरोवर के) तट पर विद्यमान पतली अशोक की लता को, जो स्तनों के समान सुन्दर पुष्प के गुच्छों से झुकी हुई थी, मैंने यह समझ कर कि तुम मिल गई हो, जब आलिंगन करना चाहा तो लक्ष्मण ने आंखों में आंसू भर कर मुझे रोक दिया था ॥३२॥

[illegible] नदियों की आवाज को सुनकर (अपने
[illegible] ई, यह गोदावरी नदी के सारसों की

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥
अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥३६॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धिरजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥३७॥
एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

बहुत दिनो के बाद दिखाई पड़ने वाली यह पंचवटी, जिसमे क्षीण कटिवाली होकर भी तुमने घड़ो मे जल भर-भर कर आम के पौधो को सीचा है, और जिसके कृष्णसार मृग हम लोगों की ओर उन्मुख होकर देख रहे है, मेरे मन को आनन्दित कर रही है ॥३४॥

मुझे वह दृश्य स्मरण आ रहा है, जब यहाँ गोदावरी नदीके समीप मृगया-विहार से लौटकर, इसकी लहरो का स्पर्श करके आनेवाली (शीतल) वायु से अपनी थकान मिटाकर मैं एकान्त मे तुम्हारी गोद मे सिर रख कर बेत के कुञ्जो में सो जाया करता था ॥३५॥

यह पृथ्वी पर निवास करने वाले उन अगस्त्य ऋषि का आश्रम है, जिन्होंने अपनी भृकुटी के सचालन मात्र से राजा नहुष को इन्द्र के पद से नीचे गिरा दिया था और जिनके उदय होने पर मटमैला जल स्वच्छ हो जाता है ॥३६॥

अनिन्द्य यशस्वी उन्ही अगस्त्य ऋषि की हविष्यान्न की सुगन्धि से युक्त तीनो प्रकार (प्राजापत्य, आहवनीय तथा गार्हपत्य) की अग्नियो की धूम-शिखा ने इस विमान-मार्ग (आकाश) को व्याप्त कर लिया है और इसके सूंघने से मेरा अन्त करण रजोगुण विहीन एवं लघु (हल्का) हो गया है ॥३७॥

हे मानिनी ! यह (सामने दिखाई पड़ने वाला) शातकर्णी मुनि का 'पचाप्सर' नामक क्रीडा-सरोवर है। अपने चारो ओर अवस्थित वनो से यह इस प्रकार शोभायमान हो रहा है मानो मेघो के मध्य मे स्थित कुछ-कुछ दिखाई पड़ने वाला चन्द्र-बिंब हो ॥३८॥

पहले केवल कुश के अकुरो से अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करने वाले एवं हरिणो के साथ चरते हुए इन मुनि को, समाधि से डरे हुए देवराज इन्द्र ने पाच अप्सराओ के यौवन-रूपी कपट जाल मे फँसा दिया था ॥३९॥

(इसी सरोवर की) जलराशि के भीतर निर्मित भवन मे निवास करनेवाले उन्ही शातकर्णी मुनि के निरन्तर चलते रहने वाले सगीत के मृदग का शब्द आकाश मे पहुँच कर क्षण भर के लिए अपनी प्रतिध्वनि से (हमारे) पुष्पक विमान की चन्द्रशाला को गुजा रहा है ॥४०॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः॥४१॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि॥४२॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते॥४३॥
वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते॥४४॥
अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥४५॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥४६॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः॥४७॥

जलती हुई चार अग्नियों (धूनियों) के बीच, ऊपर मस्तक पर तपते हुए सूर्य से युक्त होकर यह दूसरे तपस्वी अपनी तपस्या में निरत हैं। जिनका नाम तो सुतीक्ष्ण है, किन्तु जिनका जीवन सौम्य है॥४१॥

हँसते हुए कटाक्ष करती हुई तथा बहाने से अपनी करधनी का आधा भाग दिखाती हुई अप्सराओं की विलास-चेष्टाएँ, इन्द्र के चित्त में आशंका उत्पन्न करने वाले इन (सुतीक्ष्ण) मुनि के चित्त में विकार उत्पन्न करने में असमर्थ रही हैं॥४२॥

ऊर्ध्वबाहु अर्थात् बाएँ हाथ को ऊपर उठाकर तपस्या करने वाले यह मुनि, रुद्राक्ष के कङ्कण से विभूषित हरिणों को खुजलाने वाली तथा कुश के काँटों को काटने वाली अपनी दाहिनी भुजा को मेरे सम्मान में इसी ओर करके हिला रहे हैं॥४३॥

मौनव्रतधारी इन (सुतीक्ष्ण) मुनि ने मेरे द्वारा किए गए प्रणाम को सिर हिलाकर ग्रहण किया है और फिर मेरे विमान से दृष्टि को हटाकर सूर्य में लगा दिया है॥४४॥

यह सामने दिखाई पड़ने वाला तपोवन, जो सबको शरण देने वाला एवं पवित्र है, नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले शरभङ्ग मुनि का है, जिन्होंने बहुत दिनों तक समिधा से अग्नि को तृप्त करने के बाद अपने शरीर को भी हवन कर दिया था॥४५॥

अपनी छाया से मार्ग की थकावट को दूर करने वाले, प्रचुर मात्रा में अच्छे प्रकार के फलों से युक्त इन वृक्षों पर, उन (शरभङ्ग ऋषि) के अतिथियों के सत्कार का भार इस प्रकार स्थित है, मानो ये उन्हीं के सुपुत्र हों॥४६॥

हे मनोहर शरीरवाली! मतवाले साँड के समान यह चित्रकूट पर्वत मेरी दृष्टि को अपनी ओर बाँध रहा है। झरनों के शब्दों को प्रकट करने वाली गुफा ही मानो इसका मुख है, और शिखर पर छाए हुए बादल ही मानो इसको वप्रक्रीडा (सींग से मिट्टी खोदने की क्रीडा) में लगी हुई मिट्टी है॥४७॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥४८॥
अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥४९॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥५०॥
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥५१॥
वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥५३॥
क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥

निर्मल तथा मन्द प्रवाह युक्त यह मन्दाकिनी नदी दूरी के कारण पतली दिखाई पड़ रही है। (चित्रकूट) पर्वत के समीप अवस्थित यह ऐसी शोभा दे रही है मानो पृथ्वी के कंठ में मोतियों की माला विराजमान हो॥४८॥

इस पर्वत के समीप ही अच्छी जाति का वह तमाल वृक्ष है, जिसके सुगन्धित पल्लवों को लेकर मैंने जव के अंकुर के समान पीले वर्ण के तुम्हारे गालों पर सुशोभित होने वाला सुन्दर कर्ण का आभूषण बनाया था॥४९॥

बन्धन तथा मृत्यु के भय के बिना ही यहाँ के वन्य-पशु विनयशील हैं, फूल के बिना ही यहाँ के वृक्ष फल देते हैं और इस प्रकार यहाँ महामुनि अत्रि की अति उग्र तपस्या का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह वन उनकी तपस्या का मूल साधन है॥५०॥

इसी तपोवन में महामुनि अत्रि की पत्नी अनसूया ने ऋषियों के स्नान के लिए उस त्रिपथगामिनी गंगा को प्रवाहित किया था, जिसके सुनहले कमलों को सप्तर्षिगण अपने हाथों से तोड़ते हैं और जो शिवजी की मस्तक की माला बनते हैं॥५१॥

ये (सामने दिखाई पड़ने वाले) वृक्ष, जिनकी वेदियों पर ध्यानमग्न ऋषिगण वीरासन लगाकर बैठे हैं, वायु के न चलने से स्थिर होने के कारण ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं, मानो ये भी योग-साधन में लीन हों॥५२॥

तुमने जिसकी पहले पूजा की थी, यह वही श्याम रंग का दिखाई देने वाला वट वृक्ष है। फलों से युक्त होने के कारण यह इस प्रकार शोभित हो रहा है, मानो पद्मराग मणि से युक्त मरकत मणियों का ढेर हो॥५३॥

हे अनिंद्य सौन्दर्य वाली! यमुना की लहरों से स्पष्ट पृथक्, अपनी धारा से युक्त गंगा जी कहीं पर कान्ति बिखेरने वाली इन्द्रनीलमणियों से जड़ी हुई मोती की छड़ी के समान दिखाई पड़ती है तो कहीं पर बीच-बीच में नीले कमलों से युक्त श्वेत कमलों की माला

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥

क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥५६॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥५८॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥५९॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥६१॥

के समान हैं। कहीं पर नीले हंसों से युक्त श्वेत हंसों की पंक्ति के समान हैं तो कहीं पर काले अगुरु की पत्रावली (मकराकृति रचना विशेष) से चन्दन से बनी पृष्ठभूमि के समान हैं। कहीं पर (वृक्षादि की) छाया में विलीन अन्धकार के द्वारा चितकबरी बनाई गई चांदनी के समान हैं तो कहीं पर बीच-बीच में दिखाई देने वाले नीले आकाश से युक्त शरद् ऋतु के श्वेत बादलों की पंक्ति के समान हैं। अथवा काले सांपों से सुशोभित विभूति भूषित शंकरजी के समान सुशोभित हो रही हैं। समुद्र की पत्नी गंगा-यमुना के इस पुण्य संगम-स्थल पर स्नान करके पवित्रात्मा शरीरधारी बिना तत्त्वज्ञान के ही जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छूट जाते हैं ॥५४-५८॥

यह निषादराज गुह का नगर (शृंगवेरपुर) है, जहाँ पर मेरे मुकुटमणि को छोड़कर जटा बांध लेने पर सुमन्त यह कह कर रो पड़े थे कि—'हा कैकेयी! तुम्हारे मनोरथ सफल हुए'॥५९॥

जिस प्रकार ऋषि लोग कहते हैं कि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार ब्राह्म अर्थात् मानसरोवर भी, जिसके सुनहले कमलों का पराग यक्षों की स्त्रियाँ अपने स्तनों पर लगाती हैं, सरयू नदी का उद्गम-स्थल है ॥६०॥

जिसके किनारों पर यज्ञ-स्तम्भ स्थापित हैं—ऐसी यह सरयू नदी राजधानी अयोध्या पुरी के समीप से उस पवित्र जल को लेकर बहती है, जिसे इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न राजाओं ने अपने अश्वमेध यज्ञों की समाप्ति के अवसर पर किए गए स्नानों से और भी पवित्र कर दिया है ॥६१॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥६३॥
विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥
अद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥६५॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥६६॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥६७॥
एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥

रेतीले तट-रूपी गोद में उचित सुख भोगने वाले तथा पर्याप्त पय (दूध तथा जल) से परिवर्द्धित उत्तरकोसल के राजाओं की साधारण धाय के समान इस सरयू नदी को मेरा मन बड़ा आदर देता है ॥६२॥

मेरे पूज्य पिता सम्माननीय राजा दशरथ से वियुक्त हमारी माता के समान यह सरयू नदी दूर से आने वाले मुझको, अपनी शीतल वायु के तरंगों रूपी हाथों से मानो आलिंगित सी कर रही है ॥६३॥

यह सामने जो विशेषरूप से रक्तवर्ण सन्ध्या के समान लाल-पीले रंग की पृथ्वी की धूल ऊपर उठ रही है, इससे मुझे अनुमान हो रहा है कि हनुमान जी से (मेरे आने का) समाचार प्राप्त करके भरत सेना समेत मेरी ही ओर चले आ रहे हैं ॥६४॥

युद्ध में खरदूषणादि राक्षसों को मारकर लौटने के बाद जिस प्रकार लक्ष्मण ने सुरक्षित रूप में तुम्हें लौटाया था निश्चय ही उसी प्रकार साधु स्वभाववाले यह भरत भी पिता की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले (वन से लौटते हुए) मुझे निर्दोष राज्यलक्ष्मी को वापस कर देंगे ॥६५॥

पैदल चलते हुए वल्कल वस्त्रधारी यह भरत सेना को पीछे कर तथा गुरु (वसिष्ठ) को आगे करके वृद्ध मन्त्रियों के साथ हाथ में अर्घ्य लिए हुए मेरे सम्मुख चले आ रहे हैं ॥६६॥

पिता द्वारा दी गई तथा अपनी गोद में आई हुई राजलक्ष्मी को मेरा ध्यान करके, जिस भरत ने युवा होकर भी नहीं भोगा, वह इतने वर्षों तक उस (लक्ष्मी) के साथ मानो असि-धारा के कठिन व्रत का अभ्यास करते रहे हैं ॥६७॥

रामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, उनकी इच्छा को अधिदेवता से ज्ञात कर, विस्मय पूर्वक भरत के पीछे पीछे आने वाली प्रजा को देखते हुए वह पुष्पक विमान आकाशमार्ग से पृथ्वी पर नीचे उतरा ॥६८॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥६९॥
इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेकं॥७०॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मंत्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥७१॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥७२॥
सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन॥७३॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान्।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते॥७४॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः॥७५॥

रामचन्द्रजी सेवा में दक्ष वानरपति (सुग्रीव) के हाथ का सहारा लेकर आगे-आगे विभीषण से दिखाई गई, भूमि की सतह से थोड़ी ऊँची तथा स्फटिक मणि से जटित सीढ़ी के मार्ग द्वारा, उस पुष्पक विमान से नीचे उतरे॥६९॥

पवित्रात्मा राम ने इक्ष्वाकुवंश के गुरु वसिष्ठ को पूर्णरूप से झुककर प्रणाम किया और फिर अर्घ्य ग्रहण करने के अनन्तर उन्होंने अपने भाई भरत को आंखों में आंसू भर कर हृदय से लगा लिया और उनके सिर को सूंघा, जिन्होंने उनकी भक्ति के कारण पिता के राज्य का महान् अभिषेक भी अंगीकार नहीं किया था॥७०॥

उन्होंने प्रणाम करते हुए अपने बूढ़े मन्त्रियों को, जिनके मुख दाढ़ी-मूछों के बहुत बढ़ जाने से विकृत हो रहे थे और जो बढ़ी हुई जटाओं वाले वट-वृक्षों के समान दिखाई पड़ रहे थे, शुभ दृष्टि डालकर और कुशल क्षेम के मधुर अक्षरों से युक्त अपनी वाणी से अनुगृहीत किया॥७१॥

यह मेरे विपत्ति के मित्र भालुओं तथा वानरों के राजा सुग्रीव हैं, और यह युद्ध में आगे रह कर आक्रमण करने वाले पुलस्त्य के वंशज विभीषण हैं—रघुनन्दन रामचन्द्र जी के द्वारा यह कहने पर भरत ने लक्ष्मण को छोड़कर उन दोनों से (पहले) प्रणाम किया॥७२॥

इसके अनन्तर वह लक्ष्मण से मिले और सिर झुकाए हुए लक्ष्मण को उठाकर हृदय से इस प्रकार चिपका लिया मानो मेघनाद के प्रहारों से उत्पन्न व्रणों से कठोर बनी हुई उनकी छाती से अपनी भुजाओं को पीड़ित कर रहे हों॥७३॥

तब रामचन्द्र जी की आज्ञा से वानरों के सेनापतिगण मनुष्य का शरीर धारणकर हाथियों पर बैठे और उन्होंने बड़ी मात्रा में मदजल की धारा बहाने वाले उन हाथियों पर बैठकर पर्वतों पर चढ़ने का सा सुख अनुभव किया॥७४॥

दशरथ पुत्र रामचन्द्र जी की आज्ञा से राक्षसों के स्वामी विभीषण भी अपने अनुचरों के साथ रथ पर बैठे। माया द्वारा विशेष सङ्कल्प से बने हुए राक्षसों के रथ भी इन मनुष्यों द्वारा बनाए गए रथों की शोभा की समानता नहीं कर सकते थे॥७५॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम्।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥७६॥
तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वी वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे॥७७॥
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥७८॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकात्प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

तदनन्तर रघुनन्दन राम पताकाओं से सुशोभित और इच्छा के अनुसार चलने वाले विमान पर अपने अनुजों (भरत तथा लक्ष्मण) के साथ फिर बैठे। मानो सायंकाल के चंचल बिजली वाले मेघों के समूह पर बुध और बृहस्पति के संग दिखाई पड़ने वाले चन्द्रमा विराजमान हों ॥७६॥

उस विमान के ऊपर, जगत्पति (आदिवराह) द्वारा प्रलय से बचाई गई पृथ्वी के समान, शरदागमन के द्वारा मेघ-समूह से बचाई गई चन्द्रमा की छवि के समान, रामचन्द्र जी के द्वारा रावण के कष्ट से उबारी हुई धैर्यशीला सीताजी को भरत जी ने प्रणाम किया ॥७७॥

जिसने लंका के स्वामी रावण की प्रार्थना को ठुकरा कर दृढ़-व्रतों का पालन किया था राजा जनक की पुत्री सीता का वह युगल-चरण तथा अपने बड़े भाई रामचन्द्र जी का अनुकरण करने के कारण जटा से युक्त उस साधु पुरुष भरत का मस्तक—ये दोनों ही आपस में मिलकर एक दूसरे से पवित्र हो गए ॥७८॥

प्रजावर्ग जिसके आगे-आगे चल रहा था—ऐसे मन्दगति वाले पुष्पक विमान से आधा कोस तक चलकर पूज्य ककुत्स्थवंशोत्पन्न रामचन्द्रजी अयोध्यापुरी के उस विशाल उपवन में ठहर गए, जहाँ शत्रुघ्न ने (पहले ही से) राजसी तम्बू आदि लगवा दिए थे ॥७९॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में दण्डक वन से प्रत्यागमन नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

# चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥१॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥२॥

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥३॥

ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥४॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥५॥

# चौदहवाँ सर्ग

तदनन्तर दशरथ पुत्र रामचन्द्र तथा लक्ष्मण ने एक साथ ही, पति के मरने से शोचनीय अवस्था में पहुँची हुई अपनी दोनों माताओं (कौशल्या तथा सुमित्रा) को देखा, जो समीपवर्ती वृक्ष के कट जाने पर शोचनीय दशा में पहुंची लताओं के समान थीं ॥१॥

दोनों माताओं को क्रमशः प्रणाम करनेवाले शत्रुहन्ता एवं पराक्रम से सुशोभित राम और लक्ष्मण को उनकी दोनों माताएँ आँखों में आँसू भरे होने के कारण भलीभाँति नहीं देख सकीं, अपितु पुत्र-स्पर्श से उत्पन्न सुख के द्वारा ही उन्हें पहचान सकीं ॥२॥

आनन्द से निकले हुए उनके शीतल आँसुओं ने उनके शोक से गरम आँसुओं को उसी प्रकार दूर कर दिया जैसे हिमालय से उतरी हुई जल की धारा गंगा और सरयू नदी के, ग्रीष्म से उत्तप्त जल की उष्णता को दूर कर शीतल बना देती है ॥३॥

(राम और लक्ष्मण के शरीर में) राक्षसों के शस्त्रास्त्रों से लगे हुए घावों को, इस प्रकार करुणा से भरकर सहलाते हुए कि मानो वे अभी ताजे ही हैं, क्षत्रिय कुल की स्त्रियों का वीरप्रसविनी शब्द उन्हें (कौशल्या और सुमित्रा को) नहीं रुचा ॥४॥

'अपने पति को कष्ट देने वाली मैं कुलक्षणा सीता हूँ'—इस प्रकार अपना परिचय देती हुई सीता ने अपने दिवंगत श्वसुर (राजा दशरथ) की दोनों रानियों को बिना किसी भेदभाव के प्रणाम किया ॥५॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥६॥
अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः॥७॥
सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥८॥
तपस्विवेषक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदितासीत्पुनरुक्तदोषा॥९॥
समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्॥१०॥
सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः॥११॥
प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे॥१२॥

'हे बेटी। उठो। छोटे भाई के साथ तुम्हारे पति ने तुम्हारे पवित्र आचरण के द्वारा ही महान दुःख को पार किया है'—ऐसा कहते हुए उन दोनों (कौशल्या तथा सुमित्रा) ने अपने प्रिय पति की योग्य पत्नी सीता से प्रिय होते हुए भी सत्य बात कही॥६॥

इसके बाद वृद्ध अमात्यों ने दोनों माताओं (कौशल्या तथा सुमित्रा) के आनन्दाश्रुओं से ही जिसका आरम्भ किया गया था—ऐसे रघुवंशकेतु रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक को तीर्थों से लाए गए सुवर्ण कलश के जलों से सम्पन्न किया॥७॥

नदियों, समुद्रों तथा सरोवरों से प्रमुख वानरों तथा राक्षसों द्वारा जाकर लाया गया पवित्र जल विजयशील रामचन्द्रजी के मस्तक पर इस प्रकार गिर रहा था, जिस प्रकार मेघों का जल विन्ध्याचल के शिखर पर बरसता है॥८॥

तपस्वियों का वेश धारण करके भी रामचन्द्र जी अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़े और अब सम्राटों की वेष-भूषा धारण कर लेने पर तो उनकी शोभा दुगुनी हो गई॥९॥

मांगलिक वाद्यों के शब्द से नागरिकों को आनन्दित करते हुए, सेना समेत रामचन्द्र जी ने, राजभवनों में स्थित स्त्रियों द्वारा मांगलिक खीलें बरसाने वालों तथा तोरणादि से सुसज्जित अपनी वंश-परम्परागत राजधानी अयोध्या में प्रवेश किया॥१०॥

रथ पर आसीन रामचन्द्र को, अपने छोटे भाई (शत्रुघ्न) के साथ लक्ष्मण जी चामर डुला रहे थे और भरत जी श्वेत-छत्र लगाए हुए थे। इस प्रकार से सुशोभित होकर वे (रामचन्द्रजी) उस समय उपायों (साम, दाम, दण्ड और भेद) के समान लग रहे थे॥११॥

अयोध्यापुरी के प्रासादों से निकलने वाली, वायु से बिखरी हुई काले अगुरु के धुएँ की पंक्तियाँ ऐसी दिखाई पड़ रही थीं मानो ये उस नगरी की वेणी है, जिसे वन से लौटकर रामचन्द्र जी ने खोल दिया है॥१२॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥१३॥
स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम्।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा॥१४॥
वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश॥१५॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब ! सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः॥१६॥
तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः।
संकल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन॥१७॥
सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादिवृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम्॥१८॥
प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान्।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः॥१९॥

अयोध्या की रमणियों ने भवनों की खिड़कियों से दिखाई पड़ने वाले अपने जुड़े हुए हाथों से रघुवीर रामचन्द्र जी की पत्नी सीता जी को प्रणाम किया, जिन्हें उनकी सासों ने सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित किया था और जो (स्त्रियों के लिए ही विशेषरूप से निर्मित) कर्णी नामक रथ में बैठी हुई थीं॥१३॥

चमकती हुई प्रभा के समूह को फैलाने वाले, अनसूया के दिए हुए अविनश्वर अंगराग को लगाए हुए सीता जी ऐसी शोभित हो रही थीं जैसे रामचन्द्र जी द्वारा फिर से अग्नि में प्रवेश कराकर—यह शुद्ध सीता हैं—ऐसा कह कर अपनी नगरी के लिए दिखलाई जा रही हों॥१४॥

सज्जनता के समुद्र राम ने (सुग्रीव आदि) मित्रों के लिए सभी सुख-साधनों से परिपूर्ण भवन देकर स्वयं आंखों में आंसू भरकर अपने चित्र-शेष पिता के पूजा-गृह में प्रवेश किया॥१५॥

वहाँ (उस घर में) हाथ जोड़कर रामचन्द्र जी ने भरत की माता कैकेयी की लज्जा को यह कह कर दूर किया कि—हे माता ! स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले जिस सत्य से हमारे पिता च्युत नहीं हुए, उसका श्रेय तुम्हें ही है, यह विचार करने की बात है॥१६॥

रामचन्द्र जी ने विशेषरूप से प्रस्तुत की गई सुविधा की सामग्रियों से सुग्रीव, विभीषणादि का ऐसा स्वागत-समादर किया कि इच्छा करने मात्र से ही सब साधनों के उपलब्ध हो जाने के कारण वे सब मन में आश्चर्य करने लगे॥१७॥

रामचन्द्रजी ने अपने अभिनन्दन के लिए समुपस्थित (अगस्त्य आदि) दिव्य मुनियों का स्वागत-सत्कार करके उनसे, अपने पराक्रम के महत्त्व को बढ़ाने वाले अपने द्वारा मारे गए शत्रु रावण के जन्मादि का वृत्तान्त सुना॥१८॥

तपस्वी मुनियों के वापस चले जाने पर, सुखपूर्वक रहने के कारण बीते हुए आधे महीने की अवधि का जिन्हें पता ही नहीं लगा, उन वानरों तथा राक्षसों के प्रमुखों को स्वयं सीता जी ने अपने हाथों से उपहार की सामग्री प्रदान की और रामचन्द्र जी ने उन्हें विदाई दी॥१९॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥२०॥
पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥२१॥
सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत्।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥२२॥
तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥२३॥
स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥२४॥
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥२५॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥२६॥

(तदनन्तर रामचन्द्र जी ने) अपने मन में इच्छा करने मात्र से उपस्थित स्वर्ग के कुसुम (पारिजात) के समान सुन्दर पुष्पक विमान को, जिसका देवताओं के शत्रु रावण के प्राणों के साथ ही हरण कर लिया था, फिर से कैलासपति कुबेर की सवारी में रहने का आदेश दिया ॥२०॥

इस प्रकार पिता की आज्ञा से वनवास की अवधि समाप्त कर राज्य को प्राप्त करने के अनन्तर रामचन्द्र जी ने जिस प्रकार धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पदार्थों में समान व्यवहार रखा उसी प्रकार अपने तीनों अनुजों के प्रति भी उन्होंने समानता का व्यवहार रखा ॥२१॥

सब में समान स्नेह रखने के कारण वह ( रामचन्द्रजी ) अपनी सभी माताओं का उसी प्रकार समान रूप से आदर-सत्कार करते थे जिस प्रकार देवताओं के सेनापति स्कन्द उन कृत्तिकाओं का समादर करते थे, जिनका स्तनपान उन्होंने अपने छहों मुखों से किया था ॥२२॥

प्रजावर्ग अपने को रामचन्द्रजी के लोभरहित (दाता) होने के कारण धनिक, विघ्नों का विनाशक होने के कारण कर्त्तव्य में लीन, नियन्त्रण रखने से पितायुक्त तथा शोक विनाशक होने से पुत्रवान मानता था ॥२३॥

रामचन्द्र जी ने नागरिकों से सम्बन्धित राजकार्य का निपटारा कर उपयुक्त अवसर प्राप्त कर विदेहराज की पुत्री जानकी के साथ रमण किया। ऐसा मालूम पड़ता था मानो उपवनलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण की उत्कण्ठा से सीता जी का सुन्दर रूप धारण किया हो ॥२४॥

अपने वनवास की घटनाओं से सम्बन्धित चित्रों से सुसज्जित महलों में, इच्छानुसार इन्द्रियों का सुख भोगने वाले उन दोनों के लिए दण्डक वन में भोगे हुए दुःख भी सोचने पर सुख बन जाते थे ॥२५॥

तदनन्तर सीता जी अधिक सुन्दर नेत्रों से युक्त तथा सरकण्डे के समान पाण्डुवर्ण के अपने मुख से बिना शब्दों की कोई बात कहे हुए ही अपने प्रियतम को सुख देने वाली बनीं ॥२६॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥२७॥
सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः संबद्धवैखानसकन्यकानि।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि॥२८॥
तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह॥२९॥
ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे॥३०॥
स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः॥३१॥
निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम्।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः॥३२॥
कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥३३॥

(गर्भ के वृत्तान्त से) सुप्रसन्न पति ने दुर्बल अंगों वाली सीता को, जिनके स्तनों के अगले भाग का रंग बदल गया था और जो विशेष लज्जा का अनुभव कर रही थी, एकान्त में अपनी गोद में बिठा कर उनके मन की अभिलाषा पूछी॥२७॥

सीता ने, गंगा तट पर अवस्थित कुश से भरे उन तपोवनों में फिर से जाने की इच्छा प्रकट की, जहाँ हिंस्र-जीव बलि में दिए गए नीवार को खा जाते थे और जहाँ तपस्वियों की कन्याओं से उन्होंने सखी का सम्बन्ध जोड़ रखा था॥२८॥

रघुवंश-शिरोमणि रामचन्द्रजी सीता को उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने का वचन देकर अपने अनुचरों को साथ लेकर सुख-समृद्धि से पूर्ण अयोध्या नगरी की छटा देखने के लिए अपने गगनचुंबी राजप्रासाद की छत पर चढ़ गए॥२९॥

रामचन्द्र जी ने धन-सम्पदा से समृद्ध बाजारों वाले राजपथ, नावों से पार की जाती हुई सरयू नदी तथा विलासी नागरिकों से युक्त नगर के समीपस्थ उपवनों को देखा और अतीव प्रसन्न हुए॥३०॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ, शुद्ध आचरणनिष्ठ शेषनाग के समान विशाल बाहु, तथा दुर्दान्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र जी ने अपने राज-काज या आचरण के विषय में की जाने वाली लोकचर्चा को 'भद्र' नामक अपने एक गुप्तचर से पूछा॥३१॥

आग्रहपूर्वक पूछने पर वह बोला—हे मनुष्य रूप में देव! राक्षस के भवन में निवास करने वाली सीता को पुनः ग्रहण करने के अतिरिक्त आपके सभी व्यवहारों एवं कार्यों की नागरिक लोग प्रशंसा करते हैं॥३२॥

इस प्रकार अपनी पत्नी की निन्दा के गंभीर अपयश से ताडित रामचन्द्र जी का हृदय लोहे के घन से ताडित तपाए हुए लोहे के समान विदीर्ण हो गया॥३३॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥३४॥
निश्चित्य चानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत।
अपिस्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः॥३५॥
स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान्।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम्॥३६॥
राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम्।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य॥३७॥
पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम्।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः॥३८॥
तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव॥३९॥
अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥४०॥

क्या मैं अपनी अपकीर्ति की इस चर्चा की उपेक्षा कर दूं अथवा निर्दोष पत्नी सीता को सदा के लिए छोड़ दूं—इस प्रकार किसी भी एक पक्ष का आश्रय लेने में व्याकुल होने के कारण उनके मन की स्थिति दोलायमान (झूले पर चढ़े हुए के समान) हो गई॥३४॥

फिर तो किसी अन्य उपाय से दूर न होने वाली अपनी इस अपकीर्ति को उन्होंने सीता के त्याग के द्वारा ही दूर करने का निश्चय किया। जिनका यश ही सब कुछ है ऐसे यशोधन व्यक्तियों के लिए उनका यश इन्द्रियों के विषयों के सुख की तो बात ही क्या अपने शरीर से भी बढ़कर (रक्षणीय) होता है॥३५॥

उदास मुख राम ने अपने उन छोटे भाइयों को एकत्र करके, जिनका हर्ष उनके इस (सहसा) परिवर्तन को देखकर विलुप्त हो गया था, अपने से संबध रखने वाली इस अपकीर्ति की चर्चा की और फिर कहा—॥३६॥

देखो तो सूर्यवंशीय राजर्षियों के पवित्र कुल में उत्पन्न और सदाचार से पवित्र मेरे द्वारा, बादल वाली हवा (भाप) से दर्पण के समान, यह कैसा कलंक पैदा हो गया है॥३७॥

जल की लहरों पर तेल के बिन्दु के समान, नागरिकों के बीच में तेजी से फैलते हुए इस सर्वप्रथम अपयश को मैं उसी प्रकार सहन करने में असमर्थ हूँ जिस प्रकार कोई गज-राज पहले पहल अपने बांधने वाले खूंटे को नहीं सहन करता॥३८॥

अपने उस अपवाद को दूर करने के लिए, पुत्रोत्पत्ति का समय अति समीप होते हुए भी मैं सीता की उपेक्षा करके उसी प्रकार छोड़ दूंगा जैसे अपने पिता की आज्ञा से समुद्र की सीमावर्तिनी पृथ्वी को मैंने छोड़ दिया था॥३९॥

मैं जानता हूं कि यह (सीता) निष्पाप है, किन्तु लोकनिन्दा को मैं बड़ा मानता हूँ। मेरा मत है कि जनता ने ही भूमि की छाया को निर्मल चन्द्रमा के कलंक के रूप में आरोपित किया है॥४०॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥४१॥
तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥४२॥
इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम्।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥४३॥
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥४४॥
प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥४५॥
स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥४६॥
अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥४७॥

राक्षसों के संहार का मेरा प्रयत्न व्यर्थ हो गया—ऐसी बात नहीं है, वह तो वैर का बदला चुकाने के लिए था। क्या बदला लेने वाला सर्प, अपने को पैर से स्पर्श करने वाले को रक्त की इच्छा से काटता है ॥४१॥

इसलिए यदि आप लोग यह चाहते हैं कि मेरे प्राणों से इस अपकीर्ति का काँटा निकल जाय और मैं चिरकाल तक जीवन धारण कर सकूं तो आप करुणार्द्र चित्त होकर मेरे इस निश्चय का विरोध न करें ॥४२॥

जनकपुत्री सीता के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हुए एवं अत्यन्त कठोर निश्चय पर दृढ़ राजा रामचन्द्र का उनके भाइयों में से न तो कोई निषेध कर सका और न कोई उनके कथन का अनुमोदन ही कर सका ॥४३॥

तीनों लोकों में जिनकी कीर्ति का गायन हो रहा था-ऐसे यथार्थवक्ता एवं लक्ष्मण के पूर्वजन्मा (रामचन्द्र जी) ने इस प्रकार से सम्बोधित कर अपने आज्ञाकारी लक्ष्मण को अलग ले जाकर बातें की ॥४४॥

अपने गर्भकालिक मनोरथ को पूरा करने के लिए समुत्सुक तुम्हारी भाभी (सीता जी) तपोवनों में जाना चाहती हैं। अतः रथ पर सवार होकर उसी बहाने से इन्हें मुनिवर वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा कर छोड़ आओ ॥४५॥

पिता की आज्ञा से भृगुपुत्र परशुराम ने अपनी माता पर शत्रु के समान प्रहार किया था--इसे लक्ष्मण ने सुन रखा था अतः उन्होंने भी अपने बड़े भाई की इस आज्ञा को स्वीकार किया। क्योंकि गुरुजनों की आज्ञा विचार करने के लिए नहीं होती। (अर्थात् उसे तो बिना विचार किए ही करना चाहिए) ॥४६॥

इसके बाद लक्ष्मण ने, अपनी इच्छा के अनुकूल बात को सुनकर प्रसन्न जानकी को निर्भय घोड़ा से जुते हुए रथ पर जिसे सुमन्त हाँक रहे थे, बैठा कर (तपोवन की ओर) प्रस्थान किया ॥४७॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥६२॥
उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥६३॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥६४॥
किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥६५॥
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥६८॥

अथवा तुम कल्याण बुद्धि वाले हो अतः अपने प्रति तुम्हारे इस मनमाने व्यवहार में मुझे किसी प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिए। यह तो मेरे दूसरे जन्मों में मेरे किए गए दुष्कृतों का देर से मिलने वाला वज्र-निर्घोष है ॥६२॥

पहले प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का त्याग कर तुम मेरे साथ वन को गए थे। इसीलिए लगता है कि तुम्हारे भवन में आदर प्राप्त करके रहती हुई मुझको अत्यन्त क्रोध में भरकर वह सहन नहीं कर सकी ॥६३॥

आपकी कृपा से पिछली बार मैं राक्षसों द्वारा सताए गए पतियों वाली तपस्विनियों की शरण देने वाली बनी थी, किन्तु अब आपके (सब प्रकार से) समर्थ रहते हुए स्वयं दूसरे की शरण पाने के लिए मैं (कहाँ) कैसे जाऊँगी ॥६४॥

अथवा यदि मेरे गर्भ में विद्यमान तुम्हारा तेज, जिसकी सब प्रकार से रक्षा करना मेरा धर्म है, बाधक न होता तो तुम्हारे अत्यन्त वियोग से निरर्थक बने इस अभागे जीवन की मैं उपेक्षा कर देती अर्थात् अपना जीवन त्याग देती ॥६५॥

सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसा तप करने की चेष्टा करूँगी जिससे फिर दूसरे जन्म में तुम्हीं मेरे स्वामी बनो और तुमसे मेरा वियोग न हो ॥६६॥

मनु ने राजा का धर्म यही बतलाया है कि वह वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करे, इसलिए यद्यपि आपने मुझे इस प्रकार से निर्वासित कर दिया है तथापि साधारण तपस्विनी के रूप में आपको मेरी देखभाल तो करनी ही चाहिए ॥६७॥

ऐसा ही करूँगा—यह कह कर सीता के वचन को ग्रहण कर रामानुज लक्ष्मण के आँखों से ओझल हो जाने पर सीता अपने दुःख के अत्यधिक भार के कारण भयभीत कुररी पक्षी की भाँति उच्च स्वर में क्रन्दन करने लगी ॥६८॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥६९॥
तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥७०॥
तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे॥
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच॥७१॥
जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम्॥७२॥
उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥७३॥
तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥७४॥
तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते॥७५॥

मयूरों ने अपना नृत्य, वृक्षों ने पुष्प और हरिणियों ने अपने सामने पड़े हुए कुशा को छोड़ दिया। सीता के साथ दुःख में गहरी सहानुभूति के कारण उस वन में भी (अयोध्या की भांति) रोना-धोना मच गया ॥६९॥

निषाद (व्याध) के द्वारा मारे गए पक्षी (क्रौञ्च) को देखकर उत्पन्न जिनका शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया था—कुश और ईंधन की तलाश में घूमते हुए वही कवि (वाल्मीकि मुनि) रुदन के स्वर का पीछा करते हुए सीता के समीप पहुंच गए ॥७०॥

सीता ने विलाप करना छोड़कर आंखों के आवरक आंसुओं को पोंछकर उन्हें प्रणाम किया। मुनि ने गर्भ के चिह्न देखकर उसे सुपुत्र होने का आशीर्वाद देते हुए इस प्रकार कहा ॥७१॥

मैंने ध्यान लगाकर यह जान लिया है कि झूठी निन्दा से क्षुब्ध होकर तुम्हारे स्वामी ने तुम्हें त्याग दिया है। हे वैदेहि! तुम वस्तुतः दूसरे स्थान में स्थित अपने पिता के ही घर में आ गई हो, अतः (तनिक भी) दुःख मत करो ॥७२॥

तीनों लोकों के कण्टक (रावण) को उखाड़ फेंकनेवाले, अपनी प्रतिज्ञा के पक्के, और आत्मप्रशंसा से दूर रहने वाले होने पर भी उन भरत के बड़े भाई रामचन्द्र पर तुम्हारे साथ बिना किसी कारण के इस प्रकार का अनुचित व्यवहार करने के कारण मुझे बड़ा रोष है ॥७३॥

महान् यशस्वी तुम्हारे श्वसुर (राजा दशरथ) मेरे मित्र थे। तुम्हारे पिता सज्जनों को जीवन-मरण के बन्धनों से छुड़ाने वाले हैं और अपने पतियों को देवता मानने वाली स्त्रियों में तुम्हारा अग्रणी स्थान है, फिर तुममें ऐसी कौन-सी चीज नहीं है जिससे तुम मेरी कृपा का पात्र न बनो ॥७४॥

तपस्वियों के संसर्ग से विनीत बने हुए जीव-जन्तुओं वाले इस तपोवन में तुम निर्भय होकर निवास करो। इसी वन में निर्विघ्न प्रसव करने वाली तुम्हारी सन्तान के संस्कार की विधियां भी सम्पन्न होंगी ॥७५॥

अशून्यतीरा मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्री तमसां वगाह्य।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥७६॥
पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥७७॥
पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥७८॥
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥७९॥
तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥८०॥
ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥८१॥
तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये बभार ॥८२॥

मुनियों की कुटियों से भरे हुए तटों वाली तथा शोक और पाप को दूर करने वाली (इस) तमसा नदी में स्नान करके उसके बालुकामय अङ्क में पूजा आदि करने से तुम्हारे मन में प्रसन्नता का उदय होगा ॥७६॥

प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होने वाले पुष्पों तथा फलों को एवं बिना जोते बोए पैदा होने वाले पूजा योग्य (नीवार आदि) बीजों को एकत्र करने वाली मधुर भाषिणी मुनि-कन्याएँ, इस नूतन दुःख को प्राप्त करने वाली तेरा मन बहलाएँगी ॥७७॥

अपनी शक्ति के अनुसार (उठाए जाने योग्य) जल भरे घड़ों से आश्रम के छोटे छोटे पौधों को बढ़ाती हुई तुम पुत्रोत्पत्ति के पूर्व ही स्तन पीने वाले शिशुओं के प्रेम को निस्सन्देह प्राप्त करोगी ॥७८॥

जानकी ने मुनिवर वाल्मीकि के इस आग्रह का अभिनन्दन किया। और वाल्मीकि जी सीता को सायंकाल में समय अपने शान्त मृगों वाले उस आश्रम में लिवा ले गए, जिसके यज्ञ की वेदियों के आस-पास मृग बैठे हुए थे ॥७९॥

मुनि ने शोक से पीडित सीता को उन तपस्विनियों को, जिनके हृदय में सीता के आने से प्रेम उमड़ पड़ा था, उसी प्रकार सौंप दिया जिस प्रकार अमावस्या पितरों द्वारा सार भाग ग्रहण कर लेने के अनन्तर चन्द्रमा की अन्तिम कला को औषधियों को अर्पित कर देता है ॥८०॥

उन तपस्विनियों ने, पूजा के अनन्तर सायंकाल के समय सीता को निवास करने के लिए एक ऐसी कुटी दी, जिसमें इंगुदी के तेल का दीपक जल रहा था और जिसके भीतर पवित्र मृगचर्म की शय्या बिछी हुई थी ॥८१॥

मुनिवर वाल्मीकि के उस आश्रम में नियमों का पालन करती हुई सीता अतिथि अभ्यागतों की पूजा करते हुए निवास करने लगी। वल्कल वस्त्र धारण कर उन्होंने वन में उत्पन्न कन्द-मूलादि ग्रहण कर अपने पति की सन्तान की रक्षा के लिए अपने शरीर की भी रक्षा की ॥८२॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥८३॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥८४॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥८५॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसंघट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मी ॥८६॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम
चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

राजा (रामचन्द्र) अब सीता के इस करुण सन्देश को सुनकर भी दयालु होंगे क्या—इस प्रकार की उत्कण्ठा से युक्त इन्द्रजित (मेघनाद) को मारने वाले लक्ष्मण ने, सीता जी द्वारा विलाप करते समय दी गई आज्ञा का पूरा वृत्तान्त बड़े भाई को कह सुनाया ॥८३॥

लक्ष्मण द्वारा सीता का सन्देश सुनकर तुषार बरसाने वाले पौष मास के चन्द्रमा के समान रामचन्द्र जी आसू बरसाने लगे, क्योंकि लोक-निन्दा से डरे हुए राम ने सीता को अपने भवन से निकाल दिया था, किन्तु मन से नहीं निकाला था ॥८४॥

बुद्धिमान, वर्णाश्रम की व्यवस्था की देखरेख में सावधान तथा राजसिक वृत्तियों से विहीन रामचन्द्र ने स्वयमेव अपने शोक को दबाकर भाइयों के साथ सामान्य-रूप से शरीर धारण करने भर की सुविधाओं का उपभोग करते हुए, उस समृद्ध राज्य पर शासन किया ॥८५॥

निन्दा के भय से एकमात्र पतिव्रता पत्नी सीता को भी त्याग देने वाले राजा रामचन्द्र के हृदय में असम्भव सुखों का उपभोग करती हुई राज्यलक्ष्मी मानो सपत्नी रहित होकर शोभायमान हुई ॥८६॥

दशमुख रावण के शत्रु रामचन्द्र जी ने सीता जी को त्याग कर दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, और उनकी प्रतिमूर्ति (स्वर्णनिर्मित सीता की मूर्ति) के साथ ही उन्होंने यज्ञ सम्पन्न किए। अपने स्वामी के इस वृत्तान्त को सुनकर सीता जी ने अपने त्याग के असहनीय दुःख को भी किसी प्रकार सहन कर लिया ॥८७॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में सीता-परित्याग नामक
चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

# पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्॥१॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः॥२॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्नुः स्वतेजसा।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम्॥३॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम्।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः॥४॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति॥५॥

# पन्द्रहवाँ सर्ग

सीता का परित्याग कर राजा रामचन्द्र ने रत्नाकर समुद्र की मेखला वाली केवल पृथ्वी का ही भोग किया (किसी दूसरी स्त्री का नहीं)॥१॥

यमुना तट के निवासी मुनि, जिनके यज्ञों का विनाश 'लवण' नामक राक्षस कर देता था, शरण के लिए शरणागत-रक्षक रामचन्द्र के समीप आए॥२॥

उन मुनियों ने रामचन्द्र को देखकर ही अपने तेज से उस राक्षस (लवण) को नहीं मारा था, क्योंकि रक्षा के अभाव में ही वे मुनि लोग, जिनका शाप ही अस्त्र है, अपनी तपस्या को व्यय करते हैं॥३॥

ककुत्स्थवंशोत्पन्न राम ने उन मुनियों से उनके विघ्न का प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए ही पृथ्वी पर विष्णु का अवतार होता है॥४॥

उन मुनियों ने राम से उस देवशत्रु लवणासुर के वध का उपाय बताते हुए कहा—वह लवणासुर जब तक शूल धारण किए रहता है तब तक दुर्जय है, किन्तु जब वह शूलरहित होता है तब उस पर अभियान करना चाहिए॥५॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात्॥६॥

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥७॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः॥८॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥९॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान्॥१०॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने॥११॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम्।
तपः प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः॥१२॥

तब रामचन्द्र ने उन मुनियों के कल्याण के लिए शत्रुघ्न को आदेश दिया। मानो शत्रुवध से वह उनके नाम को सार्थक बनाना चाहते थे॥६॥

जैसे (व्याकरण शास्त्र में) अपवाद का सूत्र सामान्य नियमों को उलट देता है वैसे ही शत्रुओं को सन्तप्त करने वाला रघुवंशियों का कोई भी एक व्यक्ति शत्रुओं को पराजित करने में सशक्त होता है॥७॥

इसके बाद अपने बड़े भाई राम से आशीर्वाद ग्रहण कर दशरथ के निर्भीक पुत्र शत्रुघ्न ने रथ पर सवार होकर पुष्पों की सुगन्धि से युक्त उपवनों को देखते हुए प्रस्थान किया॥८॥

रामचन्द्र के आदेश से शत्रुघ्न के अभीष्ट की सिद्धि के लिए सेना उनके पीछे पीछे इस प्रकार चली जैसे अध्ययन अर्थ में प्रयुक्त 'इङ्' धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लगा रहता है॥९॥

रथगामी मुनियों द्वारा मार्ग बतलाए गए तपस्वियों में श्रेष्ठ शत्रुघ्न उस समय इस प्रकार शोभित हुए जैसे रथगामी बालखिल्य मुनियों से तेजस्वियों में श्रेष्ठ सूर्य॥१०॥

शत्रुघ्न ने प्रयाण के समय मध्य मार्ग में मुनिवर वाल्मीकि के उस आश्रम में एक रात के लिए निवास किया, जहाँ रथ का शब्द सुनकर हरिण अपना मुह ऊपर उठाकर देख रहे थे॥११॥

मुनिवर वाल्मीकि ने थके हुए वाहनों वाले उन राजकुमार शत्रुघ्न का, अपनी तपस्या के प्रभाव से प्राप्त विशेष सामग्रियों के द्वारा स्वागत-सत्कार किया॥१२॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती।
सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥१३॥
संतानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥१४॥
स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥१५॥
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जंगमः ॥१६॥
अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥१७॥
नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्।
दिष्टया त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥१८॥
इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥१९॥

उसी रात्रि मे शत्रुघ्न की गर्भवती भाभी ने दो पुत्रो को जन्म दिया, मानो पृथ्वी ने कोश तथा दण्ड को उत्पन्न किया हो ॥१३॥

अपने ज्येष्ठ भाई की सन्तान प्राप्त करने का समाचार सुनकर सुप्रसन्न शत्रुघ्न ने प्रातःकाल मुनि से करबद्ध होकर आज्ञा प्राप्त की और रथारूढ होकर (पुन ) प्रस्थान किया ॥१४॥

शत्रुघ्न मधूपघ्न नामक लवणासुर की राजधानी मे जब पहुचे तो उसी समय कुम्भीनसी के गर्भ से उत्पन्न वह असुर कर (टैक्स) के समान वन से प्राप्त वन्य जीव-जन्तुओ का समूह लेकर उपस्थित हुआ ॥१५॥

धूएँ के समान लाल और काले रग का, चरबी के समान दुर्गन्धयुक्त, आग की लपट के समान पीले रग के केशो से युक्त, मासभक्षी राक्षसो से चारो ओर घिरा हुआ वह लवणासुर उस क्षण चलती-फिरती चिता की अग्नि के समान मालूम पडता था ॥१६॥

उस समय बिना शूल के ही उस लवणासुर को प्राप्त कर लक्ष्मण ने उसे रोक लिया। दुर्बलता या किसी छिद्र को देखकर आक्रमण करने वालो की विजय उनके सामने ही रहती है ॥१७॥

आज के मेरे भरपेट भोजन को अपर्याप्त समझकर ही मानो विधाता ने डरकर भाग्य से तुम्हे भेज दिया है—इस प्रकार शत्रुघ्न को धमकी सुनाते हुए उस राक्षस (लवणासुर) ने उन्हे मारने की इच्छा से एक ऊँचे वृक्ष को, मोथे की डण्ठल की भाँति उखाड लिया ॥१८-१९॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः॥२०॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम्॥२१॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम्॥२२॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः॥२३॥

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन्।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम्॥२४॥

वयसां पंक्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः॥२५॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः॥२६॥

उस राक्षस द्वारा फेंका गया उक्त वृक्ष, शत्रुघ्न के तीक्ष्ण बाणों से बीच में ही खण्ड-खण्ड हो गया। इस प्रकार वह उनके अंगों पर तो नहीं गिरा किन्तु उसके पुष्पों का पराग उन पर अवश्य गिरा॥२०॥

उस वृक्ष के नष्ट हो जाने पर लवणासुर ने शत्रुघ्न को मारने के लिए एक बड़ा-सा पत्थर फेंका, जो ऐसा मालूम पड़ता था मानो यमराज की अलग की हुई मुट्ठी हो॥२१॥

वह विशाल पत्थर शत्रुघ्न द्वारा इन्द्रास्त्र (वज्र) की चोट से चूर्ण होकर बालू के छोटे-छोटे टुकड़ों से भी सूक्ष्म परमाणु के समान बन गया॥२२॥

तदनन्तर लवणासुर अपना दाहिना हाथ उठाकर भयंकर तूफान की वायु से प्रेरित एक ही ताड़ वृक्ष वाले पर्वत के समान शत्रुघ्न पर चढ़ दौड़ा॥२३॥

(शत्रुघ्न द्वारा प्रेरित) वैष्णवास्त्र से उस शत्रु लवणासुर का हृदय खड-खड हो गया और गिरते हुए उसने यद्यपि पृथ्वी को हिला दिया, तथापि अपने गिरने के साथ ही वह आश्रमवासियों का कम्पन भी हर ले गया॥२४॥

मारे गये शत्रु (लवणासुर) के ऊपर (उसके मांस को खाने के लिए) पक्षियों का समूह टूट पड़ा और उधर उसके प्रतिद्वन्द्वी शत्रुघ्न के सिर पर स्वर्गीय पुष्पों की वृष्टि हुई॥२५॥

वीरवर शत्रुघ्न ने उस लवणासुर को मारकर उस समय अपने को महान् पराक्रमी तथा इन्द्रजित मेघनाद को मारकर शोभा पाने वाले लक्ष्मण का सच्चा सहोदर माना॥२६॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयावनतं शिरः ॥२७॥
उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥२९॥
तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम्।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥३०॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत्।
संचस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥३१॥
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥
साङ्गं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥३३॥

कृतकृत्य होनेवाले तपस्वियों से प्रशंसित शत्रुघ्न का, पराक्रम से उन्नत किन्तु लज्जा से अवनत मस्तक अतीव सुशोभित हुआ ॥२७॥

पुरुषार्थ ही जिनका आभूषण था, ऐसे प्रियदर्शन शत्रुघ्न ने, जिनकी विषय भोगों में रुचि नहीं थी, यमुना के तट पर मधुरा (मथुरा) नामक नगरी बसाई ॥२८॥

अच्छे प्रशासन के कारण प्रकाशमान नागरिकों के ऐश्वर्य एवं पराक्रम से वह नगरी ऐसी शोभायमान हुई मानों स्वर्ग में निवास करने वालों की संख्या वृद्धि होने से, वहाँ से बाहर निकले हुए लोगों का वह उपनिवेश हो ॥२९॥

मथुरा नगरी में अपने प्रासाद की चोटी पर चढ़कर चक्रवाकों से युक्त यमुना को सुवर्ण के आभूषणों से सजी हुई पृथ्वी की वेणी के समान देखकर शत्रुघ्न परम प्रसन्न हुए ॥३०॥

(इधर) दशरथ और जनक-दोनों के मित्र, मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकि ने दोनों के प्रति प्रेम के कारण सीता के दोनों पुत्रों का विधिपूर्वक संस्कार सम्पन्न किया ॥३१॥

कविवर वाल्मीकि ने कुश तथा लव अर्थात् गाय की पूछ के बाल से गर्भ के समय का संकट दूर होने के कारण सीता के दोनों पुत्रों का नाम कुश तथा लव ही रखा ॥३२॥

उनका बाल्यकाल कुछ बीत जाने के बाद छहों अंगों समेत वेदों को पढ़ाकर कवियों की उन्नति के लिए प्रथम सोपान के समान अपनी कृति रामायण का, उन दोनों से गान करवाया ॥३३॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः।
तद्वियोगव्यथां किंचिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ॥३४॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः॥३५॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः॥३६॥
भूयस्तपोव्ययो माभूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात्।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥३७॥
वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम्।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम्॥३८॥
स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम्।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः॥३९॥
तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम्॥४०॥

राम के मधुर चरित को अपनी माता के सामने गाते हुए उन दोनों पुत्रों ने उनकी विरह-जनित पीड़ा को कुछ शान्त किया॥३४॥

रघुकुल में उत्पन्न तथा तीनों अग्नियों के समान तेजस्वी भरतादि तीनों भाइयों ने भी अपनी सौभाग्यवती पत्नियों से दो-दो पुत्र प्राप्त किए॥३५॥

अपने बड़े भाई के प्रेमी शत्रुघ्न ने अपने विद्वान्—शत्रुघाती तथा सुबाहु—नामक पुत्रों पर क्रमशः मथुरा और विदिशा नामक नगरियों का शासन भार सौंप दिया॥३६॥

फिर वह मुनिवर वाल्मीकि की तपस्या को हानि न पहुँचे—यह सोचकर, सीता के पुत्रों के गायन से शान्त मृगों वाले उनके आश्रम को छोड़कर आगे चले गए॥३७॥

फिर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारने के कारण नागरिकों द्वारा अत्यन्त गौरवपूर्ण दृष्टि से अभिनन्दित होकर अयोध्यापुरी में प्रवेश किया जो अपनी गलियों तथा सड़कों की सजावट से विशेष सुशोभित हो रही थी॥३८॥

शत्रुघ्न ने सभा के मध्य भाग में सभा के सदस्यों द्वारा सेवित राम का दर्शन किया, जो सीता का परित्याग कर पृथ्वी के असाधारण स्वामी बने हुए थे॥३९॥

ज्येष्ठ भाई राम ने, प्रणाम करने के लिए विनत, लवणासुरघाती शत्रुघ्न का उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जिस प्रकार कालनेमि का बध करने से प्रसन्न होकर इन्द्र ने विष्णु का अभिनन्दन किया था॥४०॥

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न संततिम्।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥४१॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम्।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥४२॥

शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥४३॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥४४॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम्।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥४५॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥४६॥

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥४७॥

राजा राम के पूछने पर शत्रुघ्न ने सब ओर का समाचार तो बता दिया किन्तु उचित समय पर सन्तानों को समर्पण करने के इच्छुक आदिकवि वाल्मीकि की आज्ञा से सन्तानों की उत्पत्ति का समाचार उन्हें नहीं सुनाया ॥४१॥

एक बार जनपद निवासी कोई ब्राह्मण अपने उस मृतक शिशु को, जोकि अभी युवा भी नहीं हुआ था, और उसकी गोद में लेटा था, राजद्वार पर उतार कर (इस प्रकार) करुणक्रन्दन करने लगा ॥४२॥

हे पृथ्वी! तुम शोचनीय अवस्था में पहुंच गई हो, जो दशरथ से हीन होकर राम के हाथ में पड़ गई हो। तुम्हारी दशा दिनादिन खराब होती जा रही है ॥४३॥

प्रजापालक राम उस ब्राह्मण के शोक का कारण सुनकर बड़े लज्जित हुए, क्योंकि अकालमृत्यु ने कभी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के राज्य को स्पर्श नहीं किया था ॥४४॥

राम ने क्षणमात्र के लिए क्षमा कीजिए—ऐसा कह कर उसे आश्वासन दिया और स्वयं यमराज को जीतने की इच्छा से कुबेर के विमान का स्मरण किया ॥४५॥

शस्त्रों से सुसज्जित होकर उक्त विमान पर बैठकर रघुवंश शिरोमणि राम ने जब प्रस्थान किया तब उसी समय छद्मरूप में उपस्थित सरस्वती बोली—(अर्थात् आकाशवाणी हुई) ॥४६॥

हे राजन्! तुम्हारे प्रजावर्ग में कोई हीन आचरण कर रहा है, उसे पता लगाकर ठीक करो, तब तुम्हें इस कार्य में सफलता मिलेगी ॥४७॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥४८॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बितम् ।
ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥४९॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपो ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥५०॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥५२॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥

इस विश्वसनीय बात को सुनकर वर्णाश्रम सम्बन्धी अनुचित व्यवहार को भविष्य में दूर करने वाले राम अतिवेग से कम्पनरहित पताका से सुशोभित पुष्पक विमान द्वारा दिशाओं की ओर चल पड़े ॥४८॥

तदनन्तर इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न राम ने धूम्र पान के कारण लाल नेत्र, वृक्ष की डाल से लटकते हुए और नीचे मुख करके तपस्या करते हुए किसी पुरुष को देखा ॥४९॥

राजा राम द्वारा नाम तथा वंश पूछे जाने पर उस धूम्र पीने वाले तपस्वी ने अपने को स्वर्ग का अभिलाषी शम्बूक नामक शूद्र बतलाया ॥५०॥

तपस्या करने का अधिकारी न होने से (इस प्रकार तपस्या करके) प्रजावर्ग के लिए संकट उपस्थित करने वाले उस पापी का सिर काटने का निश्चय कर, प्रशासक राम ने शस्त्र उठाया ॥५१॥

राम ने अग्नि की चिनगारियों से जलकर साफ दाढ़ी-मूछों वाले उस शूद्र (तपस्वी) के मुख को, जो तुषार से दग्ध केसरवाले कमल के समान दिखाई पड़ रहा था, उसके कण्ठरूपी नाल से काटकर गिरा दिया। (अर्थात उसकी गर्दन से सिर को काटकर अलग कर दिया) ॥५२॥

स्वयं राजा राम द्वारा दण्डित वह शूद्र तपस्वी उस सद्गति को प्राप्त हुआ, जिसे वह अपने मार्ग को छोड़कर की जाने वाली कठोर तपस्या द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता था ॥५३॥

रघुवंश के स्वामी राम मार्ग में स्वयं दर्शन देने वाले अगस्त्य जी से वैसे ही मिले जैसे शरत ऋतु चन्द्रमा से मिलता है ॥५४॥

कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम्।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥

तमध्वराय मुक्ताश्वरक्षःकपिनरेश्वराः।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥५९॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युःप्राग्वंशवासिनः।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्मयी ॥६१॥

कुम्भयोनि अगस्त्य ने अपने द्वारा पिए हुए समुद्र द्वारा मानो अपनी मुक्ति के मूल्य के रूप में दिए गए, देवताओं के धारण करने योग्य आभूषण राम को समर्पित किया ॥५५॥

सीता के आलिंगन से वंचित अपनी भुजा में उस आभूषण को धारण करके राम कुछ पीछे से (अपनी राजधानी को) वापस लौटे जब कि उसके पूर्व ही उस ब्राह्मण का जीवित पुत्र वापस चला गया ॥५६॥

अपने पुत्र को प्राप्त कर उस ब्राह्मण ने पहले ही अपने द्वारा की गई निन्दा का, यमराज से भी बचाने वाले राम की स्तुति के द्वारा परिमार्जन किया ॥५७॥

अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ने पर राक्षस, वानर और मनुष्यों के राजाओं ने उस पर उसी प्रकार भेंट और उपहारों की वृष्टि की, जिस प्रकार मेघ फसलों को जल देता है ॥५८॥

(राम के द्वारा) निमन्त्रित बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, केवल अपने पृथ्वी लोक के निवास-स्थानों को ही नहीं वरन् नक्षत्रों और ग्रहों में स्थित अपने दिव्य निवास-स्थानों को भी छोड़कर विभिन्न दिशाओं से उनके समीप आए ॥५९॥

चार द्वार-रूपी चार मुखों वाली वह अयोध्या नगरी अपने बाहर आस-पास ठहरे हुए उन ऋषियों-महर्षियों के द्वारा ऐसी सुशोभित हुई मानो वह तत्काल ही सृष्टि की रचना समाप्त करने वाले ब्रह्मा की मूर्ति हो ॥६०॥

वैदेही सीता का (राम द्वारा) त्याग भी प्रशंसनीय था, क्योंकि यज्ञशाला में स्थित एवं किसी अन्य पत्नी से विवाह न करने वाले अपने पति की (राम की) सुवर्ण प्रतिमा के रूप में वही पत्नी बनी थी ॥६१॥

विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किंनरस्वनौ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥६४॥
रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम्।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥६५॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥
वयोवेषविसंवादी रामस्य च तयोस्तदा।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥६७॥
उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिस्मिये।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥६८॥

तदनन्तर शास्त्रीय विधि से बताई गई सामग्री से भी अधिक सामग्री-युक्त अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ हुआ, जिसकी रक्षा यज्ञो मे बाधा डालने वाले राक्षस ही कर रहे थे ॥६२॥

मैथिली सीता के पुत्र कुश तथा लव ने अपने गुरु वाल्मीकि की प्रेरणा से तथा उन्ही के द्वारा पहले से प्राप्त रामायण की कथा का इधर-उधर घूम घूम कर गायन किया ॥६३॥

राम जैसे (उज्ज्वल चरित्र) महापुरुष का चरित जिसका वर्ण्य विषय हो, वाल्मीकि जैसे मुनि जिसके रचयिता हो, किनरो के समान मधुर कण्ठवाले कुश तथा लव जिसके गायक हो, उसे सुनने वालो के चित्त को हरने के लिए और क्या चाहिए था ॥६४॥

उनकी विशेष जानकारी रखने वालो के निवेदन करने पर अपने भाइयो समेत राम ने बडी उत्कण्ठा से उन दोनो (कुश तथा लव) के रूप तथा गायन का माधुर्य देखा और सुना ॥६५॥

उन दोनों के गायन सुनने मे तल्लीन राज-सभा आसू बहाने लगी और (उस समय) उसकी शोभा उस वनस्थली के समान थी जो प्रात काल के समय वायु के न चलने से शान्त एव ओस कणो को गिरा रही हो ॥६६॥

उस अवसर पर उपस्थित जनता ने राम के साथ उन दोनो बालको की विचित्र समानता देखकर, जिसमे केवल अवस्था और वेश का ही अन्तर था, अपनी पलकें भी नही गिराई ॥६७॥

लोगो को उन दोनो कुमारो की निपुणता से उतना आश्चर्य नही हुआ, जितना राजा (राम) के द्वारा प्रीतिपूर्वक दिए गए दान मे (उनकी) नि:स्पृहता से हुआ ॥६८॥

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति,राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥६९॥
अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥७०॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम् ॥७१॥
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥७२॥
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥७३॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥७४॥
अन्येद्युरथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः ।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥७५॥

तुम दोनो को यह गायन किसने सिखाया और यह किस कवि की रचना है—राजा राम के ऐसा पूछने पर उन दोनो ने मुनिवर वाल्मीकि का नाम वतलाया ॥६९॥

तदनन्तर अपने भाइयो के साथ राम मुनिवर वाल्मीकि के समीप गए और अपने (शरीर) को छोडकर उन्होंने अपना सम्पूर्ण राज्य उन्हे अर्पित कर दिया ॥७०॥

दयालुकवि (वाल्मीकि) ने मैथिली सीता के पुत्र उन दोनो कुमारो को राम का पुत्र बतलाकर, राम से सीता को स्वीकार करने के लिए कहा ॥७१॥

हे तात ! आपकी पुत्रवधू सीता हमारे ही समक्ष अग्नि मे विशुद्ध हो चुकी है, किन्तु रावण के दुष्ट स्वभाव के कारण यहा की प्रजा ने (उस अग्नि-शुद्धि पर) विश्वास नहीं किया ॥७२॥

अतएव जानकी अपने चरित्र के सम्बन्ध मे यदि प्रजावर्ग को पुन विश्वास दिला दें तब आपकी आज्ञा से पुत्रवती सीता को मैं अगीकार करूगा ॥७३॥

राजा (राम) के द्वारा इस प्रकार की प्रतिज्ञा किए जाने पर मुनिवर वाल्मीकि ने अपने शिष्यो को भेजकर, तपस्या द्वारा सिद्धि के समान सीता को बुलवाया ॥७४॥

दूसरे दिन ककुत्स्थ-वंशोद्भव राम ने नागरिको को एकत्र कर इस प्रस्तुत कार्य का निर्णय लेने के लिए कवि वाल्मीकि को बुलवाया ॥७५॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥७६॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा।
न्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥७७॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥७९॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥८०॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥८२॥

सीता और उनके दोनों पुत्रों के साथ मुनिवर वाल्मीकि राजा राम के सम्मुख इस प्रकार आए मानो स्वर एवं शुद्धोच्चारण से युक्त सावित्री के साथ वह सूर्यनारायण के पास गए हों ॥७६॥

गेरुआ वस्त्र पहने एवं अपने पैर पर दृष्टि जमाए सीता के शान्त शरीर से ही यह अनुमान होने लगा कि वह सर्वथा विशुद्ध हैं ॥७७॥

सीता की दृष्टि की ओर से अपनी आंखों को हटाकर मौन बैठे हुए लोग वहां ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानो (पकी हुई) बालों से लदे हुए धान के पौधे हों ॥७८॥

आसन पर बैठे हुए मुनि ने सीता को आदेश दिया कि—हे वत्से! अपने पति राम के सामने अपने सदाचरण के विषय में उपस्थित लोगों को सन्देह से रहित करो ॥७९॥

तब वाल्मीकि के शिष्य द्वारा दिए गए पवित्र जल से आचमन कर सीता ने यह सत्य बात कही ॥८०॥

अपने वचन, मन और कर्म से पति के सम्बन्ध में यदि मैं स्खलित नहीं हुई हूँ तो हे सबका पालन करने वाली माता पृथ्वी! तुम मुझे अपने भीतर स्थान दो ॥८१॥

पतिव्रता सीता के ऐसा कहने पर तत्क्षण फटती हुई पृथ्वी से बिजली के प्रकाश के समान प्रकाश का एक मण्डल ऊपर की ओर निकला ॥८२॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥८३॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥८४॥
धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान्।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥
युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम्।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥८७॥
भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥८९॥

उस प्रकाशमण्डल में सर्प की फण से ऊपर उठाए गए सिंहासन पर आसीन, समुद्र की करधनी पहने साक्षात् पृथ्वी प्रकट हुई ॥८३॥

उक्त पृथ्वी अपने पति राम की ओर दृष्टि लगाए सीता को अपनी गोद में बिठाकर राम के "नहीं, नहीं, ऐसा मत करो"—यह कहते रहने पर भी पाताल-लोक को चली गई॥८४॥

सीता को वापस लौटा लाने की इच्छा से धनुर्धारी राम ने पृथ्वी पर जो अतीव क्रोध किया उसे विधि के विधान को (कोई नहीं टाल सकता—ऐसा) जानने वाले गुरु ने शान्त कर दिया ॥८५॥

तब यज्ञ के समाप्त हो जाने पर राम ने ऋषियों तथा बन्धु-बान्धवों (सम्बन्धियों आदि) को पुरस्कृत करके उन्हें विदा कर दिया और सीता-विषयक अपने प्रेम को अपने पुत्रों में केन्द्रित किया ॥८६॥

प्रजापालक राम ने युधाजित (भरत के मामा) का सन्देश पाकर सिन्धु नामक देश का राज्य भरत को, अधिकार सम्पन्न बनाकर, सौंप दिया॥८७॥

वहाँ सिन्धु देश में भरत ने समस्त गन्धर्वों को जीतकर उनके हथियार छुड़वा दिये और उन्हें केवल वीणा पकड़ा दी। (अर्थात् भरत से पराजित गन्धर्वों ने सदा के लिए हथियार त्याग दिए एवं वीणा ग्रहण कर ली।) ॥८८॥

भरत ने अपने तक्ष और पुष्कल नामक राज्याभिषेक के योग्य पुत्रों का उनके नाम से सुप्रसिद्ध (तक्षशिला और पुष्कलावती नामक) राजधानियों में क्रमशः अभिषेक कर दिया और तदनन्तर वह फिर से राम के समीप वापस चले आए॥८९॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥९०॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां, जनेश्वराः।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥९१॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम्।
रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥९३॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत्।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनार्थिनः ॥९४॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९५॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥९६॥

राम के आदेश से लक्ष्मण ने भी अंगद और चन्द्रकेतु नामक अपने पुत्रों को कारापथ नामक देश का स्वामी बना दिया ॥९०॥

इस प्रकार पुत्रों को उपयुक्त स्थानों पर प्रतिष्ठापित कर राम लक्ष्मण आदि चारों राजाओं ने अपनी पतिलोक (स्वर्ग) निवासिनी माताओं का श्राद्धादि-कर्म सम्पन्न किया ॥९१॥

तदनन्तर मुनि का वेश धारण कर काल राम के पास आया और बोला कि—एकान्त में बातचीत करते हुए हमें जो देखे उसका आप त्याग कर दें ॥९२॥

उस काल ने—ऐसा ही होगा—यह प्रतिज्ञा करने वाले राजा राम के सम्मुख अपना वास्तविक रूप प्रकट करके कहा—अब ब्रह्मा की आज्ञा है कि आप स्वर्गलोक में निवास करें ॥९३॥

द्वार पर नियुक्त लक्ष्मण ने (राम की उक्त प्रतिज्ञा को) जानते हुए भी राम के दर्शनाभिलाषी दुर्वासा ऋषि के शाप से डरकर उन दोनों (राम और काल) की वार्ता में बाधा डाली ॥९४॥

फिर योग के जानकार लक्ष्मण ने सरयू के तट पर जाकर अपने शरीर का त्याग कर दिया और इस प्रकार अपने बड़े भाई राम की (उक्त) प्रतिज्ञा को सत्य कर दिया ॥९५॥

अपने चतुर्थांश लक्ष्मण के पहले ही स्वर्ग चले जाने पर रघुवंश शिरोमणि राम पृथ्वी पर उसी प्रकार शिथिल हो गए जैसे तीन चरणों वाला धर्म ॥९६॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥९७॥

उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्याद् गृहवर्जमयोध्यया ॥९८॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥९९॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिःश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥

स्थिर मति राम ने शत्रु रूपी हाथियों के लिए अंकुश के समान 'कुश' को 'कुशावती' नामक नगरी मे, तथा अपनी सुन्दर वाणी से सत्पुरुषों के नेत्रों में आंसू बहा देने वाले 'लव' को 'शरावती' नामक नगरी में प्रतिष्ठित कर अपने भाइयों के साथ आगे आगे अग्नि को और पति प्रेम के कारण घर छोड़कर पीछे आने वाली सम्पूर्ण अयोध्या को लेकर उत्तर दिशा में (सरयू तट की ओर) प्रस्थान किया ॥९७–९८॥

राम के चित्त को जानने वाले वानरों तथा राक्षसों ने, कदम्ब पुष्प की कली के समान प्रजा के बड़े-बड़े अश्रु बिन्दुओं से भीगे हुए उनके मार्ग का अनुसरण किया ॥९९॥

भक्तों पर कृपा करने वाले राम ने, जिनके (स्वर्ग गमन के) लिए विमान उपस्थित था, अपने पीछे अनुगमन करने वालों के लिए सरयू को स्वर्ग की सीढ़ी बना दी ॥१००॥

वहाँ पर स्नान करने वालों की ऐसी भीड़ हुई जैसे सहस्रों गौएँ तैर रही हों, अतः धरती पर उस स्थान पर गो प्रतरण नामक पवित्र तीर्थ की प्रसिद्धि हुई ॥१०१॥

सर्वसमर्थ राम ने, देवताओं के अंश सुग्रीव आदि के अपने (वास्तविक) रूप में लीन हो जाने पर, नूतन देवत्व प्राप्त करने वाले अयोध्यापुरवासियों के लिए दूसरे स्वर्ग की रचना की ॥१०२॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम्।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रामस्वर्गारोहणं नाम
पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

भगवान् विष्णु (रामचन्द्र जी) ने इस प्रकार रावण का सिर काटकर देवताओं का कार्य पूरा करके लंकाधीश विभीषण एवं पवन-पुत्र हनुमान को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के समान दक्षिण (चित्रकूट) तथा उत्तर (हिमालय) के पर्वतों पर स्थापित कर, समस्त संसार में आश्रय- भूत अपने शरीर में प्रवेश किया ॥१०३॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में राम का स्वर्गारोहण
नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

## षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥१॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥२॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः॥३॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्॥४॥

## सोलहवाँ सर्ग

(इस प्रकार राम के स्वर्गारोहण के) अनन्तर रघुवंशशिरोमणि अन्य सातों भाइयों (राम के पुत्र लव, भरत के पुत्र तक्ष और पुष्कल, लक्ष्मण के पुत्र अंगद तथा चन्द्रकेतु एवं शत्रुघ्न के पुत्र सुबाहु तथा बहुश्रुत) ने अपने पूर्वजन्मा तथा गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण बड़े भाई कुश को उत्तमोत्तम रत्न दिए। भाइयों में इस प्रकार का सद्भाव उनके कुल की परम्परा रही॥१॥

सेतु बनवाना, कृषि और गोपालन तथा हाथियों आदि को पकड़ना आदि कार्य जिनमें प्रमुख हैं ऐसे कार्यों में अत्यन्त सफल होते हुए भी उन भाइयों ने एक दूसरे के देश की विभाजन सीमा का उल्लंघन उसी प्रकार नहीं किया जिस प्रकार समुद्र अपने तट का उल्लंघन नहीं करता॥२॥

भगवान् विष्णु के अंश रामादि से उत्पन्न, दान देने से कभी विमुख न होने वाला उनका वंश सामवेद से उत्पन्न तथा निरन्तर मद प्रवाहित करने वाले दिग्गजों के वंश के समान आठ भागों में विभक्त होकर बढ़ने लगा॥३॥

एक बार कभी आधी रात के समय दीपक के बुझ जाने एवं परिचारिका के सो जाने पर जागते हुए कुश ने अपने शयन-कक्ष में एक ऐसी स्त्री को देखा जो कभी नहीं देखी गई थी और जो विदेश गए पति की स्त्री का वेश धारण किए हुए थी॥४॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥५॥
अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
स विस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥६॥
लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥७॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥८॥
तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥९॥
वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥११॥

उस स्त्री ने, सर्वसाधारण सज्जनों के लिए अपनी राज्यलक्ष्मी का उपयोग करने वाले, इन्द्र के समान तेजस्वी, शत्रुविजयी तथा अनेक बन्धुओं वाले उस राजा कुश के आगे खड़ी होकर जय शब्द का उच्चारण कर हाथ जोड़ लिया ॥५॥

तब आश्चर्य में पड़े हुए कटि के ऊपरी भाग से शैय्या त्यागकर (बैठे हुए) राम के पुत्र कुश ने दर्पण के भीतर छाया के समान अर्गला को बिना खोले ही अपने कमरे में प्रविष्ट उस स्त्री से यह कहा—॥६॥

तुमने मेरे बन्द कमरे में प्रवेश किया है, किन्तु मैं तुममें योग का कोई चिह्न नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि हिम (तुषार) के उपद्रव को सहन करने वाली कमलिनी के समान तुम दुःखिया की आकृति धारण किए हुए हो। हे कल्याणी! तुम कौन हो और किसकी पत्नी हो। अथवा (इस प्रकार) मेरे समीप आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है? जितेन्द्रिय रघुवंशियों की प्रवृत्ति पर-स्त्री से सदा विमुख रहती है-ऐसा मुझे मानकर तुम बताओ ॥७-८॥

उस स्त्री ने कुश से कहा—हे राजन्! मैं उस अनाथ अयोध्या नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ, जिस निर्दोष नगरी के निवासियों को तुम्हारे पिता अपने वैकुण्ठ लोक की ओर उन्मुख होकर अपने साथ ले गए हैं ॥९॥

मैं वही नगरी हूँ जो अपने श्रेष्ठ राजाओं के काल में होने वाले उत्सवों से ऐश्वर्ययुक्त होकर इन्द्र की अमरावती तथा कुबेर की अलकापुरी का तिरस्कार करती थी, किन्तु सम्पूर्ण शक्तिवाले तुम्हारे जैसे सूर्यवंशी राजा के राज्यकाल में अब अत्यन्त करुण अथवा दीनावस्था को प्राप्त हो गई हूँ ॥१०॥

स्वामी के बिना मेरा निवास, जिसकी सैकड़ों अट्टालिकाएँ ध्वस्त हो गई हैं, चहार दीवारें गिर गई हैं, उस सन्ध्या के समय के समान मालूम पड़ रहा है, जिसमें सूर्य अस्त हो चुका हो तथा तेज वायु के झोंकों से मेघ खण्ड-खण्ड हो गए हों ॥११॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥
आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥१४॥
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥१५॥
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥
कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥१८॥

*रात्रि के समय जिन राजमार्गों पर चमकते तथा मधुर ध्वनि करते नूपुरों वाली अभिसारिकाओं के आने-जाने का व्यापार चलता रहता था उन्हीं पर आजकल सियारिनें घूमा करती हैं, जिनके मुख से बोलते समय चिनगारियाँ निकला करती हैं ॥१२॥*

*बावलियों का जो जल, युवती स्त्रियों के हस्ताघात से ताडित होकर मृदङ्ग की ध्वनि का अनुकरण करता था वही अब जंगली भैंसों की सींगों से आहत होकर जैसे रोता हो ॥१३॥*

*अपने बैठने की लकड़ियों के टूट जाने से वृक्षों पर शयन करने वाले तथा मृदङ्गों के शब्दों के अभाव में अपना नृत्य बन्द कर देने वाले एवं दावाग्नि की चिनगारियों से जलकर बचे हुए पङ्खों वाले क्रीडा-मयूर अब जंगली मयूरों के समान हो गए हैं ॥१४॥*

*जिन सीढ़ियों वाले मार्गों पर रमणियाँ अपने महावर लगे चरणों को रखती थीं, उन्हीं पर अब तत्काल ही मृगों को मारने वाले बाघ अपने रक्तरञ्जित पंजों को रख रहे हैं ॥१५॥*

*कमलों के वन में प्रविष्ट, हथिनियों के द्वारा दिए गए मृणालखण्ड को स्वीकार करते हुए चित्रलिखित गजराजों के मस्तक नख-रूपी अंकुशों से विदीर्ण हो गए हैं और वे क्रुद्ध सिंहों के प्रहार का वहन कर रहे हैं। (तात्पर्य यह है कि अयोध्या के राजभवनों में हाथियों के ऐसे चित्र बने हुए थे, जिनमें हथिनी हाथी को मृणाल खण्ड खिला रही है, उन चित्रलिखित हाथियों को वास्तविक हाथी मानकर सिंहों ने उनके मस्तक पर पंजा मारकर उनके कुम्भों को विदीर्ण कर दिया है।) ॥१६॥*

*धूमिल पड़े हुए रंगों के कारण मलिन वर्णवाली स्तम्भों में निर्मित नारी-मूर्तियों के लिए साँपों द्वारा छोड़े गए केंचुल, उनमें लगकर उनके स्तनों को ढकनेवाले दुपट्टे बन गए हैं ॥१७॥*

*बहुत समय से पुताई न कराने के कारण काली पड़ी हुई सफेदी वाले तथा इधर-उधर जमी हुई घास के अंकुरों वाले राजभवनों पर अब रात्रि के समय मोती की लड़ियों के समान निर्मल भी वे ही चन्द्रकिरणें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं ॥१८॥*

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥२३॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥२४॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥

विलासिनी रमणियाँ जिनकी शाखाओं को धीरे से झुकाकर पुष्प तोड़ा करती थीं मेरी उन उद्यान-लताओं को अब किरात आदि जंगली जातियों के समान उत्पाती वानर भी ध्वस्त कर देते हैं ॥१९॥

रात्रि में दीपक के प्रकाश को न प्राप्त करने वाले, दिन के समय में भी रमणियों के मुख की शोभा से विहीन एवं अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों के धूएं से रहित झरोखे अब मकड़ियों के जालों से आच्छन्न हो गए हैं ॥२०॥

पूजन-अर्चन की क्रिया से विहीन तट वाले तथा स्नान के सुगंधित साधनों के सम्पर्क से रहित और रिक्त पड़े हुए बेंतों के कुञ्जों वाले सरयू नदी के जल को देखकर मैं बहुत दुःखी होती हूँ ॥२१॥

इसलिए हे राजन् ! तुम इस (कुशावती) नगरी को छोड़कर अपने कुल की राजधानी (अयोध्या) में उसी प्रकार आकर निवास करो जैसे तुम्हारे पिता ने कारणवश प्राप्त अपने मानव शरीर को त्यागकर परमात्म रूप को प्राप्त कर लिया है ॥२२॥

रघुवंश-शिरोमणि कुश ने सुप्रसन्न होकर उस नगरी (अयोध्या) की प्रणय-प्रार्थना को—ऐसा ही होगा—यह कहकर स्वीकार कर लिया और प्रसन्नमुखवाली वह नगरी भी अपने शरीर बन्धन से अन्तर्हित हो गई ॥२३॥

राजा कुश ने प्रातःकाल अपनी राजसभा में आश्चर्य से भरा वह वृत्तान्त ब्राह्मणों से कहा, जिसे सुनकर कुल-परम्परा की राजधानी द्वारा साक्षात् पतिरूप में स्वीकार किए गए कुश का उन्होंने अभिनन्दन किया ॥२४॥

फिर तो कुश ने कुशावती नगरी को वैदिक ब्राह्मणों के अधीन कर यात्रा के लिए सुविधाजनक दिन में अपने अन्तःपुर के समेत अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया। उनके पीछे उनकी सेना इस प्रकार चल रही थी जैसे वायु के पीछे बादलों की घटा हो ॥२५॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥२६॥
तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम्।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥२७॥
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम्।
वसुंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥२८॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥२९॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम्।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥

वह सेना, जिसमे पताको की पंक्तियाँ उपवन के रूप में थी, जो क्रीडापर्वतों के समान बडे-बडे हाथियो से युक्त थी तथा बडे-बडे सुसज्जित रथ ही जिसके सुन्दर भवन बन गए थे, कुश की यात्रा मे चलती-फिरती राजधानी के समान बन गई थी ॥२६॥

श्वेत-छत्र-रूप निर्मल मण्डल से सुशोभित राजा कुश द्वारा, पहले की राजधानी अयोध्या की ओर लिया जाने वाला वह सैन्य समूह, ऐसा मालूम पड रहा था मानो उदित हुआ चन्द्रमा समुद्र को तट की ओर ले जा रहा हो ॥२७॥

यात्रा पर चलते हुए राजा कुश की सेना की पीडा (भार) को सहन करने मे असमर्थ सी धरती मानो धूल के बहाने भगवान् विष्णु के दूसरे पद (स्थान) आकाश की ओर चल पडी ॥२८॥

यात्रा के लिए तैयार होती हुई, फिर बाद मे आगे चलकर ठहरने के स्थान मे पहुँची हुई, अथवा मार्ग पर चलती हुई राजा कुश की वह सेना जहाँ कहीं भी दिखाई पडती थी पूरी की पूरी सेना ही प्रतीत होती थी ॥२९॥

उस प्रजानायक राजा कुश के गजराजो के मदजल के सींचने से और घोडों की खुरो की चोट खाकर मार्ग की धूल तो कीचड बन गई थी और कीचड़ धूल बन गया था ॥३०॥

विन्ध्यपर्वत की घाटियो मे मार्ग को खोजती हुई अनेक टुकडियो मे विभक्त एवं अत्यन्त शब्द करने वाली कुश की सेना ने महाध्वनि करती हुई नर्मदा नदी के समान उसकी गुफाओं के मुखो को प्रतिध्वनित किया ॥३१॥

जिसके रथ के पहिए का घेरा गेरु आदि धातुओं को तोडते हुए चलने के कारण लाल रंग का हो गया था एवं जिसने यात्राकाल के सैन्य-कोलाहल मे बाजों की समवेत ध्वनियाँ मिश्रित हो गई थी—ऐसे राजा कुश ने पुलिन्द, किरात आदि (जंगली) जातियो द्वारा दिए गए उपहारों को देखते हुए विन्ध्य पर्वत को पार किया ॥३२॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नवालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥३३॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम्।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥३४॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥३५॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान्।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥३६॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥३७॥

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥३८॥

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥३९॥

विन्ध्य के समीप ही विपरीत अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली गंगा जी को हाथियों का पुल बनाकर पार उतरते समय राजा कुश के लिए आकाश में उड़ते हुए चंचल पंखों वाले हंस अनायास ही चामर बन गए ॥३३॥

राजा कुश ने, मुनिवर कपिल द्वारा क्रोध से भस्म किए गए शरीर वाले अपने पूर्वजों को स्वर्ग प्राप्त कराने वाली गंगा जी के उस जल को नमस्कार किया, जो नौकाओं के चलने से चंचल हो रहा था ॥३४॥

इस प्रकार कई दिनों में मार्ग तय करके अन्त में कुश ने सरयू तट पर पहुँचकर बड़े-बड़े यज्ञों के करने वाले रघुवंशी राजाओं के उन यज्ञीय स्तम्भों को देखा, जो चबूतरों पर सैकड़ों की संख्या में स्थापित थे ॥३५॥

कुल-परम्परागत राजधानी अयोध्या के उपवन की वायु ने पुष्पित वृक्षों की शाखाओं को कुछ कँपाकर और सरयू के शीतल तरंगों का स्पर्श कर थकी हुई सेना से युक्त राजा कुश की अगवानी की ॥३६॥

अपने शत्रुओं को शल्य से बेधने वाले, (अयोध्या के) नागरिकों के मित्र, और अपने कुल के लिए पताका के समान उस बलवान् राजा कुश ने चंचल पताकाओं से सुशोभित अपनी सेना को नगर के समीप में ही ठहराया ॥३७॥

राजा कुश द्वारा नियुक्त शिल्पियों के संघों ने, विविध प्रकार के साधनों से सम्पन्न होने के कारण उस हीन अवस्था को प्राप्त अयोध्या नगरी को उसी प्रकार पुनः नवीन बना दिया जैसे मेघ-वृन्द ग्रीष्म से मुरझाई हुई धरती को अपने जल से सींचकर नई बना देते हैं ॥३८॥

इसके बाद रघुवंश में श्रेष्ठ वीर राजा कुश ने देवताओं के विशाल मन्दिरों से सुशोभित उस (अयोध्या) नगरी की, उपवास किए हुए अथवा समीप में स्थित वास्तुकला के प्रवीणों द्वारा पशुबलि समेत पूजा करवाई ॥३९॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥४०॥
सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥४१॥
वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥४२॥
अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥४३॥
अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥४४॥
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥४५॥
दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥४६॥

राजा कुश ने उस अयोध्यापुरी के राजभवन में, कान्ता के मन में कामी पुरुष के समान प्रवेश करके अन्यान्य राज-भवनों के द्वारा योग्यता के क्रम से अपने अनुचरों आदि का भी सत्कार किया अर्थात् अपने मन्त्रियों आदि के लिए भी भवन दिए ॥४०॥

बाजार की मंडियों में रखी बिक्री के सामानों से भरी यह नगरी, घुड़साल में रहने वाले घोड़ों तथा गजशालाओं के स्तम्भों में भलीभाँति बाँधे गए हाथियों से उसी प्रकार सुशोभित हुई जैसे सम्पूर्ण अंगों के आभूषणों से अलङ्कृत कोई सुन्दरी रमणी ॥४१॥

अपनी प्राचीन शोभा को पुनः प्राप्त, रघुवंशियों की उस नगरी में निवास करते हुए मैथिली के पुत्र कुश ने स्वर्ग के अधीश्वर इन्द्र अथवा अलकापुरी के स्वामी कुबेर के पद की भी अभिलाषा नहीं की ॥४२॥

तदनन्तर कुश को अपनी प्रियतमा के वेश के सम्बन्ध में मानो यह उपदेश देने के लिए ग्रीष्मऋतु आ गई कि उनके दुपट्टे रत्नों से जटित हों, उनके गौर वर्ण के स्तनों पर हार लटक रहे हों और उनके वस्त्र ऐसे हों जो निःश्वास से भी दूर उड़ जायें ॥४३॥

अगस्त्य के चिह्न वाली दक्षिण दिशा अर्थात् दक्षिणायन से सूर्य के अपने समीप लौट आने पर उत्तर दिशा ने मानो आनन्द के शीतल आँसुओं की वर्षा के रूप में हिमालय के हिम-शीतल झरनों की सृष्टि की ॥४४॥

अत्यधिक सन्ताप से युक्त दिन और अत्यन्त दुर्बल (छोटी) रात्रि—ये दोनों ही अपने विरोधी आचरणों से आपस में एक-दूसरे से पृथक् होकर पश्चात्ताप करने वाले दम्पती के समान हो गए ॥४५॥

दिन प्रतिदिन शैवाल युक्त सीढ़ियों को छोड़ता हुआ (अगाध जल से) ऊपर उठे हुए मृणाल-दण्ड युक्त कमलों वाला, बावड़ियों का जल अब केवल स्त्रियों के नितम्बों के बराबर ही रह गया ॥४६॥

वनेषु सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार॥४७॥
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात॥४८॥
यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥४९॥
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम्॥५०॥
आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य।
दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य॥५१॥
मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च।
संबध्नता कामजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः॥५२॥
जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च॥५३॥

वनों में सायंकाल के समय खिलने से उत्कट गन्धवाले मल्लिका-पुष्पों की कलियों पर शब्दपूर्वक (गुंजन के साथ) प्रत्येक पर अपने चरण रखता हुआ भ्रमर मानो इनकी गणना करने लगा॥४७॥

पसीने से युक्त गीले नख-क्षतों से चिह्नित कामिनियों के कपोलों पर अपने केसरों के अत्यधिक चिपक जाने से रमणियों के कान से गिरा हुआ भी शिरीष का पुष्प एकाएक नीचे नहीं गिरा॥४८॥

धनिक वर्ग ने फौव्वारे लगे हुए घरों में ठण्डे फौव्वारों से युक्त तथा चन्दन मिश्रित जल से धुली हुई विशेष शिलाओं पर लेट कर अपनी गरमी दूर की॥४९॥

वसन्त ऋतु के बीत जाने के कारण शिथिल-शक्ति कामदेव ने स्नान के कारण आर्द्र, खुले हुए तथा धूप की गन्ध से सुगन्धित कामिनियों के उन केशपाशों में शक्तिलाभ किया जो सायंकाल में गुंथे हुए मल्लिका के पुष्पों से सजाए गए थे॥५०॥

पराग-कणों के व्याप्त होने से कुछ-कुछ पीले वर्ण की अर्जुन वृक्ष की बड़ी-बड़ी मंजरी ऐसी लगती थी मानो कामदेव के धनुष की वह प्रत्यञ्चा हो, जिसे (कामदेव के) शरीर को जलाकर भी क्रुद्ध शिवजी ने खण्ड-खण्ड कर दिया हो॥५१॥

सुरुचिपूर्ण सुगन्धि से युक्त आम की मंजरियों, पुरानी मदिरा तथा नूतन पाटल के फूलों का एकत्र कर ग्रीष्म ऋतु ने विलासियों के प्रति अपने सभी दोषों अर्थात् अभावों को दूर कर दिया॥५२॥

उस भयंकर ऊष्मा को दूर करने की क्षमता से युक्त किरणों वाला उदित चन्द्रमा और सभी प्रकार के कष्टों को दूर करने की क्षमता से युक्त चरणों वाला उन्नतिशील राजा कुश—यह दोनों ही उस कठिन अवसर पर जनता के लिए विशेष रूप से आकर्षण के केन्द्र बन गए॥५३॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्ममुखे बभूव ॥५४॥
स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभाव. ॥५५॥
सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥५६॥
परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥५७॥
पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥५८॥
विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥५९॥
एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥६०॥

इसके बाद राजा कुश को इच्छा हुई कि वह अपनी स्त्री के साथ ग्रीष्म ऋतु में सुख देने वाले सरयू के उस जल में विहार करें, जो लहरों के कारण चचल तथा उन्मत्त राजहंसों से युक्त था और तीरवर्तिनी लताओं के पुष्पों को बहा रहा था ॥५४॥

भगवान विष्णु के समान प्रभावशाली राजा कुश ने उस सरयू में, जिसके तटवर्ती प्रदेश में तबू और शामियाने तने हुए थे और जिसके मगरों को जालों में फँसा कर अलग कर दिया गया था, अपने महत्व तथा ऐश्वर्य के अनुरूप जल-क्रीडा की ॥५५॥

*तटवर्ती सीढ़ियों के रास्ते से जल में उतरते समय एक दूसरे के बाजूबन्द से सघर्ष करती हुई तथा बजते हुए नूपुरों से युक्त चरणों वाली रमणियों के कारण सरयू नदी के हंस उद्विग्न-से हो उठे ॥५६॥*

एक-दूसरे पर जल छिडकने की क्रिया में सलग्न उन रमणियों की स्नान में ऐसी रुचि देखकर राजा कुश ने चामर डुलाती हुई पूर्ववर्तिनी किराती से (इस प्रकार) कहा ॥५७॥

देखो, घुले हुए अगरागों वाली मेरे अन्त पुर की रमणियों द्वारा विलोडित यह सरयू नदी का प्रवाह बादलों से युक्त सन्ध्याकाल के समान अनेक रंगों वाला हो रहा है ॥५८॥

नावों द्वारा हिलोरें खाते हुए जल से अन्त पुर की इन रमणियों का जो अजन धुल गया है उसे इनके नेत्रों में मदिरापान के कारण छा जाने वाली लालिमा के रूप में मानो जल ने वापस कर दिया है ॥५९॥

नितम्बों तथा स्तनों के दुर्वह (भारी) होने के कारण अपने शरीर को ढोने में असमर्थ होती हुई भी ये सुन्दरियाँ अपने चिपके हुए बाजू-बन्द वाली भुजाओं से (जलक्रीडा में) अधिक रुचि के कारण बड़े कष्ट से तैर रही हैं ॥६०॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥६१॥
आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥६२॥
आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६३॥
तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥
संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥६५॥
एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥६६॥
उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेशः ॥६७॥

जल-क्रीडा में निरत इन सुन्दरियों के नीचे गिरे हुए तथा नदी के जल में तैरते हुए ये शिरीष-पुष्प-निर्मित कर्णाभरण सेवार के लिए लोलुप मछलियों को भ्रम में डाल रहे हैं ॥६१॥

एक दूसरे के ऊपर पानी उलीचती हुई इन सुन्दरियों के मुक्ताफल के समान स्तनों पर उछलते हुए जलकणों में टूटकर बिखरा हुआ भी हार टूटा हुआ-सा नहीं दिखाई पड रहा है ॥६२॥

(देखो, यहाँ) विलासिनी रमणियों के रूप तथा अंगों के उपमान अत्यन्त समीप आ गए हैं। जैसे—इनकी गहरी नाभि की शोभा की उपमा भँवर की शोभा से, भौंहों की उपमा तरंगों की भंगी से तथा स्तनों की उपमा चक्रवाकों से (दी जा सकती) है ॥६३॥

इन रमणियों के मधुर गीत के लय पर बजनेवाले जल-रूपी मृदंग की ध्वनि, जिसका अभिनन्दन अपने पंखों को ऊपर उठाए हुए तट के मयूरों द्वारा मधुर केका ध्वनि के साथ किया जा रहा है, (हमारे) कानों में व्याप्त हो रही है ॥६४॥

(भीग जाने से) चिपके हुए वस्त्रों वाली इन रमणियों के नितम्बों पर चाँदनी से छिपी हुई ताराओं के समान ये करधनियाँ, जिनके गूँथने वाले सूत का छेद जल से भर गया है, एकदम मौन हो गई हैं ॥६५॥

दर्प के कारण हाथ से जल को उलीचने वाली तथा सखियों द्वारा मुख में सिक्त हुई ये विलासिनी रमणियाँ जल से भीग जाने के कारण अपनी सीधी अलकों के अग्रभाग से कुंकुम आदि के चूर्ण से लाल पानी की बूँदें टपका रही हैं ॥६६॥

इस जल-क्रीडा से अस्त-व्यस्त इन रमणियों के मुखों की रचना, जिसमें इनके जूड़े ढीले होकर खुल गए हैं, फूल-पत्ती की चित्रकारी धुल गई है और मुक्तामय ताटंक नीचे खसक गए हैं, सुन्दर ही मालूम पड रही है ॥६७॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥६८॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥७१॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥७२॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥७३॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदमुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥

फिर चचल हार पहने हुए कुश ने अपनी विमान के तुल्य नौका से नीचे उतरकर उन विलासिनियों के साथ इस प्रकार जलक्रीडा आरभ की जैसे कमलिनी को उखाडकर अपने कधे पर रखने वाला कोई जगली गजराज हथिनियों के सग विहार कर रहा हो ॥६८॥

उन परम कान्तिमान राजा के साथ क्रीडानिरत वे रमणियाँ अत्यधिक शोभित हुई। मोती पहले से ही देखने मे सुन्दर होती हैं, और यदि वे प्रभा फैलाने वाली इन्द्रनील मणि से मिल जायँ तो फिर क्या कहना है? ॥६९॥

बडे-बडे नेत्रों वाली उन सुन्दरियों ने सुवर्णनिर्मित सीग (पिचकारी) मे भरे हुए कुसुम आदि के रगीन जल से कुश को भिगो दिया और इस स्थिति मे वह गैरिक झरनों से युक्त हिमालय के समान सुशोभित हुए ॥७०॥

(इस प्रकार) अपने अन्त पुर की रमणियों के साथ नदी-श्रेष्ठ सरयू मे जल विहार करते हुए कुश ने आकाशगगा मे जल-क्रीडा-निरत अप्सराओ से घिरे हुए इन्द्र की शोभा धारण की ॥७१॥

(सयोग से इसी बीच) रामचन्द्रजी ने अगस्त्य मुनि से प्राप्त जिस आभरण को राज्य के साथ कुश को समर्पित किया था, वह विजयशील आभरण अनजाने मे गिरकर (सरयू के) जल में डूब गया ॥७२॥

रमणियो के साथ इच्छानुसार स्नान कर तटवर्ती शामियाने मे जाते ही बिना शृगार प्रसाधन किए हुए कुश ने अपने हाथ को उस दिव्य ककण से सूना देखा ॥७३॥

क्योकि वह आभरण विजयश्री को वशवर्ती बनाने वाला था और उसे पहले उनके पिता धारण कर चुके थे इसलिए उसका गिर जाना राजा कुश को सहन नही हुआ। इसका कारण उनका लोभ नही था क्योकि वह ऐसे धीर थे कि पुष्प और आभूषण दोनो को समान समझते थे ॥७४॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥७५॥
कृतः प्रयत्नो न च देव ! लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥७६॥
ततः [redacted] कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥७७॥
तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥७८॥
तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥७९॥
विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशांपतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥८०॥
त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान्।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥८१॥

तब नदी में गोता लगाने में निपुण जालवालों को उन्होंने उक्त आभरण को ढूँढ निकालने की तत्काल आज्ञा दी। वे सरयू का विलोडन कर अपने प्रयास में तो निष्फल हो गए फिर भी उसकी गति को समझ कर उन्होंने प्रसन्न मुख से कुश से (यह) कहा–॥७५॥

हे देव ! हम लोगों ने बड़ा प्रयत्न किया किन्तु आपका जल में डूबा हुआ वह उत्तम आभरण नहीं मिला। निश्चय ही इसके भीतर गहरे जल में रहने वाले कुमुद नामक नाग ने लोभ के कारण उसे चुरा लिया होगा ॥७६॥

(यह सुनकर) रोष से रक्तवर्ण के नेत्रों वाले धनुर्धर एवं बलवान कुश ने (सरयू के) तट पर आकर उक्त नाग को मारने के लिए अपना धनुष चढ़ाया और उस पर गारुडास्त्र का सधान किया ॥७७॥

उस अस्त्र का सधान करते ही वहाँ के कुण्ड का जल खलबलाने लगा। उसके तरंग-रूपी हाथ आपस में मिल गए और तट को प्रताडित करते हुए वह ऐसा गर्जन करने लगा जैसे गड्ढे में कोई जंगली गजराज गरज रहा हो ॥७८॥

मथे जाते हुए समुद्र के समान उस कुण्ड के गहरे जल से, जिसके मगर क्षुब्ध हो गए थे, नागों का राजा कुमुद लक्ष्मी सहित कल्पतरु के समान अपनी कन्या को आगे करके सहसा ऊपर आ गया ॥७९॥

राजा कुश ने भूषण के रूप में प्रत्युपहार को हाथ में लेकर सामने उपस्थित नाग को देखकर अपना गारुडास्त्र समेट लिया। सज्जन लोग विनम्र व्यक्तियों पर क्रोध करने का हठ नहीं किया करते ॥८०॥

गारुडास्त्र के प्रभाव को जाननेवाले कुमुद ने, तीनों लोकों के स्वामी राम के पुत्र कुश को, जो अपने प्रभाव के कारण शत्रुओं के लिए अंकुश के समान थे, मान से उठे हुए मस्तक द्वारा अभिवादन कर (यह) कहा–॥८१॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम्।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम्॥८२॥
कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम्॥८३॥
तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन॥८४॥
इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम्।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव! पादयोस्ते॥८५॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम्।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन॥८६॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः॥८७॥

विशेष कार्य के लिए मनुष्य शरीरधारी विष्णु के पुत्र कहलाने वाले आप उनके ही दूसरे स्वरूप हैं—यह बात मुझे ज्ञात है। ऐसी स्थिति में मैं आप जैसे अभिनन्दनीय पुरुष की प्रीति को भंग करने के लिए कोई विरुद्ध व्यवहार कैसे कर सकता हूँ॥८२॥

अपने हाथ से गेंद को ऊपर उछालती हुई मेरी इस कन्या ने अन्तरिक्ष से गिरते हुए नक्षत्र के समान, गहरे पानी से (पाताल में) गिरते हुए आपके इस विजयशील आभरण को कुतूहलवश पकड़ लिया था॥८३॥

अतः घुटने का स्पर्श करने वाली, विशाल, धनुष की प्रत्यञ्चा के आघात के कारण उत्पन्न चिह्नों से चिह्नित, इस पृथ्वी की रक्षा के लिए अर्गला के समान अपनी बलवान भुजाओं में आप इस आभरण को पुनः धारण करें॥८४॥

हे राजन्! आपके चरणों की बहुत समय तक सेवा करके अपने इस अपराध को दूर करने वाली 'कुमुद्वती' नाम की मेरी इस छोटी बहिन को आप स्वीकार करने में कोई आपत्ति न करें॥८५॥

इस प्रकार निवेदन कर आभरण वापस देने के अनन्तर अपने उत्तर में—आप मेरे प्रशंसनीय स्वजन हैं—ऐसा कहते हुए राजा कुश को कुमुद ने अपने स्वजनों के साथ ही अपने कुल के भूषणस्वरूप उस कन्या-रत्न से विधिपूर्वक विभूषित कर दिया॥८६॥

राजा कुश के साथ सहधर्मिणी के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए मंगलार्थक ऊन-निर्मित कंकण से विभूषित कुमुद्वती के हाथ को जलती हुई अग्नि के सामने ग्रहण करने पर दिशाओं के अन्त तक फैलने वाली दिव्य मांगलिक वाद्यों की समवेत ध्वनि हुई तथा आश्चर्यजनक मेघों ने बड़ी तेज सुगंधिवाले पुष्पों की वर्षा की॥८७॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पंचमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥८८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

इस प्रकार नाग कुमुद ने त्रिभुवन के स्वामी मैथिलीकुमार कुश को और कुश ने भी तक्षक के पाचवें पुत्र कुमुद को अपने सम्बन्धी के रूप में प्राप्त किया। जिसने उनमें से एक (कुमुद) अपने पूर्वजों को मारने के कारण शत्रु के रूप में विद्यमान गरुड़ से आशंकारहित हो गया और दूसरे ने (राजा कुश ने) सर्प-भय से निश्चिन्त एवं नागरिकों का प्रियजन बनकर पृथ्वी का शासन किया ॥८८॥

महाकवि श्री कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में कुमुद्वती-परिणय नामक सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥१६॥

## सप्तदशः सर्गः

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥३॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥४॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान्।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥

## सत्रहवां सर्ग

कुमुद्वती ने ककुत्स्थ वंशोत्पन्न राजा कुश से अतिथि नामक पुत्र प्राप्त किया जैसे चेतना (बुद्धि) रात्रि के अंतिम प्रहर से प्रसाद (निर्मलता) प्राप्त करती है॥१॥

सुशिक्षित तथा अनुपम शोभा वाले अतिथि ने अपने पिता तथा माता के वंशों को उसी प्रकार पवित्र किया जैसे सूर्य उत्तर तथा दक्षिण दोनों मार्गों को पवित्र करता है॥२॥

अर्थ (शब्दार्थ एवं धन सम्बन्धी दान तथा संग्रह आदि) के ज्ञाता पिता (कुश) ने पहले उसे (अतिथि को) अपने कुल की विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति) का भलीभांति ज्ञान कराया और उसके बाद राज-कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया॥३॥

स्वयं कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय कुश ने उस कुलीन, पराक्रमी तथा जितेन्द्रिय अतिथि के द्वारा अकेले होकर भी अपने आप को अनेक माना॥४॥

कुश ने अपने वंश की मर्यादा के अनुसार इन्द्र की सहायता कर युद्ध में बड़ी कठिनाई से जीतने योग्य 'दुर्जय' नामक दैत्य को मारा किन्तु उसी के द्वारा वह स्वयं भी मारे गए॥५॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी॥६॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी॥७॥
तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः॥८॥
ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदिचतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्॥९॥
तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥१०॥
नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः॥११॥
दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन्॥१२॥

नागराज कुमुद की बहिन कुमुद्वती ने राजा कुश का उसी प्रकार अनुगमन किया, जिस प्रकार कुमुदों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा का अनुगमन चाँदनी करती है॥ (अर्थात् कुश की मृत्यु के अनन्तर रानी कुमुद्वती सती हो गई।)॥६॥

उन दोनों (कुश तथा कुमुद्वती) में से एक तो इन्द्र के सिंहासन के अर्ध भाग का अधिकारी बना और दूसरी शची के पारिजात में से अपना भाग बँटाने वाली उसकी सखी बनी॥७॥

(देवराज इन्द्र के सहायतार्थ) युद्ध में जाते समय अपने स्वामी (कुश) की अंतिम आज्ञा का स्मरण करते हुए वृद्ध अमात्यों ने राजा के उस पुत्र (अतिथि) को राजसिंहासन पर बैठाया॥८॥

उन (वृद्ध अमात्यों) ने शिल्पियों द्वारा उस राजा (अतिथि) के राज्याभिषेक के लिए चार स्तम्भों पर स्थित ऊँची वेदी का एक मण्डप बनवाया॥९॥

उस मण्डप में भद्रपीठ पर बैठाये गए राजा अतिथि का मन्त्रियों ने सुवर्ण के कलशों में रखे गए तीर्थों के जलों से स्नान करवाया॥१०॥

मृदङ्ग पर थाप मारने के कारण मधुर एवं गम्भीर ध्वनि करते हुए तूर्य बाजों से उस राजा के कल्याण की निरन्तर अविच्छिन्न रहने वाली परम्परा का अनुमान होता था॥११॥

उस राजा (अतिथि) ने दूर्वा, जौ के अंकुर, बरगद की छाल तथा नूतन पल्लवों से युक्त अपने वंश के वृद्धों द्वारा की गई आरती को स्वीकार किया॥१२॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः॥१३॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः॥१४॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः॥१५॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः॥१६॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः॥१७॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन्।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः॥१८॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम्।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम्॥१९॥

पुरोहित-प्रमुख ब्राह्मणों ने उस विजयशील राजा (अतिथि) का अथर्ववेद के विजयदायी मंत्रों से अभिषेक करना आरम्भ किया॥१३॥

उस राजा (अतिथि) के मस्तक पर ध्वनि करती हुई तीव्र धारा युक्त अभिषेक के जल की शोभा ऐसी मालूम पड़ती थी, मानो शिवजी के मस्तक पर गिरती हुई गंगा हो॥१४॥

उस अवसर पर बन्दीजनों द्वारा स्तुति किए जाते हुए राजा अतिथि ऐसा दिखाई पड़ा जैसे चातकों से अभिनन्दित उमड़ता हुआ मेघ॥१५॥

उत्कृष्ट मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित पवित्र जल से स्नान करते हुए उस राजा (अतिथि) की कान्ति ऐसी बढ़ गई जैसे वृष्टि के होने से बिजली की चमक बढ़ जाती है॥१६॥

राज्याभिषेक की समाप्ति पर राजा (अतिथि) ने उन ब्राह्मणों के लिए उतना धन दिया जिससे वे पर्याप्त दक्षिणा वाले अपने यज्ञों को सम्पन्न कर सकें॥१७॥

प्रसन्नचित्त उन ब्राह्मणों ने राजा (अतिथि) को जो आशीर्वाद दिये वे उसके पूर्व (जन्म) के कर्मों द्वारा अर्जित फलों से बहुत बाद में फलित हुए। (अर्थात् राजा को तो अपने पूर्व जन्मों के कर्मों से ही साम्राज्य आदि मिल चुके थे अतः ब्राह्मणों के ये आशीर्वाद बहुत बाद में अथवा जन्मान्तर में फल देने वाले हुए।)॥१८॥

उस राजा ने बन्धन में पड़े हुए लोगों को बन्धन-मुक्त करने, फाँसी के योग्य व्यक्तियों को प्राणदान देने, भार ढोने वालों को भार से मुक्त करने तथा गाय आदि दुधारू पशुओं का न दुहे जाने की आज्ञा दी॥१९॥

क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥२०॥
ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥२१॥
तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥२२॥
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥
चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥
आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥२६॥

पिंजरे में रखे क्रीडार्थ पाले गये तोता आदि पक्षियों को भी उस राजा के आदेश से छोड़ दिया गया और वे इच्छानुसार यत्र-तत्र उड़ने लगे ॥२०॥

तदनन्तर राजा अतिथि आभूषणादि प्रसाधनों को धारण करने के लिए दूसरे कक्ष में रखे गए हाथी दांत से निर्मित आसन पर आसीन हुए, जिस पर चादर बिछी हुई थी ॥२१॥

जल से हाथ धोकर प्रसाधकों (श्रृंगार करने वालों) ने धूप से उनके केश-पाश को सुखाकर उन्हें सभी प्रकार की प्रसाधन सामग्रियों से अलंकृत किया ॥२२॥

उन श्रृंगार करने वालों ने मोतियों की लड़ियों से बँधे और बीच-बीच में पुष्प की मालाओं से सजाए गए राजा अतिथि के मस्तक को, प्रभामण्डल से सुशोभित पद्मराग मणि से सजाया ॥२३॥

कस्तूरी से सुगन्धित चन्दन का अंगराग लगाकर उसके अनन्तर उन प्रसाधकों ने उस पर गोरोचन से पत्र-रचना की ॥२४॥

मुक्ता के आभूषणों से अलंकृत, माला धारण किए हुए तथा हंस के चिह्नों से सुशोभित दुपट्टे को धारण किए हुए वह राज्यलक्ष्मी-रूपी वधू का श्रेष्ठ वर (राजा अतिथि) अत्यधिक दर्शनीय हो गया ॥२५॥

सोने के (फ्रेम से बँधे) दर्पण में अपने वेश विन्यास को देखते हुए राजा अतिथि का प्रतिबिम्ब इस प्रकार सुशोभित हुआ मानो सूर्योदय के समय सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥२६॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम्॥२७॥
वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम्।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम्॥२८॥
शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत्।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम्॥२९॥
बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः॥३०॥
प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम्।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः॥३१॥
स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम्।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा॥३२॥
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम्॥३३॥

तदनन्तर जय-जयकार करते हुए राजचिह्नों (छत्र, चामर आदि) से व्यस्त हाथों वाले अपने अनुचरों के साथ वह अपनी राजसभा में गया, जो देवराज की सभा से कदापि न्यून नहीं थी॥२७॥

वहाँ चँदोवा लगे हुए अपने पूर्वजों के उस आसन पर बैठा, जिसके चरण पीठ पर बड़े-बड़े राजाओं की चूडामणि घिस चुकी थी॥२८॥

वह विशाल मांगलिक सभाभवन राजा अतिथि के विद्यमान होने पर वैसे ही सुशोभित हुआ जैसे भगवान विष्णु का श्रीवत्स चिह्न से चिह्नित वक्षस्थल कौस्तुभ मणि से सुशोभित होता है॥२९॥

राजा अतिथि ने अपनी बाल्यावस्था के कारण युवराज पद को बिना प्राप्त किये ही महाराज के पद को जो प्राप्त कर लिया वह ऐसा ही हुआ जैसे एक कला वाले चन्द्रमा में सोलहों कलाएँ पूर्ण हो जायँ॥३०॥

सुप्रसन्न मुखकान्ति से युक्त तथा मुस्करा कर भाषण करने वाले उस राजा (अतिथि) को उसके अनुचरों ने मूर्तिमान विश्वास की तरह माना॥३१॥

इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली उस राजा (अतिथि) ने कल्पवृक्ष के समान पताकाओं वाली अयोध्या नगरी को, ऐरावत के समान बलवान हाथी पर बैठकर घूमते हुए स्वर्ग (के समान) बना दिया॥३२॥

उस समय एकमात्र राजा अतिथि के मस्तक पर ही छत्र लगा हुआ था, किन्तु उस श्वेत प्रभावाले एक ही छत्र से, पहले राजा कुश के वियोग से सम्पूर्ण जगत को जो सन्ताप हुआ था, वह दूर हो गया॥३३॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः॥३४॥

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम्॥३५॥

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः।
अनुदध्युरनुध्येयं सांनिध्यैः प्रतिमागतैः॥३६॥

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः॥३७॥

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः॥३८॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम्।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः॥३९॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः॥४०॥

आग के धुएँ के पश्चात् आग की ज्वाला, और सूर्य के उदय के पश्चात उसकी किरणें ऊपर आती हैं, किन्तु वह राजा इन सभी तेजस्वियों के स्वभाव का अतिक्रमण कर अपने गुणों (प्रताप, दया, दाक्षिण्यादि) के साथ ही उदित हुआ॥३४॥

नगर की स्त्रियाँ प्रेम के कारण सुप्रसन्न नेत्रों से राजा अतिथि को उसी प्रकार देखती थीं जिस प्रकार शरदृऋतु में रातें प्रसन्न नक्षत्रों द्वारा ध्रुव को देखती हैं॥३५॥

विशाल मन्दिरों में पूजित अयोध्या नगरी के देवताओं ने प्रतिमा के पास आने के कारण अपनी निकटता से अपने अनुग्रह के पात्र उस राजा अतिथि पर अपनी परम कृपा की॥३६॥

राज्याभिषेक के जल से सींची हुई अभिषेक की वेदी अभी सूख भी नहीं पाई थी कि उसका (राजा अतिथि का) असहनीय प्रताप समुद्र-तट तक फैल गया॥३७॥

गुरुवर वसिष्ठ के मंत्र तथा उस धनुर्धारी (अतिथि) के बाण-ये दोनों मिलकर ऐसा कौन-सा कार्य था, जिसे सिद्ध नहीं कर सकते थे॥३८॥

राजा (अतिथि) अपने धार्मिक सभासदों के साथ आलस्य-रहित होकर प्रतिदिन अर्थी तथा प्रत्यर्थियों के सन्दिग्ध विवादों को स्वयं देखता था॥३९॥

इसके बाद वह अपने मुख की चेष्टा आदि से अपनी प्रसन्नता को सूचित करते हुए अपने अनुजीवियों के प्रति संकेत करता था, जिससे उनके शीघ्र ही पूर्ण होने वाले मनोरथ पूर्ण हो जाते थे॥४०॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥४१॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत्।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥४२॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥४३॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम्।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढमूल इव द्रुमः ॥४४॥

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून् ॥४५॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥४६॥

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥

उस राजा (अतिथि) के पिता द्वारा प्रजावर्ग की समृद्धि इस प्रकार बढ़ी थी जैसे श्रावण का महीना नदियों में जल की वृद्धि करता है। किन्तु उस (अतिथि) के समय में उनकी और भी अधिक उन्नति हुई जैसे भादों के महीने में नदियों का जल और भी (श्रावण से भी अधिक) बढ़ जाता है ॥४१॥

उस राजा (अतिथि) ने जो कुछ कहा वह असत्य नहीं हुआ, और जो कुछ दिया उसे वापस नहीं लिया। किन्तु शत्रुओं को उखाड़ फेंकने के बाद उन्हें फिर से स्थापित करने के कारण उसका यह व्रत खण्डित हो गया था ॥४२॥

अवस्था (युवावस्था), (सुन्दर) रूप और ऐश्वर्य–इनमें से प्रत्येक अभिमान का कारण होता है, किन्तु उस राजा (अतिथि) में तीनों ने एक साथ रहकर भी उसके चित्त में (कभी) गर्व नहीं पैदा किया ॥४३॥

इस प्रकार अपनी अनुरक्त प्रजा में दिनों-दिन प्रेम उत्पन्न करने के कारण नया होते हुए भी वह राजा दृढ़ जड़ वाले वृक्ष के समान अविचलित हो गया ॥४४॥

बाहर के शत्रु सदा रहते भी नहीं और अपने से दूर रहते हैं, इस कारण से उस (राजा अतिथि) ने सदैव भीतर निवास करने वाले अपने काम-क्रोधादि छहों शत्रुओं को पहले पराजित किया ॥४५॥

स्वभाव से चचला होते हुए भी लक्ष्मी उस सुप्रसन्न मुख वाले राजा पर उसी प्रकार स्थिर रही जैसे कसौटी पर सुवर्ण की रेखा ॥४६॥

पराक्रम से विहीन केवल नीति कायरता की सूचना देती है, और नीति रहित केवल पराक्रम हिंसक पशुओं की चेष्टा के समान है। इसलिए उस (राजा अतिथि) ने इन दोनों को मिलाकर उनसे सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा की ॥४७॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः।
अदृष्टमभवत्किचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥४८॥
रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥४९॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥५०॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥
दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥५२॥
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥५३॥
अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥

उसने किरणों के समान अपने गुप्तचरों को सर्वत्र इस प्रकार नियुक्त कर रखा था, जिससे उसके राज्य में ऐसा कुछ भी नहीं था, जिसका उसे ज्ञान न रहता हो। जैसे बादलों से रहित निर्मल आकाश में सूर्य के लिए कुछ भी अदृष्ट नहीं रहता ॥४८॥

(मनु आदि शास्त्रकारों ने) रात और दिन के समय में राजाओं के लिए जिन-जिन कर्त्तव्यों का निर्देश किया है, उन सबका संशयरहित होकर उस राजा ने नियमपूर्वक पालन किया ॥४९॥

वह प्रतिदिन अपने मंत्रियों के साथ मंत्रणा करता था, किन्तु बाहर निकलने का मार्ग बन्द रहने के कारण बराबर मंत्रणा होने पर भी उसका पता किसी को नहीं लगता था॥५०॥

यथासमय सोता हुआ भी वह राजा (अतिथि) अपने शत्रुओं (के देशों) तथा आत्मीयजनों (सेनापति, मंत्री आदि) में नियुक्त तथा एक-दूसरे से अपरिचित दूतों की सहायता से निरन्तर जागरूक (जागता रहता) था ॥५१॥

(युद्ध-स्थल में ही) शत्रुओं को रोकने वाला होने पर भी उस राजा (अतिथि) के दुर्ग अतीव दुरधिगम्य थे। हाथियों को मारने वाला सिंह किसी भय से गुफा में नहीं सोता (वरन् यह तो उसका स्वभाव ही है।) ॥५२॥

उसकी कल्याणकारी योजनाएँ, इसे करना चाहिए या नहीं करना चाहिए–इस प्रकार के वितर्क से विहीन होती थीं अतएव वे विघ्नरहित तथा भीतर ही पकने वाले (साठी नामक) धान के समान गुप्त रूप से पूर्ण हो जाती थीं ॥५३॥

उन्नति के शिखर पर आरूढ वह राजा (अतिथि) कभी कुमार्ग पर नहीं चला। (क्यों न हो) ज्वार में बढ़ने पर भी समुद्र नदी के मुहाने से ही आगे बढ़ता है ॥५४॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥५५॥
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥
न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥
हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥५८॥
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम्।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥५९॥
कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥
परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्रिपून् ॥६१॥

प्रजावर्ग की उदासीनता को शीघ्र ही भलीभांति शान्त करने की क्षमता वाला वह राजा (अतिथि) जिस (वैराग्य या उदासीनता) को शान्त करना पड़े उसे पैदा ही नहीं होने देता था ॥५५॥

शक्तिशाली होते हुए भी उस राजा ने अपने से हीन बल वाले राजाओं पर ही आक्रमण किया। वायु के सहायक होने पर भी दावाग्नि जल पर आक्रमण नहीं करती ॥५६॥

तीनों (धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों पदार्थों) में समान आस्था रखने वाले उस (राजा अतिथि) ने अर्थ और काम से धर्म को, धर्म से अर्थ और काम को, अथवा काम से अर्थ को और अर्थ से काम को कभी पीडित नहीं किया ॥५७॥

अत्यन्त दुर्बल अथवा हीन बल वाले मित्र कोई लाभ नहीं पहुंचाते और बहुत समृद्ध अथवा बलवान मित्र विरुद्ध आचरण करते हैं, इस कारण से उसने मध्यम शक्तिवालों को अपना मित्र बनाया ॥५८॥

वह राजा शत्रु के तथा अपने बलाबल का एवं शक्ति तथा देशकाल आदि का विचार करके यदि देखता था कि वह शत्रु से बलवान है तो आक्रमण करता था अन्यथा बैठ जाता था ॥५९॥

कोष संचय करने से अनेक लोगों को आश्रित बनाने का अवसर मिलता है—यह मानकर वह राजा धन का संग्रह करता था (लोभ से नहीं करता था।) क्योंकि जल से पूर्ण मेघ का ही चातक अभिनन्दन करता है ॥६०॥

वह राजा दूसरा (अपने शत्रु राजाओं) की योजनाओं का तो विनाश कर देता था, किन्तु अपनी योजनाओं की सिद्धि में तत्पर रहता था। और अपने शत्रुओं के छिद्रों पर प्रहार करते हुए स्वयं अपने छिद्रों को छिपा कर रखता था ॥६१॥

पित्रा सः वर्धितो नित्यं कृतास्त्रः सांपरायिकः।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥६२॥
सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥६३॥
वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥६४॥
तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥६५॥
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥६६॥
स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥६७॥
इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥६८॥

सैन्यबल से युक्त उस राजा की सेना, जिसे उसके पिता ने बराबर बढ़ाया था, जो शस्त्रास्त्रों से लैस थी, और युद्ध में दक्ष थी, उसके शरीर से पृथक् नहीं थी। (अर्थात् वह अपने शरीर के समान सदैव अपनी सुशिक्षित सेना की भी चिन्ता रखता था।) ॥६२॥

सर्प के शिर की मणि के समान उसकी तीनों (प्रभु, मन्त्र तथा उत्साह) शक्तियों को उसके शत्रु तो आकृष्ट नहीं कर सके किन्तु वह स्वयं अपने शत्रुओं से उन तीनों शक्तियों को उसी प्रकार खींच लेता था जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है ॥६३॥

(उसके सुव्यवस्थित शासन में) व्यापारी लोग नदियों में बावलियों के समान, जंगलों में बगीचों के समान तथा पर्वतों में अपने घरों के समान विचरण करते थे ॥६४॥

विघ्नों से तपस्या की तथा चोरों से सम्पत्ति की रक्षा करते हुए वह (राजा) चारों आश्रमों तथा चारों वर्णों से उनकी सम्पत्ति के अनुसार छठवाँ भाग प्राप्त करता था ॥६५॥

खानों से रत्न, खेतों से अन्न और वनों से हाथी (उत्पन्न कर) देकर पृथ्वी ने अपनी रक्षा के अनुरूप वेतन भी उस राजा के लिए प्रदान किया ॥६६॥

षण्मुख कार्तिकेय के समान पराक्रमशाली वह राजा (अतिथि) (सन्धि, विग्रह आदि) छः गुणों तथा छः प्रकार की सेनाओं के द्वारा कौन से प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं—यह भली भाँति जानता था ॥६७॥

इस प्रकार चारों प्रकार की राजनीति (साम, दाम, दण्ड और भेद) का क्रमानुसार प्रयोग करते हुए उस राजा ने मन्त्री आदि अठारह तीर्थों तक निर्विघ्न रूप से उस राजनीतिक फलों को भी प्राप्त किया ॥६८॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि　तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं　जयश्रीर्वीरगामिनी ॥६९॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥७०॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥७१॥
सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥७२॥
स्तूयमानः [redacted] जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन्।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥७३॥
दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः।
प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥७४॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥७५॥

कपटयुद्ध की विधि को जानते हुए भी नीतिपूर्वक युद्ध करने वाले उस राजा (अतिथि) के प्रति वीरों को वरण करने वाली विजयलक्ष्मी ने अभिसारिका के समान आचरण किया ॥६९॥

सम्पूर्ण शत्रुओं का प्रताप नष्ट हो जाने के कारण उसके लिए युद्ध उसी प्रकार प्रायः दुर्लभ हो गया जैसे उन्मत्त गजराज का युद्ध मदरहित हाथियों के साथ दुर्लभ होता है ॥७०॥

विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त होने पर चन्द्रमा क्षीण होता है और समुद्र का भी ऐसा ही होता है। राजा अतिथि की वृद्धि तो उन्हीं दोनों के समान विशेषरूप से हुई किन्तु उसकी अवनति उनके समान नहीं हुई ॥७१॥

अत्यन्त दरिद्र होने के कारण विद्वान लोग याचना लेकर जब उस राजा के समीप जाते थे तो उनकी माँग उसके द्वारा उसी प्रकार पूर्ण होती थी जैसे समुद्र से मेघ की माँगें पूरी होती हैं ॥७२॥

स्तुति के योग्य काम करते हुए भी जब कभी उसकी स्तुति की जाती थी तो वह राजा लज्जा का अनुभव करता था, किन्तु फिर भी स्तुति-वाचकों से चिढ़ने वाले उस राजा की कीर्ति बढ़ती ही गई ॥७३॥

उस राजा ने अपने दर्शन से पाप को तथा वस्तुतत्त्व के समर्थन से अज्ञान को दूर करते हुए उदीयमान सूर्य के समान अपनी प्रजा को सदैव स्वाधीन रखा ॥७४॥

चन्द्रमा की किरणें कमलों में प्रवेश नहीं पाती और सूर्य की किरणें कुमुदों में प्रवेश नहीं पाती, किन्तु उस गुणवान राजा के गुणों ने (मित्रों के समान) अपने शत्रुओं में भी स्थान प्राप्त किया ॥७५॥

पराभिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्।
जिगोषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥
एवमुद्यत्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥७७॥
पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥७८॥
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम्।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरंदरीमिव ॥७९॥
ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥८०॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्
यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम्।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

अश्वमेध यज्ञ की इच्छा से दिग्विजय के अभिलाषी उस राजा (अतिथि) की चेष्टा यद्यपि शत्रुओं के लिए वचना से पूर्ण थी तथापि वह धर्म से रहित नहीं थी ॥७६॥

इस प्रकार शास्त्रों द्वारा अनुमोदित मार्ग पर चल कर अपने बढ़ते हुए प्रभाव से वह राजा देवताओं के देवता इन्द्र के समान राजाओं का भी राजा बन गया ॥७७॥

समान पराक्रमशाली होने के कारण लोगों ने उस राजा (अतिथि) को लोकपालों (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर) में पाँचवाँ, महान् भूतों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश) में छठाँ तथा कुलपर्वतों (महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र) में आठवाँ कहकर पुकारा ॥७८॥

राजा लोग शासनादेशों में उल्लिखित उस राजा (अतिथि) की आज्ञा को दूर से ही अपने छत्रों को हटा कर उसी प्रकार शिरोधार्य करते थे जैसे देवता लोग इन्द्र की आज्ञा को स्वीकार करते हैं ॥७९॥

उस राजा ने अपने महान् अश्वमेध यज्ञ में ऋत्विजों को (प्रचुर) दक्षिणाएँ देकर इस प्रकार पुरस्कृत किया कि उसका और कुबेर का नाम एक समान ही गया ॥८०॥

इन्द्र ने (उस राजा के राज्य में) वर्षा की, यमराज ने रोगों को फैलने से रोका, वरुण ने नौका चलाने वालों के कार्यों में सुविधा के लिए जल-मार्गों को निर्विघ्न बनाया, और कुबेर ने उसके पूर्ववर्ती (रघु, अज, दशरथ, राम आदि) राजाओं का ख्याल करके उसके कोश की वृद्धि की। इस प्रकार इन्द्रादि लोकपालों ने उस राजा (के राज्य) में इस प्रकार का आचरण किया मानो वे उसके शरणागत बन गए हों ॥८१॥

महाकवि श्रीकालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य में अतिथि-वर्णन नामक
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१७॥

# अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥१॥
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥२॥
शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥३॥
पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥४॥
तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥५॥

# अठारहवाँ सर्ग

अपने शत्रुओं को निवारित करने वाले उस राजा एक (अतिथि) ने निषधदेश के राजा अर्थपति की कन्या से निषध नामक पर्वतराज के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया जिसे लोग 'निषध' ही कहते थे ॥१॥

महान् पराक्रमी होने के कारण प्रजा की रक्षा के लिए नियुक्त होने वाले अपने उस युवक पुत्र निषध से पिता अतिथि को उसी प्रकार प्रसन्नता हुई जैसे अच्छी वर्षा होने पर सम्पत्ति-रूपी फल लाने वाली कृषि से लोग प्रसन्न होते है ॥२॥

कुमद्वती के पुत्र अतिथि ने दीर्घकाल तक शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रिय सुखों का उपभोग कर निषध नामक अपने पुत्र को अपने राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर कुमुद के समान अपने निर्मल कर्मों से प्राप्त स्वर्गलोक को प्रस्थान किया ॥३॥

शतदल कमल के समान मनोहर नेत्रों वाले कुश के पौत्र अनुपम वीर निषध ने भी, जिसकी भुजाएँ नगर की अर्गला के समान विशाल थी और जिसका मन समुद्र के समान गभीर था, एकच्छत्र समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का पालन किया ॥४॥

निषध के अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र 'नल' ने पिता की मृत्यु के अनन्तर वंशपरम्परागत राज्यलक्ष्मी को प्राप्त किया। कमल के समान शोभायमान मुखवाले उस राजा ने अपने शत्रुओं की सेनाओं को उसी प्रकार रौंद डाला जिस प्रकार हाथी नरकट के झुण्ड को रौंद डालता है ॥५॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्॥६॥
तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध॥७॥
तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः॥८॥
स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार॥९॥
अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य॥१०॥
पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव॥११॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम्॥१२॥

देवताओं एवं गन्धर्वों ने जिसके यश का गायन किया—ऐसे राजा नल ने आकाश के समान श्यामल शरीर वाले 'नभ' नाम से सुप्रसिद्ध पुत्र को प्राप्त किया, जो अपनी प्रजा के बीच 'नभस्' अर्थात् श्रावण के महीने के समान अतीव प्रिय था॥६॥

धर्मप्रिय राजा नल ने उस समय 'नभ' को उत्तर कोसल देश का राज्य सौंप कर फिर से देह का बन्धन न हो अर्थात् मुक्ति मिल जाय—इस उद्देश्य से वृद्धावस्था में स्वीकार करने योग्य हरिणों के साथ का जीवन (वानप्रस्थ जीवन) अपना लिया॥७॥

उस राजा 'नभ' ने हाथियों में पुण्डरीक नामक दिग्गज के समान राजाओं में अजेय 'पुण्डरीक' नामक पुत्र उत्पन्न किया। पिता के स्वर्ग चले जाने पर श्वेत कमल धारिणी लक्ष्मी ने विष्णु के समान उसका आश्रय ग्रहण किया॥८॥

अमोघ धनुष वाले राजा पुण्डरीक प्रजावर्ग का कल्याण करने में समर्थ और क्षमाशील 'क्षेमधन्वा' नामक अपने पुत्र को पृथ्वी सौंप कर अत्यन्त सहिष्णु होकर वन में तपस्या करने के लिए चले गए॥९॥

उस राजा क्षेमधन्वा को भी युद्ध में सेनाओं के आगे-आगे चलने वाला देवता के समान पुत्र हुआ। 'देव' शब्द से प्रारम्भ एवं 'अनीक' शब्द से अन्त होने वाला उसका 'देवानीक' यह नाम स्वर्ग लोक में भी विख्यात हुआ॥१०॥

पिता क्षेमधन्वा जिस प्रकार सदैव सेवा में तत्पर रहने वाले उस पुत्र (देवानीक) से सुपुत्रवान हुए उसी प्रकार पुत्रवत्सल उस पिता से वह पुत्र (देवानीक) भी श्रेष्ठ पितावाला हुआ॥११॥

गुणों के एकमात्र आकर और विधिपूर्वक यज्ञ परायण उन दोनों (पिता-पुत्रों) में प्रथम क्षेमधन्वा ने अपने समान पुत्र के कन्धों पर चार वर्णों के चिरकाल से धारण किए गए शासन भार को सौंपकर यज्ञकर्ताओं का लोक (स्वर्ग) प्राप्त किया॥१२॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥१३॥
अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥१४॥
गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥१५॥
तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम्।
उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम्॥१६॥
तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥१७॥
तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥१८॥
तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम्।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥१९॥

उस देवानीक का जितेन्द्रिय पुत्र मृदुभाषी होने के कारण आत्मीयजनों के समान शत्रुओं का भी प्रिय हुआ। क्यों न हो, मधुर वचन में ऐसी शक्ति ही होती है कि वह एक बार डरे हुए हरिणों को भी वश में कर लेती है ॥१३॥

नीच मनुष्यों के संपर्क से अलग रहने के कारण युवा होते हुए भी अनर्थकारी दुर्व्यसनों से बचे हुए उस विशालबाहु अहीनगु नामक राजा ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन किया ॥१४॥

मनुष्यों के मन की बातों को जानने वाला तथा परम चतुर वह अहीनगु नामक राजा अपने पिता के अनन्तर पृथ्वी पर अवतार धारण करने वाले आदिपुरुष विष्णु के समान साम आदि चारों उपायों से चारों दिशाओं का स्वामी बन गया ॥१५॥

शत्रुओं के विजेता उस अहीनगु के परलोक यात्री होने पर, उन्नत मस्तक के कारण पारियात्र नामक कुलपर्वत को पराजित करने वाले उसके पुत्र 'पारियात्र' की राज्यलक्ष्मी ने सेवा की ॥१६॥

उस राजा पारियात्र के उदार चरित तथा पत्थर की शिला के समान चौड़ी छाती वाला 'शिल' नामक पुत्र हुआ। अपने बाणों से शत्रुओं के पक्ष को पराजित करके भी वह स्तुति किए जाने पर लज्जित होता था ॥१७॥

अनिन्दित स्वभाव वाले उस राजा पारियात्र ने, बुद्धि से युक्त युवक शिल को युवराज बनाकर ही सुख प्राप्त किया, क्योंकि सुखों में बाधा डालने वाला राजाओं का राजकाज कारागार के बन्धन के समान होता है ॥१८॥

आसक्ति उत्पन्न करने वाले विषयों से अतृप्त एवं अपने विशेष सौंदर्य के कारण विलासिनी स्त्रियों से भोग करने योग्य उस राजा पारियात्र को, स्वयं रति में असमर्थ किन्तु विलासिनी स्त्रियों से ईर्ष्या करने वाली वृद्धावस्था ने व्यर्थ ही अपने वश में कर लिया था ॥१९॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥२०॥
ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥२१॥
तस्मिन्गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्संभवं शङ्खणमर्णवान्ता।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥२२॥
तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥२३॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वंभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥२५॥
पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥२६॥

उस (राजा शिल) के 'उन्नाभ' नाम से विख्यात किन्तु नाम से विपरीत गहरी नाभि-वाला पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कमलनाभ भगवान् विष्णु के समान समस्त राजाओं का प्रमुख हुआ ॥२०॥

उसके अनन्तर वज्रधारी इन्द्र के समान प्रभावशाली, युद्ध में वज्र के समान (भयंकर) ध्वनि करने वाला 'वज्रनाभ' नामक पुत्र हुआ, जो हीरों की खानों का आभूषण धारण करने वाली पृथ्वी का स्वामी बना ॥२१॥

उस राजा वज्रनाभ को अपने सत्कर्मों से प्राप्त स्वर्ग में जाने पर शत्रुओं का उन्मूलन करने वाला 'शंखण' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी उपासना समुद्र पर्यन्त विस्तृत पृथ्वी ने अपनी खानों से निकले रत्नों का उपहार लेकर की ॥२२॥

उस राजा शंखण का देहावसान हो जाने पर सूर्य के समान तेजस्वी तथा अश्विनी कुमारों के समान (मनोहर) रूप वाले उसके पुत्र ने पिता का पद प्राप्त किया, जिसे समुद्र तटों पर सैनिक तथा अश्वों को रखने के कारण इतिहास वेत्ता लोग 'व्युषिताश्व' कहते हैं ॥२३॥

उस राजा (व्युषिताश्व) ने विश्वेश्वर काशीपति महादेव की उपासना कर 'विश्वसह' नामक पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त संसार का मित्र एवं विश्व भर का भरण-पोषण करने वाली सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करने में समर्थ, उनका अपना ही स्वरूप था ॥२४॥

नीतिपरायण वह राजा (विश्वसह) हिरण्याक्ष के शत्रु भगवान् विष्णु के अंशभूत 'हिरण्यनाभ' नामक पुत्र के उत्पन्न होने पर अपने शत्रुओं के लिए उसी प्रकार असह्य हो गया जैसे वृक्षों के लिए वायु से युक्त अग्नि ॥२५॥

पितरों के ऋण से उन्मुक्त होने के कारण कृतकृत्य पिता (विश्वसह) अन्तिम अवस्था में अनन्त सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से जानु-पर्यन्त लंबी भुजाओं वाले अपने पुत्र 'हिरण्यनाभ' को राजा बनाकर स्वयं वल्कलवस्त्र धारी (वानप्रस्थी) हो गए ॥२६॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥२७॥
यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥२८॥
तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ् महीं शासति शासनाङ्काम्।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥२९॥
पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्त्ररथेन्द्रकेतोः।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्त्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥३०॥
वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥३१॥
तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥३२॥
महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥३३॥

उत्तरकोसल के राजा, सूर्यकुल भूषण, यज्ञपरायण उस राजा (हिरण्यनाभ) को दूसरे चन्द्रमा के समान 'कौसल्य' नाम से विख्यात औरस पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२७॥

अपने यश से ब्रह्मलोक तक विख्यात उस कौसल्य नामक राजा ने 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने ब्रह्मवादी औरस पुत्र को ही अपने राज्यपद पर प्रतिष्ठित कर ब्रह्म की गति प्राप्त की ॥२८॥

अपने कुल के शिरोमणि तथा श्रेष्ठ सन्तान वाले उस राजा ब्रह्मिष्ठ के पृथ्वी पर निर्विघ्न शासन करते समय प्रजा आनन्द के आँसू बहाती हुई चिरकाल तक आनन्द का अनुभव करती रही ॥२९॥

गुरुजनों की सेवा द्वारा अपने आप को सत्पात्र बनाने वाले, गरुड़ध्वज भगवान् विष्णु के समान आकृति एवं कमलपत्र के समान नेत्रों वाले 'पुत्र' नामक पुत्र ने राजा ब्रह्मिष्ठ को पुत्रवानों में अग्रणी बनाया ॥३०॥

सांसारिक विषय भोगों से विरक्त होने के कारण इन्द्र के भावी मित्र उस राजा ब्रह्मिष्ठ ने अपने वंश को चलाने वाले उस (पुत्र नामक पुत्र) में कुल की प्रतिष्ठा की स्थापना कर 'त्रिपुष्कर' नामक तीर्थ में स्नान करते समय देवत्व को प्राप्त किया ॥३१॥

उस (पुत्र नामक) राजा की स्त्री ने पूस महीने की पूर्णिमा तिथि को, अपनी कान्ति से पुखराज मणि की शोभा को तिरस्कृत करने वाले 'पुष्य' नामक पुत्र को जन्म दिया। द्वितीय पुष्य नक्षत्र के समान उसके उत्पन्न होने पर जनता ने अत्यधिक उन्नति की ॥३२॥

महान् अभिलाषाओं वाला एवं संसार में बारम्बार जन्म लेने से भीरु उस राजा (पुत्र) ने अपने पुत्र (पुष्य) को पृथ्वी (का शासनभार) सौंपकर मुनिवर जैमिनि की शरण ली तथा योग के ज्ञाता उन जैमिनि से योग का ज्ञान प्राप्त कर वह जन्म के बन्धनों से मुक्त हो गया ॥३३॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिरुर्वीम्।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसंधे संधिध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥३४॥
सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥
नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥३७॥
लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥३८॥
तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३९॥
कामं न सोऽल्कपत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥४०॥

उसके अनन्तर राजा (पुष्य) के ध्रुव के समान 'ध्रुवसन्धि' नामक पुत्र ने पृथ्वी (का शासन-भार प्राप्त किया। श्रेष्ठ तथा सत्यप्रतिज्ञ उस ध्रुवसन्धि के साथ विनम्र बने हुए शत्रुओं की स्थायी सन्धियाँ हुई ३४॥

प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान देखने मे सुन्दर 'सुदर्शन' नामक अपने पुत्र के बाल्यकाल मे ही मृगो के समान विशाल नेत्रो वाला तथा पुरुषो मे सिंह के समान राजा ध्रुवसन्धि मृगया खेलते हुए किसी सिंह के द्वारा मारा गया ॥३५॥

स्वर्ग को जाने वाले उस राजा (ध्रुवसन्धि) के अमात्यो ने प्रजा को अनाथ और दीन देख कर, उस कुल के एकमात्र सहारा 'सुदर्शन' को ही विधिपूर्वक अयोध्या का स्वामी बनाया ॥३६॥

उस बालक राजा से युक्त रघु का कुल नूतन (प्रतिपदा के) चन्द्रमा वाले आकाश, एकमात्र सिंह के शिशुवाले वन तथा अविकसित कमल वाले जल (सरोवर) के समान ही गया था ॥३७॥

उस बालक (राजा) के मुकुट धारण करने पर लोगो ने उसे अपने पिता के समान होने वाला समझा, क्योकि हाथी के बच्चे के समान आकृति वाले (अर्थात् बहुत छोटे) मेघ को भी पुरवैया वायु के संसर्ग से दिशाओ को घेरते ए देखा जाता है ॥३८॥

राजमार्गो पर हाथी पर सवार होकर जाते समय महावत उस शिशु राजा के नीचे लटकते हुए वस्त्रो को पकड लेता था। यद्यपि वह अभी छ वर्ष का था, तथापि नगर-निवासी उसके राजा होने के कारण उसे पिता के समान गौरवपूर्ण दृष्टि से देखते थे ॥३९॥

वह राजा (सुदर्शन) अपने पिता के सिंहासन को भलीभाँति पूर्ण करने मे भले ही समर्थ नही था किन्तु सुवर्ण के समान चमकते हुए अपने तेज की महिमा से सुविस्तृत होकर वह उसे परिपूर्ण कर देता था ॥४०॥

तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥४१॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥४२॥
पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥४४॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभरांबभूव ॥४५॥
न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥
उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥४७॥

उस सिंहासन के कुछ ही नीचे की ओर लटकते हुए तथा (छोटे होने के कारण) पैर रखने की चौकी को न छू सकने वाले, महावर से रँगे हुए उस (बालक राजा सुदर्शन) के चरणों पर नृपतिगण अपने कुछ ऊपर उठाये हुए मुकुटों से प्रणाम करते रहे ॥४१॥

छोटे आकार के होने पर भी (नीलम) मणि का, अतीव तेज के कारण जिस प्रकार 'महानील' यह नाम व्यर्थ नहीं होता उसी प्रकार बालक होते हुए भी उस राजा सुदर्शन के लिए सुविख्यात 'महाराज' की उपाधि भी व्यर्थ नहीं हुई ॥४२॥

जिसके दोनों पार्श्वों में चँवर डुलाए जाते थे, उस शिशु राजा सुदर्शन के, कपोलों पर हिलतेहुए काकपक्ष से सुशोभित मुख से निकली हुई आज्ञा समुद्रों के तटों तक भी भग्न नहीं होती थी ॥४३॥

सुवर्ण निर्मित पट्ट से सुशोभित अपने ललाट में लगाए गए तिलक को धारण करने वाले एवं मुस्कराहट भरे मुख से सुशोभित उस राजा (सुदर्शन) ने अपने शत्रुओं की स्त्रियों के मुखों को तिलक से शून्य कर दिया था ॥४४॥

शिरीष के पुष्प से भी अधिक सुकुमार अंगों वाला वह राजा (सुदर्शन) आभूषण धारण करने से भी खिन्न हो जाता था, किन्तु अपने प्रताप से वह नितान्त भारी होने पर भी पृथ्वी के शासन भार को धारण किए हुए था ॥४५॥

पाटी पर लिखी गई वर्णमाला को अभी उसने भलीभाँति सीखा भी नहीं था कि उसने विद्यावृद्ध लोगों के संपर्क से समस्त दण्डशास्त्र के फलों का अनुभव प्राप्त कर लिया ॥४६॥

जिसे उसके (सुदर्शन के) वक्षस्थल पर पर्याप्त अवकाश नहीं मिल सका था—ऐसी राज्यलक्ष्मी, भविष्य में प्रौढ होते हुए उस राजा को देखकर मानो लज्जित हो गई और उसका छत्र की छाया के बहाने से आलिंगन किया ॥४७॥

अनस्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥४८॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥४९॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥५२॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥५३॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

जिसने जुए की समानता अभी प्राप्त नहीं की थी, जिसमें धनुष की प्रत्यंचा के खींचने के निशान अभी कड़े नहीं हुए थे, और जिसने तलवार की मुठिया को अभी छुआ भी नहीं था—ऐसी उसकी भुजाओं से पृथ्वी की सुरक्षा हुई॥४८॥

समय बीतने पर केवल उसके शरीर के अंग ही नहीं हृष्ट-पुष्ट हुए अपितु उसके वंश-परम्परागत, लोकरमणीय और आरम्भ में सूक्ष्म गुणों ने भी निश्चय रूप से वृद्धि प्राप्त की॥४९॥

उस राजा ने पहले जन्म में अधिगत की गई विद्याओं को स्मरण करते हुए अपने गुरुजनों को तनिक भी क्लेश न देते हुए, धर्म, अर्थ एवं काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति के साधन-स्वरूप (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नामक) तीनों विद्याओं को पिता से सम्बन्धित (अमात्य, सुहृद, और सैन्य शक्ति) तीनों प्रकृतियों के साथ ही अपने अधीन कर लिया॥५०॥

वह अस्त्र विद्या सीखते समय, अपने शरीर के ऊपरी अर्धभाग का कुछ विस्तृत करके स्थित, अपने केशपाश को ऊपर उठाकर बाँधे हुए, बाएं पैर के निचले भाग को कुछ सिकोड़े हुए तथा कान तक खींचे गए बाणयुक्त धनुष के साथ खूब सुशोभित होता था॥५१॥

तदनन्तर उस राजा सुदर्शन ने कामिनियों के नेत्रों से पीने योग्य मधु (मदिरा), कामरूपी वृक्ष के पुष्प, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त स्वाभाविक आभरण, अनुराग समूह के नव-पल्लव, एवं विलास के प्रथम स्थान नवयौवन को प्राप्त किया॥५२॥

(कन्याओं को देखने के लिए भेजी गई) दूतियों द्वारा दिखाए गए (राजकुमारियों के) चित्रों की रचना से भी अधिक सुन्दर रूप वाली राजकुमारियाँ, जो विशुद्ध सन्तान को चाहने वाले अमात्यों द्वारा लाई गई थीं उस युवक (राजा सुदर्शन) द्वारा पहले से स्वीकार की गई लक्ष्मी तथा पृथ्वी की सपत्नी बनाई गईं॥५३॥

महाकवि श्रीकालिदास रचित रघुवंश महाकाव्य में वंशानुक्रम नामक अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१८॥

# एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥१॥
तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥२॥
लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥३॥
सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥४॥
कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥५॥

# उन्नीसवाँ सर्ग

विद्वानों में प्रमुख, जितेन्द्रिय, रघुवंश कुलोत्पन्न (राजा सुदर्शन) ने वृद्धावस्था में अपने स्थान पर अग्नि के समान तेजस्वी अपने पुत्र 'अग्निवर्ण' का राज्याभिषेक करके नैमिषारण्य का आश्रय लिया ॥१॥

उस नैमिषारण्य में तीर्थ के जल से (जल-विहार की) बावलियों को, भूमि पर बिछाए गए कुशों से शैय्या को तथा पर्णशाला से राजभवनों को भूले हुए, फल की प्राप्ति में निःस्पृह राजा ने कठोर तप का संचयन किया ॥२॥

सुदर्शन के पुत्र अग्निवर्ण ने (पिता द्वारा) प्राप्त राज्य के शासन-भार को चलाने में खेद का अनुभव नहीं किया, क्योंकि अपने बाहुबल से शत्रुओं को जीतने वाले उसके पिता ने उसे भोगने के लिए ही धरती समर्पित की थी, निष्कण्टक बनाने के लिए नहीं। (तात्पर्य यह है कि उसके पिता सुदर्शन ने पहले ही शत्रुओं का सफाया कर पृथ्वी को निष्कण्टक बना दिया था, सुदर्शन को केवल उसका भोग करना था।) ॥३॥

कामुक प्रकृति वाले अग्निवर्ण ने अपने कुल के लिए उचित प्रजापालन के कर्तव्यों का कुछ वर्षों तक स्वयं पालन किया, और उसके अनन्तर उसका भार सचिवों पर डालकर उसने अपना नवयौवन स्त्रियों के अधीन कर दिया ॥४॥

स्त्रियों के साथ रहनेवाले उस विलासी राजा के मृदंग की ध्वनि से पूर्ण राजभवनों में, पहले की अपेक्षा अधिक समारोह से सम्पन्न होनेवाले उत्सवों ने पहले के उत्सवों को पीछे हटा दिया ॥५॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥६॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥७॥
तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥८॥
यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥९॥
तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥१०॥
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥११॥
सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥

विषय-सुखो के भोग से रहित एक क्षण को भी सहन करने मे असमर्थ उस राजा (अग्निवर्ण) ने रात-दिन अन्त पुर के भीतर ही विहार करते हुए अपने दर्शन के लिए उत्कण्ठित प्रजा वर्ग की तनिक भी चिन्ता नही की ॥६॥

कभी-कभी मन्त्रियो के गौरव पर ध्यान देकर यदि उसने प्रजा-वर्ग को अभिलषित दर्शन भी दिया तो वह भी झरोखे के छिद्रो से लटकाए हुए चरण द्वारा ही सम्पन्न होता था ॥७॥

अपने कोमल नखो की लालिमा से प्रभायुक्त होने के कारण प्रात काल के सूर्य की धूप को स्पर्श करने वाले कमल के समान सुशोभित उसके चरण को प्रणाम करते हुए राजकर्मचारी गण उसकी उपासना करते थे ॥८॥

वह अतीव कामुक प्रकृति वाला राजा यौवन के कारण ऊपर उभडे हुए विलासिनी रमणिया के स्तनो के आघात से चचल कमलो वाली तथा अपने ही जल के भीतर छिपे हुए विलासगृहो से युक्त बावलियो मे आलोडन (जल विहार) करता था ॥९॥

उन बावलियो मे विलासिनी रमणियाँ, जल से जिनके आँखो के काजल घुल जाते थे, और रग के धुल जाने से जिनके ओष्ठ रक्तवर्ण के हो जाते थे, अपनी स्वाभाविक छवि से सुशोभित मुखो से उसे और भी मोहित कर लेती थी ॥१०॥

नासिका को सुख देनेवाली मदिरा की सुगन्धि से आकर्षक मधुशाला (मदिरालय) के मण्डपो मे वह अपनी प्रिय रमणियो के साथ इस प्रकार जाता था जैसे कोई हाथी हथिनियो को साथ लेकर खिले हुए कमलो के वन (सरोवरो) मे जाता है ॥११॥

मद-पान की अधिकता के कारण एकान्त मे वे विलासिनी रमणियाँ अग्निवर्ण द्वारा दी गई उसके मुख मे भरी मदिरा पीना चाहती थी और बकुल वृक्ष के समान उनके मुख मे भरी मदिरा पीने का अभिलाषी राजा अग्निवर्ण भी उन रमणियो द्वारा दी गई मुख मे भरी मदिरा को पीता था ॥१२॥

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥१३॥
स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥१४॥
चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥१५॥
तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥१६॥
अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥१७॥
तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥१८॥
लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥१९॥

अंक (गोद) में बारी-बारी से लेने योग्य, हृदय को स्पर्श करनेवाली मधुर ध्वनियुक्त वीणा और मधुर कण्ठवाली रमणी—ये दोनों ही उस (राजा अग्निवर्ण) के अंक के सूनेपन को दूर करती थीं ॥१३॥

परम निपुण अग्निवर्ण, स्वयं ही मृदंग बजा कर अपनी चंचल पुष्प-मालाओं के कंकणों से उनका चित्त चुराते हुए, समीप स्थित आचार्यों के सम्मुख अभिनय में भूल करनेवाली नर्तकियों को लज्जित कर देता था ॥१४॥

नृत्य के अन्त में परिश्रम के कारण उत्पन्न पसीने से जिनके तिलक धुल जाते थे ऐसे नर्तकियों के सुन्दर मुखों को (सुखाने के लिए) बड़े प्रेम से अपने मुख की हवा देकर (अधर) पान करते हुए उस अग्निवर्ण ने इन्द्र तथा कुबेर के विलासी जीवन का भी अतिक्रमण कर दिया था ॥१५॥

एक विषय से (तृप्त होकर) हटकर नित्य नये-नये विषयों में आसक्त होनेवाले उस राजा के गुप्त एवं प्रकट रूप से सम्पन्न होने वाले समागमों को उसकी प्रेमपात्र रमणियाँ पूर्ण रूप से तृप्तिदायक नहीं होने देती थीं। (क्योंकि उन्हें सदा यह भय लगा रहता था कि कहीं तृप्त होकर राजा हमें त्याग न दे) ॥१६॥

उसकी प्रेयसियाँ (अन्यत्र जाकर विषय भोग करने से) वंचित करनेवाले अग्निवर्ण को अपने अँगुली रूपी नवपल्लवों के अग्रभाग से तर्जित करती थीं, भ्रूभंग करके तिरछी नजर से देखती थीं तथा अपनी करधनियों से अनेक बार बाँध देती थीं ॥१७॥

सुरत-क्रीडा के लिए निर्धारित दिवस पर रात्रि के समय दूतियों की जानकारी में पीछे छिप कर बैठे हुए वह अग्निवर्ण विरह की आशंका करनेवाली अपनी प्रियतमा की कातर वाणी को सुना करता था ॥१८॥

अपनी रानियों के समागम के कारण दुर्लभ नर्तकियों अथवा वेश्याओं के प्रति वह राजा (अग्निवर्ण) चंचलता (उत्सुकता) से भर जाता था। अँगुलियों में पसीना आ जाने के कारण चित्र बनाने की शलाका उसके हाथों से छूट जाती थी और वह बड़ी कठिनाई से उन (वेश्याओं) का चित्र बना पाता था ॥१९॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ।।२०।।
प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ।।२१।।
स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ।।२२।।
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ।।२३।।
'नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ।।२४।।
चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ।।२५।।
स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ।।२६।।

अपने विषय में राजा के अधिक प्रेम के कारण गर्व का अनुभव करनेवाली सपत्नियो के प्रति ईर्ष्या से भरी हुई अतएव काम-वासना से अत्यधिक प्रभावित रानियाँ अपना क्रोध त्यागकर उत्सव मनाने के बहाने उसे (अपने कक्ष में) बुला कर कृतकृत्य होती थी ।।२०।।

प्रातः होने पर अन्य स्त्रियों के सम्भोग के चिह्नों को धारण किए हुए वह राजा अपने वेश के दर्शन से दुःखित (खण्डिता) प्रणयिनी स्त्रियों को हाथ जोड़ कर प्रसन्न करते हुए प्रेम-निवेदन में अपनी (स्वाभाविक) शिथिलता से उन्हें पुनः दुःखी कर देता था ।।२१।।

स्वप्न में सपत्नी की चर्चा करनेवाले उस राजा अग्निवर्ण से उसकी रानियाँ कुछ न बोलते हुए ऊपर बिछाए गए चादरों पर आँसू गिराती हुई, क्रोध से अपने कंगन तोड़कर और उसकी ओर से करवटें बदल कर उसे बदले में तिरस्कृत करती थीं ।।२२।।

दूतियों द्वारा मार्ग बतलाए जाने पर वह राजा पुष्पों से सुसज्जित शय्या वाले भवनों में जाकर अन्तःपुर की स्त्रियों के भय से काँपती हुई दासियों के साथ भी सम्भोग सुख का अनुभव करता था ।।२३।।

भूल से दूसरी किसी प्रेयसी का नाम लेनेपर राजा अग्निवर्ण से उसकी स्त्रियाँ कहती थीं कि—मुझे तुम्हारी प्रियतमा का नाम तो ज्ञात हो गया है, किन्तु मैं उसका भाग्य भी चाहती हूँ, क्योंकि मेरा मन बड़ा लोभी है ।।२४।।

अंग राग के चूर्णों से मलीन बिखरी हुई मालाओं से अस्त-व्यस्त, टूटी फूटी करधनियों विलासी राजा की शय्या,

वह राजा अग्निवर्ण अपनी रमणियों के चरणों में स्वयं महावर लगाता था, किन्तु इसी कार्य में भली भाँति ध्यान न लगने के कारण अच्छी तरह लगा नहीं पाता था। क्योंकि उसी समय शिथिल वस्त्र वाले उन सुन्दरियों के नितम्बों पर उसकी दृष्टि चली जाती थी, जिन पर से वस्त्र नीचे सरका रहता था और जहाँ केवल करधनी की डोरी मात्र बची होती थी ।।२६।।

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥२७॥
दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥२८॥
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥२९॥
प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम्।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥३०॥
मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः।
विद्म हे शठ ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥३१॥
तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥३२॥
संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥३३॥

उसके चुम्बन लेने पर सुन्दरियाँ मुख फेर लेती थीं, और करधनी खोलते समय वह हाथ से रोक दिया जाता था—इस प्रकार सब तरह से उसकी इच्छाओं की पूर्ति में विघ्न डालकर भी रमणियों का विलास उसकी कामाग्नि को बढ़ाता जाता था ॥२७॥

दर्पणों में अपने सम्भोग के चिह्नों को देखती हुई स्त्रियों के पीछे परिहासपूर्वक खड़े होकर वह अपनी मुस्कान से मनोहर प्रतिबिम्ब से उनको लज्जा से अवनतमुखी बना देता था ॥२८॥

उसकी प्रिय रमणियाँ शैय्या से प्रातःकाल सोकर उठे हुए अग्निवर्ण के गले में अपनी कोमल भुजाओं का बन्धन डालकर और उसके चरणों के अगले भागों पर अपने तलुवों को रखकर बिदाई का चुम्बन दे देने की प्रार्थना करती थीं ॥२९॥

युवक राजा अग्निवर्ण दर्पण में प्रतिबिम्बित, इन्द्र की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले अपने राजसी वेश-विन्यास को देखकर उतना प्रसन्न नहीं होता था जितना अपने सम्भोग के शृंगार-चिह्नों को देखकर प्रसन्न होता था ॥३०॥

किसी मित्र के कार्य का बहाना बना कर अपने पास से दूसरे स्थान को प्रस्थित एवं वहाँ रुकने के लिए असमर्थ उस अग्निवर्ण को उसकी प्रिय रमणियाँ सिर के बालों को पकड़-कर रोक लेती थीं और कहती थीं कि—हे शठ ! यहाँ से तुम्हारे भागने के बहाने को हम अच्छी तरह जानती हैं ॥३१॥

निर्दय रति-विलास के परिश्रम से अलसाई हुई प्रिय रमणियाँ अपने गले की जंजीर को उतारकर अलग रख देती थीं और अपने स्थूल स्तनों से अग्निवर्ण की भुजाओं के मध्य-वर्ती भाग अर्थात् छाती का चन्दन पोंछकर उस पर इस प्रकार से सो जाती थीं मानो वे उस कण्ठसूत्र नामक आसन को कर रही हों, जिसमें स्त्रियाँ पति के ऊपर सोकर अपने स्तनों से उसे दबाती हैं ॥३२॥

किसी दूसरी प्रेयसी से मिलने के लिए रात में गुप्त रूप से जाते हुए अग्निवर्ण को, दूतियों द्वारा सूचना पाकर आगे पहुँची हुई स्त्रियाँ यह कहकर (अपने शयनगृह) में खींच ले जाती थीं कि हे—कामुक ! अन्धकार में छिपकर तुम हमें कैसे ठगोगे ॥३३॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः॥३४॥
वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥३५॥
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ॥३६॥
अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः॥३७॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम्॥३८॥
कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥३९॥
सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम्।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत्॥४०॥

चन्द्रमा की किरणों के समान अपनी प्रेमसियों के स्पर्श-सुख का आनन्द लेते हुए वह रात्रि में तो जागता रहता था और दिन में सोता था। इस प्रकार वह कुमुदा के समान हो गया था॥३४॥

दन्त-क्षत से पीड़ित अधरों वाली एवं नख-क्षतों से चिह्नित जाघों वाली संगीत की कलाकार रमणियाँ बाँसुरी एवं वीणा—दोनों से ही (घाव के कारण) पीड़ा का अनुभव कर राजा अग्निवर्ण को जब अपनी तिरछी दृष्टि से देखती थीं तो वह मुग्ध हो जाता था॥३५॥

अपनी प्रेमसियों द्वारा आंगिक, सात्त्विक एवं वाचिक नृत्यों को कराकर दिखलाते हुए वह राजा अग्निवर्ण अपने सहचरों के साथ नाट्य आदि के आचार्यों के संग स्पर्धा किया करता था॥३६॥

वर्षा ऋतु में अपने कण्ठ में कुटज और अर्जुन की माला पहने तथा कदम्ब के केसर का अंगराग लगाए हुए, उन्मत्त मयूरों से युक्त कृत्रिम पर्वतों पर वह अनेक प्रकार के विहार करता था॥३७॥

वह (वर्षा ऋतु में) प्रेम-कलह से शैय्या पर रूठ कर विमुख सोती हुई प्रेमसियों को मनाने में शीघ्रता नहीं करता था। अपितु वह चाहता था कि मेघ के गर्जन से व्याकुल होकर वे अपने आप ही उसकी ओर मुड़कर उसकी भुजाओं के बन्धन में आ जायें॥३८॥

कार्तिक महीने की रातों में चँदोवे तने हुए राज-भवनों में सुन्दरी स्त्रियों के साथ सम्भोग के श्रमजनित खेद को दूर करनेवाली तथा मेघ-रहित होने के कारण निर्मल चाँदनी का आनन्द वह खूब लूटता था॥३९॥

और हंस-रूपी मेखला से सुशोभित, गोल नितम्बों के समान रेतीले तटों को दिखाती हुई उसकी प्रेमसियों की विलास चेष्टाओं का अनुकरण करने वाली सरयू नदी को वह अपने राजभवन के झरोखे के छिद्रों से देखा करता था॥४०॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥४१॥
अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥४२॥
दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥४३॥
ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥४४॥
तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥४५॥
यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥४६॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥४७॥

पल्लव कर देने से मर्मर शब्द करते हुए, अगुरु की धूप से सुगन्धित एवं स्पष्ट दिखाई देने वाली सुवर्ण की करधनियों से युक्त अपने हेमन्त ऋतु के परिधानों से सुशोभित सुन्दर कटिवाली स्त्रियाँ अग्निवर्ण को, जो उनके वस्त्रों के बन्धनों को खोलने के लिए लोलुप हो जाता था, अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थीं ॥४१॥

वायुविहीन भीतरी हिस्सों वाले भीतर के भवनों में वायुविहीन स्थान होने से स्थिर दीपक-रूपी दृष्टि को लगाए हुए तथा सभी प्रकार की रति क्रीड़ाओं के भेदों के लिए उपयुक्त शिशिर की रातें उस अग्निवर्ण की (रति क्रीड़ा की) साक्षी बन जाती थीं ॥४२॥

दक्षिण पवन (मलयानिल) द्वारा पुष्पित की गई आम की मंजरी को देखकर प्रेमिकाओं ने अपने प्रणय-कलह को छोड़ दिया और कठिनाई से सहे जाने वाले वियोग से पीड़ित राजा अग्निवर्ण को स्वयं मनाने के लिए गईं ॥४३॥

दास-दासियों द्वारा झुलाए गए झूले में उसकी गोद में बैठ कर झूलती हुई सुन्दरियाँ भय का बहाना बना कर (झूले की) रस्सियाँ छोड़ देतीं और उनकी भुजाएँ राजा (अग्निवर्ण) के गले का हार बन जातीं ॥४४॥

उसकी प्रेयसी स्त्रियाँ गर्मी के अनुकूल वेश धारण कर अपने स्तनों में चन्दन लगा कर, मोतियों के साथ गूँथ कर बनाए गए सुन्दर आभूषणों को धारण कर तथा नितम्ब तक लटकती हुई करधनियाँ [illegible] उसकी सेवा करतीं ॥४५॥

राजा अग्निवर्ण ने जो आम की मंजरी से सुवासित तथा [illegible] [illegible] के मिलने वाली मदिरा का पान किया उसके कारण, वसन्त के बीतने से दुर्बल (शिथिलांग या अशक्त) उसके मन की कामवासना पुनः नई हो गई ॥४६॥

इस प्रकार उस राजा (अग्निवर्ण) ने काम से प्रेरित होकर तथा दूसरे कार्यों से विमुख [illegible] [illegible] का सेवन करते हुए अपने लक्षणों से ज्ञात होने वाली ऋतुओं को व्यतीत किया ॥४७॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥४८॥
दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥४९॥
तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहाणिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥
व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥५१॥
बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥५२॥
स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम्।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥५३॥
तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥५४॥

उसके प्रताप के कारण इस प्रकार व्यसनों में उसके बेसुध होते हुए भी दूसरे राजाओं ने उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया, किन्तु रति में अत्यन्त आसक्ति होने से उत्पन्न रोग ने उस राजा को उसी प्रकार क्षीण कर दिया, जिस प्रकार दक्ष के शाप ने चन्द्रमा को क्षीण कर दिया था ॥४८॥

वैद्यों की बात न सुनने वाले राजा ने देखे गए दोषों वाली भी उन वस्तुओं (स्त्री, तथा मदिरा) को नहीं त्यागा। आनन्ददायक विषयों के वशीभूत इन्द्रियों को उनकी ओर से अलग करना कठिन होता है ॥४९॥

राजयक्ष्मा रोग से होनेवाली उस राजा की दुर्बलता, जिसमें उसका मुख एकदम पीला पड गया था, वह थोडे से आभूषण धारण करने लगा था और उसकी आवाज भी मन्द पड गई थी, विरही-जनों की अवस्था से समानता करने लगी ॥५०॥

राजा अग्निवर्ण के क्षयरोग का रोगी होने पर वह रघुकुल, अन्तिम कला से अवशिष्ट चन्द्रमा से युक्त आकाश के समान, कीचड मात्र बचे हुए ग्रीष्म काल के छोटे जलाशय के समान तथा छोटी-सी लौ वाले दीपक-पात्र के समान हो गया ॥५१॥

राजा के सम्बन्ध में अनिष्ट की आशंका करनेवाली प्रजा से, उसके मन्त्री लोग राजा के रोग की बात को छिपा कर यह कहा करते थे कि सच बात तो यह है कि राजा इन दिनों पुत्रोत्पत्ति के लिए अनुष्ठान कर रहे हैं। (अतएव दुर्बल दिखाई पडते हैं।) ॥५२॥

तदनन्तर राजा अग्निवर्ण अनेक स्त्रियों से युक्त होकर भी (कुल को) पवित्र करने वाली सन्तति को न देखकर, वैद्यों के उपायों को व्यर्थ करनेवाले रोग पर उसी प्रकार काबू नहीं पा सका, जैसे वायु पर दीपक ॥५३॥

अन्त्येष्टि संस्कार की विधि के ज्ञाता पुरोहित के साथ उसके मन्त्रियों ने मिलकर, राजा अग्निवर्ण को गृह के उपवन में ही, रोग के शान्ति-कर्म का बहाना बना कर गुप्त रीति से जलती हुई चिता पर रख दिया ॥५४॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥५५॥
तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकाद्
'उष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥५६॥
तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानाम-
न्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥१९॥

इति रघुवंशम् महाकाव्यम्

मन्त्रियो ने शीघ्र ही प्रमुख नागरिक जनो को बुलाकर, अच्छी तरह मालूम पडने वाले गर्भ के शुभ लक्षणो से युक्त उसकी पटरानी को राजा के सिंहासन पर बैठा दिया ॥५५॥

इस प्रकार राजा की मृत्युरूपी विपत्ति से उत्पन्न शोक के कारण उष्ण आँसुओ से पहिले तपा हुआ उस रानी का गर्भ सुवर्ण के कलशो के मुख से गिरे हुए शीतल राज्याभिषेक की क्रिया से परितृप्त हुआ ॥५६॥

सन्तान की उत्पत्ति की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करनेवाली प्रजा की उन्नति के लिए, श्रावण मास में बोये गये मुट्ठी भर बीज को भीतर छिपाये हुई पृथ्वी के समान उस गर्भ को धारण किए सुवर्ण के सिंहासन पर बैठी और अस्खलित शासनवाली उस रानी ने अपने कुलपरम्परागत विश्वासपात्र मन्त्रियो के साथ विधिपूर्वक अपने पति के राज्य का शासनभार सँभाला ॥५७॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य मे अग्निवर्ण-शृंगार नामक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥१९॥

॥ रघुवंश महाकाव्य समाप्त ॥

॥ श्री ॥

# कुमारसंभवम् महाकाव्यम्

## प्रथमः सर्गः

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥१॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥२॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥३॥
यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥
आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥५॥

## प्रथम सर्ग

उत्तर दिशा में देवता स्वरूप हिमालय नामक पर्वतों का राजा पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में प्रविष्ट होकर पृथ्वी के मानदण्ड की तरह विद्यमान है॥१॥

सभी पर्वतों ने महाराज पृथु के उपदेश से इस हिमालय को गोवत्स बनाकर तथा दोहन क्रिया में निपुण सुमेरु को दोग्धा (दुहनेवाला) बनाकर (गो-रूप धारिणी) पृथ्वी से देदीप्यमान रत्नों तथा महौषधियों का दोहन किया था॥२॥

अनन्त रत्नों को उत्पन्न करने वाले इस हिमालय के सौंदर्य को इसका हिम नष्ट नहीं कर सका। गुणों के समूह में अकेला दोष, चन्द्रमा की किरणों में कलंक के समान छिप जाता है॥३॥

यह हिमालय अपने शिखरों से अप्सराओं के विलास का प्रसाधन बनने वाली एवं मेघ के खण्डों में अपने रंगों का संक्रमण करने वाली (सिन्दूर गैरिक आदि) धातु-सम्पदा को, असमय में प्राप्त सन्ध्या के समान धारण करता है॥४॥

इस पर्वत के मध्यभाग में विचरण करने वाले मेघों की शिखरों के मध्य में पड़ने वाली शीतल छाया का सेवन कर, अधिक वृष्टि के कारण उद्विग्न (विश्वावसु आदि) सिद्ध लोग इसके उन शिखरों पर चढ़ जाते हैं, जिन पर धूप निकली होती है॥५॥

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः॥६॥
न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥७॥
यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥८॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥९॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥१०॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥११॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव॥१२॥

इस हिमालय मे किरात लोग हिम के पिघलने के कारण रक्त के धुल जाने से हाथियो को मारने वाले सिहो के पैरो के निशानो को न देखकर भी उनके (पजो के) नाखूनो के छिद्रों से गिरी हुई मुक्ताओ से उन सिहो के जाने के मार्गों को जान लेते हैं॥६॥

इस हिमालय पर विद्याधरो की सुन्दरियाँ गजबिन्दु के समान लाल भोजवृक्ष की छालो पर (गेरू, सिन्दूर आदि) धातुओ के रस से अक्षर बनाकर अपने सन्देशमय प्रेमपत्र लिखा करती है॥७॥

यह हिमालय अपनी गुफाओ के मुख से निकली हुई वायु द्वारा बाँसो के छिद्रो को भरकर गायन करने वाले किन्नरो (देव-गायको)को माना तान देने का-सा प्रयत्न करता है। (जैसे जब कोई गायन शुरू करता है तब उसके गाने के पहिले कोई वादक गाए जाने वाले स्वरो को वाद्य मे भरकर उसे गाने के लिए उन्मुख करता है)॥८॥

इस पर्वत पर हाथियो द्वारा अपने गण्डस्थल की खुजली मिटाने के लिए रगडे गए देवदारु के वृक्षो का सौरभ, दूध निकल आने के कारण चारो ओर फैलकर शिखरो को सुगन्धित बनाए रहता है॥९॥

इस हिमालय पर्वत पर रात मे चमकने वाली औषधियो का प्रकाश गुफाओ के रूप मे बने हुए घरो के भीतर जब पडता है तब वह अपनी रमणियो के साथ विलास करते हुए वनचारी मनुष्यो के लिए तैल रहित प्रदीप का काम देता है॥१०॥

इस हिमालय पर्वत मे पत्थर की चट्टान की तरह कठोर हिम-मार्ग पर चलती हुई किन्नरों की रमणियाँ हिम की शीतलता के कारण अगुलियो और एडियो मे कष्ट उठाकर भी नितम्ब तथा पयोधर (स्तनो) के भार से अपनी स्वाभाविक मन्दगति को नही त्यागती॥११॥

यह हिमालय दिन मे भयभीत (उलूक पक्षी) की तरह गुफाओ मे छिपे हुए अन्धकार की सूर्य से रक्षा करता है। महान् लोगो मे अपनी शरण में आए हुए क्षुद्र व्यक्तियों के प्रति भी सज्जनो की भाति ही कृपाभाव होता है॥१२॥

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१७॥
स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥१८॥
कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद्भूधरराजपत्न्याः ॥१९॥

इस हिमालय पर्वत के, गिरिराज—इस नाम को चमरी गौएँ, चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत अपनी पूँछ का चँवर डुला-डुलाकर चरितार्थ (सार्थक) करती हैं ॥१३॥

इस हिमालय पर्वत पर सुरतक्रीडा के आरम्भ में अपने प्रेमियों द्वारा वस्त्र के हटा दिए जाने पर अत्यन्त लज्जित होने वाली किन्नर-सुन्दरियों के लिए, संयोगवश गुफाओं के द्वार पर आकर छा जाने वाले बादल पर्दे का काम दे देते हैं ॥१४॥

इस हिमालय पर्वत का पवन भागीरथी गंगा के झरनों के जल बिन्दुओं को धारण करता है (लेकर बहता है), बारम्बार देवदारु के वृक्षों को कँपाता है तथा मयूरों के पंखों को उल्लसित करता है, इसका आनन्द पशुओं के शिकार के लिए निकले हुए किरात लोग लेते हैं ॥१५॥

सप्तर्षियों के हाथों द्वारा चुने जाने से बचे हुए इस हिमालय के ऊपर के सरोवरों के कमलों को, नीचे घूमता हुआ सूर्य अपनी ऊपर उठने वाली किरणों से विकसित करता है ॥१६॥

यह पर्वत यज्ञ की उपयोगी सामग्रियों का उत्पत्तिकर्ता है तथा इसमें सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण करने की सामर्थ्य है—इन्हीं दो विशेषताओं को भलीभाँति देखकर ही प्रजापति ब्रह्मा ने स्वयं इसे सभी पर्वतों का आधिपत्य दिया है एवं अन्य देवताओं की भाँति इसे यज्ञभाग प्रदान किया है ॥१७॥

सुमेरु पर्वत के मित्र इस मर्यादा जानने वाले हिमालय पर्वत ने, पितरों के मानसिक संकल्प से उत्पन्न, मुनिजनों द्वारा भी सम्माननीय तथा अपने योग्य उनकी मेना नामक कन्या के साथ अपने कुल की स्थिति के लिए शास्त्रीय विधि से विवाह किया ॥१८॥

कुछ समय बीत जाने पर उन दोनों के अपने स्वरूप के योग्य सुरतक्रीडा का प्रसंग उपस्थित होने पर मनोहर यौवन से भरी हुई पर्वतराज हिमालय की पत्नी मेना ने गर्भ धारण किया ॥१९॥

अमूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम्।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्रावर्वेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ॥२०॥
अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥२१॥
सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत् ॥२२॥
प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥२३॥
तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥
दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥२५॥
तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥२६॥

उस (मेना) ने नाग-कन्या से विवाह करने वाले, समुद्र से मैत्री रखनेवाले, एवं पर्वतों के पंख काटने वाले देवराज इन्द्र के क्रुद्ध होने पर भी उनके वज्र प्रहार की वेदना से अनभिज्ञ रहने वाले मैनाक नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥२०॥

दक्ष की कन्या एवं महादेव जी की पूर्व पत्नी पतिव्रता सती देवी ने अपने पिता द्वारा अपमानित होकर योगबल से शरीर को त्याग कर पुनः जन्म धारण करने के लिए इस पर्वतराज की पत्नी मेना को प्राप्त किया अर्थात् उसके गर्भ में आकर प्रवेश किया ॥२१॥

पर्वतों के राजा हिमालय द्वारा नियम से रहनेवाली अपनी पत्नी मेना में वह दक्ष की कन्या, इस प्रकार उत्पन्न हुई जैसे उत्तम आचरण से भ्रष्ट न होने वाली नीति में उत्साह शक्ति के द्वारा सम्पदा उत्पन्न होती है ॥२२॥

उसका जन्मदिन निर्मल दिशाओं से युक्त था, धूलिरहित वायु से सुशोभित था। शंख ध्वनि के अनन्तर आकाश से उस दिन पुष्पवृष्टि हुई और इस प्रकार सभी चराचर प्राणियों के मन आनन्द से भर उठे ॥२३॥

जिस प्रकार विदूर पर्वत की भूमि नूतन बादलों के शब्द से (भूमि को फोड़कर) प्रकट होने वाले रत्नों की कान्ति से सुशोभित होती है, उसी प्रकार चमकती हुई प्रभा के मण्डल से युक्त उस कन्या के द्वारा उसकी माता मेना की अत्यधिक शोभा हुई ॥२४॥

जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कला दिन-दिन बढ़ती है उसी प्रकार पार्वती भी बढ़ने लगी और इस प्रकार बढ़ते हुए चन्द्रमा की ज्योत्स्नामयी कलाओं के समान उसके लावण्य भरे अंग भी दिन-दिन बढ़ने लगे ॥२५॥

पर्वत से पैदा होने के कारण उससे स्नेह रखने वाले पिता आदि के परिवार के लोगों ने उसका "पार्वती" यह नाम रखा और बाद में चलकर माता द्वारा उमा (ऐसा मत करो) कहकर तप का निषेध करने से उस सुमुखी का नाम उमा पड़ गया ॥२६॥

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥२७॥
प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥२८॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥२९॥
तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः॥३०॥
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥३१॥
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥३२॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥३३॥

पुत्रवान् होने हुए भी हिमालय की दृष्टि इस पार्वती में ही विशेष रूप से तृप्ति नहीं प्राप्त करती थी। विविध प्रकार के पुष्पों के होते हुए भी वसन्त ऋतु की भ्रमरपक्तियाँ आम्रमजरी में ही विशेष रुचि रखती हैं॥२७॥

अतीव प्रकाशयुक्त शिखा से दीपक, मन्दाकिनी से स्वर्गमार्ग और व्याकरणादि से विशुद्ध वाणी से मनीषी की भाँति उस पुत्री पार्वती से हिमालय पर्वत भी अतीव सुशोभित एव पवित्र हुआ॥२८॥

यह पार्वती अपने बाल्यकाल मे क्रीडानिमग्न होकर गगाजी के (रेतीले) तट पर बालुका के घरौंदों से, कभी गेंदों से और कभी गुडियों से अपनी सखियों के साथ निरन्तर खेलती रहती थी॥२९॥

जिस प्रकार शरत् ऋतु मे हंसों की पक्तियाँ स्वयमेव गगाजी मे आ जाती हैं, रात्रि के समय चमक महौषधियों में आ जाती है, उसी प्रकार शिक्षा काल मे पूर्व जन्म की सारी विद्याएं उस मेधाविनी बालिका पार्वती को भी प्राप्त हो गई॥३०॥

तदनन्तर बाल्यकाल बीत जाने पर पार्वती ने उस नवयौवन को प्राप्त किया, जो उसकी शरीरयष्टि के लिए अनायास प्राप्त आभूषण था, आसव न होने पर भी (मदिरा के समान) मादक था एव पुष्पों से न बना होने पर भी कामदेव का बाण था॥३१॥

उस नव यौवन के कारण सुन्दर स्तन, जघनादि अवयवों से सुशोभित पार्वती का शरीर तूलिका से रग भरे हुए चित्र के समान तथा सूर्य की किरणों से विकसित कमल के समान निखर उठा॥३२॥

जब वह भूमि पर चरण रखती थी तो अपने सुकुमार चरणों के ऊपर उठे हुए एव स्वाभाविक रूप में लाल रग के अगूठे के नख की किरणों से चारों ओर पहले के लगाए रग को छिडकती-सी चलती थी। और इस प्रकार उसका चरण स्थल में खिले हुए कमल की गमनशील शोभा को धारण करता था॥३३॥

सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥३४॥
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥३५॥
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥३६॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥
तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवरोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥३८॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३९॥
अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥४०॥

स्तनभार के कारण अवनत पार्वती की गति ऐसी मनोहर मालूम पड़ती थी मानों उसके चरणों के नूपुरों का मधुर शब्द सीखने के इच्छुक राजहंसों ने बदले में पहले ही उसे अपनी विलासयुक्त गति सिखला दी हो ॥३४॥

गोपुच्छ के समान चढ़ाव-उतार वाली, न बहुत बड़ी और न बहुत छोटी पार्वती की सुन्दर जंघाओं का निर्माण करते समय विधाता ने सम्पूर्ण सौंदर्य की सामग्री को समाप्त कर दिया, जिससे शरीर के अन्य अंगों के निर्माण करने के लिए फिर से सामग्री जुटाने में उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ा ॥३५॥

पार्वती की उन सुन्दर जांघों की तुलना, लोक में विशालता को प्राप्त करके भी, गजराजों के शुण्डादण्ड स्पर्श में खुरदरे होने के कारण तथा कदलीस्तम्भ अत्यन्त शीतल होने के कारण, प्राप्त नहीं कर सके ॥३६॥

उस अनुपम सुन्दरी पार्वती के करधनी के स्थान अर्थात् नितम्बों की शोभा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि बाद में विवाह हो जाने के अनन्तर शंकर जी ने, अन्य सुन्दरियों के लिए कामना से भी दुर्लभ अपनी गोद में उसे स्थान दिया ॥३७॥

पार्वती के नीवी के ऊपर गहरी नाभि तक पहुँची हुई, नवयौवन के कारण उगे हुए नये रोमों की जो पतली रेखा बन गई थी वह ऐसी दीख पड़ती थी मानो नीवी के ऊपर बंधी हुई उसकी करधनी के बीच की नीलमणि चमक रही हो ॥३८॥

कटि भाग में कृश उस पार्वती के उदर भाग पर जो त्रिवली (तीन सिकुड़न की रेखाएँ) विराज रही थीं उन्हें देखकर ऐसा मालूम पड़ता था मानो कामदेव का ऊपर (स्तन आदि अंगों तक) चढ़ा ले जाने के लिए उसके नवयौवन ने सीढ़ियाँ बना दी हों ॥३९॥

उस कमलनयनी पार्वती के परस्पर में सटे हुए साँवले अग्रभाग वाले गौरवर्ण के मनोहर दोनों स्तन इस तरह बढ़े हुए थे कि उनके बीच में एक कमलनाल रखने भर का भी स्थान शेष नहीं था ॥४०॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥४१॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥४२॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥४३॥
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥४४॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥४५॥
प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥४६॥
तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥४७॥

उसकी कोमल भुजाएँ शिरीष पुष्प से भी अधिक सुकुमार थीं—ऐसा मेरा (कवि का) अनुमान है, क्योंकि इसीलिए पराजित होने पर भी कामदेव ने पार्वती के इन्हीं दोनों सुकुमार भुजाओं से महादेव जी के गले का कण्ठपाश बना दिया था ॥४१॥

पार्वती जी का स्थूल स्तनों (की समीपता) से उन्नत कण्ठ, और उसमें से उनके ऊँचे स्तनों पर लटका हुआ गोल मोतियों का हार—ये दोनों एक दूसरे की शोभा बढ़ा रहे थे। अर्थात् पार्वती जी के कण्ठ की शोभा उनका यह हार बढ़ा रहा था और उनके हार की शोभा उनका कण्ठ बढ़ा रहा था ॥४२॥

चपला लक्ष्मी (रात्रि में पूर्ण) चन्द्रमा को प्राप्त कर कमल के सुगन्धि आदि गुणों को नहीं पाती और (दिन में) कमल को प्राप्त कर चन्द्रमा के आह्लादकारी गुणों को नहीं पाती, किन्तु पार्वती के मुख में आने पर उसे चन्द्रमा और कमल—दोनों का सुख एक साथ प्राप्त हुआ ॥४३॥

यदि नव-पल्लवों में श्वेत सुमन रख दिया जाय अथवा लालवर्ण के मूँगे पर उज्ज्वल मोती रख दिया जाय तो दोनों में से एक पार्वती के अरुण अधरों पर कान्ति बरसाने वाले उनके धवल मन्द स्मित (हास्य) की तुलना कर सकते हैं ॥४४॥

मधुरभाषिणी पार्वती के अमृत बरसाने वाले मधुर स्वर के सामने अपने मधुरालाप के लिए सुप्रसिद्ध कोयल का मधुरस्वर भी, अनजान व्यक्ति से बजाई जाने वाली वीणा के समान, सुनने वालों के कानों को कठोर मालूम पड़ता था ॥४५॥

वायु से विकम्पित नील कमलों के समान बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रों वाली पार्वती के चञ्चल-चकित अवलोकन को देखकर यह सन्देह होता था कि उन्होंने इसे हरिणियों से सीखा था अथवा हरिणियों ने पार्वती से सीखा था ॥४६॥

अञ्जन लगाने की सलाई से खींची हुई रेखाओं की भाँति लम्बी एवं विलास सुभग पार्वती के दोनों भौंहों की जो शोभा थी उसे देखकर कामदेव ने अपने धनुष की सुन्दरता का घमण्ड त्याग दिया ॥४७॥

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥४८॥
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥४९॥
तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥५०॥
गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥५१॥
अयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥५२॥
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥५३॥
स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्क्वणत्किन्नरमध्युवास ॥५४॥

यदि पशु पक्षियो मे भी लज्जा की अनुभूति होती तो निश्चय ही पर्वतराज पुत्री पार्वती के केशपाश को देखकर चँवरी गांएँ अपने केश सम्बन्धी सौंदर्य के प्रेम को त्याग देती ॥४८॥

सम्पूर्ण जगत् के रचयिता ब्रह्मा ने मानो एक ही स्थान पर विश्व के सम्पूर्ण सौंदर्य को देखने की इच्छा से सम्पूर्ण सुन्दर पदार्थो को एकत्र कर और उनका यथाविधि सन्निवेश करके बडे प्रयास से पार्वती की रचना की थी ॥४९॥

एक बार अपनी इच्छा से सर्वत्र विचरण करने वाले नारद मुनि ने पिता हिमालय के समीप कन्या पार्वती को देखकर यह भविष्यवाणी की कि यह कन्या शकर जी के आधे शरीर का हरण करने वाली उनकी एकमात्र पत्नी होगी ॥५०॥

(नारद जी के ऐसा कहने पर) हिमालय ने युवती होने पर भी पार्वती के (विवाह के) लिए किसी दूसरे वर की तलाश नही की। मत्रों द्वारा पवित्र की हुई आहुति को अग्नि के सिवाय दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है ॥५१॥

पर्वतराज हिमालय को, जब तक महादेव जी स्वय ही न माँगने आवें तब तक (उन्हे बुलाकर) अपनी कन्या को देने का उत्साह नही हुआ। स्वाभिमानी व्यक्ति प्रार्थना के अस्वीकार किए जाने के भय से अभीष्ट प्रसगो मे भी उदासीन होकर चुप बैठे रहते है ॥५२॥

सुन्दर दातों वाली पार्वती ने अपने पूर्वजन्म मे दक्ष के ऊपर क्रोध करके जब से अपना शरीर त्याग दिया था तभी से पशुपति शकर जी, विषय भोगो मे आसक्ति छोडकर बिना पत्नी के रह रहे थे ॥५३॥

चर्माम्बरधारी, नियत चित्तवृत्ति वाले शकर जी तपस्या के लिए कस्तूरी की सुगन्ध से आमोदित एक शिखर पर चले गए, जहां गगा की जलधारा देवदारु के वृक्षो को सीचती हुई बहती थी और किन्नरगण मधुर गीत गाया करते थे ॥५४॥

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥५५॥
तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथंचिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥५६॥
तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥५७॥
अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥५८॥
प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥५९॥
अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

वहाँ शिवजी के गण नमेरु के पुष्पों की मालाएँ अपने कंठों में धारण किए, कोमल स्पर्श वाली भोज वृक्ष की छालों को पहने हुए, मन शिला से अपने शरीरों को रँगकर शिलाजीत की शिलाओं पर बैठे हुए थे ॥५५॥

सिंहों के नाद को न सहन कर अपनी खुरों से बरफ की चट्टानों को तोड़ता हुआ, कैलास के शिखर के समान पुष्ट शरीर वाला शंकर का वाहन अतिगर्वीले स्वभाव का नन्दी नामक वृषभ भी भयभीत गवयों (नीलगायों) से देखा जाता हुआ, वहीं पर प्रलयकाल के मेघ के समान मौजूद था ॥५६॥

हिमालय के उस सुरम्य शिखर पर स्वयं प्रसिद्ध स्वर्गादि फलों को दूसरों के लिए देने वाले महादेव जी अपनी ही एकमूर्ति अग्नि को समिधाओं से प्रदीप्त कर न जाने किस कामना से तपोलीन थे ॥५७॥

स्वर्ग के निवासी देवताओं में भी पूज्य महादेव जी की अर्घ्य द्वारा यथायोग्य पूजा करके पर्वतराज हिमालय ने अपनी जितेन्द्रिय कन्या पार्वती को अपनी सखियों समेत उनकी आराधना करने का आदेश दिया ॥५८॥

शिवजी ने अपनी समाधि के लिए विघ्न स्वरूप समझ कर भी पार्वती को अपनी सेवा करने की अनुमति दे दी। विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता वे ही वस्तुतः धीर पुरुष हैं ॥५९॥

सुन्दर केशवाली सुकुमारी पार्वती (शिवजी के) पूजन के लिए फूल चुनती थी, वेदी को अच्छी तरह साफ रखकर नित्यकर्म के लिए जल तथा कुश लाती थी। इस प्रकार वह प्रतिदिन महादेव की सेवा में रत रहने लगी। (शिवजी के) मस्तक पर अवस्थित चन्द्रमा की किरणों से उनके परिश्रम की थकावट दूर हो जाती थी ॥६०॥

महाकवि श्री कालिदास कृत कुमारसंभव महाकाव्य में उमा-जन्म नामक
प्रथम सर्ग समाप्त ॥१॥

# द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः॥१॥
तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्।
सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव॥२॥
अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥३॥
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥४॥
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे॥५॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः॥६॥

# द्वितीय सर्ग

(जिस समय पार्वती जी शिव जी की सेवा मे रत थी) उसी समय तारकासुर से परेशान किए गए देवतागण इन्द्र को अपना अग्रणी बनाकर ब्रह्मा के लोक मे गए॥१॥

जिनके मुख की कान्ति क्षीण हो गई थी—ऐसे उन देवताओ के सम्मुख भगवान ब्रह्मा उसी प्रकार प्रकट हुए जैसे सोए हुए कमल पुष्पो से भरे सरोवरो के ऊपर प्रात काल के समय सूर्य उदित होता है॥२॥

आविर्भाव के अनन्तर सम्पूर्ण सृष्टि को बनाने वाले वाणी के अधिपति चतुर्मुख ब्रह्मा को (सम्मुख देखकर) देवताओ ने उन्हे विनयपूर्वक प्रणाम किया और अर्थगर्भित वाणी से वे उनकी स्तुति करने लगे॥३॥

हे त्रिमूर्ति! आपको हमारा नमस्कार है। आप सृष्टि से पहले केवल आत्मस्वरूप रहते हैं किन्तु सृष्टि रचना के अनन्तर तीनो गुणो (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) का विभाग करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शकर के रूप मे पृथक्-पृथक् प्रकट होते हैं॥४॥

हे अजन्मा! आपने ही जल मे वह अमोघ बीज बोया था, जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति हुई और इसीलिए आप इस ससार के जनक कहे जाते हैं॥५॥

आपही अकेले ब्रह्मा, विष्णु और शकर के तीन रूप धारण करके सृष्टि की उत्पत्ति, पालन (स्थिति) एव सहार के निमित्त बनते हैं। इससे आपकी महिमा प्रकट होती है॥६॥

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥७॥
स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ॥८॥
जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥९॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥१०॥
द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तोव्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥११॥
उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥१२॥
त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥१३॥

सृष्टि उत्पन्न करने के लिए आप अपने को स्त्री और पुरुष—इन दोनों भागों में विभक्त कर लेते हैं। उन्हीं से यह सृष्टि उत्पन्न हुई और वे ही इस सम्पूर्ण संसार के माता पिता कहे जाते हैं॥७॥

आपने समय की जो माप बना रखी है उसके अनुसार जो दिन और रात का विभाग हुआ है, उसमें जब आप शयन करते हैं तब संसार का सारा प्रलय होता है और जब आपका जागरण होता है तब संसार की सृष्टि होती है॥८॥

आप संसार के जन्मदाता हैं किन्तु आपका जन्मदाता कोई नहीं है। आप संसार के संहारकर्ता हैं किन्तु आपका संहारकर्ता कोई नहीं है। आपने संसार का प्रारम्भ किया किन्तु आपका प्रारम्भ कभी नहीं हुआ। आप संसार के स्वामी हैं किन्तु आपका स्वामी कोई नहीं है॥९॥

आप स्वयं अपने द्वारा अपना ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने द्वारा स्वयं अपना सृजन भी करते हैं। अपना कार्य पूर्ण कर चुकने के बाद आप स्वयं अपने आप में ही विलीन हो जाते हैं॥१०॥

आप तरल भी हैं, कठोर भी हैं। आप सूक्ष्म भी हैं, स्थूल भी हैं। आप लघु भी हैं और गुरु भी हैं। आप व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी हैं। आपकी ये जितनी भी विभूतियाँ हैं वे सब आपकी इच्छा के अनुसार हैं अर्थात् आप जैसा चाहें वैसा बन सकते हैं॥११॥

आप से ही उन वेदवाणियों का जन्म हुआ है, जिनका प्रारम्भ ओंकार से होता है, और जिनका उच्चारण (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) तीन स्वरों से होता है और जिनका कर्म यज्ञ है (अर्थात् जिनके मंत्रों से यज्ञ होता है) और जिनका फल स्वर्ग है (अर्थात् जिनके द्वारा लोग स्वर्ग का फल प्राप्त करते हैं)॥१२॥

आपको ही विद्वान लोग वह प्रकृति बतलाते हैं जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। आप ही उस प्रकृति का दर्शन करनेवाले तथा उस प्रकृति के प्रति उदासीन पुरुष भी आपही कहे जाते हैं॥१३॥

त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥१४॥
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥१५॥
इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः।
प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥१६॥
पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥१७॥
स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः।
युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥१८॥
किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥१९॥
प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
वृत्रस्य हन्तु. कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते ॥२०॥

आप पितरो के भी पिता, और देवताओ के भी देवता हैं। श्रेष्ठो से भी श्रेष्ठ और सृष्टिकर्ता प्रजापतियो के भी सृष्टिकर्ता हैं ॥१४॥

आपही सर्वदा हवन की सामग्री भी हैं और आप ही हवन करने वाले भी हैं। आपही भोग की वस्तुएँ भी हैं और आपही उनके उपभोक्ता भी हैं। आपही जानने योग्य हैं, और आपही जानने वाले भी हैं। आपही ध्यान रखने वाले हैं और आपही वह सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनका सर्वथा ध्यान करना चाहिए ॥१५॥

इस प्रकार उन देवताओ से सच्ची एव प्रिय लगने वाली अपनी स्तुति सुनकर ब्रह्मा सुप्रसन्न हो गए और देवताओ की ओर अभिमुख होकर उनसे बोले ॥१६॥

उस अवसर पर सबसे पुराने कवि ब्रह्मा के चारो मुखो से निकलती हुई वाणी ने अपना चार (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के भेद से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक) रूपों वाला होना चरितार्थ किया ॥१७॥

(ब्रह्मा बोले)—हे महान् पराक्रमी! दीर्घबाहु देवताओ! अपनी-अपनी सामर्थ्य से अपने-अपने अधिकार पूर्ण पदो को धारण किए हुए और यहाँ एक साथ आए हुए आप लोगो का स्वागत है ॥१८॥

किन्तु यह क्या बात है कि आप लोगो का तेज पहले जैसा नही दिखाई पड रहा है। आप लोगो के मुख तुषार से धुधले पडे हुए ज्योति-पिण्डो के समान क्यो प्रतीत हो रहे हैं ॥१९॥

किरणो अर्थात् प्रभामण्डल के नष्ट हो जाने के कारण पूर्ववत् जो चमक युक्त नही रहा है—ऐसा यह वृत्र को मारने वाले इन्द्र का वज्र भी कुण्ठित-सा हो गया दिखाई पड रहा है ॥२०॥

किंचायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः।
मात्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः॥२१॥
कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्।
अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः॥२२॥
यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा।
कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्॥२३॥
अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः।
चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम्॥२४॥
पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते।
अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव॥२५॥
आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः ।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः॥२६॥
लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥२७॥

और यह वरुणदेव के हाथ में शत्रुओं के लिए दुर्निवार जो उनका पाश है, वह इतनी दीनता से युक्त दिखाई पड़ रहा है मानो मन्त्र बल से हतवीर्य सर्प हो॥२१॥

और कुबेर का यह गदा-विहीन हाथ तो ऐसा दिखाई पड़ रहा है, मानो कोई टूटी हुई शाखा वाला वृक्ष हो। यह उस पराजय को प्रकट कर रहा है, जिसका काँटा अभी तक कुबेर के मन में गड़ा हुआ है॥२२॥

यमराज भी अपने दण्ड से भूमि कुरेद रहे हैं, इस समय दण्ड की सब चमक भी समाप्त हो चुकी है और अमोघ होते हुए भी यह इस समय बुझी हुई उल्का के समान बेकाम-सा हो गया है॥२३॥

और अपने तेज के विनष्ट हो जाने से शीतल पड़े हुए ये बारहों आदित्य भी चित्र लिखित के समान इस प्रकार दिखाई पड़ रहे हैं कि कोई भी जितना चाहे उतनी देर तक इन्हें आँखों से देखता रहे॥२४॥

अत्यधिक व्याकुल होने के कारण इन मरुतों का वेग भी टूटा-सा प्रतीत हो रहा है, जिससे वे उल्टी दिशा में इस प्रकार से बह रहे हैं जैसे सम्मुख कोई बड़ी बाधा आ जाने से जल की धारा उल्टी दिशा में बहने लगती है॥२५॥

पराजय के अपमान से अवनत जटा-जूटों में लटकती हुई चन्द्रकलाओं से युक्त इन एकादश रुद्रों के मस्तक भी अपनी हुंकार की शक्ति का नाश हो जाने की सूचना दे रहे हैं॥२६॥

जिस प्रकार व्याकरण आदि शास्त्रों में किसी सामान्य नियम को बलवान अपवाद हटा देता है और उसे व्यर्थ बना देता है उसी प्रकार क्या आप लोग भी किसी बलवान शत्रु द्वारा पराजित होकर अपनी-अपनी प्रतिष्ठा को नष्ट कर चुके हैं॥२७॥

तद्ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः।
मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥२८॥

ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना।
गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥२९॥

स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम्।
वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥३०॥

एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम्।
प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ॥३१॥

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥

पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥३३॥

सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥३४॥

इसलिए हे पुत्रो! तुम सब यह बतलाओ कि सब लोग सम्मिलित होकर मुझसे क्या अनुरोध करने आए हो? मैं तो केवल संसार की सृष्टि किया करता हूँ, उसकी रक्षा करना तो आप सबका ही कर्त्तव्य है ॥२८॥

तब इन्द्र ने अपने सहस्रनेत्रों से देवगुरु बृहस्पति को बोलने के लिए प्रेरित किया। उस समय उनके हिलते हुए सहस्रनेत्र ऐसे मालूम पड़ रहे थे, मानो मन्द पवन से कमलों का वन हिल उठा हो ॥२९॥

महेन्द्र के सहस्र नेत्रों की अपेक्षा अधिक देखने में समर्थ दो नेत्रों (चर्म दृष्टि तथा अर्थ दृष्टि) वाले बृहस्पति ने हाथ जोड़कर पद्मासन ब्रह्मा जी से यह कहा—॥३०॥

भगवन्! आपने जो यह कहा है कि हम लोगों का पद किसी ने बलपूर्वक छीन लिया है, वह सत्य ही है। आप सर्वान्तर्यामी एवं विश्व व्यापक हैं अतः आप से कोई बात किस प्रकार छिपी रह सकती है ॥३१॥

तारक नामक महान् शक्तिशाली असुर आप ही से वरदान प्राप्तकर अत्यन्त उद्दण्ड हो गया है और वह इस समय तीनों लोकों को कष्ट देने के लिए धूमकेतु के समान उठ खड़ा हुआ है ॥३२॥

उसके नगर में (भय के कारण) सूर्य केवल उतनी ही अपनी किरणें फैलाता है, जिससे उसके नगर की बावलियों में लगे हुए कमल विकसित हो जायँ ॥३३॥

चन्द्रमा सदैव (कृष्ण पक्ष में भी) अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ उसी की सेवा में लगा रहता है, केवल महादेव जी के मस्तक पर चूड़ामणि बनी एक कला को उसने अभी नहीं लिया है ॥३४॥

व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात् ।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम् ॥३५॥

पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः ।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥३६॥

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥३७॥

ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि ।
स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजंगाः पर्युपासते ॥३८॥

तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः ।
अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥३९॥

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥४०॥

तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः ।
अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥४१॥

कहीं पुष्प चुराने का अपराध न लग जाय—इस भय से वायु उस तारकासुर के उद्यानों में तो चलता ही नहीं, स्वयं उसके निकट भी वह कभी ताड़ के पंखे की वायु से अधिक तीव्र नहीं चलता ॥३५॥

वसन्तादि छहों ऋतुओं ने अपना आगे-पीछे का क्रम त्याग दिया है और अब तो वे सब एक साथ मिलकर साधारण मालियों के समान सदैव उसके लिए पुष्पों की ढेरी एकत्र करने में तत्पर रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥३६॥

सरिताओं का स्वामी समुद्र भी उसके समीप भेंट करने योग्य रत्नों को भेजने के लिए तब तक जल के भीतर बड़े कष्ट से प्रतीक्षा करता रहता है जब तक कि वे रत्न ठीक तरह से तैयार नहीं हो जाते ॥३७॥

वासुकि आदि नागगण अपने-अपने फणों पर देदीप्यमान मणियों को उठाए हुए रात्रि के समय उस (तारकासुर) के नगर में दीप-स्तम्भों की भाँति खड़े रहकर उसकी सेवा में लगे रहते हैं ॥३८॥

उस तारकासुर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए इन्द्र भी बारम्बार कल्पवृक्ष द्वारा प्राप्त आभूषण अपने दूतों द्वारा उसके समीप भेजकर उसे अनुकूल बनाए रखने की चेष्टा करते रहते हैं ॥३९॥

किन्तु सूर्य-चन्द्रादि देवताओं द्वारा इस प्रकार से प्रसन्न करने का प्रयत्न करने पर भी वह तीनों लोकों को सता ही रहा है। दुर्जन अपकार के बदले में अपकार करने से ही शान्त होता है, उपकार करने से नहीं ॥४०॥

नन्दनकानन के जिन वृक्षों पर से देवांगनाएँ भी बड़ी दया के साथ नव-पल्लवादि तोड़ा करती थीं, उन्हें वह अब जड़ से कटवा रहा है ॥४१॥

वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः।
चामरैः सुरबन्दीनां वाष्पसीकरवर्षिभिः ॥४२॥

उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः।
आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु ॥४३॥

मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमदाविलम्।
हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम सांप्रतम् ॥४४॥

भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते।
खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ॥४५॥

यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः।
जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ॥४६॥

उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च।
देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः ॥४७॥

तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सांनिपातिके ॥४८॥

(जबर्दस्ती से हरण की गई) देवांगनाएँ उस सोते हुए तारकासुर पर आँसू बहाती हुई चँवर डुलाती है। इन चँवरों के हिलने से उत्पन्न वायु उनकी आहों के समान होती हैं ॥४२॥

उस तारकासुर ने (प्रतिदिन गमन करनेवाले) सूर्य के घोड़ों की टाप के आघात से शिथिल सुमेरु पर्वत के सुवर्णमय शिखरों को उखाड़कर अपने महलों मे रख लिया है और उनसे खिलौनो के पहाड बना लिए हैं ॥४३॥

उसने मन्दाकिनी के सुवर्ण-कमलों के वन को उखाडकर उसे अपनी बावलियों मे लगा दिया है, जिससे मन्दाकिनी मे अब केवल दिग्गजो के मद से मलिन जल ही शेष रह गया है ॥४४॥

स्वर्ग के निवासी देवता अब ससार के दर्शन का आनन्द भी नही अनुभव कर पा रहे है क्योंकि अकस्मात् उस तारकासुर के आ जाने के भय से आकाश मे देव-विमानो के विचरण का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया है ॥४५॥

यजमानों द्वारा बडे-बडे यज्ञ मे दी गई हवि को वह मायावी तारकासुर हम देवताओं के सामने ही अग्नि के मुख से छीन लेता है ॥४६॥

इस तरह तारकासुर ने देवराज इन्द्र के चिरकाल मे उपार्जित मूर्तिमान यश के समान अश्वश्रेष्ठ उच्चैःश्रवा को भी बलपूर्वक छीन लिया है ॥४७॥

उस हत्यारे तारकासुर के विरुद्ध हम लोगो ने जो-जो भी उपाय किये वे सभी भयकर सन्निपात का रोग होने पर प्रभावशाली औषधियों के समान व्यर्थ सिद्ध हुए ॥४८॥

जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा ।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥४९॥

तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु ।
अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥५०॥

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥५१॥

गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् ।
प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम् ॥५२॥

वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः ।
गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ॥५३॥

संपत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् ।
न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥५४॥

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥५५॥

हम लोगों की विजय की पूर्ण आशा जिस पर निर्भर थी, वह भगवान विष्णु का सुदर्शन चक्र भी जब जाकर उसके कण्ठ में लगा तो उससे चिनगारियाँ निकलने लगीं और उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उस असुर ने कोई नवीन आभूषण पहन लिया हो ॥४९॥

जिन्होंने ऐरावत गजराज को भी पराजित कर दिया है—ऐसे उसके गजराज अब पुष्करावर्त आदि प्रलयकाल के मेघों में टक्कर मार मारकर वप्रक्रीडा (किनारा तोड़ने) का अभ्यास किया करते हैं ॥५०॥

हे प्रभो! इसलिए हम लोग अब इस तारकासुर के विनाश के लिए एक सेनापति की रचना करना चाहते हैं जैसे मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति जन्म-मृत्यु के कष्टों को सदा को शान्त करने के लिए कर्म का बन्धन काटने वाले धर्म को उत्पन्न करना चाहते हैं ॥५१॥

देवताओं की सेना के रक्षक उसी सेनापति को आगे करके देवराज इन्द्र उन शत्रुओं के यहाँ से विजयश्री को वापस ला सकेंगे, जो इस समय उनके यहाँ बन्दिनी है ॥५२॥

देवताओं के गुरु बृहस्पति के इतना कह चुकने पर ब्रह्मा बोले। उनकी वाणी मेघगर्जन के अनन्तर होने वाली वृष्टि की अपेक्षा अधिक मधुर थी ॥५३॥

आप लोगों का यह मनोरथ पूर्ण होगा (किन्तु) कुछ समय तक प्रतीक्षा कीजिए। क्योंकि उस तारकासुर को मारने के लिए मैं कोई नई सृष्टि नहीं करूँगा ॥५४॥

चूँकि इस दैत्य को मेरे द्वारा ही ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई है इसलिए उसका विनाश भी मेरे हाथों से हो—यह उचित नहीं है, क्योंकि अपने हाथ से बोए हुए विषवृक्ष को भी काटना ठीक नहीं मालूम पड़ता ॥५५॥

वृत्तं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम्।
वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥५६॥

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥

स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्।
परिच्छिन्नप्रभावार्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥५९॥

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥६१॥

इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे।
मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥६२॥

उस समय उस असुर ने यही देवताओं से अवध्य होने का ही वरदान मुझसे मांगा था और उसे मैंने वे दिया था। क्योंकि उसने तप की आग तीनों लोकों को जला डालने में समर्थ थी, अतः मैंने यह वरदान देकर शान्त किया था ॥५६॥

युद्ध मे कुशल उस तारकासुर का समर मे सामना केवल नीललोहित महादेव जी के वीर्य से (किसी स्त्री मे उत्पन्न) पुत्र ही कर सकता है, कोई दूसरा नही कर सकता ॥५७॥

वह परम ज्योति स्वरूप महादेव जी तमोगुण के अन्धकार से अर्थात् अविद्या से बहुत दूर है। उनकी महिमा की थाह न तो मैं लगा सकता हूँ और न विष्णु ही लगा सकते है ॥५८॥

अतएव आप लोग कोई ऐसा उपाय करे कि जैसे चुम्बक से लोहा खिच आता है उसी प्रकार समाधिलीन शकर जी का मन भी पार्वती जी के सौंदर्य के द्वारा उनकी ओर आकृष्ट हो जाय ॥५९॥

क्योंकि हमारे और शिवजी के वीर्य को कोई दो ही धारण कर सकती हैं। शिव के वीर्य को उमा और मेरे वीर्य को जल, क्योंकि जल मे शिव का विशेष अंश व्याप्त रहता है ॥६०॥

उन्ही नीलकण्ठ शिवजी का पुत्र तुम लोगों का सेनापति बनकर अपने पराक्रम से बन्दिनी सुरबालाओं की वेणियों का मोचन कर सकेगा ॥६१॥

देवताओं से इतनी बात कह कर विश्व के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अन्तर्धान हो गए। अब आगे क्या करना चाहिए—यह सोचते हुए देवता लोग भी स्वर्ग की ओर (वापस) लौट गए ॥६२॥

तत्र निश्चित्य कंदर्पमगमत्पाकशासनः।
मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥६३॥

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥६४॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

स्वर्ग में पहुँचकर इन्द्र ने भलीभाँति सोच-विचार कर अपने काम की सफलता के लिए अधीर होकर कामदेव का मन में स्मरण किया ॥६३॥

और देवराज इन्द्र के स्मरण करते ही रति के कंगन की छाप पड़े हुए अपने कण्ठ में, सुन्दरी रमणी की भौंहों के समान सुन्दर धनुष कन्धे पर लटका कर और अपने सखा वसन्त के हाथों में आम के बौर का बाण देकर कामदेव हाथ जोड़कर देवराज इन्द्र के सामने आकर खड़ा हो गया ॥६४॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत कुमारसम्भव महाकाव्य में ब्रह्मसाक्षात्कार नामक
द्वितीय सर्ग समाप्त ॥२॥

## तृतीयः सर्गः

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमक्ष्णां युगपत्पपात।
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥१॥
स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निषीदेति विसृष्टभूमिः।
भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥२॥
आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसा लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥३॥
केनाभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥४॥
असंमतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥५॥

## तृतीय सर्ग

इन्द्र के सहस्रनेत्र अन्यान्य समस्त देवताओं को छोडकर उस कामदेव के ऊपर एक ही साथ आ पड़े। क्योंकि स्वामी लोगों की दृष्टि में अनुचरों का महत्त्व प्राय प्रयोजन के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है ॥१॥

इन्द्र ने कामदेव के लिए अपने सिंहासन पर ही स्थान बनाते हुए समीप बुलाकर कहा– आओ, यहाँ बैठो। कामदेव ने स्वामी के इस अनुग्रह को सिर झुका कर स्वीकार किया और इस प्रकार से कहना आरम्भ किया—॥२॥

हे पुरुषों के गुणों के पारखी! आज्ञा करें कि वह कौन-सा कार्य है जिसे तीनों लोकों में से कहीं भी आप मेरे द्वारा कराना चाहते हैं। आपने इस प्रकार मुझे स्मरण करके मुझ पर जो अनुग्रह किया है, अब आज्ञा देकर उसमें और वृद्धि कीजिए ॥३॥

वह कौन-सा व्यक्ति है, जिसने आपके पद को पाने की अभिलाषा से अत्यन्त कठोर तपस्या करके आपके मन में ईर्ष्या पैदा कर दी है। (बताइए) वह अभी मेरे इस शर-समेत धनुष से अविलम्ब वशवर्ती बन जायगा ॥४॥

फिर से संसार में जन्म लेने के क्लेश से छुटकारा पाने के लिए मुक्तिमार्ग का कौन ऐसा पथिक है जो तुम्हारी सम्मति के बिना ऐसा कर रहा है। सर्वांगसुन्दरी रमणियों की भौंहें तिरछी करके किए गए कटाक्षों में फँसकर वह चिरकाल तक बन्धन में पड़ा है ॥५॥

अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥६॥
कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥७॥
कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥८॥
प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥९॥
तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥
अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम्।
संकल्पितार्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे ॥११॥
सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवांश्च।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥१२॥

शुक्राचार्य द्वारा भी नीतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने वाले आपके किस शत्रु के धर्म और अर्थ का मैं प्रवृद्ध विषय वासना रूपी दूत भेजकर (अपने साथियों द्वारा) उसी प्रकार नाश कर दूँ जैसे बाढ़ की जल-राशि नदी के दोनों तटों का नाश कर देती है। बताइए न ॥६॥

अथवा यह बताइए कि वह ऐसी कौन-सी दृढ़ पतिव्रता सुन्दरी है, जो अपने सौन्दर्य के द्वारा आपके चंचल मन को लुभा बैठी है और जिस नितम्बिनी के लिए आप चाहते हैं कि वह समस्त लज्जा त्याग कर अपनी कोमल बाँहें स्वयं आपके गले में डाल दे ॥७॥

हे कामुक! वह कौन-सी कामिनी है, जो किसी अन्य सुन्दरी के साथ आपके रमण-वृत्तान्त को सुनकर इतनी कुपित हुई है कि आपके द्वारा पैरों पर गिर कर मनाने के बाद भी अपना मान नहीं त्याग रही है। मैं उसके चित्त में ऐसा तीव्र पश्चात्ताप उत्पन्न कर दूँगा कि उसे नव-पल्लवों की शैय्या पर ही जाकर लेटना पड़ेगा ॥८॥

हे वीर! आप मुझ पर कृपा करें। आपका वज्र विश्राम करे। मेरे बाणों से जिसका बाहुबल नष्ट हो जायगा—ऐसा कौन-सा दैत्य है (जिसे आप नष्ट करना चाहते हैं) जो क्रोध से चंचल ओष्ठ वाली सुन्दरी से भी डर जाय। बतलाइए न ॥९॥

तुम्हारी कृपा बनी रहे तो मैं केवल एक वसन्त की सहायता लेकर अपने कुसुम के बाणों से ही पिनाकपाणि महादेव जी का भी धैर्य छुड़ा दूँ, फिर अन्य धनुर्धारी मेरे सामने कैसे ठहर सकते हैं ॥१०॥

(कामदेव की इस प्रकार के आश्वासनों से भरी बातें सुन कर) इन्द्र ने अपने पैरों को जाँघ पर से नीचे उतारकर सिंहासन के नीचे पड़ी चौकी पर रख लिए और शंकर जी के चित्त को आकर्षित करने के सम्बन्ध में जो उनकी उत्कट चिन्ता थी, उसके लिए स्वयं अपनी शक्ति प्रकट करने वाले कामदेव से वह इस प्रकार बोले—॥११॥

हे मित्र कामदेव! तुमने जो कुछ अपने सम्बन्ध में कहा है वह सब ठीक ही है। मेरे तो दो ही अस्त्र हैं, एक मेरा वज्र है और दूसरे तुम हो। अपने तपोबल से बलवान प्राणियों के सम्मुख तो मेरा वज्र कुण्ठित हो जाता है किन्तु तुम्हारी गति तो सर्वत्र है, अतः तुम्हारे लिए सब कुछ साध्य है ॥१२॥

अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये।
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥१३॥
आशंसता बाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम्।
निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥१४॥
अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः।
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥१५॥
तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥१६॥
गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥१७॥
तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१८॥
तस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम्।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१९॥

मैं तुम्हारी सामर्थ्य को भलीभाँति जानता हूँ। इसीलिए अपने समान समझकर ही तुम्हे एक भारी काम सौंपने जा रहा हूँ। शेषनाग पृथ्वी को धारण किए रहते हैं—यह देख कर ही भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) ने उन्हे अपने शरीर का भार उठाने के लिए नियुक्त किया है ॥१३॥

वृषभध्वज महादेव पर बाण चला सकने की बात कह कर तुमने हमारा उक्त कार्य करना तो स्वीकार ही कर लिया है। बस, यही समझ लो कि बलवान शत्रुओ से अत्यन्त सताए गए देवता लोग तुमसे यही कार्य करवाना चाहते हैं ॥१४॥

ये देवता लोग (शत्रु पर) विजय पाने के लिए शिव के वीर्य से उत्पन्न पुत्र को अपना सेनापति बनाना चाहते है। ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न वह शिव इस समय ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किए हुए है अत वह केवल एक तुम्हारे ही बाण के छोडने से अनुकूल हो सकते है ॥१५॥

अत इस समय तुम ऐसा प्रयत्न करो कि जितेन्द्रिय शिव जी हिमालय की कन्या पार्वती पर मोहित हो जायें। स्वयम्भू ब्रह्मा ने बताया है कि स्त्रियो मे एक वही ऐसी हैं जो शिव जी के वीर्य को धारण कर सकती हैं ॥१६॥

इस समय पार्वती अपने पिता (हिमालय) की आज्ञा से हिमालय के शिखर पर तपस्या निरत शङ्कर के समीप रह कर ही उन की उपासना कर रही है—यह समाचार मैंने उन अप्सराओं के मुख से सुना है, जो हमारे गुप्तचर के रूप मे कार्यरत हैं ॥१७॥

तो अब तुम इस काम को सिद्ध करने के लिए जाओ। यह कार्य तो वैसे भी होना था, किन्तु इस समय तुम्हे इस कार्य का अन्तिम कारण ठीक उसी तरह बनना होगा जैसे बीज मे से अकुर उगाने के लिए जल को कारण बनना पडता है ॥१८॥

तुम धन्य हो कि जो देवताओ को विजय प्राप्त कराने के उपाय मे केवल तुम्हारे बाण ही सफल होगे। पुरुषो की कीर्ति ऐसे ही कामो के करने से होती है, जिन्हे कोई दूसरा न कर सके, भले ही वे काम बडे हो या न हो ॥१९॥

सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम्।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः॥२०॥
मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य॥२१॥
तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे।
ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः॥२२॥
स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च साशङ्कमनुप्रयातः।
अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम॥२३॥
तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती।
संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे॥२४॥
कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज॥२५॥
असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।
पादेन नापेक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण॥२६॥

ये देवता लोग इस कार्य को पूरा करने का तुमसे अनुरोध कर रहे हैं और यह कार्य भी तीनों लोकों के लिए कल्याणकारी है। तुम्हारी शक्ति से भला किसे ईर्ष्या न होगी, क्योंकि तुम्हारे धनुष से जो बाण निकलेंगे, वे घातक नहीं होंगे॥२०॥

हे कामदेव! यह वसन्त तो बिना कहे हुए भी तुम्हारा साथी है। वायु से जाकर कौन कहता है कि तुम चलकर अग्नि को प्रज्वलित करो॥२१॥

जो आज्ञा देव—ऐसा कह कर कामदेव ने स्वामी की आज्ञा को माला की भाँति सिर झुका कर ग्रहण किया और (गन्तव्य की ओर) चल पड़ा। उसके चलते समय ऐरावत को अंकुश मारते रहने के कारण कर्कश हाथ से इन्द्र ने उसकी पीठ थपथपाई॥२२॥

कामदेव अपने प्यारे सखा वसन्त एवं अपनी प्रियतमा रति के साथ शिव जी के हिमाच्छादित आश्रम की ओर आशंका सहित चल पड़ा। उसने निश्चय किया कि चाहे प्राण ही क्यों न चले जायें, कार्य-सिद्धि तो होनी ही चाहिए॥२३॥

शिव जी के आश्रमभूत उस ( पो) वन में समाधिलीन मुनियों का विरोधी वसन्त अपने उस उन्मादकारी स्वरूप को विकसित करने लगा, जिस पर कामदेव को अभिमान था॥२४॥

(अपने साहसी पति द्वारा सदाचरण का अतिक्रमण कर पराई स्त्री में आसक्ति होने पर चतुर स्त्रियाँ अपने मुख से कुछ भी न कह कर केवल दुःख के दीर्घ निःश्वास छोड़ती हैं—) उसी प्रकार उष्णरश्मि सूर्य द्वारा दक्षिणायन काल की मर्यादा को त्यागकर कुबेर की उत्तर दिशा में प्रवृत्त होने पर उनके वियोग में दक्षिण दिशा ने अपने मुख से जो गम्भीर निःश्वास छोड़ा, वही सुगन्धित मन्दानिल होकर बहने लगा॥२५॥

उपवन में मूर्तिमान् वसन्त के आगमन से अशोक का वृक्ष अपने तने से लेकर डालियों पर नूतन पल्लवों और प्रसूनों से भर गया। उसने सुन्दरी रमणियों के बजते हुए नूपुरों से सुशोभित चरणों के स्पर्श की भी प्रतीक्षा नहीं की॥२६॥

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥२७॥
वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥२८॥
बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥२९॥
लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥३०॥
मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥३१॥
चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥
हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम्।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥३३॥

(अच्छा कारीगर कोई नई वस्तु तैयार करने पर उस पर उसके स्वामी का नाम लिख देता है—मानों इसी दृष्टि से) वसन्त ने आम के सुन्दर नव-पल्लव रूपी पंखों वाले कुसुम रूपी नूतन बाणों के तैयार हो जाने पर उस पर (आने वाले) कामदेव के नाम के भ्रमर-रूपी अक्षरों को मानो लिख दिया ॥२७॥

रंग के सुन्दर होने पर भी कर्णिकार पुष्प के निर्गन्ध होने के कारण मन में दुःख होता था। विधाता की प्रवृत्ति प्रायः समस्त गुणों को एक ही स्थान पर न रखने की है। किसी को सर्वगुणसम्पन्न वे नहीं होने देते ॥२८॥

द्वितीया के चन्द्रमा के समान आकृतिवाले अधखिले पलाश के कुसुम अत्यन्त लाल रंग के हो गए। वे वसन्त-रूपी पुरुष के सम्भोग से वनस्थली-रूपी स्त्री के शरीर पर ताजे नख-क्षत के समान दिखाई पड़ते थे ॥२९॥

भ्रमरों की पंक्तियाँ वसन्त श्री-रूपी नायिका की आँखों का अंजन बन गईं। तिलक के पुष्प उसके मुख पर तिलक बन गए और प्रातःकाल के सूर्य की लालिमा रूपी महावर से उसने अपने आम के पल्लव रूपी अधरों को अलंकृत कर लिया ॥३०॥

प्रियाल की मंजरियों से उड़ कर पराग के आँखों में गिरने से व्याकुल दृष्टि वाले मदोन्मत्त हरिण वायु के प्रवाह की ओर मुख करके दौड़ने लगे। सूखे पत्तों पर उनके दौड़ने से समूची वनस्थली मर्मरध्वनि से भर उठी ॥३१॥

आम की कोंपल खा लेने से कसैले कण्ठ वाले पुरुष कोकिल ने जो मधुर स्वर में कूकना आरम्भ किया, वही मानो मानिनी नायिकाओं का मान भंग करा देने में निपुण कामदेव की वाणी बन गई ॥३२॥

हिम के दूर हट जाने से विशद ओठों एवं सुन्दर गौर वर्ण के मुखों वाली किन्नरों की रमणियों के (कपोलों पर चित्रित) मकरादि की आकृति में बने हुए चित्रों का रंग धूप से उत्पन्न पसीने की बूँदों से पिघल-पिघल कर फैलने लगा ॥३३॥

तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम्।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसा बभूवुः ॥३४॥
तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥३५॥
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥३७॥
गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब ॥३८॥
पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥३९॥
श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥४०॥

महादेव जी के आश्रम में रहने वाले तपस्वी लोग उस असमय के वसन्तागमन को देखकर अत्यन्त प्रयत्नता पूर्वक अपने मन के विकारों को रोककर बड़ी कठिनाई से अपने को वश में रख सके ॥३४॥

जब अपनी पत्नी रति के साथ कामदेव ने अपना पुष्प-धनुष चढ़ा लिया और उस प्रदेश में प्रवेश किया तब सभी चराचर जीवों के जोड़े अपने अत्यधिक स्नेहयुक्त भावों को अपनी क्रियाओं में प्रदर्शित करने लगे ॥३५॥

भ्रमर कुसुम के एक ही पात्र में अपनी प्रियतमा भ्रमरी का अनुकरण करता हुआ उसके साथ ही मधु-पान करने लगा और स्पर्श सुख में आँखों को बन्द किए खड़ी हुई अपनी प्रियतमा हरिणी को कृष्णसार मृग अपनी सींग से खुजलाने लगा ॥३६॥

स्नेह में भरी हुई हथिनी, कमलों के पराग से सुवासित जल अपनी सूँड से अपने प्रिय हाथी को पिलाने लगी और चक्रवाक कमल के नालों को चख-चख कर अपनी प्रियतमा चकवाली को भेंट कर प्रसन्न करने लगा ॥३७॥

किन्नर लोग गाते-गाते बीच में ही रुककर पसीने के कारण कुछ बिगड़ी हुई चित्रकारी से युक्त अपनी प्रियतमा किन्नरियों के मुखों को, जो मद्यपान के कारण लाल नेत्रों से और भी सुशोभित हो रहे थे, चूमने लगे ॥३८॥

पुष्पों के स्तवक जिनके स्तनों के समान थे और जो नवांकुर-रूपी अधरों से मनोहर हो उठी थीं—ऐसी लताओं-रूपी वधुओं ने भी अपने विनम्र भुज-बन्धनों को वृक्षों के गले में डाल दिया ॥३९॥

ऐसे (मनोहर) अवसर पर अप्सराओं के मधुर गीतों को सुनकर भी शङ्कर जी अपनी समाधि में लीन हो गए। संसार के चित्त को क्षुब्ध कर देने वाली वस्तुएँ धीर-गम्भीर पुरुषों के चित्त में क्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकती ॥४०॥

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥४१॥
निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥४२॥
दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥
स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥४४॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥

इसके अनन्तर अपने बाएँ हाथ मे स्वर्णजटित बेंत लेकर नन्दी लतागृह के द्वार पर आया और उसने अपने मुख पर एक (तर्जनी) अँगुली रख कर गणों को सकेत किया कि वे चचलता न दिखाएँ ॥४१॥

उसके इस प्रकार आदेश देने पर वृक्षों का हिलना-डुलना बन्द हो गया, भ्रमर शान्त हो गए, पक्षी चुप हो गए। पशुओं ने अपना चलना-फिरना बन्द कर दिया और क्षण भर में ही सम्पूर्ण वन चित्रलिखित के समान दिखाई पडने लगा ॥४२॥

कामदेव ने, यात्रा मे सम्मुख शुक्र के समान उस नन्दी की दृष्टि बचा कर नमेरु वृक्ष की घनी झाडियो एव शाखाओ मे घिरे हुए शकर जी के समाधि-मण्डप मे प्रवेश किया ॥४३॥

मौत के मुख मे पडे उस कामदेव ने, देवदारु वृक्षों के नीचे बनी हुई वेदी (चबूतरे) पर, *व्याघ्र के चर्म के आसन पर बैठे हुए समाधिमग्न त्र्यम्बक शंकर जी* को देखा ॥४४॥

वीरासन द्वारा शरीर के पूर्वार्ध भाग को सीधा और स्थिर बना कर, दोनो कन्धो को नीचा रख कर, गोद मे खिले हुए कमल के समान दोनों हाथो के पञ्जो को उत्तान रख कर बैठे हुए शकर जी को उस कामदेव ने देखा ॥४५॥

उनका *जटा-समूह नागों से बँधा था, कानो पर दुहरी रुद्राक्ष की माला झूल रही* थी। कण्ठ की नीली छाया पडने से उनकी वह मृग छाला और भी काली दिखाई पड रही थी, जिसे उन्होंने अपने कटि-प्रदेश मे गाठ लगा कर बाँध रखा था ॥४६॥

उनकी चमकती हुई आखो की पुतलियां स्थिर थीं। वे पलकों को नहीं गिरा रहे थे। उनके नेत्रो से नीचे की ओर तेज फैल रहा था। और अपने तीनों नेत्रो से अपनी नासिका के अग्र भाग को वे एकटक देख रहे थे ॥४७॥

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥४९॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥
स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रम् पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥५२॥
अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासोवसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥

प्राणायाम द्वारा शरीर के भीतर संचरण करने वाले प्राणादि वायुओं को रोक कर स्थिर बैठे हुए वह ऐसे दिखाई पड रहे थे मानो कोई बादल हो, जो तुरन्त बरसने के लिए आतुर नहीं है अथवा तरंगों से हीन कोई सरोवर हो अथवा वायु विहीन स्थान में रखा हुआ कोई निष्कम्प दीपक हो ॥४८॥

कपाल और नेत्रों के भीतर से निकलती हुई जो प्रकाश की किरणें उनके मस्तक के ऊपर दिखाई पड़ती थी वे कमल नाल के समान कोमल, जटाजूट के अग्र भाग में स्थित चन्द्रमा की सूक्ष्म रश्मियों को भी लजाने वाली थीं ॥४९॥

शरीर के नवों द्वारों की वृत्ति को रोक कर, मन को समाधि द्वारा वश में रख कर तथा हृदय प्रदेश में स्थापित कर के जिस अविनश्वर तत्त्व को ब्रह्मज्ञानी लोग देखते हैं, वही शंकर जी अपने अन्दर स्वयं अपने आपको देख रहे थे ॥५०॥

इस प्रकार समाधि में लीन तथा मन से भी अगम्य त्रिलोचन शंकर जी को अति समीप में देख कर कामदेव को इतना आतंक हुआ कि उसे यह भी पता न चला कि कब उसके काँपते हुए हाथ से उसके धनुष और बाण छूट कर नीचे गिर पड़े ॥५१॥

(इस प्रकार उसके धनुष बाण के नीचे गिर जाने के अनन्तर) मारे भय के नष्टप्राय कामदेव के बल को अपने अलौकिक सौन्दर्य से पुनर्जीवित-सा करती हुई पर्वतराज की कन्या पार्वती उसी ओर आती दिखाई पडी। उनके पीछे-पीछे दो वनदेवियाँ भी आ रही थीं ॥५२॥

पद्मराग मणि से भी अधिक सुन्दर अशोक, सुवर्ण के समान पीले रंग के कर्णिकार, तथा मोतियों के स्थान पर सिन्दुवार जैसे वसन्त के पुष्पों का आभरण उन्होंने उस समय अपने शरीर पर धारण किया था ॥५३॥

दोनों स्तनों के बोझ से शरीर को कुछ झुकाए हुए, प्रातःकाल की सूर्य-प्रभा के समान लाल वस्त्र धारण किए हुए पार्वती जी उस समय ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे पुष्पों के गुच्छों से लदी हुई कोई पल्लवों-किसलयों वाली चलती-फिरती लता हो ॥५४॥

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥५५॥
सुगन्धिनिःश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम्।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ॥५७॥
भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद प्रतिहारभूमिम्।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥५८॥
ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद्धृतभूमिभागः।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निबिडं बिभेद ॥५९॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम्।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥६०॥
तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥६१॥

(धरोहर रखने के) उचित स्थान को भलीभांति जानने वाले कामदेव की धरोहर रखी हुई धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा के समान और चलने के कारण जघन-स्थल से कुछ नीचे की ओर सरकी हुई मौलसिरी की माला से निर्मित अपनी करधनी को पार्वती ने गमन में रुकावट न पड़े—इस कारण से बार बार स्वयं ऊपर खिसका कर हाथ से पकड़ रखा था ॥५५॥

सुगन्धित निःश्वास की तृष्णा से ओठों के पास मँडराने वाले भ्रमरों को वह घबराहट के कारण चञ्चल नेत्रों द्वारा देखती हुई बार बार अपने हाथ में लिए हुए लीलाकमल से उड़ाती चल रही थीं ॥५६॥

उस सर्वांगसुन्दरी पार्वती को, जो सौन्दर्य में (कामदेव की स्त्री) रति को भी लज्जित कर रही थीं, देखकर कामदेव को, जितेन्द्रिय महादेव पर विजय प्राप्त करने की पुनः बड़ी आशा बँध गई ॥५७॥

इधर पार्वती अपने भावी पति शंकर जी के तपोवन के द्वार पर पहुँचीं और उधर महादेव जी ने अपने अन्तःकरण में परमात्म नामक अलौकिक ज्योति का दर्शन करके अपनी समाधि को समाप्त कर दिया ॥५८॥

(परमात्म ज्योति के दर्शन के) अनन्तर धीरे से प्राणायाम को तोड कर उन्होंने अपना वीरासन त्याग दिया, किन्तु वे इतने से ही इतने अधिक भारी हो गए कि शेषनाग ने अपने फनों के अग्रभाग पर बड़ी कठिनाई से पृथ्वी का भार सहन किया ॥५९॥

(शिव जी के) नन्दी ने समीप में उपस्थित हो कर प्रणाम किया और यह निवेदन किया कि पार्वती जी सेवा के लिए उपस्थित हैं। फिर भौंह के संकेत मात्र से अनुमति प्राप्त कर वह (नन्दी) बाहर गया और उन्हें (पार्वती जी को) उनके भावी पति शंकर के समीप लिवा ले गया ॥६०॥

पार्वती की सखियों ने भक्तिपूर्वक अपने हाथों से चुने हुए वसन्त ऋतु के नव-पल्लवों के टुकड़ों और पुष्पों को, विनयपूर्वक प्रणाम करने के अनन्तर महादेव जी के चरणों में बिखेर दिए ॥६१॥

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥६२॥
अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥
कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥६४॥
अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥६५॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥६६॥
हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥

पार्वती ने भी अपना सिर झुकाकर महादेव जी को प्रणाम किया, जिससे उनकी काली अलकों में सुशोभित कर्णिकार के पुष्प तथा कानों पर रखे हुए नवपल्लव वहीं पर गिर पड़े ॥६२॥

महादेव जी ने पार्वती को प्रणाम करने के अनन्तर—तुम्हें अनन्य प्रेमी पति प्राप्त हो—ऐसा सत्य ही आशीर्वाद दिया। महान् पुरुषों की वाणी कभी मिथ्या नहीं हो सकती ॥६३॥

(उधर) कामदेव अपने बाण को चलाने के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। आग में पड़ने के अभिलाषी पतिंगे की तरह वह उमा के सम्मुख बैठे हुए महादेव पर लक्ष्य संधान करते हुए बार-बार अपने धनुष की डोरी पर हाथ फेरने लगा ॥६४॥

पार्वती ने प्रणाम के अनन्तर तपश्चर्या पूरी करके उठे हुए भगवान शंकर को अपने ताम्र-गौर कर से सूर्य की किरणों से सुखाई गई गंगा में उत्पन्न कमलों के बीजों की माला भेंट की ॥६५॥

(इधर) भगवान् शंकर ने भक्तवत्सल होने के कारण पार्वती की दी हुई उस माला को लेने के लिए हाथ बढ़ाया और उधर कामदेव ने अपने पुष्प-धनुष पर सम्मोहन नामक वह बाण चढ़ाया, जिसका लक्ष्य कभी खाली नहीं जाता था ॥६६॥

जिसके (कामदेव के बाण चढ़ाने के) कारण शंकर जी चन्द्रोदय होने पर समुद्र की भांति कुछ अधीर हो गए और वह बिम्बाफल के समान अरुण ओष्ठ वाली पार्वती के मुख को अपनी तीनों आंखों से देखने लगे ॥६७॥

(उधर) पार्वती को भी सहसा रोमांच हो गया, जिससे उनका सर्वांग खिले हुए कदम्ब के पुष्प के समान हो गया। इससे उनका मनोभाव छिपा नहीं रह गया। वह आंखें फेरकर तनिक तिरछी-सी हो कर लज्जित खड़ी रह गईं। और इससे उनका मुख और भी सुन्दर हो गया ॥६८॥

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्॥६९॥

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥७०॥

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥७१॥

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥७२॥

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव॥७३॥

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः॥७४॥

किन्तु इन्द्रियों को जीतने वाले त्रिनेत्र भगवान् शंकर ने बलपूर्वक इन्द्रियों की चंचलता का दमन कर दिया और इस प्रकार अपने मन के विकारग्रस्त होने के कारण को देखने की इच्छा से उन्होंने अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई॥६९॥

उन्होंने देखा कि दाहिनी आंख के कोने तक मुट्ठी को खींचे हुए, लक्ष्य साधने के लिए कंधे को तनिक नीचा किए हुए, बाएँ पैर के घुटने को टेढ़ा किए, अपने धनुष को पूरा खींच कर कामदेव उन्हीं पर बाण छोड़ने के लिए तैयार है॥७०॥

*(फिर तो अपनी)* तपस्या में विघ्न पड़ने के कारण अतीव क्रोध में आ जाने पर, भृकुटी को टेढ़ी किए हुए भगवान् शंकर के तमतमाए हुए मुख की ओर देखना बड़ा कष्टकर हो गया और उनके तीसरे नेत्र से एकाएक चिनगारियाँ छिटकाती हुई अग्नि की लपट निकल पड़ी॥७१॥

क्रोध न कीजिए प्रभु, क्रोध को दूर कीजिए—सभी देवताओं की यह पुकार आकाश में गूंजती ही रह गई कि तब तक शंकर के नेत्र से उत्पन्न उस अग्नि की लपट ने कामदेव को जला कर भस्म कर दिया॥७२॥

अत्यन्त असहनीय विपत्ति आ पड़ने से रति अचेत हो गई, जिससे उसकी सभी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गईं। यह भी उसके लिए भला ही हुआ, क्योंकि इससे उसे कम से कम कुछ ही देर के लिए सही, अपने पति की मृत्यु का ज्ञान तो नहीं हो सका॥७३॥

तपोनिष्ठ भगवान् शंकर तपस्या के विघ्न-स्वरूप उस कामदेव को सशरीर भस्म कर स्त्री-सान्निध्य के त्याग की इच्छा से अपने भूत गणों के साथ उसी प्रकार अन्तर्धान हो गए जैसे विशाल वृक्ष को ताड़ कर आकाश से गिरने वाली बिजली तुरन्त लुप्त हो जाती है॥७४॥

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी -कथंचित् ॥७५॥
सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम्।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद्वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥७६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे
महाकाव्ये मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

इससे पार्वती जी अत्यन्त लज्जा से जड़-सी हो गईं। उनके मनस्वी पिता हिमालय की अभिलाषा (कि कन्या का विवाह शंकर जी से हो) और उनका अपना सौन्दर्य दोनों ही असफल हो गए। उनकी लज्जा इस कारण से और भी बढ़ गई कि यह सारी घटना उनकी सखियों के सामने घटित हुई। फिर तो जैसे तैसे अपने को सम्हाल कर वह लाए ए मन से अपने भवन की ओर चल पड़ी ॥७५॥

पर्वतराज हिमालय वहाँ तत्काल पहुँच गए और रुद्र के क्रोध से डरी हुई, बन्द नेत्रों वाली अपनी दयनीय पुत्री को उन्होंने अपनी बाहों में उठा लिया और उसे ले कर वह तीव्र गति से ऐसे भाग खड़े हुए, मानो ऐरावत अपने दाँतों पर उलझी हुई किसी कमलिनी को लिए हुए जा रहा हो ॥७६॥

महाकवि श्री कालिदास रचित कुमारसंभव महाकाव्य में मदन-दहन नामक
तृतीय सर्ग समाप्त ॥३॥

## चतुर्थः सर्गः

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम् ॥१॥
अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥२॥
अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥३॥
अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥४॥
उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ॥५॥
क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः ॥६॥

## चौथा सर्ग

इसके अनन्तर बेहोश होकर निश्चेष्ट पड़ी हुई रति को, नवीन वैधव्य के असह्य दुख का अनुभव कराने के लिए अदृष्ट ने उसे फिर से होश मे कर दिया ॥१॥

होश मे आने पर रति ने अपने पति कामदेव के दर्शन की इच्छा से अपनी आखो को खोल कर खूब ध्यान से देखा किन्तु अपनी उन अतृप्त आखो मे उसे उन आखो का प्यारा वह कामदेव नहीं दिखाई पड़ा, जिसका दर्शन सदा-सर्वदा के लिए विलुप्त हो चुका था ॥२॥

हे प्राणनाथ ! जीवित हो क्या—यह कहती हुई वह ज्योही उठ कर सामने देखने लगी, उसे केवल महादेव के क्रोधानल मे जले हुए कामदेव की पुरुष के आकार मे पड़ी हुई भस्म ही दिखाई पड़ी ॥३॥

तब तो वह अत्यन्त विह्वल होकर धरती पर लोटने लगी, जिससे उसके स्तन धूल से धूसरित हो उठे। वह अपने बालो को बिखेर कर विलाप करने लगी और इस प्रकार उसके विलाप से वह वनस्थली भी उसके इस दुख मे समान दुखवाली-सी बन गई ॥४॥

अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण तुम्हारा जो शरीर विलासी पुरुषो का उपमान बना हुआ था, उसकी आज ऐसी दयनीय दशा हो गई है और मेरा हृदय फिर भी नही फट रहा है। हाय ! सचमुच स्त्रियाँ बड़ी कठोर होती हैं ॥५॥

(हे प्रियतम ! ) जैसे जल का प्रवाह बाध टूट जाने पर कमलिनी को छोड कर भाग खड़ा होता है, उसी तरह अपने सहारे जीवन बिताने वाली मुझको छोडकर, और पल भर मे ही स्नेह का नाता तोड कर तुम कहां चले गए हो ? ॥६॥

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥७॥
स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥८॥
हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥९॥
परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव।
विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥१०॥
रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः।
वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥११॥
नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥१२॥
अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्ष्यति ॥१३॥

(हे प्रियतम!) तुमने मुझे अप्रसन्न करने वाला कोई कार्य नहीं किया और न मैंने ही तुम्हारे प्रतिकूल कोई आचरण किया। तब फिर बिना किसी कारण के ही विलखती हुई (इस) रति को तुम अपना दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ॥७॥

हे स्मर! एक बार तुमने मेरे सामने भूल से किसी अन्य स्त्री का नाम ले लिया था, जिस पर मैंने प्रणय-कोप करके तुम्हें अपनी मेखला से बाँध दिया था, और अपने कर्णाभूषण कमल से तुम्हारे मुख में ताडन किया था, जिससे उस कमल का पराग तुम्हारी आँखों में पड़ गया था और तुम्हारी आँख दुखने लगी थी। कहीं उसी प्रसंग को याद करके तो तुम नहीं रूठे हुए हो ॥८॥

तुम कहा करते थे कि तुम (रति) मेरे हृदय में निवास करती हो। मैं अब समझ रही हूँ कि यह तुम्हारा छल था। यदि ऐसा न होता तो यह कैसे सम्भव था कि तुम्हारे भस्म हो जाने पर भी (मैं) रति कैसे इस प्रकार जीवित बची रहती ॥९॥

तुम अभी अभी परलोक गए हो, और मैं भी अभी उसी मार्ग पर आने वाली हूँ, जिसमें तुम गए हो। विधाता ने (मुझे उस क्षण मूर्च्छित करके) बड़ा धोखा कर दिया अन्यथा मैं तो तुम्हारे साथ ही चलती, क्योंकि संसार के समस्त प्राणियों का सुख तो तुम्हारे ही हाथ में था ॥१०॥

रात के सघन अन्धकार में ढँके हुए नगर के मार्गों पर चलती हुई एवं मेघ के गर्जन को सुन कर घबराई हुई कामिनियों (अभिसारिकाओं) को अब उनके प्रियतमों के घरों तक पहुँचाने की सहायता तुम्हारे बिना कौन कर सकेगा ॥११॥

तुम्हारे अभाव में तरुणी कामिनियों का वह मदिरा पान, जिससे उनकी लाल लाल आँखें घूमने सी लगती हैं, और एक एक शब्द पर उनकी आवाज लड़खड़ाने लगती है, अब केवल विडम्बना मात्र बन कर रह जाएगा ॥१२॥

हे अनंग! तुम्हारा प्रिय मित्र चन्द्रमा तुम्हें कथामात्र शेष सुनकर अर्थात् तुम्हारे स्वर्गवास की बात जान कर अपने उदय को निष्फल समझ कर, कृष्ण पक्ष के बीत जाने पर भी बड़ी कठिनता से अपनी कृशता को त्याग पाएगा ॥१३॥

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः।
वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥१४॥
अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥१५॥
प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥१६॥
शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥१७॥
रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम्।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥१८॥
विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥१९॥
अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयिणी भवामि ते।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥२०॥

कोयल के मधुर शब्द सुनने से जिसके उदय का अनुमान किया जाता है, वह नीले एवं लाल रंग के सुन्दर बन्धनों से युक्त नूतन आम का कुसुम (बौर) अब तुम्हारे परलोक चले जाने पर किसका बाण बनेगा। बताओ न ॥१४॥

यह काले भ्रमरों की पंक्ति, जिसे तुमने पहले अनेक बार अपने धनुष की डोरी के स्थान पर प्रयुक्त किया था, इस समय अपने करुणाजनक स्वर में मुझ अत्यन्त शोकवाली हत-भागिनी के साथ रो-सी रही है ॥१५॥

अब तुम फिर एक बार उठ कर अपना वही मनोहर शरीर धारण कर लो और सुमधुर कूजन में स्वभाव से ही निपुण इस कोकिला को आदेश दो कि यह प्रेमियों के मध्य रति की दूती का कार्य सम्पन्न करे ॥१६॥

हे स्मर! मैं जब स्मरण करती हूँ कि तुम किस प्रकार मेरे चरणों पर सिर रखकर प्रेम की याचना किया करते थे और किस प्रकार काँपते हुए मुझे कण्ठ से लगा कर एकान्त में मुझसे रमण किया करते थे तब मुझे किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिलती ॥१७॥

हे रतिपण्डित! तुमने स्वयं अपने हाथों से इन वसन्त ऋतु के पुष्पों द्वारा मेरा शृङ्गार किया था। मैं तो अब भी उन पुष्पाभरणों को धारण किए हुए हूँ किन्तु तुम्हारा वह मनोहर शरीर नहीं दिखाई पड़ रहा है ॥१८॥

तुम मेरे दाहिने ही चरण में महावर लगा पाए थे कि क्रूर देवताओं ने तुम्हें स्मरण कर लिया। अतएव अब आ जाओ और मेरे बाएँ पैर में महावर लगा कर इस अधूरे काम को पूरा तो कर दो ॥१९॥

चतुर अप्सराएँ स्वर्ग में तुम्हें मोहित करेंगी—इससे पहिले ही मैं पतंगों की भाँति अग्नि में प्रवेश कर तुम्हारे समीप आकर फिर से तुम्हारे अङ्क में अपना आसन जमाऊँगी ॥२०॥

मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि॥२१॥
क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया।
सममेव गतोऽस्यतर्क्यतां गतिमङ्गेन च जीवितेन च॥२२॥
ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च तत्॥२३॥
क्व नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः।
न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम्॥२४॥
अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः॥२५॥
तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते॥२६॥
इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम्।
तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम्॥२७॥

हे प्रियतम! यद्यपि मैं अभी तत्क्षण तुम्हारा अनुगमन कर रही हूँ तथापि यह लोकापवाद तो बन ही गया कि कामदेव के बिना भी रति कुछ क्षणों तक जीवित बची ही रही॥२१॥

परलोक को जाने वाले तुम्हारे शरीर का अन्तिम शृंगार भी मैं किस प्रकार करूँ—यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। क्योंकि तुम्हारे शरीर और प्राण—दोनों की एक साथ ही ऐसी विचित्र दशा हो गई है॥२२॥

तुम जो बाण को सीधा करते हुए धनुष को अपनी गोद में रखकर वसन्त से वार्तालाप किया करते थे और उस समय बीच-बीच में तिरछी दृष्टि से मुझे देखा भी करते थे—वह दृश्य मैं किसी भी तरह से भूल नहीं पा रही हूँ॥२३॥

तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त, जो अपने पुष्पों से तुम्हारे धनुष की रचना किया करता था, वह कहाँ चला गया? कहीं उसे भी तो महादेव ने अपने क्रोध की ज्वाला में जला कर अपने मित्र की गति में तो नहीं पहुँचा दिया (अर्थात् नष्ट तो नहीं कर दिया)॥२४॥

इस प्रकार पति-विहीन रति के विलाप के ये शब्द कामदेव के सखा वसन्त के हृदय में बाण के समान चिप गए और उनसे आहत-सा हो कर वह रति को सान्त्वना देने के लिए उसके समीप पहुँच गया॥२५॥

रति वसन्त को देख कर और भी रुदन करने लगी और अपनी छाती पीटने लगी। अपने सामने इष्ट बन्धुजनों को देख कर दुःख का द्वार खुल-सा जाता है॥२६॥

दुःख से भरी हुई रति (वसन्त को सामने उपस्थित देख कर) बोली—हे वसन्त! देखो तो तुम्हारे प्रिय मित्र की यह क्या दशा हो गई? कबूतर के समान रंग वाले कामदेव के शरीर की इस भस्म को वायु कण-कण कर के इधर-उधर बिखेर रहा है॥२७॥

अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥२८॥
अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव।
बिसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्रिणः ॥२९॥
गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥३०॥
विधिना कृतमर्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी ॥३१॥
तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम्।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥३२॥
शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥३३॥
अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥३४॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम् ॥३५॥

हे कामदेव ! तुम्हारा यह प्रिय सखा वसन्त (तुम्हारे दर्शन के लिए) उत्सुक है, अतः अब तो दर्शन दो। पुरुषों का प्रेम अपनी स्त्रियों मे भले ही सुदृढ न हो किन्तु अपने मित्रों के साथ तो अचल ही होता है ॥२८॥

तुम्हारे पास रहने वाले तुम्हारे इसी मित्र ने तो देवताओं और असुरों समेत समस्त संसार को तुम्हारे कमल नाल की प्रत्यंचा तथा कोमल पुष्पों के बाण वाले धनुष का आज्ञाकारी बनाया था ॥२९॥

(हे वसन्त ! ) तुम्हारा यह सखा कामदेव वायु से बुझाए गये दीपक की भांति अब वापस नहीं आने वाला है, मैं तो उस दीपक की बत्ती के समान हूँ जो अब इस असहनीय विपत्ति के शोक-रूपी धुएँ को उगल रही हूँ ॥३०॥

काम का वध करते समय हत्यारे दैव ने मुझे जीवित छोड़ कर वध का केवल अधूरा कार्य किया है। किन्तु विश्वासपूर्वक आश्रय देने वाले वृक्ष के हाथी द्वारा तोड़ दिए जाने पर (उस पर आश्रित) लता तो अवश्य ही गिर कर नष्ट हो जाती है ॥३१॥

इसलिए हे वसन्त ! इसके बाद तुम अपने मित्र का यह कार्य करो कि मुझ पतिविहीना के लिए, अग्नि प्रज्वलित कर के तुम (मुझे) पति के समीप तक पहुँचा दो ॥३२॥

चाँदनी चन्द्रमा के साथ अस्त हो जाती है और बिजली मेघ के साथ ही विलीन हो जाती है। इस बात को तो अचेतन भी समझते हैं कि स्त्रियों को अपने पति के मार्ग पर ही जाना होता है ॥३३॥

अपने प्रियतम की इस उत्तम भस्मों से अपने स्तनों को रंग कर मैं नूतन पल्लवों की शैय्या के समान धधकती हुई चिता की अग्नि में प्रवेश करूंगी ॥३४॥

हे सौम्य ! तुमने बहुत बार फूलों की शैय्या के बनाने मे हम दोनों की सहायता की है। मैं हाथ जोड़ कर तुमसे प्रार्थना कर रही हूं कि तुम आज भी मेरे लिए शीघ्र ही चिता का निर्माण कर दो ॥३५॥

तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना॥३६॥
इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः॥३७॥
परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा॥३८॥
इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत्॥३९॥
कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि॥४०॥
अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत्॥४१॥
परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति॥४२॥
इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम्।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः॥४३॥

जब चिता की अग्नि मे मैं कूद पड़ूँ तो तुम उसे दक्षिण की वायु चला कर शीघ्र धधका देना। क्योंकि तुम्हें यह तो ज्ञात ही है कि कामदेव मेरे बिना क्षण भर के लिए नहीं रह सकते॥३६॥

यह सब कर देने के बाद तुम हम दोनो को एक जलाञ्जलि दे देना। क्योंकि तुम्हारे मित्र कामदेव परलोक मे तुम्हारे दिए इस जल को बिना बाँटे मेरे साथ पिएगे॥३७॥

और इसके बाद कामदेव की और्ध्वदेहिक क्रियाएँ करते समय श्राद्ध में चचल किसलय से युक्त आम की मजरी को अवश्य देना, क्योंकि तुम्हारे मित्र को यह बहुत प्रिय रही है॥३८॥

इस प्रकार जब अपना शरीर त्यागने के लिए रति तैयार हो रही थी तब अकस्मात आकाशवाणी हुई, जिससे रति को उसी प्रकार शान्ति मिली जिस प्रकार सरोवर के सूखने से विह्वल शफरी को (सहरी नामक एक मछली, जो जल सूख जाने पर कीचड में भी कुछ दिनों तक जीवित रहती है) प्रथम वृष्टि से शान्ति मिलती है॥३९॥

हे कामदेव की प्रिये! तुम्हारा पति तुम्हारे लिए शीघ्र ही दुर्लभ नहीं रहेगा (अर्थात् वह शीघ्र ही तुम्हे मिल जायगा) वह किसलिए शकर के नेत्र की अग्नि मे शलभ की भाँति जल कर भस्म हुआ है, उसका कारण सुनो॥४०॥

कामदेव द्वारा इन्द्रियों के विचलित कर दिए जाने पर एक बार प्रजापति ब्रह्मा के मन मे अपनी पुत्री के प्रति काम भावना जाग उठी थी। उसी समय ब्रह्मा ने अपने काम विकार का दमन कर के कामदेव को जो शाप दे दिया था, उसी का यह परिणाम है॥४१॥

धर्म द्वारा प्रार्थना किए जाने पर ब्रह्मा ने कामदेव को दिए गए शाप को अवधि बनाते हुए कहा था कि जब पार्वती की तपस्या से सुप्रसन्न हो कर शिव जी उनसे विवाह कर लेंगे तब आनन्द को प्राप्त कर वह कामदेव को उनके शरीर का दान करेंगे। ठीक ही है, जैसे वज्र और अमृत ये दोनों बादलों मे रहते हैं, उसी प्रकार सयमी महापुरुषों के हृदय मे क्रोध और दया-इन दोनों का निवास होता है॥४२-४३॥

तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥४४॥
इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम्।
तत्प्रत्ययाच्च कुसुमायुधबन्धुरेनामाश्वासयत्सुचरितार्थपदैर्वचोभिः॥४५॥
अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षतधूसरा प्रदोषम् ॥४६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

इसलिए हे सुन्दरी! तुम अपने इस शरीर की रक्षा करो क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य में होने वाले प्रिय-समागम को प्राप्त करोगी। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य द्वारा जल पी लेने पर नदी चाहे भले ही सूख जाय किन्तु वर्षा ऋतु में वह फिर जल से भर जाती है ॥४४॥

इस प्रकार न जाने किस अदृश्य तत्त्व ने आकर रति के शरीर त्यागने के संकल्प को शिथिल कर दिया और उसकी सहायता प्राप्त कर कामदेव के मित्र वसन्त ने भी अपनी अर्थ भरी वाणी से उसे आश्वस्त किया ॥४५॥

इसके अनन्तर पति वियोग के दुःख से दुर्बल अंगो वाली रति शाप की अवधि को समाप्त होने की उसी प्रकार प्रतीक्षा करने लगी, जिस प्रकार दिन में निकले हुए चन्द्रमा की किरणों के अभाव से धुँधली और तेजो विहीन कला रात्रि (के आगमन) की प्रतीक्षा किया करती है ॥४६॥

महाकवि श्री कालिदासकृत कुमारसम्भव महाकाव्य में रति-विलाप नामक
चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥४॥

## पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥१॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥२॥
निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम्।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात्॥३॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥४॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात्।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥५॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये॥६॥

## पाँचवाँ सर्ग

इस प्रकार अपनी आँखों के सामने ही पिनाकधारी शिवजी द्वारा कामदेव को जलाते हुए देख कर पार्वती का मनोरथ चूर-चूर हो गया। वह अपने रूप को धिक्कारने लगीं क्योंकि सौन्दर्य की सफलता तो तभी है जब उसके द्वारा प्रियतम को मोहित किया जा सके।।१।।

वह समाधि लगा कर अपनी तपस्या द्वारा अपने रूप को सफल बनाने का विचार करने लगीं, क्योंकि किसी अन्य उपाय द्वारा ऐसा पति और ऐसा प्रेम मिल भी कैसे सकता था।।२।।

पार्वती की माता मेना ने शिव जी के प्रति अनुरक्त हुई अपनी पुत्री को तपस्या करने के लिए इस प्रकार उद्यत देख कर उसे अपनी छाती से चिपटा लिया और मुनियों के समान अति कठोर तपस्या करने से रोकने के लिए पार्वती से कहने लगीं—।।३।।

हे वत्से! तुम्हारे तो घर में ही अभिलाषा पूर्ण करनेवाले देवता विद्यमान हैं। कहाँ कठोर तपस्या और कहाँ तुम्हारा ऐसा कोमल शरीर। शिरीष का कुसुम भ्रमरों के सुकुमार चरण भार को सहन कर सकता है किन्तु पक्षियों के चरणों के भार को नहीं सहन कर सकता।।४।।

इस प्रकार समझा-बुझा कर माँ मेना अपनी दृढ़ संकल्प वाली पुत्री पार्वती को अपने उद्यम से विरत करने में सफल नहीं हो सकीं। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प वाले मन और नीचे की ओर बहते हुए जल प्रवाह को भला कौन फेर सकता है? ।।५।।

एक बार मनस्विनी पार्वती ने अपने पिता हिमालय से, जो उनके इस मनोरथ को जानते थे, अपनी समीपवर्तिनी सखी द्वारा यह प्रार्थना की कि वह उसे वन में जा कर अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए तपस्या करने की अनुमति प्रदान कर दें।।६।।

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत् ॥७॥
विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥८॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्॥
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥९॥
प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥१०॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥११॥
महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥१२॥
पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निःक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥१३॥

पार्वती के इस उचित आग्रह से सन्तुष्ट हो कर पूज्य पिता हिमालय ने पार्वती को वन मे जाकर तपस्या करने की अनुज्ञा दे दी। पार्वती हिमालय के उस शिखर पर चली गई जिस पर मयूरों के झुण्ड निवास करते थे। बाद मे चल कर इस शिखर का इसीलिए जनता में 'गौरी-शिखर' के नाम से प्रसिद्धि हुई ॥७॥

अडिग निश्चय वाली पार्वती ने अपने उस मुक्ताहार को उतार कर रख दिया, जिसकी चचल लडियो से उनके स्तनों का चन्दन पुत गया था। उन्होंने बाल सूर्य के समान लाल रग का वल्कल-वस्त्र धारण किया, जो उनके स्तनो के उभार के कारण कुछ फट-सा गया था ॥८॥

पार्वती का मुख पहले सुसज्जित अलकों द्वारा जैसा सुन्दर लगा करता था, वैसा ही सुन्दर जटाओ के साथ भी लग रहा था। कमल भ्रमर पंक्तियो के साथ ही सुन्दर नहीं लगता प्रत्युत सेवारों से घिरा हुआ होने पर भी सुन्दर लगता है ॥९॥

पार्वती ने प्रतिक्षण रोंगटों को खडा कर देनेवाली तीन लडों की मूज से बनी हुई जो रस्सी की करधनी अपने व्रत के पालन के लिए धारण की उसने उसके पूर्व बाधी गई करधनी के नितम्ब-स्थित स्थान को लाल वर्ण का कर दिया ॥१०॥

पार्वती ने अपने उन हाथो को, जिनसे अपने ओठो मे लाक्षा का रग लगाया करती थी और स्तनो पर लगे हुए अगराग से रंजित कन्दुक खेला करती थी, इन कार्यों से निवृत्त कर *अब रुद्राक्ष की माला के जप मे लगा दिया, जिसकी अगुलियाँ कुशों के अकुरो से क्षत विक्षत* हो गई थी ॥११॥

बहुमूल्य शय्या पर सोते समय करवटें बदलते समय अपने ही बालो मे से गिरे हुए पुष्पों के चुभ जाने से भी जिन्हे कष्ट का अनुभव होता था, वही पार्वती अब केवल भूमि पर (बिना कुछ बिछाए ही) अपनी बाहो की तकिया बना कर सोने लगी ॥१२॥

व्रतचारिणी पार्वती ने कोमल लताओ के पास अपनी विलास-चेष्टाओ को तथा हरिणियो के पास अपने चचल अवलोकन को—धरोहर के समान (इसलिए) रख दिया था, जिस से वहाँ से इन दोनो को वह फिर से वापस ले सके ॥१३॥

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥१४॥
अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥
कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥१६॥
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥१७॥
यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥
क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥१९॥
शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥२०॥

पार्वती निरालस्य होकर छोटे-छोटे पौधों को अपने स्तनों जैसे घड़ों से पय (जल) पिला पिलाकर बढ़ाने लगीं। जिससे (बाद में जन्म लेकर उनका पुत्र) स्कन्द भी, इन पहले जन्म लेने वाले पौधों के प्रति पार्वती के पुत्रवात्सल्य को दूर न कर सके ॥१४॥

जंगली धान के बीजों की मुट्ठियों से पाले गए हरिण उस पार्वती से इतना अधिक विश्वास करते थे कि जिससे कभी कभी उत्सुकतावश पार्वती उनके नेत्रों से अपनी सखियों के नेत्रों को नापा करती थी ॥१५॥

स्नान करके निवृत्त होने पर पार्वती अग्नि में हवन करती थीं और तब नूतन वल्कल-वस्त्र धारण कर स्तुति आदि का अध्ययन करने बैठ जाती थीं। उन्हें इस रूप में देखने के लिए ऋषिगण भी आने लगे। धर्मपरायण तपस्वियों की आयु नहीं देखी जाती ॥१६॥

पार्वती का वह तपोवन इतना पावन हो गया था कि उसमें परस्पर विरोधी जीवों का पूर्व वैर भाव छूट गया था। वहाँ के वृक्ष अतिथियों के आगमन पर उनकी इच्छा के अनुसार फल देकर सत्कार करते थे। उसी में एक नूतन पर्णशाला के भीतर यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित रहती थी ॥१७॥

जब पार्वती ने देखा कि इस आरम्भ किए गए तप से अभीष्ट फल की प्राप्ति होना संभव नहीं है तब उन्होंने अपने शरीर की कोमलता की चिन्ता छोड़कर कठोर तप करना आरम्भ किया ॥१८॥

जो पार्वती कभी कन्दुक की क्रीडा से भी थक कर जाती थीं वही अब बड़े बड़े मुनियों के समान प्रचण्ड तप करने लगी। निश्चय ही उनका शरीर सुवर्ण-कमल से निर्मित था, इसीलिए उसमें कमल के समान कोमलता तथा सुवर्ण के समान कठोरता भी थी ॥१९॥

विनद हास्य करने वाली एवं क्षीण कटिवाली पार्वती ग्रीष्मऋतु में चारों ओर से जलती हुई अग्नि के बीच में बैठकर, आँखों को चौंधिया देने वाली सूर्य की किरणों पर विजय प्राप्त कर अनन्य नेत्रों से सूर्य की ओर देखती थीं ॥२०॥

तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥२१॥
अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥२२॥
निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥२३॥
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥२४॥
शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥२५॥
निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥२६॥
मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसंपदां सरोजसंधानमिवाकरोदपाम् ॥२७॥

सूर्य की किरणों से इस प्रकार अत्यन्त सन्तप्त होकर पार्वती का मुख कमल के समान सुशोभित हो गया। केवल उनकी आंखों के दीर्घ तटवर्ती भाग धीरे धीरे कुछ सांवले पड़ गए ॥२१॥

बिना याचना के प्राप्त होने वाला केवल (वर्षा का) जल, और अमृतमय चन्द्रमा की किरणें—ये दो वस्तुएँ उनके व्रत के अनन्तर की पारणा (भोजन) थीं। इस प्रकार जिन साधनों से वृक्षों का जीवन चलता है, उनके अतिरिक्त पार्वती ने भी कोई साधन नहीं स्वीकार किया ॥२२॥

अनेक प्रकार की अग्नि (आकाश के सूर्य तथा चारों दिशाओं की अग्नि) के कारण अत्यन्त सन्तप्त पार्वती (का शरीर) ग्रीष्म ऋतु बीत जाने पर नूतन बादलों से सिंचित होकर पृथ्वी के साथ ऊपर जाने वाली ऊष्मा (भाप) को छोड़ने लगी ॥२३॥

वर्षा ऋतु की प्रथम बूंदें पहले पार्वती के पलकों पर क्षण भर ठहरी रहीं, फिर उनके ओठों को ताडित किया और तदनन्तर उनके कठोर स्तनों पर गिरकर खड-खड में विशीर्ण हो गईं उसके बाद उदर भाग पर अवस्थित त्रिवलियों में से होकर बहुत देर बाद नाभि तक पहुँचीं ॥२४॥

वर्षा में जब रह-रह कर तेज हवा के साथ जोरदार निरन्तर वृष्टि होने लगती थी तब बिना घर के निवास करती हुई (अर्थात् बाहर खुले में) एक शिला पर लेटी हुई पार्वती की महती तपस्या के साक्षी के रूप में स्थित रातें अपनी चमकती हुई बिजली रूपी आंखों से उनका अवलोकन सी करती थीं ॥२५॥

पौष मास की रात्रियों में जब तीव्र वायु बरफ के साथ बहने लगता था, तब जल में निवास करती हुई पार्वती, एक दूसरे के विरह में क्रन्दन करते हुए अपने सामने स्थित चक्रवाकों के जोड़ों पर कृपा भाव रखकर उन्हें (रात्रियों को) बिता देती थीं ॥२६॥

पार्वती रात्रि में कमल के समान सुगन्धित एवं काँपते हुए ओष्ठों से सुशोभित अपने सुन्दर मुख से, हिमपात के कारण जिसकी कमल-सम्पदा नष्ट हो गई थी—ऐसे जल वाले सरोवर में कमलों की उपस्थिति का भान-सी कराती थीं ॥२७॥

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥२८॥
मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥२९॥
अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥३०॥
तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥३१॥
विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः॥३२॥
अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥३३॥
अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥३४॥

पेड़ों पर से स्वयं गिरे हुए पत्तों पर जीवन निर्वाह करना तपस्या की चरम सीमा मानी जाती है, किन्तु पार्वती ने उसे भी खाना छोड़ दिया। इसीलिए पुराविद् लोग उस मधुरभाषिणी को बाद में अपर्णा के नाम से पुकारने लगे॥२८॥

इस प्रकार कमलिनी के समान कोमल अपने शरीर को उपर्युक्त व्रतों द्वारा रातदिन सुखा-सुखाकर पार्वती ने कठोर शरीर वाले तपस्वियों के तप को भी नीचा दिखा दिया॥२९॥

इसके बाद एक दिन मृगचर्म एवं पलाश का दण्ड धारण किए हुए एक प्रगल्भवाणी बोलने वाला जटाधारी तरुण तपस्वी, जो अपने ब्रह्मचर्य के तेज से जलती हुई अग्नि के समान तेजोमय था, पार्वती के तपोवन में आया। ऐसा मालूम पड़ता था मानो ब्रह्मचर्य आश्रम स्वयं शरीर धारण करके आया हो॥३०॥

अतिथि सत्कार में कुशल पार्वती ने उस तरुण ब्रह्मचारी की अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा-पूर्वक आगे बढ़कर अगवानी की। क्यों न हो, जो लोग अपने मन को भली प्रकार साध लेते हैं वे यदि अपनी अवस्था के ही मनुष्य से मिलते हैं तब भी अत्यन्त आदर का व्यवहार रखते हैं॥३१॥

उस ब्रह्मचारी ने पार्वती द्वारा विधिपूर्वक किए गए अतिथि-सत्कार को स्वीकार कर कुछ क्षण तक विश्राम किया। फिर अपनी सरल दृष्टि से ही पार्वती की ओर देखते हुए बिना किसी प्रकार की भूमिका बाँधे वह यों कहने लगा—॥३२॥

कहिए, आपको यहाँ यज्ञादि के लिए समिधा और कुश तो सुगमता से मिल जाते हैं न? यहाँ का जल आपके स्नान के योग्य तो है न? आप अपनी शक्ति के अनुरूप ही तपस्या कर रही हैं न? क्योंकि शरीर ही धर्म का सबसे पहला साधन है॥३३॥

और आप जिन लताओं को पानी दे-देकर सींच रही हैं उनमें आप के इन अधरों से, जो चिरकाल से रंग न लगाये जाने पर भी अरुणाभ से दिखाई पड़ रहे हैं, स्पर्द्धा करने वाली नई कोंपलें तो फूट आई हैं न?॥३४॥

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥३५॥
यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥
विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥३७॥
अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोर्निर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥
प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥
अतोऽत्र किंचिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥४०॥
कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥४१॥

हाथ मे लिए हुए कुश को प्रेम से छीन लेने वाले इन हरिणो के बीच मे तुम्हारा चित्त प्रसन्न तो रहता है न ? हे कमलनयने ! ये हरिण अपने चचल नेत्रो से तुम्हारे नेत्रो की समानता करते हैं ॥३५॥

हे पार्वती ! जो यह कहा गया है कि सुन्दर स्वरूप कभी पाप का आचरण नही करता यह बात ठीक ही है, क्योकि सौम्यदर्शने ! तुम्हारा शील सदाचरण बड़े-बड़े तपस्वियो के लिए भी अनुकरणीय है ॥३६॥

यह पर्वत (हिमालय) सप्तर्षियो द्वारा पूजा मे बिखेरे गए पूजा के पुष्पों से, तथा स्वर्ग से उतारे गए गगाजल से भी उतना पवित्र नही हुआ, जितना यह तुम्हारे निष्कलङ्क आचरण के द्वारा सपरिवार पवित्र किया गया है ॥३७॥

हे सुन्दरी ! आज मुझे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनो पुरुषार्थो मे से धर्म ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम पड रहा है, क्योकि तुम्हारी जैसी तपस्विनी भी अर्थ और काम की ओर से मन को मोड़कर अकेले धर्म की सेवा मे ही लगी हैं ॥३८॥

तुमने मेरा बडा स्वागत-समादर किया है अत अब तुम मुझे भी अपने से पराया मत मानो, क्योकि हे सुन्दर अगो वाली ! मनीषियों का कहना है कि सज्जनो की मित्रता केवल सात शब्दो के आदान-प्रदान से ही हो जाती है ॥३९॥

हे तपस्विनी ! अतः मैं ब्राह्मण जाति की सहज चचलता के कारण अत्यन्त क्षमाशीला आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, यदि कोई गोपनीय बात न हो तो आप मेरी बातो का उत्तर अवश्य दें ॥४०॥

सर्वप्रथम (हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति) ब्रह्मा ने कुल मे तुम्हारा जन्म हुआ है, तुम्हारा सुन्दर रूप ऐसा है मानो तीनो लोको का सौंदर्य ही उदय हो गया है ! तुम्हारे ऐश्वर्य का कुछ कहना ही नही है ! तुम्हारा यह उठता हुआ नवयौवन है, अत. इससे अधिक तुम्हें क्या फल चाहिए, जिसके लिए तुम ऐसी कठोर तपस्या मे लगी हुई हो ॥४१॥

भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि ॥४२॥
अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥४३॥
किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥४४॥
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥
निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥४६॥
अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥४७॥
मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम्।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ॥४८॥

कभी कभी किसी असहनीय अनिष्ट से (आतङ्कित होकर उसे रोकने के लिए) भी मनस्विनी स्त्रियाँ इस प्रकार के कठोर तप में लग जाती हैं। किन्तु हे कृशोदरि! इस विचार के पथ-पर भी जब मैं अपने चित्त को लगाता हूँ तब भी तुममें इस प्रकार के भावी अनिष्ट की कोई आशंका मुझे नहीं दिखाई पड रही है ॥४२॥

हे सुन्दर भौंहों वाली! तुम्हारी आकृति ऐसी है कि न तो तुम्हें कोई शोक हो सकता है और न कोई तुम्हारा अपमान ही कर सकता है और पिता के घर में तुम्हारा अपमान हो भी कैसे सकता है। कोई तुमसे छेड़छाड़ भी तो नहीं कर सकता, क्योंकि सर्प के मस्तक से मणि निकालने के लिए अपने हाथ को कौन बढा सकता है ॥४३॥

इस नवयौवन में ही तुमने आभूषणों को त्याग कर वृद्धावस्था में शोभा देने वाले वल्कल वस्त्रों को क्यों धारण कर लिया है? भला कहीं चन्द्रमा और तारों से भरी रजनी प्रारम्भ में ही सूर्य के सारथी अरुण की ओर आया करती है ॥४४॥

यदि तुम्हें स्वर्ग की कामना है तो यह तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे पिता [illegible] …लाषा से तप [illegible] …रत्न को ही [illegible] …ससे तुम्हारे मन की अभिलाषा की बात मुझे मालूम हो रही है, किन्तु मेरे मन में यह संशय हो रहा है कि ऐसा कौन व्यक्ति है जो तुम्हारे कामना करने पर भी तुम्हें न मिले ॥४५-४६॥

आश्चर्य की बात है? तुम्हारा इष्ट कोई कठोर हृदय वाला युवक है, जो चिरकाल से सुसज्जित कमलों से विहीन तुम्हारे कानों तथा कपोलों पर शिथिल होकर लटकी हुई धान की पकी बालों की तरह पीली तुम्हारी जटा की उपेक्षा कर रहा है ॥४७॥

मुनियों के समान कठोर तप करते करते तुम अत्यन्त कृश हो गई हो, और जिस शरीर पर आभूषण धारण करने चाहिए थे, वह सूर्य की किरणों से झुलस-सा गया है, इस प्रकार दिन में चन्द्रमा की किरणों के समान तुम्हारी इस दीन दशा को देखकर किस सहृदय का मन दुःख से नहीं भर जायगा ॥४८॥

अयं मि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः॥४९॥

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम्॥५०॥

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत॥५१॥

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपः साधनमेतया वपुः॥५२॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति॥५३॥

असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः॥५४॥

तुम्हारा वह इष्ट व्यक्ति कोई व्यर्थ ही अपने सौंदर्य के गर्व से भूला हुआ मालूम पड़ रहा है, जो अतीव मधुर दिखाई पड़ने वाले, तिरछी पलकों वाले तुम्हारे इन प्रिय नेत्रों से अपने मुख को चिरकाल तक के लिए लक्ष्य नहीं बना रहा है॥४९॥

हे गौरि! तुम अभी कितने समय तक तपस्या का यह कष्ट उठाती रहोगी। मेरे पास भी पूर्व संचित बहुत सारा तप है। उसका अर्धभाग लेकर तुम अपने अभीष्ट वर (पति) को प्राप्त करो। किन्तु मैं इतना अवश्य भलीभांति जानना चाहता हूं कि वह वर है कौन? ॥५०॥

इस प्रकार जैसे अपने अन्तःकरण के भीतर प्रविष्ट होकर उक्त ब्राह्मण द्वारा पूछे जाने पर भी पार्वती अपनी मनोवाञ्छा को प्रकट करने में जब किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकी तब अपने काजल रहित नेत्रों को घुमाकर उन्होंने अपने पास बैठी हुई अपनी सखी की ओर देखा॥५१॥

(तब) पार्वती की सखी उस ब्राह्मण से बोली—भद्रपुरुष! यदि आपको कौतूहल है तो सुनो, मैं बता रही हूँ कि किस प्रयोजन के लिए मेरी सखी ने अपने अतीव कोमल शरीर को इस कठोर तपस्या में लगा दिया है। यह तो वैसा ही है जैसे कोई कमल से छतरी का काम ले रहा हो॥५२॥

यह मेरी मानिनी सखी महेन्द्र आदि परम ऐश्वर्यशाली दिक्पालों को छोड़कर उन पिनाकपाणि महादेव जी को पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है, जिन्हें अब कामदेव के नष्ट कर देने के कारण (केवल) अपने सौंदर्य के द्वारा मुग्ध नहीं किया जा सकता॥५३॥

पुष्पधन्वा कामदेव का बाण जो पहले शिवजी पर चलाया गया था, उनके असह्य हुंकार के कारण वापस लौटकर शिवजी के पास तक तो नहीं पहुंचा सका किन्तु उसने कामदेव का शरीर जल जाने के बाद भी मेरी इस सखी के हृदय पर गम्भीर आघात कर दिया है॥५४॥

तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥५५॥
उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥५६॥
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥५७॥
यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥५८॥
यदा च तस्याधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥५९॥
द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥६०॥
न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥६१॥

उसी समय से यह हमारी सखी अपने पिता हिमालय के घर (में भी) इतने उत्कट काम के वश में हो गई कि इनके सिर की अलकें चन्दन एवं तिलक लगाते लगाते मटमैली हो गईं और यद्यपि यह बरफ की शिलाओं पर लेटी रहती थीं फिर भी इन्हें चैन नहीं मिलता था ॥५५॥

यह हमारी सखी जब कभी बाष्प-गद्गद कण्ठ से पिनाकधारी शिवजी के गुणों का गायन करने लगती थी तो वे गीत इतने हृदयद्रावक होते थे कि इनकी वन में रहने वाली संगीत की सखियाँ, किन्नरराज की कन्याएँ भी अनेक बार रोने लगती थीं ॥५६॥

(कई बार तो ऐसा होता रहा कि) रात्रि के तीन प्रहर शेष रहने पर अर्थात् एक प्रहर रात बीतने पर ही यह क्षणमात्र के लिए जब सो जाती थीं तो तुरन्त ही जाग उठती थीं और—हे नीलकण्ठ ! कहाँ चले जा रहे हो—यह कहकर सपने के धोखे में ही किसी अदृश्य व्यक्ति को सम्बोधित कर अपने हाथों को ऐसा फैला लेती थीं जैसे शिवजी के कण्ठ में हाथ डालकर उन्हें रोक रही हों ॥५७॥

एकान्त में अपने हाथों से चित्रित चन्द्रशेखर को यह हमारी भोली-भाली सखी यह उलाहना दिया करती थी कि—तुमको तो विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी बताते हैं तब फिर मेरे मन के भावों का तुम्हें क्यों पता नहीं लगता ॥५८॥

जगत्पति शङ्कर जी को प्राप्त करने का जब अन्य उपाय इन्हें नहीं मिल सका तब पिता हिमालय की आज्ञा से यह हम लोगों के साथ तपस्या करने के लिए इस तपोवन में चली आईं ॥५९॥

हमारी सखी ने यहाँ आकर जिन वृक्षों को स्वयं लगाया था, वे ही इनके कठोर तप के साक्षी बन कर अब फलने भी लग गए हैं किन्तु महादेव जी को (पति रूप में) प्राप्त करने के इनके मनोरथ में (अभी तक) अङ्कुर भी नहीं फूटे दिखाई पड़ रहे हैं ॥६०॥

न जाने कष्ट से प्राप्त होने योग्य वे महादेव जी तपस्या से अत्यन्त कृश होने के कारण सखियों द्वारा साश्रुनयन देखी जाती हुई इस हमारी सखी पर न जाने कब उस प्रकार की कृपा वृष्टि करेंगे जैसे अनावृष्टि से सूखी जाती हुई भूमि पर इन्द्र वृष्टि करते हैं ॥६१॥

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया।
अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥६२॥
अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम्।
कथंचिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥६३॥
यथा श्रुतं वेदविदां वर त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥६४॥
अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥६५॥
अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥६६॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥६७॥
चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥६८॥

पार्वती के मन की बातों को जानने वाली सखी से तपस्या के ठीक ठीक कारण बतला दिए जाने पर उस सुन्दर ब्रह्मचारी ने, हर्ष का कोई चिह्न प्रकट किए बिना ही, पार्वती से पूछा—क्यों जी ! यह तुम्हारी सखी ने जो कुछ कहा है वह सत्य है या मजाक है ॥६२॥

उक्त ब्रह्मचारी की यह बात सुनकर पार्वती ने अपनी स्फटिक की माला को अपनी अँगुलियों से समेट कर मुट्ठी मे ले लिया और बड़ी देर तक सोच विचार करने के बाद किसी प्रकार के थोड़े-से नपे तुले (यह) शब्द कहे ॥६३॥

वेद ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! आपने जो कुछ (मेरी सखी से) सुना है वह ठीक ही है। यह तपस्विनी इसी ऊँचे पद को प्राप्त करने की अभिलाषिणी है। सचमुच मेरी यह तपस्या उसी पद को प्राप्त करने के लिए है। (मनुष्य के) मनोरथों की कोई सीमा नहीं होती ॥६४॥

पार्वती की बात सुनकर ब्रह्मचारी बोला—महादेव जी को सारा संसार जानता है। आप फिर से उन्हें प्राप्त करने के लिए यह तपस्या कर रही हैं। उनके अमांगलिक कार्यों की प्रवृत्तियों को जानकर मुझे तो आपकी इस इच्छा का अनुमोदन करने का उत्साह नहीं हो रहा है ॥६५॥

हे पार्वती ! आप तो निकृष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए हठ कर रही हैं। (सोचें तो) विवाह के अवसर पर मंगल-सूत्र से सुसज्जित आपका यह हाथ महादेव जी के उस हाथ के पाणिग्रहण के समय के प्रथम बार के स्पर्श को किस प्रकार सहन करेगा, जिसमें कंकण के स्थान पर सर्प लिपटे होंगे ॥६६॥

हे गौरी ! आपही तनिक सोचें कि सुन्दर हंस के चित्रों से सुसज्जित नववधू (आप) का दुपट्टा एवं (महादेव जी द्वारा शरीर पर ओढ़ी हुई) रक्त की बूँदें चुआती हुई हाथी की खाल क्या—ये दोनों आपस में मिलने योग्य हैं ॥६७॥

अपने जिन दोनों चरणों में महावर लगाकर तुम फूलों से भरे हुए चौक में घूमती रही हो उन्हीं से तुम उन श्मशान भूमियों पर चलो जिनमें मुर्दों के बाल बिखरे हुए हों—यह तो तुम्हारा कोई शत्रु भी नहीं चाहेगा ॥६८॥

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षःसुलभं तवापि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥६९॥

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥७०॥

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥७१॥

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥७२॥

निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥७३॥

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥७४॥

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥७५॥

और यदि आपको महादेव जी सुगमता से मिल भी जायें तो भी इससे बढ़कर और क्या बुरा होगा कि हरिचन्दन से लिप्त तुम्हारे इन दोनों स्तनों पर (महादेव जी के शरीर में पुती हुई) चिता की भस्म आकर लग जाय ॥६९॥

यह तुम्हारे लिए एक दूसरी ही विडम्बना होगी कि तुम अब तक तो श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर चलती रही हो किन्तु विवाह हो जाने पर महादेव के साथ बूढ़े बैल पर जब चढ़कर निकलोगी तब नगर के श्रेष्ठ लोग (क्या) हँसते (नहीं) लगेंगे ॥७०॥

महादेव जी को प्राप्त करने की तुम्हारी अभिलाषा के कारण अब दो का भाग्य फूट गया है। एक तो चन्द्रमा की कला का, जो उनके मस्तक पर विराजमान है और दूसरे आपका, जो संसार के नेत्रों को शान्ति देने वाली कौमुदी के समान हैं ॥७१॥

महादेव का शरीर तीन नेत्रों से युक्त है। उनके कुल-खानदान का कोई पता नहीं है। और उनकी धन-सम्पदा का अनुमान इतने से ही किया जा सकता है कि पहनने के लिए एक वस्त्र भी नहीं है, नंगे रहते हैं। हे मृग के शावकों के समान नेत्रोंवाली ! वरों में जो भी बातें देखी जाती हैं, उनमें से क्या एक भी बात त्रिलोचन में है ॥७२॥

इसलिए तुम इस अशुभ कामना से अपने चित्त को वापस फेर लो, क्योंकि कहाँ ऐसे महादेव और कहाँ सभी शुभ लक्षणों से युक्त तुम। सज्जन लोग यज्ञ में स्तम्भ बनाने के लिए श्मशान की लकड़ी का उपयोग नहीं किया करते ॥७३॥

इस प्रकार उक्त ब्रह्मचारी द्वारा शंकर जी के सम्बन्ध में प्रतिकूल बातें कहने पर पार्वती के अधर क्रोध के कारण कांपने लगे। उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, उनकी आँखों में लाली दौड़ गई और वे वक्रदृष्टि से उनकी ओर ताकने लगीं ॥७४॥

फिर उनसे वह इस प्रकार बोलीं—निश्चय ही तुम शंकर जी को वास्तविक रूप में नहीं जानते, इसीलिए मुझसे ऐसा कह रहे हो। मूर्ख लोग अनाचारण महापुरुषों के चरित से अकारण ही द्वेष रखते हैं ॥७५॥

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥७६॥

अकिंचनः सन्प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥७७॥

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥७८॥

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्म रजोविशुद्धये।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥७९॥

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥८०॥

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥८१॥

अपना अमगल दूर करने के लिए अथवा किसी ऐश्वर्य की कामना से लोग मागलिक पदार्थों का सेवन करते है। किन्तु जो महादेव जी ससार भर को शरण देने वाले हैं, और जिन्हे कोई कामना शेष नही है, उन्हे इन अन्त करण की तृष्णा से दूषित मागलिक (चन्दनादि सुगधित) पदार्थों की क्या आवश्यकता है ॥७६॥

वह स्वय अकिंचन होते हुए भी समस्त सम्पदा के उत्पन्न करने वाले हैं, श्मशान भूमि मे निवास करते हुए भी तीनो लोको के स्वामी हैं। भयकर आकृति वाले होने पर भी शिव (कल्याणकारी) हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को पहचानने वाला इस ससार में कोई नही है ॥७७॥

इस ससार मे जितने भी रूप दिखाई पडते हैं वे सब उन्ही के तो हैं। अत उनमे यह नही देखा जाता कि वह आभूषणधारी है या उनके शरीर पर साँप लिपटे हुए हैं। सुन्दर दुकूलधारी हैं या हाथी का चमडा लपेटे हुए है। चन्द्रकला से सुशोभित है अथवा मुण्डमाला धारण किए हुए हैं ॥७८॥

उनके शरीर का स्पर्श पाकर वह चिता की भस्म भी निश्चय ही परम पवित्रता देने वाली बन जाती है क्योकि ताण्डव नृत्य का अभिनय करते समय उनके शरीर से झडकर गिरी हुई वही चिता की भस्म देवताओ द्वारा अपने मस्तक पर लगाई जाती हैं ॥७९॥

मद बहाने वाले दिग्गजो पर आरूढ इन्द्र सम्पत्ति से विहीन एव बैल पर आरूढ उन शकर जी के चरणो को अपने मस्तक से लगाकर खिले हुए मदार के पुष्पो के पराग से रँग देने के कारण लाल लाल अगुलियो वाला बना देते है ॥८०॥

अपने नीच स्वभाव के कारण तुमने दोषो को गिनाते समय भी महादेव जी के लिए एक बात सत्य ही कही है कि उनके कुल-खान्दान का कोई पता नही है। भला जिसे स्वयम् ब्रह्मा जी को भी उत्पन्न करने वाला बताया जाता है, उनके जन्म तथा कुल-खान्दान का पता लग ही कैसे सकता है ? ॥८१॥

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥८२॥
निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥८३॥
इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः॥८४॥
तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥८५॥
अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥८६॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः॥५॥

अथवा इस प्रकार के विवाद की आवश्यकता ही क्या है ? जैसा कुछ तुमने सुन रखा है, वह सब बिल्कुल ठीक हो हो, किन्तु मेरा मन तो एकमात्र उनमें ही रमा हुआ है। प्रेम करने वाला कभी निन्दा से नहीं डरता॥८२॥

हे सखि ! देखो इस ब्रह्मचारी का अधर फिर हिल रहा है, लगता है, यह फिर कुछ कहना ही चाहता है, इसे रोको। क्योंकि जो बड़ों की निन्दा करता है, केवल वही पाप का भागी नहीं होता, बल्कि उसकी बातों को जो सुनता है, वह भी पाप-भागी होता है॥८३॥

अथवा मैं ही यहाँ से चली जा रही हूँ—ऐसा कह कर पार्वती वहाँ से चल पड़ी। उनका वल्कल वस्त्र स्तनों द्वारा फट गया। तभी वृषभध्वज शंकर जी ने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया और मुस्कराते हुए उन्होंने जाती हुई पार्वती को पकड़ लिया॥८४॥

• महादेव जी को देखकर पर्वतराज पुत्री पार्वती का शरीर काँपने लगा और वह पसीने से भीग गई। अन्यत्र जाने के लिए उन्होंने अपना एक चरण उठा लिया था, किन्तु जिस प्रकार से नदी के मार्ग में कोई पर्वत आ जाय तो न तो वह पीछे लौट सकती है और न आगे बढ़ सकती है—उसी प्रकार वह भी न तो जा ही सकीं और न ठहर ही सकीं॥८५॥

हे सुन्दर अंगों वाली पार्वती ! मैं आज से तुम्हारे तप द्वारा खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ—चन्द्रशेखर शंकर जी द्वारा ऐसा कहते ही पार्वती जी ने तपस्या द्वारा उठाया गया अपना सम्पूर्ण क्लेश तत्क्षण भुला दिया। क्यों न हो, अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाने पर सारा क्लेश भूल ही जाता है और ताजगी आ जाती है॥८६॥

महाकवि श्रीकालिदास रचित कुमारसम्भव महाकाव्य में पार्वती की तपस्या का फलोदय नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त॥५॥

# षष्ठः सर्गः

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मियः सखीम्।
दाता मे भूभृतां नायः प्रमाणीक्रियतामिति ॥१॥
तया व्याहृतसंदेशा सा बभौ निभृता प्रिये।
चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी ॥२॥
स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥३॥
ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः।
सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥४॥
आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु ।
व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥५॥
मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥६॥

# छठाँ सर्ग

इसके अनन्तर पार्वती ने अपनी सखी द्वारा विश्वात्मा शकर से यह कहलाया कि मेरे पिता पर्वतराज हिमालय ही मुझे आपके लिए दे सकते है अत आप उनसे अनुरोध कीजिए ॥१॥

पार्वती अपनी सखी द्वारा उक्त सन्देश कहला कर अपने प्रिय शकर जी के प्रेम में ऐसी लीन हो गईं जैसे आम की डाल वसन्त ऋतु के पास कोयल के द्वारा अपना सन्देश भेजकर खिल उठती है ॥२॥

कामदेव के विनाशक शकर ने—अच्छा ऐसा ही करूगा—ऐसी प्रतिज्ञा कर पार्वती जी को किसी प्रकार बिदा किया। उसके पश्चात् उन्होंने परम तेजस्वी सातों ऋषियो को स्मरण किया ॥३॥

वे तपस्वी सप्तर्षि, अपने प्रभामण्डल से आकाश को प्रभासित करते हुए अरुन्धती के समेत शीघ्र ही परमेश्वर महादेव के सम्मुख आकर प्रकट हो गए ॥४॥

उन्होंने उस आकाशगगा के जल मे स्नान किया था, जिसके तट पर खडे हुए मन्दार [illegible] है और जिसका जल दिग्गजो के मदजल [illegible]

[illegible] सुवर्ण के वस्त्र धारण किये थे। रत्नों की बनी रुद्राक्ष की माला उनके पास थी। (उन्हे देखकर) ऐसा मालूम पड़ता था जैसे स्वय कल्पवृक्षों ने ही प्रव्रज्या (सन्यास) ले ली हो ॥६॥

अथः प्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना ।
सहस्ररश्मिना साक्षात्प्रमाणमुदीक्षिताः ॥७॥
आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा ।
महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥८॥
सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरनन्तरम् ।
पुरातनाः पुराविद्भिर्धातार इति कीर्तिताः ॥९॥
प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम् ।
तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः ॥१०॥
तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा ।
साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती ॥११॥
तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥
तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥
धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति ।
पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥१४॥

उन सप्तर्षियों के नीचे से जाते हुए सहस्ररश्मि सूर्य अपने अश्वों को नीचे ही रोककर और अपनी पताका उतार कर बड़ी नम्रता के साथ आँखें उठाकर उन्हें प्रणाम करते हैं ॥७॥

वे सप्तर्षिगण प्रलय के अवसर पर महावराह द्वारा उद्धृत दाढ़ों पर रखी हुई पृथ्वी को अपनी बाहों से पकड़ कर उन्हीं पर विश्राम किया करते हैं ॥८॥

विश्वयोनि ब्रह्मा के अनन्तर शेष संसार का निर्माण यही सप्तर्षिगण करते हैं। इसीलिए पुराविद् लोग इनको प्राचीन विधाता के नाम से पुकारते हैं ॥९॥

यह सप्तर्षि लोग अपने पूर्वजन्म में किए गए पुण्यकर्मों एवं तपस्या के फलों का उपभोग कर रहे हैं, किन्तु तब भी आज भी यह लोग तपस्या में लीन रहते हैं ॥१०॥

उन सप्तर्षियों के बीच में अरुन्धती अपने पति के चरणों की ओर दृष्टि लगाए हुए ऐसी सुशोभित होती है, मानो साक्षात् तपस्या की सिद्धि हो ॥११॥

शंकर जी ने उन सप्तर्षियों के बीच में विद्यमान अरुन्धती को बिना किसी ऊँच-नीच के भेदभाव के ऋषियों की भाँति ही समान दृष्टि से देखा। महान् लोग स्त्री और पुरुष में भेद नहीं करते वे केवल उनके चरित्र को ही महत्त्व देते हैं ॥१२॥

सप्तर्षियों के बीच में अरुन्धती को देखकर शंकर जी का विवाह के प्रति आग्रह और बढ़ गया। क्योंकि सभी धार्मिक क्रियाओं में मूल कारण साधु स्वभाव की पत्नियाँ ही होती हैं ॥१३॥

पार्वती को पत्नी के रूप में ग्रहण करने की यह इच्छा यद्यपि महादेव जी में धर्म के कारण उत्पन्न हुई थी तथापि पहले के अपराध से भयभीत कामदेव का चित्त जीवन की आशा से युक्त हो गया ॥१४॥



अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम्।
इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ॥१५॥
यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम्।
यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ॥१६॥
यदध्यक्षेण जगतां वयमारोपितास्त्वया।
मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥१७॥
यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः।
किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥१८॥
सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम्।
अद्य तूच्चैस्तरं ताभ्यां स्मरणानुग्रहात्तव ॥१९॥
त्वत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहे वयम्।
प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥२०॥
या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष त्वदनुध्यानसंभवा।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२१॥
साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे ॥२२॥

तब सामवेद के प्रवक्ता उन सब मुनियों ने महादेव जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के पश्चात प्रेम से पुलकित गात्र होकर यह कहा——॥१५॥

हम सबने जो अब तक नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन किया, अग्नि में आहुतियाँ दीं तपस्याएँ कीं, उन सबका फल आज हमें मिला है ॥१६॥

क्योंकि आप इस सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं और आपके जिस मन तक किसी की अभिलाषाएँ भी नहीं पहुँच पाती उसी मन से आपने हम सबको स्मरण किया है ॥१७॥

जिसके चित्त में आप विद्यमान रहते हैं, वह व्यक्ति कृतकृत्य लोगों में सर्वश्रेष्ठ है। और वेदों के उत्पत्ति करने वाले आपके चित्त में जो बसे उसके सौभाग्य का तो कहना ही क्या है ?॥१८॥

यह सत्य है कि हमारा स्थान सूर्य तथा चन्द्रमा से भी ऊपर है, किन्तु आपने आज अनुग्रह करके जो हमारा स्मरण किया है, उससे तो हमारा पद और भी अधिक ऊंचा हो गया है ॥१९॥

आपने जो हमारा स्मरण किया है, इससे हम अपने आपको बहुत भाग्यशाली मान रहे हैं। क्योंकि जब उत्तम लोग आदर प्रकट करें तभी व्यक्ति को अपने गुणों में विश्वास होता है ॥२०॥

हे त्रिलोचन ! आपके स्मरण करने से जो हमें आनन्द मिला है, उसे आपके सम्मुख हमें प्रकट करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि आप तो सभी प्राणियों के हृदय की बातों को जानने वाले हैं ॥२१॥

यद्यपि हम आपको अपनी आंखों से देख रहे हैं, तथापि आपके वास्तविक स्वरूप को हम नहीं जानते। कृपाकर अपना स्वरूप हमें बतलाइए क्योंकि आप बुद्धि द्वारा भी गम्य नहीं हैं। ॥२२॥

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते॥२३॥

अथवा सुमहत्येषा प्रार्थना देव तिष्ठतु।
चिन्तितोपस्थितांस्तावच्छाधि नः करवाम किम्॥२४॥

अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः।
उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः॥२५॥

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः॥२६॥

सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः॥२७॥

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्॥२८॥

तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः।
विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः॥२९॥

उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः।
तेन योजितसंबन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम्॥३०॥

आपका जो यह रूप हमारी आँखों के सामने है, यह वही रूप है, जिससे आप संसार की सृष्टि करते हैं। या यह रूप है, जिससे संसार को धारण करते हैं। या वह रूप है, जिससे संसार का संहार करते हैं॥२३॥

अथवा हे देव! यह प्रार्थना तो बहुत बड़ी हो सकती है। इसे अभी रहने दिया जाय। पहले यह बतलाइए कि आपने किस प्रयोजन के लिए हमें स्मरण किया है और हमें क्या करना है॥२४॥

मुनियों की यह प्रार्थना सुनकर परमेश्वर महादेव ने अपने मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की कला को, अपने दाँतों की किरणों से बढ़ाते हुए, मन्दस्मित से कहा—॥२५॥

आप लोग यह तो जानते ही हैं कि मेरी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थ से प्रेरित नहीं होती। मेरी आठों मूर्तियों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और होता) से भी यही बात मालूम पड़ती है॥२६॥

इस समय अपने शत्रुओं से पराजित देवताओं ने मुझसे सन्तान की याचना की है, जैसे प्यास से व्याकुल चातक (स्वाती के) बादलों से वृष्टि की याचना करते हैं॥२७॥

इसलिए मैं सन्तान-प्राप्ति के लिए पार्वती को उसी तरह अपने घर ले आना चाहता हूँ जैसे यज्ञ करने वाले अग्नि की उत्पत्ति के लिए अरणी को अपने घर ले आते हैं॥२८॥

अतः आप लोग मेरी ओर से जाकर हिमालय से पार्वती की याचना कीजिए, क्योंकि सत्पुरुषों द्वारा स्थापित सम्बन्धों में बिगाड़ नहीं हुआ करता॥२९॥

ऊँचे, सुप्रतिष्ठित तथा पृथ्वी का भार ढोने वाले हिमालय से सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर मैं भी अपने-आप को धन्य समझूँगा॥३०॥

एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते।
भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥३१॥
आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंध्रीणां प्रगल्भता ॥३२॥
तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम्।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥३३॥
तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे।
जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥३४॥
ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम्।
भगवानपि संप्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम् ॥३५॥
ते चाकाशमसिश्यामम् उत्पत्य परमर्षय।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥३६॥
अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसंपदाम्।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥३७॥
गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि।
बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥३८॥

कन्यादान के लिए हिमालय से जाकर क्या कहना चाहिए—यह मैं आप लोगों को क्या बताऊँ, क्योंकि आप लोगों ने ही जिस लोकाचार का निर्माण किया है, उसी का तो सब सज्जन लोग पालन करते हैं ॥३१॥

और इस सम्बन्ध में आर्या अरुन्धती को भी कुछ सहायता करनी होगी, क्योंकि इस प्रकार के विवाहादि कार्यों में स्त्रियाँ अधिक कुशल होती है ॥३२॥

अब आप लोग इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए हिमालय के औषधिप्रस्थ नामक नगर को जाइए। यहाँ महाकोशी नामक नदी के प्रपात के निकट ही हम लोगों का फिर से समागम होगा ॥३३॥

सयमी योगियों में श्रेष्ठ महादेव जी को विवाह के लिए इस प्रकार समुत्सुक देखकर उन तपस्वी सप्तर्षियों की विवाह के कारण उत्पन्न होने वाली लज्जा जाती रही ॥३४॥

इसके बाद-बहुत अच्छा—यह कहकर मुनियों का समूह वहाँ से चल पड़ा और महादेव जी भी पहले बताए गए स्थान पर पहुंच गए ॥३५॥

मन के समान तीव्र चलने वाले वे सप्तर्षि, नीले आकाश में उड़ते हुए उस औषधिप्रस्थ नामक नगर में पहुंच गए ॥३६॥

यह औषधिप्रस्थ नामक नगर धन-सम्पदा में कुबेर की नगरी अलका से भी बढ़ चढ़कर इस प्रकार सुशोभित था मानो स्वर्ग में न समा सकने वाली अतिरिक्त धन-सम्पदा एवं ऐश्वर्य की राशि यहाँ लाकर सजा दी गई हो ॥३७॥

उस नगर के चारों ओर गंगा जी की धारा बहती थी और चारों ओर बनी हुई चहारदीवारी पर औषधियाँ चमक रही थीं। मणियों के बने ऊंचे ऊंचे परकोटों में छिप रहने पर भी वह अतीव मनोहर लगता था ॥३८॥

जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिल्वयोनयः ।
यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥३९॥

शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥४०॥

यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः ।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥

यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु ।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥४२॥

यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः ।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥४३॥

यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥४४॥

भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः ।
यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥४५॥

वहाँ के हाथी ऐसे थे जो सिंहों से नहीं डरते थे और घोड़े सबके सब 'बिल्व' जाति के थे। वहाँ के सभी नागरिक यक्ष और किन्नर थे तथा स्त्रियाँ वनदेवियाँ थीं ॥३९॥

इस नगर के घरों पर दिन-रात मेघ छाए रहते थे। इसलिए जब सभी घरों में मृदंग आदि बजते थे तो पहले लोगों को यही भ्रम होता था कि बादल गरज रहे हैं किन्तु बाद में सम ताल आदि के द्वारा यह पता लगता था कि मृदंग बज रहे हैं ॥४०॥

कल्पवृक्ष की चंचल शाखाएँ ही इस नगर के नागरिकों की साड़ियाँ थीं। यद्यपि वे नागरिकों द्वारा घरों के ऊपर में नहीं लगायी गयी थीं फिर भी ऐसी मालूम पड़ती थीं मानों घरों पर बड़े यत्न करके उनमें झंडियाँ बाँध दी गई हों ॥४१॥

इस नगर के स्फटिक निर्मित भवनों में स्थापित मदिरालयों में जब रात्रि के समय तारकों के प्रतिबिम्ब चमकते थे तो वे रत्नजटित हारों के समान मालूम पड़ते थे ॥४२॥

इस नगर में रात्रि के समय जब विविध प्रकार की औषधियाँ चमककर प्रकाश करती हैं तब बरसात के दिनों में भी अभिसारिकाओं को अन्धकार का अनुभव नहीं होता ॥४३॥

इस नगर में आयु के अन्त तक युवावस्था बनी रहती है और कामदेव के अतिरिक्त यहाँ कोई हत्यारा नहीं है। रमण के अनन्तर आने वाली नींद के अनन्तर यहाँ अन्य किसी प्रकार की चेतनाशून्यता नहीं होती ॥४४॥

इस नगर में रमणियाँ अपनी भ्रुकुटियों को टेढ़ी करके काँपते हुए होंठों से तथा अपनी सुन्दर अंगुलियों द्वारा अपने प्रेमियों को तब तक धमकाती हैं जब तक वे मनाकर प्रसन्न नहीं कर लो जातीं—इसके अतिरिक्त यहाँ क्रोध का कोई अवसर ही नहीं आता ॥४५॥

संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् ।
यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥४६॥
अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् ।
स्वर्गाभिसंधिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥४७॥
ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः ।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥४८॥
गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरस्सरा ।
तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥
तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः ।
नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुंधराम् ॥५०॥
धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥५१॥
विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः ।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥५२॥
तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः ।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥५३॥

इस नगर का उपवन गन्धमादन नामक पर्वत है, जहाँ पथ पर चलने वाले विद्याधर लोग चलते हुए जब थक जाते हैं तब कल्पवृक्षों की छाया में सोकर विश्राम किया करते हैं ॥४६॥

हिमालय के उस नगर को देखकर उन सप्तर्षियों को यह अनुभव हुआ कि स्वर्गप्राप्ति के लिए जो इन्होंने इतना पुण्यार्जन किया, उसमें वे ठगे ही गए ॥४७॥

चित्र में बनी हुई अग्नि की निश्चल लपटों के समान अपनी जटाओं से युक्त वे सप्तर्षि जब बड़े वेग से हिमालय के भवन पर उतरे तब पर्वतराज के द्वारपालों ने मुख उठाकर इन्हें बड़े आश्चर्य के साथ देखा ॥४८॥

आकाश से वे सातों ऋषि बड़े-छोटे के क्रम से उतरते हुए ऐसे मालूम पड़ रहे थे जैसे जल की लहरों में पड़ते हुए सूर्य के प्रतिबिम्बों की पंक्तियाँ हों ॥४९॥

उन पूजनीय ऋषियों के लिए पूजा योग्य सामग्री लेकर पर्वतराज हिमालय ने दूर तक आकर स्वागत किया। उस समय उनके भारयुक्त पद-न्यास से धरती धसकने-सी लगी ॥५०॥

उनके ओंठ गेरु की तरह लाल थे (गेरु आदि की लाल चट्टानें ही उनके ओंठ थे)। ऊंचाई अत्यधिक थी। देवदारु के समान विशाल भुजाएँ थीं (देवदारु के बड़े-बड़े वृक्ष ही उनकी भुजाएँ थीं) और छाती स्वभावतः पत्थर की चट्टानें बनी थीं। इससे देखते ही मुनियों ने पहचान लिया कि यही हिमालय हैं ॥५१॥

बैठ कर पर्वतराज हिमालय ने हाथ जोड़कर उन परम ऐश्वर्यशाली मुनियों से यह कहा— ॥५३॥

अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम्।
अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥५४॥
मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्।
भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥५५॥
अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये।
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥५६॥
अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७॥
जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम्।
विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥५८॥
भवत्संभावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते।
अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ॥५९॥
न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः।
अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः ॥६०

विना किसी सूचना के अत्यन्त अतर्कित रूप में आप लोगों का जो यह शुभागमन हुआ है, वह मुझे ऐसा लग रहा है जैसे विना बादलों के वर्षा हो गई हो या विना फूलों के फल लग गए हों ॥५४॥

आप लोगों की इस कृपा से आज मैं अपने आपको ऐसा अनुभव कर रहा हूं, जैसे कोई मूर्ख अकस्मात् ज्ञानी बन गया हो या लोहा सुवर्ण बन गया हो या मैं अकस्मात् भूमि लोक से स्वर्ग में पहुंच गया हूं ॥५५॥

आज से मैं सचमुच सभी प्राणियों के लिए आत्मशुद्धि करने का स्थान बन गया हूं। क्योंकि जहाँ महान लोग निवास करते हों उसी को तीर्थ कहा जाता है ॥५६॥

हे सप्तर्षियो ! मैं अपने आपको दो वस्तुओं से पवित्र हुआ मानता हूँ। एक तो अपने मस्तक पर गिरने वाली गंगा की धारा से और दूसरे आप लोगों के चरणों के धोने के बाद बचे हुए जल से ॥५७॥

मैं मानता हूं कि आप लोगों ने मेरे शरीर के स्थावर और जंगम दोनों ही रूपों पर विशेष अनुग्रह किया है। क्योंकि मेरे जंगम (चल) शरीर को तो आपने अपनी सेवा का अवसर प्रदान कर दास बना लिया है और मेरे स्थावर शरीर पर आपने अपने चरण रख दिए हैं ॥५८॥

आप लोगों की इस कृपा के कारण मुझमें इतना हर्ष उत्पन्न हो गया है कि सुदूर दिशाओं तक फैले हुए अपने अंगों में भी मैं फूला हुआ नहीं समा रहा हूँ ॥५९॥

आप जैसे तेजस्वियों के दर्शन से केवल मेरी गुफाओं में भरा हुआ अन्धकार ही नहीं नष्ट हुआ है, वरन् मेरे अन्तःकरण में विद्यमान रजोगुण के आगे का तम (अज्ञान-अन्धकार) भी नष्ट हो गया है ॥६०॥

कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्कि नोपपद्यते।
मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह॥६१॥
तथापि तावत्कस्मिश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ।
विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु॥६२॥
एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥६३॥
इत्यूचिवांस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा।
द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः॥६४॥
अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु।
ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम्॥६५॥
उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि।
मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः॥६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः॥६७॥
गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः।
आरसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत्॥६८॥

मैं समझता हू कि आप लोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर यहाँ नही आए होगे क्योकि यदि कोई प्रयोजन होता भी तो आप लोग उसे अपनी शक्ति से ही पुरा कर लिए होते। अत मैं तो केवल यही समझता हू कि आप लोग केवल मुझे पवित्र करने के लिए ही यहाँ पधारे हैं॥६१॥

तथापि मैं चाहता हू कि आप लोग मुझे कोई न कोई आदेश अवश्य दें। क्योकि सेवको पर स्वामी की प्रसन्नता तभी प्रकट होती है जब उन्हें किसी कार्य मे नियुक्त किया जाता है॥६२॥

यह मैं हूँ, ये (सामने खडी) मेरी स्त्रियाँ हैं, और यह मेरे कुल की प्राण मेरी कन्या है। इनमें से जिस किसी से भी आपका कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सके, उसको आदेश कीजिए। बाह्य वस्तुओ मे तो मुझे विश्वास नहीं है कि आपका कोई प्रयोजन सभव है॥६३॥

जब हिमालय इतनी बात कह चुका तब उसकी गुफाओ मे से लौटती हुई उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पडी और वह ऐसी मालूम पडी जैसे अपनी उसी बात को हिमालय ने दुबारा कही हो॥६४॥

तब सप्तर्षियो ने इस प्रकार के वार्तालाप मे निपुण अगिरा ऋषि से अनुरोध किया कि वे पर्वतराज हिमालय की बातो का उचित उत्तर दे। तब अगिरा बोले–॥६५॥

हे पर्वतराज! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जाय वह भी तुम्हारे लिए शोभा देता है। क्योकि तुम्हारे शिखरो के समान ही तुम्हारा मन भी ऊचा है॥६६॥

तुम्हे जो समस्त स्थावर पदार्थों का विष्णु कहा जाता है वह उचित ही है। क्योकि तुमने चर और अचर सभी प्रकार के प्राणियो को अपनी गोद मे स्थान दिया है॥६७॥

यदि तुम रसातल तक इस पृथ्वी को सहारा न दिए रहो तो शेषनाग अपने कमल नाल के समान कोमल फनो पर पृथ्वी को किस प्रकार धारण कर सकते हैं॥६८॥

अच्छिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः।
पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते॥६९॥
यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः।
प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया॥७०॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः।
त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव॥७१॥
यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया।
उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम्॥७२॥
काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम्।
इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः॥७३॥
तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत्।
श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः॥७४॥
अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः॥७५॥
कल्पितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि॥७६॥

अविच्छिन्न, निर्मल प्रवाह से युक्त और समुद्र की लहरों तक बहती चली जाने वाली तुमसे निकली हुई नदियाँ सभी लोकों को अपनी पवित्रता से पवित्र करती हैं और इसी प्रकार की (इन सभी विशेषणों से युक्त) तुम्हारी कीर्ति भी है॥६९॥

जिस प्रकार गंगा का आदर भगवान् विष्णु के चरण से निकलने के कारण किया जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे ऊँचे शिखरों से निकलने के कारण भी उसका आदर होता है॥७०॥

धरती, आकाश और पाताल में भगवान विष्णु की महिमा तब फैली जब (वामन रूप धारण कर) उन्होंने अपने तीन पगों में तीनों लोकों को मापा, किन्तु इतनी महिमा तो तुम्हें स्वाभाविक रूप से ही मिली हुई है॥७१॥

यज्ञ में भाग लेने वाले देवताओं के बीच में स्थान प्राप्त करके तुमने सुमेरु पर्वत के ऊँचे और सुनहले शिखरों को भी व्यर्थ बना दिया है॥७२॥

आपने अपनी सम्पूर्ण कठोरता अपने स्थावर शरीर में केन्द्रित कर दी है और आपका यह [illegible]

ही। [illegible]

जायगा॥७४॥

जो भगवान शंकर, अणिमा आदि आठों सिद्धियों से युक्त हैं, मस्तक पर अर्धचन्द्र को धारण करते हैं उन्हें तो आप जानते ही हैं कि वही एकमात्र संसार के स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई पुरुष ईश्वर नहीं कहला सकता॥७५॥

वही पृथ्वी आदि अपनी आठों मूर्तियों द्वारा इस विश्व को धारण करते हैं। उनकी ये आठों मूर्तियाँ एक दूसरे को परस्पर उसी प्रकार सहारा देती रहती हैं जिस प्रकार कई अश्व मिलकर एक रथ को खींचा करते हैं॥७६॥

कर्तव्यं यो न पश्यामि स्याच्चेत्कि नोपपद्यते।
मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह ॥६१॥
तथापि तावत्कस्मिश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ।
विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु ॥६२॥
एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥६३॥
इत्यूचिवांस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा।
द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥६४॥
अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु ।
ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ॥६५॥
उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि।
मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः ॥६७॥
गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः।
आरसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥६८॥

मैं समझता हू कि आप लोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर यहाँ नहीं आए होगे क्योकि यदि कोई प्रयोजन होता भी तो आप लोग उसे अपनी शक्ति से ही पूरा कर लिए होते। अत. मैं तो केवल यही समझता हू कि आप लोग केवल मुझे पवित्र करने के लिए ही यहाँ पधारे हैं ॥६१॥

तथापि मैं चाहता हूँ कि आप लोग मुझे कोई न कोई आदेश अवश्य दें। क्योकि सेवकों पर स्वामी की प्रसन्नता तभी प्रकट होती है जब उन्हे किसी कार्य मे नियुक्त किया जाता है ॥६२॥

यह मैं हूँ, ये (सामने खडी) मेरी स्त्रियाँ हैं, और यह मेरे कुल की प्राण मेरी कन्या है। इनमे से जिस किसी से भी आपका कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सके, उसको आदेश कीजिए। बाह्य वस्तुओं मे तो मुझे विश्वास नही है कि आपका कोई प्रयोजन सभव है ॥६३॥

जब हिमालय इतनी बात कह चुका तब उसकी गुफाओ मे से लौटती हुई उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पडी और वह ऐसी मालूम पडी जैसे अपनी उसी बात को हिमालय ने दुबारा कही हो ॥६४॥

तब सप्तर्षियो ने इस प्रकार के वार्तालाप मे निपुण अगिरा ऋषि से अनुरोध किया कि वे पर्वतराज हिमालय की बातो का उचित उत्तर दे। तब अगिरा बोले—॥६५॥

हे पर्वतराज! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जाय वह भी तुम्हारे लिए शोभा देता है। क्योकि तुम्हारे शिखरो के समान ही तुम्हारा मन भी ऊचा है ॥६६॥

तुम्हे जो समस्त स्थावर पदार्थों का विष्णु कहा जाता है वह उचित ही है। क्योकि तुमने चर और अचर सभी प्रकार के प्राणियो को अपनी गोद मे स्थान दिया है ॥६७॥

यदि तुम रसातल तक इस पृथ्वी को सहारा न दिए रहो तो शेषनाग अपने कमल नाल के समान कोमल फनो पर पृथ्वी को किस प्रकार धारण कर सकते हैं ॥६८॥

अच्छिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः।
पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते ॥६९॥
यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः।
प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥७०॥
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः।
त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ॥७१॥
यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया।
उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ॥७२॥
काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम्।
इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः ॥७३॥
तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत्।
श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ॥७४॥
अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् ।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः ॥७५॥
कल्पितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ॥७६॥

अविच्छिन्न, निर्मल प्रवाह से युक्त और समुद्र की लहरों तक बहती चली जाने वाली तुमसे निकली हुई नदियाँ सभी लोकों को अपनी पवित्रता से पवित्र करती हैं और इसी प्रकार की (इन सभी विशेषणों से युक्त) तुम्हारी कीर्ति भी है ॥६९॥

जिस प्रकार गंगा का आदर भगवान् विष्णु के चरण से निकलने के कारण किया जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे ऊँचे शिखरों से निकलने के कारण भी उसका आदर होता है ॥७०॥

धरती, आकाश और पाताल में भगवान विष्णु की महिमा तब फैली जब (वामन रूप धारण कर) उन्होंने अपने तीन पगों में तीनों लोकों को मापा, किन्तु इतनी महिमा तो तुम्हें स्वाभाविक रूप से ही मिली हुई है ॥७१॥

यज्ञ में भाग लेने वाले देवताओं के बीच में स्थान प्राप्त करके तुमने सुमेरु पर्वत के ऊँचे और सुनहले शिखरों को भी व्यर्थ बना दिया है ॥७२॥

आपने अपनी सम्पूर्ण कठोरता अपने स्थावर शरीर में केन्द्रित कर दी है और आपका यह चल (जंगम) शरीर सत्पुरुषों की आराधना में रत और भक्ति के कारण विनम्र है ॥७३॥

अच्छा, अब हम लोगों के आगमन का कारण सुनिए। और सच पूछिए तो यह आपका ही काम है। किन्तु श्रेयस्करी सम्मति देने के कारण इसका कुछ अंश हमें भी मिल जायगा ॥७४॥

जो भगवान शंकर, अणिमा आदि आठों सिद्धियों से युक्त हैं, मस्तक पर अर्धचन्द्र को धारण करते हैं उन्हें तो आप जानते ही हैं कि वही एकमात्र संसार के स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई पुरुष ईश्वर नहीं कहला सकता ॥७५॥

वही पृथ्वी आदि अपनी आठों मूर्तियों द्वारा इस विश्व को धारण करते हैं। उनकी ये आठों मूर्तियाँ एक दूसरे को परस्पर उसी प्रकार सहारा देती रहती हैं जिस प्रकार कई अश्व मिलकर एक रथ को खींचा करते हैं ॥७६॥

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥७७॥
स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्।
वृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः ॥७८॥
तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।
अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥७९॥
यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगत. पिता ॥८०॥
प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम्।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥८१॥
उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।
वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥८२॥
अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः।
सुतासंबन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ॥८३॥
एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥८४॥

योगी लोग अपने भीतर विद्यमान सर्वान्तिर्यामी उन्ही शकर की तलाश करते रहते है और विद्वान लोग उनके स्थान को जन्म-मरण के बन्धनो से मुक्ति देने वाला बताते है ॥७७॥

उन्ही समस्त ससार के कर्मों के प्रत्यक्ष साक्षी वरदानी शकर जी ने हम लोगो के मुख से सन्देश भेजकर स्वय अपने लिए आपकी पुत्री पार्वती की याचना की है ॥७८॥

जिस प्रकार वाणी का सबध अर्थ से होता है उसी प्रकार आप भी अपनी कन्या पार्वती का सम्बन्ध शिवजी से कर दे, क्योकि यदि कन्या को योग्य पति मिल जाता है तब पिता को उसके लिए कोई चिंता नही करनी पडती ॥७९॥

ये जो ससार के समस्त चर और अचर जीव हैं वे सभी तुम्हारी कन्या पार्वती को अपनी माता समझेंगे, क्योंकि शिवजी समस्त चराचर ससार के पिता है ॥८०॥

(फिर तो) देवता लोग शिवजी को प्रणाम करने के अनन्तर अपने शिर पर धारण की गई मणियो की प्रभा से इसके (आपकी कन्या के) दोनो चरणा को रँगा करेंगे ॥८१॥

पार्वती वधू होगी, आप कन्यादान करेंगे, हम लोग प्रार्थना करने वाले है, शम्भु वर हैं। यह सब चीजें आप के कुल के सम्मान के लिए पर्याप्त है ॥८२॥

महादेव जी की सभी लोग स्तुति करते हैं, किन्तु ये किसी की स्तुति नही करते। सब लोग उनकी वन्दना करते है, वे किसी की भी वन्दना नही करते। ऐसे सम्पूर्ण ससार के पूजनीय से अपनी कन्या का विवाह करके तुम उनके भी पूजनीय बन जाओगे ॥८३॥

देवर्षि अगिरा द्वारा ऐसा कहे जाते समय अपने पिता हिमालय के पास नीचे मुख किए हुए पार्वती अपने हाथ म लिए हुए लीला-कमल की पखुडियाँ गिनती रहीं ॥८४॥

शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥८५॥
मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम्।
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥८६॥
इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालंकृतां सुताम् ॥८७॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥८८॥
एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः।
इयं नमति वः सर्वास्त्रिलोचनवधूरिति ॥८९॥
ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः।
आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥९०॥
तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम्।
अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥९१॥
तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविक्लवाम्।
वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥९२॥

यद्यपि पर्वतराज ने पार्वती को शिवजी के लिए देने का निश्चय बहुत पहले ही कर लिया था तथापि (उस समय) उसने अपनी पत्नी मेना की ओर देखा। क्योंकि कन्या के विवाह की बातचीत चलने पर प्रायः कुटुम्बी लोग गृहिणी की आखों से ही देखते हैं ॥८५॥

मेना ने भी अपने पति की अभिलाषा के अनुसार ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। पतिव्रता नारियाँ पति की इच्छा के अनुकूल ही कार्य करती हैं ॥८६॥

अंगिरा की बातचीत के अनन्तर 'उन्हें क्या उत्तर देना चाहिए'—ऐसा सोचकर हिमालय ने अपनी मांगलिक वस्त्रों से सुसज्जित कन्या पार्वती को सम्बोधित किया और कहा—॥८७॥

हे बेटी! यहाँ मेरे पास आओ। तुम्हें विश्वात्मा शंकर ने मुझसे मांगा है और तुम्हें मांगने के लिए ये दिव्य मुनिगण हमारे यहाँ पधारे हुए हैं। आज मेरा गृहस्थ होना सार्थक हो गया है ॥८८॥

पर्वतराज हिमालय ने अपनी पुत्री पार्वती से इतना कह कर सप्तर्षियों से कहा—यह त्रिलोचन शंकर की (भावी) पत्नी आप सबको नमस्कार करती है ॥८९॥

अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि को सूचित करने वाली हिमालय की इस उदार वाणी का अभिनन्दन कर उन्होंने अम्बिका (पार्वती) को ऐसे आशीर्वाद दिए जो तत्काल ही फल देने वाले हों ॥९०॥

ऋषियों को प्रणाम करते समय आदरपूर्वक झुकने पर पार्वती के सुवर्ण के बने हुए कर्णाभरण नीचे गिर पड़े, वह लज्जित हो रही थी। अरुन्धती ने उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया ॥९१॥

अपनी कन्या के स्नेह से (वियोगजनित आशंका से) विह्वल होने के कारण माता मेना की आंखों में आंसू भर आए थे। अरुन्धती ने उन्हें वर (महादेव जी) के अन्य लोगों से दुर्लभ गुणों वाला बतलाकर शोकरहित कर दिया ॥९२॥

वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥९३॥
ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥९४॥
पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्गमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥९५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

हिमालय द्वारा विवाह के योग्य तिथि पूछने पर उन वल्कलधारी तपस्वियों ने बताया कि आज से तीन दिनों के बाद विवाह करना उचित होगा और इतना कह कर वे चल पड़े ॥९३॥

हिमालय से बिदा लेकर वे सप्तर्षि पुनः महादेव जी के समीप पहुँचे और उनसे जाकर निवेदन किया कि जो कार्य आपने हमें सौंपा था वह पूरा हो गया और तदनन्तर महादेव जी से बिदा लेकर वे आकाश में उड़ गए ॥९४॥

महादेव जी ने पर्वतराज-पुत्री पार्वती के मिलने की उत्सुकता में उन तीन दिनों को बड़ी कठिनाई से बिताया। बताइए जब जितेन्द्रिय महादेव जी की प्रेम के कारण यह दशा हो गई तब फिर ऐसा कौन हो सकता है जिसे ऐसे प्रेम के कारण अधीर न बनना पड़े ॥९५॥

महाकवि श्री कालिदास कृत कुमारसंभव महाकाव्य में उमा प्रदान नामक
छठाँ सर्ग समाप्त ॥६॥

## सप्तमः सर्गः

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥१॥
वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरंध्रिवर्गम् ।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥२॥
संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे ॥३॥
एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥४॥
अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥५॥

## सातवाँ सर्ग

इसके बाद (तीन दिनो के पीछे) पर्वतराज हिमालय ने चन्द्रमा के शुक्लपक्ष मे आने पर, लग्न के सातवें स्थान की शुद्धि से युक्त शुभतिथि को, अपने भाई-बन्धुओ को एकत्र कर अपनी पुत्री पार्वती के विवाह सस्कार की विधि आरम्भ की ॥१॥

पार्वती से अत्यन्त स्नेह रखने के कारण उस नगर के प्रत्येक घर मे मागलिक तोरण पताका आदि सजा दिए गए और वैवाहिक उत्सवो मे व्यस्त नागरिको की स्त्रियो का समूह उत्सव मनाने मे व्यस्त हो गया। इस प्रकार पर्वतराज हिमालय का वह नगर तथा उनका अन्त पुर दोनो एक ही परिवार के समान मालूम होने लगा ॥२॥

नगर के मार्गों पर मन्दार के पुष्प बिछा दिए गए और चीनी रेशम के वस्त्रो की बनी झडियो की पक्तियाँ सजाकर टाग दी गई। स्थान स्थान पर सुवर्ण निर्मित वन्दन-वार चमकने लगे। इस प्रकार वह नगर ऐसा मालूम पडता था मानो स्वर्ग ही उतर कर यहां चला आया हो ॥३॥

यद्यपि हिमालय के अनेक पुत्र थे तथापि उस समय अकेली कन्या पार्वती ने पाणिग्रहण के समीप होने के कारण वह माता पिता को ऐसी प्यारी लगने लगी, मानो उन्होंने उसे बहुत समय बाद देखा हो अथवा वह मर कर फिर से जीवित हो उठी हो ॥४॥

पार्वती को उसके सम्बन्धियो ने बारी बारी से अपनी गोद मे लिया। उसे अनेक प्रकार के आशीर्वाद दिए और एक से एक बढकर अलकार प्रदान किए। यद्यपि हिमालय का परिवार बहुत बडा था अर्थात् अनेक पुत्रादि भी थे फिर भी ऐसा मालूम पडता था जैसे हिमालय के समस्त कुटुम्बियों का स्नेह अकेली पार्वती मे केन्द्रित हो गया हो ॥५॥

शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम् ।
सांनिध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥३३॥
यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥३४॥
दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य ॥३५॥
इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥३६॥
स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम् ।
तद्भक्तिसंक्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥३७॥
तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥३८॥
तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥३९॥

और उनके ललाट के मध्य भाग में पीली पुतली से युक्त जो चमकता हुआ (तीसरा) नेत्र था, वही हरताल से बनाया हुआ पीला तिलक बन गया ॥३३॥

उनके शरीर पर यत्र-तत्र जो बड़े बड़े सर्प लिपटे हुए थे, वे ही अब उन उन स्थानों पर धारण किए जाने वाले आभूषण बन गए। किन्तु उनका केवल शरीर ही बदल गया था, उनके फनों पर मौजूद रत्नों की चमक तो वैसी की वैसी रह गई थी ॥३४॥

शिव जी के मस्तक पर जो चन्द्रमा की कला थी, उसमें से दिन में भी चमकती किरणें [illegible]

[illegible] धारण करने वाले महादेव जी ने अपने समीप ही बैठे हुए गण से लाई गई तलवार में अपनी प्रतिमा देखी ॥३६॥

फिर नन्दी के हाथ का सहारा लेकर वे अपने उस विशाल आकार वाले वृषभ की पीठ पर बैठे, जिस पर सिंह की खाल बिछी हुई थी। वह उस समय ऐसा मालूम पड़ता था मानो शिव की भक्ति के कारण कैलाश पर्वत ने ही अपने विशाल शरीर का संक्षिप्त करके वृषभ का रूप धारण कर लिया हो ॥३७॥

महादेव जी के पीछे सातों मातृकाएँ अपने रथों पर बैठकर चलीं। रथों के हिलने से उनके कानों के आभूषण हिलने लगे जिससे उनके मुख प्रभामण्डल के कारण अत्यन्त गौरवर्ण के हो गए और जिनके कारण अन्तरिक्ष कमलों से भरे सरोवर की भाँति सुशोभित हो उठा ॥३८॥

सुवर्ण के समान आभायुक्त उन सप्तमातृकाओं के पश्चात् सफेद कपालों (खप्परों) से देह सजाए हुए काली चलीं, जो ऐसी मालूम पड़ रही थीं मानो बगुलों की पंक्ति से घिरी हुई तथा चमकती हुई बिजली से युक्त काले बादलों की घटा चली आ रही हो ॥३९॥

ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः।
विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः॥४०॥
उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे॥४१॥
मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे॥४२॥
तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात्।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम्॥४३॥
एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥४४॥
तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥४५॥
कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्संभावयामास यथा प्रधानम्॥४६॥

इसके पश्चात् त्रिशूलधारी शंकर के आगे आगे चलने वाले प्रमथगणों ने मंगल की सूचना देने वाली तुरही बजाई, जिसकी ध्वनि ने देवताओं के विमान के शिखरों से टकरा कर उन्हें महादेव की सेवा के इस अवसर की सूचना दी।॥४०॥

सहस्र किरणों वाले सूर्य ने विश्वकर्मा द्वारा नवनिर्मित एक छाता लेकर शंकर जी के लिए सिर पर तान दिया। उस छत्र का श्वेत वस्त्र शंकर जी के सिर के समीप लटकता हुआ ऐसा दिखाई पड़ता था मानो गंगा जी की धारा गिर रही हो।॥४१॥

गंगा तथा यमुना ने शरीर धारण करके चामर के साथ महादेव जी की सेवा की। यद्यपि उन्होंने अपना समुद्रगामी अर्थात् नदी का रूप त्याग दिया था तथापि चामरों के कारण वे ऐसी दिखाई पड़ती थीं मानो हंस उड़ते हुए चले आ रहे हों।॥४२॥

सृष्टि के आदिमकर्त्ता ब्रह्मा जी तथा श्रीवत्स चिह्न से लाञ्छित भगवान् विष्णु भी प्रत्यक्ष रूप में महादेव जी के पास पहुँचे और उन्होंने जयजयकार करके इनकी महिमा को इस प्रकार से वृद्धि की जैसे आहुति डालने से अग्नि की महिमा और बढ़ जाती है।॥४३॥

एक ही मूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन तीनों रूपों में विभक्त हुई है और ये तीनों मूर्तियाँ समय-समय पर एक दूसरे से हीन या अधिक होती रहती हैं। कभी महादेव विष्णु से बड़े हो जाते हैं और कभी विष्णु महादेव से। कभी विष्णु इन दोनों से बड़े हो जाते हैं और कभी ये दोनों ब्रह्मा से अधिक महत्वशाली हो जाते हैं।॥४४॥

इन्द्र आदि लोकपालों ने अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप त्याग दिया और विनीत वेश धारण कर के महादेव के समीप पहुँचे, जहाँ नन्दी ने उन्हें महादेव जी के समीप जाने का संकेत किया और उस मार्ग से चलकर महादेव जी के समीप पहुँचकर उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।॥४५॥

शंकरजी ने सिर हिलाकर ब्रह्मा का, संभाषण द्वारा विष्णु का तथा मुस्कराहट द्वारा इन्द्र का स्वागत किया। अन्य देवताओं का स्वागत उन्होंने उन पर केवल कृपा भरी एक दृष्टि डालकर ही किया। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण देवताओं का उनके गौरव के अनुरूप उचित स्वागत किया।॥४६॥

तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥४७॥
विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥४८॥
खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ॥४९॥
स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात्।
पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणः ॥५०॥
तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः।
स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः ॥५१॥
तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥५२॥
वर्गावुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्घटितापिधाने।
समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ ॥५३॥

शिव जी के सम्मुख सप्तर्षियों ने आकर जब उन्हें विजय का आशीर्वाद दिया तो उन्होंने मुस्कराते हुए उनसे कहा—मैंने इस विवाह कार्य में आप लोगों को पुरोहित का कार्य करने के लिए पहले ही से चुन रखा है ॥४७॥

विश्वावसु प्रभृति संगीत निपुण गन्धर्व गण त्रिपुरासुर पर शंकर जी की विजय प्राप्ति के गीत गाते हुए आगे आगे चलने लगे और उनके पीछे तमोगुण के विकारों से परे रहने वाले चन्द्रमौलि शंकरजी हिमालय के नगर की ओर (बारात लेकर) चल पड़े ॥४८॥

महादेव का वाहन वृषभ क्रीडा-सा करता हुआ उन्हें आकाशपथ में लेकर चल रहा था। उसके गले में बँधी हुई सोने की घंटियाँ बजती चल रही थीं और वह मेघों से लिपटी हुई अपनी सींगों को हिलाता हुआ चल रहा था। उसकी सींगों में सटे हुए वे (उस समय) मेघ ऐसे मालूम पड रहे थे मानो नदी के तटों को गिराते समय उसकी सींगों में कीचड लग गया हो ॥४९॥

किसी से कभी न हारने वाला वह वृषभ थोडी ही देर में हिमालय के उस सुरक्षित नगर औषधिप्रस्थ में पहुँच गया। ऐसा मालूम पडता था कि शंकर जी की आगे जाने वाली चितवन की सुवर्णमयी डोरियाँ उसे खींचती ले जा रही थीं ॥५०॥

उस औषधिप्रस्थ नामक नगर के समीप नीलकण्ठ शंकर जी, देखने के कुतूहल से वहाँ एकत्र पुरवासीजनों द्वारा मुह ऊपर करके देखे जाते हुए उस आकाश से नीचे उतरे, जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुर के वध के समय बहुत-से बाण चलाकर चिह्न बना दिए थे ॥५१॥

शिवजी के आगमन से सुप्रसन्न पर्वतराज हिमालय ने अपने उन समृद्धिशाली कुटुम्बी जनों को हाथी पर चढाकर शिवजी की अगवानी के लिए प्रस्थान किया, जो उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालय की ढाल पर फूलों से लदे हुए वृक्ष हों ॥५२॥

हिमालय के उस नगर के प्रवेश द्वार का फाटक खुल गया था और उसके दोनों ओर देवताओं तथा हिमालय के दल के लोगों का हल्ला जब दूर-दूर तक सुनाई पड़ने लगा था। वह ऐसा मालूम देता था जैसे पुल (बाँध) के टूट जाने पर जल की दो धाराएँ आकर आपस में मिल रही हों ॥५३॥

ह्रीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः।
पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥५४॥
स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥५५॥
तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५६॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥५७॥
प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥५८॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥५९॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥६०॥

पर्वतराज हिमालय तीनों लोकों द्वारा वन्दनीय शंकर जी के प्रणाम करने पर अत्यन्त लज्जित हुए और उन्हें यह भी नहीं मालूम हो सका कि शंकर जी की महिमा के कारण उनका सिर बहुत पहले ही झुक चुका था ॥५४॥

अतीव प्रसन्नता के कारण हिमालय के मुख की शोभा बहुत बढ़ गई थी। वह अपने जामाता शंकर जी के आगे पहुँचकर उन्हें अपने महल की ओर लेकर चले। महल तक के सभी मार्गों पर इतने फूल बिछे हुए थे कि उनमें घुटने तक पैर चले जाते थे ॥५५॥

(महादेव जी जब नगर में प्रविष्ट होने लगे तो) उस समय नगर की सुन्दरियों में महादेव जी के दर्शन की ऐसी तीव्र लालसा उत्पन्न हुई कि उन्होंने अपने अन्य सारे काम छोड़ दिए और उनके दर्शन के लिए वे अपने-अपने भवनों की छतों पर आकर एकत्र हो गईं ॥५६॥

एक सुन्दरी शंकर जी को देखने के लिए एकाएक हड़बड़ाकर जो अपनी खिड़की की ओर भागी तो उसके केश-पाश की माला खुल गई किन्तु उसे अपने हाथ में पकड़े हुए ही वह चल दी और उसे बाँधने की सुध भी नहीं रही ॥५७॥

कोई स्त्री अपने पैर को फैलाकर प्रसाधिका से महावर लगवा रही थी, उसे अधूरा छोड़कर ही वह झटपट अपनी खिड़की की ओर जो दौड़ पड़ी तो अपने गीले रंग के चरणों की छाप से खिड़की तक के मार्ग को उसने रंग दिया ॥५८॥

एक सुन्दरी अपनी दाहिनी आँख में अंजन लगा चुकी थी किन्तु बाईं आँख में बिना अंजन लगाए ही हाथ में अंजन की सलाई लिए हुए वह अपनी खिड़की की ओर दौड़ पड़ी ॥५९॥

एक दूसरी सुन्दरी अपने झरोखे की ओर शंकर जी को देखने के लिए जो भागी तो इसी हड़बड़ी में उसकी नीवी (कटिबन्ध या फुफुंदी) खुल गई और बिना उसे बाँधे ही अपने हाथ से साड़ी को पकड़ कर जो वह खड़ी हुई तो उसके हाथ के कंगन के रत्न की चमक से उसकी नाभि चमकने लगी ॥६०॥

अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥६१॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥६२॥
तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥६३॥
तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥६४॥
स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ॥६५॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥६६॥
न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥६७॥

एक स्त्री धागे मे मणि-मेखला गूँथ रही थी। अभी वह आधी ही तैयार हुई थी कि एकाएक लपक कर उठी तो उसकी मणियो के दाने तो रास्ते भर मे बिखरते चले गए और उसके अगूठे मे लिपटा हुआ केवल धागा ही मणि-मेखला के रूप मे बाकी बचा रह गया ॥६१॥

उन कुतूहल युक्त सुन्दरी स्त्रियो के आसव के गन्ध से महँकते हुए एव चचल नेत्रो वाले मुख, खिडकियो मे से झाँकते समय ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानो उन खिडकियो मे भ्रमरों से युक्त कमल सजा दिए गए हो ॥६२॥

इसी अवसर पर चन्द्रमौलि शकर जी दिन मे भी श्वेत राज-भवनो के कगूरो को अपने भाल पर स्थित चन्द्रकला से और अधिक चमकाते हुए ध्वजा पताकाओ तथा बन्दनवार से सुसज्जित राजमार्ग पर पहुँच गए ॥६३॥

परम दर्शनीय उन महादेव जी को अपने नेत्रो से पीती (देखती) हुई स्त्रियाँ दूसरे विषयो को एक दम भूल गई थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उनकी समस्त इन्द्रियाँ, अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उनके नेत्रो मे आकर समाविष्ट हो गई थी ॥६४॥

कोई सुन्दरी स्त्री कहने लगी—अत्यन्त सुकुमार होकर भी पार्वती ने इन्हे प्राप्त करने के लिए जो कठोर तपस्या की, वह ठीक ही की, क्योकि यदि कोई स्त्री इनकी दासी होने का भी अवसर प्राप्त करे तो उसका जीवन कृतार्थ हो जाय। और इनकी गोद की शैय्या प्राप्त करने वाली के लिए तो कहना ही क्या है ॥६५॥

अपनी सुन्दरता मे एक दूसरे से बढे चढे हुए इस जोडे को प्रजापति विधाता यदि मिला न देता तो उसका इन दोनो को इतना सौन्दर्य प्रदान करना व्यर्थ ही हो जाता ॥६६॥

मैं मानती हूँ कि शकर जी ने क्रोध मे भर कर कामदेव के शरीर को भस्म नही किया है, बल्कि कामदेव ने स्वय इनके शरीर की यह सुन्दरता देखकर लज्जा के मारे अपना शरीर त्याग दिया होगा ॥६७॥

अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण।
मूर्धानमालि क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥६८॥
इत्योषधिप्रस्थविलासिनीनां श्रृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः।
केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टि हिमालयस्यालयमाससाद ॥६९॥
तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥७०॥
तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च।
गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमार्थाः ॥७१॥
तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥७२॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥७३॥
तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्याः।
प्रसन्नचेतः सलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ॥७४॥

हे सखी! पर्वतराज हिमालय ने, जिन्हे लोग प्राप्त करने की अभिलाषा किया करते हैं—ऐसे शंकर जी से सम्बन्ध स्थापित करके, पृथ्वी को धारण करने के कारण अपने ऊँचे मस्तक को और भी अधिक ऊँचा कर लिया है ॥६८॥

इस प्रकार औषधिप्रस्थ नगर की सुन्दरियो की विभिन्न प्रकार की कर्णमधुर बाता को सुनते हुए महादेव जी हिमालय के उस राजप्रासाद मे पहुच गए, जहाँ इतनी भीड एकत्र थी कि मंगलाचार के लिए जो खीलें बिखेरी गई थी वे वहा पर उपस्थित लोगो के भुजबधो की रगड से ही पिसकर चूर्ण हो गई थी ॥६९॥

हिमालय के राजप्रासाद मे भगवान् विष्णु ने अपने हाथ का सहारा देकर महादेव जी को वृषभ से नीचे उतारा, वह ऐसा लगा मानो शरद् ऋतु के मेघ से सूर्य नीचे उतर आया हो। और तदनन्तर वह भवन के भीतर पहुचे जहाँ कमलासन ब्रह्मा पहले ही से बैठे हुए थे ॥७०॥

शंकर जी के पीछे-पीछे इन्द्रादि देवता तथा सप्तर्षियों के साथ अन्यान्य बडे-बडे ऋषि एव प्रमथगण हिमालय के उस राजभवन में उसी प्रकार प्रविष्ट हुए जैसे अच्छे ढंग से किए गए कार्यारम्भ के पीछे उत्तम परिणाम चलते हैं ॥७१॥

वहाँ विस्तर पर बैठकर महादेव जी ने हिमालय द्वारा विधिपूर्वक दी गई रत्नो से यक्त पूजा-सामग्री एव मधु से युक्त दही तथा नतन वस्त्रादि को मन्त्रो के पाठ के साथ ग्रहण किया ॥७२॥

इसके अनन्तर नूतन वस्त्र धारण किए हुए महादेव जी को, अन्तःपुर के विनीत एव कुशल अनुचर वधू पार्वती के समीप उसी प्रकार लिवा ले गए जैसे चन्द्रमा की नूतन किरणें फेनयुक्त लहरों से सुशोभित समुद्र को उसके तट तक पहुँचा देती हैं ॥७३॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मनोहर मुखवाली कुमारी पार्वती को देखकर महादेव जी के नेत्ररूपी कुमुद खिल उठे और उनका मन जल के समान उसी प्रकार निर्मल हो उठा जैसे शरद्‌ऋतु म ससार मे कुमुद खिल जाते हैं और जल निर्मल हो जाते हैं ॥७४॥

तयोः समापत्तिषु कातराणि किंचिद्व्यवस्थापितसंहृतानि।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥७५॥
तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥७६॥
रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥७७॥
प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम्।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥७९॥
तौ दंपती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥८०॥
सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥८१॥

पार्वती और शकर जी के चचल नेत्र थोडी देर के लिए अपने आप एक दूसरे से मिलकर फिर हट जाते थे और इस प्रकार एक दूसरे को चाहभरी चितवन से देखकर उनके हृदय मे बडी लज्जा भी हो जाती थी कि लोग क्या सोचते होंगे ॥७५॥

तब पर्वतराज हिमालय के पुरोहित ने लाल-लाल अंगुलियों वाले पार्वती जी के हाथ को आगे बढाया, जिसे शकरजी ने ग्रहण किया। पार्वती जी का वह हाथ ऐसा लगता था मानों शकर जी के डर से पार्वती जी के शरीर मे छिपा हुआ कामदेव अपने अकुर निकाल रहा हो ॥७६॥

हाथों का यह स्पर्श होते ही पार्वती के रोएँ खडे हो गए और शकर जी की अगुलियाँ पसीने से गीली हो गईं। वह ऐसा प्रतीत हुआ मानो दोनो का हाथ मिलाकर कामदेव ने उन्हे एक साथ ही अपने वश मे कर लिया हो ॥७७॥

जो पार्वती और शकर जी अन्य वधू और वरो के विवाहो के अवसर पर स्मरण किए जाने पर विवाह की शोभा बढाने वाले है, उन्ही पार्वती और शकर का जब स्वय विवाह सम्पन्न हो रहा हो तो उस अवसर की शोभा का वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ॥७८॥

ऊची-ऊची लपटो से युक्त अग्नि के चारो ओर प्रदक्षिणा करते हुए शकर और पार्वती जी का वह जोडा उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो एक साथ जुडे हुए दिन और रात सुमेरु पर्वत के चारों ओर चक्कर लगा रहे हो ॥७९॥

एक दूसरे के सुखद स्पर्श का आख मूद कर आनन्द लेते हुए जब वे दम्पति उस अग्नि के चारों ओर की तीन प्रदक्षिणा पूरी कर चुके तो पुरोहित ने वधू के हाथ से जलती हुई आग मे खीलें डलवाईं ॥८०॥

वधू पार्वती ने अपने पुरोहित के कहने पर खीलों की सुगन्ध से भरे हुए उस अग्नि के धुएँ को अपनी अजलि मे भरकर मुख के समीप ले जाकर सूंघा। उस समय उसके कपोलो के पास पहुँचकर वह धुआ क्षणभर के लिए ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके कानो मे शोभार्थ पहना हुआ कमल हो ॥८१॥

तदोपदार्द्रारुणगण्डलेखमुच्छ्वासिकालाञ्जनरागमक्ष्णोः ।
वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद् बभूव ॥८२॥
वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥८३॥
आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या।
निदाघकालोल्वणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या ॥८४॥
ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥८५॥
इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ।
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय ॥८६॥
वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥८७॥
क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥८८॥

उस मंगल आचार के धुएँ को सूंघने से पार्वती के कपोल लाल हो गए। उस पर थोड़ा पसीना भी हो गया, आंखों का काला अंजन कुछ फैल गया, और उससे कानों पर रखे गए जौ के अंकुरों का आभूषण कुछ मलिन-सा हो गया ॥८२॥

पुरोहित ने पार्वती से कहा—बेटी! तुम्हारे इस विवाह के साक्षी यह अग्निदेव हैं। अतः अब से तुम सब सोच-विचार छोड़कर अपने पति महादेव जी के साथ धर्म का आचरण करना ॥८३॥

पार्वती ने आंखों तक अपने कानों को फैलाकर पुरोहित के इस वचन को इस प्रकार से पी लिया, जैसे ग्रीष्मऋतु से अत्यन्त संतप्त पृथ्वी पहले पहल हुई वर्षा की बूंदों को ग्रहण करती है ॥८४॥

जब प्रियदर्शन एवं स्थिर चित्त वाले उसके पति महादेव ने पार्वती से ध्रुव की ओर देखने के लिए कहा तब पार्वती जी ने मुंह को ऊपर उठाकर लज्जा से अवरुद्ध कण्ठ से किसी-किसी प्रकार से इतना ही कहा—"देख लिया" ॥८५॥

इस प्रकार विवाह की विधि जानने वाले पुरोहित ने जब शंकर और पार्वती के विवाह की सम्पूर्ण विधियाँ सम्पन्न करा ली तब उन दोनों ने, जो समस्त संसार के पिता-माता हैं, कमल के आसन पर विराजमान ब्रह्मा जी को प्रणाम किया ॥८६॥

ब्रह्मा ने वधू पार्वती को आशीर्वाद दिया—'हे कल्याणि! तुम वीर पुत्र की माता बनो' किन्तु वाणी के स्वामी होते हुए भी उनकी समझ में यह बात नहीं आ सकी कि अष्ट-मूर्ति शिवजी को क्या आशीर्वाद दिया जाय और वह विचारमग्न हो रह गए ॥८७॥

वहां से वे दोनों—शंकर तथा पार्वती—पुष्पों से सुसज्जित एक चौकोर चबूतरे पर लाए गए और उस पर रखे हुए सुवर्ण के सिंहासन पर बिठा दिए गए। तब उनके ऊपर लोकरीति के अनुसार लोगों ने गीले अक्षत फेंके ॥८८॥

पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
तयोरुपर्यायतनालदण्डमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥८९॥

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥

तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥९१॥

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥९२॥

तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥९३॥

अथ विबुधगणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥९४॥

लक्ष्मी ने उस अवसर पर आकर स्वय उन दोनो के ऊपर कमल का सुन्दर छत्र तान दिया, जिसकी नाल खूब मोटी तथा लबी थी और जिसकी पखुडियो के अग्रभाग नीचे लटकती हुई तथा मोती के समान चमकती हुई जल की बूँदों से सुशोभित हो रहे थे ॥८९॥

तदनन्तर सरस्वती ने दो प्रकार की (सस्कृत एव प्राकृत) वाणी मे महादेव और पार्वती के उस जोडे की मगल स्तुति की। वर महादेव की स्तुति को उन्होने सस्कार से पवित्र अर्थात् सस्कृत भाषा द्वारा तथा वधू पार्वती की स्तुति को सरल और सुबोध प्राकृत भाषा मे किया ॥९०॥

तब पार्वती और शकर ने कुछ समय के लिए अप्सराओ द्वारा अभिनीत एक सुन्दर नाटक देखा, जो अनेक रसो के प्रयोग के कारण बडा रोचक था, जिसकी अलग-अलग सधियो मे अलग-अलग शैलियो का प्रयोग किया गया था, जिसमे अच्छे हावभाव दिखाए गए थे तथा जिसमे यथाप्रसग रागो का भी प्रयोग हुआ था ॥९१॥

नाटक की समाप्ति के अनन्तर देवताओ ने हाथ जोडकर तथा अपने किरीटो समेत मस्तक को नीचे झुकाते हुए प्रणाम करके विवाहित शकर जी से प्रार्थना की कि अब कामदेव के शाप की अवधि समाप्त हो गई है अत उसे फिर से शरीर देकर आप अपनी सेवा मे ले लें ॥९२॥

शकर जी उस समय क्रोध रहित थे अत उन्होने देवताओ की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसे अनुमति दी कि वह मेरे ऊपर भी अपना बाण चलावे। क्या न हो, अवसर को पहचानने वाले लोग अपने स्वामियो से उचित अवसर पर प्रार्थना करके सफलता को प्राप्त ही कर लेते हैं ॥९३॥

इसके अनन्तर चन्द्रशेखर शिव ने उन देवताओ को विदा दे दी और पर्वतराज की कन्या पार्वती को हाथ से पकडे हुए उस शयनागार मे गए, जहाँ पृथ्वी पर एक शैय्या बिछी हुई थी, फूलो की मालायें सजाई गई थी और सुवर्ण के कलश रखे हुए थे ॥९४॥

नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ॥९५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

नूतन विवाह के कारण लज्जा रूपी आभूषण से विभूषित ( अतीव लज्जित ), महादेव जी के हाथों से मुख के ऊपर उठाए जाने पर उसे तिरछा करती हुई अथवा आंचल के हटाने का प्रयत्न करने पर मुख को छिपाती हुई और अपनी एकान्त की सखियों को किसी-किसी प्रकार से उत्तर देती हुई पार्वती जी, महादेव जी के संकेत से प्रमथगणों द्वारा बनाए गए विविध प्रकार के उनके मुखों को देखकर अपना मुंह छिपाकर हंसने लगी ॥९५॥

महाकवि कालिदास रचित कुमारसम्भव महाकाव्य में उमा का परिणय नामक
सातवां सर्ग समाप्त ॥७॥

# अष्टमः सर्गः

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः॥१॥
व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥२॥
कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम्।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत्॥३॥
नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम्॥४॥
एवमालिनिगृहीतसाध्वसं शंकरो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये॥५॥

# आठवाँ सर्ग

पाणिग्रहण संस्कार के अनन्तर पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती का शरीर महादेव जी के प्रति उनके सहज प्रेम-भाव तथा साथ ही उत्पन्न होने वाले संकोच के कारण अतीव मनोहर हो उठा॥१॥

वह बहुत बुलाने पर कोई उत्तर नहीं देती थी, आंचल पकडकर खींचने पर वहाँ से हट जाने का प्रयत्न करती थी और एक साथ शैय्या पर सोते समय भी दूसरी ओर मुख किए रहती थी। किन्तु फिर भी महादेव जी को इससे भी आनन्द मिलता था॥२॥

पार्वती ने सोने का बहाना बनाकर आंख मूंदकर सोए हुए शिवजी के मुखपर अत्यन्त कुतूहल से जब अपना मुख डाला तो उनके प्रियतम शंकर ने मुस्कराकर अपनी आंखें खोल दीं जिससे उन्होंने अपनी आंखों को इस तरह तुरन्त मूंद लिया जैसे वे बिजली की चमक से मुंद गई हों॥३॥

जब शंकर जी की नीवी-बन्धन खोलने के लिए अपना हाथ पार्वती की नाभी की ओर बढ़ाते तो अपने कांपते हुए हाथों से पार्वती जी उसे पकड लेती, किन्तु फिर भी न जाने कैसे इनकी नीवी का बन्धन ढीला पडकर अपने आप खुल जाता॥४॥

'हे सखी ! तुम एकान्त में जैसा-जैसा हम बता रही हैं, वैसा ही व्यवहार एकान्त में महादेव जी के साथ करना, उनसे डरने की जरूरत नहीं है—'इस प्रकार से कहकर अपनी सखियों द्वारा बताए जाने पर भी पार्वती उन सब उपायों में से एक का भी स्मरण न कर पाती; (क्योंकि) अपने प्रियतम शंकरजी को सामने देखकर वह घबडा जाती थी॥५॥

अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥६॥
शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥७॥
चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥८॥
यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत्।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥९॥
रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम्।
नाकरोदपकुतूहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्वरे ॥१०॥
दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
प्रेक्ष्य बिम्बमुपबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥११॥
नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥१२॥

जब कभी केवल बातचीत करने के लिए महादेव जी यों ही बिना प्रसंग की कोई बात करने लगते तब पार्वती उनकी बातों का कुछ भी उत्तर बोलकर नहीं देतीं। केवल प्रियतम की ओर देखकर सिर घुमाकर 'हाँ' या 'ना' में उत्तर देती थीं ॥६॥

एकान्त में जब कभी शंकर जी इन्हें वस्त्र खींचकर नग्न कर देते तो यह अपने दोनों हथेलियों से उनके नेत्रों को मूंद लेतीं। किन्तु जब महादेव जी अपने ललाट पर स्थित तीसरा नेत्र खोलकर देखने लगते तो पार्वती का सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता ॥७॥

चुम्बन में अधर को न देकर तथा आलिंगन में हाथों को बाधक बनाकर पार्वती यद्यपि कामदेव को पूर्ण संतोष न देने के कारण खिन्न कर देती थीं तथापि उनका वह सुरत भी प्रियतम महादेव के लिए प्रीतिकारक ही होता था ॥८॥

धीरे धीरे पार्वती शिवजी के उस चुम्बन को सहन करने लगीं जिसमें वह इनके अधर को जोर से काट नहीं लेते थे, नखों से चिकोट कर घाव नहीं बना देते थे तथा बहुत धीरे धीरे संभोग करते थे। किन्तु इसके अतिरिक्त कठोर क्रियाओं को वे सहन नहीं करती थीं ॥९॥

सखियाँ जब प्रभात के समय उनसे रात्रि का समाचार पूछतीं तो वह लज्जा के मारे उनका कुतूहल शांत नहीं कर पाती थीं, यद्यपि उनका मन सब कुछ कह देने के लिए उतावली करने लगता था ॥१०॥

कभी-कभी वह दर्पण में सम्भोग के चिह्नों को जब देखने लगतीं तो उनके पीठ के पीछे खड़े होकर प्रणयी महादेव जी उसे देख लेते। फिर तो दर्पण में अपने और उनके प्रतिबिम्ब को देखकर यह लज्जा के मारे क्या-क्या नहीं करने लगतीं ॥११॥

नीलकण्ठ शिवजी द्वारा अपनी कन्या के यौवन का उपभोग होता देखकर पार्वती की माता मेना को बड़ा संतोष होता। क्योंकि जब कन्या की माता को यह ज्ञात हो जाता है कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है तो उसका मन निश्चिन्त हो जाता है ॥१२॥

वासराणि कतिचित्कथंचन स्थाणुना रतमकारि चानया।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥१३॥
सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा॥१४॥
भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम्।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥१५॥
तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम्।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥१६॥
शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥१७॥
दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः॥१८॥
चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम्।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने॥१९॥

कुछ दिनो तक तो शकर जी पार्वती जी के साथ ज्यों त्यों करके सम्भोग करते रहे, किन्तु जब पार्वती को भी काम के रस का स्वाद मिल गया तो धीरे-धीरे उन्होंने भी अपनी झिझक छोड़ दी॥१३॥

जब शकर जी इन्हें कसकर अपनी छाती से लगाते तो यह भी उनका आलिंगन करती, चुम्बन के लिए जब वह मुख बढ़ाते तो यह अपना मुख न हटाती और जब शकर जी इनकी करधनी पर अपना चचल हाथ लगाते तो यह धीरे से उसका विरोध करती॥१४॥

[illegible] कि [illegible] मिल गए हैं॥१५॥

पार्वती अपने अनुरूप पति महादेव जी से जैसा प्रेम करती थी महादेव जी भी उनसे ही वैसा ही प्रेम करते थे। जाह्नवी गगा समुद्र से मिलकर तथा प्रेम करके वापस नही लौटती और सागर भी गगा के मुख से निकले हुए जल का ही आनन्द लेता है॥१६॥

पार्वती जी ने एकान्त मे शकर जी से सभोग-कला की जो शिक्षा ग्रहण की, उसी के अनुसार उन्होने महादेव जी के साथ नई नवेली के हावभाव से भरा सम्भोग भी किया। यही मानो कला सीखने की इन्होने शकर जी को गुरुदक्षिणा दी॥१७॥

पार्वती जी का ओठ जब शकर जी काट लेते थे तो वह वेदना से अपना पाणि-पल्लव झटकने लगती थी, किन्तु पुन तत्काल शकर जी के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा पर ज्यों ही ओठ रखती त्यों ही उन्हें ऐसी ठण्डक मिलती कि उनकी सारी पीडा दूर हो जाती॥१८॥

कभी विहार करते समय पार्वती के केशपाश मे लगे पुष्पो का पराग जब महादेव जी के मस्तक मे विद्यमान तीसरे नेत्र मे पड जाता तो वह विकल हो उठता। उस समय शकर जी अपने उस नेत्र को पार्वती के खिले हुए कमल की सुगन्धि वाले मुख के सामने फूक मारने के लिए कर देते थे॥१९॥

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥२०॥
सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम्।
तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥२१॥
मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतः कृती।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत्सुरतमत्तपरः क्षपाम् ॥२२॥
पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मषट्पदः ॥२३॥
रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥२४॥
तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम्।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ॥२५॥
हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा।
सा व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला ॥२६॥

इस प्रकार इन्द्रियों को सुख देने वाले उपायों को स्वीकार कर महादेव जी ने कामदेव पर बड़ा अनुग्रह किया और पर्वतराज हिमालय के भवन में पार्वती के साथ एक महीने तक निवास किया ॥२०॥

तदनन्तर आत्मभू शंकर जी ने पार्वती के भावी विरह से खिन्न हिमालय से प्रस्थान की आज्ञा प्राप्त कर ली और अपने अनुलित अथवा अप्रतिहत गति वाले वृषभ पर चढ़कर वह यत्र-तत्र घूमते हुए विहार करने लगे ॥२१॥

वायु के समान वेग वाले नन्दी पर सवार होकर और पार्वती को अपने आगे बैठाकर उनके स्तनों को पकड़े हुए वह सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचे और वहाँ सुनहले पत्तों से बनी हुई शैय्या पर उन्होंने एक रात उनसे सम्भोग किया ॥२२॥

पार्वती के मुख-कमल का रस-पान करने वाले महादेव जी ने सुमेरु पर्वत से चलकर मन्दराचल की उस उपत्यका में निवास किया, जहाँ की चट्टानों पर विष्णु के चरणों की छाप तथा (समुद्र-मन्थन के अवसर पर) अमृत की नूतन बूँदें पड़ी हुई थीं ॥२३॥

वहाँ से भी चलकर वह एक पिंगल कुबेर की राजधानी कैलास शिखर पर पहुँचे, जहाँ रावण की भयंकर आवाज से पार्वती जी ऐसी डर गईं कि अपनी कोमल भुजाओं को उन्होंने शंकर जी के गले में डाल दिया और दृढ़ता से उनसे चिपक गईं। वहाँ पर उन्होंने उजली चाँदनी रात का यथेष्ट आनन्द अनुभव किया ॥२४॥

वहाँ से चलकर शिवजी एक बार जब मलय पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ की चन्दन की डालियों को कँपाने वाले लवंग और केसर की मादक सुगन्धि से युक्त दक्षिण वायु ने पार्वती जी की थकान को उसी प्रकार दूर कर दिया, जिस प्रकार कोई मृदुभाषी चाटुकार नौकर अपने स्वामी का मन बहलाता है ॥२५॥

वहाँ पार्वती जी ने नदी के जल में विहार किया और उसके तट पर उत्पन्न सुनहले कमलों से महादेव जी को जब मारा तो उन्होंने अपने कर-कमलों से उनकी आँखों को मूँद लिया। उस समय मछलियों ने पार्वती को कमल के आस-पास इस प्रकार आकर घेर लिया कि जैसे वे उनकी दूसरी करधनी बन गई हों ॥२६॥

तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन्।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः॥२७॥
इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम्।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत॥२८॥
तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम्।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम्॥२९॥
पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः॥३०॥
सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥३१॥
दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम्॥३२॥
स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम्।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम्॥३३॥

त्रिलोचन शिवजी ने वहां पर इन्द्र के नन्दन कानन में पुलोम की तनया शची के केशपाश में बांधे जाने वाले पारिजात के कुसुमों द्वारा पार्वती के केशपाश को सजाते हुए चिरकाल तक निवास किया। उस समय देवांगनाओं ने उन्हें बड़ी स्पृहा के साथ देखा॥२७॥

इस प्रकार महादेव जी ने अपनी पत्नी पार्वती के साथ पार्थिव तथा दिव्य सुखों का आनन्द अनुभव कर लेने के अनन्तर एक बार सायंकाल के समय, जबकि सूर्य की किरणें बहुत लम्बी हो चली थीं, गन्धमादन पर्वत पर विहारार्थ प्रस्थान किया॥२८॥

वहां सुवर्ण की शिला पर बैठे हुए शंकर जी ने नेत्र से दिखाई देने योग्य सूर्य की ओर देखते हुए अपनी बाईं भुजा की ओर बैठी हुई अपनी सहधर्मचारिणी पार्वती से कहा॥२९॥

हे प्रिये! देखो, इस समय यह सूर्य ऐसा दिखाई दे रहा है जैसे यह तुम्हारी एक तिहाई लाल आंखों के समान कमलों की शोभा को मलिन करता हुआ दिन को इस प्रकार से समेट रहा है जिस प्रकार प्रलयकाल में प्रजापति ब्रह्मा समस्त संसार को समेट लेते हैं॥३०॥

सूर्य के नीचे की ओर झुक जाने के कारण उसकी किरणें अब तुम्हारे पिता हिमालय के प्रपातों से उड़ने वाले जलसीकरों पर नहीं पड़ रही हैं और इसीलिए उन पर सूर्य की किरणों के पड़ने से जो इन्द्रधनुष दिखाई पड़ता था, वह भी नहीं दिखाई पड़ रहा है॥३१॥

अपनी चोंच में फूले हुए कमलों की केसर लिए हुए यह चकवा-चकवी एक दूसरे के पक्ष से अलग होते हुए अपनी पराधीनता के कारण करुण विलाप कर रहे हैं। इस समय विरह से व्याकुल होने के कारण इन दोनों के बीच इस सरोवर का जो छोटा-सा पाट है वह भी इन दोनों को बहुत बड़ा मालूम पड़ रहा है॥३२॥

ये हाथी दिन भर सल्लकी के वृक्षों को तोड़ते रहे हैं और उन टूटे हुए वृक्षों की सुगन्ध से आस-पास का स्थान आमोदित हो उठा है। अब ये उस दिन के स्थान को अगले दिन के प्रातःकाल तक के लिए त्याग कर उस ताल की ओर पानी पीने के लिए बढ़ चले जा रहे हैं, जहां कमलों में भ्रमर बन्द हैं॥३३॥

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लक्ष्यया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥३४॥
उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपा।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव ॥३५॥
एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम्।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिण. ॥३६॥
पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकत.।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किंचिदिव शेषवत्सरः ॥३७॥
आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः।
आश्रमा प्रविशदग्निधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नय. ॥३८॥
बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम्।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥३९॥
दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥

हे मितभाषिणी! तनिक उधर तो देखो! पश्चिम दिशा में नीचे की ओर लटके हुए सूर्य ने अपनी परछाईं से सरोवर के जल में कैसा सुन्दर एवं सुनहरा सेतु-सा बना दिया है ॥३४॥

गाढी कीचड़ों से युक्त ताला को मथकर तथा उनके बीच में लोट-पोट कर दिन भर की गर्मी बिताने वाले ये बड़ी बड़ी दाढ़ा वाले जंगली सूअरों के यूथपति अब वहाँ से निकल कर बाहर चले आ रहे हैं। इनकी यह दाढ़ ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो इनमें [illegible] हुए कमल की डठलें अँटकी हुई हैं ॥३५॥

हे स्थूल जाँघो वाली! यह सामने वृक्ष की चोटी के ऊपर बैठा हुआ चमकती हुई चन्द्रिका से युक्त वर्हवाला मयूर ऐसा लगता है जैसे यह धूप को पीता सा जा रहा है और जिससे धूप चुकती जा रही है और दिन समाप्त होता आ रहा है ॥३६॥

देखो! आकाश में पूर्व की ओर अन्धकार दिखाई पड़ने लगा है और पश्चिम की ओर प्रकाश दिखाई पड़ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आकाश एक सरोवर हो, जिसकी एक ओर का जल तो सूर्य के ताप से सूख गया हो और कीचड़ दिखाई पड़ रहा हो तथा दूसरी ओर थोड़ा-सा जल दिखाई पड़ रहा हो ॥३७॥

इस समय पर्णकुटियों की [illegible] हो रही है। इन कुटियों के आँगन में [illegible] से घर घर लौटे हुए हरिण [illegible] हैं। वृक्षों [illegible] पानी [illegible] हो गए हैं। दूध देनेवाली गौएँ आश्रम आ [illegible] और [illegible] पर [illegible] की अग्नि प्रज्वलित हो उठी है ॥३८॥

इस सन्ध्या के [illegible] कमलों के [illegible] मुकुलित होने लगा है, तथापि [illegible] उनमें ऊपर की [illegible] हुआ है। [illegible] ऐसा मालूम पड़ता है मानो इसने प्रेमपूर्वक [illegible] नहीं [illegible] हो, व ना हमारे [illegible] आ जाते ॥[illegible]॥

[illegible] जिसमें [illegible] की [illegible] वाली-सी [illegible] ऐसी [illegible] रही है, [illegible] कन्या हो, जिसने [illegible] तिलक लगा लिया हो ॥४०॥

सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥४१॥
सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥४२॥
खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥४३॥
संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥
रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥
सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥४६॥
अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥४७॥

किरणो की ऊष्मा का पान करने वाले और सहस्रो के समूह मे साथ रहने वाले ये वालखिल्य आदि ऋषि इस समय सूर्य मे रथ के घोडो को प्रिय लगने वाले सामवेद को गा-गाकर उस सूर्य की स्तुति कर रहे हैं, जिसने इस समय अपना तेज अग्नि को सौप दिया है ॥४१॥

दिन को समुद्र मे डुबोकर यह सूर्य अपने उन घोडो को लिए हुए अस्त हो रहा है, जिनके मस्तक नीचे की ओर उतरने के कारण झुके हुए हैं, जिनके कानो की चौरियां रह रहकर उनकी आखो के सामने आ जाती है और जिनके केसर (अयाल) कधे पर रखे हुए जुए से लग-लगकर छितरा गए हैं ॥४२॥

सूर्य के अस्त होते ही सम्पूर्ण आकाश सोया हुआ-सा जान पड रहा है। महान तेजस्वियो का यही हाल होता ही है। जब ऊची स्थिति मे रहते है, तब सब ओर प्रकाश करते है और जब पद-च्युत हो जाते हैं तो अधेरा छा जाता है ॥४३॥

सूर्य का वन्दनीय प्रभामण्डल जब अस्ताचल के शिखर पर जाकर छिप गया तब सध्या भी उसके पीछे-पीछे चली गई। क्योकि प्रात काल के उदय के समय जो उसके आगे आगे रही वह विपत्ति के समय उसके पीछे भला क्यो नही जायगी ? ॥४४॥

हे घुघराले बालो वाली ! यह देखो, सामने लाल, पीले और भूरे बादलो के टुकडे आकाश मे फैले हुए ऐसे लग रहे हैं कि मानो सन्ध्या ने इन्हे यह समझ कर तूलिका से भली भाति रँग दिया हो कि तुम इन्हे देखोगी ॥४५॥

देखो, पर्वत पर रहने वाले सिंहो के लाल-लाल केसरो को, नूतन पल्लवो से लदे हुए वृक्षो को तथा रगीन धातुवाली पर्वत की चोटियो को इस समय देखने से ऐसा मालूम पड रहा है मानो अस्ताचलगामी सूर्य ने अपनी लाल धूप को इन सबों मे बाँट दिया हो ॥४६॥

हे पर्वतराज पुत्री ! पूजा की विधियों को जानने वाले ये तपस्वी पवित्र जल से सूर्य को सन्ध्याकाल का अर्घ्य देकर बडी श्रद्धा के साथ अपनी आत्मशुद्धि के लिए ब्रह्म का अध्ययन करते हुए रहस्यमय गायत्री मत्र का जप कर रहे हैं ॥४७॥

तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वा विनोदनिपुण सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥४८॥
निर्विभुज्य दशनच्छद ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥४९॥
ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचित मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम्।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥५०॥
मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने सध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिण चक्रवाकसमवृत्तिमात्मन ॥५१॥
निर्मितेषु पितृषु स्वयभुवा या तनु सुतनु पूर्वमुज्झिता।
सेयमस्तमुदय च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥५२॥
तामिमा तिमिरवृद्धिपीडिता शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम्।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ॥५३॥
साध्यमस्तमितशेषमातप रक्तलेखमपरा बिभर्ति दिक्।
सापरायवसुधासशोणित मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥५४॥

हे मृदुभाषिणी ! इसलिए तुम मुझे भी कुछ क्षणा के लिए इस समय अनुमति दो कि मैं भी सध्या कर आऊँ। इतनी देर के लिए ये तुम्हारी विनोदकुशल सखियां तुम्हारा मनोरजन करती रहेगी ॥४८॥

तदनन्तर पर्वतराज पुत्री पार्वती ने ओठ बिचकाकर महादेव जी की बात की अवज्ञा सी करती हुई अपने समीप म स्थित अपनी सखी विजया स इधर-उधर की थे सिर पैर की बातें करना शुरू कर दिया ॥४९॥

महादेव जी ने अपनी सायकाल की सध्या को विधिपूर्वक मत्रपाठ करते हुए समाप्त किया और उनके बाद पुन मुह फुलाकर चुपचाप बैठी हुई पार्वती के समीप आकर वह मुस्कराते हुए कहने लगे —॥५०॥

हे अकारण रूठने वाली ! अपना क्रोध त्याग दो। मैं तो सध्या को ही प्रणाम करने गया था, किसी अन्य स्त्री को नही। क्या तुम यह नहीं जानती हो कि मैं उसी प्रकार तुम्हारे साथ रह कर धर्माचरण करता हूँ जैसे चकवा और चकवी साथ रहते हैं॥५१॥

हे सुन्दर अंगो वाली ! जिस समय स्वयभू ब्रह्मा ने पितरो की सृष्टि की थी, उसी समय उन्होंने एक ओर अपनी छोटी-सी मूर्ति बनाई थी। वही मूर्ति सूर्योदय और सूर्यास्त के समय प्रकट होती है। इसी से हे मानिनी ! मैं उसका इतना आदर करता हूँ॥५२॥

हे पर्वतराज पुत्री ! एक ओर से बढते हुए अधकार से घिरी हुई यह सध्या इस समय छिपती हुई ऐसी प्रतीत हो रही है मानो कोई गेरु की नदी बह रही हो और उसके एक तट पर तमाल के वृक्षो का सघन जगल हो॥५३॥

पश्चिम दिशा म सध्या के अस्त होने से बचे हुए प्रकाश का लाल रेखा-सी दिखाई पड रही है उससे ऐसा प्रतीत होता है, मानो युद्धभूमि म खून स रँगी हुई लाल तलवार पृथ्वी पर डाल दी गई हो ॥५४॥

यामिनीदिवससंधिसंभवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा।
एतदन्धतमसं निरंकुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते॥५५॥
नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि॥५६॥
शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम्॥५७॥
नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये।
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं कैतकैरिव रजोभिराहतम्॥५८॥
मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः॥५९॥
रुद्धनिर्गममनादिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रिकास्मितम्।
एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम्॥६०॥
पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते॥६१॥

हे दीर्घ नेत्रोंवाली! सूर्यास्त हो जाने पर रात और दिन का मेल कराने वाली सन्ध्या का सब प्रकाश बीच में सुमेरु पर्वत के आ जाने के कारण जाता रहा और अब यह घोर अन्धकार मनमाने ढंग से सभी दिशाओं में फैलता जा रहा है॥५५॥

अंधकार हो जाने से इस समय न तो ऊपर कुछ दिखाई पड़ रहा है और न नीचे। न तो आस पास और न आगे-पीछे ही कुछ दिख रहा है। इस रात्रि के समय सम्पूर्ण संसार इस प्रकार अन्धकार में लीन हो गया है जैसे मानो रात्रि के गर्भ में निवास कर रहा हो॥५६॥

इस समय अंधेरे में उज्ज्वल और मलिन, स्थिर और चचल, टेढ़ी और सीधी सभी वस्तुएँ एक समान सी हो गई हैं। दुष्टों के ऐसे महत्त्व के पदों पर पहुँचने को धिक्कार है जिसके कारण भले और बुरे में कोई अन्तर नहीं रह गया है॥५७॥

हे कमल के समान मुखवाली! पूर्व दिशा का मुख-भाग कुछ कुछ ऐसा श्वेत-सा दिखाई पड़ रहा है मानो केवड़े के पुष्प पराग से वह रंग उठा हो। इससे ऐसा मालूम पड़ रहा है कि रात्रि का अन्धकार दूर करने के लिए यज्ञकर्ताओं के स्वामी चन्द्रमा का उदय होने जा रहा है॥५८॥

इस समय शशलाछन चन्द्रमा मन्दराचल की आड़ में है और तारों से भरी हुई यह रात्रि ऐसी मालूम पड़ रही है जैसे तुम अपनी प्रिय सखियों के साथ बातें कर रही हो और मैं तुम्हारे पीछे खड़ा होकर तुम लोगों की बातों को सुन रहा हूँ॥५९॥

जब तक दिन समाप्त नहीं हुआ, यह चन्द्रमा उदित नहीं हो सका। अब उदित होकर यह ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो रात्रि के पूछने पर यह चाँदनी के रूप में मुसकाते हुए उससे पूर्व दिशा का रहस्य बतला रहा हो॥६०॥

यह उदित होता हुआ चन्द्रमा इस समय पके हुए प्रियगु के फल के समान लाल रँग का दिखाई पड़ रहा है और उसकी परछाईं तालाब के जल में पड़ रही है। चन्द्रबिम्ब के आकाश में और उसके प्रतिबिम्ब के तालाब में होने से ऐसा मालूम पड़ रहा है मानो चकवा और चकवी का जोड़ा एक दूसरे से दूर जा पड़ा हो॥६१॥

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥६२॥
अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥६३॥
पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम्।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥६४॥
रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥६५॥
उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥६६॥
चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
मेखलातरुषु निद्रितानमूनबोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥६७॥
कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥६८॥

इस उदित हुए चन्द्रमा की नूतन किरणें नए और कोमल जौ के अंकुर के समान हैं और यदि तुम चाहो तो अपने कानों का आभूषण बनाने के लिए अपने नाखूनों की नोक से इसे तोड़ सकती हो ॥६२॥

इस समय ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो चन्द्रमा अपनी किरण-रूपी अंगुलियों से रजनी के अन्धकार-रूपी केशपाश को एक ओर समेटकर उसके मुख का चुम्बन ले रहा हो और रजनी आनन्दित होकर अपने कमलरूपी नेत्रों को मूंदकर बैठी हुई हो ॥६३॥

हे पार्वती! उदय होते हुए चन्द्रमा की किरणों से घना अन्धकार मिट जाने पर आकाश ऐसा मालूम पड़ रहा है मानो हाथियों की जलक्रीडा से मैला हुआ मानसरोवर का जल धीरे धीरे स्वच्छ होता जा रहा हो ॥६४॥

चन्द्रमा अब अपनी लालिमा को धीरे-धीरे छोड़कर शुद्ध श्वेतमण्डल युक्त बन गया है। जो निर्मल स्वभाव के लोग होते हैं उनमें यदि समय के फेर से कभी कोई विकृति आ भी जाती है तो वह बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह सकती ॥६५॥

इस समय पर्वत की चोटियों पर तो चन्द्रमा की चांदनी पड़ रही है और नीचे के स्थानों में, घाटियों तथा गड्ढों में अभी अंधकार ही बना हुआ है। विधाता ने गुणों और दोषों के लिए उनके अनुकूल ही उनकी गति भी बनाई है। अर्थात् गुण तो ऊंचाई पर रहते हैं और दोष नीचे की ओर चला जाता है ॥६६॥

इस समय चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श के कारण चन्द्रकान्त मणियों में से जल चू रहा है, जिससे पर्वत के निम्न भागों में अवस्थित वृक्षों पर सोए हुए मयूर वर्षाकाल को आया समझ कर असमय में ही जाग उठे हैं ॥६७॥

हे सुन्दरी! देखो, इस समय चन्द्रमा की किरणें कल्पवृक्ष की चोटियों पर चमक रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों चन्द्रमा अपनी किरणों से कल्पवृक्षों के पुष्पों को गूंथ-गूंथ कर हार बना रहा हो ॥६८॥

उन्नतावनतभाववत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम्।
भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥६९॥
एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं वोढुमक्षममिव प्रभारसम्।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥७०॥
पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम्।
मारुते चलति चण्डिके बलाद्व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥७१॥
शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिनां पतितपुष्पपेशलैः।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान् ॥७२॥
एष चारुमुखि योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥७३॥
पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि चन्द्रिका ॥७४॥
लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥७५॥

यह पर्वत कहीं पर ऊँचा है और कहीं पर नीचा है, इसलिए कहीं पर तो चाँदनी पड़ रही है और कहीं पर अँधेरा फैला हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी मतवाले हाथी के शरीर पर रंग-बिरंगी चित्रकारी की गई हो॥६९॥

यह जो भ्रमरों की गूँज से भरा हुआ कुमुद खिल रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि इसने चन्द्रमा की चाँदनी का रस जो मास ले-लेकर खूब पेट भर कर पी लिया था, अब उसे यह पचा नहीं पा रहा है जिससे इसका यह पेट फट सा पड़ा है और यह कराह रहा है॥७०॥

हे क्रोध करने वाली पार्वती! देखो, कल्पवृक्ष में लटके हुए रेशमी वस्त्रों के साथ निर्मल चाँदनी फैलकर एकाकार हो गई है। और जब ज़ोर से हवा बहती है तभी चाँदनी और वस्त्रों का भेद प्रकट होता है॥७१॥

नीचे धरती पर वृक्षों के पत्तों के बीच से छनकर पड़नेवाली यह चाँदनी ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ रही है मानो इन्हीं वृक्षों के कोमल सुहावने फूल हों। अतः तुम यदि चाहो तो फूलों की पंखुरियों के समान इस बिखरी हुई चाँदनी को अपनी अंगुलियों से उठाकर तुम्हारे केशपाश गूंथ दिए जायँ॥७२॥

हे सुन्दर मुखवाली! इस समय ये जगमग करती हुई ताराएँ चन्द्रमा के समीप उसी प्रकार दिखाई पड़ रही हैं जैसे विवाह के अनन्तर कोई नववधू अपने पति के पास बड़ी घबराहट के साथ काँपती हुई जाती है॥७३॥

तुम जो चन्द्रमा के बिम्ब की ओर ताक रही हो इससे तुम्हारे पके हुए सरकंडे के रंग के समान गौरवर्ण के तथा अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता से खिले हुए तुम्हारे गाल ऐसे लग रहे हैं मानो उन पर यह चाँदनी चढ़ती-सी जा रही हो॥७४॥

तुम्हें यहाँ बैठी हुई देखकर यह गन्धमादन पर्वत के वन की अधिष्ठात्री देवी लाल सूर्यकान्तमणि के बने हुए प्याले में कल्पवृक्ष का आसव लेकर स्वयं आकर उपस्थित हुई है॥७५॥

आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥७६॥
मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम्।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥७७॥
पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥
तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥७९॥
घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥८०॥
तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहज्जघनभारदुर्वहाम्।
ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ॥८१॥
तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥८२॥

हे विलासिनी ! वैसे तो तुम्हारा मुख पहले से ही गीले केसर की सी सुगन्ध से युक्त है और तुम्हारे नेत्र स्वभावत मद से भरी लालिमा से युक्त हैं। अत यह आसव पी लेने पर भी तुम्हारी शोभा मे और क्या वृद्धि कर सकेगा ॥७६॥

किन्तु फिर भी अपनी सखियो के प्रेम का आदर करना चाहिए। काम को उत्तेजित करने वाले इस आसव को तुम पी लो—इस मधुर बात को कह कर शकर ने पार्वती को वह आसव पिला दिया ॥७७॥

जिस प्रकार नियति के विचित्र कौशल से आम का वृक्ष वसन्त ऋतु मे अधिक कुसुमित होकर सहकार बन जाता है, उसी प्रकार उस आसव को पीकर पार्वती के शरीर में जो परिवर्तन हुए, उनके कारण वह और भी मनोरम हो उठी ॥७८॥

आसव का पान करते ही सुन्दर मुखवाली पार्वती महादेव जी तथा उस आसव के मद (नशा) इन दोनों की वशवर्तिनी बन गईं। ये दोनों ही उस समय लज्जा से विहीन तथा कामराग को बढाने वाले एव शयनागार की ओर ले जाने वाले थे। तात्पर्य यह है कि महादेव जी पार्वती को शयनागार की ओर ले गए तथा उन्हें शीघ्र ही नींद भी आने लगी ॥७९॥

पार्वती के नेत्र आसव के मद से नाचने लगे। उसकी वाणी लडखडाने लगी। मुखपर पसीने की बूँदें छा गईं और रह रहकर वह मुस्कराने लगी। यह दशा देखकर महादेव जी बडी देर तक अपनी आंखों से पार्वती का मुखपान तो करते रहे किन्तु मुख से चुम्बन नहीं लिया॥८०॥

सुवर्ण की मेखला से विभूषित अपने स्थूल नितम्बो के बोझ से धीरे धीरे चलनेवाली पार्वती को लेकर भगवान शकर मणिशिला द्वारा रचित सुनसान कक्ष मे पहुँचे, जहां सुख देनेवाली सभी सामग्रियाँ उनके विचार करने मात्र से उपस्थित हो गई थी ॥८१॥

उस शयनागार में हस के समान श्वेत चादर वाले एव गगातट के समान मनोहर दिखाई पडने वाले पर्यंक पर अपनी प्रियतमा पार्वती के साथ चकर जो इस प्रकार लेट गए जैसे रोहिणी का स्वामी चन्द्रमा शरदऋतु के श्वेत बादलों मे विश्राम करता हो ॥८२॥

विलष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम्।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥८३॥
केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु।
तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥८४॥
स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः ॥८५॥
तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दंपती चलितमानसोर्मयः।
पद्मभेदपिशुनाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥८६॥
ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥८७॥
स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम्।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥८८॥
तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥८९॥

पार्वती का ऐसा सम्भोग भी शिवजी के लिए पूर्ण तृप्तिकारक नहीं हुआ यद्यपि सप्रणय एक दूसरे को पराजित करने की इच्छा से उन दोनों के बाल बिखर गए थे, चन्दन पुत गए थे, स्थान स्थान पर नखक्षत हो गए थे और पार्वती जी की करधनी भी टूट गई थी ॥८३॥

किन्तु जब नक्षत्रों की पंक्तियाँ नीचे की ओर खिसकने लगीं अर्थात् रात बीतने लगी, तब केवल अपनी प्रियतमा पार्वती पर कृपा करके शिवजी ने, जिनके वक्षस्थल को पार्वती जी ने आलिंगित कर रखा था, आंख मूदने का खिलवाड किया अर्थात् नींद ली ॥८४॥

जब सुनहले कमल खिलने लगे, और वीणाधारी गन्धर्व लोग आलाप लेते हुए शंकर जी की स्तुति करने लगे तब उनके साथ उषःकाल में देवताओं द्वारा स्तुति किए जाने योग्य शंकर जी जाग गए ॥८५॥

जब मानसरोवर में लहरियाँ उठाने वाले गन्धमादन पर्वत के वन की वायु का स्पर्श पाकर कमल वृन्द खिलने लगे तब उन दोनों शिव तथा पार्वती ने भी उस वायु का क्षण भर तक अपने आलिंगन को ढीला करके सेवन किया ॥८६॥

सम्भोग के समय पार्वती की साड़ी ढीली हो गई थी। अतः शिव जी ने उनकी जाँघ के मूल भाग में नखक्षतों की पंक्तियाँ जो देखीं तो उनके नेत्र उसी के वश में हो गए। और उन्होंने जब पार्वती जी अपना वस्त्र ठीक-ठाक करने लगीं तो उन्होंने उनका हाथ रोक लिया ॥८७॥

पार्वती जी की आँखें रात भर जागते रहने के कारण लाल हो गई थीं। उनके ओठों पर शिवजी के दांतों के घाव भरे पड़े थे। उनका सँवारा हुआ केशपाश इधर-उधर बिखर गया था, और उनका तिलक भी पुँछ गया था। अपनी प्रियतमा की ऐसी मुख-शोभा देख कर प्रेम से युक्त भगवान शंकर अत्यन्त प्रसन्न होगए ॥८८॥

प्रातःकाल हो जाने पर भी महादेव जी ने अपनी वह शैय्या नहीं त्यागी, जिसकी ऊपर बिछी हुई चादर में सलवटें पड़ गई थीं। बीच में बिना सूत की करधनी एकत्र होकर पड़ी थी, और कहीं-कहीं पार्वती के चरणों में लगी हुई महावर के रंग लगे हुए थे ॥८९॥

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥९०॥
समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः
शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥९१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

अपनी प्रियतमा के हर्ष की वृद्धि करने वाले, ओंठों के रस को दिन-रात पीने के इच्छुक शिव जी की यह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शनार्थ आता तो विजया से सूचना पाने पर भी वह दर्शन देने के लिए घर से बाहर न निकलते ॥९०॥

इस प्रकार गन्धमादन पर्वत पर भगवान शंकर ने बराबर दिन रात पार्वती के साथ संभोग करते हुए एक सौ वर्ष के समय को इस प्रकार बिता दिया जैसे अभी एक ही रात बीती हो। किन्तु उनकी आनन्द-भोग की अभिलाषा उसी प्रकार शान्त नहीं हुई जैसे समुद्र के जल में रहने पर भी वडवानल की प्यास नहीं शान्त होती ॥९१॥

महाकवि श्रीकालिदास रचित कुमारसम्भव महाकाव्य में
उमा सुरत वर्णन नामक आठवाँ सर्ग समाप्त ॥८॥

# नवमः सर्गः

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गं मुखारविन्दे मधुप. प्रियायाः।
संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ॥१॥

सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम्।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥२॥

विशृङ्खलं पक्षतियुग्ममीषद्दधानमानन्दगतिं मदेन।
शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥३॥

रतिद्वितीयेन मनोभवेन ह्रदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात्।
तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ॥४॥

तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवच्छद्मविहंगमग्निम्।
विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव ॥५॥

## नवाँ सर्ग

पार्वती के मुखारविन्द पर भ्रमर के समान मुग्ध महादेव जी उपर्युक्त प्रकार से कामदेव के रस मे लीन होकर, जिस समय सभोग कर रहे थे, उसी समय उन्होंने रतिक्रीडा के कक्ष मे प्रविष्ट एक कबूतर को देखा ॥१॥

वह कबूतर भी ऐसी ही मधुर आवाज कर रहा था जैसी आवाज सम्भोग करते समय सुन्दरियां करती हैं। उसकी लाल लाल आखें इधर-उधर नाच रही थी। वह कभी अपना कण्ठ ऊचाकर लेता था, और कभी नीचा कर लेता था और बार बार अपनी मनोहर पूछ को सकुचित करता था ॥२॥

चन्द्रमा के समान श्वेत रगवाला वह कबूतर अपने दोनो पखो को कुछ खोलकर बिना किसी बाधा के मस्ती का आनन्द ले रहा था और अपने जटायुक्त अगले पैरो से वह गोलाई मे चक्कर काट रहा था ॥३॥

उस श्वेत कबूतर को देखकर शिवजी कुछ क्षणो के लिए परम प्रसन्न हुए, क्योंकि उन्हें वह इस प्रकार से दिखाई पडा मानो वह उस अमृत के कुण्ड के नूतन फेन का पिण्ड हो, जिसमे रति के साथ कामदेव ने अवगाहन किया हो ॥४॥

किन्तु जब अन्तर्यामी शकर जी ने उस कबूतर की आकृति को कुछ असाधारण पाया तो उन्होने विचार किया। ध्यान लगाते ही उन्हे ज्ञात हो गया कि यह छद्मवेशधारी अग्नि है। फिर तो महादेव जी क्रोध से अपनी भृकुटी टेढी करके भयकर बन गए ॥५॥

स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
प्रवेपमानो नितरां स्मरारिमिदं वचो व्यक्तमथाभ्युवाच ॥६॥
असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि ।
ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः ॥७॥
त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम् ।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥८॥
त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्थितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥९॥
इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तत्रोऽपराधं भगवन्क्षमस्व ।
पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी ॥१०॥
प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥११॥
स शंकरस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य ।
अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम् ॥१२॥

फिर तो डरते हुए अग्नि ने अपना वास्तविक स्वरूप धारण कर लिया और काँपते हुए दोनों हाथों को जोड़कर थरथराते हुए अत्यन्त भय के कारण अपने इस प्रकार के आगमन से सबंधित सब बातें सच्चे (इस प्रकार) रूप में कह सुनाई ॥६॥

हे प्रभो ! इस संसार के आपही तो एक मात्र स्वामी हैं। आप ही स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की विपदा को दूर करनेवाले हैं। यही कारण है कि इन्द्रादि जब जब बड़े बड़े दैत्यों से हारते हैं तब तब आपकी शरण में आते हैं ॥७॥

आपने अपनी प्रियतमा पार्वती के प्रेम में पड़कर एक सौ वर्ष तो केवल संभोग में बिता दिया। और यहाँ ऐसे एकान्त स्थल में रहने लगे कि आपका दर्शन न मिलने के कारण इन्द्र तथा दूसरे देवता लोग अत्यन्त घबराने लगे हैं ॥८॥

हे भगवन् ! वे सब इन्द्रादि देवता आपके दर्शन की प्रतीक्षा में बैठे हैं, उन्होंने मुझसे प्रार्थना की तब मैं आपको ढूँढने के लिए चला। मैंने समय का विचार करके अर्थात् यही सोचकर कि इस समय आप संभोग में रत हैं, पक्षी का रूप धारण कर लिया ॥९॥

हे प्रभो ! इसलिए आप अपने हृदय में मेरी परवशता पर विचार कर मेरा अपराध क्षमा करें। आप ही देखें कि अपने शत्रुओं से पराजित होकर आपकी शरण में आए हुए ये देवता लोग भला कितने दिनों तक उपयुक्त समय आने की प्रतीक्षा करते रहेंगे ॥१०॥

हे प्रभो ! इसलिए आप सुप्रसन्न होकर अपने पुत्र की उत्पत्ति शीघ्र करें। जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र फिर से स्वर्ग लोक के स्वामी बनकर आपकी कृपा से तीनों लोकों का पालन करें ॥११॥

अग्नि की इस सच्ची बात को सुनकर भगवान शंकर का क्रोध समाप्त हो गया। जिन्हें बात करने का ढंग आता है वे अपनी मोहिनी बातों से अपने स्वामी जनों को प्रसन्न कर ही लेते हैं ॥१२॥

प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय।
शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किंचित् ॥१३॥
युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात्।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्ययोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥१४॥
अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तं विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम्।
बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिक्षेपकुवर्णमग्निः ॥१५॥
त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनल धूमगर्भः।
इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥१६॥
दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः।
वह्निर्विरूपं वपुरुद्वरेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥१७॥
■ पावकालोकरुषा विलक्षां स्मरत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम्।
विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥१८॥
हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः।
द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥१९॥

तब सुप्रसन्न चित्त वाले मदन विनाशक शकर जी ने देवताओ के शत्रु तारकासुर पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा सेनापति बनकर इन्द्र को विजयी बनाने की शक्ति रखनेवाले पुत्र को उत्पन्न करने का विचार किया ॥१३॥

ऊर्ध्वरेता (अपने वीर्य को ऊपर खीच सकने वाले, योगेश्वर) शकर जी ने, प्रलय की अग्नि के समान किसी से भी न सहे जाने योग्य अपने अमोघवीर्य को, जो उनके सभोग के अन्त मे कामक्रीडा के भग हो जाने से निकल पडा था, उन्ही अग्नि के लिए दे दिया ॥१४॥

उस वीर्य को ग्रहण करते ही अग्नि का तेजस्वी एव उज्ज्वल शरीर एकदम इस प्रकार से अत्यन्त मलिन हो गया जैसे मुह की भाप से सुन्दर दर्पण मलिन हो जाता है ॥१५॥

पर्वतपुत्री पार्वती इस प्रकार अपने सुरतजनित आनन्द के भग हो जाने से अत्यन्त रुष्ट हो गई और उन्होने अग्नि को इस प्रकार से शाप दे दिया—हे अग्नि! जाओ, तुम आज से सर्वभक्षी (पवित्र, अपवित्र-सभी प्रकार की वस्तुओ को खानेवाला) हो जाओ, ससार को भस्म करने जैसा भयानक काम करो, तुम्हे कुष्ट रोग हो जाय और तुम धूए से व्याप्त रहो ॥१६॥

इधर महादेव जी का उक्तवीर्य ग्रहण करने से अग्नि का स्वरूप इतना मलिन हो गया जैसे दक्ष के शाप से क्षयरोगग्रस्त चन्द्रमा अथवा पाला मारे हुए कमल के कोश का रूप हो। वहाँ से अपना वही रूप लेकर अग्नि बाहर निकले ॥१७॥

रतिक्रीडा के अवसर पर अग्नि द्वारा देखलिए जाने के कारण अत्यन्त क्रोध से जिनका सुन्दर स्वरूप विकृत हो गया था, तथा जो काम और लज्जा के कारण अपनी झेंप को मुस्कराहट मे छिपाते हुए नीचे मुख किए बैठी थी—ऐसी पार्वती को शकर जी अपने प्रेमरस से सनी हुई मीठी वाणी से बहलाने लगे ॥१८॥

सघन पसीने की बूदो से पार्वती की आखो का काजल उनके मुखपर इधर-उधर फैल रहा था। अपनी प्राणप्रिया के मुख-चन्द्र पर शकर जी को वे काजल के चिह्न ऐसे लग रहे थे मानो चन्द्रमा के कलक हो। महादेव जी ने उस फैले हुए काजल को अपने कन्धे पर रखे हुए अपने कौपीन से पोछ दिया ॥१९॥

मन्देन खिन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
परामृशन्घर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥२०॥
रतिश्लयं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम् ।
स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥२१॥
कपोलपाल्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
स्मरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥२२॥
रथस्य कर्णाविभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधात्सः ।
जगज्जिगीषुर्युधिपमेपुरेष ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥२३॥
तस्याः स कण्ठे विहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गाङ्गोघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥२४॥
नखव्रणश्रेणिवरे बबन्ध नितम्बबिम्बे रशनाकलापम् ।
चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥२५॥
भालेक्षणाग्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे निनीलेऽङ्गुलिमुज्जघर्ष ॥२६॥

पसीने से गीली अगुलियो वाले अपने हाथों को पखे की तरह इधर-उधर हिलाकर शिव जी ने धीरे-धीरे पार्वती के मुखकमल के सारे पसीने को सुखा दिया ॥२०॥

सभोग के समय केशपाश के खुल जाने से पार्वती जी की सम्पूर्ण केश राशि उनके कधो पर बिखर गई थी और केशपाश मे लगे हुए पुष्प भी गिर गए थे। उसे अमृतमूर्ति चन्द्रमा को सिर पर धारण करने वाले शकर जी ने पारिजात के पुष्पो की माला द्वारा फिर से बाँध दिया ॥२१॥

चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले शकर जी ने मनोहर मुखवाली पार्वती के कपोलो को, कस्तूरी के लेप से चित्रित कर दिए। उसे देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह चित्रकारी नहीं है प्रत्युत सिद्ध कामदेव के हाथो से, ससार को वश मे करनेवाला मत्र लिखा गया है ॥२२॥

शकर जी ने पार्वती के दोनो कानो मे सुन्दर कर्णफूल पहना दिए। इससे उनका मुख ऐसा मनोहर दिखाई पडने लगा मानो वह कामदेव का ऐसा रथ हो, जिसपर बैठकर वह तीनो लोको को जीतने के लिए निकला हो और ये दोनो कर्णफूल उस रथ के दो पहियों के समान हों ॥२३॥

शकर जी ने पार्वती के कण्ठ मे जो मोतियो से बना हार पहनाया वह उनके दोनो स्तनो के चूचुको का स्पर्श कर वक्षस्थल पर लटकते हुए ऐसा प्रतीत होता था मानो दो सुमेरु पर्वतो के दो शिखरो से गगाजी की दो धाराएं निकल कर नीचे गिर रही हों ॥२४॥

पार्वती के उन नितम्बो पर, जिनपर शकर जी के नखो से बने हुए चिह्न चमक रहे थे, शकर जी ने करधनी पहना दी। वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो कामदेव ने अपने चचल चित्त रूपी मृग को बाधने के लिए जाल फैला रखा हो ॥२५॥

शकर जी ने अपने ललाट पर स्थित तीसरे नेत्र (रूपी दीपक) से काजल पार कर नूतन कमल जैसे नेत्रो वाली पार्वती के दोनो आखो मे स्वय सुन्दर ढग से लगा दिया। और फिर लगे हुए काजल को पोछने के लिए उन्होने अगुली को पुलकावली से व्याप्त अपने नीले कण्ठ मे पोंछ लिया ॥२६॥

अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल संनिवेश्य।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥२७॥
भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः ॥२८॥
प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य।
त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्बभार ॥२९॥
नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य।
अमंस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्भूतविलक्षभावा ॥३०॥
अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च।
सुसपदोपाचरतां कलानामङ्कं स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥३१॥
व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु ।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥३२॥
ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणास्तदालोकनतत्पराणाम्।
द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥३३॥

तदनन्तर चन्द्रशेखर महादेव ने कमलनयनी पार्वती के चरण-कमल के अग्रभाग में महावर लगाकर अपने हाथ की लालिमा को अपने मस्तक पर विराजमान गगा के जल से धो डाला ॥२७॥

यह सब प्रसाधन कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपने भस्म लगे हुए शरीर पर दर्पण को रगड़ कर पोंछ डाला और पुन अपनी प्राणवल्लभा पार्वती को अपने शृगार की सजावट को दिखाने के लिए उस दर्पण को उनके आगे कर दिया ॥२८॥

शकर जी के हाथ से दिखाए हुए उस मणिदर्पण मे अपने शरीर पर बने हुए सभोग के चिह्नों को देखने से पार्वती जी को अत्यन्त लज्जा के कारण जो रोमाच हुआ, उसीसे उन्होंने यह सूचित किया कि शकर जी के प्रति उनका कितना अविरल प्रेम है ॥२९॥

अपने प्रियतम पति के हाथ से सजाए गए शृगार की शोभा को जब उन्होंने उस दर्पण मे देखा तो मुस्करा पडी। उनकी लज्जा दूर हो गई और उन्होने अपने को ससार की समस्त सौभाग्यवती स्त्रियों में अग्रगण्य माना ॥३०॥

इसके बाद पार्वती की जया और विजया नामक सखियों ने उपयुक्त अवसर देखकर रतिगृह के भीतर प्रवेश किया और उन्होने चन्द्रमौलि शकर की गोद में बैठी हुई पार्वती को कलात्मक प्रसाधना से विधिवत अलकृत किया ॥३१॥

उस अवसर पर उस रतिगृह के बाहर शकर जी को प्रसन्न करने के लिए चारणों ने उनके विचित्र चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले मगल गीत के गायन आरम्भ कर दिए और गन्धर्व लोग भी शख ध्वनि के साथ गान करने लगे ॥३२॥

महादेव जी की सेवा का उचित अवसर देखकर नन्दी भी अत्यन्त विनम्र भाव से रतिगृह के द्वार पर पहुँच गया और उसने हाथ जोड कर प्रणाम करते हुए शकर जी के दर्शन के लिए उपस्थित देवताओं के समूहों की सूचना दी ॥३३॥

महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः।
संभोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम ॥३४॥
क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम्।
प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं[1] च लोकत्रयमातरं ते ॥३५॥
यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे।
स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥३६॥
मनोऽतिवेगेन ककुद्मता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः।
वैमानिकैः साञ्जलिभिर्ववन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥३७॥
स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी।
तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिषेवे गिरिजागिरीशौ ॥३८॥
पिनाकिनापि स्फाटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः।
धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥३९॥

यह सुनकर महेश्वर शंकर जी अपने मानस की राजहंसी पर्वतराजपुत्री पार्वती के हाथ में अपना हाथ डाले हुए देवताओं से भेंट करने के लिए अपने क्रीडागृह से बाहर निकले ॥३४॥

उनके बाहर निकलते ही इन्द्रादि देवताओं ने महेश्वर शंकर जी तथा तीनों लोक की माता पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती को बारी-बारी से हाथ जोड़ कर तथा सिर नवाकर प्रणाम किया ॥३५॥

शंकर जी ने उन समस्त देवताओं को सम्मानित करके प्रसन्न किया और उन्हें विदा किया। और तब नंदी के हाथ के सहारे से पार्वती के साथ अपने वृषभ पर आरूढ होकर उन्होंने स्वयं वहाँ से प्रस्थान कर दिया ॥३६॥

मन से भी अधिक तीव्र गति से चलनेवाले उस वृषभ पर जब शंकर जी आकाश मार्ग में चले तो उस समय जो देवता लोग अपने अपने विमानों में बैठकर आकाश में यथेच्छ विचरण कर रहे थे, उन सबने हाथ जोड़कर शंकर जी को प्रणाम किया ॥३७॥

उस अवसर पर आकाश-गंगा के शीतल शीकरों से बोझिल, पारिजात के पुष्पों की सुगंधि से आमोदित तथा संभोग से थकी हुई रमणियों की थकावट को दूर करने वाले पवन ने शंकर और पार्वती की बड़ी सेवा की ॥३८॥

इस प्रकार चलते चलते शंकर जी स्फटिक द्वारा निर्मित पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर जा पहुँचे जो उन्हीं के समान ही दिखाई पड़ता था, क्योंकि जहाँ अपने महत्त्व के कारण शंकर जी आकाश में व्याप्त हैं उसी प्रकार कैलास के भी चारों ओर आकाश है, जिस प्रकार शंकर जी सोमधारी हैं उसी प्रकार कैलास भी सोम (शंकर) धारी है, जिस प्रकार शंकर जी भोगी (सर्प) वाले हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी भोगी (विलासी) जनों से युक्त रहता है, जिस प्रकार शंकर जी विभूति (भस्म) से विभूषित हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी विभूति (रत्न, मणि आदि सम्पदा) से विभूषित है ॥३९॥

## दशमः सर्गः

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह।
एष त्रैयम्बकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः ॥१॥
सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम्।
दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥२॥
दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा।
व्यचिन्तयच्चिरं किंचित्कन्दर्पद्वेषिरोषजम् ॥३॥
स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम्।
उपाविशत्सुरेन्द्रणादिष्टं सादरमासनम् ॥४॥
हव्यवाह त्वयासादि दुर्दशेयं दशा कुतः।
इति पृष्ठः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽवदत् ॥५॥
अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक।
पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात् ॥६॥
अभिगौरि रतासक्तं जगामाहं महेश्वरम्।
कालस्येव स्मराराते: स्वं रूपमहमासदम् ॥७॥

## दसवाँ सर्ग

शंकर जी के उस जलते हुए तथा दुःसह वीर्य को लेकर अग्नि उस देव-सभा में पहुँचे जहाँ इन्द्र देवताओं के साथ विराजमान थे ॥१॥

इन्द्र ने आदर के साथ अपनी एक सहस्र आँखों से कुत्सित अंगोंवाले तथा धूएँ के कारण जिनका प्रभामण्डल मलिन हो गया था—ऐसे अग्नि को देखा ॥२॥

अग्नि को उस प्रकार कुत्सित वेश में देखकर इन्द्र को बड़ा खेद हुआ और थोड़ी देर तक विचार करने पर वे समझ गए कि कामदेव के विद्वेषी शंकर जी के क्रोध के कारण अग्नि की (ऐसी) दशा हुई है ॥३॥

देवता लोग बड़े दुःखी नेत्रों से बार बार अग्नि को देख रहे थे। इन्द्र ने आदर के साथ जब उन्हें बैठने के लिए आदेश दिया तो वे एक आसन पर बैठ गए ॥४॥

(इन्द्र ने अग्नि से पूछा—) अग्निदेव! आपकी ऐसी दयनीय दशा कैसे हो गई? तब देवेन्द्र द्वारा पूछने पर लम्बी साँसें खींचते हुए अग्निदेव बोले—॥५॥

हे सुरनायक! आपकी अनुल्लंघनीय आज्ञा प्राप्त कर मैं कबूतर का वेश धारण कर बड़े भय के साथ जब महादेव जी के पास पहुँचा तब उस समय वह पार्वती के साथ सम्भोग-रत थे। मुझे पहचानते ही जब वह क्रोध के कारण काल के समान हो गए तब मैंने डर के कारण वह कबूतर का रूप छोड़कर अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया ॥६-७॥

दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भभित्।
ज्वलद्भालानले होतुं कोपनो माममन्यत ॥८॥
वचोभिर्मधुरैः सार्थैर्विनम्रेण मया स्तुतः।
प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥९॥
शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शंकरः।
क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात्त्रासतो दुर्निवारतः ॥१०॥
परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुर्गिरेः।
कामकेलिरसोत्सेकाद्व्रीडया विरराम सः ॥११॥
रङ्गभङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्वहम्।
निजगद्दाहकं सद्यो मद्विग्रहमधिन्यधात् ॥१२॥
दुर्विषह्येण तेनाहं तेजसा दह्यमात्मना।
निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥१३॥
रौद्रेण दह्यमानस्य महसातिमहीयसा।
मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव ॥१४॥
इति श्रुत्वा वचो वह्नेः परितापोपशान्तये।
हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः ॥१५॥
तेजोवध्यानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन्।
किंचित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत ॥१६॥

हे जम्भविजयी ! मुझे पक्षी के छद्मवेश मे देखकर सब कुछ जानने वाले शकरजी को ऐसा रोष आ गया था कि वे मुझे भी अपने ललाट की जलती हुई अग्नि मे झोक ही देते ॥८॥

किन्तु मैंने बहुत विनम्र भाव से बडे मार्मिक शब्दो से जब उनकी स्तुति की तब वे कुछ पिघले। क्योकि स्तुति किसे अच्छी नही लगती ॥९॥

शकर जी शरण मे पहुँचने वाले की रक्षा करते है, ससार के वे ही रक्षक हैं। इसीलिए उनके क्रोधानल से, जिससे कोई भी नहीं बच पाता, आहुति बनते-बनते मैं (उनकी कृपा से ही) बच गया ॥१०॥

फिर शकर जी ने पार्वती द्वारा कसकर आलिंगित किए गए अपने को उनके हाथो से छुडा लिया और लज्जा के कारण रति क्रीडा के आनन्द की इच्छा को त्यागकर वह अलग हो गए ॥११॥

रति क्रीडा के बीच मे ही रग मे भग हो जाने के कारण उन्होने अपने अत्यन्त असहनीय, तीनों लोको को जलानेवाले अमोघ वीर्य को तत्काल ही मेरे शरीर मे डाल दिया ॥१२॥

उस परमदाहक एव अत्यन्त कठिनाई से सहने योग्य वीर्य रूपी तेज से मैं अत्यन्त जल रहा हूँ और अपने शरीर को भी ढोने मे असमर्थ हो रहा हूँ ॥१३॥

हे इन्द्र ! इसलिए शकर जी के उस अत्यन्त भयकर तेज से जलते हुए मेरे प्राणो की रक्षा का प्रबन्ध करके आप सुयश प्राप्त करें ॥१४॥

देवताओ के स्वामी इन्द्र अग्नि की इस प्रकार की बात सुनकर उनके परिताप की शान्ति का अपने मन मे कोई उपाय सोचने लगे ॥१५॥

तदनन्तर स्वर्ग के स्वामी इन्द्र ने अग्नि के जलते हुए अगो को अपने हाथ से स्पर्श करते हुए इन्धनो को जलाने वाले अग्नि से यह कहा— ॥१६॥

प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम्।
देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः ॥१७॥
त्वयि जुह्वति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः।
भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम् ॥१८॥
हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश त्वयि जुह्वतः।
तपस्विनस्तपः सिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः ॥१९॥
निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति।
ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता ॥२०॥
अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च।
ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च ॥२१॥
जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत्।
कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते ॥२२॥
अमीषां सुरसंघानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने।
विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल ॥२३॥
देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता।
निमज्जतस्तवोदीर्णं तापं निर्वापयिष्यति ॥२४॥

हे अग्नि! हवन करने वाले लोग स्वाहा, स्वधा, और वषट् का उच्चारण करके जब तुम्हें प्रसन्न करते हैं तो तुम देवताओं, पितरों एवं मनुष्यों को प्रसन्न करते हो, क्योंकि उन सबों के तुम मुख स्वरूप हो अर्थात् तुम्हारे ही द्वारा इन सबको अपना-अपना भाग मिलता है ॥१७॥

होतागण तुममें आहुति डालकर अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करते हैं, और स्वर्ग का उपभोग करते हैं। इस प्रकार उन लोगों की स्वर्ग-प्राप्ति में एकमात्र तुम ही कारण हो ॥१८॥

हे हुताशन! तपस्वी लोग मन्त्रों से पवित्र आहुतियों का तुममें हवन करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। क्योंकि तुम ही तपस्या के भी प्रभु हो ॥१९॥

सूर्य के लिए जो आहुति दी जाती है, उसे भी तुम धरोहर की भाँति ग्रहण करते हो और उन्हें दे देते हो। सूर्य उसी के कारण वृष्टि करता है, जिससे अन्न पैदा होता है, और उसी अन्न से संसार का भरण-पोषण होता है, इस प्रकार तुम इस समस्त संसार के पालनकर्ता हो ॥२०॥

अग्निदेव! समस्त प्राणियों के भीतर तुम ही निवास करते हो, और वे सब तुम्हीं से उत्पन्न होते हैं। इसलिए एकमात्र तुम्हीं इस संसार को जीवन और प्राण देने वाले हो ॥२१॥

इस समस्त संसार का उपकार करनेवाले एक तुम्हीं तो हो, इसलिए हमलोगों के कठिन कार्यों को सिद्ध करने में तुम्हारे सिवा किसी दूसरे की सामर्थ्य नहीं है ॥२२॥

हे अग्नि! हम समस्त देवताओं में तुम्हीं अकेले ऐसे हो जो प्रयोजन की सिद्धि करने में समर्थ हो। देखो, जो दूसरों के उपकार का व्रत ग्रहण करते हैं, उनकी विपत्ति भी गौरव की वस्तु है ॥२३॥

हम लोगों ने पहले ही से भक्तिपूर्वक बहुत प्रार्थना करके गंगाजी को प्रसन्न कर रखा है, वह स्नान करते ही तुम्हारा यह असहनीय सन्ताप शान्त कर देंगी ॥२४॥

गङ्गां तद्गच्छ मा कार्षीर्विलम्बं हव्यवाहन।
कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता ॥२५॥
शंभोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगा।
त्वत्तः स्मरद्विषो बीजं दुर्धरं धारयिष्यति ॥२६॥
इत्युदीर्य सुनासीरो विरराम स चानलः।
तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि ॥२७॥
हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी।
तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥२८॥
स्वर्गारोहणनिःश्रेणिर्मोक्षमार्गाधिदेवता ।
उदारदुरितोद्गारहारिणी दुर्गतारिणी ॥२९॥
महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी।
सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥३०॥
विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता।
त्रिभिः स्रोतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥३१॥
जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः।
आजुहावार्थसिद्ध्यै तं सुप्रसादधरेव सा ॥३२॥
संमिलद्भिर्मरालैः सा कलं कूजद्भिरुन्मदैः।
ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीति तमन्वधात् ॥३३॥

हे अग्निदेव! इसलिए तुम तुरन्त गंगा जी के समीप चले जाओ, विलम्ब मत करो। क्योंकि जो कार्य अवश्य ही करना हो, उसमें सफलता के लिए विलम्ब नहीं लगाना चाहिए ॥२५॥

यह गंगा जी भगवान शंकर की ही जलमयी मूर्ति हैं। अतः वे कामदेव के शत्रु महादेवजी के तेजस्वी वीर्य को तुमसे लेकर अपने में रख लेंगी ॥२६॥

इतना कहकर देवराज इन्द्र चुप हो गए। और अग्नि भी उनसे विदा लेकर वहाँ से गंगा जी की ओर चल पड़े ॥२७॥

अग्नि वहाँ से चलकर सम्पूर्ण क्लेशों को नाश करनेवाली स्वर्ग की तरंगिणी गंगाजी के समीप पहुँच गए, जो सीढ़ी बनकर भक्तजनों को स्वर्ग पहुँचाने वाली हैं, मोक्ष मार्ग की अधिदेवता हैं, बड़े से बड़े पापों को दूर करने वाली हैं, कठिनाइयाँ हर लेती हैं, शंकरजी की जटा समूह में निवास करनेवाली हैं, पापनाशिनी हैं, राजा सगर के वंश को तारनेवाली एवं धर्म की रक्षक हैं। वे भगवान् विष्णु के चरण से जल रूप में निकलकर ब्रह्मलोक से आई हैं और अपनी परम पावन तीन धाराओं से तीनों लोकों को पावन करती हैं ॥२८-३१॥

अग्नि के उनके समीप पहुँचने पर गंगाजी ने अपनी ऊँची उठने वाली लहर रूपी हाथों से, अत्यन्त प्रसन्नता से भरी हुई के समान, कार्यसिद्धि का सन्देश देती हुई उन्हें दूर से बुलाने-सी लगीं ॥३२॥

आपस में एक दूसरे से सटे हुए, मनोहर बोलते हुए मतवाले हंसों के द्वारा गंगाजी मानो अग्निदेव से यह कह रही थीं कि मैं संसार में सबका दुःख हर लेती हूँ और कल्याण देती हूँ ॥३३॥

कल्लोलैरुद्गतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः।
प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥३४॥
अथाम्युपेतस्तापार्तो निममज्जानलः किल।
विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥३५॥
गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि श्रमहारिणि।
स मग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि ॥३६॥
तत्र माहेश्वरं धाम संचक्राम हविर्भुजः।
गङ्गायामुत्तरंगायामन्तस्तापविपद्धृति ॥३७॥
कृशानुरेतसो रेतस्याद्दते सरिता तया।
निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ॥३८॥
सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः।
यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधत् ॥३९॥
सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत्।
आदधाना परीतापमवाप व्योमवाहिनी ॥४०॥
बहिरार्ता युगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिखाशतैः।
हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ॥४१॥

गंगाजी की हरहराती हुई और ऊँचाई तक उठती हुई लहरें, जो उनके ढलुवे तट पर चली आ रही थीं ऐसी लगती थी मानो वह कुछ आगे बढ़कर अग्निदेव का स्वागत-सा कर रही हो ॥३४॥

वहाँ पहुँचकर असह्य संताप से जलते हुए अग्नि ने गंगाजी में तुरन्त डुबकी लगाई। क्योंकि विपत्ति से सताए हुए लोग उसे दूर करने के उपायों में विलम्ब करना नहीं चाहते ॥३५॥

सम्पूर्ण जगत का कल्याण करनेवाली, थकावट दूर करनेवाली, परम पावनी तथा सबको तारनेवाली गंगाजी की धारा में डूबकर अग्नि को बड़ी शान्ति मिली ॥३६॥

अपनी ज्वाला से दहकता हुआ शंकर जी का वह तेज (वीर्य) अग्नि के शरीर से निकल कर ऊँची ऊँची तरंगों वाली गंगाजी की धारा में मिल गया, जिससे उनके भीतर अत्यन्त ताप होने लगा ॥३७॥

इस प्रकार जब गंगाजी द्वारा शंकर जी का वह तेजस्वी वीर्य ग्रहण कर लिया गया तो अग्निदेव परम प्रसन्न हुए और उनकी धारा से बाहर निकल आए ॥३८॥

और अमृत के समान सुख शान्ति एवं नवजीवनदायी गंगाजल से स्नानकर जब उन्हें परमसुख मिला तो वह जहाँ से आए थे, वहीं वापस चले गए ॥३९॥

किन्तु इधर कामजयी शंकरजी के उस असह्य वीर्य को ग्रहणकर आकाशवाहिनी गंगा जी अत्यन्त उबल उठीं ॥४०॥

जैसे प्रलयकाल की सैकड़ो ज्वालाओं द्वारा युक्त (बाडव) अग्नि से खौलते हुए (समुद्र के) जल से अतीव सन्तप्त होकर जलजन्तु बाहर निकल पड़ते हैं उसी प्रकार गंगाजी के उस खौलते हुए जल से भी (उसमें रहनेवाले) जलजन्तु बाहर निकल पड़े ॥४१॥

तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि।
समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ॥४२॥
जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किंचिदभ्युदयोन्मुखे।
जग्मुः षट्कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम् ॥४३॥
शुभ्रैरभ्रंकषैरूर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम्।
कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम् ॥४४॥
सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मोचितैरलम्।
बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाक्षतान्वितैः ॥४५॥
ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः।
योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥४६॥
पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसंबद्धदृष्टिभिः।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपसेविताम् ॥४७॥
अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः।
कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी ॥४८॥
चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्धनि।
यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्दधुस्ता मुदा हृदि ॥४९॥

शंकर जी के उस भयानक तेज से गंगाजी का जल अत्यन्त तप्त हो गया और ऐसा खौलने लगा कि धारा से ऊपर तक उठने लगा, किन्तु फिर भी गंगाजी ने उसे शंकर जी का तेज समझकर धारण किए रखा ॥४२॥

इसके बाद एक बार माघ के महीने में एक दिन जब संसार के नेत्र एवं प्रचण्ड किरणों वाले भगवान भास्कर उदयोन्मुख थे तब देवनदी गंगा में स्नान करने के लिए छः कृत्तिकाएँ आईं ॥४३॥

उस समय गंगाजी की श्वेत एवं आकाश चूमनेवाली सैकड़ों लहरें ऊपर की ओर उछलकर मानों यह बता रही थीं कि स्वर्ग में निवास करनेवाले देवता लोग यहीं आकर दर्शन, स्नान और आचमनादि किया करते हैं ॥४४॥

वहाँ गंगाजी के तट पर सुन्दर स्नान से निवृत्त बड़े-बड़े मुनियों ने जो पूजा-पाठ किया था, उसके कारण पुष्प, दूब, अक्षत आदि पूजा की सामग्रियाँ जल के बाहर वहाँ बिखरी हुई थीं ॥४५॥

उसी तट पर कुश के आसनों पर पद्मासन बाँधकर ब्रह्म का ध्यान करनेवाले समाधिलीन, योगपरायण मुनिजन कमर से लेकर घुटने तक वस्त्र ओढ़कर योग-निद्रा में लीन थे ॥४६॥

और वहीं पर पैर के अगूठे पर खड़े होकर सूर्य की ओर नेत्र लगाए हुए ब्रह्मर्षि वृन्द परम ब्रह्म का ध्यान लगाए हुए थे ॥४७॥

ऐसी दिव्य नदी गंगाजी के तट पर पहुँचकर छहों कृत्तिकाओं ने उन्हें देखकर परम आनन्द का अनुभव किया। ठीक ही था। ऐसी अमृत के बहानेवाली गंगाजी को देखकर कौन नहीं आनन्दित होगा ॥४८॥

चन्द्रमा को अपने सिर की मणि के समान धारण करनेवाले भगवान् शिवजी जिसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं, और जिसका देखना भी पुण्यप्रद है, उस गंगाजी को देखकर उन कृत्तिकाओं के हृदय में बड़ी श्रद्धा जाग उठी ॥४९॥

दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम्।
निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्वास्ता ववन्दिरे ॥५०॥
सौभाग्यैः खलु सुप्रापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम्।
भक्त्यान तुष्टुवुस्तां ताः श्रद्दधाना दिवोधुनीम् ॥५१॥
मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः।
प्रक्षालितमलाः सस्नुः सुस्नातास्तपसान्विताः ॥५२॥
स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः।
चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥५३॥
कृशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम्।
अमोघं संचचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥५४॥
रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मकम्।
परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ॥५५॥
अक्षमा दुर्वहं वोढुमम्बुनो बहिरातुराः।
अग्नि ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५६॥
अमोघं शाम्भवं बीजं सद्यो नद्योज्झितं महत्।
तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ॥५७॥

उन्होंने भगवान् विष्णु के चरणों से निकलनेवाली पापों का नाश करनेवाली तथा मोक्ष को दिलानेवाली दिव्य नदी गंगाजी को विनम्र होकर सिर से वन्दना की ॥५०॥

जो बड़े सौभाग्य से दर्शन देनेवाली हैं, और जो मोक्ष को प्राप्त करानेवाली है, ऐसी परमपावनी देवनदी गंगाजी की उन कृत्तिकाओं ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्तुति की ॥५१॥

तब उन तपस्विनी कृत्तिकाओं ने मुक्ति-रूपी नायिका की प्राप्ति के लिए दूती के समान गंगाजी की उस पवित्र निर्मल-जल धारा में विधिवत् स्नान करके, अपने पापों को धो देने वाली समझा ॥५२॥

पूर्व जन्म के संचित भाग्य द्वारा प्राप्त होनेवाली गंगाजी की उस पवित्र धारा में आनन्द के साथ स्नान कर उन कृत्तिकाओं ने अपने जीवन को अत्यन्त कृतार्थ माना ॥५३॥

किन्तु जिस समय वे गंगाजी में स्नान कर रही थी, उसी समय शंकरजी का वह अमोघ वीर्य उनके शरीर में समाविष्ट हो गया ॥५४॥

जिससे उस जलनेवाले अत्यन्त असहनीय शंकरजी के तेज को धारण करके कृत्तिकाएँ इस प्रकार अत्यन्त सन्तप्त हो उठी मानो उन्होंने विष के समुद्र में स्नान किया हो ॥५५॥

उस अत्यन्त असहनीय तेज को देर तक धारण करने में असमर्थ वे कृत्तिकाएँ अपने भीतर जलती हुई अग्नि के दाह के समान अत्यन्त दाह का अनुभव करती हुई गंगा जी की धारा से बाहर निकल पड़ी ॥५६॥

शंकर जी का वह अमोघ वीर्य गंगाजी से निकलकर उन कृत्तिकाओं के उदर में पहुँचकर तेजोयुक्त गर्भ के रूप में बदल गया ॥५७॥

सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भभूतं तद्वोढुमक्षमाः।
विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया ह्रिया ॥५८॥
ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः।
तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः ॥५९॥
ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं,
तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः।
स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानं,
वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाजनीव ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

जब उन्होंने ध्यान से देखा कि शङ्करजी का वह तेज तो गर्भ के रूप में बदल गया है और वह उनके सँभालने से सँभल भी नहीं रहा है तो अपने पतियों के भय से वे अत्यन्त विषाद में पड़ गईं ॥५८॥

और तब लोक-लज्जा और पति के भय के कारण वे एक साथ ही सरपत के एक जंगल में अपने गर्भों को त्यागकर अपने घर वापस चली आईं ॥५९॥

उन कृत्तिकाओं ने उस सरपत के वन में जो चन्द्रमा की कला के समान कोमल और तेजस्वी गर्भ को त्याग दिया था, वह ऐसे तेजस्वी बन गए कि आकाशमण्डल में उठता हुआ उनका तेज उदय होनेवाले सैकड़ों सूर्यों से भी स्पर्धा करनेवाला हो गया और अपने छः मुखों से वह चार मुखों वाले महादेवजी के वन्दनीय ब्रह्मा को भी मानो चुनौती-सा देने लगे ॥६०॥

महाकवि श्रीकालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य में कुमार का जन्म
नामक दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

# एकादशः सर्गः

अभ्यर्थ्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य।
तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता ॥१॥
पिबन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेधमान.।
प्रापाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाण. खलु कृत्तिकाभिः ॥२॥
भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम् ।
तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥३॥
अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः।
नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥४॥
निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेत.प्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम् ॥५॥
अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात्।
कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाग्यवतीषु धुर्या ॥६॥

# ग्यारहवाँ सर्ग

सम्पूर्ण देवताओ को साथ लेकर इन्द्रादि प्रमुख देवताओ ने विनत होकर गगाजी के समीप जाकर जब बडी प्रार्थना की तो देवनदी गगा ने स्त्री का रूप धारण कर उस बालक को अपने अमृत से भरे स्तन का पान कराया ॥१॥

तब वह छ मुखो वाला बालक गगाजी के अमृत के समान स्तन की धारा का पान कर क्षण क्षण मे ही वेग से बढ़ने लगा और जब छहो कृत्तिकाएँ भी आकर उसकी सेवा करने लगी तब तो उसका स्वरूप कुछ विचित्र ढग से सुन्दर हो गया ॥२॥

तब तो उस परम सुन्दर बालक को देखकर गगा, अग्नि और कृत्तिकाओ के नेत्रो मे आनन्द के आसू भर गए और उस दिव्य बालक को पाने के लिए उनमे एक-दूसरे से अत्यन्त विवाद उपस्थित हो गया ॥३॥

इसी अवसर पर पर्वतराज पुत्री पार्वती के साथ स्वच्छन्द विहार करने के लिए शिवजी मन से भी अति वेगशाली विमान पर चढकर आकाश मे विचरण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥४॥

छः दिनो के उस छ मुख वाले दिव्य बालक को देखकर अपने स्वाभाविक पुत्र प्रेम की प्रसन्नता से पार्वती और शकरजी का हृदय उमड पडा और उनके नेत्रो से आनन्द के आसू गिरने लगे ॥५॥

तब देवी पार्वती ने चन्द्रशेखर शिव से कहा—यह सामने दिव्यरूपधारी बालक कौन है ? किस महान भाग्यशाली का पुत्र है, और सौभाग्यशालिनी स्त्रियो मे श्रेष्ठ इसकी माता कौन है ? ॥६॥

स्वर्गापगासावनलोऽप्यमेताः षट्कृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ॥७॥
एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम् ।
अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ॥८॥
श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥९॥
जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः ॥१०॥
देवि त्वमेवास्य निदानमास्से सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥११॥
अतः शृणुष्वावहितेन वृत्तं वीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥१२॥
गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽजोपचराचरस्य ॥१३॥
अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥१४॥

यह अग्नि, गंगा, और छहों कृत्तिकाएँ सब लोग आपस में—यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा पुत्र नहीं है—ऐसा कहकर विवाद कर रहे हैं और झूठ-मूठ की बातें बक रहे हैं ॥७॥

हे ईश ! यह तीनों लोकों में तिलक के समान सबका सिरमौर सुन्दर बालक इन तीनों में से किसका है। अथवा इनके अतिरिक्त यह किसी और ही देवता, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग या किसी अन्य का पुत्र है ? ॥८॥

इस प्रकार अपनी प्राणप्रिया पार्वती की प्रेम तथा उत्कंठा से भरी बातें सुनकर निर्मल कान्ति फैलानेवाली मुस्कराहट के साथ शंकरजी अत्यन्त आनन्द एवं प्रेम से भरी हुई यह बात बोले—॥९॥

हे कल्याणी ! तीनों लोकों को आनन्द देनेवाला यह बालक तुम्हारी जैसी वीर प्रसविनी माता का पुत्र है। तुम्हें छोड़कर देवताओं का कल्याण करने वाला ऐसा पुत्र भला दूसरी कौन स्त्री उत्पन्न कर सकती है ? ॥१०॥

संसार भर के मांगलिक कार्यों में जिस बालक की कीर्ति का गायन होगा—यह तुम्हारा नहीं पुत्र है। तुम्हीं विचार करके बताओ कि रत्न तो समुद्र से ही निकलता है न ? ॥११॥

हे पार्वती ! अब तुम सावधानी से इस बालक के उत्पन्न होने की कथा सुनो। देखो, जो मैंने अपना अमोघ वीर्य अग्नि में डाल दिया था उसे अग्नि ने गंगाजी में छोड़ दिया था और वहीं फिर स्नान करनेवाली कृत्तिकाओं के उदर में पहुँचकर गर्भ बन गया और फिर उस अमोघ वीर्य को उन कृत्तिकाओं ने सरपत के जंगल में डाल दिया। उसी गर्भ से सम्पूर्ण चर और अचर प्राणियों को हर्ष देने वाला यह अनोखा बालक उत्पन्न हुआ है ॥१२-१३॥

हे पार्वती ! सम्पूर्ण विश्व को प्यारे लगने वाले इस बालक की माता होने से तुम अपने को सभी पुत्रवती स्त्रियों में श्रेष्ठ समझो ! और अब देर न करो और अपने पुत्र को उठाकर अपनी गोद में लेलो ॥१४॥

अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः।
सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥१५॥
किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः।
विमानतोऽवातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाभूत् ॥१६॥
स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः।
हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥१७॥
प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा नतं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥१८॥
सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्वाष्पतरंगितायाः।
विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दृशोर्गोचरतां जगाम ॥१९॥
समीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत्।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥२०॥
विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम्।
नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय ॥२१॥
स्वमंकमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा।
तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥२२॥

चन्द्रमौलि शंकर जी के ऐसा कहते ही ससार की माता पार्वती हर्ष से पुष्ट अगो वाली बन गईं और तत्क्षण अपने विमान से नीचे उतर कर उस पुत्र-रत्न को अपनी गोद मे लेने के लिए अधीर हो उठीं। उस अवसर पर आकाश में उपस्थित इन्द्रादि देवता अपने मुकुटों पर हाथ जोडकर और शिर झुकाकर उन्हे प्रणाम करने लगे ॥१५-१६॥

गगा, अग्नि एव छहो कृत्तिकाएँ अभी उन्हे हाथ जोडकर प्रणाम कर रही थी किन्तु पार्वती जी का ध्यान उधर नही गया और उन्होने उनकी उपेक्षा कर बडे वात्सल्य से उस पुत्र को अपनी गोद मे उठा लिया। कौन ऐसी स्त्री है जो अपने पुत्रजन्म के उत्सव मे हर्ष से उन्मत्त न बन जाती हो ॥१७॥

आखो मे आनन्द के आसू भर जाने के कारण पार्वती जी कुछ क्षणो तक तो अपने उस पुत्र को देख ही नहीं सकीं। और अपने कली के समान कोमल हाथो से ही उस पुत्र को

आसू चू पड़े और वात्सल्य भाव अत्यन्त वढकर रोम-रोम मे व्याप्त हो गया ॥१९॥

उस बालक को एकटक नेत्रो से देखती हुई पार्वती ने यह अभिलाषा की कि मुझे एक सहस्र आखें यदि मिल जाती तो अच्छा होता। भला प्रतिक्षण आनन्ददायी पुत्र को देखने से किसका चित्त तृप्त हो जाता है ॥२०॥

चन्द्रमुखी पार्वती ने ससार के एकमात्र वीर अपने अनोखे पुत्र को सुधा से भरे अमृत-कलश के समान गोद मे ले लिया और पुत्रवती स्त्रियों मे अग्रणी बन गईं ॥२२॥

निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा
तमेकपुत्रं जगदेकमाताभ्युत्सङ्गिनं प्रस्नविणी बभूव ॥२३॥
अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत्।
सुरस्रवन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥२४॥
सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन।
तस्यैकनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीं क्रमात्षड्वदनी चुचुम्ब ॥२५॥
हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम्।
पूर्वेव दिङ्नूतनमिन्दुमाभात्तं पार्वती नन्दनमादधाना ॥२६॥
प्रीतात्मना सा प्रयतेन बल्लहस्तावलम्बा शशिशेखरेण।
कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रंलिहमाहरोह ॥२७॥
महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥२८॥
दधानया नेत्रसुधैकसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाद्रेः।
संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥२९॥

जगत की एक मात्र माता पार्वती ने जब अपने उस अनोखे पुत्र को अपनी गोद मे उठा लिया तो सहज वात्सल्य प्रेम की रसधारा उनके रोम-रोम से उमड पडी और प्रगाढ हर्ष के अमृत की बाढ-[illegible]

समस्त लोक [illegible] पान करने लगे तब [illegible] लगी ॥२४॥

तब शकर जी की प्राणप्रिया पार्वती ने आनन्द के आसू बहाते हुए अपने कमल के समान मनोहर एक मुख से अपने उस बालक पुत्र के छहो मुखो का चुम्बन किया, जो ऐसे प्रतीत होते थे मानो एक ही मृणाल (कमलनाल) मे पाच कमल खिले हुए हो और उन पाचो के बीच मे उन कमलो की शोभा ही छठे कमल के रूप मे निकल आई हो ॥२५॥

गोद मे अपना सुन्दर-मनोहर पुत्र लिए हुए पार्वती जी ऐसी सुन्दर लग रही थी मानो सुवर्णमय सुमेरु पर्वत पर उत्पन्न होनेवाली सुवर्ण-लता मे कोई फल निकल आया हो या आकाश गगा मे कोई कमल खिल उठा हो अथवा पूर्व दिशा मे चन्द्रमा निकल आया हो ॥२६॥

पुत्र को अपनी गोद मे लिए हुए सुप्रसन्न मन से पार्वती जी शकर के हाथ का सहारा लेकर आकाश का चुम्बन करनेवाले अपने विमान पर चढ गई ॥२७॥

महादेव जी को भी अत्यन्त आनन्द के कारण रोमाच हो आया और उन्होने पर्वतपुत्री पार्वती की गोद से उस बालक को अपनी गोद मे ले लिया, और फिर अत्यन्त वात्सल्य के कारण पार्वती जी ने उनकी गोद से उसे पुन अपनी गोद मे ले लिया। इस प्रकार पुत्र प्रेम से दोनो ही भर गए ॥२८॥

आखो को अमृत के समान सुख देने वाले उस परम पवित्र पुत्र को गोद मे लिए हुए और अपनी छाती से संश्लिष्ट (चिपकी हुई) पर्वतपुत्री पार्वती को साथ लेकर भगवान शकर अपने अत्यन्त वेग से चलनेवाले विमान पर चढकर अपने निवास स्थान (कैलास पर्वत) को वापस लौट आए ॥२९॥

अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम्।
महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृथूनणाञ्शंभुरथादिदेश ॥३०॥
पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रो वृषवाहनस्य।
गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम् ॥३१॥
स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि संतानशाखिप्रसवाञ्चितानि।
उच्चिक्षिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥३२॥
दिक्षु प्रसर्पंस्तदधोश्वराणामयामराणामिव मध्यलोके।
महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥३३॥
महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम्।
संभावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥३४॥
सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः।
विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमंकं गिरिजातनूजम् ॥३५॥
ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्कयालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन।
सुसंधिबन्धं ननृतुः रावृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥३६॥
वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग्विदीपे।
जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥३७॥

स्फटिकमय उस कैलास पर्वत के ऊँचे शिखर पर निर्मित अपने सुन्दर भवन मे बैठकर शकर जी ने अपने प्रमुख प्रमथ गणो को आदेश दिया कि तुम लोग पुत्र-जन्मोत्सव का समारोह सम्पन्न करो ॥३०॥

तब अत्यन्त आनन्द एव उल्लास से भरे वे सभी गुणवान प्रमथगण पार्वती एव शकर जी के पुत्र-जन्म के उपलक्ष मे महोत्सव का आयोजन करने के लिए जुट पडे ॥३१॥

कुछ प्रमथ गण स्फटिक की बनी दीवार मे चमकती हुई किरणो के पडने से रग बिरगी दिखाई पडनेवाले वस्त्रो और कल्पवृक्ष के पुष्पो और पत्तो से निर्मित सुन्दर वन्दनवारो द्वारा अपने स्फटिक के भवनो को सजाने मे जुट गये ॥३२॥

और कुछ गण नगारा बजाने लगे। उनकी गम्भीर ध्वनि जब दसो दिशाओ मे फैली तो धरती से उठी हुई उसकी प्रतिध्वनि मानो यह सूचना देने लगी कि दिक्पालो और देवताओ के लोको के समान ही हमारे यहाँ भी पुत्रोत्सव मनाया जाता है ॥३३॥

उस पुत्र जन्म-महोत्सव मे गन्धर्वो और विद्याधरो की सुन्दरी स्त्रियो ने पार्वती के भवन मे आकर उन्हे बधाइयाँ दी और मगल गीत गाए और पार्वती जी ने भी उन सबका बडा स्वागत-सत्कार किया ॥३४॥

मातृकाएँ भी बधावे की सामग्रियाँ लेकर उस बालक के पास आई और उसके सिर पर दूब तथा अक्षत छिडककर पार्वती के समान अपनी अपनी गोद मे लिया ॥३५॥

उस अवसर पर अकय, आलिग्य और ऊर्ध्वक नाम के अनेक वाद्य मधुर स्वर मे बजने लगे और सुन्दर भाव तथा आकर्षक रस मे भरे हुए अच्छे सुमधुर छन्दो मे बधे हुए गीत गानेवाली अप्सराएँ बडे हाव भाव से नृत्य करने लगी ॥३६॥

सुखदायी वायु बहने लगा। दिशाएँ प्रसन्न होकर खिल उठीं। धूम रहित होने से अग्नि का तेज बढ गया। जल निर्मल हो गए। और यही नहीं, उस महान् उत्सव मे आकाश भी तुरन्त ही स्वच्छ हो गया ॥३७॥

गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्नुः ॥३८॥
इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयांचकार।
चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चकम्पे किल तारकश्रीः ॥३९॥
ततः कुमारः स मुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥४०॥
महेश्वरः शैलसुता च हर्षात्सतर्षमेकेन मुखेन गाढम्।
अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब ॥४१॥
क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥४२॥
अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः।
मुहुर्वदन्किंचिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान ॥४३॥
गृह्णन्विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम्।
स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ॥४४॥

शङ्ख की गभीर ध्वनि के साथ-साथ शंकर जी के घर मे रखी गई दुन्दुभियाँ (नगाडे) भी बजने लगी और देवता लोग भी आकाश मे आ-आकर अपने विमानों से पुष्प-वृष्टि कर करके चले जाने लगे ॥३८॥

इस प्रकार शंकर जी एवं पर्वतराज पुत्री पार्वती के पुत्र के उस जन्मोत्सव से संसार के सम्पूर्ण चराचर प्राणी तो आनन्द से फूल उठे किन्तु असुर तारक की राज्य लक्ष्मी कम्पित हो उठी ॥३९॥

इसके अनन्तर वह बालक अपनी तरह-तरह की मनोहर एवं विचित्र बाल-लीलाओं से शंकर और पार्वती जी को अतीव आनन्द देने लगा। क्यों न ऐसा होता, बालकों की क्रीडा तो मन को हर लेती ही है ॥४०॥

शंकर और पार्वती हर्ष से विह्वल होकर अपने उस प्यारे पुत्र के बिना दांत और मनोहर मुखों का बडी तृष्णा के साथ बारी बारी से चुम्बन किया करते थे ॥४१॥

इसके बाद वह बालक चलने लगा। कहीं पर तो लडखडाता हुआ और कहीं सीधे चलता हुआ, कहीं कांपता हुआ और कहीं सीधे खडा हुआ। इस प्रकार वह बालक अपनी खिलवाड भरी चालों से अपनी माता एवं पिता के आनन्द को बढाने लगा ॥४२॥

माता पिता की गोद में बैठा हुआ वह बालक अनेक प्रकार से उनका आनन्द बढाने लगा। कभी तो उसका मुख-चन्द्र बिना किसी कारण के ही हँसी से चमक उठता था, कभी घर के आंगन मे खेलते हुए उसका शरीर धूल से भर जाता था और कभी वह बार बार तोतली बोली बोल-बोल कर उन्हें रिझाया करता था ॥४३॥

कभी वह शंकर जी के वृषभ की सींगो को पकड लेता था, कभी पार्वती के सिंह की केसर (अयाल) को पकड कर सहलाता था और कभी भृंगी नामक गण की चोटी के महीन बालों को खींचने लगता था। उसकी यह सब क्रीडा देख कर उसके माता-पिता को अत्यन्त आनन्द मिलता ॥४४॥

एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणत्स्वमुखं प्रसार्य।
महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिं तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमेशिः ॥४५॥
कपर्दिकण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलिं प्रवेश्याननकोटरेषु।
दन्तानुपात्तुं रभसो बभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः। ४६॥
शंभोः शिरोऽन्तः सरितस्तरंगानिवगाह्य गाढं शिशिरात्रसेन।
स जातजाड्यं निजपाणिपद्ममतापयद्भालविलोचनाग्नौ ॥४७॥
किंचित्कलं भङ्गुरकंधरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शंभोः।
प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥४८॥
इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ।
मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥४९॥
इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं,
ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन्।
अलभत परां वृद्धिं षष्ठे दिने नवयौवनं,
सकिल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यथा ॥५०॥
इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारबाललीलावर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥११॥

कभी कभी वह ईश का बालक शकर जी की गोद मे बैठ कर उनके कण्ठ मे लिपटे हुए सर्पों के मुखो मे अगुली डाल कर उनके दातो की पक्तियो को—एक, नव, दो दस, पाच, सात इस प्रकार कह कर, अपनी बाल-सुलभ-सरलता के साथ अपने मुख फैला कर गिनने लगता था ॥४५॥

कभी-कभी वह शिवजी के कण्ठ मे विराजमान मुण्डमाला के मुखो मे अपनी अगुली डालकर उनके दातों को मोती समझकर निकालने मे बडी जल्दी करने लगता था ॥४६॥

कभी-कभी वह शकर जी के शिर पर विराजमान गगा जी की लहरो मे अपना हाथ डाल देता था और जब ठडक के कारण उसकी अगुलियाँ सुन्न होने लगती थी तब वह अपने उस कमल के समान कोमल हाथ को शिव जी के मस्तक पर प्रकाशमान तीसरे नेत्र के सामने ले जाकर सेंक लेता था ॥४७॥

जब कभी शिव जी अपने कन्धे को तनिक नीचे झुका कर बैठे रहते थे और उनका जटाजूट नीचे की ओर झुका होता था तब वह जटा के साथ नीचे की ओर लटकते हुए उनके शिर पर विराजमान चन्द्रमा को देखकर बडी देर तक चूमता रहता था ॥४८॥

इस प्रकार अपने पुत्र की मनोहर और विचित्रता से भरी बाल-लीलाओं मे रम लेते हुए शकर जी और पार्वती जी इतना मनोविनोद करते थे कि उन्हे यह स्मरण भी नही रहता था कि कब दिन है और कब रात है ॥४९॥

इस प्रकार अनेक प्रकार की हृदय को आकर्षित करने वाली विचित्रताओ से भरी बाल-क्रीडाओ को करते हुए वह बालक जन्म के छठवें दिन ही परम बुद्धिमान एव जवान हो गया और छ ही दिनो में उसे सम्पूर्ण शास्त्र और शस्त्र विद्याएँ ईश्वर की तरह भली भांति अधिगत हो गई ॥५०॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत कुमारसभव महाकाव्य मे कुमार की
बाललीला नामक ग्यारहवा सर्ग समाप्त ॥११॥

# द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥१॥
वृन्दारिसंत्रासविलीकृतास्त कथंचिदम्भोदविहारमार्गात्।
अवाततारादिभिरं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥२॥
संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥३॥
इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥४॥
विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम्।
स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥५॥
ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः।
प्रतोपयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥६॥

# बारहवाँ सर्ग

इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं के साथ पुलोमा की पुत्री शची के पति इन्द्र, क्रूर तारकासुर के उपद्रवों से दुःखी होकर अन्धकासुर के शत्रु शंकर जी के समीप उसी प्रकार पहुँचे जैसे प्यास से आतुर पपीहा बादल के पास जाता है ॥१॥

घमण्डी शत्रु तारकासुर के कारण आकाश का मार्ग रोक दिया गया था, अतः किसी प्रकार बादलों में लीन छिप कर देवराज इन्द्र उस कैलास पर्वत पर जा पहुँचे, जो शंकर तथा पार्वती के चरणों के पड़ने से पवित्र हो गया था ॥२॥

वहाँ पहुँच कर बादल रूपी अपने रथ से सारथी मातलि के हाथ का सहारा ले कर वह नीचे उतरे और शंकर जी के आश्रम की ओर उसी प्रकार झपट कर आगे बढ़े जैसे ग्रीष्म ऋतु में कोई प्यासा जल की ओर दौड़े ॥३॥

उस स्फटिक पर्वत की भूमि पर इधर-उधर दिखाई पड़ती हुई अपनी परछाईं द्वारा अपने को अनेक रूपों में देखते हुए देवराज सर्वव्यापी शंकर जी के आश्रम में पहुँचे ॥४॥

देवराज इन्द्र अनंग-शत्रु शंकर जी के प्रासाद के उस प्रवेश द्वार पर पहुँचे, जो अनेक प्रकार की रंग बिरंगी मणियों से जटिल था, और जिस पर अत्यंत भयंकर सुवर्ण का दण्ड धारण किए हुए नन्दी बैठा हुआ था ॥५॥

इन्द्र को वहाँ उपस्थित देख कर नन्दी ने अपने सुवर्ण दण्ड को एक कोने में रख कर और उनके समीप पहुँच कर अत्यन्त आदर के साथ उनको संतुष्ट किया तथा तत्क्षण शंकर जी से जाकर बतलाया ॥६॥

भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥७॥
स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥८॥
कपर्दमुद्बद्धमहोनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥९॥
बिभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम्।
गौरी तदुत्सङ्गजुष सहन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥१०॥
गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम्।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥११॥
भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम्।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥१२॥
*महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात्।*
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन ॥१३॥

जगत के स्वामी महादेव जी द्वारा भौहो के सकेत द्वारा इन्द्र को भीतर लाने की अनुज्ञा प्राप्त कर नन्दी ने आगे आगे मार्ग दिखाते हुए देवताओ के साथ इन्द्र को उनके अपने प्रासाद मे स्थित शकर जी के समीप पहुँचा दिया ॥७॥

वहाँ पहुँच कर इन्द्र ने रत्न-जटित सभाभवन मे चण्डी, भृगी आदि अनेक रूप रगो वाले भयकर तथा विविध आकृतियो वाले गणो के साथ बैठे हुए शकर जी को देखा ॥८॥

सर्प रूपी रस्सियो से भली भांति बाँधे गए तथा वासुकि आदि बडे-बडे नागराजो के फनो की मणियो की किरणो से चमकता हुआ शिव जी के शिर पर स्थित जटा-जूट सुमेरु पर्वत के शिखर के समान दिखाई पड रहा था ॥९॥

शिव जी के जटाजूट के अग्र भाग मे स्थित, ऊँची-ऊँची लहरो से युक्त गगा जी, शरद ऋतु के मेघो के समान उज्ज्वल फेन समूह को उछाल-उछाल कर मानो शकर जी की गोद मे बैठी हुई पार्वती की हँसी उडा रही थी (कि देखो तुम तो उनकी गोद मे हो किन्तु मैं तुमसे अधिक ऊँचाई पर उनके शिर पर हूँ) ॥१०॥

शिव जी के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की बरफ के समान उज्ज्वल किरणो की परछाई गगा जी के तरगो मे प्रतिबिम्बित हो कर बहुत रूपो मे नाच रही थी। वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो उस अकेले चन्द्रमा के ही अनेक चन्द्रमा बन गए हो ॥११॥

उनके मस्तक पर मकरकेतन कामदेव को भस्म करनेवाला एव प्रलय काल की अग्नि के समान भयकर वह तीसरा नेत्र चमक रहा था, जिसके बढते हुए तेज के सामने उनके प्रलय काल के सूर्य और चन्द्रमा रूपी नेत्र भी मुँद-से जाते थे ॥१२॥

शकर जी के कानो मे प्रभा से घिरे हुए बहुमूल्य रत्नो से जटित दो कुण्डल इस प्रकार लटक रहे थे मानो इनके बहाने से सूर्य और चन्द्रमा ही शकर जी के कानो पर उनकी सेवा कर रहे हो ॥१३॥

स्ववद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः।
नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम् ॥१४॥
कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम्।
महन्महेभाजिनमुद्गता त्प्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥१५॥
पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम्।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥१६॥
पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तीं पुनराश्वसन्तीम्।
उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥१७॥
सलीलमङ्कस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाप्टापदवल्लिभासा।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषेव ॥१८॥
दृप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवत्वहेतुम्।
करेण गृह्णन्तमगृह्य मन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम् ॥१९॥
भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचिनम्।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्धीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम् ॥२०॥

उनका नीला कण्ठ ऊपर उठती हुई अपनी नीली कान्ति से इस प्रकार प्रतीत होता था जैसा कभी-कभी कुतूहलवश नीलम का हार पहन लेने पर पार्वती जी का कण्ठ चमक उठता है॥१४॥

काल द्वारा मारे गए देवताओं और दैत्यों की चिताओं का भस्म लपेटे हुए अपने श्वेत अंगों पर, श्वेत गजचर्म ओढ़े हुए शंकर जी इस प्रकार दिखाई पड़ते थे मानो श्वेत बादलों से घिरा हुआ विशाल हिमालय पर्वत हो॥१५॥

उनके एक हाथ में ब्राह्मण के कपाल का पात्र था, कण्ठ में मरे हुए मनुष्य की हड्डियों का आभूषण था, दूसरे हाथ में युद्धों को समाप्त करनेवाला अपना त्रिशूल ऊपर उठाए हुए थे। और इस वेश में भी वह वैकुण्ठ निवासी भगवान विष्णु द्वारा सेवित थे॥१६॥

उनके कण्ठ में ब्रह्म कपालों की एक पुरानी माला भी विराज रही थी, जो मस्तक पर विद्यमान चन्द्रमा से बरसाई गई अमृत की धारा में नहा कर जीवित-सी होकर वेदों का गायन कर रही थी॥१७॥

सुवर्ण की नूतन लता के समान मनोहर पार्वती जी को अपनी गोद में बैठाए हुए शंकर जी ऐसे दिखाई पड़ रहे थे मानो चमकती हुई बिजली से सुशोभित कोई शरद ऋतु का मेघ हो ॥१८॥

उनके हाथ में घमण्डी अन्धकासुर के प्राणों को हरण करनेवाला, महान असुरों की स्त्रियों के वैधव्य का मूल कारण, कामदेव को जलाकर भस्म कर देनेवाला तथा दूसरों से कभी न उठाया गया पिनाक धनुष विराज रहा था ॥१९॥

अनेक मुक्ता एवं मणियों की सजावट से रंग-बिरंगे दिखाई देनेवाले श्रेष्ठ सिंहासन पर वे विराजमान थे, जिसके नीचे पैर रखने के लिए सुवर्ण का एक पीढ़ा पाँवदा रखा हुआ था और दोनों ओर से दो प्रमथ उनके ऊपर चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत चँवर डुला रहे थे ॥२०॥

शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे ॥२१॥
तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य।
आसीत्क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥२२॥
विकस्वराम्भोजवनश्रिया स दृशां सहस्रेण निरीक्षमाणः।
रोमालिभिः स्वर्गपतिर्बभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाम्रशाखी ॥२३॥
दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः।
सर्वाङ्गजातं स्तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ॥२४॥
ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेक्ष्य धृतास्त्रशस्त्रम्।
महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥२५॥
श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन्।
सहस्रनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश ॥२६॥
इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम्।
प्रसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मरारातिमुवाच वाचम् ॥२७॥
पुरः सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः।
[illegible] ॥२८॥

थे। और उस समय वह स्फटिक का पर्वत उनकी नीराजना (आरती) कर रहा था ॥२१॥

इस प्रकार पर्वतराज पुत्री पार्वती के स्वामी शकर जी को देखकर पुलोमा के पति इन्द्र का चित्त भी क्षणभर के लिए ललचा उठा, क्योंकि अकस्मात् इतना विशाल वैभव एव ऐश्वर्य देखकर किसका मन नही ललचाएगा ॥२२॥

खिले हुए कमलो के समान अपने मनोहर सहस्रो नेत्रो से शकर जी को देखते हुए देवराज इन्द्र का शरीर पुलकावली से व्याप्त हो गया और वे उस आम के वृक्ष के समान दिखाई पडने लगे, जिसमे नीचे से ऊपर तक मजरियाँ लदी हुई हो ॥२३॥

अपने एक सहस्र नेत्रो से शकर जी को देखकर इन्द्र ने अपने भाग्य की बडी सराहना की। उस समय उनके शरीर मे जो रोमाच हो आया था, उसे देखकर उन्हे भय होने लगा कि इसे देखकर कही हमारी प्रियतमा शची को कोप न हो जाय ॥२४॥

तब इन्द्र ने कनक पर्वत सुमेरु के समान बलशाली, शस्त्रास्त्रधारी कार्त्तिकेय को शकर जी के समीप उपस्थित देखकर अपने मन मे शत्रुओ पर विजय की आशा बाधी ॥२५॥

इसके बाद अपने सुवर्ण के दण्ड को एक कोने मे खडाकर, आगे बढ़कर और हाथ जोडकर शकर जी की प्रसन्नता प्राप्त करने की अभिलाषा से नन्दी ने शकर जी के समीप जाकर निवेदन किया—हे नीलकण्ठ! देवताओ के स्वामी इन्द्र आपको प्रणाम करने की प्रतीक्षा करते हुए यह आपके सम्मुख खड़े हैं। अत हे त्रिनेत्र! कृपाकर इनकी सहस्र आखो मे अपनी कृपा दृष्टि रखें ॥२६-२७॥

नन्दी की यह प्रार्थना सुनकर त्रिपुरासुर के विनाशक ससार के वदनीय शकर जी ने देवताओ के वंदनीय इन्द्र को अपनी अमृत की धारा बरसानेवाली दृष्टि से देखकर अनुगृहीत किया ॥२८॥

किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना।
स्वर्गैकवन्द्यो जगदेकवन्द्यं तं देवदेवं प्रणनाम देवः॥२९॥
अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः।
भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव॥३०॥
सुभक्तिभाजामपि पादपीठं प्रान्तक्षिति नम्रतरैः शिरोभिः।
ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम्॥३१॥
गणोपनीते प्रभुणोपदिष्टः शुभासने हैममये पुरस्तात्।
प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य॥३२॥
क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमीश्वरेण।
उपाविशंस्तोषविशेषमाप्ता दृगोचरे तस्य सुराः समग्राः॥३३॥
अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणार्द्रचेताः।
कृताञ्जलीनासुरभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य॥३४॥
अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम्।
हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं वः पद्मस्य दैन्यं वहते मुखानि॥३५॥

स्वर्ग में सबसे वंदनीय देवराज इन्द्र ने समस्त संसार के एकमात्र पूजनीय तथा देवताओं के देवता महादेव जी को प्रणाम करने के लिए जब अपना मस्तक विनत किया तो उनके मस्तक के मुकुट के ऊपरी भाग से पारिजात के बहुत से पुष्प नीचे गिरकर बिखर गए ॥२९॥

सभी लोकों के एकमात्र प्रणाम करने योग्य उन महेश्वर को अत्यन्त भक्ति के साथ प्रणाम करके स्वर्ग के स्वामी देवराज इन्द्र ने अपने को परम पावन तथा धन्य माना ॥३०॥

और उसके बाद अन्यान्य देवताओं ने भी प्रमथादि गणों के देखते हुए अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से शंकर जी के चरणों को रखने के पीढ़े के पास धरती पर सिर नवा कर बारी-बारी से प्रणाम किया ॥३१॥

यह सब क्रिया समाप्त होने के अनन्तर एक गण द्वारा उठाकर लाए गए सुन्दर सुवर्ण के आसन पर शंकर जी की आज्ञा प्राप्त कर उन्हीं के आगे देवराज इन्द्र बैठ गए। उस समय उन्हें परम आनन्द प्राप्त हुआ। अपने प्रभु की प्रसन्नता भला किसके आनन्द को नहीं बढ़ा देती ॥३२॥

तब सम्पूर्ण देवताओं की ओर बारी-बारी से मुस्कराते हुए देखकर शंकर जी ने उन सब का भी सम्मान किया। जिससे वे सब भी सुप्रसन्न होकर उनके नेत्रों के सामने ही बैठ गए ॥३३॥

तब हाथ जोड़कर आगे बैठे हुए उन इन्द्रादि देवताओं को, जिनके मुख असुरों द्वारा पराजित होने के कारण अतीव मलिन तथा श्रीविहीन थे, देखकर करुणा से आर्द्रचित होकर भगवान शंकर बोले— ॥३४॥

हे देवगण! इतने महान् पराक्रमशाली होकर, तथा मेरे एक बढ़कर शक्ति-सम्पन्न शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होने पर तथा स्वर्ग में रहकर भी आप लोगों के मुख तुषार पात से पीड़ित कमलों के समान क्यों मुरझाए हुए हैं? ॥३५॥

स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किः स्वपुण्यराशौ सुमहत्तमेऽपि।
चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥३६॥
दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः।
यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥३७॥
अनन्यसाधारणसिद्धमुच्चैस्तद्दिव्यं धाम निकामरम्यम्।
कस्मादकस्माच्चिरगाद्भवद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥३८॥
दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः।
अगाधगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥३९॥
सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम्।
तद्ब्रूत लोकत्रयजित्वरात्किं महासुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥४०॥
पराभवं तस्य महासुरस्य निर्वेद्धुमेकोऽहमलं भविष्णुः।
दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदात्किं हरते वनानाम् ॥४१॥
इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु।
सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥४२॥
ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धेऽवसरे सुरेन्द्रः।
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥४३॥

हे देवताओ! इतना प्रभूत पुण्य अर्जित करने पर भी आप लोग स्वर्ग से निकाल कैसे दिए गए। आप लोग चिरकाल से जो छत्र, चँवर आदि राज-चिह्न धारण करते आ रहे थे, उन्हें मत छोड़िए ॥३६॥

हे स्वर्ग में निवास करनेवालो! आप लोग इतने मनस्वी, महिमावान एवं ऐश्वर्यशाली होकर भी अब स्वर्ग छोड़कर साधारण मनुष्यों के समान पृथ्वी लोक में इधर से उधर क्यों मारे मारे फिर रहे है ॥३७॥

मैं जानना चाहता हूँ कि जैसे पाप कर्म करने से चिरकाल का अर्जित पुण्य नष्ट हो जाता है,, वैसे ही बड़ी-बड़ी सिद्धियों से युक्त, अतीव मनोहर वह दिव्य धाम, स्वर्गलोक अचानक आप लोगों के हाथ से कैसे निकल गया ॥३८॥

हे देवगण! जिस प्रकार बड़ी गरमी पड़ने से गहरे सरोवर का जल सूख जाता है, उसी प्रकार आप लोगों के हृदय में रहनेवाला वह अत्यन्त अविचल धैर्य कहाँ चला गया ॥३९॥

हे देववृन्द! आज अतीव व्याकुल होकर इन्द्र के साथ आए हुए आप लोग भला यह तो बताइए कि आप लोगों ने तीनों लोकों को जीतनेवाले तारकासुर से तो विवाद नहीं मोल ले लिया है ॥४०॥

उस महान असुर ने जो आप लोगों का पराभव किया है, उसका बदला मैं अकेले ही चुकाने में समर्थ हूँ क्योंकि जंगलों में लगी हुई अग्नि को बादलों की घटा को छोड़कर दूसरा कौन बुझा सकता है ॥४१॥

मन्मथ निषूदन शंकर जी के ऐसा कहने पर इन्द्रादि समस्त देवताओं के नेत्रों में अत्यन्त आनन्द के आंसू उमड़ आए और जब उन्हें यह आश्वासन मिल गया तो उनके मुख तत्क्षण खिल उठे ॥४२॥

तब भगवान शंकर के उक्त बात कह चुकने पर उपयुक्त अवसर समझ कर इन्द्र ने कहना शुरू किया। उपयुक्त अवसर पर कही गई बात का ठीक एवं मूल्यवान परिणाम अवश्यमेव मिलता है ॥४३॥

ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रभेण।
भूतं भवद्भावि च यच्च किंचित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत् ॥४४॥
दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण।
तदीशतामाप्तवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि ॥४५॥
विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥४६॥
स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः।
सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मराराातिसुतो निहन्ति ॥४७॥
अहो ततोऽनन्तरमद्ययावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम्।
विषेहिरे हन्त हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥४८॥
निदाघधामप्रलमविक्लवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम्।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥४९॥
त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम्।
अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते ॥५०॥

हे प्रभो ! आप सब कुछ जाननेवाले हैं। अज्ञान को दूर करनेवाले हैं। आपका कभी नाश नहीं होता और आप अपने कभी न बुझनेवाले ज्ञान के प्रकाश से इस संसार की भूत भविष्य एवं वर्तमान में घटित होनेवाली तीनों कालों की बातों को जाननेवाले हैं ॥४४॥

इसलिए हे स्वामिन् ! आप ही बताइए कि क्या आप यह नहीं जानते होंगे कि अपने महान बाहुबल के पराक्रम से अत्यन्त उन्मत्त होकर देवताओं को पीड़ा पहुँचानेवाला तारकासुर हमारे स्वर्ग का भी स्वामी बन गया है और उसी ने हम सबको स्वर्ग से बाहर निकाल दिया है ॥४५॥

हे देव ! वह तारकासुर भगवान् ब्रह्मा से अमोघ वरदान प्राप्त कर अपनी भुजाओं के पराक्रम से तुरन्त ही तीनों लोकों को जीतने की इच्छा रखता है। और मुझे तथा अन्यान्य बड़े-बड़े देवताओं को वह तिनके के बराबर समझता है ॥४६॥

हम लोगों ने पहले जब ब्रह्मा जी की बड़ी स्तुति की थी तो पितामह ने हम सबको यह बताया था कि जब शंकर जी का पुत्र तुम लोगों का सेनापति बनकर भविष्य में होनेवाले युद्ध में लड़ेगा, तब वह दैत्य मारा जायगा ॥४७॥

तब से लेकर आज तक हम सब देवता लोग उस तारकासुर के द्वारा अपने पराभव की अत्यन्त असह्य पीड़ा तथा हृदय में चुभे हुए काँटे के समान कसकनेवाली उसकी कठोर आज्ञाओं का अपमान सहन करते चले आ रहे हैं ॥४८॥

हे भगवन ! जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्ड धूप में मुरझाई हुई ओषधियों को नवीन मेघ हरा कर देते हैं उसी प्रकार अपने इस आनन्ददायक पुत्र को हम लोगों का सेनापति बनने की आज्ञा देकर आप भी हम लोगों को नवजीवन प्रदान करें ॥४९॥

तीनों लोकों की लक्ष्मी के हृदय में एकमात्र कण्टक की भाँति चुभनेवाले उस महान् असुर को जब आपके यह पुत्र हम लोगों के साथ युद्ध में आगे बढ़कर मार डालेंगे तभी हम लोगों का दुःख दूर होगा ॥५०॥

महाहवे नाथ तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम् ।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु ॥५१॥
महारणक्षोणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन ।
बन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोक्षं सुरलोक एषः ॥५२॥
इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः ।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे ॥५३॥
अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैतं ।
विचेष्टते शंकर एष देवः कार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः ॥५४॥
पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एष शत्रुः ॥५५॥
अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे ।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेव भुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥५६॥
इत्युदीर्य भगवांस्तमात्मजं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शंकरः ॥५७॥
शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥५८॥

इसलिए हे नाथ ! अब आप ऐसा करें कि, महायुद्ध में आपके इस पुत्र के नुकीले बाणों से महान् असुरों के सिर जब कट-कट कर गिरें तब उन असुरों की स्त्रियों के विलाप से यह दसों दिशाएँ गूंज उठें ॥५१॥

और जब आपके पुत्र उस महासमर-स्थली में उन महान् असुरों को सिआर आदि जन्तुओं की भेंट चढ़ावें तब स्वर्ग लोक में बन्दिनी बनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियों की उलझी हुई वेणियों को यह देवता लोग जाकर छोड़ दें ॥५२॥

इस प्रकार इन्द्र के मुख से तारकासुर के अत्याचार की बात सुनकर भूतनाथ शंकर जी क्रोध से भर गए और उन देवताओं पर कृपालु होकर वह फिर बोले—॥५३॥

हे इन्द्र प्रमुख देव गणों ! आप लोग मेरी बातें सुनें। मैं शंकर, अब अपने पुत्र एवं अपने गणों आदि को साथ लेकर तुम लोगों का यह कार्य सम्पन्न करने के लिए तैयार हो गया हूँ ॥५४॥

हे देवताओ ! पहले समाधि में लीन होकर भी मैंने पर्वतराज की पुत्री के साथ इसीलिए विवाह किया था कि इनसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र इस शत्रु तारकासुर का संहार करे ॥५५॥

इसलिए आप लोगों का कार्य अब सम्पन्न होगा ! आप लोग इस कुमार को अपना सेनापति बनाकर अपने शत्रु का विनाश करें, और इन्द्र के साथ पुनः स्वर्ग-सुख का अनुभव करें ॥५६॥

इतना कहने के अनन्तर भगवान शंकर ने उस महान् संग्राम रूपी महोत्सव में भाग लेने के लिए उत्सुक अपने उस आनन्ददायी कुमार से यह कहा —'हे पुत्र ! तुम देवताओं के उस शत्रु तारकासुर को युद्ध में मार डालो ॥५७॥'

पशुपति भगवान शंकर के इस आदेश को उस कुमार ने मस्तक झुकाकर स्वीकार कर लिया। सर्वथा पिता की भक्ति में लीन पुत्रों का यही धर्म है कि वे अपने पिता की आज्ञा का पालन करें ॥५८॥

असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे मघुपतौ वदतीति तमात्मजम्।
गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ॥५९॥

सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापते
र्बलवदमराराातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम्।
जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्-
भुवमभिमते पूर्णे को वा मुदा न हि माद्यति ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारसेनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

इस प्रकार देवताओं के स्वामी शिव जी जब अपने पुत्र को असुरों से युद्ध करने की यह बातचीत कर रहे थे तो अपने पुत्र के पराक्रम से पार्वती को अत्यन्त हर्ष हुआ। भला कौन ऐसी माता है जो अपने पुत्र की वीरता से सुप्रसन्न न होती हो ॥५९॥

बलवान असुरों की रमणियों को रुलाकर उनके नेत्रों से अंजन की रेखा मिटानेवाले, तथा संसार को अभय करनेवाले परम् बलवान शंकरजी के पुत्र कुमार कार्तिकेय को पाकर देवताओं के स्वामी इन्द्र तत्क्षण आनन्द से भर गए। संसार में ऐसा भला कौन है जो अपना अभीष्ट पूरा हो जाने पर आनन्द से मतवाला नहीं हो जाता ॥६०॥

महाकवि श्रीकालिदासकृत कुमारसम्भव महाकाव्य में कुमार कार्तिकेय का सेनापति पद पर नियुक्ति वर्णन नामक बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१२॥

## त्रयोदशः सर्गः

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः।
ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥१॥
जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स।
इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्धन्युपाघ्राय मुदाभ्यनन्दत् ॥२॥
प्रह्वीभवन्नन्तरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ॥३॥
तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा।
शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम् ॥४॥
उद्दामदैत्येश्वविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य।
आपृच्छ्य भक्त्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभिदिवं कुमारः ॥५॥

## तेरहवाँ सर्ग

तदनन्तर प्रस्थानकाल के लिए उचित युद्ध का वेश धारण कर देवताओं के आगे होकर कुमार कार्त्तिकेय ने तीनों लोकों के स्वामी शिव जी के दोनों चरणों में शिर झुका कर प्रणाम किया ॥१॥

प्रणाम करते हुए अपने पुत्र को उठाकर और उसका मस्तक सूंघकर अत्यन्त आनन्द के साथ यह आशीर्वाद देते हुए शिव जी ने अपने कुमार के उत्साह को बढ़ाया कि–हे वीर पुत्र! युद्ध में इन्द्र के शत्रु तारकासुर को मारकर तुम इन्द्र को उनके पद पर स्थिर बना कर पुनः स्थापित करो ॥२॥

जिस समय कुमार कार्त्तिकेय अपनी माता पार्वती के दोनों चरणों में झुककर मस्तक टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय पार्वती जी के नेत्रों से जो प्रेम के आँसू गिरे, मानों उन आँसुओं के जल से ही देवताओं के सेनापति पद पर कुमार का अभिषेक सम्पन्न हो गया ॥३॥

अपने पुत्र को अत्यन्त प्यार करनेवाली पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती ने कुमार को गोद में लेकर उसे कसकर अपने हृदय से लगा लिया और उसका मस्तक सूँघते हुए आशीर्वाद दिया—"हे पुत्र! युद्ध में शत्रु को पराजित कर यह बात प्रमाणित कर दो कि मैं वीरपुत्र की माता हूँ" ॥४॥

तदनन्तर उस परम प्रचण्ड असुर की विपत्ति के आदिकारण, युद्ध-रूपी उत्सव के लिए लालायित कुमार कार्त्तिकेय ने बड़ी भक्ति एवं श्रद्धा के साथ आज्ञा प्राप्त कर स्वर्ग-लोक की ओर प्रस्थान किया ॥५॥

देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि।
प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥६॥
अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः।
नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥७॥
रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः।
नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोन्ते ॥८॥
गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते।
उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्तात्प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥९॥
ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात्।
सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः ससम्भ्रमाः ॥१०॥
पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम्।
इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥११॥
सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते।
दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम् ॥१२॥
सहेलहासस्फुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः।
स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥१३॥

तदनन्तर इन्द्रादि देवगण भी भगवान शंकर और देवी पार्वती को प्रणाम करके और उनकी प्रदक्षिणा करके उस कुमार के पीछे-पीछे चल पड़े ॥६॥

तब चारों ओर जिनकी कान्ति फैल रही थी, ऐसे देवताओं के एक साथ चलने के कारण आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानो दिन में ही चमकने वाले बड़े-बड़े तारे चारों ओर से निकल आए हों ॥७॥

आकाश में चलते हुए उन देवताओं के बीच में कुमार कार्तिकेय अपनी प्रभा से अत्यधिक चमक रहे थे। वे उस समय ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो नक्षत्र और तारागणों के बीच में चन्द्रमा हो ॥८॥

शची के पति इन्द्रादि देवगण शंकर और पार्वती के पुत्र कुमार कार्तिकेय के साथ थोड़ी ही देर में नक्षत्रों का मार्ग समाप्त कर स्वर्ग लोक में पहुँच गए ॥९॥

चिरकाल से देखे हुए उस स्वर्ग लोक में जो उस समय महान असुर तारक के अधीन था, देवता लोग तुरन्त ही प्रविष्ट नहीं हो सके और झिझक के कारण थोड़ी देर तक ठिठके रहे ॥१०॥

उस समय वे डरे हुए देवता आपस में एक दूसरे को आगे धकियाते हुए इस प्रकार से विवाद करने लगे कि—"तुम आगे चलो, नहीं मैं आगे नहीं जाऊँगा, क्या कि मैं कभी आगे-आगे नहीं चलता रहा, सदा के अग्रगामी तो तुम्हीं रहे हो" ॥११॥

चिरकाल के अनन्तर अपने प्यारे स्वर्गलोक को देखकर अत्यन्त कुतूहल एवं हर्ष से उन देवताओं के नेत्र प्रसन्न होकर खिल उठे, किन्तु तत्क्षण में ही अपने प्रचण्ड शत्रु का स्मरण कर वे भयभीत हो गए और अपनी कातर दृष्टि से कुमार के मुख-कमल को देखने लगे ॥१२॥

देवताओं की यह दशा देखकर कुमार कार्तिकेय का मुखचन्द्र खिलवाड़ की हँसी से खिल उठा और तारकासुर के आक्रमण की प्रतीक्षा करते हुए वह रण बाँकुरा देवताओं के आगे चलकर उनसे बोला— ॥१३॥

भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः।
अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः ॥१४॥
स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं वल्गति यस्य चण्डम्।
इहैव तच्छोणितपानकेलिमह्नाय कुर्वन्तु शरा मर्मैते ॥१५॥
शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा।
स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥१६॥
इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य।
सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥१७॥
सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसंफुल्लसहस्रनेत्रः।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्छनं चारु चकार शक्रः ॥१८॥
घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम् ॥१९॥
तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः।
आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥२०॥

'देवगण! अब आप लोग भयभीत न हो और तुरन्त अपने स्वर्ग लोक मे प्रवेश करें। मैं तो चाहता हूँ कि आप लोग जिस अपने भयकर शत्रु तारकासुर को देख चुके है वह यहाँ मेरी दृष्टि के सामने तो आ जाय ॥१४॥

स्वर्गलोक की लक्ष्मी के केशपाश को खीचने के लिए जिसकी प्रचण्ड भुजाएँ मचलती रहती थी, उन्ही के रक्त का पान करने का आनन्द मेरे इन बाणो को झट से आज यही प्राप्त हो जाय ॥१५॥

और यह अत्यन्त चमकनेवाली, स्वर्गलोक की लक्ष्मी का कष्ट न देखनेवाली, तेजस्विनी प्रतापशालिनी तथा जिसकी गति कभी कुण्ठित नही हुई है—ऐसी यह मेरी शक्ति यही पर उस शत्रु का मस्तक काटकर आप लोगो को आनन्द प्रदान करे" ॥१६॥

इस प्रकार दैत्यो के विनाशार्थ उत्सुक अन्धकासुर विनाशी शिव जी के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय की यह बातें सुनकर देवताओ के सुन्दर मुख-कमल खिल उठे और वे सुप्रसन्न हो गए ॥१७॥

अतीव आनन्द से पुलकित इन्द्र के एक सहस्र नेत्र भी खिल उठे और तब इन्द्र और कुमार कार्त्तिकेय ने आपस मे एक दूसरे से अपना उत्तरीय बदलकर अपनी पवित्र मित्रता को पक्की कर लिया ॥१८॥

देवताओ मे सबसे वृद्ध आदि पितामह के नेत्र अत्यधिक हर्ष के कारण बहती हुई आँसुओ की तरगो से छलछला उठे और उनके चारो मुख प्रसन्नता से खिल उठे। उन्होने अपने चारो मुखो से कुमार कार्त्तिकेय के छहो मुखो का विचित्र ढग से चुबन किया ॥१९॥

*और उस समय गन्धर्व, विद्याधर एव सिद्धो ने भी आनन्द के साथ* "साधु, साधु" कहकर त्रिपुरारि शकर के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय की प्रशसा करते हुए यह कहा कि—हे वीर! तुम्हारी जय हो ॥२०॥

दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणं तममभ्यनन्दन्किल नारदाद्याः ।
निरुञ्छनं चक्रुरथोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च ॥२१॥
ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
उत्तेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥२२॥
अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षोः ।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥२३॥
सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः संततमङ्गरागैः ।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥२४॥
दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरंगैः ।
आप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणिं तरूणां निजतीरजानाम् ॥२५॥
लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
मणिव्रजगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥२६॥
सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
चामीकरीयैः कमलैर्विनिर्भ्रंश्यच्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥२७॥
कूतूहलाद्द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
अम्भूर्मिराजिप्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥२८॥

नारद आदि देव-ऋषियों ने भी शत्रु को जीतने वाले उस कुमार कार्तिकेय का अभिनन्दन किया और उनके सुनहले उत्तरीय वस्त्रों से अपने वल्कल बदलकर बन्धुत्व का सम्बन्ध स्थापित किया ॥२१॥

तब हाथ में शक्ति लिए हुए उस कुमार कार्तिकेय का इस प्रकार आश्वासन प्राप्त कर देवगण निर्भय हो गए और वे उसी उत्साह से अपने स्वर्गलोक में प्रविष्ट हुए जैसे किसी शक्तिशाली गजराज का सहारा पाकर छोटे हाथी भी जंगल में घूमने के लिए प्रविष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

और तब तारकासुर के वध के इच्छुक गिरिजा के पुत्र कुमार कार्तिकेय के पीछे पीछे वे देवता लोग इस प्रकार से स्वर्ग में प्रविष्ट हुए जैसे त्रिपुरासुर को जलाने के लिए जाते समय शंकर जी के पीछे-पीछे उनके प्रमथ गण आदि चले थे ॥२३॥

पहले देवताओं को वह आकाश गंगा दिखाई पड़ी, जिसका जल जलक्रीड़ा निरत अप्सराओं के अंगों से छूटे हुए अंगरागों से रंगीन बन जाता है, जिसमें जल में विहार करते समय दिग्पालों के गजराज, तरंगों पर अपनी सूँड पटक देते हैं और जिसकी ऊँची-ऊँची लहरों से तट के वृक्षों के थाल्हों की पंक्तियाँ सींच उठती हैं। जहाँ क्रीडार्थ आई हुई देवकन्याओं के हाथों द्वारा निर्मित सुनहरी बालू की ऊँची-ऊँची वेदियाँ दूर दूर तक बनी हुई हैं, जिन्हें उन्होंने बीच बीच में मणि डालकर अपनी क्रीड़ा के लिए बनाया है। जहाँ सुगन्धि के लोभी भौंरे सदैव गूँजते रहते हैं। सुनहले हंस सदैव कल्लोल करते रहते हैं और जहाँ ऐसे सुवर्ण के कमल खिलते हैं जिनके गिरे हुए पराग से वहाँ का जल भी पीले वर्ण का हो जाता है। जहाँ देवताओं की सुन्दरी स्त्रियाँ मनोविनोद के लिए आकर तट पर बैठी रहती हैं और तरंगों में पड़ती हुई जिनकी परछाईं ऊपर से चलने वाले पथिकों को भी आकर्षित करती रहती है ॥२४-२८॥

ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम्।
अदर्शयत्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः।२९॥
स कार्त्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम्।
अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत्॥३०॥
उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः।
गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे॥३१॥
प्रणर्तितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः।
कपोलपालिश्रमवारिहारि भेजे गुहं त सरितः समीरः॥३२॥
ततो ययजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात्।
विभिन्नभग्नोद्धृतशालसंघं प्रेक्षांचकार स्मरशत्रुसूनुः॥३३॥
सुरद्विपोपप्लुतमेवमेतद्वनं बलस्यः द्विषतो गतश्रि।
इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात्॥३४॥
निर्लूनलीलोपवनामपश्यद्दु.संचरीभूतविमानमार्गाम्।
विध्वस्तसौधप्रचया कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं स.॥३५॥

इतने दिनो के बाद उस देवनदी को देखकर देवराज इन्द्र तत्क्षण सुप्रसन्न हो उठे। और फिर कुछ आगे बढ़कर आदर के साथ उन्होंने पार्वती तथा शंकर के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय को भी उसे दिखलाया ॥२९॥

समस्त देवताओ से घिरे हुए कुमार कार्त्तिकेय ने उस नदी को सम्मुख देखकर, जिसे उन्होंने इसके पूर्व कभी नही देखा था, परम आश्चर्य हुआ और अतीव प्रसन्नता से उनकी आँखें खिल उठी॥३०॥

जिस नदी की समस्त देवता लोग स्तुति करते हैं, उस मन्दाकिनी के तट पर पहुँच कर कुमार कार्त्तिकेय ने सिर झुकाकर और अपने किरीट के शिखर पर हाथ जोड़कर बड़ी श्रद्धा एवं प्रसन्नता के साथ प्रणाम किया और वन्दना की ॥३१॥

और उस अवसर पर खिले हुए कमलो की पंक्तियो को नचानेवाले, बड़ी बड़ी तरगो से गले मिलकर चलने वाले तथा कपोल प्रान्त के पसीने को सुखाने वाले उस मन्दाकिनी के पवन ने अपने आगे उपस्थित कुमार कार्त्तिकेय की सेवा की ॥३२॥

वहाँ से कुछ आगे बढकर शिव जी के पुत्र कुमार ने देवराज इन्द्र के विलास उपवन नन्दन-कानन को देखा, जिसके सभी शाल के वृक्ष या तो बीच से तोड दिए गए थे अथवा जड से उखाड दिए गए थे ॥३३॥

कार्त्तिकेय ने (बिना बताए ही) यह समझ लिया कि शत्रु असुरो के अत्याचार से ही देवराज इन्द्र के इस सुन्दर वन की श्री नष्ट हो गई है। ऐसा विचार करते ही अतीव क्रोध के कारण उनके नेत्र लाल-लाल हो गए, भृकुटी टेढी हो गई और मुख ऐसा विवर्ण हो गया कि लोगो के लिए बड़ी कठिनाई से देखने योग्य बन गया ॥३४॥

वहाँ से कुछ और आगे बढकर कुमार ने ससार की सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावती को देखा, जिसके क्रीडा कानन तहस-नहस कर डाले गए थे, जिसके ऊँचे-ऊँचे प्रासाद गिरा दिये गए थे और जो सम्पूर्ण रूप से ऐसी उजाड़ हो गई थी कि उसकी ओर विमान पर चढकर जाने की भी तबियत नहीं होती थी॥३५॥

गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम्।
नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥३६॥
दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः।
तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥३७॥
दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः क्षुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥३८॥
उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूषितानाम्।
हिरण्यहंसव्रजवर्जितानां विदीर्णवैडूर्यमहाशिलानाम् ॥३९॥
आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम्।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विषादवेलक्ष्यभरं बभार ॥४०॥
तद्दन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालम्।
नित्यं सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम् ॥४१॥
निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः।
स प्राविशत्तं विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥४२॥

तारकासुर के द्वारा उजाड़ी गई उस नष्ट भ्रष्ट अत्यन्त दीन और मुनसान नगरी को देखकर कुमार कार्तिकेय का हृदय उसी प्रकार अत्यन्त करुणा से युक्त हो गया, जैसे किसी नपुंसक पति की स्त्री को उन्होंने देखा हो ॥३६॥

अत्यन्त नीचकर्म परायण देव-शत्रु तारकासुर पर अत्यन्त क्रुद्ध तथा उसके साथ युद्ध करने के लिए उत्सुक निरालस कुमार कार्तिकेय, उस देवराज इन्द्र की राजधानी अमरावती नगरी की ऐसी दीन दशा देखते हुए देवताओं के साथ उसमें प्रविष्ट हुए ॥३७॥

उस नगरी के स्फटिक से बने हुए प्रासादों की पंक्तियों की दीवारें दैत्यों के हाथियों के दांतों की टक्कर से बीच बीच में टूट गई थी और उनमें जहाँ तहाँ बड़े-बड़े सर्पों की केंचुलियों के जाल बन गए थे—ऐसा देखकर कुमार को परम विषाद हुआ ॥३८॥

कुमार ने देखा कि देवताओं के क्रीडा-भवनों में निर्मित बावलियों में सुनहले कमल उखाड़ कर फेंक दिए गए हैं, उनका जल दिग्गजों के मदजल से गँदला हो चुका है। उनमें विहार करनेवाले सुनहले हंस उड़ गए हैं, वैदूर्य मणि की बनी बड़ी-बड़ी शिलाएँ भी टूट-फूट गई हैं। उन बावलियों के चारों ओर छोटी छोटी घासें उग आई हैं। इस प्रकार दानवों द्वारा अमरावती नगरी की यह दुर्दशा देखकर कुमार कार्तिकेय का मन अत्यन्त विषाद से भर गया ॥३९-४०॥

तदनन्तर आगे-आगे चलते हुए सुरेन्द्र ने तारकासुर के हाथियों के दांतों से जिसकी सुनहली दीवारें टूट-फूट गई थी तथा जिसके रत्नजटित झरोखों में मकड़ियों के जाले लग गए थे, ऐसे अपने वैजयन्त नामक धाम में कुमार कार्तिकेय के साथ प्रवेश किया ॥४१॥

देवताओं के स्वामी इन्द्र द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते हुए कुमार कार्तिकेय ने, जिनके पीछे पीछे समस्त देवता लोग चल रहे थे, विविध प्रकार के रत्नों की किरणों से सुशोभित सीढ़ियों द्वारा चढ़कर उस वैजयन्त धाम में प्रवेश किया ॥४२॥

निसर्गकल्पद्रुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम्।
दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥४३॥
पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम्।
प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्षड्भिः शिरोभिः स नतैर्ववन्दे ॥४४॥
स देवमातुर्जगदेकवन्द्यौ पादौ तथैव प्रणनाम कामम्।
मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शैलसुतातनूजः ॥४५॥
स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ।
तया यया नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥४६॥
स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम्।
पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥४७॥
पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेषः।
नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च ॥४८॥
अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः।
उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥४९॥

उस पारिजात धाम मे जहाँ कुमार देवताओ तथा इन्द्र के साथ पहुँचे स्वयं कल्पद्रुम के वृक्ष ही तोरण के समान लग रहे थे, पारिजात के पत्तो तथा पुष्पो की मालाओ का समूह बिखरा हुआ पड़ा था। दिव्य महर्षिगण, उसमे स्वस्त्ययन पाठ कर चुके थे तथा उसमे एक से एक बढ़कर सुन्दरियो का प्रवेश हो चुका था ॥४३॥

उस धाम मे पहुँचकर कुमार ने देवताओ एवं असुरो—दोनो ही कुलो के आदि वृद्ध महर्षि कश्यप के दोनो चरणो मे हाथ जोड़कर तथा प्रदक्षिणा कर अपने छहो मस्तको को विनत करके प्रणाम किया ॥४४॥

उसी प्रकार पार्वती के पुत्र कुमार ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ महर्षि कश्यप की स्त्री तथा देवताओ की माता अदिति के उन दोनो चरणो मे भी अच्छी तरह झुककर प्रणाम किया जिनकी पूजा समस्त संसार करता है ॥४५॥

महर्षि कश्यप तथा देवताओं की माता अदिति इन दोनो ने कुमार को ऐसा आशीर्वाद देकर उत्साहित किया, जिससे उन्होने त्रैलोक्य विजयाभिलाषी प्रचण्ड पराक्रमी तारका-सुर को युद्ध मे पराजित किया ॥४६॥

तदनन्तर कुमार कार्त्तिकेय अदिति के आश्रम मे रहने वाली और अपने दर्शन के लिए वहाँ उपस्थित अन्य सौभाग्यवती देवियों के चरणो मे भी नमस्कार किया और उन पतिव्रता देवियो ने भी अपने आशीर्वादो से कुमार का फिर से अभिनन्दन किया ॥४७॥

उसके बाद कामरिपु शंकर जी के पुत्र कुमार ने देवताओ के स्वामी इन्द्र की पत्नी पुलोमा की पुत्री शची को नमस्कार किया और उन्होने भी आशीर्वाद देकर कुमार को सम्मानित किया ॥४८॥

इसके बाद कुमार कार्त्तिकेय ने अदिति के पति महर्षि कश्यप को उन सातो पत्नियो के समीप जाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया, जो कुमार के दर्शन से अतीव आनन्द से भरी वहाँ एकत्र थी। उन देवियो ने महेश्वर के पुत्र कुमार को नमस्कार के पूर्व ही आशीर्वाद दे दिया था ॥४९॥

समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवौकसोऽत्र।
आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥५०॥

सकलविबुधलोकः स्तस्तनिःशेषशोकः
कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः।
अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेना-
खिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम् ॥५१॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कुमारसेनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

तब इन्द्र आदि समस्त देवताओं ने अत्यन्त आनन्द से साथ वहीं पर एकत्र होकर आन्तरिक आनन्द से हिलोरें लेते हुए कुमार कार्त्तिकेय का अपनी सेना के अध्यक्ष पद पर अभिषेक किया ॥५०॥

इस प्रकार जब अनन्त शक्तिशाली कुमार कार्त्तिकेय देवताओं की सम्पूर्ण एवं महती सेना के सेनापति पद पर अभिषिक्त हो गए तब समस्त देवताओं का सम्पूर्ण शोक दूर हो गया और उन्हें यह अडिग विश्वास हो गया कि हम लोग युद्ध में पहुँचकर अपने शत्रुओं पर अवश्यमेव विजय प्राप्त कर लेंगे ॥५१॥

महाकवि श्री कालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य में कुमार का
सेनापति पद पर अभिषेक नामक में तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

# चतुर्दशः सर्गः

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा।
महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत द्रुतम्॥१॥
स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः संनयनं सुदुःसहम्।
विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत्॥२॥
सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसंपत्परितापकारणम्।
कनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारुचामीकरधर्मवारणम्॥३॥
शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः।
पुरःसरैः किंनरसिद्धचारणै रणेच्छुरस्तूयत वाग्भिरुल्बणैः॥४॥
प्रयाणकालोचितचारुवेषभृद्वज्रं वहन्पर्वतपक्षदारणम्।
ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात्॥५॥
तमन्वगच्छद्गिरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी।
विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत्॥६॥

# चौदहवाँ सर्ग

विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से रण के लिए उत्सुक अन्धकासुर के शत्रु शिवजी के पुत्र कुमार कार्तिकेय की प्रेरणा से समस्त देवताओं ने मिलकर अपने परम शत्रु तारक नामक महान् असुर को मारने के लिए तुरन्त शस्त्रास्त्र धारण कर लिया॥१॥

तब धनुष धारण करने वाले कुमार ने शक्ति (अस्त्र विशेष) धारण कर अपने विजित्वर नामक उस महान् रथ पर आरोहण किया, जो मन से भी अधिक वेगशाली, युद्ध में विजयश्री को प्रदान करनेवाला तथा किसी के द्वारा निवारित किया जानेवाला नहीं था॥२॥

इसी अवसर पर किसी देवता ने उनके ऊपर शत्रुओं के लिए परम भयंकर सुवर्ण का एक सुन्दर छत्र लाकर लगा दिया जो स्वर्ग की लक्ष्मी को सुख देने वाला तथा दैत्यों की सम्पदा का विनाश करनेवाला था॥३॥

युद्धाभिलाषी कुमार कार्तिकेय के दोनों ओर शरद्‌ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान धवल, सुन्दर चँवर डुलाए जा रहे थे और उनके सामने रणबाँकुरे किन्नर, सिद्ध एवं चारण उनकी प्रशंसा के गीत गाते हुए चल रहे थे॥४॥

कुमार कार्तिकेय के पीछे युद्धकाल के लिए उपयोगी वेश धारण कर तथा पर्वतों का पंख काटनेवाला वज्र लेकर देवराज इन्द्र भी स्फटिक के पर्वत के समान धवल और ऊँचे अपने ऐरावत नामक गजराज पर चढ़ कर चल रहे थे॥५॥

और इन्द्र के पीछे शत्रु पर अतीव क्रोध के कारण अत्यधिक जलते हुए अग्निदेव भी पर्वत के शिखर के समान ऊँचे तथा उन्मत्त (विगड़ैल) मेढे पर चढ़कर तथा अपने हाथ में अत्यन्त दहकता हुआ अस्त्र लेकर चल रहे थे॥६॥

अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम् ।
अधिष्ठितः कासरमुद्धरं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥७॥
मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवांस्तमन्धकद्वेषितनूजमन्वगात् ।
महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरोपणश्चण्डरणाय नैर्ऋतः ॥८॥
नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे ।
दुर्वारपाशो वरुणो रणोल्वणस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥९॥
दिगम्बराधिक्रमणोल्वणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम् ।
अधिष्ठितः संगरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद्द्रुतम् ॥१०॥
विरोधिनां शोणितपारणैषिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन् ।
महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥११॥
महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे ।
रुद्रास्तुषाराद्रिसितं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥१२॥
अन्येऽपि संनह्य महारणोत्सवश्रद्धालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥१३॥

उनके पीछे प्रसन्न मन से यमराज चले, जिनके हाथ में उनका दण्ड सुशोभित था। वह अपने नीलम के पहाड़ की तरह ऊंचे और काले-कलूटे अपने भैंसे पर चढ़े हुए थे, जो अपनी सींगों से बड़े-बड़े बादलों को फोड़ता हुआ चल रहा था ॥७॥

तदनन्तर महान असुर तारक के द्वेष के कारण भयंकर अत्यन्त क्रोधी नैर्ऋत नाम का राक्षस एक अत्यन्त गर्वीले स्वभाव के प्रेत पर चढ़कर भयानक युद्ध करने के लिए उन अन्धकासुर के शत्रु महादेव जी के पुत्र कुमार कार्तिकेय के पीछे-पीछे चल रहा था ॥८॥

अपने हाथों में अमोघ फांस लिए हुए परम बलशाली वरुणदेव भी अपने उस परम भयंकर घड़ियाल पर बैठकर युद्ध करने के लिए त्रिपुरान्तक के पुत्र कुमार कार्तिकेय के पीछे-पीछे चले, जो नूतन उठी हुई मेघ-घटा के समान नितान्त काले रंग का था। ॥९॥

युद्ध-क्रीड़ा के अभिलाषी पवनदेव क्षण भर में ही अपने उग्र पराक्रमी हरिण पर आरूढ़ होकर महेश के आत्मज कुमार कार्तिकेय के पीछे-पीछे शीघ्रता में चले, जो पृथ्वी और आकाश में पक्षी की भांति सर्वत्र बिना रुके हुए चौकड़ी भरते उड़ता चल रहा था ॥१०॥

कुबेर अपनी उग्र भयंकर गदा को लेकर, जो शत्रुओं का रक्त पीकर युद्ध के व्रत को पारण करती थी, एवं उस पालकी पर चढ़कर, युद्धार्थ महान युद्धरूपी समुद्र के अवगाहन के लिए इच्छुक कुमार कार्तिकेय के पीछे चले, जिसे मनुष्य ढो रहे थे ॥११॥

अपने जटा-जूट में बड़े-बड़े नागों को लपेटे तथा जलते हुए त्रिशूलों को हाथ में लिए हुए, हिमालय के समान श्वेत बैलों पर आरूढ़ होकर ग्यारहों रुद्र पिनाक धनुष धारण कर युद्ध में कुमार के पीछे चले ॥१२॥

महान युद्ध के इस महोत्सव में रुचि रखने वाले अन्यान्य देवता भी अपने अपने बलवान् वाहनों पर चढ़ कर तथा शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो होकर आनन्द से हँसते हुए, कुमार कार्तिकेय के पीछे-पीछे चले। उनके मुखों की शोभा उस क्षण देखने योग्य थी ॥१३॥

उद्दण्डहेमध्वजदण्डसंकुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः ।
चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः ॥१४॥
स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्योतिताशावलयाम्बरान्तराः ।
दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्ततो ययौ ॥१५॥
कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः।
घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥१६॥
सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो विकचक्रवालप्रतिनादमेदुराः।
नभोन्तकुक्षिंभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥१७॥
प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितजंनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः।
नभश्चमूधूलिकुलैरिवाकुलं रराम गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥१८॥
क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम्।
धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हृतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥१९॥
खातं खुरै रथ्यतुरंगपुंगवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः।
गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥२०॥

इस प्रकार सब तरह से सुसज्जित देवताओं की उस महान् सेना को लेकर कुमार कार्तिकेय तारकासुर से युद्ध के लिए आगे बढ़े। उस सेना में चारों ओर सुनहले ध्वज-दण्ड ऊपर उठे हुए थे। भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे छत्र चमक रहे थे। झुण्ड के झुण्ड चलनेवाले रथों से भयंकर आवाज आ रही थी। हाथियों के गले में बँधे हुए घण्टे जोर जोर से बज रहे थे। भाँति-भाँति के चमकते हुए शस्त्रास्त्रों की कान्ति से सम्पूर्ण दिशाएँ और आकाश प्रभासित हो रहे थे ॥१४-१५॥

उछल-कूद मचाते चलते हुए देवताओं के हल्ले से और उस महती सेना की ऊँची-ऊँची और बड़ी-बड़ी ध्वजाओं से दसों दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी सब एक समान प्रतीत हो रहे थे ॥१६॥

सेना के नगाड़ों को बजाने पर उनसे निकलनेवाली भयंकर ध्वनि की गूँज, आकाश के भीतर सर्वत्र व्याप्त हो गई, दसों दिशाएँ भर गई और उसे सुनकर असुरों की लक्ष्मी काँप गई ॥१७॥

सेना के चलने से जो धूल उड़ी उससे सर्वत्र आकाश व्याप्त हो गया और वह ऐसा प्रतीत होने लगा मानो मन्थन के समय समुद्र की गर्जन से भी अधिक भयानक ध्वनिवाले और असुरों की स्त्रियों के गर्भों को गिरानेवाले उन नगाड़ों की धमक से वह रो पड़ा हो ॥१८॥

रथों के चक्कों द्वारा उखाड़ी गई, घोड़ों की खुरों से बारीक की गई, हाथियों के कानों से हिलाहिलाकर ऊपर उड़ाई गई तथा पताकों से इधर-उधर फैलाई गई सुमेरु पर्वत की स्वर्णभरी धूल को आकाश में पहुँचने पर चारों ओर फैला दिया गया। इस प्रकार उसका क्रम से विस्तार हुआ ॥१९॥

सुमेरु की उपत्यका से उठी हुई वह सुनहली धूल, रथों तथा उन्हें खींचनेवाले उत्तम घोड़ों की खुरों से पिसकर तथा हरहराते हुए पवन के सहारे समस्त दिशाओं में फैलकर चमक उठी ॥२०॥

अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकररेणुरुच्चकैः ।
चमूषु सर्पन्मरुदाहृतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥२१॥
चलोद्धृतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौ दिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम् ।
अकालसंध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥२२॥
हेमावनीषु प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः ।
रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥२३॥
सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥२४॥
इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा ।
अवातरत्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा ॥२५॥
महाचमूस्यन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेभपतेश्च बृंहितैः ।
सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्यजुः ॥२६॥
गम्भीरभेरिध्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः ।
महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताजनि ॥२७॥

पवन के सहारे से सेना के ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह सुनहली धूल ऐसी सुन्दर लगती थी कि निकलते हुए सूर्य की सुनहली धूप की शोभा को भी वह हर लेती थी ॥२१॥

सेना के चलने से उड़ी हुई वह सुनहली धूल समस्त दिशाओं और आकाश मण्डल में सर्वत्र व्याप्त होकर ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो बिना सन्ध्या हुए ही बादलों के झुण्ड उमड़कर अकाश में छा गए हों ॥२२॥

उस सेना के हाथियों ने चलते समय, वहाँ की सुवर्ण भूमि में जो अपनी परछाइयाँ देखी तो उन्हें यह भ्रम हुआ कि ये पाताल लोक से निकलते हुए बड़े-बड़े हाथी हैं, अतः बिगड़कर वे अपनी परछाइयों पर ही अपने बड़े-बड़े दाँतों से टक्कर मारने लगे ॥२३॥

सुन्दर सिन्दूर के चूर्ण से रँगे हुए और मन्दगति से चलने वाले उन देव सेना के गजराजों को आगे चलकर सुमेरु पर्वत की चमकदार सुवर्ण की छतरी पर अपनी परछाइयाँ ठीक-ठीक से नहीं दिखाई पड़ी, क्योंकि दोनों का समान रंग था ॥२४॥

इस प्रकार वह देवराज इन्द्र की सेना, जो महान् युद्ध रूपी समुद्र में तैरने के लिए लालायित थी, अपने कोलाहल से पर्वतों की गुफाओं को गुँजाती हुई सुमेरु पर्वत से बड़े वेग के साथ नीचे उतरी ॥२५॥

देवताओं की इस महती सेना के रथों की भयंकर घरघराहट और बजते हुए घण्टों तथा बड़े-बड़े गजराजों की चिंघाड़ की भयंकर ध्वनि होने पर भी देवराज इन्द्र के पर्वत सुमेरु की लम्बी-लम्बी गुफाओं में सोनेवाले सिंहों ने अपनी नींद का सुख नहीं छोड़ा और वे पूर्ववत् सोए के सोए ही रहे ॥२६॥

गुफाओं में गूँजती हुई नगाड़ों की गंभीर और भयंकर ध्वनि और बड़े-बड़े रथों के पहियों की घड़घड़ाहट उन गुफाओं में टकराकर द्विगुणित वेग से गूंज रही थी, किन्तु फिर भी वहाँ के सिंह अविचलित ही रहे और इस प्रकार मानो उन्होंने अपनी 'मृगराजता' सिद्ध की ॥२७॥

समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा।
प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥२८॥
भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्रुवुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः।
गुहागृहान्तादवहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशंकं नितरां मृगाधिपाः ॥२९॥
विलोकिताः कौतुकिनामरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः।
सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥३०॥
पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम्।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥३१॥
महास्वनः सैन्यविमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकषतामुपेयिवान्।
पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरंभरिः ॥३२॥
महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम्।
घन रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥३३॥
महासुराणामवरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च।
ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यज रजः ॥३४॥

सुमेरु पर्वत की चोटी को फोडनेवाली उस देवताओं की महती सेना के चलने से जो कोलाहल हो रहा था, उसे सुन सुनकर वे सब सिंह और भी उन्मत्त हो उठे, जो अपनी शक्ति के कारण मृगराज बने हुए थे ॥२८॥

वहाँ जितने हरिण थे, वे तो देवताओं की सेना द्वारा कुचलकर मारे जाने के भय से दूर भाग गये, किन्तु जितने सिंह थे, वे क्रीडापूर्वक अपनी-अपनी गुफाओं से निकल-निकल कर बाहर निर्भय रूप से खडे हो गए ॥२९॥

जब देवताओं की वह सेना ऊँचे सुमेरु पर्वत की विस्तृत उपत्यका में उतरी तो उस समय सैनिकों के देखने के लिए उत्कण्ठित अमरावती के रहनेवाले लोगो ने बडे कुतूहल से अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ उन्हे देखा ॥३०॥

सुमेरु पर्वत की पीली, नीली, लाल और धवल चट्टानो से उडी हुई धूल से भरा हुआ आकाश उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो बिना परिश्रम के ही वह अनेक रत्नों से पूर्ण गन्धर्व नगर बन गया हो ॥३१॥

कानो के परदो को फाड देनेवाला देवताओ की सेना का वह उमडता हुआ घोर कोलाहल घहराते हुए समुद्र के कोलाहल से भी अधिक बढकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे गूँजने लगा ॥३२॥

मतवाले गजराजो की भयकर चिग्घाड, चारो ओर होनेवाली घोडो की हिनहिनाहट और चलते हुए रथो की भयकर घरघराहट से गभीर और कान फाडनेवाली नगाडो की आवाज जैसे एकदम शान्त हो गई ॥३३॥

और क्षण भर मे ही देवसेना के चलने से उठनेवाली वह धूल, धीरे धीरे दैत्यों की स्त्रियों के बालो, उनकी आँखो, अलको तथा स्तनमण्डलो पर बैठती हुई फिर उनकी पताकाओ, हाथियो, रथों, और घोडो पर जा-जाकर जमने लगी ॥३४॥

घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम्।
अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः॥३५॥
सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरभिश्रितैः।
चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितां गणा इव॥३६॥
विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत्।
किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत॥३७॥
नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः।
सूच्यप्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः॥३८॥
दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः।
अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैरजगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम्॥३९॥
भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महती दिवं खलु।
सुसंकुलायामपि तत्र निर्भरात्किं कांदिशीकत्वमवाप नाकुला॥४०॥
उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरंगहेषितैः।
चलद्घनस्यन्दननेमिनिस्वनैरभूनिरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत्॥४१॥

जब सेना की वह घनी धूल सूर्यमण्डल को ढँककर आकाश में छा गई तो हंसों ने यह समझ लिया कि यह मेघ है और बरसात आई समझकर वे मानसरोवर की ओर उड़ चले और मयूर मस्ती में भर कर नाचने लगे॥३५॥

देवताओं की सेना के चलने से उठी हुई धूल तो आकाश में नूतन मेघों की पंक्तियों के समान दिखाई पड़ने लगी और उसकी सुनहली पताकाएँ चमकती हुई बिजली की लहरों के समान चमकने लगीं॥३६॥

आकाश और पृथ्वी के बीच मध्य भाग में छाई हुई उस सेना से उड़ी हुई धूल को देखकर लोग यही तर्क करते रह गए कि यह ऊपर की ओर से नीचे की ओर उतर रही है अथवा नीचे की ओर से ऊपर की ओर जा रही है॥३७॥

उस सेना के चलने से उड़ी हुई धूल के सर्वत्र व्याप्त हो जाने के कारण सुई की नोक के बराबर भी कोई स्थान शेष नहीं रह गया। इसलिए सबकी आँखों के आगे ऐसा अन्धकार छा गया कि किसी को भी ऊपर, नीचे, आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा था॥३८॥

उस देवसेना में बहुत से बाजे इस प्रकार निरन्तर बज रहे थे कि उनकी कर्कश ध्वनि सुनकर दिग्गजों का दम भी सूख जाता था और जो देव विमानों की खिड़कियों से टकराने पर और द्विगुणित होकर गूंज उठती थी। उन्हें सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही घनघोर गर्जन कर रहा हो॥३९॥

देवताओं की यह महती सेना सर्वप्रथम तो धरती में व्याप्त हो गई, किन्तु वहाँ न समा सकने के कारण आकाश में जा पहुँची और जब वह आकाश में भी नहीं समा सकी तो मानो यह समझकर भयभीत हो उठी कि अब यहाँ से कहाँ चलना ठीक होगा?॥४०॥

ऊँचे-ऊँचे मदवाले हाथियों के समूहों के चिग्घाड़ने से, बड़े ऊँचे-ऊँचे घोड़ों की हिनहिनाहट से तथा चलनेवाले रथों की घरघराहटों से सम्पूर्ण जगत ऐसा घबरा उठा कि मानो सब की सांस घुटी जा रही हो॥४१॥

महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितैं रणोल्बणैः।
वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः ॥४२॥

दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे।
धारा रजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृता याः पङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृताः ॥४३॥

निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते।
तुरंगमाणां व्रजतां खुरैः क्षता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥४४॥

नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः ।
पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् ॥४५॥

इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः ।
लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूलीजलधौ नभोगतैः ॥४६॥

घण्टारवैं रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः।
मत्तद्विपानां प्रययांबभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥४७॥

करालवाचालमुखाश्चमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः।
तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥४८॥

ऊँचे-ऊँचे हाथियों की कठोर चिंघाड़, युद्ध-भूमि में हिलते हुए उनके घण्टों की टन-टन ध्वनि और रणबाँकुरे वीरों की ललकार चारों ओर फैलकर ऐसी लग रही थी मानो दसों दिशाएँ वाचाल होकर यह कोलाहल मचा रही हों ॥४२॥

सेना के बड़े-बड़े गजराजों से इतना मद बहा कि उनकी लहरों से नदियों में बाढ़ आ गई। और फिर घोड़ों की खुरों की चोट से उठी हुई धूल भर जाने से उन नदियों में कीचड़ ही कीचड़ हो गया और फिर रथों के पहियों से दबकर वहाँ ज्यों की त्यों भूमि निकल आई ॥४३॥

चलते हुए घोड़ों की खुरों से रौंदी जाने पर तथा रथों और हाथियों के चलने से दब जाने पर नीचे स्थान तो ऊँचे हो गए और ऊँचे स्थान नीचे हो गए ॥४४॥

बड़े-बड़े पर्वतों को फोड़ देनेवाली तथा समुद्र में भी हड़कम्प मचा देनेवाली वह नगाड़े की ध्वनि निकलकर जब आकाश में और दसों दिशाओं में गूँज उठी तो उसकी और भी भयानक प्रतिध्वनि सुनकर समूचा संसार भय से व्याकुल हो गया ॥४५॥

उस देव सेना की, बजते हुए सुवर्ण के घुंघरुओं से युक्त लाखों पताकाएँ जो संपूर्ण आकाश में व्याप्त होकर सभी मार्गों को रोके हुए वायु के वेग से फहरा रही थीं, वे भी उस सेना के चलने से आकाश में उड़ती हुई धूल के समुद्र में डूब-सी गईं ॥४६॥

मदोन्मत्त गजराजों की गूंजती हुई चिंघाड़ और क्षण-क्षण भर में भयंकर होकर बढ़ती हुई उनके घण्टों की ध्वनि के आगे बजते हुए नगाड़ों की आवाज सुनाई ही नहीं पड़ रही थी ॥४७॥

जिस प्रकार किसी वाचाल एवं नग्न रजस्वला स्त्री को देखकर सज्जन लोग आड़

आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योम रजोभिदूषिता।
भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्घनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥४९॥
गरुत्समीरसमीरितभूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे।
गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त इवाभवत् ॥५०॥
बलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले ।
निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः।
गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतो देवसेना।
ववृधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥५१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

वहाँ जो नगाड़े बज रहे थे, उनका शब्द ऐसा लग रहा था मानो आकाश रूपी नायक धूल से भरी हुई अपनी दिशा रूपी रजस्वला नायिका पर सैनिकों का इतना बड़ा आक्रमण देखकर घोर ईर्ष्या से गरज रहा हो ॥४९॥

बड़े-बड़े गजराज आकाश में इस प्रकार इधर-उधर घूम रहे थे जैसे किसी भयंकर आँधी से पहाड़ की चट्टानें ऊपर उछल रही हों और पृथ्वी पर रथ इस प्रकार से चल रहे थे मानो वे बड़े-बड़े बादल चल रहे हों। इस प्रकार इस युद्ध में यह उल्टी रीति हो गई थी कि आकाश में उड़नेवाले बादल तो धरती पर घूम रहे थे और धरती के पहाड़ आकाश में उड़ रहे थे ॥५०॥

भयंकर कोलाहल मचाती हुई बड़े-बड़े भूधरों (पर्वतों एवं राजाओं) से युक्त वह देवसेना अच्छी तरह से चारों ओर भरी-पुरी होने पर भी और अधिक बढ़ने लगी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो बलवान् असुरों के इस महाप्रलय के समय भयंकर रूप से गरजता हुआ कोई महासागर उमड़ता हुआ चला आ रहा हो ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत कुमारसम्भव महाकाव्य में देवसेना प्रयाण
नामक चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

# पञ्चदशः सर्गः

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः।
सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत्किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी॥१॥
चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम्।
श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः॥२॥
समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते।
न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम्॥३॥
दासीकृताशेषजगत्त्रयं मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः।
गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत्॥४॥
ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान्।
युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्संनहनार्थमादिशत्॥५॥
महाचमूनामधिपाः समन्ततः संनह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसंकुले सदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके॥६॥

# पन्द्रहवाँ सर्ग

देवताओ के शत्रु तारकासुर के नगर मे यह किंवदन्ती जब फैल गई कि देवराज इन्द्र युद्ध के लिए अन्धकासुर के शत्रु शिवजी के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय को अपना सेनापति बनाकर सेना के साथ आक्रमण करने आ रहे हैं तो उनके हृदय काँप गए॥१॥

और जब उन्हे यह ज्ञात हो गया कि विजयलक्ष्मी के साथ देवताओ की सेना लेकर महादेव जी के विजयी कुमार कार्त्तिकेय सचमुच सेनापति बनकर आक्रमण करने के लिए आ रहे है तब तो उन महान असुरो का चित्त अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा॥२॥

उन महान असुरो ने तारकासुर के सम्मुख पहुँचकर किरीट के समीप हाथ जोडकर नमस्कार करने के अनन्तर यह निवेदन किया कि देवराज इन्द्र कुमार कार्त्तिकेय के साथ देव सेना को लेकर युद्धार्थ आ रहा है॥३॥

मुझ त्रिलोकी को सेवक बनानेवाले को तो देवराज इन्द्र इतने पिछले अनेक युद्धो मे तो जीत नही सका, अब यह महादेव के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय के बल से मुझे अवश्य जीत लेगा—ऐसा कहकर वह व्यग्य की हँसी हँसने लगा॥४॥

इतना कहने के बाद तीनो लोको को कौतुकपूर्वक जीतने की इच्छा रखनेवाले उस तारकासुर के ओठ क्रोध से काँपने लगे और उसने अपने उन रणबाँकुरे सेनापतियो को युद्ध की तैयारी करने की आज्ञा दी, जिन्हे अपने बाहुबल पर बडा गर्व था॥५॥

तब शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर वे बडे-बडे असुर सेनापति तत्क्षण तारकासुर के उस विशाल फाटकवाले आगन मे आकर एकत्र हो गए जहाँ बहुत-से आज्ञाकारी राजा बहुत पहले से ही विनम्र भाव से खडे थे॥६॥

स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्वाहुवरानधिष्ठितान् ।
महाहवाम्भोधिविघ्ननोद्धतान्ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून् ॥७॥
बली बलारातिबलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
महीधराम्भोधिनवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुह्य सः ॥८॥
युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥९॥
चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुघनेषु पंकताम् ॥१०॥
महीभृतां कन्दरदारणोल्वणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः ।
उद्वेलितास्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाभ्यवर्धत ॥११॥
सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
अम्बुच्छितैर्मिशतैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥१२॥
अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥१३॥

असुरराज तारकासुर ने अपने सामने खड़े हुए उन अगणित असुर सेनापतियों को देखा, जो उस महान युद्धरूपी समुद्र को मथ डालने के लिए अधीर हो रहे थे, दीर्घ भुजाओं वाले थे, नम्रतापूर्वक नमस्कार कर रहे थे और द्वारपालों द्वारा ला-लाकर वहाँ खड़े कर दिये गए थे॥७॥

तदनन्तर वह परम पराक्रमशाली तारकासुर स्वयं उस भयङ्कर रथ पर बैठकर चल पड़ा, जो अकेले ही इन्द्र की सेना को तहस-नहस कर देने में समर्थ था, जिसकी घरघराहट सुनकर दिग्गजों का चिग्घाड़ना और मद बहाना बन्द हो जाता था, और जो पर्वत तथा समुद्र में कहीं भी बिना किसी रोकटोक के चल सकता था॥८॥

पृथ्वी से उड़ती हुई धूल से सम्पूर्ण दिशाओं और आकाश को ढकती हुई दैत्य की वह विशाल सेना भी अपने सेनापति तारकासुर के पीछे चल पड़ी, जो प्रलय काल के हहराते हुए समुद्र के समान भयङ्कर कोलाहल मचाती चल रही थी और जिसमें इतनी पताकाएँ हिल रही थीं कि उनके कारण धूप तक रुक गई थी॥९॥

देवताओं से सम्मुख लड़ने के लिए जब महान् असुर तारक की सेना चली तो उसके चलने से जो धूल उड़ी वह दिग्गजों के श्वेत दाँतों पर पड़कर तो उजली ही उड़ती थी किन्तु जब उनके मद चुआने वाले गण्डस्थलों पर पड़ती थी तब कीचड़ बन जाती थी॥१०॥

असुर की सेना के नगाड़ों की जो गम्भीर आवाज पर्वतों की कन्दराओं को भी फोड़ रही थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरें लेकर अपने तट से ऊपर आ गया और आकाश गंगा में भी अचानक बाढ़ आ गई॥११॥

असुरराज तारक की उस महती सेना का भयङ्कर कोलाहल जो आकाशगंगा में गूँजा तो उसमें से उछलती हुई सुन्दर कमलों से भरी सैकड़ों लहरों ने स्वर्ग के भवनों की पंक्तियों को धो डाला॥१२॥

जब यह देवताओं का शत्रु असुरराज युद्धार्थ चला तो उसके आगे मार्ग में ऐसे-ऐसे अपशकुन होने लगे जिनसे यह ज्ञात होता था कि यह असुर किसी बहुत बड़ी विपत्ति के समुद्र में डूबने जा रहा है॥१३॥

आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणो कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा।
दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीरुपर्युपर्यस्तनिवारितातपा ॥१४॥
मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुलेक्षणः ।
धुताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥१५॥
सद्यो विभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्निं विकिरन्त उच्चकैः।
पुरः पयोऽतीत्य महाभुजंगमा भयंकराकारभृतो भृशं ययुः ॥१६॥
मिलन्महाभीमभुजंगभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ।
महासुरस्य द्विषतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयंकरः ॥१७॥
रिपामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समन्ताः परुषं ववाशिरे।
सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥१८॥
दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनोः परापतन्तीः परितोऽस्य वाहिनीः।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः ॥१९॥
ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम्।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात् ॥२०॥
ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः।
धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुखे रजो दधुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम् ॥२१॥

उसी अवसर पर असुरों का मांस पाने की टोह में बहुत-से गिद्ध बाज कौए आदि भयंकर पक्षी पंक्तियाँ बाँध-बाँध कर असुरों की सेना के ऊपर इस प्रकार से मँडराने लगे कि उनके ऊपर की धूप भी रुक गई॥१४॥

आकाश में बारबार ऐसी आँधियाँ उठने लगीं कि असुरों के छत्र-चामर, पताकाएँ सब टूट गईं, धूल उड़-उड़कर सब की आँखों में भर गई और घोड़े, हाथी, रथ–इन सब को उन आँधियों ने झकझोर डाला॥१५॥

तुरन्त तैयार किए गए काजल के पुञ्ज के समान काले और विषभरी अग्नि की ऊँची ऊँची लपटें उगलनेवाले, बड़े भयंकर डील डौल वाले सर्प सेना का मार्ग काट-काट कर आगे से निकलने लगे॥१६॥

और द्वेष के कारण ही मानो सूर्य ने भयंकर सर्पों की कुण्डली के समान एक बड़ा-सा भयंकर मण्डल अपने चारों ओर बना लिया था, जो यह सूचना दे रहा था कि देवताओं के शत्रु तारकासुर के दिन अब पूरे हो गए हैं॥१७॥

युद्धभूमि में तारकासुर का रक्तपान करने की उतावली से शृगालियाँ उस सूर्यमण्डल के चारों ओर आ आकर अत्यन्त भयानक स्वर में रुदन करने लगीं॥१८॥

और दिन में निकले हुए तारागण उस असुर-सेना के चारों ओर बड़े वेग से टूट-टूट कर गिरने लगे और देखनेवाले लोगों को यह विश्वास हो गया कि ये सारे उपद्रव देवताओं के शत्रु तारकासुर के विनाश के लिए ही हो रहे हैं॥१९॥

अपनी भयंकर और क्रूर तड़कन से हृदय को विदीर्ण कर देने वाली और अपनी चमक से समस्त दिशाओं और आकाश को उद्भासित कर देनेवाली बिजली भी, उस समय, बिना बादल के ही आकाश से टूट-टूट कर नीचे गिर रही थी॥२०॥

आकाश से धधकते हुए अंगारों की, रक्त की और हड्डियों की धुआँधार वर्षा हो रही थी और सभी दिशाएँ गदहे के कण्ठ के रंग के समान भूरा-भूरा धुआँ उगल रही थीं॥२१॥

निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरंभरिः।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालाजितगर्जितर्जनः॥२२॥
स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद् बलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात्॥२३॥
ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः॥२४॥
अपोति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसंततिम्।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः॥२५॥
अरिष्टमाशंक्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहस्यस्य हितोपदेशनम्॥२६॥
क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरधर्मवारणम्।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत्॥२७॥
विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं भ्रमेण शोकादिव तस्य मौलिना।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलंतरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः॥२८॥

चारों ओर आकाश में और दसों दिशाओं में ऐसा भयंकर कोलाहल मचा था जो कुपित हुए मृत्यु की गरज के समान कानों के पर्दों को फाड़ता जा रहा था और जिसकी गूँज से पहाड़ों के शिखर भी फटे पड़ रहे थे॥२२॥

इसी अवसर पर ऐसा भूचाल आ गया कि समुद्र हिलोरें लेने लगे, पर्वतों में दरारें पड़ गईं, वे टूट गए, असुर तारक की सेना के बड़े-बड़े गजराज लड़खड़ाने लगे, घोड़े धड़ाम-धड़ाम गिरने लगे और सैनिक गण एक दूसरे को पकड़कर लिपट गए॥२३॥

सूर्य की ओर देखते हुए और ऊपर मुँह उठाकर बहुत से कुत्ते अत्यन्त भयंकर आवाज से कानों के परदों को फाड़ते हुए, एक साथ ही अत्यन्त करुण स्वर में रुदन करते हुए उस देवशत्रु तारकासुर के सामने से निकल गए॥२४॥

इस प्रकार के अत्यन्त अमंगलदाई अपशकुनों को देखकर भी दुर्भाग्य से मारे हुए उस असुरराज तारक ने क्रोध के कारण अपना प्रस्थान स्थगित नहीं किया॥२५॥

ऐसे अत्यन्त डरावने और बुरे अपशकुनों को देखकर विद्वानों ने उस महान् असुर को रोकने का बहुतेरा प्रयास किया किन्तु वह आगे बढ़ने से नहीं रुका। जो लोग हठ से अन्धे बन जाते हैं उन्हें बड़े-बूढ़ों का उपकारी उपदेश भी अच्छा नहीं लगता॥२६॥

इतने में ही प्रतिकूल दिशा में बहनेवाले वायु का ऐसा तीव्र झोंका आया कि तारकासुर का सुनहला राज-छत्र भी पृथ्वी पर औंधा गिर पड़ा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्यु ने अपना व्रत तोड़ने के समय भोजन करने के लिए यह सोने का बड़ा थाल लगा रखा हो॥२७॥

तारकासुर के किरीट से टूट-टूटकर नीचे गिरते हुए मोती ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानों तारकासुर के सिर कटने की बात को पहले से ही जाननेवाला वह बुद्धिमान मुकुट शोक के कारण मोती के आँसू बार-बार बरसाकर रुदन-सा कर रहा हो॥२८॥

आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा।
दधौ पदं व्योम्निसुरारिवाहिनीरुपर्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥१४॥
मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकलाकुलेक्षणः ।
धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥१५॥
सद्यो विभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्निं विकिरन्त उच्चकैः।
पुरः पयोऽतीत्य महाभुजंगमा भयंकराकारभृतो भृशं ययुः ॥१६॥
मिलन्महाभीमभुजंगभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ।
महासुरस्य द्वियतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयंकरः ॥१७॥
त्विषामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे।
सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥१८॥
दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽस्य वाहिनीः।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः ॥१९॥
ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम्।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात् ॥२०॥
ज्वलद्भिरङ्गारचयैनभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः।
धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुखै रजो वर्षुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम् ॥२१॥

उसी अवसर पर असुरों का मांस पाने की टोह में बहुत-से गिद्ध बाज कौए आदि भयंकर पक्षी पंक्तियाँ बाँध-बाँध कर असुरों की सेना के ऊपर इस प्रकार से मँडराने लगे कि उनके ऊपर की धूप भी रुक गई ॥१४॥

आकाश में बारबार ऐसी आँधियाँ उठने लगीं कि असुरों के छत्र-चामर, पताकाएँ सब टूट गईं, धूल उड़-उड़कर सब की आँखों में भर गई और घोड़े, हाथी, रथ—इन सब को उन आँधियों ने झकझोर डाला ॥१५॥

तुरन्त तैयार किए गए काजल के पुंज के समान काले और विषभरी अग्नि की ऊँची ऊँची लपटें उगलनेवाले, बड़े भयंकर डील डौल वाले सर्प सेना का मार्ग काट-काट कर आगे [illegible] निकलने लगे ॥१६॥

और द्वेष के कारण ही मानो सूर्य ने भयंकर सर्पों की कुण्डली के समान एक बड़ा-सा भयंकर मण्डल अपने चारों ओर बना लिया था, जो यह सूचना दे रहा था कि देवताओं के शत्रु तारकासुर के दिन अब पूरे हो गए हैं ॥१७॥

युद्धभूमि में तारकासुर का रक्तपान करने की उतावली में शृगालियाँ उस सूर्यमण्डल के चारों ओर आ आकर अत्यन्त भयानक स्वर में रुदन करने लगीं ॥१८॥

और दिन में निकले हुए तारागण उस असुर-सेना के चारों ओर बड़े वेग से टूट-टूट कर गिरने लगे और देखनेवाले लोगों को यह विश्वास हो गया कि ये सारे उपद्रव देवताओं के शत्रु तारकासुर के विनाश के लिए ही हो रहे हैं ॥१९॥

अपनी भयंकर और क्रूर तड़पन से हृदय को विदीर्ण कर देने वाली और अपनी जलती हुई चमक से समस्त दिशाओं और आकाश को उद्भासित कर देनेवाली बिजली भी, उस समय, बिना बादल के ही आकाश से टूट-टूट कर नीचे गिर रही थी ॥२०॥

आकाश से धधकते हुए अंगारों की, रक्त की और हड्डियों की धाराप्रवाह वर्षा हो रही थी और दसों दिशाएँ गदहे के कण्ठ के रंग के समान भूरा-भूरा धुआँ उगल रही थीं ॥२१॥

निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरंभरिः।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जनः॥२२॥
स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद् बलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात्॥२३॥
ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः॥२४॥
अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसंततिम्।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः॥२५॥
अरिष्टमाशंस्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम्॥२६॥
क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरघर्मवारणम्।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत्॥२७॥
विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलंतरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः॥२८॥

चारों ओर आकाश में और दसों दिशाओं में ऐसा भयंकर कोलाहल मचा था जो कुपित हुए मृत्यु की गरज के समान कानों के पर्दों को फाड़ता जा रहा था और जिसकी गूँज से पहाड़ों के शिखर भी फटे पड़ रहे थे॥२२॥

इसी अवसर पर ऐसा भूचाल आ गया कि समुद्र हिलोरें लेने लगे, पर्वतों में दरारें पड़ गईं, वे टूट गए, असुर तारक की सेना के बड़े-बड़े गजराज लड़खड़ाने लगे, घोड़े यत्र-तत्र गिरने लगे और सैनिक गण एक दूसरे को पकड़कर लिपट गए॥२३॥

सूर्य की ओर देखते हुए और ऊपर मुँह उठाकर बहुत से कुत्ते अत्यन्त भयंकर आवाज में कानों के परदों को फाड़ते हुए, एक साथ ही अत्यन्त करुण स्वर में रुदन करते हुए उस देवशत्रु तारकासुर के सामने से निकल गए॥२४॥

इस प्रकार के अत्यन्त अमंगलदाई अपशकुनों को देखकर भी दुर्भाग्य से मारे हुए उस असुरराज तारक ने क्रोध के कारण अपना प्रस्थान स्थगित नहीं किया॥२५॥

ऐसे अत्यन्त डरावने और बुरे अपशकुनों को देखकर विद्वानों ने उस महान् असुर को रोकने का बहुतेरा प्रयास किया किन्तु वह आगे बढ़ने से नहीं रुका। जो लोग हठ से अन्धे बन जाते हैं उन्हें बड़े-बूढ़ों का उपकारी उपदेश भी अच्छा नहीं लगता॥२६॥

इतने में ही प्रतिकूल दिशा में बहनेवाले वायु का ऐसा तीव्र झोंका आया कि तारकासुर का सुनहला राज-छत्र भी पृथ्वी पर औंधा गिर पड़ा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्यु ने अपना व्रत तोड़ने के समय भोजन करने के लिए यह सोने का बड़ा थाल लगा रखा हो॥२७॥

तारकासुर के किरीट से टूट-टूटकर नीचे गिरते हुए मोती ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानों तारकासुर के सिर कटने की बात को पहले से ही जाननेवाला वह बुद्धिमान मुकुट शोक के कारण मोती के आँसू बार-बार बरसाकर रुदन-सा कर रहा हो॥२८॥

निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्गृहीतुकामैरवि तं मुहुर्मुहुः।
अपाति गृध्रैरभि मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः॥२९॥
सद्यो निकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फलामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम्।
निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत॥३०॥
रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणबाणधीन्।
अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः॥३१॥
इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः।
यदा मदान्धो न गतान्न्यवर्तताम्बरात्तदाभून्मरुता सरस्वती॥३२॥
मदान्ध मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना।
सुरैः सनाथेन पुरंदरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः॥३३॥
गुहोऽसुरैः षड्दिनजातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः।
विषह्यते नाभिमुखो हि संगरे कुतस्त्वया तस्य सम विरोधिता॥३४॥
अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालं स्थगितस्य भूभृतः।
क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः॥३५॥

उसके मस्तक के ऊपर मडराते हुए गिद्धो को उसके सेवक बारबार भगा रहे थे फिर भी वे गिद्ध व्याकुल से होकर मानो उसे लेने के लिए उसके मस्तक पर बार बार गिर-गिरकर मानो यह बता रहे थे कि अब तुम्हारा मरण समीप आ गया है॥२९॥

इसी बीच मे लोगो ने देखा कि उसकी पताका पर नूतन काजल के समान काला, अपने फण की मणि की किरणो के प्रकाश से चमकते हुए फनो वाला और भयानक विषयुक्त आग की फूत्कार छोडनेवाला एक भयकर सर्प आकर लिपट गया है॥३०॥

इतने मे ही अकस्मात् उसके रथ के धुरे से आग की ऐसी भयकर लपट उठी कि रथ के घोडो के बाल, कान और चौरियाँ—सब झुलस उठीं और उस महान असुर तारक के धनुष, बाण और तूणीर भी जल उठे॥३१॥

बार-बार ऐसे बुरे अपशकुनो के घटित होने पर भी जब वह मदान्ध असुर अपने मार्ग से वापस नहीं लौटा तब उसे आकाश से यह देवताओं की वाणी सुनाई पडी॥३२॥

अरे ओ मदान्ध तारकासुर! अपने प्रचण्ड बाहुबल के घमण्ड मे चूर होकर तू इन्द्र आदि विजयी देवताओं के साथ आते हुए मन्मथहन्ता शिवजी के पुत्र कुमार कार्तिकेय से युद्ध करने के लिए मत जा॥३३॥

हे असुर! छ दिन के बालक इस कुमार के सम्मुख तुम दैत्यो की वही दुर्दशा होगी जो सूर्य के आगे रात के अन्धकार की होती है। भला तुम उनके साथ क्या विरोध कर सकोगे॥३४॥

हे तारक! जिस क्रौंच पर्वत की सैकडो चोटियाँ आकाश चूमती हैं और जो दसो दिशाओं म फैला हुआ है, उसे भी जिसने अपने बाणो से वेध डाला है, उनके साथ भला तुम क्या युद्ध करोगे॥३५॥

लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिःसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम्।
कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयांबभूव यः॥३६॥
न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति।
येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे॥३७॥
त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसूनोर्वरशक्तिगोचरम्।
तमेव नूनं शरणं व्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत्॥३८॥
श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपरो महासुरः।
प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैरिदमभ्यधाच्च सः॥३९॥
किं भूय रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः।
मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता॥४०॥
कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात्षड्दिनजातकस्य किम्।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव॥४१॥
सङ्गेन वो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम्।
अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम्॥४२॥
इतीरयत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाणं कलयत्यलं क्रुधा।
परस्परोत्पीडितजानवो भयादभ्रचरा दूरतरं विदुद्रुवुः॥४३॥

जिन परशुरामजी ने अनंग के शत्रु महादेव से धनुर्विद्या ग्रहण कर इक्कीस बार युद्ध में राजाओं के गाढ़े रक्त में स्नान करके अपना रोष ठण्डा किया है, ऐसे क्षत्रियों के विनाश की कालरात्रि को बुलानेवाले परशुराम भी जिस कुमार से लड़ने में घबराते हैं, उन त्रिभुवन विख्यात महान् योद्धा से युद्ध में लड़ने की तुम में शक्ति कहाँ है? ॥३६–३७॥

हे घमण्ड से अन्धे असुर! अतः तुम अपना घमण्ड छोड़कर कुछ ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे तुम्हें कुमार की शक्ति के आगे न आना पड़े। इस समय तो निश्चय ही कुमार की शरण में जाने से ही तुम चिरकाल तक जीवित बने रह सकते हो॥३८॥

अपने क्रोध से तीनों लोकों को कम्पित कर देने वाला वह महान् असुर आकाश से आनेवाली इस वाणी को सुनकर एक बार स्वयं कांप उठा किन्तु फिर अपने को सँभालकर अत्यन्त क्रोध [illegible] अहंकार से भरकर आकाश की ओर मुँहकर उच्च स्वर में बोला—॥३९॥

अरे आकाश में घूमनेवाले देवताओं! कामरिपु महादेव के पुत्र इस कुमार की ऐसी प्रशंसा करते हुए तुम लोगों को क्या मेरे बाणों के घावों की पीड़ा अब भूल गई है॥४०॥

अरे देवताओ! कार्तिक के मास में जिस प्रकार पागल कुत्ते भूँका करते हैं और रात में जिस प्रकार धूर्तपशु (लोमड़ी आदि) बोला करते हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी आकाश में ऊपर चढ़कर छः दिन के बालक के भरोसे ऐसी झूठी बकवास कटु स्वर में कर रहे हो॥४१॥

तुम लोगों के साथ पड़कर यह बेचारा तपस्वी बालक कुमार कार्तिकेय भी उसी प्रकार मेरे हाथों से मारा जायगा जिस प्रकार चोर का साथी साहु भी दण्ड भोगता है। मैं सर्वप्रथम तुम लोगों को मारूँगा और तदनन्तर इसको॥४२॥

ऐसा कह कर उस महान् असुर तारक ने जो अपना भयंकर और बृहत् कृपाण अपने हाथ में उठाया तो आकाश में उपस्थित समस्त देवताओं में ऐसी भगदड़ मच गई कि उनके घुटने परस्पर के संघर्ष से फूट गए॥४३॥

ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः।
रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी ॥४४॥
मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः।
ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयंकराकारमपारमग्रतः ॥४५॥
पुरः सुराणां पृतनां प्रयोधसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम्।
बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयो- प्रचण्डयोः समरकेलिकौतुकी ॥४६॥
ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा।
पुरः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनो युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥४७॥
पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विष' सैन्यसमुद्रमभ्ययुः।
भुजं समुत्क्षिप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ॥४८॥
पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः।
पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्भटास्तस्य रणेऽवहेलया ॥४९॥
द्विषद्बलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥५०॥

देवताओ का यह हाल देखकर अतीव गर्व से क्रूर हँसी हँसते हुए रथ पर आरूढ उस महान असुर ने म्यान से अपनी तलवार बाहर निकाली और अपने सारथी से कहा कि मेरे रथ को आगे बढाकर इन्द्र के सामने ले चलो ॥४४॥

सारथी द्वारा हाँके गए मन से भी अधिक वेग से चलने वाले अपने रथ पर आरूढ वह महान असुर देवताओ की उस महती सेना के आगे जा पहुँचा, जो अगाध समुद्र के समान भयकर दिखाई पड रही थी ॥४५॥

अपने सामने देवताओ की उस महती सेना को देखकर भयकर युद्ध के लिए उतावले उस महान् वीर तारकासुर के प्रचण्ड भुजदण्डो मे अत्यन्त आनन्द के कारण रोमाच हो आया और उसके हृदय मे उत्साह उमड पडा ॥४६॥

तब देवराज इन्द्र के बडे-बडे रणबाँकुरे और युद्ध करने के लिए लालायित सैनिक मन से भी अधिक वेग से उस असुर की सेना पर टूट पडे। लडाई के इच्छुक लोग विलब नही किया करते ॥४७॥

...न्द्र की सेना मे
उच्च स्वर मे

अपने सामने खडी दैत्यो की उस सेना रूपी समुद्र को देखकर देवताओ को बडा क्षोभ हुआ, किन्तु उस सम्पूर्ण असुर-सेना को एक कनखी से देखकर ही निर्भय कुमार कार्तिकेय ने यह समझ लिया कि इस सेना मे कोई सामर्थ्य नही है ॥४९॥

दैत्यो की सेना के भय से घबराई हुई देव-सेना की ओर अपनी प्रसन्नता के अमृत से भरे हुए नेत्रो से देखकर अन्धकासुर के शत्रु महादेव जी के पुत्र कुमार कार्तिकेय ने सकेत किया कि डरने की कोई आवश्यकता नही है ॥५०॥

उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशना।
अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्न कस्य वीर्याय वरस्य संगतिः॥५१॥
परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धृतायुधाः।
वैतालिकश्रावितताविक्रमाभिधानमौर्याविजयैषिणो रणे॥५२॥
सङ्ग्रामं प्रलयाय संनिपततो वेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलःकोलाहलःक्षोपणः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिम्भरिः ॥५३॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंघट्टो नाम पञ्चदशः सर्ग॥१५॥

जब इन्द्र प्रभृति यज्ञभोक्ता देवताओं ने रण में शक्तिशाली कुमार कार्तिकेय को देखा तो उत्साह से भर गए और कहने लगे कि हम लोग युद्ध में अपने शत्रुओं को जीत लेंगे। योग्य लोगों की संगति किसे शक्तिशाली नहीं बनाती॥५१॥

अपने-अपने हथियार उठाकर देवताओं तथा असुरों के सैनिक अपनी-अपनी ओर के चारणों द्वारा अपने अपने नाम के साथ गाए हुए पराक्रम के गीतों को सुनकर विजय की अभिलाषा से रणभूमि में आ डटे॥५२॥

जैसे प्रलय करने के लिए अपनी मर्यादा तोड़कर चतुर्दिक फैले, समस्त संसार को डुबोने एवं चराचर को मृत्यु का भोजन बनाते दो भयंकर समुद्र एक दूसरे में आकर टकराते हुए बढ़ रहे हों उसी प्रकार ताड़ के वृक्षों वाले पहाड़ की उपत्यका को फाड़ देनेवाला वह देवताओं और असुरों के सैन्य-समुद्र का कोलाहल यमराज का निमंत्रण सा देता हुआ निखिल ब्रह्माण्ड में भर गया॥५३॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत कुमारसम्भव महाकाव्य में सुरासुर सेनामर्ष
नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

## षोडशः सर्गः

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयंकरैः।
युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत् ॥१॥
पत्तिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी।
तुरंगस्थं तुरंगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥२॥
युद्धाय धावतां घोरं वीराणामितरेतरम्।
वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन् ॥३॥
पठतां वन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम्।
क्षणं विलम्ब्य चित्तानि दधुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥४॥
संग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते।
आसीत्कवचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥५॥
निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः।
आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥६॥
खड्गा रुधिरसलिप्ताश्चण्डांशुकरभासुराः।
इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥७॥

## सोलहवां सर्ग

इसके बाद देवराज इन्द्र तथा असुरराज तारक की सेनाओं में अत्यन्त भयंकर शस्त्रास्त्रों के द्वारा एक दूसरे से युद्ध होने लगा ॥१॥

पैदल सैनिकों से पैदल सैनिक, रथारोहियों से रथारोही, घुड़सवारों से घुड़सवार तथा हाथी पर सवारों से हाथी के सवार युद्ध करने लगे ॥२॥

उन युद्धरत वीरों के, जो एक दूसरे पर भयंकर प्रहार कर रहे थे, वैतालिक लोग नाम ले लेकर तथा उन्हें उनके कुल का उजागर कह कहकर प्रशंसा कर रहे थे ॥३॥

उन विरुदावली के पढ़नेवाले वन्दीजनों द्वारा अपनी-अपनी विरुदावली को वे लो क्षण भर के लिए जब रुक जाते थे तो सुन लेते थे और फिर युद्ध में अत्यन्त उत्सुक होकर तन-मन से लग जाते थे ॥४॥

उन वीरों को युद्ध का ऐसा आनन्द मिल रहा था कि उनके रोम-रोम पुलकित हो उठे थे और जब वे आपस में भिड़ते थे तो उनके कवचों के टांके खुल जाते थे ॥५॥

निर्दयतापूर्वक तलवार से काटे गए कवचों के नीचे से जो रुई निकलती थी वह उड़कर चारों ओर दिशाओं में उड़कर ऐसी फैल गई थी कि सारी दिशाएं वृद्धों के बालों के समान श्वेत हो गई थीं ॥६॥

यत्रतत्र वीरों की खून में सनी हुई तलवारें, सूर्य की किरणों के पड़ने पर जब चमकती थीं तो बिजली के समान मालूम पड़ती थीं ॥७॥

विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव भुजंगमाः।
विसृष्टाः सुभटै रुष्टैर्व्योम व्यानशिरे शराः॥८॥
वाढं वपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः।
अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः॥९॥
निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः।
पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे॥१०॥
ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम्।
उच्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णे दूरमपासरन्॥११॥
विभिन्नं धन्विनां बाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम्।
ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात्॥१२॥
चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः।
अधावन्रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम्॥१३॥
गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खड्गराजयः।
कान्तिजालच्छलाद्धासो व्यहसन्संमदादिव॥१४॥
खड्गाः शोणितसंदिग्धा नृत्यन्तो वीरपाणिषु।
रजोघने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः॥१५॥

अत्यन्त क्रोध से भरे हुए वीरों द्वारा जो बाण छोड़े जाते थे वे मुख से ज्वाला बरसाते हुए भयंकर सर्पों के समान आकाश को चारों ओर से व्याप्त कर लेते थे ॥८॥

वे एक दूसरे पर जो बाण चलाते थे, वे प्रतिद्वन्द्वी वीर के शरीर को इतनी फुर्ती से बेधते हुए उस पार निकलकर पृथ्वी में जाकर धँस जाते थे कि उनमें रक्त भी नहीं लग पाता था ॥९॥

उस भयंकर युद्ध रूपी उत्सव में जो बड़े-बड़े वीर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ हाथियों के ऊपर बाण छोड़ते थे, उनसे हाथियों के मस्तक तो पहले ही गिर पड़ते थे और वे बाण बाद में गिरते थे ॥१०॥

जब आकाश में जलते हुए मुखों वाले बाणों की अत्यन्त सघन पंक्तियाँ छा गईं और उनमें परस्पर अवकाश भी नहीं रहा तब विमानों पर चढ़े हुए देवता वहाँ से दूर चले गए ॥११॥

धनुर्धारियों के बाणों से आकाश की छाती मानो छलनी हो गई और वह विह्वल होकर बाज पक्षियों की भयानक आवाज से रुदन करने लगा ॥१२॥

रणबांकुरे योद्धाओं द्वारा कानों तक खींच-खींचकर जो बाण छोड़े गए थे वे मानो रक्त पीने के लोभ से ही इतनी दूर तक दौड़े चले जा रहे थे ॥१३॥

वीरों द्वारा हाथ में ली गई म्यान रहित तलवारों की पंक्तियाँ मानों मतवाली होकर अपनी धार की चमक के बहाने से युद्धभूमि में हास्य कर रही हों ॥१४॥

वीरों के हाथों में नाचनेवाली रक्त से सनी हुई तलवारें, धूल से पटे हुए उस सुविस्तृत रणक्षेत्र में बिजली के समान चमक रही थीं ॥१५॥

आक्षिप्ता अपि दन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम्।
तदसूनहरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः॥३३॥
उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि।
प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही॥३४॥
खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान्।
तैर्भुवापि समं विद्वान्संतोषं न भटा ययुः॥३५॥
आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः।
दिव्याङ्गनाभिरायातुं रक्ताभिर्द्रुतमीषिरे॥३६॥
धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्शरैः क्षतान्।
प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम्॥३७॥
कृद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरसिना करम्।
निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया॥३८॥
खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम्।
प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगाद्द्रुतम्॥३९॥
करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना।
असिनासूञ्जहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः॥४०॥

अत्यन्त क्रोध मे भरे हुए हाथियो द्वारा सूंड मे ऊपर उठाकर फेंके गए पैदल सैनिक अपने स्वामी के सम्मुख ही अपनी तलवार के प्रहार से उन हाथियो के प्राणो को हर लेते थे॥३३॥

जिन वीरो को हाथी उठाकर ऊपर उछाल देते थे, उनके प्राण तो स्वर्ग मे चले जाते थे और उन्हे दिव्यगति मिल जाती थी। केवल उनका शरीर पृथ्वी पर गिरता था॥३४॥

यद्यपि वीर लोग अपनी श्वेतधारवाली तलवारो से हाथियो के सूँडो को काट रहे थे और उनसे पृथ्वी भी चारो ओर से पट गई थी तथापि उन्हे सन्तोष नही होता था॥३५॥

जो पैदल वीर हाथियो द्वारा ऊपर उछाल दिए जाने पर वीरगति प्राप्त करते थे, उन्हे स्वर्ग मे पहुँचने पर अनुरक्त देवागनाएँ पति रूप मे स्वीकार करने के लिए शीघ्रता करने लगती थी॥३६॥

घोडे पर आरूढ धनुषधारी सैनिक जब अपने बाणो से गजारूढ सैनिको को मारते थे और वे मूर्च्छित हो जाते थे तब वे वहाँ बडी देर तक खडे रहकर उनकी मूर्छा के हटने की प्रतीक्षा करते थे (क्योकि मूर्च्छित शत्रु पर आक्रमण करना उन दिनो के युद्धो मे वर्जित था)॥३७॥

एक मतवाला हाथी किसी सैनिक को अपनी सूंड मे लपेटना चाहता था, तब उसने अपनी तलवार से उसकी सूंड को काट डाला और उसके दाँतो को उखाडने की इच्छा से मूसल के समान मोटे उसी के दाँतो पर स्वय बैठ गया॥३८॥

कोई पैदल सैनिक शत्रु की सेना मे प्रविष्ट हो गया और अपनी तलवार से एक हाथी के दोनो दाँतो को जड तक काटकर तुरन्त निकल आया अर्थात् अपनी सेना मे वापस आ गया॥३९॥

क्रोध से भरे हुए हाथी की सूंड मे अच्छी तरह लपेट लिए जाने पर भी कोई वीर अपनी तलवार से उस हाथी के प्राणो का हरण करके स्वयं सुरक्षित बचा रहा॥४०॥

तुरंगी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वक्षसि।
पतन्तस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥४१॥
द्विषा प्रासहृतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः।
हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत् ॥४२॥
तुरंगसादिनं शस्त्रहृतप्राणं मृतं भुवि।
अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ॥४३॥
भल्लेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः।
नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ॥४४॥
मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुषा।
शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ॥४५॥
रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः।
क्षतकार्मुकसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ॥४६॥
न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम्।
प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधि लोभनः ॥४७॥
अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्गतप्राणौ दिवं गतौ।
एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥४८॥

एक घुड़सवार सैनिक दूसरे की छाती में भाला मारकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़े से गिरते हुए सैनिक ने उछलकर उसके हृदय में अपना भाला चलाया तो उसे यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि मुझे भी चोट लगी है॥४१॥

शत्रुओं को मारने के लिए एक विशाल भाला उठाकर घोड़े की पीठ पर जमकर बैठा हुआ सैनिक शत्रु के भाले द्वारा मारे जाने पर भी पृथ्वी पर घूमते हुए ऐसा दिखाई पड़ रहा था जैसे वह अभी जीवित हो॥४२॥

शस्त्र की चोट से मरे हुए अपने घुड़सवार के पृथ्वी पर गिर जाने पर उसका श्रेष्ठ घोड़ा बिना बाँधे हुए ही अपने आँसू भरे नेत्रों से वहीं खड़ा रहा, उसे छोड़ कर नहीं गया॥४३॥

शत्रु के तीक्ष्ण भाले का आघात सहनकर एक घुड़सवार सैनिक लड़खड़ाता हुआ भी क्रोध के मारे मूर्च्छित नहीं हो रहा था और चाहता था कि शत्रु यदि मिल जाय तो उसे अभी मौत के घाट उतार दूं॥४४॥

दो अश्वारोही सैनिक आपस में एक दूसरे के भाले की चोट खाकर भूमि में गिरकर भी क्रोध के कारण एक दूसरे का बाल पकड़ कर गुत्थमगुत्था कर रहे थे और छुरी से लड़ रहे थे॥४५॥

रथारोही सैनिकों द्वारा बाणों से मारे गए रथारूढ सैनिक अपने दृढ़ आसनों पर बैठे हुए और अपने टूटे-फूटे धनुष को खींचे हुए जीवित के समान प्रतीत होते थे॥४६॥

एक रथारूढ सैनिक ने अपने प्रतिद्वन्द्वी रथारोही के मूर्च्छित हो जाने पर उस पर प्रहार नहीं किया और रणभूमि में यह प्रतीक्षा करता रहा कि वह होश में आ जाय तो उससे युद्ध किया जाय॥४७॥

दो रथारोही एवं श्रेष्ठ शस्त्रधारी वीर एक दूसरे को मारकर जब स्वर्गलोक में पहुँचे तब वे दोनों वहाँ पर एक अप्सरा को प्राप्त करने के लिए फिर आपस में भिड़ गए॥४८॥

मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा।
खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम् ॥४९॥
रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथंचिन्ननृतुर्धृतायुधाः।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥५०॥
इति सुरारिपूर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययोः
रुधिरसरितां मज्जद्दन्तिव्रजेपुतटेष्वलम्।
अरुणनयनः क्रोधाद्भीमभ्रमद्भ्रुकुटीमुखः
सपदि ककुभामीशानभ्यामगत्स युयुत्सया ॥५१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसंग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

अपने-अपने अर्द्धचन्द्राकार बाणों से एक दूसरे का मस्तक काटकर दो रथारोही सैनिक स्वर्गलोक में पहुँच गए और वहाँ से वे अपने उन धड़ों को देखते रहे, जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिए हुए रणभूमि में नाच रहे थे ॥४९॥

उस रणभूमि में यत्र-तत्र नगाड़े बज रहे थे और भूतों पिशाचों की स्त्रियाँ गाना गा रही थीं। रक्त से सने कीचड़ से इतनी फिसलन हो रही थी कि बाण लिए हुए वीरों के धड़ बड़ी कठिनाई से नृत्य कर पा रहे थे ॥५०॥

इस प्रकार जब देवताओं और असुरों का युद्ध आरम्भ हो गया और रक्त की नदी के तट पर ही हाथियों के समूह डूबने लग गए तब लाल-लाल आँखें किए हुए और क्रोध से भौंह टेढ़ी किए हुए असुरराज तारक युद्ध की अभिलाषा से दिग्पालों के सामने आकर खड़ा हो गया ॥५१॥

*महाकवि श्रीकालिदासकृत कुमारसम्भव महाकाव्य में सुरासुर सेना संग्राम नामक सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥१६॥*

# सप्तदशः सर्गः

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्संग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा बाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य ॥१॥

देवद्विषो परिवृढो विकटं विहस्य बाणावलीभिरमरान्विकटान्ववर्ष ।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥२॥

जम्भद्विषत्प्रभृतिविश्वपतिचापमुक्ता बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान् ।
अह्नाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगान्सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥३॥

तान्प्रज्वलत्फलमुखैर्विषमैः सुरारिनामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।
आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशरान्शरौघैः ॥४॥

दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषभीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः ।
ते प्रापुरुद्भटभुजंगमभीमभावं गाढं बबन्धुरपि तांस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥५॥

# सत्रहवाँ सर्ग

इस प्रकार दैत्यपति तारकासुर को, जो युद्ध की क्रीडा के लिए अतीव आनन्द के साथ उत्सुक था, और जिसने अपने बाणों से पाटकर दिशाओं को अन्धकार से भर दिया था, युद्धार्थ अपने सम्मुख उपस्थित देखकर समस्त दिक्पालगण रणोन्मत्त होकर एक स्थान पर जुट गए ॥१॥

जिस प्रकार वर्षा काल में काले बादल निरन्तर जल बरसा कर पर्वतों को नीचे से ऊपर तक जल से भिगो देते हैं, उसी प्रकार देवताओं का वह शत्रु तारकासुर बड़ी विकट हँसी हँसता हुआ देवताओं पर भयंकर रूप से धुआंधार बाण वृष्टि करने लगा ॥२॥

तब इन्द्र आदि दिक्पालों द्वारा जो तीक्ष्ण बाण धनुष से छोड़े गए थे उन्होंने रणभूमि में चुन चुनकर दनुजनायक तारकासुर के बाणों को उसी तरह तुरन्त तिलतिल करके काट डाला, जैसे गरुड़ों के समूह सर्पों के दल को काट डालते हैं ॥३॥

देवताओं ने तारकासुर पर जो बाण चलाए, उन्हें उसने अपने नाम खुदे हुए अग्नि-समान जलते हुए तीखे फलवाले और समस्त दिशाओं एवं आकाश को पाट देने वाले बाणों से उसी प्रकार छिन्न भिन्न कर डाला जैसे अग्नि अपने ऊपर छाए हुए घास-फूस के परदे को जला डालती है ॥४॥

अतीव क्रोध के कारण विशेष भयंकर दैत्यपति तारकासुर ने उस युद्ध में कोई चिन्ता न कर जो बाण छोड़े वे तुरन्त बड़े-बड़े सर्पों की भाँति भयंकर बनकर उन इन्द्र प्रभृति देवताओं के गले में कसकर लिपट गए ॥५॥

ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य।
दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारिसूनोः समीपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥६॥
दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तितु खालु।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥७॥
उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः।
बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥८॥
मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय कर्त्त
तत्स्यन्दनं सपदि बाहय शंभुसूनुं द्रष्ट
तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसंप्रणुन्नः
चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपंक विलुप्तचक्रः ॥१०॥
दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलद्गिरीन्द्रकल्पं दलद्बलविरावविशेषरौद्रम्।
अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम् ॥११॥
प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं शंभोः सुतं कलहकेलिकुतूहलीकम्।
उद्दामदोःकलितकार्मुकदण्डचण्डः प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम् ॥१२॥

उन नागपाशवाले बाणो से अपने गले के बंधजाने के कारण देवताओ की साँस रुक गई और उनके मुख व्याकुलता से भर गए। फिर तो रणभूमि से पराङमुख होकर वे इन्द्रादि दिक्पालगण इस विपत्ति से छुटकारा पाने के लिए मन्मथ शत्रु महादेव जी के पुत्र कुमार कार्तिकेय के समीप पहुँचे ॥६॥

कुमार ने उनकी ओर ज्यों ही दृष्टिपात किया कि त्यों ही इन्द्रादि देवताओ के गलो मे कसे हुए वे नाग-पाश के फन्दे अपने आप खुल गए और तब वे देवता लोग महान विजयाभिलाषी कुमार कार्तिकेय के समीप जा-जाकर उनकी प्रशसा करने लगे ॥७॥

यह देखकर इन्द्र के शत्रु तारकासुर की क्रोधाग्नि और भी भडक उठी और उस भयानक भुजावाले ने तुरन्त ही अपने सारथी से कहा—मैंने जिन इन्द्रादि प्रमुख देवताओ को अपने नागपाश मे बलपूर्वक बाँध दिया था, वे सब धूर्जटि शकर के इस पुत्र कुमार कार्तिकेय के देखने मात्र से छूट गए, इसलिए अब इन सब देवताओ को छोडकर मैं पहले इसी को गृद्ध शृगाल आदि की भेंट करता हूँ। अत तुम झटपट रथ आगे बढाकर उस शकर के पुत्र के समीप पहुँचा दो जिससे मैं देखूँ तो कि मुझसे युद्ध करने के लिए उसकी भुजाओ मे कितना बल है जो वह इस प्रकार घमण्ड मे डूबा हुआ है ॥८–९॥

सारथी ने रथ को जब आगे बढाया तब प्रलय के बादलो के समान गभीर ध्वनि करता हुआ वह रथ भयकर वेग से आगे बढा। उसके चक्के शत्रुओ की सम्पूर्ण सेना का दलन करते हुए उनके माँस, हड्डी और रक्त के कीचड़ मे विलुप्त से हो गए थे ॥१०॥

प्रलय काल के तूफान मे उडते हुए महान् पर्वत के समान देवताओ के शत्रु तारकासुर के उस रथ को, जिसके चलने से दबी हुई सेना के सैनिको मे भयकर हाहाकार मच गया था, सामने उपस्थित देखकर देवताओ की सेना भयसे काँपने लगी और उसमे बडी खलबली मच गई ॥११॥

इस प्रकार दिक्पालो एव देवताओ की सेना को अत्यन्त आतकित देखकर अपनी भीषण भुजाओं मे धनुष का दण्ड धारण कर वह तारकासुर युद्ध रूपी क्रीडा के लिए अतीव उत्सुक कुमार कार्तिकेय के समीप पहुँचकर बोला—॥१२॥

रे शंभुतापसशिशो बत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः ॥१३॥
एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मे ।
संग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्यास्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥१४॥
सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र जम्भद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षभावम् ।
एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाह्ये पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥१५॥
इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य कम्प्राधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
क्षोभात्त्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥१६॥
दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वात्तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किं तु ।
द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ॥१७॥
इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं दैत्यः क्रुधोष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
युद्धायमुद्भटभुजाबलदर्पितोऽसि बाणान्सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान् ॥१८॥
दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्विशिखान्न्यधत्त ।
स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे ॥१९॥

हे तपस्वी शंकर के पुत्र! तुम अपनी भुजाओं के बल पर ऐसा गर्व मत करो। और इन्द्र के इस कार्य से अपने को अलग कर लो। तुम्हीं बताओ कहाँ ये तुम्हारी छोटी-छोटी मचरानी भुजाएँ और कहाँ ये भीषण शस्त्रास्त्र। ये तुम्हारे हाथों में सचमुच नहीं जँचते ये तो उनके लिए अनुचित भारस्वरूप हैं। ॥१३॥

तुम पार्वती और शंकर के एकलौते बेटे हो, फिर मेरे तीक्ष्णबाणों से बिधकर क्यों काल के गाल में जाना चाहते हो। जाओ। यहाँ से भागकर अपने प्राणों की रक्षा करो और अपनी माता तथा पिता की गोद में शीघ्र ही छिप जाओ॥१४॥

हे गिरीश के पुत्र! तुम स्वयं अपना भला-बुरा भलीभाँति सोचकर इस इन्द्र का साथ छोड़कर अलग हो जाओ, क्योंकि जब मैं इस पर बाण वृष्टि करूँगा तब पत्थर की नाव के समान यह तो अपने आप गहरे जल में डूबेगा ही किन्तु साथ ही तुम्हें भी ले डूबेगा॥१५॥

तारकासुर की बातें सुन कार्तिकेय के ओठ काँपने लगे और खिले हुए लाल कमल के समान भीषण लाल आँखें क्रोध से नाच उठीं। और अतीव क्रोध से अपने धनुष की ओर देखते हुए अपने बल को भलीभाँति समझकर उन्होंने तारकासुर को उचित उत्तर दिया॥१६॥

हे दैत्यपति! गर्व में भरकर तुमने जो कुछ कहा है, वह सब तो तुम्हारे लिए उचित ही है। किन्तु आज मैं भी तुम्हारा श्रेष्ठ बाहुबल देखूँगा। इसलिए तुम उठा लो अपने शस्त्र को और चढ़ा लो अपने धनुष की डोरी॥१७॥

इस प्रकार की बातें करते हुए त्रिपुरारि शंकर के पुत्र कुमार कार्तिकेय से उस तारकासुर ने अत्यन्त क्रोध से अपने अधर को चबाते हुए कहा—यदि तुमको युद्ध के लिए अपनी इन प्रचण्ड भुजाओं का इतना बड़ा घमण्ड है तो आओ और शत्रु की पीठ को नम्री बना देनेवाले मेरे बाणों को तनिक सहन करो॥१८॥

तारकासुर के ऐसा कहने पर कुमार कार्तिकेय ने क्रोध से पागल भयानक अजगर नाग के समान अपने प्रचण्ड धनुष पर अपना जीतनेवाला बाण चढ़ाने का उपक्रम अभी किया ही था कि इसी बीच तारकासुर ने अपने डोरी चढ़ाए हुए धनुष पर ऐसे तीक्ष्ण बाण चढ़ाये कि जिनकी ओर शत्रुओं को देखने का भी साहस नहीं होता था॥१९॥

कर्णान्तमेत्य वितिजेन विकृष्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरौघान्।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषककुभां पलितं करिष्णून् ॥२०॥
बाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तैर्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशसूनुः क्षणोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥२१॥
देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम्।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सृजेत्रास्तैःसायका बिभिदिरे सहसा सुरारेः ॥२२॥
रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ।
देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥२३॥
तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयांचकार ॥२४॥
अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य व्यर्थां समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे।
जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥२५॥
संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः।
उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥

तब दैत्यपति तारकासुर कान के समीप तक खीचे हुए अपने धनुष पर अपनी चमक की किरणो के अकुरो से आकाशमण्डल को लीपनेवाले एव अपनी जगमगाहट से सम्पूर्ण दिशाओं को श्वेत बना देनेवाले बाणो के समूह छोडने लगा ॥२०॥

उसके धनुष से छूटे हुए चमकनेवाले अगणित बाणोकी भयकर सनसनाहट को देख और सुनकर समस्त सैनिक काँप उठे, सभी देवताओं के आगे अँधेरा छा गया और स्वय कुमार कार्तिकेय को भी थोडी देर के लिए कुछ भी नही दिखाई पडा ॥२१॥

मन्मथ के शत्रु महादेव के पुत्र कुमार कार्तिकेय ने पूरे बल के साथ अपने धनुष की प्रत्यचा को कान के समीप तक खीच कर अपने अतीव तीक्ष्ण तथा विजय देने वाले बाणो को बरसाकर तारकासुर के उन बाणो को सहसा छिन्न भिन्न कर दिया ॥२२॥

इस प्रकार दैत्यपति तारकासुर के सम्पूर्ण देवताओ को दु खित करनेवाली बाणो की घटा के फट जाने पर शकर के पुत्र कुमार कार्तिकेय अपनी अत्यन्त अपार तेजस्विता के कारण सूर्य के समान चमकते हुए सुशोभित होने लगे ॥२३॥

तब इस प्रकार कुमार कार्तिकेय के तेज को अत्यन्त बढा हुआ देखकर बलवान एव मायावी देव-शत्रु तारकासुर ने, जो छल विद्या द्वारा युद्ध करने मे बडा निपुण था, तुरन्त रणभूमि में माया का युद्ध आरम्भ कर दिया ॥२४॥

समस्त ससार को जीतकर अत्यन्त पराक्रमशाली बने हुए उस विजयी वीर तारकासुर ने जब यह देख लिया कि कुमार कार्तिकेय के साथ श्रेष्ठ शस्त्रास्त्रो का युद्ध करना व्यर्थ है तो उसने सहसा क्रोध करके एक विकट हँसी हँसी और अपने धनुष पर उसने क्रीडा के साथ वायव्य नामक अस्त्र का सधान किया ॥२५॥

उस अस्त्र का सधान करते ही ऐसे भयकर वेग से हडहडाता हुआ कठिन तूफान चलने लगा कि लोग समझने लगे कि बस अब प्रलयकाल आ गया। उसमे इतनी धूल उडी कि सम्पूर्ण आकाश और दिशाए भर गईं और प्रचण्ड किरणो वाले भास्कर भी विलुप्त-से हो गए ॥२६॥

कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः ॥२७॥
विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलां व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥२८॥
धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलूनपक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥
तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि दोधूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥
हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरंगवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥३१॥
तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः ।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं नि.पेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥३२॥
[illegible] दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥

देवताओं के सैनिकों के जो कुन्द के पुष्पों के समान धवल छत्र थे, उन्हें उस भयंकर तूफान ने ऐसा झकझोर कर उड़ा दिया कि वे धूल से भरे हुए आकाश में उड़ते समय इस प्रकार दिखाई पड़ने लगे कि मानो बादलों से युक्त आकाश में राजहंसों की पंक्तियां उड़ती हुई चली जा रही हों ॥२७॥

उस तूफान ने देवताओं की सेना की समस्त ध्वजाओं और पताकाओं को नूतन खिले हुए नव मल्लिका के पुष्प के समान तोड़ फोड़कर आकाश में उड़ा दिया और वे आकाश में उड़ती हुई उज्ज्वल वस्त्र की पताकाएं ऐसी दिखाई पड़ने लगीं मानो उस तूफान ने आकाश में आकाश गंगा की उछलती हुई सहस्र तरंगों को बिखेर दिया हो ॥२८॥

उस भयंकर तूफान के झोंके में पड़ी हुई देव-सेना के जो बड़े-बड़े हाथी अपनी झूला को कुचलते हुए देखते-देखते लड़खड़ाकर गिरते जा रहे थे वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो इन्द्र के वज्र से पंख काटे जाने पर बहुत से पर्वत पृथ्वी पर लुढ़कते चले आ रहे हों ॥२९॥

उस प्रचण्ड तूफान की लपट में आकर देव-सेना के रथों की पंक्तियों के घोड़े लड़खड़ाकर गिरने लगे, उनके सारथी भी इधर उधर फेंक उठे तथा रथ भी उस युद्ध भूमि में इधर उधर पलटा खाकर गिरने लगे ॥३०॥

देव सेना के अश्वारोही सैनिक इस भयंकर तूफान से पीड़ित होकर इतने घबरा उठे कि वे बिना किसी शस्त्र के आघात के ही अपने उन घोड़ों की पीठ से भूमि पर गिरने लगे, जो तूफान के झोंके में लुढ़कते जा रहे थे ॥३१॥

उस वायव्य अस्त्र के प्रभाव से उत्पन्न तूफान से देव-सेना के पैदल सैनिक वा इतने घबरा उठे कि वे सब अपने शस्त्रास्त्र नीचे डालकर व्याकुल हो-होकर रोने-चिल्लाने लगे और वात्याचक्र (बवण्डर) की भांति घुमनी खाते हुए दूर-दूर तक आकाश में उड़ने के बाद धरती पर गिरने लगे ॥३२॥

इस प्रकार दैत्यराज तारकासुर द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र के प्रभाव के कारण सम्पूर्ण देव-सेना का तहस-नहस होना देखकर स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की राज्यलक्ष्मी की कुशलता के एत-मात्र हेतु उन महान् कुमार कार्तिकेय ने अपना विलक्षण और दिव्य प्रभाव दिखलाया ॥३३॥

कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरौघान्।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषककुभा पलितं करिष्णून् ॥२०॥
बाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तैर्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशसूनुः कृतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥२१॥
देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम्।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सुजैत्रास्तैः सायका बिभिदिरे सहसा सुरारेः ॥२२॥
रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ।
देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥२३॥
तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति घोरतरं कुमारे।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयांचकार ॥२४॥
अह्नाय कोपकलुषो विकट विहस्य व्यर्थी समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे।
जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥२५॥
संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोष।
उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥

तब दैत्यपति तारकासुर कान के समीप तक खींचे हुए अपने धनुष पर अपनी चमक की किरणों के अकुरो से आकाशमण्डल को लीपनेवाले एव अपनी जगमगाहट से सम्पूर्ण दिशाओ को श्वेत बना देनेवाले बाणो के समूह छोडने लगा ॥२०॥

उसके धनुष से छूटे हुए चमकनेवाले अगणित बाणोकी भयकर सनसनाहट को देख और सुनकर समस्त सैनिक कॉप उठे, सभी देवताओ के आगे अँधेरा छा गया और स्वय कुमार कार्तिकेय को भी थोडी देर के लिए कुछ भी नही दिखाई पडा ॥२१॥

मन्मथ के शत्रु महादेव के पुत्र कुमार कार्तिकेय ने पूरे बल के साथ अपने धनुष की प्रत्यचा को कान के समीप तक खीच कर अपने अतीव तीक्ष्ण तथा विजय देने वाले बाणो को बरसाकर तारकासुर के उन बाणो को सहसा छिन्न-भिन्न कर दिया ॥२२॥

इस प्रकार दैत्यपति तारकासुर के सम्पूर्ण देवताओ को दु खित करनेवाली बाणो की घटा के फट जाने पर शकर के पुत्र कुमार कार्तिकेय अपनी अत्यन्त अपार तेजस्विता के कारण सूर्य के समान चमकते हुए सुशोभित होने लगे ॥२३॥

तब इस प्रकार कुमार कार्तिकेय के तेज को अत्यन्त बढा हुआ देखकर बलवान एव मायावी देव शत्रु तारकासुर ने, जो छल विद्या द्वारा युद्ध करने मे बडा निपुण था, तुरन्त रणभूमि मे माया का युद्ध आरम्भ कर दिया ॥२४॥

[illegible]

के साथ वायव्य नामक अस्त्र का सधान किया ॥२५॥

उस अस्त्र का सधान करते ही ऐसे भयकर वेग स हडहडाता हुआ कठिन तूफान चलने लगा कि लोग समझने लगे कि बस अब प्रलयकाल आ गया। उसम इतनी धूल उडी कि सम्पूर्ण आकाश और दिशाए भर गई और प्रचण्ड किरणो वाले भास्कर भी विलुप्त-से हो गए ॥२६॥

कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम्।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः ॥२७॥
विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलोलां व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥२८॥
धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलूनपक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥
तास्ताः स्तरेण मरुता रथराजयोऽपि दोधूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥
हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरंगवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥३१॥
तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं निपेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥३२॥
इत्थं विलोड्य सुरसैन्यमयो अशेषं दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात्।
स्वर्लोकनायकमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥

देवताओं के सैनिकों के जो कुन्द के पुष्पों के समान धवल छत्र थे, उन्हें उस भयङ्कर तूफान ने ऐसा झकझोर कर उड़ा दिया कि वे धूल से भरे हुए आकाश में उड़ते समय इस प्रकार दिखाई पड़ने लगे कि मानो बादलों से युक्त आकाश में राजहंसों की पंक्तियां उड़ती हुई चली जा रही हों ॥२७॥

उस तूफान ने देवताओं की सेना की समस्त ध्वजाओं और पताकाओं को नूतन खिले हुए नव मल्लिका के पुष्प के समान तोड़ फोड़कर आकाश में उड़ा दिया और वे आकाश में उड़ती हुई उज्ज्वल वस्त्र की पताकाएं ऐसी दिखाई पड़ने लगीं मानो उस तूफान ने आकाश में आकाश गंगा की उछलती हुई सहस्र तरंगों को बिखेर दिया हो ॥२८॥

उस भयङ्कर तूफान के झोंके में पड़ी हुई देव-सेना के जो बड़े-बड़े हाथी अपनी झूलों को कुचलते हुए देखते-देखते लड़खड़ाकर गिरते जा रहे थे वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो इन्द्र के वज्र से पंख काटे जाने पर बहुत से पर्वत पृथ्वी पर लुढ़कते चले आ रहे हों ॥२९॥

उस प्रचण्ड तूफान की लपट में आकर देव-सेना के रथों की पंक्तियों के घोड़े लड़खड़ाकर गिरने लगे, उनके सारथी भी इधर उधर फेंक उठे तथा रथ भी उस युद्ध भूमि में इधर उधर पल्टा खाकर गिरने लगे ॥३०॥

देव सेना के अश्वारोही सैनिक इस भयङ्कर तूफान से पीड़ित होकर इतने घबरा उठे कि वे बिना किसी शस्त्र के आघात के ही अपने उन घोड़ों की पीठ से भूमि पर गिरने लगे, जो तूफान के झोंके में लुढ़कते जा रहे थे ॥३१॥

उस वायव्य अस्त्र के प्रभाव से उत्पन्न तूफान से देव-सेना के पैदल सैनिक तो इतने घबरा उठे कि वे सब अपने शस्त्रास्त्र नीचे डालकर व्याकुल हो-होकर रोने-चिल्लाने लगे और वात्याचक्र (बवण्डर) की भांति घुमनी खाते हुए दूर-दूर तक आकाश में उड़ने के बाद धरती पर गिरने लगे ॥३२॥

इस प्रकार दैत्यराज तारकासुर द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र के प्रभाव के कारण सम्पूर्ण देव-सेना को तहस-नहस होते देखकर स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की राज्यलक्ष्मी की कुशलता के एकमात्र हेतु उन महान कुमार कार्तिकेय ने अपना विस्तार और दिव्य प्रभाव दिखलाया ॥३३॥

तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम्।
सहसा सुरारिः ॥३४॥
रितदिशो घनधूमसंघाः।
मखिलं न हि सन्नयन्तः ॥३५॥
यलमलं घनवृन्दसान्द्रैः।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीषुरुच्चैः ॥३६॥
जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालवहनप्रतिमः समन्तात्।
आशामुखानि विमलान्यखिलानि कीलाजालैरलंकपिलयन्सकलं नभोऽपि ॥३७॥
उज्जागरस्य वहनस्य निरर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः।
कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसंघैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः ॥३८॥
गाढाद्भयाद्विपति विद्रुतलेचरेण दीप्तेन तेन वहनेन सुदुःसहेन।
वन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥३९॥
इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य।
सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनुर्बाणासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम् ॥४०॥

कुमार के प्रभाव से देव-सेना पर छाया हुआ वह तूफान बिल्कुल दूर हो गया और सम्पूर्ण सेना फिर स्वस्थ हो गई और नई-सी होकर युद्ध करने लगी। यह सब दृश्य देखकर उस देव-शत्रु तारकासुर की क्रोधाग्नि और भी भभक उठी और उसने तुरन्त अपने सिद्ध आग्नेयास्त्र का देवसेना पर प्रयोग किया ॥३४॥

उस आग्नेय अस्त्र का प्रयोग करते ही वर्षाऋतु के काले-काले मेघो के समान एव नीले कमलो के झुण्ड के समान काला काला धुआ सब ओर ऐसा फैल गया कि सभी दिशाए अन्धकार से भर सी गई और वही पर कुछ सुझाई ही नही पडने लगा ॥३५॥

जब उस अत्यन्त काले बादलो के समान सघन धुएं से सम्पूर्ण आकाशमण्डल व्याप्त हो गया तो राजहसो को यह भ्रम हुआ कि वर्षा ऋतु आ गई है और वे प्रसन्न होकर सुन्दर मानसरोवर की ओर चलने की तैयारी मे लग गए ॥३६॥

इसी बीच देव सैनिको के बीच मे प्रलय काल की अग्नि के समान ऐसी भीषण अग्नि जल उठी कि उसकी ज्वालाओ के समूह से सम्पूर्ण निर्मल दिशाओ को भूरे रग की बनाते हुए निर्मल आकाश भी सम्पूर्ण रीति से भूरे रग का हो गया ॥३७॥

बिना किसी अवरोध के निरन्तर धधक-धधक कर जलने वाली उस अग्नि की भीषण लपटो से ऊपर फैले हुए काले-काले धुएं के बादलो से व्याप्त आकाश मण्डल ऐसा दिखाई पडने लगा मानो आकाश मे बडे-बडे काले बादल छाए हुए हो और उनके बीच मे बिजलियो की पक्तिया चमक रही हो ॥३८॥

अत्यन्त भय के कारण रवि आदि ग्रहोको आकाश तक खदेड देनेवाली सर्वत्र फैली हुई उस असहनीय एव धधकती हुई अग्नि से सम्पूर्ण देवताओ की सेना जब अत्यन्त जलने लगी तब नितान्त विह्वल होकर शिवजी के पुत्र के समीप पहुँची ॥३९॥

इस प्रकार उस अत्यन्त भयकर अग्नि से झुलसती हुई सम्पूर्ण देव-सेना को विह्वल देखकर अन्धकासुर के शत्रु महादेव जी के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय ने, जिनका मुख-कमल मुस्करा रहा था, अपने धनुष पर वारुणास्त्र का सधान किया ॥४०॥

घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते।
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम ॥४१॥
विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा।
घोरा युगान्तचलितस्य भयंकरस्य कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥४२॥
कादम्बिनी विरुरुचे विपकष्टिकाभिरुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः।
व्योम्न्युच्चकैश्चिररुक्परिदीपिताशा दृष्टिच्छदाविषमघोषविभीषणाच ॥४३॥
व्योम्नस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभिर्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहः ॥४४॥
घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम्।
वृष्ट्या तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां विश्वोदरंभरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥४५॥
दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥४६॥
देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिकं विषयसंघममोघवीर्यम् ॥४७॥

उस वारुणास्त्र का प्रयोग करते ही घोर अन्धकार के पुंज की भांति प्रलयकाल की अग्नि के प्रचण्ड धुएँ के समान मेघों के समूह अपनी गर्जना से पर्वतों के शिखरों को भी दरकाते हुए आकाश में बड़ी सघनता के साथ छा गए ॥४१॥

इन मेघ समूहों में से बड़ी भयानक घरघराहट के साथ सम्पूर्ण दिशाओं को पीली करते हुए बिजलियाँ चमकने लगीं। उस समय वे ऐसी भीषण लगती थीं मानो प्रलयकाल में काल की लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो ॥४२॥

अपनी बिजली की चमक से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली भयंकर गर्जन से भरी, दृष्टिपथ को आवृत करनेवाली, अतीव भयानक काल रात्रि (प्रलय) के बादलों के समान घोर काली और भीतर जल से भरी हुई ये काले मेघों की घटाएँ ऊपर आकाश में सुशोभित होने लगीं ॥४३॥

आकाश में तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र छाई हुई, निरन्तर गर्जन करती हुई शत्रु के हृदय को दहला देनेवाली ये मेघों की घटाएँ चारों ओर मूसलाधार जल की वृष्टि करने लगीं ॥४४॥

घोर अन्धकार के परदे से आकाश को आच्छादित किए हुए, गंभीर गर्जन से असुरों को आतंकित करनेवाले उस वारुणास्त्र से उत्पन्न मेघों की वृष्टि से सम्पूर्ण विश्व भर गया और वह तारकासुर के आग्नेयास्त्र से फैली हुई अग्नि शान्त हो गई ॥४५॥

तब उस दैत्य तारकासुर को अत्यन्त क्रोध हुआ और उसने भी अत्यन्त तीखे तथा कान तक खींचे गए धनुष पर रखे गए भयंकर क्षुरप्र नामक बाणों से मकरध्वज (कामदेव) के शत्रु महादेव जी के पुत्र उस कुमार कार्तिकेय पर बड़ा गहरा एवं भयंकर प्रहार किया, जिससे देवताओं की सम्पूर्ण सेना भयभीत होकर रणभूमि से भागने लगी ॥४६॥

तब रण में क्रीड़ा करनेवाले कुमार कार्तिकेय ने भी दैत्य के उस बाण समूह को तथा उसके धनुष को अपने बाणों से काटकर इस प्रकार से चूर-चूर कर दिया जिस प्रकार से योगी लोग यम-नियमादि की साधना कर अपने चित्त की सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाएँ काट फेंकते हैं ॥४७॥

तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम्।
दृष्ट्वासृजद्दहनदैवतमस्त्रमिद्धमुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः॥३४॥
वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंघाः।
सद्यः प्रसस्रुरसितोत्पलदामभासो दृग्गोचरस्वमखिलं न हि सन्नयन्तः॥३५॥
दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभिर्लिप्तं नभःस्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीषुरुच्चैः॥३६॥
जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात्।
आशामुखानि विमलान्यखिलानि कीलाजालैरलंकपिलयन्सकलं नभोऽपि॥३७॥
उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः।
कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसंघैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः॥३८॥
गाढाद्भयाद्वियति विद्रुतखेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन।
दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप॥३९॥
इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्दैवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य।
सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनुर्बाणासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम्॥४०॥

कुमार के प्रभाव से देव-सेना पर छाया हुआ वह तूफान बिलकुल दूर हो गया और सम्पूर्ण सेना फिर स्वस्थ हो गई और नई-सी होकर युद्ध करने लगी। यह सब दृश्य देखकर उस देव-शत्रु तारकासुर की क्रोधाग्नि और भी भभक उठी और उसने तुरन्त अपने सिद्ध आग्नेयास्त्र का देवसेना पर प्रयोग किया॥३४॥

उस आग्नेय अस्त्र का प्रयोग करते ही वर्षाऋतु के काले-काले मेघो के समान एव नीले कमलो के झुण्ड के समान काला काला धुआ सब ओर ऐसा फैल गया कि सभी दिशाए अन्धकार से भर सी गई और कही पर कुछ सुझाई ही नहीं पडने लगा॥३५॥

जब उस अत्यन्त काले बादलो के समान सघन धुएं से सम्पूर्ण आकाशमण्डल व्याप्त हो गया तो राजहसो को यह भ्रम हुआ कि वर्षा ऋतु आ गई है और वे प्रसन्न होकर सुन्दर मानसरोवर की ओर चलने की तैयारी मे लग गए॥३६॥

इसी बीच देव सैनिको के बीच मे प्रलय काल की अग्नि के समान ऐसी भीषण अग्नि जल उठी कि उसकी ज्वालाओ के समूह से सम्पूर्ण निर्मल दिशाओ को भूरे रग की बनाते हुए निर्मल आकाश भी सम्पूर्ण रीति से भूरे रग का हो गया॥३७॥

बिना किसी अवरोध के निरन्तर धधक-धधक कर जलने वाली उस अग्नि की भीषण लपटो से ऊपर फैले हुए काले-काले धुएं के बादलो से व्याप्त आकाश मण्डल ऐसा दिखाई पडने लगा मानो आकाश मे बडे-बडे काले बादल छाए हुए हो और उनके बीच मे बिजलियो की पक्तियां चमक रही हो॥३८॥

अत्यन्त भय के कारण रवि आदि ग्रहोंको आकाश तक खदेड देनेवाली सर्वत्र फैली हुई उस असहनीय एव धधकती हुई अग्नि से सम्पूर्ण देवताओं की सेना जब अत्यन्त जलने लगी तब नितान्त विह्वल होकर शिवजी के पुत्र के समीप पहुँची॥३९॥

इस प्रकार उस अत्यन्त भयकर अग्नि से झुलसती हुई सम्पूर्ण देव-सेना को विह्वल देखकर अन्धकासुर के शत्रु महादेव जी के पुत्र कुमार कार्त्तिकेय ने, जिनका मुख-कमल मुस्करा रहा था, अपने धनुष पर वारुणास्त्र का सधान किया॥४०॥

घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते।
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम ॥४१॥
विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा।
घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराय कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥४२॥
कादम्बिनी विरुरुचे विपकण्टिकाभिरुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः।
व्योम्न्युच्चकैरचिररुक्परिदीपिताशा वृष्टिच्छदाविषमघोषविभीषणा च ॥४३॥
व्योमस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभिर्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहः ॥४४॥
घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम्।
वृष्ट्या तथा जलमुचां वरुणास्त्रजानां विश्वोदरंभरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥४५॥
दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमः।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥४६॥
देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिकं विषयसंघममोघवीर्यम् ॥४७॥

उस वारुणास्त्र का प्रयोग करते ही घोर अन्धकार के पुंज की भाँति प्रलयकाल की अग्नि के प्रचण्ड धुएँ के समान मेघों के समूह अपनी गर्जना से पर्वतों के शिखरों को भी दरकाते हुए आकाश में बड़ी सघनता के साथ छा गए ॥४१॥

इन मेघ समूहों में से बड़ी भयानक घरघराहट के साथ सम्पूर्ण दिशाओं को पीली करते हुए बिजलियाँ चमकने लगीं। उस समय वे ऐसी भीषण लगती थीं मानो प्रलयकाल में काल की लपलपाती हुई भयंकर जीभ हो ॥४२॥

अपनी बिजली की चमक से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली भयंकर गर्जन से भरी, दृष्टिपथ को आवृत करनेवाली, अतीव भयानक काल रात्रि (प्रलय) के बादलों के समान घोर काली और भीतर जल से भरी हुई वे काले मेघों की घटाएँ ऊपर आकाश में सुशोभित होने लगीं ॥४३॥

आकाश में तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र छाई हुई, निरन्तर गर्जन करती हुई शत्रु के हृदय को दहला देनेवाली वे मेघों की घटाएँ धारा और मूसलाधार जल की वृष्टि करने लगीं ॥४४॥

घोर अन्धकार के परदे से आकाश को आच्छादित किए हुए, गंभीर गर्जन से असुरों को आतंकित करनेवाली उस वारुणास्त्र से उत्पन्न मेघों की वृष्टि से सम्पूर्ण विश्व भर गया और वह तारकासुर के आग्नेयास्त्र से फैली हुई अग्नि शान्त हो गई ॥४५॥

तब उस दैत्य तारकासुर को अत्यन्त क्रोध हुआ और उसने भी अत्यन्त तीखे तथा कान तक खींचे गए धनुष पर रखे गए भयंकर क्षुरप्र नामक बाणों से मकरध्वज (कामदेव) के शत्रु महादेव जी के पुत्र उस कुमार कार्तिकेय पर बड़ा गहरा एवं भयंकर प्रहार किया, जिससे देवताओं की सम्पूर्ण सेना भयभीत होकर रणभूमि से भागने लगी ॥४६॥

तब रण में क्रीड़ा करनेवाले कुमार कार्तिकेय ने भी दैत्य के उस बाण समूह को तथा उसके धनुष को अपने बाणों से काटकर इस प्रकार से चूर-चूर कर दिया जिस प्रकार से योगी लोग यम-नियमादि की साधना कर अपने चित्त की सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाएँ काट फेंकते हैं ॥४७॥

भ्रूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती संदीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय।
क्ष्वेडाकरालकरवालकरोऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम् ॥४८॥
अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो दुर्वारबाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम्।
दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः ॥४९॥
उद्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य।
हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥५०॥
शक्त्या हृतासुमसुरेश्वरमापतन्तं कल्पान्तवातहतभिन्नमिवाद्रिशृङ्गम्।
दृष्ट्वा प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगमंस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः ॥५१॥
यत्रापतत्स दनुजाधिपतिः परासुः संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः।
तत्राचलात्फणिपतिर्धरणीं फणाभिस्तद्भूरिभारविधुराभिरथो यजन्तीम् ॥५२॥
स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना।
कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः शंभोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५३॥
पुलकभरविभिन्नवारवाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः।
सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसंपदोऽभ्यनन्दन् ॥५४॥

इतिविषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाजौ त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

इस प्रकार कामदेव के शत्रु शंकर जी के विजयी-पुत्र कुमार कार्तिकेय द्वारा रणभूमि में उस त्रिभुवन के कण्टक स्वरूप दानवराज तारकासुर का समूल विनाश हो जाने पर वलरिपु इन्द्र पुनः स्वर्ग के स्वामी बन गए और उन्हें (अपने में से सर्वश्रेष्ठ समझकर) सम्पूर्ण देवताओं ने अपने मुकुट की मणियों को चरणों में रखकर (साष्टांग) प्रणाम किया ॥५५॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत कुमारसम्भव महाकाव्य में
तारकासुर वध नामक सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१७॥
कुमारसम्भव महाकाव्य समाप्त

— o :—

# मेघदूतम्

## पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥

## मेघदूत का पूर्वार्द्ध

कोई यक्ष था, जो अपने ऊपर सौंपे गए कार्य में असावधान हुआ। इस पर उसके स्वामी ने उसे शाप दे दिया कि एक वर्ष भर तक अपनी पत्नी का भारी विरह सहन करो। इस शाप से उसकी महिमा (सामर्थ्य) नष्ट हो गई। उसने रामगिरि के आश्रमों में अपनी बस्ती बनाई, जहां सघन छायादार वृक्ष थे और जहां जनकतनया सीता के स्नाना द्वारा पवित्र हुए जल-कुण्ड भरे-पूरे थे॥१॥

स्त्री के भारी वियोग में दुःखित उस कामुक यक्ष ने उस पर्वत पर कई मास बिता दिए। (वह इतना दुर्बल हो गया कि) उसकी कलाई उसके सुवर्ण के बने कंगन के खिसक जाने के कारण सूनी दीखने लगी। आषाढ़ महीने (शुक्लपक्ष) के प्रथम दिन उस पर्वत की चोटी पर झुके हुए मेघ को उसने देखा तो ऐसा सुन्दर प्रतीत हुआ मानो वप्रक्रीडा (मस्तक अथवा दांत से टक्कर मारकर मिट्टी का ढूहा गिराने के प्रयत्न में) मग्न कोई हाथी हो॥२॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥३॥

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥४॥

धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥५॥

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥६॥

राजाधिराज कुबेर का वह अनुचर काम-अभिलाषा जगानेवाले उस मेघ के सामने, आँसुओं को अपने भीतर रोके हुए, किसी न किसी तरह ठहर कर देर तक सोचता रहा। मेघ को अपने सामने देखकर सम्भोग की समस्त सामग्रियों से युक्त प्रिया के पास में रहनेवाले सुखी जनों का चित्त भी कुछ और ही तरह का हो जाता है, तब (प्रिया के) कण्ठालिंगन के लिए तरसनेवाले दूरस्थ विरहीजनों का तो कहना ही क्या?॥३॥

आषाढ महीना बीतने के बाद श्रावण के समीप आजाने पर अपनी प्रियतमा के प्राणों को अवलंब देने की अभिलाषा से उसने मेघ द्वारा अपना कुशल समाचार भेजने की इच्छा की। अतएव उसने तुरन्त ताजे खिले हुए कुटज के पुष्पों का अर्घ्य देकर गद्गद कण्ठ हो प्रीतिभरी वाणी से उसका स्वागत-समादर किया॥४॥

धुआं, धूप, जल और पवन के संघात (संयोग) से उत्पन्न मेघ कहाँ, और कहाँ (प्रियतमा के पास भेजे जानेवाले) संदेश की बातें, जिन्हें कुशल इन्द्रियों वाले प्राणी ही पहुँचा सकते हैं? अत्यन्त उत्कण्ठा वश इस ओर ध्यान न देते हुए उस यक्ष ने मेघ से ही याचना की। ठीक है, जो काम के सताए हुए होते हैं, वे जैसे चेतन प्राणी के समीप वैसे ही अचेतन के समीप भी, स्वभाव से ही (विवेक) हीन हो जाते हैं॥५॥

(हे मेघ!) तुम्हारा जन्म पुष्कर और आवर्तक नामवाले मेघों के लोक विख्यात कुल में हुआ है। और तुम्हें मैं इन्द्र का स्वेच्छा से अपने रूप को धारण करनेवाला मुख्य अधिकारी जानता हूँ। भाग्य वश मैं (इस समय) अपनी प्रियतमा से दूर पड़ा हुआ हूँ, इसी से मैं तुम्हारे समीप याचना लेकर उपस्थित हुआ हूँ। अपने से श्रेष्ठ तथा गुणी जनों से याचना करना अच्छा है चाहे वह निष्फल ही क्यों न रहे, किन्तु अधम से कुछ माँगना अच्छा नहीं है, चाहे सफलता ही क्यों न मिले॥६॥

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥९॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्
अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

हे मेघ! जो सन्तप्त होते हैं, तुम उन सब के रक्षक हो? इसलिए धनपति कुबेर के क्रोध के कारण विरही बने हुए मेरे सन्देश को तुम मेरी प्रियतमा के पास पहुंचा दो। यक्षपतियों की अलका नामक सुप्रसिद्ध नगरी में तुम्हें जाना है, जहाँ नगरी के बाहरी उद्यान में विराजमान शिवजी के मस्तक की छिटकती हुई चाँदनी वहाँ के धनिकों के भवनों को धवल करती रहती है॥७॥

जब तुम आकाशपथ में उमडते हुए ऊपर उठोगे तो परदेश जानेवाले पथिकों की वनिताएँ अपने मुँह पर लटकते हुए घुँघराले बालों को ऊपर फेंककर इस आशा से तुम्हारी ओर टकटकी लगाकर देखेंगी कि अब हमारे प्रियतम अवश्य आते होंगे। क्योंकि तुम्हारे उमडने पर कौन ऐसा है जो विरह में व्याकुल अपनी पत्नी के प्रति उदासीन रह सकता है, हाँ यदि उसका जीवन मेरे (हतभाग्य की भांति) पराधीन नहीं है॥८॥

अनुकूल दिशा में बहनेवाली वायु तुम्हें धीरे-धीरे चला रही है। गर्व से भरा हुआ यह पपीहा तुम्हारे बाएं आकर मधुर-मधुर रट लगा रहा है। गर्भाधान का उत्सव समीप आया जानकर बगुलियाँ आकाश में पंक्तियाँ बाँध-बाँध कर नेत्रों को सुन्दर लगने वाले तुम्हारी सेवा अवश्य करेंगी अर्थात् तुम्हारे समीप अवश्य ही पहुँचेंगी॥९॥

हे मेघ! मेरे विरह के शेष बचे हुए दिनों की गणना में मलग्न और मेरी बाट जोहती हुई जीवित अपनी उस पतिव्रता भाभी को सर्वत्र गति रखने के कारण बिना कहीं रुके हुए पहुँचकर तुम अवश्य देख लेना। स्त्रियों के कुसुम की तरह सुकुमार प्रेम भरे हृदय को आशा का बन्धन ही ऐसा है जो वियोग में टूटकर बिखर जाने से प्रायः रोके रहता है॥१०॥

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥११॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्॥१२॥

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य॥१३॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥१४॥

तुम्हारे जिस सुहावने गर्जन के प्रभाव से पृथ्वी पर कुकुरमुत्ते निकल आते हैं और धरती उपजाऊ हो जाती है, उसी गर्जन को जब कमल-वनों में बैठे हुए राजहंस सुनेंगे तब मानसरोवर जाने की उत्कण्ठा से अपनी चोंच में कमल की अगली डंठल (मृणाल दण्ड का अगला भाग) का पाथेय (पथ भोजन) लेकर वे आकाशमार्ग में कैलाश पर्वत तक के लिए तुम्हारे साथी बन जायेंगे॥११॥

[illegible] लिए [illegible] जी [illegible] रा सान्निध्य मिलने पर अपने दीर्घकाल के वियोग के तप्त आँसू बहा-बहाकर अपना स्नेह प्रकट करता है॥१२॥

हे जलद! पीछे मेरा वह सन्देश तुम सुनना, जो कानों द्वारा पीने योग्य है। पहले तुम अपनी इस यात्रा के लिए अनुकूल मार्ग मेरे शब्दों में सुनो। मार्ग में गमन करते हुए थक थक कर तुम पर्वतों के शिखरों पर अपने पैर टेकते हुए विश्राम करते हुए जाना और क्षीण होने पर स्रोतों (नदियों) का हलका जल पी लेना॥१३॥

कहीं पवन पर्वत की चोटी को ही तो नहीं उड़ाए ले जा रहा है—इस आशंका से सिद्धों की भोली-भाली सुन्दरियाँ ऊपर की ओर मुँह करके तुम्हारा पराक्रम चकित हो हो कर देखेंगी। इस स्थान से, जहाँ बेंत के हरे पेड़ हैं, तुम आकाश में उड़ते हुए मार्ग में अड़े दिग्गजों के मोटे-मोटे शुण्डों का आघात बचाते हुए उत्तर की ओर मुँह करके प्रस्थान करना।१४॥

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्-
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥१५॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥१६॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥१७॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥१८॥

चमकते हुए अनेक रत्नों के प्रभापुंज के समान देदीप्यमान जो दर्शनीय इन्द्रधनुष सामने दिखाई पड़ रहा है वह वल्मीक (बाँबी) से उदित हो रहा है। उस से तुम्हारा श्यामल शरीर उसी प्रकार और भी अधिक खिल उठेगा जिस प्रकार मयूरपंख धारण करने पर गोपाल वेश धारी विष्णु (श्रीकृष्ण) का शरीर सुन्दर ढंग से सज गया था॥१५॥

कृषिकार्य का सब फल तुम्हारे ही अधीन है—इस उमंग से भृकुटी के विलास में भोलीभाली गाँवों की वधूटियाँ अपने प्रेम भरे नेत्रों से तुम्हें पी (तक) लेंगी। माल क्षेत्र के ऊपर से जाते हुए तुम इस प्रकार से उमड़-घुमड़कर बरसना कि हल से तत्काल की जुती हुई भूमि महक से भर जाय। फिर कुछ देर बाद तुम कुछ तीव्र गति से पुनः उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर देना॥१६॥

अपनी मूसलाधार वृष्टि से वन में लगी हुई दावाग्नि को बुझानेवाले तथा मार्ग की थकान से चूर तुम जैसे उपकारी मित्र को आम्रकूट पर्वत बड़े आदर के साथ अपने सिर माथे पर रखेगा। क्योंकि अपने मित्र के अपने समीप आश्रय के लिए आने पर क्षुद्र जन भी पहले किए गए उपकार की बात सोचकर विमुख नहीं होते और जो ऊँचे होते हैं, उनका तो कहना ही क्या है?॥१७॥

पके हुए पीले फलों से लदे जंगली आम के वृक्षों से चारों ओर घिरे हुए आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब तुम चिकनी वेणी (स्त्रियों की चोटी) की भाँति काले रंग से घिर जाओगे तब उसकी शोभा देवदम्पतियों के देखने योग्य ऐसी मनोरम होगी कि जैसे बीच में साँवला और सब ओर से पीला (गौर वर्ण) पृथ्वी का स्तन उठा हुआ हो॥१८॥

अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलद शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१९॥
स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥२०॥
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२१॥
नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२२॥

हे जलद ! वह आम्रकूट [illegible]
ऊँचे शिखररूपी शीर्ष पर [illegible]
प्रबल वृष्टि से शान्त कर [illegible]
एवं मधुर फल देनेवाला होता है ॥१९॥

उस आम्रकूट पर्वत पर, जहाँ के कुंजों में वनचरों की रमणियाँ विहार किया करती हैं, तुम रुक कर घड़ी भर विश्राम कर लेना। और फिर जल बरसाने से हल्के होकर कुछ और तीव्र गति से अगला मार्ग तय करना। (आगे चलने पर) विन्ध्य पर्वत की उपत्यका में ऊँची-नीची चट्टानों में बिखरी हुई रेवा (नर्मदा) नदी तुम्हें इस प्रकार दिखाई पड़ेगी जैसे हाथी के अंगों पर भस्म के द्वारा भांति भांति की रचना की गई हो ॥२०॥

जब तुम वृष्टि करके अपना जल बाहर उड़ेल चुकना तो नर्मदा नदी के उस जल का पान करके आगे बढ़ना, जो जंगली गजराजों के कड़वे और सुगंधिभरे मदजल से आमोदित रहता है और जो जामुन के वृक्षों के कुंजों में रुक रुककर बहता है। हे घन! इस प्रकार जब तुम भीतर से भारी बन जाओगे तो हवा तुम्हें उड़ा नहीं सकेगी, क्योंकि जो (भीतर से) रिक्त होते हैं, वे हल्के (उपहासनीय) माने जाते हैं, और जो भरे-पूरे रहते हैं उन्हें आदर दिया जाता है ॥२१॥

हे पयोद ! जल की बूँदें बरसाते हुए तुमको, सारंग (भ्रमर), हरिण और हाथी (क्रमशः) अधखिले केसरों वाले हरे-पीले कदम्ब के पुष्पों को देखकर, जलवाले देशों में पहले पहल फूटी भूकन्दली को खाकर तथा वर्षा होने के कारण जंगलों में पृथ्वी की उठती हुई उग्र गन्ध को सूंघते हुए, मार्ग की सूचना देते हुए मिलेंगे ॥२२॥

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि॥२३॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥२४॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥२५॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥२६॥

ऊपर ही ऊपर बूँदें लोककर गटक जानेवाले चातकों को देखते हुए तथा पंक्ति बाँधकर उड़ती हुई बगुलियों को एक एक करके गिननेवाले रसिकों की प्रिय स्त्रियाँ जब तुम्हारा गरजना सुनकर घबराहट के कारण झट से उनके गले से चिपक जायँगी तब वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा सम्मान करेंगे ॥२३॥

हे सखे! मेरे प्रियकार्य को पूरा करने के लिए तुम शीघ्र ही जाना चाहते हो, तब भी कुटज के पुष्पों से महकती हुई चोटियों वाले पर्वत तुम्हारे विलम्ब के कारण होंगे। अपने सफेद कोरों खिंचे हुए नेत्रों में आँसू भरकर जब मयूर अपनी केकावाणी से तुम्हारा स्वागत करने लगेंगे तब किसी प्रकार तुम शीघ्र जाने की चेष्टा करना ॥२४॥

हे मेघ! जब तुम दशार्ण देश के निकट पहुँचोगे तो वहाँ के उपवनों की बाड़ें, खिले हुए केतकों के पुष्प से सफेद रंग की हो जायँगी। घर में आकर बलि खाने वाले कौवों द्वारा घोंसला बनाने से गाँवों के वृक्षों पर बड़ी चहल-पहल मच जायगी और पके हुए फलों से सुशोभित जामुन के वन अत्यन्त सुहावने लगने लगेंगे, जिसमें हंस भी वहाँ आकर कुछ दिनों के लिए निवास करेंगे ॥२५॥

उस दशार्ण देश की दिगन्त तक विख्यात विदिशा नामकी राजधानी में पहुँचने पर तुम्हें अपने रसिक स्वभाव का फल तुरन्त मिलेगा। वहाँ तट प्रान्त में गरजने से सुन्दर मधुर तथा चंचल तरंगोंवाली वेत्रवती (बेतवा) नदी के जल का भ्रुकुटि भंगियों से सुशोभित रमणी-मुख के अधर पान की भाँति पान करोगे ॥२६॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२७॥

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्चन्-
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२८॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२९॥

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणाया
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः संनिपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥

उस विदिशा नगरी में पहुँचने पर तुम विश्राम करने के लिए नीच गिरि पर बसेरा करना, जो तुम्हारा सम्पर्क पाकर अपने खिले हुए कदम्ब-पुष्पों से पुलकित के समान लगेगा। उस पर्वत की शिला कन्दराओं से उठती हुई गणिकाओं के चन्दन माल्य आदि पदार्थों की सुगंधि वहां नगरवासियों के उत्कट यौवन की सूचना देती है ॥२७॥

इस प्रकार वहाँ विश्राम कर लेने पर तुम वन-नदियों के तटवर्ती बगीचों में उत्पन्न जूही की कलियों को अपने नूतन जल की बूंदों से सींचना और कपोलों के पसीनें को पोंछने के कारण, जिनके कमलपत्र के बने कर्णाभरण कुम्हला गए हैं, उन पुष्प तोड़ने वाली (मालिनों) स्त्रियों के मुखों पर तनिक छाया करते हुए तुम पुन: आगे चले जाना ॥२८॥

उत्तर दिशा की ओर जाते हुए तुम को यद्यपि उज्जयिनी का मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा तथापि उस नगरी के राजभवनों की गोद में विलास करने से तुम विमुख मत होना। बिजली चमकने से भयभीत हुई वहाँ की नगर की नवेलियों के नेत्रों के चंचल कटाक्षों का सुख यदि तुमने नहीं लूटा तो समझ लेना कि तुम ठगे गए॥२९॥

अपने जल की तरंगों के थपेड़ों से किलकारी मारती हुई, हंसों की पंक्ति रूपी करधनी झनकारती हुई, अपने अटपट प्रवाह से चाल की मस्ती प्रकट करती हुई और भँवर-रूपी नाभि को उघाड़ कर दिखाती हुई निर्विन्ध्या नामक नदी से मार्ग में मिलकर उसका रस अपने भीतर लेते हुए तुम आनन्द लूटना। अपने प्रेमियों के समीप हाव-भाव को प्रकट करना ही स्त्रियों की समागम प्रार्थना होती है। (वे मुख से नहीं कुछ कहती।) ॥३०॥

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥३१॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्-
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालाम् विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गांगतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिवदिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥३२॥

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥३३॥

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्-
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥३४॥

उस निर्विन्ध्या नदी की पतली जलधारा तुम्हारे वियोग में वेणी (के समान पतली) बनी हुई है और उसके तट के वृक्षों से झड़े हुए पीले पत्तों के गिरने से वह पीली पड़ गई है। इस प्रकार हे सौभाग्यशाली मेघ! अपनी इस विरह दशा के चिह्नों से वह तुम्हारे ही सौभाग्य की सूचना देती है, अतः उसकी दुर्बलता को तुम जिस उपाय से भी दूर किया जा सके, दूर करना॥३१॥

जहाँ गाँव के अनुभवी वृद्ध लोग वत्सराज उदयन की कथाओं में प्रवीण हैं, उस अवन्ती देश में पहुँचकर उस समृद्धिशाली विशाला नामक (उज्जयिनी) नगरी को जाना। अपने सत्कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर जब स्वर्ग के प्राणी इस धरती पर बसने के लिए आते हैं तब उनके शेष बचे हुए पुण्य-फलों के साथ में लाया हुआ मानो प्रकाशमान स्वर्ग लोक का ही एक टुकड़ा यह उज्जयिनी है॥३२॥

जिस विशाला नगरी में प्रातःकाल का पवन फूले हुए कमलों की भीनी-भीनी सुगन्धि से परिपूर्ण, सारसों की स्पष्ट मधुर बोली को बढ़ाता हुआ, अंगों को सुखदायी स्पर्श देकर, प्रिय वचन कहने वाले प्रियतम के समान सुन्दरी रमणियों के रतिजनित थकावट को दूर कर देता है॥३३॥

उस नगरी की रत्नराशि को देखकर रत्नाकर (समुद्र) केवल जलमात्र शेष दिखाई पड़ता है, क्योंकि उसके हाटों में कहीं तो शुद्ध और चमकदार मोतियों की मालाएं भरी पड़ी हैं, जिनके बीच-बीच में श्यामल एवं हरी घास के रंग के समान हरी-हरी चमकती हुई पन्ना की मणियाँ सुशोभित हैं और कहीं कहीं पर मूंगा, शंख तथा सीपियों के ढेर के ढेर दिखाई पड़ते हैं॥३४॥

*प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३५॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३६॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्
आमन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥

—उस नगरी के अभिज्ञ लोग अपने आगन्तुकों एवं अतिथियों को यह कथा सुना सुना कर मनोविनोद करते हैं कि यहाँ पर वत्सराज उदयन ने प्रद्योत की पुत्री का अपहरण किया था और यहीं उनका ताड़ के वृक्षों का सुनहरा उपवन था और यहीं पर नीलगिरि नामक हाथी ने मदोन्मत्त होकर बड़े वेग से अपना खूंटा उखाड़ डाला था, आदि आदि ॥३५॥

उस नगरी में स्त्रियों के केशपाशों को सुगन्धित करने वाली धूप (सुगन्धित पदार्थ) झरोखों के मार्ग से बाहर उठती हुई तुम्हारे शरीर को पुष्ट करेगी और वहाँ के घरों के पालतू मयूर भाईचारे के प्रेम के कारण तुम्हें अपने नृत्य का उपहार देंगे। वहाँ के पुष्पों से सुगन्धित भवनों में सुन्दरी स्त्रियों के महावर लगे हुए चरणों की छाप देखते हुए तुम अपनी मार्ग की थकावट मिटा देना॥३६॥

अपने स्वामी महादेव जी के नीले कण्ठ से मिलती हुई शोभा के कारण शिव के गण बड़े आदर से तुम्हारी ओर देखेंगे। वहाँ त्रिभुवन के स्वामी चण्डीश्वर के पवित्र धाम में तुम अवश्य जाना। उसके उपवन को, कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीडा में विरत सुन्दरी युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से आमोदित गन्धवती नदी के सम्पर्क से सुरभित वायु कँपाता रहता है ॥३७॥

हे जलधर! यदि महाकाल के मन्दिर में असमय तुम पहुँच जाओ तो जब तक सूर्य आँखों से ओझल न हो जाये अर्थात् सायंकाल न हो जाय तब तक वहाँ अवश्य ठहर जाना। क्योंकि शिवजी की सन्ध्या की आरती के समय नगाड़े जैसी मधुर ध्वनि करते हुए तुम्हें अपने धीर गम्भीर गर्जना का सम्पूर्ण फल प्राप्त होगा॥३८॥

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दूना-
मोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥३९॥
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥४०॥
गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥४१॥
तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥४२॥

वहाँ सन्ध्या के नृत्य के समय पैरों को ठुमकाने से जिनकी कटि की किंकिणियाँ बजने लगती हैं, और जिनके हाथ रत्न-जटित कंकणों की कान्ति से झिलमिलाती हुई छोटी मूठ-वाली चौरियों के डुलाने से थक जाते हैं—ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम अपनी वर्षा की बूँदें गिराकर उनके नख-क्षतों को सुखा दोगे तब वे भी भ्रमरों की पंक्तियों के समान चंचल पुतलियों से तुम्हारे ऊपर अपने लंबे कटाक्ष डालेंगी॥३९॥

आरती की समाप्ति के अनन्तर आरम्भ होनेवाले शिवजी के ताण्डव नृत्य में तुम खिले हुए जपा पुष्प के कुसुम की भाँति सन्ध्या की लालिमा से युक्त शरीर से वहाँ शिवजी के ऊँचे उठे हुए भुजमण्डल रूपी वन खण्ड को घेरकर छा लेना। तुम्हारे इस कार्य से पशुपति शंकर जी रक्त से भीगा हुआ चर्म ओढ़ने की इच्छा को त्याग देंगे और उस समय ऐसे गीले गजचर्म को देखने का भय या घृणा दूर हो जाने से पार्वती जी एक टक नेत्रों से तुम्हारी भक्ति की ओर देखेंगी॥४०॥

उस उज्जयिनी नगरी में रात्रि के समय निविड अन्धकार के कारण कुछ भी न दिखाई पड़नेवाले राजमार्ग पर अपने प्रेमीजनों के पास जाती हुई अभिसारिकाओं को, कसौटी पर खींची गई सुवर्ण रेखा के समान चमकती हुई बिजली से तुम उनके मार्ग में उजेला कर देना। वृष्टि अथवा गर्जन करते हुए उन्हें बाधा मत पहुँचाना, क्योंकि वे बड़ी डरपोक होती हैं॥४१॥

देर तक विलास करने (चमकने) के कारण जब तुम्हारी बिजली-रूपी वनिता थक जाय तो तुम वह रात्रि किसी भवन की ऊपरी मंजिल में जहाँ कबूतर सोते हैं, बिता देना। और फिर सूर्योदय होने पर शेष बचा मार्ग भी तय करना। क्योंकि मित्रों का अभीष्ट पूरा करने के लिए जो किसी काम का जिम्मा ले लेते हैं वे फिर उसमें ढिलाई नहीं करते॥४२॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥
गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्-
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥
तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ॥
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघना को विहातुं समर्थः ॥४५॥
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

प्रातःकाल के समय रात्रि में वियोग सहन करनेवाली खण्डिता नायिकाओं के आँसू उनके प्रेमी-जन पोंछा करते हैं, इसलिए तुम शीघ्र ही सूर्य का मार्ग छोडकर हट जाना, क्योंकि उस समय सूर्य भी कमलिनी के पंकज-मुख से ओस रूपी आसू पोंछने के लिए वापस लौटने होंगे। और यदि उस समय तुम उनका हाथ रोक लोगे तो उनका रोष बहुत बढ जायगा ॥४३॥

तुम्हारा सहज सुन्दर श्यामल शरीर गभीरा नामक नदी के चित्त के समान निर्मल जल में अवश्य प्रतिबिंबित होगा। फिर कहीं ऐसा न हो कि तुम उसके कमल के समान उज्ज्वल और उछलती हुई शफरी-रूपी चचल चितवनों की ओर अपने धैर्य के कारण ध्यान न देते हुए उन्हें निष्फल कर दो (क्योंकि अनुरक्ता नायिका की उपेक्षा उचित नहीं है।) ॥४४॥

हे सखे! उस गभीरा नदी का नीला-जल रूपी वस्त्र, जिसे बेंत अपनी झुकी हुई डालो से छूते हैं, तुम्हारे द्वारा पी लेने पर तट से हटने के कारण ऐसा जान पडेगा मानों नितम्ब से सरकते हुए वस्त्र को उसने अपने हाथों से पकड लिया है। अतः उसे त्यागकर उसके ऊपर लम्बे-लम्बे झुके हुए तुम्हारा वहाँ से हटना अत्यन्त कठिन ही होगा, क्योंकि स्वाद को जाननेवाला कौन ऐसा व्यक्ति है जो उघरे हुए जघनस्थल वाली कामिनी का त्याग सकता है ॥४५॥

उसके बाद देवगिरि पर्वत की ओर जाते हुए तुम्हारी वृष्टि पडने से आनन्दोच्छ्वास लेती हुई पृथ्वी की उत्कट सुगन्धि से जो सुरभित है, अपनी सूंडों के नथुनों से सुहावनी ध्वनि करते हुए हाथी जिसका पान करते हैं और जिसके कारण जगल के उदुम्बर (गूलर) पककर गदरा जाते हैं, ऐसा शीतल वायु धीरे-धीरे तुम्हारी सेवा करेगा ॥४६॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनाम-
त्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

उस देवगिरि पर्वत पर सदैव निवास करनेवाले स्कन्द के ऊपर तुम अपने शरीर को पुष्पवर्षी बनाकर आकाशगंगा के जल में भीगे हुए फूलों की बौछारों से अभिषेक करना। नूतन (प्रतिपदा के) चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करनेवाले भगवान शिव ने देवताओं की सेना की रक्षा के लिए सूर्य से भी अधिक तेजस्वी अपने जिस तेज को अग्नि के मुख में आहित किया था, वही एकत्र तेज स्कन्द का स्वरूप है ॥४७॥

वहाँ पहुँचने पर उस पर्वत की गुफाओं में गूँजकर फैलनेवाले अपनी गर्जना के शब्दों से कार्त्तिकेय के उस मयूर को नचाना, जिसकी आँखों की पुतलियाँ शिव के चन्द्रमा की चाँदनी से धवलित हैं। उसके द्वारा छोड़े गए बर्ह (पंख) को, जिस पर चमकती रेखाओं के चन्दक बने होते हैं, पार्वती जी अपने पुत्र के स्नेह के वशीभूत होकर कमलपत्र की जगह अपने कान का आभूषण बनाती हैं ॥४८॥

इस प्रकार सरकण्डों के वन में जन्म धारण करनेवाले स्कन्द की आराधना करने के बाद जब हाथ में वीणा लिए हुए सिद्ध-दम्पती तुम्हारी बूँदों के डर से मार्ग छोड़ कर हट जायें तब आगे की ओर बढ़ना और फिर चर्मण्वती नदी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए नीचे उतरना। राजा रन्तिदेव की गवालम्भ यज्ञ से उत्पन्न कीर्ति ही उस पवित्र जलधारा के रूप में धरती पर बह निकली है ॥४९॥

हे जलद! विष्णु भगवान के समान श्यामल वर्णवाले तुम जब चर्मण्वती नदी का जल ग्रहण करने के लिए नीचे झुकोगे, तब उसकी चौड़ी धारा को जो दूर से पतली दिखाई पड़ती है, आकाश में भ्रमण करनेवाले सिद्ध, गन्धर्वादि अपलक दृष्टि से निश्चय ही इस प्रकार देखने लगेंगे, मानो पृथ्वी के वक्षस्थल पर वह मोतियों का हार हो, जिसके बीच में नीलम का मोटा मनका गूँथ दिया गया हो ॥५०॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीनाम्
अन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

उसे चर्मण्वती नदी को पार करके अपने शरीर को दशपुर की रमणियों के नेत्रों की लालसा का पात्र बनाते हुए तुम आगे बढ़ना। भृकुटि चलाने में अभ्यस्त उनके नेत्र, जब बरौनियाँ ऊपर की ओर उठती है तब उनकी श्वेत और कृष्ण प्रभा के बाहर छिटकने से ऐसे लगते हैं मानो वायु से हिलते हुए कुन्द के पुष्पों के पीछे जाने वाले भ्रमरों की शोभा को उन्होंने चुरा लिया हो ॥५१॥

इसके बाद ब्रह्मावर्त प्रदेश के ऊपर अपनी छाया डालते हुए क्षत्रियों के विनाश की सूचना देनेवाली *कुरुक्षेत्र की उस भूमि में प्रवेश करना जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन ने अपने* तीक्ष्ण बाणों की वृष्टि से राजाओं के मुखों पर ऐसी झड़ी लगा दी थी जैसे कि तुम कमलों पर मूसलाधार वृष्टि करते हो ॥५२॥

कौरवों और पाण्डवों के प्रति अपने समान स्नेह के कारण युद्ध से विमुख होकर हलधर बलराम जी ने अपनी अत्यन्त मनभावनी सुस्वादु हाला को, जिसे रेवती अपने नेत्रों की परछाई डालकर स्वयं पिलाती थीं, त्यागकर सरस्वती नदी की जिस पावन जलराशि का सेवन करने के लिए चले गए थे, तुम भी जब उसका पान करोगे तो अन्तःकरण से धवल हो जाओगे और तुम्हारा केवल बाहरी रंग ही काला दिखाई पड़ेगा ॥५३॥

उस कुरुक्षेत्र से आगे बढ़ने पर कनखल के निकट शैलराज हिमालय से नीचे उतरती हुई जह्नु की कन्या गंगाजी के समीप तुम जाना, जो राजा सगर के पुत्रों का उद्धार करने के लिए इस भूतल से स्वर्ग तक लगी हुई सीढ़ी के समान हैं। पार्वती के भौंहें ताने हुए मुख की ओर मानो अपने फेनों की मुस्कराहट फेंककर वह गंगाजी अपने तरंगरूपी हाथों को चन्द्रमा के ऊपर टेककर शंकरजी के जटाजूट को पकड़े हुए हैं ॥५४॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदंतर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेयाम् ॥५६॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभंगाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

आकाश में दिग्गज की भाँति आधा शरीर आकाश में और आधा शरीर नीचे झुकाकर अपने पिछले भाग से लटकते हुए जब तुम आगे की ओर झुककर गंगाजी के समान निर्मल जल को पीना चाहोगे तो उनके प्रवाह में पड़ती हुई तुम्हारी छाया से वह स्वच्छ स्फटिक धारा ऐसी सुन्दर लगेगी जैसे प्रयाग में अन्यत्र यमुना उसमें आकर मिल गई हो ॥५५॥

वहाँ आकर बैठनेवाले कस्तूरी-मृगों की नाभि की सुगन्धि से जिसकी शिलाएँ अत्यन्त सुगन्धित हो जाती हैं, गंगा को उत्पन्न करनेवाले उस हिम समान श्वेत हिमालय पर्वत के शिखर पर मार्ग की थकावट मिटाने के लिए जब तुम बैठोगे तब तुम्हारी शोभा ऐसी जान पड़ेगी मानो शिवजी के श्वेतवर्ण के नन्दी ने गीली मिट्टी खोदकर अपनी सींगों में लगा ली हो ॥५६॥

यदि वायु के चलने पर देवदारु के तनों की रगड़ से उत्पन्न दावाग्नि, जिसकी चिन-गारियों से चमरी गौओं की पूँछ के बाल झुलस जाते हैं, उस हिमालय पर्वत को जला रही हो तो तुम अपनी अगणित जलधाराओं से उसे शान्त कर देना। श्रेष्ठ जनों की सम्पदा का यही फल है कि उनके द्वारा दुःखी प्राणियों के दुःख दूर हों ॥५७॥

उस हिमालय पर शरभ नामक ऐसे अष्टापद मृग हैं जो तुम्हारे गर्जन को न सहन कर कुपित होकर वेग से ऊपर उछलते हुए तुम्हारा ओर झपट से कूदकर अपना अंग-भंग करने को उतारू होंगे तो तुम भी उनके ऊपर तड़ातड़ ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना। क्योंकि जो बिना काम का काम करते हैं उन्हें इसी प्रकार अपमानित करना ही चाहिए ॥५८॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥५९॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥६०॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥६१॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खम्
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥६२॥

हिमालय पर्वत की एक शिला पर शिवजी के पैरों की छाप पड़ी हुई है। सिद्ध लोग उस पर सदैव पूजा की सामग्री चढ़ाते हैं। तुम भी भक्ति से विनम्र होकर उसकी प्रदक्षिणा करना। उसके दर्शन से श्रद्धावान लोग पाप के कट जाने पर देह-त्याग करने के अनन्तर स्थायी रूप से शिव के गणों का पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं॥५९॥

वहाँ पर वायु भर जाने के कारण सूखे बाँस मधुर शब्द करते हैं और किन्नरियाँ उनके साथ स्वर मिलाकर शिवजी की त्रिपुर-विजय की यशोगाथा का गान करती हैं। यदि गुफाओं में गूँजता हुआ तुम्हारा गर्जन भी मृदंग से निकली हुई ध्वनि की भाँति उसमें मिल गया तो फिर शिवजी की पूजा के संगीत का सभी अंग पूरा हो जायगा॥६०॥

हिमालय पर्वत के बाहरी भागों में उन सभी दृश्यों को देखते हुए तुम आगे बढ़ना। वहाँ क्रौंच पर्वत के रन्ध्र में, जो हंसों के मानसरोवर तक आने जाने का द्वार तथा परशुराम जी द्वारा पहाड़ को फोड़कर बनाए जाने के कारण उनके यश का स्मृति-चिह्न है, कुछ झुककर लम्बाई में प्रवेश करते हुए तुम इस प्रकार दिखाई पड़ोगे जैसे बलि को बाँधते समय ऊपर उठा हुआ त्रिविक्रम विष्णु वामन का श्यामल चरण सुशोभित हुआ था॥६१॥

वहाँ से ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वत का अतिथि बनना, जो अपनी धवलता के कारण देवांगनाओं का दर्पण बना हुआ है। उसकी चोटियों के सन्धि-स्थल रावण की भुजाओं से हिला दिए जाने के कारण ढीले पड़ गए हैं। वह कुमुद के पुष्प के समान श्वेत अपनी बर्फीली चोटियों की ऊँचाई से आकाश को व्याप्त किए हुए इस प्रकार से खड़ा है मानो शिव जी के अट्टहास का ढेर एकत्र हो गया हो॥६२॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६३॥

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६४॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६५॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥

हे मेघ ! चिकने ताजे काजल के समान कान्ति वाले तुम जब हाथी के तुरन्त काटे हुए दाँत के समान गोरे कैलास पर्वत की उपत्यका पर घिर जाओगे तो बलदेव जी के कन्धे पर लटकते हुए श्यामवस्त्र के समान उस कैलास पर्वत की शोभा अपलक नेत्रों से देखने योग्य बन जायगी ॥६३॥

जिसमें लिपटा हुआ सर्परूपी कंगन (पार्वती जी के डर के कारण) उतारकर रख दिया गया है, शिव जी के ऐसे हाथ में अपना हाथ दिए हुए यदि पार्वती जी अपने उस क्रीडा-पर्वत कैलास पर पैदल घूम रही हों तो तुम उनके आगे जाकर अपनी जलराशि को बरफ के रूप में रोककर अपने शरीर को इस प्रकार से सोपान की भाँति बना देना जिससे कि वे तुम्हारे ऊपर चरण रखकर विहारार्थ मणिशिखरों पर आरोहण कर सकें ॥६४॥

उस पर्वत पर देवकन्याएँ अपने कंगन में जड़े हुए हीरों की नोक से तुम्हारे शरीर के बाहरी आवरण को छेदकर जल की धारा उत्पन्न करके तुम्हें फुहारा बना लेंगी। धूप में तुम्हारे साथ जल-क्रीडा में विरत उनसे यदि जल्दी से तुम छुटकारा न पा सको तो अपने कर्णभेदी गर्जन से उन्हें डराकर छुटकारा पा लेना ॥६५॥

हे जलद ! अपने मित्र कैलास पर पहुँचकर तुम विविध प्रकार की क्रीडाओं से अपना मनोरंजन करना। कभी सुनहले कमलों से भरे हुए मानसरोवर का जल पीना, कभी इन्द्र के सेवक और अपने मित्र ऐरावत के मुख पर क्षणभर के लिए कपड़े के समान पर्दा बन उसे प्रसन्न करना और कभी कल्पवृक्ष के पत्तों को महीन कपड़ों की भाँति अपनी वायु से हिला देना ॥६६॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः ॥

हे इच्छानुसार भ्रमण करनेवाले जलद! जैसे अपने प्रेमी पुरुषों की गोद में कामिनी स्त्रियाँ बैठती हैं, उसी प्रकार कैलास की उपत्यका में बैठी (बसी) हुई अलकापुरी को, जिसकी गंगारूपी साड़ी नीचे की ओर सरक गई है, तुम न पहचान सको—ऐसा संभव नहीं है। बरसात के दिनों में उसके ऊँचे भवनों पर जब तुम छा जाओगे तब तुम्हारे जल की वृष्टि से वह ऐसी मनोहर लगेगी जैसे मोतियों के जालों से गुँथे हुए केशपाशों वाली कोई सुंदरी रमणी हो ॥६७॥

महाकवि श्रीकालिदास कृत मेघदूत काव्य में पूर्वमेघ समाप्त ॥

## उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥१॥
हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीतालोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥२॥
*यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा --
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥३॥

## मेघदूत का उत्तरार्द्ध

हे मेघ! जहाँ सुन्दरी स्त्रियाँ निवास करती है, जो सुन्दर चित्रों से विभूषित हैं जहाँ नृत्य तथा गान के साथ-साथ मृदंग बजते रहते हैं, जहाँ की भूमि रत्नों से जड़ी है और जिसके शिखर आकाश को स्पर्श करने वाले हैं—ऐसी अलकापुरी के प्रासाद तुम्हारी बराबरी करने में समर्थ हैं। अर्थात् तुम यदि बिजली से युक्त हो तो वहाँ सुन्दरी स्त्रियाँ हैं, तुम्हारे पास इन्द्र धनुष है तो उनमें चित्र लिखे हुए हैं। तुम्हारे पास मधुर संगीत गर्जन है तो उनमें संगीत के साथ मृदंग बजता है, तुम्हारे भीतर जल भरा है तो उनमें मणि जटित चमकते हुए फर्श हैं॥१॥

उस अलकापुरी की सुन्दरियाँ छहों ऋतुओं के कुसुमों से अपना शृंगार करती हैं। शरद ऋतु में उनके हाथों में लीला कमल रहता है, हेमन्त-ऋतु में वे अपने केश-पाशों में कुन्द के ताजे पुष्प गूंथती हैं, शिशिर ऋतु में लोध्र पुष्प के पराग से वे अपने मुख की शोभा को पीले रंग की बनाती हैं, वसन्त ऋतु में कुरबक (कोरैया) के नवीन पुष्पों से अपना जूड़ा सजाती हैं, ग्रीष्म ऋतु में शिरीष के कुसुमों को अपने सुन्दर कान में लगाती हैं और तुम्हारे आगमन पर वर्षाऋतु में अपने मस्तक पर कदम्ब के पुष्पों को धारण करती हैं॥२॥

उस अलकापुरी के वृक्ष, सदा पुष्पों से लदे रहते हैं जिन पर मतवाले भ्रमर गुनगुनाते रहते हैं, वहाँ वापलियाँ नित्य कमलों से प्रफुल्लित रहती हैं, जिनसे हंसों की पंक्तियाँ मेखला के समान दिखाई पड़ती है। वहाँ पालतू मयूरों के पंख सदैव चमकदार रहते हैं और वे ऊँची गरदन करके बोला करते हैं। नित्य चाँदनी रात होती है जो बड़ी आनन्ददायिनी होती है॥३॥

* आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥४॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥५॥

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥६॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥७॥

यौवनावस्था के अतिरिक्त कोई दूसरी अवस्था नही है ॥४॥

उस अलकापुरी मे स्फटिक मणि से बने भवनो की अटारियो पर जिनमें तारो का प्रतिबिम्ब पुष्पों की भाँति झिलमिलाता रहता है, यक्ष गण अपनी सुन्दरी रमणियों के साथ तुम्हारे समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले पुष्कर वाद्य के मन्द-मन्द बजने पर कल्पवृक्ष से प्राप्त होने वाले रतिफल नामक मधु (मदिरा) का सेवन करते हैं ॥५॥

उस अलकापुरी मे ऐसी सुन्दरी यक्षकन्याएँ, जिन्हे पाने की देवता भी प्रार्थना करते हैं, मन्दाकिनी के जल से शीतल वायु का सेवन करती हुई, नदियो के तटवर्ती मन्दार वृक्षों की छाया मे अपने को धूप से बचाती हुई, सुवर्णमयी बालू की मुट्ठी मे पहले तो मणियो को छिपा देती है और बाद मे उन्हें ढूंढ-ढूंढकर निकालने का खेल खेलती हैं ॥६॥

उस अलकापुरी मे कामुक प्रियतम जब अपने चपल हाथो से अपनी बिम्बाफल के समान लाल अधरो वाली प्रियतमाओंके नीबी-बन्धनो के छूट जाने से ढीले दुकूलो को खीचने लगते हैं तब लज्जा के कारण वे बेचारी किरणें फैलाते हुए (प्रकाशमान) रत्नदीपो के सामने रहने पर भी कुमकुम गुलाल आदि की मुट्ठियों को उनके ऊपर डालकर (भी उन्हे) बुझाने के प्रयास म सफल नही होती ॥७॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥८॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाः
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥९॥

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्या सहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥१०॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥११॥

उस अलकापुरी के सातमंजिले भवनों की ऊँची-ऊँची अटारियों में, सर्वत्र एवं सर्वदा बे-रोकटोक जानेवाले वायु की सहायता से प्रवेश पाकर तुम्हारे जैसे वृष्टि करनेवाले बादल अपने नूतन-जल-सीकरों से वहाँ की दीवारों पर बनी चित्रकारी को बिगाड़कर अपराधी की भाँति भयभीत होकर, झरोखों के रास्ते से धूएँ के समान बाहर निकलकर भागने में चालाकी करके एकदम छिन्न-भिन्न होकर बाहर निकल जाते हैं ॥८॥

वहाँ अलकापुरी में आधी रात के समय जब बादल बीच में नहीं होने और निर्मल चाँदनी छिटकी होती है तब चन्द्रमा की निर्मल किरणों के संयोग के कारण झालरों में लटकती हुई चन्द्रकान्त मणियों से जलबिंदुओं की फुहारें चूने लगती हैं और वे अपने प्रियतमों के गाढ़े आलिंगन से शिथिल सुन्दरियों के अंगों की सम्भोग-जनित थकावट को शान्त करती हैं ॥९॥

उस अलकापुरी में अपने भवनों के भीतर अक्षय धनराशि छिपाकर रखनेवाले कामुक व्यक्ति सुरसुन्दरी वेश्याओं से प्रेमालाप करने में मग्न होकर प्रतिदिन मधुर और ऊँचे स्वरों से कुबेर का यशोगान करनेवाले किंनरों के साथ वैभ्राज (चित्ररथ) नामक नगरों के बाहर स्थित उद्यान में विहार करते हैं ॥१०॥

उस अलकापुरी में रात्रि के समय जो कामिनी अभिसारिकाओं का मार्ग होता है वह सूर्योदय होने पर उनके चलने से हिल जाने के कारण अलकों में गिरे हुए मन्दार के पुष्पों से, कानों से गिरे हुए सुनहरे कमलों से, (बालों में गुथे) मणियों के बिखरे हुए जालों से तथा स्तनों पर लटकनेवाले हारों के टूटकर गिरजाने से (स्पष्टतया) पहचान लिया जाता है ॥११॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥१२॥
वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥१३॥
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणांकैः॥१४॥
तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥१५॥

उस अलकापुरी मे वहां के स्वामी कुबेर के मित्र महादेव जी को साक्षात् बसा हुआ जानकर कामदेव अपने भ्रमरों की प्रत्यंचा वाले धनुष को प्रायः धारण ही नहीं करता। [illegible] स्त्रियों की लीलाओं से [illegible], तो वह कामुकजनों [illegible]

उस अलकापुरी मे धारण करने के लिए रंगीन और चित्र-विचित्र वस्त्र, नेत्रों में चंचलता अथवा कटाक्ष पैदा करने के लिए मधु (मदिरा), शरीर को सुशोभित करने के लिए कोमल किसलय तथा विविध आभूषण, चरण-कमलों को रंगीन बनाने के लिए महावर--सुन्दरियों की इन सब प्रसाधन सामग्रियों को अकेला कल्पवृक्ष ही उत्पन्न कर देता है॥१३॥

उस अलकापुरी मे पत्ते के समान श्यामल वर्ण वाले घोड़े अपनी रंगत और अपनी चाल मे सूर्य के घोड़ों की स्पर्द्धा रखते हैं। पर्वत के समान ऊंचे डील-डौल वाले हाथी तुम्हारी ही तरह मद की वर्षा करते हैं और वहां के वीर ऐसे है जिन्होंने अपने समस्त आभूषणों को त्यागकर उन घावों के चिह्नों को ही आभूषण के समान धारण किया है, जिनको उन्होंने रावण से लड़ते समय उसके चन्द्रहास नामक करवाल से खाए थे॥१४॥

उसी अलकापुरी मे कुबेर के निवास-गृह से उत्तर दिशा की ओर सुन्दर इन्द्र धनुष के समान तोरण (बाहर का द्वार) से पहचान मे आनेवाला मेरा घर है। उसी घर के एक ओर मन्दार का छोटा-सा वृक्ष है, जिसे मेरी पत्नी ने पुत्र की तरह पाला-पोसा है और जो हाथ बढ़ाकर चुने जाने योग्य पुष्पों के गुच्छों से नीचे की ओर झुका हुआ है॥१५॥

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥१६॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥१७॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः॥१८॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः॥१९॥

मेरे उस घर मे एक बावली है, जिसकी सीढ़ियाँ नीलम मणि से जड़ी हुई हैं और जिसमे वैदूर्य मणि के समान नाल (मृणाल) दण्डवाले सुनहले रग के कमल खिले हुए हैं। उसके जल में अपना सब प्रकार का दुख भुलाकर निवास करने वाले हस तुम्हारे आ जाने पर भी, समीप मे ही वर्तमान मानसरोवर का उत्कठापूर्वक स्मरण नही करेंगे॥१६॥

उसी बावली के किनारे सुन्दर इन्द्रनील मणियो के जड़ाव से रचित-चोटीवाला एक क्रीडा पर्वत है। और उसके चारो ओर सुनहले कदली वृक्षो की परिधि (घेरा) देखने योग्य है। हे मित्र,[1] तुम्हे चारो ओर से घिरकर बिजली चमकाते हुए देखकर मेरा मन डर जाता है और अपनी पत्नी के उस प्यारे क्रीडा-पर्वत को ही स्मरण करने लगता है॥१७॥

उसी क्रीडा-पर्वत पर कुरबक के बाड़े से घिरा हुआ माधवी लता का मण्डप है। जिसके समीप ही एक ओर चचल पल्लवों से युक्त लाल पुष्पो का अशोक वृक्ष है। और दूसरी ओर मनोहर मौलसिरी का वृक्ष है। इनमे से पहला अर्थात् अशोक वृक्ष दोहद के बहाने से मेरे साथ ही तुम्हारे इस मित्र की स्त्री के बाएँ पैर का आघात चाहता है और दूसरा अर्थात् मौलसिरी उसके मुख से मदिरा का कुल्ला (फुहार) चाहता है॥१८॥

उन दोनो वृक्षो के मध्य भाग मे नए बाँस के समान हरे रग की मरकत मणि की एक वेदी है, जिसके ऊपर स्फटिक का फलक लगा हुआ है। उसी पर पक्षियों के बैठने के लिए एक सुवर्ण की छतरी बनी हुई है, जिस पर नित्य सन्ध्या के समय तुम्हारा मित्र नीले कण्ठ वाला वह मयूर आकर बैठता है, जिसे मेरी प्रियतमा हाथ मे बजते हुए कगनों को पहने हुए सुन्दर ताल दे-देकर नचाती है॥१९॥

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२०॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥२१॥

तन्वी श्यामा शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२२॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥२३॥

हे कुशल! इन ऊपर बताए गए लक्षणों को अपने हृदय में रखकर तथा मेरे घर के द्वार के दोनों ओर शंख तथा पद्म नामक निधियों की बनी आकृतियों को देखकर मेरे घर को तुम पहचान लोगे, वह इस समय मेरे वियोग से अवश्य ही श्री-विहीन दिखाई पड़ता होगा। क्योंकि सूर्य के अभाव में अर्थात् रात्रि के समय कमल अपनी पूर्ण शोभा को नहीं दिखा पाता ॥२०॥

हे मित्र! मेरे घर में शीघ्रता से प्रवेश करने के लिए तुम हाथी के बच्चे की तरह छोटा-सा स्वरूप धारण कर पहले बताए गए सुन्दर क्रीडा-पर्वत पर बैठ जाना। और फिर जुगनुओं की भाँति कुछ कुछ चमकती हुई अपनी बिजली की आँखों को मेरे भवन के भीतर डालना ॥२१॥

देह से दुबली, नवयौवन वाली, नुकीली दाँतों की, पके बिम्बाफल के समान अधरवाली, कमर की पतली, हरिणी के समान चचल नेत्रों वाली, गहरी नाभि वाली, स्थूल नितम्ब के भार से चलने में अलसाती हुई और स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई—ऐसी मेरी प्रियतमा उस अलकापुरी की युवतियों में मानों विधाता की प्रथम कृति है ॥२२॥

मेरे दूर चले आने के कारण अपने साथी से वियुक्त उस मेरी प्रियतमा को तुम मेरा दूसरा ही प्राण समझना। मुझे ऐसा लगता है कि वियोग की गंभीर वेदना से पीडित वह सुन्दरी प्रबल उत्कण्ठा से इन वियोग के दिनों को बिताती हुई, पाला के गिरने से कमलिनी की भाँति कुछ और ही तरह की हो गई होगी ॥२३॥

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२४॥
आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२५॥
उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२६॥
शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥२७॥

मेरे वियोग मे निरन्तर रोते रहने के कारण जिसके नेत्र सूज गए होंगे, गर्म सांसों के लेने से जिसके निचले ओठ की रंगत कुछ फीकी पड गई होगी, ऐसी मेरी उस प्रियतमा का हथेली पर रखा हुआ मुख, साज-शृंगार के अभाव मे केशों के नीचे लटक आने के कारण पूरा न दिखता होगा और वह ऐसा उदास दिखाई पड़ेगा जैसे तुम्हारे द्वारा ढँक दिए जाने पर कान्तिविहीन चन्द्रमा दिखाई पडता है ॥२४॥

हे मित्र ! मेरी वह पत्नी या तो तुम्हे देवताओं की पूजा-अर्चा मे लगी दिखाई पडेगी या विरह मे क्षीण मेरी आकृति का अपने अनुमानो के आधार पर चित्र बनाती होगी अथवा पिंजरे के भीतर बैठी मैना से मधुर स्वर मे पूछती होगी—"हे रसिया मैना ! क्या तुझे अपने पालनेवाले की याद आती है, क्योंकि तू तो उनकी बडी प्यारी थी !" ॥२५॥

हे सौम्य ! पुनः मलिन वस्त्र धारण किए हुए अपनी गोद मे वीणा लेकर नेत्रों के जल से भीगे हुए तारों को किसी प्रकार ठीक-ठाक करके मेरे नामांकित पद को गाने की इच्छा से संगीत मे प्रवृत्त होने पर, अपनी ही बनाई हुई स्वर की रचना अर्थात् स्वरों के चढाव-उतार को भी बार-बार भूलती हुई वह तुम्हे दिखाई पडेगी ॥२६॥

अथवा मेरे वियोग के शेष महीनों को गिनने के लिए देहली पर चढाए गए पूजा के फूलों को वह उठा-उठाकर भूमि पर रख रही होगी। अथवा मेरे साथ भाँति भाँति के सम्भोग-सुखों को मन मे सोचती हुई मेरे मिलन-सुख का आस्वादन कर रही होगी। प्रायः स्वामी के विरह मे विरहिणी स्त्रियाँ इसी प्रकार से अपना मनोरंजन किया करती हैं ॥२७॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शंके रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥२८॥
*स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्ष्यन्ति तन्वी-
मेकप्रख्या भवति हि जगत्यङ्गनानां प्रवृत्तिः।
स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः,
कान्तां सुप्ते सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः ॥२९॥
*अन्वेष्टव्यामवनिशयने सन्निकीर्णैकपार्श्वां
तत्पर्यङ्कप्रगलिलतनवच्छिन्नहारारिवास्रः ।
भूयो भूयः कठिनविषमा सारयन्तीं कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण ॥३०॥
आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥३१॥

हे मित्र! तुम्हारी सखी को यह मेरा वियोग रात्रि में कोई मनोविनोद का साधन न होने के कारण जितनी गम्भीर पीडा पहुँचाता होगा, उतनी दिन में नहीं, क्योंकि दिन में तो चित्रलेखन अथवा वीणा वादन आदि कार्यों में वह व्यस्त रहती होगी। अतएव आधी रात के समय जब वह भूमि पर शयन करने का संकल्प लिए उचटी नींद में लेटी हो तब मेरे सन्देश से उस पतिव्रता को पूर्ण सुख देने के लिए तुम मेरे भवन के झरोखे में बैठकर देखना ॥२८॥

प्यारी सखियाँ उस दुबले पतले शरीरवाली को दिन में कभी अकेली न छोडती होंगी, क्योंकि ऐसे दुःख के अवसर पर स्त्रियाँ अपनी सखियों का संग नहीं छोडती। इसलिए हे जलद! रात्रि के समय तुम उसकी शैय्या के समीपवर्ती झरोखे पर बैठकर थोडी देर तक प्रतीक्षा करना और जब उसकी सब सखियाँ सो जायँ और वह अकेली जागती रहे तब उससे भेंट करना ॥२९॥

और वहाँ तुम धरती पर कहीं एक करवट लेटी हुई मेरी प्रियतमा को ढूँढ लेना। उसकी पलंग के आस-पास मुक्ता माला के टूटे हुए दानों के समान आँसू की बूँदें बिखरी होंगी और वह अपने बढ़े हुए नखों वाले हाथ से अपनी उस एकहरी वेणी के उस रूखे और उलझे हुए बालों को अपने कपोलों पर से बार बार हटा रही होगी, जो मेरे इस शाप के बीत जाने के बाद ही सुलझाए जा सकेंगे ॥३०॥

मानसिक व्यथा से अत्यन्त दुर्बल वह तुम्हारी सखी विरहकालोचित शैय्या पर एक करवट से लेटी हुई ऐसी दिखाई पड़ेगी मानो पूर्व दिशा के क्षितिज पर चन्द्रमा की केवल एक किरण बची हो। जिस रात्रि को किसी समय मेरे साथ मनोवाञ्छित विलास करते हुए वह एक क्षण के समान बिताती थी, इस विरह में पहाड सी बनी हुई उसी रात्रि को गरम-गरम आँसुओं के साथ वह बडी कठिनाई से बिता रही होगी ॥३१॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥३२॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥३३॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥३४॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥३५॥

झरोखे की जालियों में से भीतर आनेवाली चन्द्रमा की किरणों को पहले की भाँति आनन्ददायी समझकर देखने के लिए उसके नेत्र बढ़ते होंगे किन्तु तुरन्त ही वापस लौट आते होंगे। उस समय अपने नेत्रों को आँसुओं से भरी भारी पलकों से वह ऐसे ढँक लेती होगी जैसे धूप में खिलनेवाली स्थलकमलिनी वर्षा-बूँदी के दिनों में न तो पूरी तरह खिल सकती है और न कुम्हलाती ही है॥३२॥

केश-संस्कारों के बिना केवल रूखे स्नान के कारण उसके उलझे हुए केश उसके कपोलों पर लटके आते होंगे, जिन्हें अधर-पल्लव को झुलसा देने वाली गरम गरम साँसों का झोंका हटा रहा होगा। किसी प्रकार स्वप्न में भी मेरे समागम का आनन्द उसे मिल जाय—इस अभिलाषा से वह नींद को चाहती होगी—किन्तु खेद का विषय है कि आँखों में आँसुओं के उमड़ पड़ने के कारण उनमें नींद की जगह भी खाली न होगी॥३३॥

वियोग के पहले दिन जिस वेणी को फूलों को दूर करके उसने बाँध लिया था और जिसे शाप की अवधि बीत जाने पर शोकरहित होकर मैं जाकर खोलूँगा, उस रूखी, इधर उधर बिखरी तथा एक में ही लिपटी हुई वेणी को, जो छूने से ही उसे पीड़ा पहुँचाती होगी, अपने कोमल कपोलों के पास लम्बे-लम्बे नखों वाला हाथ ले जाकर वह बारम्बार हटाती हुई तुम्हें दिखाई पड़ेगी॥३४॥

इस प्रकार वह बेचारी अबला आभूषणों का त्याग कर अपने सुकुमार शरीर को तरह-तरह के दुःखों के कारण विरह-शैय्या पर तड़पती हुए बड़ी कठिनाई से रख रही होगी अतः उसे देखकर तुम्हारे नेत्रों से भी अवश्य ही नई-नई आँसू की बूँदें गिरेंगी। क्योंकि कोमल हृदयवाले व्यक्तियों की चित्तवृत्ति प्रायः करुणा से भरी होती है॥३५॥

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥३६॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥३७॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥३८॥

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३९॥

हे मित्र ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी उस सखी के मन मे मेरे लिए अतीव अनुराग सचित है। इसीलिए अपने इस प्रथम वियोग मे उसकी ऐसी दुःखपूर्ण अवस्था होने की कल्पना मैं कर रहा हूँ। अपनी पत्नी के इस प्रकार के अतीव अनुराग के कारण अपने को भाग्यशाली समझकर मैं यह सब बातें तुमसे नही कर रहा हूँ। हे भाई ! मैंने जो कुछ तुमसे कहा है, उसे तुम स्वय ही जाकर शीघ्र देखोगे॥३६॥

केशो से ढँका हुआ, अजन न लगाने से रूखा और मदिरा का सेवन छोड देने से जिसका भ्रू-विलास भूल-सा गया है—ऐसा उस मृगनयनी का बाँया नेत्र मेरा कुशल-सदेश लेकर तुम्हारे पहुँचने पर ऊपर की ओर फडकता हुआ ऐसा प्रतीत होगा जिस प्रकार सरोवर मे मछली के फडफडाने से हिलता हुआ नीलकमल शोभित होता है॥३७॥

नूतन कदली के स्तम्भ के समान गौरवर्ण उसकी बाई जाँघ तुम्हारे आने से चचल हो उठेगी। किसी समय सम्भोग के अन्त मे मैं उसे दबाया करता था, किन्तु आज तो वह मेरे नख-क्षतों से भी विहीन है और विधाता ने उसके चिरपरिचित मोतियो से गूँथे हुए कटिभूषण को भी उससे वियुक्त कर दिया है॥३८॥

हे जलद ! तुम्हारे पहुँचने के समय यदि वह नीद का सुख ले रही हो तो उसके पास ठहरकर गर्जन से मुँह मोड़े हुए एक प्रहर तक जगने की प्रतीक्षा अवश्य करना। ऐसा न हो कि किसी प्रकार स्वप्न में मिले हुए अपने प्रियतम के साथ गाढे आलिंगन के लिए कण्ठ में डाली हुई उसकी भुज-लता की गाँठ अचानक खुल जाय॥३९॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥४०॥

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥४१॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः॥४२॥

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥४३॥

यदि तुम वहाँ पहुँचकर जल-बिन्दुओं से सुशीतल वायु द्वारा उसे जगाओगे तो मालती की नई कलियों के समान वह खिल उठेगी। तब झरोखे में बैठे हुए तुम्हारी ओर आश्चर्य भरे नेत्रों से अपलक देखते हुए उस मानिनी सखी को, बिजली को अपने भीतर ही छिपाकर धैर्य के साथ अपने मधुर गर्जन के शब्दों में उससे कुछ बातें इस प्रकार से आरम्भ करना॥४०॥

हे सौभाग्यशालिनी! मैं तुम्हारे स्वामी यक्ष का प्रिय सखा मेघ हूँ। उसके सन्देशों को अपने हृदय में रखकर मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। मैं (केवल सन्देशवाहक ही नहीं हूँ, अपितु) अपने धीर-गम्भीर गर्जनों से मार्ग में टिके हुए प्रवासी पतियों को शीघ्र अपने अपने घर लौटने के लिए प्रेरित करता हूँ, जिससे वे अपनी वियोगिनी स्त्रियों की बँधी हुई वेणी को खोलने की उत्कण्ठा पूरी कर सकें॥४१॥

जब तुम इस प्रकार कहोगे तो जैसे हनुमान जी को सामने देखकर सीता जी उत्सुक हुई थीं, उसी प्रकार उत्सुक एवं सुप्रसन्न चित्त से वह तुम्हारी ओर मुंह उठाकर देखेगी और तुम्हारा स्वागत करेगी। पुनः वह सन्देश सुनने के लिए सर्वथा एकाग्र चित्त हो जायगी। हे सौम्य! विरहिणी स्त्रियों के पास उनके प्रियतम का जो सन्देश स्वामी के मित्र द्वारा पहुँचता है वह पति के साक्षात् मिलन से कुछ ही कम महत्त्व रखता है॥४२॥

हे मेरे चिरजीवी मित्र! इसलिए मेरे कहने से तथा अपनी परोपकार की भावना से तुम इस प्रकार से अपनी सखी से कहना—हे अबले! तुम्हारा सहचर रामगिरि के आश्रमों में अभी जीवित है। तुम्हारे वियोग की व्यथा में व्याकुल चित्त होकर उसने तुम्हारा कुशल-क्षेम पूछा है। जहाँ प्राणियों के निकट प्रतिक्षण विपत्ति है वहाँ सबसे पहले कुशलक्षेम की बात ही पूछने योग्य है॥४३॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥५२॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥५३॥

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति॥५४॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥५५॥

हे कल्याणी! अनेक प्रकार की कल्पनाओं में मन को रमाकर मैं स्वयं अपने आप को धैर्य देकर अपना जीवन सुरक्षित किए हुए हूँ अतः तुम भी अपने मन का धैर्य सर्वथा खो मत देना। संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसे सदैव सुख ही मिला हो और कौन ऐसा है जिसके भाग्य में सदैव दुःख ही दुःख हो। मनुष्य की दशा पहिये के चक्कर के समान बारी बारी से ऊपर नीचे फिरती रहती है॥५२॥

जब भगवान् विष्णु शेषनाग की शैय्या त्याग कर उठेंगे अर्थात् आगामी कार्तिक मास की देवोत्थापनी एकादशी को, तब मेरे शाप का अन्त हो जायगा। इसलिए इन बचे हुए चारों महीनों को तुम आँखें मीच कर बिता देना। उसके अनन्तर तो हम लोग विरह-काल में सोची गई अपनी-अपनी अभिलाषाओं को कार्तिक महीने की उजाली रातों में पूरी करेंगे॥५३॥

तुम्हारे प्रियतम ने इतना और भी कहा है—एक बार तुम पलँग पर मेरा आलिंगन करती हुई सोई हुई थी कि अकस्मात् रुदन करती हुई जाग पड़ी! जब मैंने बारबार तुमसे रुदन का कारण पूछा तो तुमने मंद हँसी के साथ यह कहा था कि—हे छलिया! आज स्वप्न में मैंने तुम्हें किसी दूसरी स्त्री के साथ सम्भोगरत देखा है॥५४॥

हे चकित नेत्रोंवाली! इस पहचान वाली रहस्यमयी बात से मुझे सकुशल समझ लेना। और लोकापवाद सुनकर कहीं मेरे विषय में अपना विश्वास मत खो देना। लोग बताते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि वियोगावस्था में मन में चाहे हुए विषयों के उपभोग न होने से प्रियतम का स्नेह-रस बढ़कर एकत्र भण्डार के रूप में हो जाता है॥५५॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥५६॥
कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥५७॥
एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥५८॥
तस्मादद्रेर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां
यक्षागारं विगलितनिभं दृष्टिचिह्नैर्विदित्वा
मत्संदिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रयत्नात्
तद्गेहिन्याः सकलमवदत्कामरूपी पयोदः ॥५९॥

इस प्रकार प्रथम बार के वियोग के तीव्र शोक से व्याकुल उस अपनी सखी को तुम आश्वासन देना। और फिर उस कैलाश पर्वत से, जिसके शिखर पर शिव का नन्दी अपनी सींगों से धक्का देकर उसे गिराने का खिलवाड़ करता है, तुम शीघ्र ही वापस चले आना। और रहस्यभरी पहचान के साथ उसके द्वारा भेजे गए कुशल सन्देश से प्रातःकाल के कुन्द-पुष्प के समान सुकुमार मेरे जीवन को भी शक्ति देना ॥५६॥

हे सौम्य! क्या तुमने अपने इस बन्धु के कार्य को पूरा करने का निश्चय कर लिया है। मैं यह नहीं मानता कि तुम इसके उत्तर में भी कुछ कहो, तभी तुम्हारी स्वीकृति समझी जाय। तुम्हारा तो यह स्वभाव है कि तुम गरजने के बिना भी (अर्थात् बिना कुछ कहे ही) याचक बने चातकों को जल देते हो। सच तो यह है कि सज्जन लोग याचकों की अभिलाषा पूरी करके ही उनका प्रत्युत्तर देते हैं ॥५७॥

हे जलद! मित्रता के कारण, अथवा मैं विरह दुःख से पीड़ित हूँ—इसलिए मेरे ऊपर अनुग्रह बुद्धि रखकर मेरे इस अनुरोध को अनुचित मानते हुए भी तुम मेरा यह कार्य पूरा कर देना और फिर वर्षा-ऋतु की शोभा लिए हुए अपने मनचाहे स्थानों में विचरण करना। (मेरा आशीष है कि) तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण भर के लिए भी मेरी तरह वियोग न सहना पड़े ॥५८॥

यक्ष की इन बातों को सुनकर अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाला वह मेघ रामगिरि से चलकर अलकापुरी पहुँच गया और यक्ष द्वारा बताए गए चिह्नों को देखकर उसने यक्ष का वह भवन पहचान लिया, जिसकी शोभा फीकी पड़ गई थी। वहाँ पर उसने यक्ष की प्रियतमा से उक्त प्यार-भरा सन्देश सुना दिया, जिसे यक्ष ने बड़े यत्न से प्रेषित किया था ॥५९॥

*तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥६०॥
*श्रुत्वा वार्ता जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥६१॥
*इत्याख्याते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीषु
स्थित्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप।
मत्वागारं कनकरुचिरं लक्षणैः पूर्वमुक्तैः
तस्योत्संगे क्षितितलगतां तां च दीनां ददर्श ॥६२॥
*इत्थंभूतं सुचरितपदं मेघदूताभिधानं
कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदः।
मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता बुद्धिभावः कवीनां
नत्वार्यायाश्चरणकमलं कालिदासश्चकार ॥६३॥

इति श्रीमहाकविकालिदासकृतौ मेघदूते उत्तरमेघः समाप्तः ॥

* वहाँ पहुँचकर जन-कल्याण में निरत उस श्रेष्ठ मेघ ने दैवी शब्दों में उस यक्ष की स्त्री के प्राणों को बचाने के लिए उसका सब सन्देश कह सुनाया। यक्ष की स्त्री अपने प्रियतम पति का कुशल-समाचार पाकर फूली नहीं समाई। सच है, श्रेष्ठ लोगों से प्रार्थना करने पर अभीष्ट प्रयोजन में सफलता किसे नहीं मिलती ॥६०॥

जब धनपति कुबेर ने यह बात सुनी कि मेघ ने उस यक्ष की पत्नी को ऐसा सन्देश दिया है तब उसके मन में बड़ी करुणा हुई। उनका क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने भी अपना शाप वापस लेकर इन दोनों पति-पत्नी को आपस में मिला दिया। इस मिलन से उनका सब दुःख दूर हो गया और वे पुनः पूर्ववत् प्रसन्न हो गए। फिर तो उन दोनों को शाश्वत ऐसा सुख मिला कि सभी प्रकार के अभीष्ट भोगों की प्राप्ति हुई और कोई दुःख भोगने का अवसर ही नहीं लगा ॥६१॥

यह सुनकर मेघ वहाँ से चल पड़ा और कभी पहाड़ियों पर, कभी नदियों पर और कभी नगरों में ठहरते हुए थोड़े ही दिनों बाद कुबेर की राजधानी अलकापुरी में पहुँच गया। वहाँ अपने मित्र यक्ष के बताए हुए चिह्नों से विरही यक्ष का सुवर्ण के समान चमकता हुआ भवन पहचान लिया और उसने देखा कि यक्ष की पत्नी बेचारी उस भवन में धरती पर पड़ी हुई है और उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है ॥६२॥

कवि कालिदास ने आर्या भगवती के चरण-कमलों में सिर झुकाकर इस सुन्दरता से सजाए गए शब्दों में 'मेघदूत' नामक कविता की रचना की है। यह रचना वियोग के समय उन सभी लोगों का मनोरंजन करेगी जो काम-क्रीडा से विरहित हैं। साथ ही इस कृति में मेघ की अत्यन्त चतुरता का तथा कवियों की उदात्त कल्पनाओं का परिचय भी मिलेगा ॥६३॥

महाकवि श्री कालिदास कृत मेघदूत में उत्तर मेघ समाप्त ॥

# ऋतुसंहारम्

## प्रथमः सर्गः

### ग्रीष्मवर्णनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसंचयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥१॥
निशाः शशाङ्कक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥३॥
नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥४॥

## पहला सर्ग

### ग्रीष्म ऋतु का वर्णन

कोई प्रेमी अपनी प्रेयसी से कहता है—हे प्रिये ! यह ग्रीष्म ऋतु आ गई। सूर्य बहुत तप रहा है, चन्द्रमा की सभी लोग अभिलाषा करते हैं। निरन्तर अवगाहन (स्नान तथा आलोडन) से नदियों तथा सरोवरों का जल कम हो गया है।' संध्या बड़ी मनोरम हो रही है और कामदेव का वेग शान्त हो गया है ॥१॥

हे प्रिये ! इस ग्रीष्म ऋतु में तो लोग यह चाहते हैं कि खिले हुए चन्द्रमा की चाँदनी-रात हो, रँग बिरंगे जलयन्त्र (फौव्वारा) से युक्त मकान हो, इधर उधर अनेक प्रकार के रत्न बिखरे पड़े हों और सुगन्धियुक्त गीला चन्दन चारों ओर छिड़का हुआ हो ॥२॥

इस ग्रीष्म ऋतु की रात में सुगन्धि से युक्त अट्टालिकाएँ, प्रेमिकाओं के मुख के उच्छ्वासों से युक्त मदिरा और कामोद्दीपक मधुर गीतों की आवश्यकता का कामीजन अनुभव किया करते हैं ॥३॥

हे प्रिये ! इस ग्रीष्म ऋतु में प्रेयसी सुन्दरियाँ, सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनकर, नितम्बों के ऊपर करधनी धारण कर, स्तनमण्डलों पर माला तथा पुष्पों के आभरण और घिसा हुआ चन्दन लगाकर तथा केशकलापों में सुगन्धित स्नानीय चूर्ण तथा सुगन्धित धूप आदि लगाकर अपने प्रेमीजनों की गरमी को दूर करती हैं ॥४॥

नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीना चरणैः सनूपुरैः।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम्॥५॥
पयोधराश्चन्दनपंकर्चिचतास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम्॥६॥
समुद्गतस्वेदशिताङ्गसंधयो विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम्।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः॥७॥
सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः॥८॥
सितेषु हर्म्येषु निशासु योषिता सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम्॥९॥
असह्यवातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यातपतापिता मही।
न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः॥१०॥
मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसंनिभं नभः॥११॥

इस ग्रीष्म ऋतु मे स्थूल नितम्बोंवाली सुन्दरी स्त्रियाँ चिरणो मे महावर लगाकर तथा प्रत्येक चरण विन्यास में हंसो के समान मधुर ध्वनि करनेवाले नूपुरो को धारणकर जब गमन करती हैं तो अपने प्रेमीजनो के अन्त करण को कामोत्तेजना से भर देती है॥५॥

तुषार के समान श्वेत माला को धारण किए हुए तथा चन्दन से लिप्त सुशीतल दोनो स्तन, सुवर्ण की करधनियो से विभूषित नितम्बभाग भला किसके चित्त को उत्सुकता से भर नही देते॥६॥

इस ग्रीष्म ऋतु मे सभी अग प्रत्यगो से पसीना निकलने के कारण नवयौवनवाली सुन्दरी स्त्रियाँ अपने मोटे वस्त्रो को उतारकर अपने ऊँचे-ऊँचे स्तनों पर महीन वस्त्रो को लपेट लेती हैं॥७॥

इस ऋतु मे चन्दन युक्त जल से सिंचित पखो की हवा से, पुष्पमालाओ से सुसज्जित स्त्रियो के स्थूल स्तनो के स्पर्श से तथा वाणा के साथ-साथ गाए गए सुमधुर सगीत से सोता हुआ कामदेव जाग पडता है॥८॥

इस ग्रीष्म ऋतु मे रात में अपने भवन की छतो पर सुख से सोई हुई रमणियो के मुखों को उत्सुकतापूर्वक बहुत देर तक देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा लज्जा के कारण सवेरे के समय पाण्डुवर्ण का हो जाता है॥९॥

इस ग्रीष्म ऋतु मे असहनीय वायु से उडनेवाली धूल प्रकार से चारो ओर व्याप्त तथा प्रचण्ड सूर्य की धूप से तपाई गई पृथ्वी, अपनी प्रियतमा के वियाग की अग्नि में जिनके चित्त झुलस गए हैं, ऐसे प्रवासियो द्वारा देखी भी नही जा सकती॥१०॥

इस ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य की प्रचण्ड धूप से अत्यन्त तपाए गए मृग, जिनके तालू अति प्यास के कारण सूख गए हैं, एक वन से दूसरे वन मे अजन के समान नीले नभ को जल समझ कर दौड रहे हैं॥११॥

सविभ्रमैः सस्मितजिह्मवीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम्।
अनङ्गसंदीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः॥१२॥
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि तप्तपांसुभिः।
अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन्मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति॥१३॥
तृषा महत्या हतविक्रमोद्यमः श्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः।
न हन्त्यदूरेऽपि गजान्मृगेश्वरा
विशुष्ककण्ठोद्गतसीकराम्भसो
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न व
हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम्॥१६॥
सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोत्रमण्डलैः।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम्॥१७॥
विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्कतोयात्सरसोऽभितापितः।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति॥१८॥

चमकते हुए चन्द्रमा से युक्त रात्रि के समान विलासिनी सुन्दरियाँ चन्द्रमा के समान उज्ज्वल चन्द्रहार आदि आभूषणों से सुसज्जित होकर अपनी हाव-भाव युक्त मुस्कराहट एवं चितवनों से प्रवासी पुरुषों के मन में शीघ्र ही कामोद्दीपन कर देती हैं॥१२॥

सूर्य की प्रचण्ड किरणों से अत्यन्त पीड़ित तथा मार्ग की जलती हुई धूल से झुलसा हुआ सर्प अपना मुँह नीचे की ओर छिपाकर बार बार फुफकार छोड़ते हुए मयूर की छाया के नीचे कुण्डली मारकर बैठा हुआ है। (ऐसी भीषण गर्मी है कि परस्पर की शत्रुता भूलकर सब अपनी अपनी व्याकुलता में व्यस्त हैं।)॥१३॥

सिंह प्यास के कारण बलहीन हो गया है अतः मुँह बाए हुए बार-बार साँसें छोड़ रहा है अर्थात् हाँफ रहा है और अपनी जीभ से अपने होंठों को चाट रहा है। इसके कन्धे की केसर हिल रही है और अपने समीप में स्थित होने पर भी यह हाथियों को नहीं मार रहा है॥१४॥

और ये हाथी सूर्य की किरणों अर्थात् धूप तथा प्यास से बेचैन होकर अपने सूखे मुखों से झाग फेंकते हुए जल की तलाश में इधर-उधर घूम रहे हैं और सिंह को देखकर भी उससे डर नहीं रहे हैं॥१५॥

हवन की अग्नि के समान जलते हुए सूर्य की किरणों से जिन मयूरों के शरीर और मन दोनों सुस्त पड़ गए हैं वे अपने समीप में ही कुण्डली मारकर बैठे हुए साँपों को नहीं मार रहे हैं और अपने मुँह को अपने पंखों के समूह में छिपाए हुए हैं॥१६॥

रवि की किरणों से अत्यन्त झुलसा हुआ यह जंगली सुअरों का झुण्ड अपने लम्बे-लम्बे थूथनों से नागरमोथों से भरे बिना कीचड़वाले गड्ढों को खोदता हुआ ऐसा मालूम पड़ता है मानो (शीतलता की प्राप्ति के लिए यह) रसातल में प्रविष्ट होना चाहता है॥१७॥

प्रचण्ड सूर्य से सतापित होकर यह मेढकों का समूह गरम तथा कीचड़ युक्त जल से कूदकर, शीतलता पाने की इच्छा से प्यास से पीड़ित सर्पों के फण रूपी छतरियों के नीचे आश्रय लिए हुए है॥१८॥

समुद्धृताशेषमृणालजालकं विपन्नमीनं द्रुतभीतसारसम्।
परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्दमम्॥१९॥
रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयलीढमारुतः।
विषाग्निसूर्यातपतापितः फणी न हन्ति मण्डूककुलं तृषाकुलः॥२०॥
सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम्।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम्॥२१॥
पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः
परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः ।
दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ताद्
विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः॥२२॥
श्वसिति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः
कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम्।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छन्-
शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्॥२३॥
विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
तटविटपलताग्रालिङ्गनव्याकुलेन दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन॥२४॥

आपस में एक दूसरे से युद्ध करते हुए इन हाथियों ने सरोवर के समस्त कमलों को उखाड़ डाला है, इसकी मछलियों को रौंद डाला है तथा सभी सारसों को भयभीत करके दूर भगा दिया है॥१९॥

सूर्य की किरणों से जिसके सिर की मणि चमक रही है, ऐसा वह सर्प अपनी चपल जीभों से वायु को चाट रहा है और अपने विष तथा सूर्य की प्रचण्ड धूप से पीड़ित होने के कारण अत्यन्त प्यास से इस प्रकार विह्वल है कि (अपने समीप में ही स्थित) मेढकों के समूह को खा नहीं रहा है॥२०॥

जिन भैंसों के मुख से जुगाली की झाग निकल रही है और लार बह रही है, वे अपना अपना मुँह खोलकर अपनी लाल-लाल जीभों को बाहर निकाले हुए अत्यन्त प्यास के कारण मुँह ऊपर की ओर किए पहाड़ की गुफा से बाहर निकलकर जलाशय की ओर लपकी चली जा रही है॥२१॥

इस ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड दावाग्नि से जंगल के घास-फूस भस्म हो गए हैं, वृक्षों की डालियाँ झुलस गई हैं, तीक्ष्ण हवा के झोंकों से सूखे पत्ते उड़ रहे हैं, सूर्य के प्रचण्ड ताप से जलाशय सूख गए हैं, इस प्रकार (सुनसान) वन में चारों ओर देखने से भय-सा लग रहा है॥२२॥

जिन वृक्षों के पत्ते झड़ चुके हैं, उनपर पक्षी वृन्द बैठकर हाँफ रहे हैं, थके हुए वानरों का समूह पर्वत के कुञ्ज में जा रहा है, नीलगायों का समूह चारों ओर जल की तलाश करते हुए दौड़ रहा है और शरभ मृग सीधे बने हुए कुएँ से गटागट पानी पी रहा है॥२३॥

पूरी तरह खिले नए कुसुम्भों के पुष्प के समान तथा स्वच्छ सिन्दूर के समान लाल लाल चमकने वाली, प्रबल वायु से और अधिक धधक उठनेवाली तट पर खड़े वृक्षों और लताओं के ऊपरी भाग को चूमती हुई दावाग्नि से सभी दिशाओं की धरती भी जल गई है॥२४॥

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादः शुष्कवंशस्थलीषु।
प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥२५॥
बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु
स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम्।
परिणतदलशाखानुत्पतन् प्रांशुवृक्षा-
न्भ्रमति पवनधूतः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते ॥२६॥
गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा
सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय।
हुतवहपरिखेदादाशु निर्गत्य कक्षाद्-
विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥२७॥
कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः
सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो
निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥२८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे ग्रीष्मवर्णनं
नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

वन के बीच से उठनी हुई और तीव्र वायु से और अधिक भड़की हुई दावाग्नि की लपटें पर्वत की उपत्यका मे फैलकर वहाँ के समस्त पशुओ को भी जलाए डाल रही है। वह सूखे बांसो मे चटचटा रही है और क्षण भर मे ही आगे बढ़कर घासों को पकड़ रही है ॥२५॥

तीव्र वायु द्वारा भड़काई गई और सेमर के वृक्षो के कुंजो मे फैली हुई यह दावाग्नि वृक्ष के खोखलों मे अपनी सुनहली पीली प्रभा चमकाती हुई उन ऊँचे वृक्षो के ऊपर उछलती हुई वन मे चारों ओर घूम रही है, जिनकी शाखाओ के पत्ते भयंकर गर्मी के कारण पककर झड़ चुके हैं ॥२६॥

आग से जिनके शरीर झुलस गये हैं ऐसे हाथी, नीलगाय और शेर आग दावाग्नि से पीड़ित होने के कारण मित्र बनकर और अपनी शत्रुता भुलाकर उस घास के जंगल से झटपट बाहर निकल आए हैं और नदी के चौड़े तथा रेतीले तट पर आकर विश्राम ले रहे हैं ॥२७॥

जिसमे कमलों से भरे हुए और खिले हुए पाटल की सुगंध से सुवासित जल मे स्नान करना बहुत अच्छा लगता है और जिन दिनो मे चन्द्रमा की चाँदनी तथा मोती के हार बहुत आनन्द देते हैं—वह ग्रीष्म ऋतु आपकी इस प्रकार से व्यतीत हो कि रात्रि मे आप अपने भवन की छत पर लेटे हों, सुन्दरी स्त्रियाँ आपको घेर कर बैठी हुई हों और (समीप मे) मनोहर संगीत हो रहा हो ॥२८॥

महाकवि श्री कालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य मे ग्रीष्मऋतु
वर्णन नामक प्रथम सर्ग समाप्त ॥१॥

# द्वितीयः सर्गः

## प्रावृड्वर्णनम्

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥१॥
नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसंनिभैः।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥२॥
तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥३॥
बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम्।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥४॥
प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥५॥

# द्वितीय सर्ग

## वर्षावर्णन

हे प्रिये ! जल के बिन्दुओ से भरे हुए बादलो के मतवाले हाथी पर आरूढ, चमकती हुई बिजली की पताका फहराता हुआ, बादलो की गर्जना का मृदग बजाता हुआ कामुक जनो का प्रिय पावस राजाओ के समान ठाट-बाट लगाकर आ गया है ॥१॥

कहीं पर तो नीले कमल की पखुडी के समान नीले, कहीं ताजे पारे गए काजल की राशि के समान काले और कहीं गर्भिणी स्त्री के स्तन को भाँति पीले रग के बादल आकाश मे छाए हुए हैं ॥२॥

प्यास से व्याकुल चातक पक्षियो के समूह जिनसे जल की प्रार्थना कर रहे हैं ऐसे ये बादल जल के भार से नीचे की ओर झुके हुए कानो को मधुर लगनेवाली गर्जना करते हुए और अनेक धाराओ मे बरसते हुए धीरे-धीरे चले जा रहे हैं ॥३॥

मृदग के समान शब्द करते हुए, बिजली की प्रत्यचा से युक्त सातरगो का इन्द्र धनुष चढाए हुए बादल अपनी तीक्ष्ण धारा के पैने बाणो की वृष्टि करके, प्रवासी जनो के चित्त को बडा क्लेश पहुँचाते हैं ॥४॥

छितराई हुई वैदूर्य मणि के समान सुशोभित घास के कोमल अकुरो से व्याप्त, ऊपर निकले हुए कन्दली (कुकुरमुत्ता) के पत्तो से लदी हुई तथा लाल रग की बीरबहूटियो से व्याप्त धरती उस सुन्दरी नायिका के समान दिखाई पड रही है, जो सफेद रग को छोडकर अन्य सभी रग के रत्नो का आभूषण पहने हुए हो ॥५॥

सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापलोभितम् ।
ससंभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥६॥
निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥७॥
तृणोत्करैरुद्गतकोमलांकुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः ।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥८॥
विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
समाचिता सैकतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥९॥
अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि ।
तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥१०॥
पयोधरैर्भीमगभीरनिस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम् ।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥११॥
विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः ।
निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम् ॥१२॥

सदैव मधुर बोलने वाले, गरजते हुए मेघों की शोभा पर प्रसन्न होकर मगन हो उठने वाले तथा पंख खोलकर फैलाने से अतीव मनोहर लगने वाले ये मयूरों के समूह सहसा अपनी प्रियतमा मयूरिनियों को गले लगाते एवं चूमते हुए नृत्य में प्रवृत्त दिखाई पड रहे हैं ॥६॥

चारों ओर अपने तट पर उगे हुए वृक्षों को अपने गंदे जल की तीव्र धारा से गिराती हुई नदियाँ, बडी शीघ्रता के साथ समुद्र की ओर इस प्रकार भागी जा रही है जिस प्रकार कुलटा स्त्रियाँ प्रेम में अन्धी होकर अपने कुल मर्यादा को तोडकर अपने प्रेमी के पास भागती हुई जाती है ॥७॥

हरिणियों के मुखों से कुतरी हुई विचित्र ढंग की नीली एवं हरी-हरी घासों तथा नूतन किसलयों से सुशोभित वृक्षों से सब ओर विभूषित विन्ध्याचल के जंगल किसके चित्त को नहीं हर लेते है ॥८॥

चंचल कमल की पंखुरी के समान मनोहर नेत्रों के कारण सुशोभित मुखोंवाले एवं डरे हुए हरिणों से चारों ओर घिरी हुई, रेतीली धरती से युक्त यह वनस्थली चित्त को उत्सुकता से भर देती है ॥९॥

अभिसारिणी स्त्रियाँ बारम्बार ऊँचे स्वर में गरजन करते हुए बादलों द्वारा घोर अन्धकार से युक्त रजनी में भी, बिजली की चमक से अपने मार्ग को देखते हुए अत्यन्त अनुराग के साथ अपने प्रेमीजनों के पास चली जा रही हैं ॥१०॥

बादलों की भयंकर एवं गम्भीर गर्जना को सुनकर तथा बिजली की चमक से अत्यन्त भयभीत रमणियाँ अपनी शैय्या पर अपराध करने वाले प्रियतम को भी अपने प्रगाढ आलिंगन में निरन्तर बाँध रखती हैं ॥११॥

इस वर्षा ऋतु में प्रवासी पतियों की स्त्रियाँ अपने नेत्र-कमल से गिराती हुई आँसुओं की धारा से बिम्बा फल के समान लाल एवं नई कोंपलों के समान कोमल ओंठों को सींचती हुई तथा अपनी माला, आभूषण, तेल-फुलेल एवं अंगरागादि को त्यागकर अत्यन्त निराश मन से अपना समय बिताती हैं ॥ १२॥

विपाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम्।
ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्।।१३।।
विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया।।१४।।
वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः।
कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः[1] सभृङ्गयूथैर्मदवारिभिश्चिताः।।१५।।
सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः।।१६।।
कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयंस्तत्कुसुमाधिवासितः।
ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम्।।१७।।
शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम्।।१८।।
वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः।।१९।।

छोटे-मोटे कीड़ो, ग्रीष्म-ऋतु की धूल तथा कूड़े-कबाड़ को बहाता हुआ मटमैला बरसाती पानी, सर्प के समान टेढी मेढी गति से, नीची जमीन से बहा जा रहा है और बेचारे मेढक उसे सर्प समझकर अत्यन्त भय से देख रहे है।।१३।।

कानों को मधुर लगनेवाली सुहावनी तान से गूंजते हुए भ्रमरो का समूह बिना पत्तों तथा पुष्पो वाली कमलिनी को छोड़कर, नये कमल की आशा से, मूर्खतावश अपने नृत्य में निरत मयूरो के कलापो के ऊपर जाकर गिर रहा है।।१४।।

नये-नये बादलो की गर्जना से जब वन के हाथी उन्मत्त हो उठते हैं, बार-बार आवाज करने लगते हैं और उनके मस्तक से बहते हुए मद पर भ्रमर आकर लिपट जाते हैं, तब उस समय उन हाथियो के मस्तक स्वच्छ नीले कमल के समान दिखाई पड़ते है।।१५।।

ऐसे पर्वत, जिनके शिखरो को श्वेत कमल के समान बादल चूम रहे हैं, जिनके चारो ओर झरने झर रहे हैं और जो नृत्य मे निरत मयूरो से सर्वत्र व्याप्त है वे दर्शकों के चित्त को अतीव समुत्सुक बना रहे हैं।।१६।।

कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और केतकी से भरे हुए जगल को कँपाता हुआ और इनके पुष्पो की सुगन्ध से पूरित एव मेघो तथा चन्द्रमा की किरणो के सम्पर्क से शीतल बहने वाला वायु किसे नहीं मस्त बना रहा है।।१७।।

इस वर्षा ऋतु मे स्त्रियाँ अपने नितम्बो तक केश को लटकाकर, अपने कानो मे सुगन्धित पुष्पों के आभूषण पहनकर, स्तन कुण्डलो को माला से सुशोभित कर तथा मदिरा का पान कर अपने कामुक प्रेमियो के चित्त मे प्रेम पैदा करती है।।१८।।

इस वर्षा ऋतु मे नदियाँ बहती है, बादल बरसते हैं, मतवाले हाथी चिग्घाडते है, जगलो में हरियाली छाई रहती है, अपने प्रेमी जना से विरहिणी स्त्रियाँ रोनी-कल्पनी हैं, मयूर नृत्य करते हैं, और वानर चुप रह कर गुफाओं मे छिप जाते हैं।।१९।।

तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
स्त्रियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥२०॥
मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य ।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च ॥२१॥
कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्ग्यः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥२२॥
कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैर्मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥२३॥
मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥२४॥
शिरसि बकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यूथिकाकुड्मलैश्च ।
विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥२५॥

विजली की लता के समान लोल चमक एवं इन्द्र धनुष से विभूषित और जल के भार से नीचे झुकी हुई काले-काले बादलों की घटाएँ तथा करधनी एवं रत्नजटित कुण्डलों से सुशोभित रमणियाँ—ये दोनों ही प्रवास में रहनेवाले पुरुषों का चित्त एक साथ ही हर लेती हैं ॥२०॥

इस वर्षा ऋतु में सुन्दरी स्त्रियाँ नवीन, केसर, केतकी, और कदम्ब के नये-नये पुष्पों की मालाएँ गूँथकर अपनी वेणी को सजाती हैं और कानों में ककुभ की मंजरियों का मनचाहे ढंग का आभरण धारण करती हैं ॥२१॥

जिन रमणियों के अंगों पर अगर-मिश्रित चन्दन लगा हुआ है, जिनकी वेणी पुष्पों के स्तवकों से सुगंधित है, वे मेघों का गर्जन सुनकर तुरन्त अपने घर के बड़े-बूढ़ों के समीप से उठकर सन्ध्या के समय ही अपने शयनागार में प्रविष्ट हो जाती हैं ॥२२॥

कमल की पखुरियों के समान श्यामल, पानी के भार से नीचे झुक जाने के कारण बहुत थोड़ी ही ऊँचाई पर छाए हुए, पवन के सहारे धीमी गति से चलते हुए जिन मेघों में इन्द्रधनुष शोभायमान है, उन्होंने प्रवास में गए हुए पति वाली स्त्रियों का मानो सुध-बुध ही खो दी है और इस समय वे बेचारी अपने प्रियतमों के वियोग से विह्वल हो उठी हैं ॥२३॥

नूतन जल-वृष्टि के सींचने के कारण जिसका ताप नष्ट हो चुका है—ऐसा यह वन-प्रदेश चारों ओर फूले हुए कदम्ब के पुष्पों से इस प्रकार मालूम पड़ रहा है जैसे यह अत्यन्त आनन्द में मग्न हो गया है। वायु से झूमती हुई वृक्षों की शाखाओं को देखकर ऐसा लगता है जैसे यह हाथ मटका-मटकाकर नृत्य कर रहा हो और केतकी की उज्ज्वल कलियों को देखकर ऐसा लगता है जैसे यह खिलखिलाकर हँस रहा हो ॥२४॥

यह वर्षा ऋतु मानो प्रेमी नायक की भाँति अपनी प्रेमिका के सिर को सजाने के लिए जूही की नई-नई कलियों तथा मालती और मौलसिरी के कुसुमों की माला गूँथ रहा है और उनके कानों के लिए खिले हुए नूतन कदम्ब के पुष्पों का कर्णफूल बना रहा है ॥२५॥

दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं, ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ।।२६।।
नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरतिनभस्वान्प्रोषितानां मनांसि।।२७।
जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः ।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिःसमुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्।२८।
बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी तरुविटपलतानां बान्धवो निर्विकारः ।
जलदसमय एष प्राणिनां प्राणभूतो दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि।२९।

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे प्रावृड्वर्णनं
नाम द्वितीयः सर्गः ।।२।।

इस वर्षा ऋतु मे सुन्दरी स्त्रियाँ अपने स्थूल उन्नत मनोहर उरोजो पर मोती की माला धारण करती है और अपने स्थूल गोले नितम्बो पर महीन उजली रेशमी साडी पहनती हैं। उनके उदर भाग मे दिखाई पडनेवाली सुन्दर त्रिवलो पर जब वर्षा की नूतन फुहारें पडती हैं तो वहाँ के नन्हे नन्हे रोम-समूह खडे हो जाते है।।२६।।

वर्षा ऋतु के नूतन जल-सीकरों से शीतल पवन, पुष्पों के भार से अवनत वृक्षों को नचा रहा है। केतकी के कुसुमो का पराग लेकर चारों ओर मनोमोहक सुगन्धि बिखेर रहा है और प्रवास मे गए हुए प्रेमी जनो के चित्त को चुरा रहा है।।२७।।

ये जल के भार से अवनत मेघ-समूह, ग्रीष्म ऋतु की अग्नि की लपटो से झुलसे हुए विन्ध्याचल की तपन को अपनी प्रचण्ड जल-वृष्टि से यह समझकर बुझा रहा है, मानो जब हम पानी के भार मे गरुआए हुए यहाँ आते है तो यह हमारे लिए सहारा देता है।।२८।।

अपने बहुत से उपकारी गुणो के कारण सुहावनी लगनेवाली, स्त्रियों के मुरझाए मानस को खिला देने वाली, विकार रहित वृक्षों की शाखाओ तथा लताओ की सच्ची सखी, तथा समस्त चराचर जीवों को जीवन देने वाली यह वर्षा ऋतु आपके मन की अभिलाषा पूरी करे।।२९।।

महाकवि श्रीकालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य मे वर्षा ऋतु
वर्णन नामक द्वितीय सर्ग समाप्त।।२।।

# तृतीयः सर्गः

## शरद्वर्णनम्

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिव रूपरम्या ॥१॥
काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥२॥
चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताण्डजपङ्क्तिहाराः।
नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥३॥
व्योम क्वचिद्रजतशङ्खमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः।
संलक्ष्यते पवनवेगचलैः पयोदैः राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥४॥

# तीसरा सर्ग

## शरद्ऋतु का वर्णन

फूले हुए काश के वस्त्र धारण किए हुए, मतवाले हंसों की सुहावनी बोली के बिछुए पहने, पके हुए धान के मनोहर एवं नीचे झुके हुए शरीर धारण किए खिले हुए कमल के समान सुन्दर मुखवाली यह शरद ऋतु नई-नई ब्याही हुई सुन्दरी वधू के समान अब आ गई है॥१॥

इस शरद् ऋतु ने कास की झाड़ियों से पृथ्वी को, चन्द्रमा द्वारा रात्रि को, हंसों द्वारा नदियों के जल को, कमलों द्वारा सरोवरों को, पुष्पों के बोझ से नीचे झुके हुए सप्तच्छद (छतिवन) के वृक्षों से जंगल को और मालती के पुष्पों से उपवनों को उज्ज्वल बना दिया है॥२॥

इस शरद् ऋतु में नदियाँ उसी प्रकार धीमे धीमे बह रही हैं, जैसे करधनी और माला पहने हुए बड़े-बड़े नितम्बों वाली कामिनी जा रही हो, उछलती हुई शफरी मछलियाँ उन नदियों की करधनी हैं, तट पर बैठी हुई सफेद पक्षियों की पंक्तियाँ मालाएँ हैं तथा ऊँचे ऊँचे रेत भरे टीले उनके नितम्ब हैं॥३॥

जहाँ तहाँ चाँदी, शंख और श्वेत कमल के समान सफेद बादल, पानी बरस देने के कारण हल्के होकर पवन के सहारे जा घूम रहे हैं, उनसे भरा हुआ आकाश मण्डल ऐसे राजा के समान सुशोभित हो रहा है, जिस पर सैकड़ों चमर डुलाए जा रहे हों॥४॥

भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परजसाऽरुणिता च भूमिः।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः॥५॥
मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः।
मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित्तं विदारयति कस्य न कोविदारः॥६॥
तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशांकवक्त्रा।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला॥७॥
कारण्डवाननविघट्टितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः।
कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोऽरुणितास्तटिन्यः॥८॥
नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी।
पत्युर्वियोगविषदिग्धशरक्षतानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम्॥९॥
आकम्पयन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयंस्तरुवरान्कुसुमावनम्रान्।
उत्फुल्लपंकजवना नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नभस्वान्॥१०॥
सोन्मादहंसमिथुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि।
मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि॥११॥

ताजे पारे गए अंजन की पिण्डी के समान नीला मनोहर आकाश, दुपहरिया के फूलों से लाल बनी हुई धरती और पके हुए धान से लदे हुए सुन्दर खेत-ये सब इस संसार में किस युवक के चित्त को उत्कण्ठित नहीं कर देते॥५॥

धीमा-धीमा पवन जिसकी शाखाओं के अग्रभागों को हिला रहा है, जिस पर बहुत से पुष्प खिले हुए हैं, जिसकी पत्तियाँ अतीव कोमल हैं, और जिसमें से निकलती हुई मधु की धारा को मतवाले भ्रमर धीरे-धीरे पान कर रहे हैं-वह कोविदार का वृक्ष किसके हृदय को टुकड़े टुकड़े नहीं कर देता है॥६॥

तारागण रूपी अनेक सुन्दर आभूषणों को धारण किए हुए, मेघों के आवरण से मुक्त चन्द्रमा रूपी मुखवाली आजकल की रजनी, निर्मल चाँदनी रूपी उज्ज्वल वस्त्र को धारण कर नई-नवेली सुन्दरी की भाँति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है॥७॥

जिन (नदियों) का जल कमल के मकरन्दों से लाल रंग का हो गया है, जिन पर हंस मधुर ध्वनि कर रहे हैं, जिनकी लहरें जल में रहनेवाले पक्षियों के चोंच से टकराती हैं और जिनके तट पर कदम्ब (बत्तख) और सारस पक्षियों के झुण्ड घूम रहे हैं, वे नदियाँ लोगों को आजकल बड़ी सुहावनी मालूम पड़ती है॥८॥

सबकी आँखों को सुन्दर लगनेवाले जिस चन्द्रमा की किरणें चित्त को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं वही ठण्डी फुहार बरसाने वाला मनोहर चन्द्रमा पति के वियोग रूपी विष बुझे बाणों से घायल सुन्दरियों को अत्यधिक पीड़ित कर रहा है॥९॥

अन्न से लदी बालों के बोझ से झुके हुए धान के पौधों को कँपाता हुआ, पुष्पों से लदे झुके हुए सुन्दर वृक्षों को नचाता हुआ, और खिले हुए कमलों से व्याप्त कमलिनियों को हिलाता हुआ शीतल पवन नवयुवकों के मन को झकझोरे डालता है॥१०॥

जिनके तट पर मतवाले हंसों के जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें खिले हुए सफेद तथा नीले कमल सुशोभित हो रहे हैं और जिनमें प्रातःकाल के धीमे-धीमे पवन से छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं, वे निर्मल सरोवर सहसा हृदय को उत्कण्ठित बना रहे हैं॥११॥

नष्टं धनुर्बलभिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका।
धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः॥१२॥
नृत्यप्रयोगरहिताञ्छिखिनो विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान्।
मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्सप्तच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः॥१३॥
शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम्॥१४॥
कह्लारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वंस्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः।
उत्कण्ठयत्यतितरां पवनः प्रभाते पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः॥१५॥
संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम्॥१६॥
हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः॥१७॥
श्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम्।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कंकेलिपुष्परुचिरा नवमालती च॥१८॥

आज कल न तो बादलों में इन्द्रधनुष दिखाई पड़ते हैं न बिजली ही आकाश में पताका के समान फहरा रही है। न बगले ही अपने पंखों को हिला हिलाकर आकाश को पंखे की हवा डुला रहे हैं और न मयूरों के समूह ही मुँह उठा कर आकाश की ओर देख रहे हैं॥१२॥

जिन मयूरों ने अब अपना नाचना छोड़ दिया है, उन्हें त्यागकर अब कामदेव मधुर सगीत के समान कल-कूजन करनेवाले हंसों के समीप पहुँच गया है और पुष्पों की सुन्दरता भी कदम्ब, कुटज, अर्जुन, सर्ज और नीम के वृक्षों को छोड़कर सप्तपर्ण (छतिवन) के वृक्षों पर जाकर बस गई है॥१३॥

जिन उपवनों में शेफालिका के पुष्पों की मनोहारिणी सुगन्धि फैली हुई है, जिनमें स्वस्थ चित्त से बैठे पक्षियों का कल-कूजन चारों ओर गूँज रहा है, जिनमें कमल के समान आँखों वाली हरिणियाँ यत्र तत्र बैठकर जुगाली कर रही हैं, उन्हें देखकर पुरुषों के मन उत्कण्ठित हो जाते हैं॥१४॥

प्रातःकाल के समय पत्तों पर पड़ी हुई ओस की बूँदों को गिराता हुआ और कल्हार सौगन्धिक, कमल और कुमुद के पुष्पों का स्पर्श कर ठण्डक लेता हुआ जो पवन धीमी-धीमी गति से बह रहा है, वह किसके मन को अतीव उत्कण्ठित नहीं बना देता॥१५॥

जहाँ के खेतों में धान्य से भरे हुए धान के पौधे लहलहा रहे हैं, जहाँ के घास के मैदानों में बहुतेरी गौएँ चर रही हैं, जहाँ बहुतेरे सारसों और हंसों के जोड़े अपनी मधुर ध्वनि में बोल रहे हैं, ऐसे क्षितिज अथवा सीमान्त के स्थान लोगों को बड़े सुन्दर लगते हैं॥१६॥

इस शरद् ऋतु में हंसों ने सुन्दरी स्त्रियों की मनोमोहिनी चाल को, कमलिनियों ने उनके चन्द्रमुख की छवि को, नीले कमलों ने उनकी मतवाली आँखों को और छोटी-छोटी लहरों ने उनकी भौंहों की सुन्दरता को पराजित कर दिया है॥१७॥

जिन हरी-हरी लताओं की शाखाएँ पुष्पों के भार से नीचे की ओर झुक गई हैं, उनकी सुन्दरता ने रमणियों के अनेक आभूषणों से सुशोभित बाहों की सुन्दरता को छीन लिया है, और कंकेलि तथा नई मालती के सुन्दर पुष्पों ने, दाँतों की चमक से अतीव मनोहर स्त्रियों के चन्द्र मुख की मुस्कराहट को लज्जित कर दिया है॥१८॥

केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।
कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥
हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति ॥२०॥

स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां
मरकतमणिभासा वारिणा भूषितानाम्।
श्रियमतिशयरूपां व्योम तोयाशयानां
वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम् ॥२१॥

शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो वान्ति शीता
विगतजलदवृन्दा दिग्विभागा मनोज्ञाः।
विगतकलुषमम्भः श्यानपंका धरित्री
विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम् ॥२२॥

करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता
वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः।
रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म
प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥२३॥

आजकल स्त्रियाँ अपनी अतीव सघन एवं घुंघराली काली अलकों में नवीन मालती के पुष्पों को गूँथती हैं और अपने जिन कानों में कभी सुवर्ण के सुन्दर कुण्डल धारण किए रहती थीं, उनमें उन्होंने अनेक प्रकार के नीले कमल के आभरण धारण कर लिये हैं ॥१९॥

आजकल स्त्रियाँ बड़ी उत्सुकता के साथ अपने स्तनों पर मोतियों के हार धारण करती हैं और चन्दन पोतती हैं और नितम्बों पर करधनियों की लड़ी धारण करती हैं। अपने कमल जैसे सुन्दर एवं कोमल चरणों में वे छम-छम बजने वाले नूपुर धारण करती है ॥२०॥

अतीव प्रसन्न चन्द्रमा और बिखरे हुए तारों से भरा हुआ आजकल का खुला आकाश मण्डल उन सरोवरों के समान दिखाई पड़ता है जिनमें नीलम के समान चमकता हुआ निर्मल जल भरा हो तथा एक राजहंस के साथ यत्र-तत्र बहुत से कुमुद खिले हुए हों ॥२१॥

इस शरद् ऋतु में कमलों को स्पर्श करता हुआ शीतल पवन बहता है। बादलों के न रहने के कारण सब ओर सुहावना दृश्य दिखाई पड़ता है। पानी का मटमैलापन दूर हो गया है, धरती पर का सारा कीचड़ सूख गया है और आकाश के निर्मल किरणों वाला चन्द्रमा और तारे प्रकाशित होते है ॥२२॥

अपने मुख की कान्ति से चन्द्रमा को पराजित करने वाली सुन्दरी स्त्रियाँ अपना सब गाना-बजाना छोड़कर अत्यन्त कामातुर होकर अपने सुन्दर कमल जैसे हाथों को अपने प्रेमियों के हाथों में डालकर उन सुरत क्रीड़ा गृहों में चली जा रही हैं, जिनमें सुगन्धित पुष्पों की शैय्या पहले ही से सजाई जा चुकी है ॥२३॥

सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेता
असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम्।
अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं
शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् ॥२४॥

दिवसकरमयूखैर्बोध्यमानं प्रभाते
वरयुवतिमुखाभं पंकजं जृम्भतेऽद्य।
कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे
हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥२५॥

असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु
क्वणितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु।
अधररुचिरशोभा बन्धुजीवे प्रियाणां
पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥२६॥

स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशांकलक्ष्मीं
काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु।
बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु
क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः ॥२७॥

इस शरद् ऋतु में रतिक्रीडा का आनन्द लेनेवाली और अनूठे रंग से अपना मुँह रंगने वाली युवती स्त्रियाँ जब अपनी सखियों के साथ बैठती हैं तो आपस में अपने ऊपर घटित सब बातें बता देती हैं कि उन्होंने रात में किस-किस प्रकार से रतिक्रीडा का आनन्द लूटा है ॥२४॥

प्रातःकाल के समय सूर्य जब अपने करों (किरणों) से कमल को जगाता है, तब वह कमल सुन्दरी रमणी के मुख के समान खिल उठता है और जिस प्रकार अपने प्रियतम के प्रवास में चले जाने पर स्त्रियों की मुस्कराहट चली जाती है, उसी प्रकार चन्द्रमा के छिप जाने पर कुमुद संकुचित हो जाते हैं ॥२५॥

जब प्रवासी लोग नीले कमल की कान्ति में अपनी प्रियतमा की काली आँखों की छवि निहारते हैं, मस्त हंसों की सुमधुर ध्वनि में अपनी प्रियतमा की सुनहरी करधनी की रुन-झुन सुनते हैं और दोपहरिया के पुष्पों में उनके अधर की चमकती हुई सुन्दरता की चमक देखते हैं तब तो वे बेचारे अपनी सब सुध-बुध भूलकर रुदन करने लगते हैं ॥२६॥

शरत् ऋतु की सुन्दर शोभा कहीं पर तो चन्द्रमा की कान्ति को छोड़कर सुन्दरी स्त्रियों के मुखों में पहुँच गई है, कहीं हंसों की सुमधुर ध्वनि छोड़कर उनके रत्नजटित नूपुरों में चली गई है और कहीं दोपहरिया के पुष्पों की लालिमा को त्यागकर उनके मनोहर अधरों में बस गई है ॥२७॥

विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी
विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं
प्रतिविशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम् ॥२८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शरद्वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

प्रफुल्लित कमल के मुखवाली, फूले हुए नीले कमल की आँखो वाली, फूले हुए काँस की सफेद साड़ी पहने हुई, सुन्दर कुमुद के समान सुन्दर रूपवाली, कामिनी स्त्री के समान मत-वाली शरद् ऋतु आप सब के मन में नई-नई प्रीति की उमगें भरने वाली हो ॥२८॥

महाकवि श्री कालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य में शरद् वर्णन
नामक तीसरा सर्ग समाप्त ॥३॥

# चतुर्थः सर्गः

## हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः।
विलीनपद्मः प्रपततुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥१॥
मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥२॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥३॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान्।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि ॥४॥
गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥५॥

# चौथा सर्ग

## हेमन्त ऋतु का वर्णन

यह तुषार गिराती हुई हेमन्त ऋतु आ गई, जिसमे जौ, गेहूँ, चना आदि अनाजो के नूतन अंकुरों के निकल आने से सब ओर सुहावना दृश्य दिखाई पड रहा है। लोध के वृक्ष फूल गए हैं, धान पक गया है और कमल लुप्त हो चुके हैं ॥१॥

इस हेमन्त ऋतु म विलासिनी एव ऊँचे स्तनो वाली रमणियाँ अपने स्थूल उन्नत उरोजो पर तुषार, कुमुद तथा चन्द्रमा के समान सफेद हार और कुकुम के रगे हुए वस्त्र नहीं धारण करती ॥२॥

आजकल ये कामिनी स्त्रियाँ न तो अपनी दोनो भुजाओ मे कगन और बाजूबन्द ही धारण करती है और न अपने स्थूल नितम्बों पर नूतन रेशमी वस्त्र ही धारण करती हैं और न अपने उन्नत उरोजो पर महीन वस्त्र ही लपेटती है ॥३॥

ये सुन्दरी स्त्रियाँ अपने नितम्बों पर सुवर्ण की बनी एव रत्नो से जडी करधनी भी नहीं धारण करतीं और न अपने कमल के समान सुन्दर एव कोमल चरणो मे वे हस के समान मधुर ध्वनि करने वाले नूपुरो को ही पहनती हैं ॥४॥

आजकल अपने प्रियतमो के सग रमण करने की तैयारी मे ये युवतियाँ अपने शरीर पर कालीयक का चूर्ण मलती है, अपने मुख-कमलो पर अनेक प्रकार की चित्रकारी बनाती हैं और अपने केशो को काले अगुरु का धूप देकर सुगन्धित करती हैं ॥५॥

रतिश्रमक्षामविपाण्डुवक्त्राः संप्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरुण्यः ।
हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेक्ष्य ॥६॥
पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखेदः ।
तृणाग्रलग्नैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोषसि शीतकालः ॥७॥
प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥८॥
प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥९॥
मार्गं समीक्ष्यातिनिरस्तनीरं प्रवासखिन्नं पतिमुद्वहन्त्यः ।
अवेक्ष्यमाणा हरिणेक्षणाक्ष्यः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि ॥१०॥
पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥११॥
पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥१२॥

दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः ।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम् ॥१३॥
काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता बालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥१४॥
अन्या प्रकामसुरतश्रमखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता ॥१५॥
निर्माल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।
पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्ट्यः कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः ॥१६॥
अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
कूर्पासकं परिदधाति नखक्षताङ्गी व्यालम्बिनीलललितालककुञ्चिताक्षी ॥१७॥
अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्ट्यः ।
संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥१८॥

इस हेमन्त ऋतु में प्रियतमों द्वारा जो नवयुवती स्त्रियों के ओठों पर दन्त-क्षत कर दिए जाते हैं, और उनके स्तनों पर नखों से चिह्न बना दिए जाते हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि प्रियतम बड़ी निर्दयता के साथ उनका सम्भोग करते हैं ॥१३॥

कोई सुन्दरी प्रभातकाल में हाथ में दर्पण लेकर धूप में बैठी हुई अपने मुख-कमल का शृंगार कर रही है, और अपने उन ओठों को नीचे खींचकर देख रही है, जिनका रस प्रियतम ने पान कर लिया है और जिन पर प्रियतम के बनाए दन्तक्षत सुशोभित हो रहे हैं ॥१४॥

अत्यन्त सम्भोग के कारण बहुत थकी हुई किसी सुन्दरी की कमल जैसी आँखें रात भर जागते रहने के कारण लाल-लाल हो गई हैं। उसकी वेणी तितर-बितर होकर उसके कन्धों के इधर-उधर बिखरी हुई है और वह प्रातःकाल के सूर्य की कोमल किरणों में धूप का सेवन करती हुई सो गई है ॥१५॥

लंबे, काले तथा घने केशों वाली जिन सुन्दरियों के शरीर स्थूल और उन्नत उरोजों के कारण कुछ झुक गए हैं वे अपने कण्ठ में उस मुरझाई हुई माला को उतार रही हैं, जिसकी मधुर सुगन्धि का आनन्द रात्रि में वे ले चुकी हैं। वे सुन्दरियाँ अपने बालों को फिर से सँवार रही हैं ॥१६॥

नीचे लटकती हुई सुन्दर अलकों से जिसके नेत्र मुँद गए हैं ऐसी नख क्षतों से सुशोभित अंगोंवाली एक दूसरी सुन्दरी अपने प्रियतम द्वारा उपभुक्त शरीर को देख देखकर बड़ी मगन होती हुई अपने अधरों को फिर पहले की तरह मनोहर बनाकर अपनी चोली धारण कर रही है ॥१७॥

जिनके कोमल और लचक वाले शरीर बहुत देर तक सभोग करते रहने के कारण ढीले पड़ गए हैं, वे सुन्दरी युवतियाँ बहुत ही थक गई हैं। उनकी जाँघों और स्तनमण्डलों पर रोमांच हो गया है और वे बैठकर अपने शरीर पर तेल की मालिश करवा रही हैं ॥१८॥

बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी
परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा ।
विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः
प्रदिशतु हिमयुक्तस्त्वेष कालः सुखं वः ॥१९॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं
नाम चतुर्थ. सर्ग. ॥४॥

अपने अनेक उपकारी गुणो से मन को मुग्ध करनेवाली, रमणियो के चित्त क
लुभानेवाली यह हेमन्त ऋतु, जिसमे गावो के समीप पके हुए धानो के खेत लहरा
होते हैं, जिसमे पाला गिरता है, और सारस कल-कूजन करते हैं, आप को सुखदाय
बने ॥१९॥

महाकवि श्री कालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य मे हेमन्तवर्णन नामक
चौथा सर्ग समाप्त ॥४॥

# पञ्चमः सर्गः

## शिशिरवर्णनम्

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम्।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु॥१॥
निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥२॥
न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम्॥३॥
तुषारसंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः।
विपाण्डुतारागणचारुभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः॥४॥
गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥५॥

# पाँचवां सर्ग

## शिशिर ऋतु का वर्णन

हे सुन्दर जाँघो वाली ! जिसमें धान और ईख के खेत अपनी फसलों से मनोहर लगते हैं, जिसमें कहीं-कहीं सारसों की मधुर आवाज भी सुनाई पड जाती है, ऐसी स्त्रियों की प्यारी शरद् ऋतु काम को बहुत बढ़ाती हुई आ गई है, सुनो तो ! ॥१॥

आजकल लोग अपने-अपने घरों में झरोखों को बंद करके, आग ताप कर, धूप का सेवन कर, मोटे मोटे कपडे पहनकर और युवती स्त्रियों का आलिंगन कर अपना समय काटते हैं॥२॥

इस ऋतु में अब न तो किसी को चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया हुआ चन्दन अच्छा लगता है, न शरद् की चन्द्रमा के समान धवलित छतें अच्छी लगती हैं और न घनी ओस से अत्यन्त शीतल वायु ही किसी के मन को भाता है॥३॥

इस शिशिर ऋतु में बरफ के पडने से अत्यन्त ठंडक देने वाली, चन्द्रमा की किरणों से और भी ठंडी बनी हुई तथा पीले-पीले तारों से युक्त रातों को कोई मनुष्य सेवन नहीं करता अर्थात् रात के समय कोई बाहर निकलना पसन्द नहीं करता॥४॥

पुष्पों से बने हुए आसव को पीने से जिनके मुखकमल सुगन्धित हो जाते हैं—वे सुन्दरियाँ आजकल पान खाकर, इत्र-फुलेल लगाकर और मालाएँ पहनकर, काले अगुरु की धूप से खूब सुगन्धित अपने शयन-गृहों में बडी उत्कण्ठा से जा रही हैं॥५॥

कृतापराधान्बहुशोऽभितर्जितान्सवेपथून्साध्वसलुप्तचेतसः ।
निरीक्ष्य भर्तॄन्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः ॥६॥

प्रकामकामैर्युवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताश्चिरम् ।
भ्रमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥७॥

मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः ।
निवेशितान्तःकुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ॥८॥

पयोधरैः कुंकुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥९॥

सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥१०॥

अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते
कृतनिबिडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।
प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं
व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती ॥११॥

काम के मद से मतवाली सुन्दरियाँ अपने जिन पतियो को अपराध करने पर डाँटा-फटकारा था, वे ही जब काँपते हुए और भय से घबराए हुए उनके पास सुख की अभिलाषा लेकर आते हैं तो उनको देखते ही वे उनका सब अपराध भूल जाती है ॥६॥

जो युवतियाँ अपने युवक प्रियतमो के साथ इस ऋतु की लम्बी लम्बी रातो मे बहुत देर तक जी भर कर और निर्दयता के साथ सम्भोग का आनन्द लूट चुकी हैं वे ही स्त्रियाँ रात के इस परिश्रम से दुखती हुई जाँघो के कारण प्रातःकाल होने पर बहुत धीमे-धीमे चल पा रही हैं ॥७॥

सुन्दर चोलियो से अपने स्तनो को कसे हुए, जाँघो पर रेशमी वस्त्र पहने हुए और वेणियो मे पुष्पो को गूँथे हुए सुन्दरी स्त्रियाँ ऐसी लगती हैं मानो शिशिर ऋतु के स्वागतोत्सव को मनाने के लिए ही उन्होने यह श्रृंगार धारण किया हो ॥८॥

इस ऋतु मे कामीजन केसर से अनुरंजित लाल स्तनोवाली और सुख के साथ सेवन करने योग्य युवावस्था की ऊष्मा से विह्वल कामिनी स्त्रियो को निर्दयतापूर्वक छाती से लिपटा कर अपना जाडा दूर करके सुख की नीद सोते हैं ॥९॥

इस शिशिर ऋतु मे सुन्दरी स्त्रियाँ बड़े चाव से रात के समय अपने प्रियतमो के साथ सुस्वादुयुक्त, बढ़िया नशा करने वाली और कामवासना को जगानेवाली ऐसी मदिरा पीती हैं, जिसमे पड़े हुए कमल उनकी सुगंधित साँसो से बराबर हिलते रहते हैं ॥१०॥

प्रातःकाल हो जाने पर भी एक सुन्दरी अपने प्रेमी द्वारा उपभोग किए हुए अपने अंगो को देखती हुई अपने शयन कक्ष से दूसरे कक्ष मे हँसती हुई चली जा रही है। इस समय उसके मुख पर मदिरा की लालिमा नहीं रह गई है और रात भर पति की छाती से चिपके रहने के कारण उसके उरोजो की घुण्डियाँ भी बहुत कठोर हो गई हैं ॥११॥

अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं
गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती।
त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा॥१२॥

कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः
श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः
श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य॥१३॥

पृथुजघनभरार्ताः किंचिदानम्रमध्याः
स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहाय
दधति दिवसयोग्यं वेषमन्यास्तरुण्यः॥१४॥

नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्ता-
नधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः।
अभिमतरतवेषं नन्दयन्त्यस्तरुण्यः
सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि॥१५॥

एक दूसरी स्थूल नितम्बों वाली सुन्दरी जिसकी नाभि गहरी है, कमर लचकदार और पतली है, जिसकी सुन्दरता मन को बलात् खींच लेनेवाली है, अगुरु की धूप के धुँएँ में बाली गई, अपनी माला विहीन घनी घुंघराली अलकों को थामे हुए प्रातःकाल अपने पलंग पर से उठ रही है॥१२॥

इस शिशिर ऋतु में प्रातःकाल के समय स्त्रियों के सुन्दर लाल-लाल ओंठों से युक्त, रक्तिम कोरों से अतीव मनोज्ञ दिखाई पड़ने वाली विशाल आँखों से लोभनीय, कंधे पर बिखरी हुई अलकों से सुशोभित और सुवर्ण-कमल के समान चमकने वाले गोलाकार मुख मण्डलों को देखकर ऐसा लगता है, मानों प्रत्येक घर में लक्ष्मी का निवास हो गया है॥१३॥

अपने स्थूल नितम्बों के भार से दुःखी तथा मोटे मोटे स्तनों के बोझ से नीचे की ओर झुकी कमर वाली और थक जाने के कारण बहुत धीमी गति से चलनेवाली अनेक सुन्दरियाँ रात्रि के सम्भोग के वस्त्रों को उतारकर दिन में पहननेवाले वस्त्रों को धारण कर रही हैं॥१४॥

कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ सूर्योदय का समय हो जाने पर अपने प्रियतम के नखों के घावों से भरे अपने स्तनों को देखती हुई, दाँतों से काटे गए कोपलों के समान कोमल अपने अधरों का स्पर्श करती हुई और इस प्रकार अपने मनोवाछित सम्भोग के वेश पर खिलखिलाती हुई अपने मुखों को सजा रही हैं॥१५॥

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः
प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः
शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥१६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शिशिरवर्णनं
नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

जिसमे गुड तथा राब एवं इनसे बनी मिठाइयाँ अधिक मिलती है, सुस्वादु धान और ईख चारों ओर खेतों में शोभायमान होती हैं, लोगों में सम्भोग की लालसा बहुत बढ जाती है, कामदेव को भी गर्व हो जाता है, और अपने प्रियजनो से विहीन लोगो के चित्त को अत्यन्त सन्ताप मिलता है, ऐसी शिशिर ऋतु आप लोगो का कल्याण करे ॥१६॥

*महाकवि श्री कालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य में शिशिर वर्णन नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥५॥*

# षष्ठः सर्गः

## वसन्तवर्णनम्

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥
द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥२॥
ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥३॥
वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासा प्रमदाजनानाम्।
आम्रद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥४॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥५॥

# छठाँ सर्ग

## वसन्त ऋतु का वर्णन

हे प्रिये! फूले हुए आम की मजरियो के तीखे बाण तथा अपने धनुष पर भ्रमरो की पक्तियो की प्रत्यचा चढाकर वीर वसन्त सभोग के प्रेमी रसिको का हृदय वधने के लिए आ पहुँचा है ॥१॥

हे प्रिये! इस वसन्त ऋतु मे सभी वृक्ष पुष्पो से लदे हैं, जल मे कमल खिले है, स्त्रियाँ काम पीडित हो गई है, वायु सुगन्धि से युक्त है, सन्ध्या का समय अतीव सुहावना होता है और दिन भी रमणीय होते हैं। सचमुच इस ऋतु मे सब कुछ अतीव सुन्दर मालूम पडते हैं ॥२॥

इस वसन्त ऋतु मे कुछ कुछ शीत पडने के कारण भवनो की छतें शीतल रहती हैं, चम्पक के पुष्पो से सुन्दरियो के सिर सुगन्धि से युक्त होते है, और स्त्रियाँ भी इस वसन्त मे मनोहर एव सुगन्धि से युक्त पुष्पो के हार अपने स्तनो पर धारण करती हैं ॥३॥

इस वसन्त के आ जाने पर बावलियो के जल, (सुन्दरी स्त्रियो की) मणियो से जटित करधनियाँ, चन्द्रमा की चाँदनी, रमणियाँ और मजरियो से लदी हुई आम की डालें —इन सब की सुन्दरता और भी बढ जाती है ॥४॥

इस वसन्त ऋतु में विलासिनी रमणियाँ अपने नितम्बो पर कुसुम्भ के लाल फूलो से रँगी साडियाँ पहनती हैं और स्तनो पर केसर से रँगी हुई सूक्ष्म वस्त्रो की बनी चोलियाँ धारण करती हैं ॥५॥

कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्ति प्रमदाजनानाम् ॥६॥
स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि।
प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्च्यः ॥७॥
सपत्रलेखेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु।
रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥८॥
उच्छ्वासयन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कंदर्पसमाकुलानि।
समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एव भवन्ति नार्यः ॥९॥
तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्जृम्भणतत्पराणि।
अङ्गान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥१०॥
छायां जनः समभिवाञ्छति पादपानां नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः।
हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलं च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात् ॥११॥
नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥१२॥

इस ऋतु में स्त्रियों के कानों में नये कनेर के सुन्दर फूल तथा चचल काली अलकों में अशोक के फूल तथा नवमल्लिका (चमेली) की खिली हुई कलियाँ अतीव सुन्दर मालूम पड़ती हैं ॥६॥

कामदेव ने जिनके चित्त को अतीव व्याकुल कर दिया है—ऐसी नितम्बिनी स्त्रियों के स्तन-मण्डलों मे सफेद चन्दन से गीले (मोती के) हार, भुजाओं में भुजबन्ध (बाजूबन्द) और कगन तथा जघनस्थलों पर करधनियाँ सुशोभित होती हैं ॥७॥

इस वसन्त ऋतु में सुनहरे कमल के समान मनोहर एवं चित्रकारी से युक्त रमणियों के मुखों पर फैली हुई पसीने की बूँदें ऐसी दिखाई पड़ती हैं मानो अनेक प्रकार के रत्नों के बीच-बीच में मोती गूँथ दिए गए हों ॥८॥

आजकल अपने पतियों के समीप में रहने पर भी स्त्रियाँ लबी साँसें खीचती हुई, वस्त्रों के बधनों के ढीले हो जाने के कारण अपने कामपीडित अगों को उघाडकर दिखाती हुई अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाती हैं ॥९॥

इस वसन्त ऋतु में कामदेव स्त्रियों को इतना पीडित कर देता है कि उनका शरीर पीला हो जाता है, वे मद से अलसाई हुई बारम्बार जँभाई लेती हैं और फिर भी उनके सम्पूर्ण अगों में कुछ अनोखी-सी सुन्दरता भर जाती है ॥१०॥

इस वसन्त ऋतु में लोग दिन में तो वृक्षों की शीतल छाया में रहना चाहते हैं और रात में चन्द्रमा की शीतल किरणों का आनन्द लेना चाहते हैं। (रात्रि में) सोने के लिए भवनों की सुखदायिनी शीतल छतों का आश्रय लेते हैं और कुछ कुछ ठण्डक पड़ते रहने के कारण अपनी प्रियतमाओं को कसकर अपनी छाती से चिपकाए रखते हैं ॥११॥

इस वसन्त ऋतु में कामदेव रमणियों की मदमाती आँखों में चचलता, गालों में पीलापन, स्तनों में कठोरता, कटिभाग में नम्रता एवं जघनस्थलों में मोटापा बनकर—अनेक रूप धारण करके निवास करता है ॥१२॥

अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किंचिन्मदिरालसानि।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम्॥१३॥
प्रियङ्गुकालीयककुंकुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः।
आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभियुक्तम्॥१४॥
गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः॥१५॥
पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद्द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु॥१६॥
ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः।
कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम्॥१७॥
आमूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।
कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम्॥१८॥

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा
मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः।
कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं
बालातिमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः॥१९॥

आजकल कामदेव ने स्त्रियों के अंगों को निद्रा एवं आलस्य से भर दिया है, जिससे वे कुछ-कुछ मदमाती-सी होकर बड़ी कठिनाई से बोल पाती हैं और भौंहों को टेढ़ी करके कटाक्ष के साथ वे देखती हैं॥१३॥

मद से अलसाई हुई कामिनी रमणियाँ आजकल प्रियंगु, कालीयक और केसर के घोल में मृगों की नाभि अर्थात् कस्तूरी मिलाकर चन्दन का लेप अपने गोरे-गोरे स्तनों पर करती हैं॥१४॥

आजकल कामदेव के मद में अलसाई सुकुमारी रमणियाँ अपने (शिशिर ऋतु के) मोटे-मोटे वस्त्रों को त्याग कर लाक्षा के रंग में रँगे हुए और काले अगुरु के सुगंधित धुएं से सुवासित महीन वस्त्रों को धारण करती हैं॥१५॥

पुरुष (नर) कोकिल आम की मंजरियों के रस से मद-मस्त-सा होकर अपनी प्रियतमा कोयल को अतीव प्रेम से प्रमग्न होकर चूम रहा और कमल पर गुनगुनाता यह भ्रमर भी अपनी प्रियतमा की चाटुकारी कर रहा है॥१६॥

लाल-लाल नई कोंपलों के स्तवकों से नीचे की ओर झुके हुए और मंजरियों से युक्त शाखाओं से सुशोभित आम के वृक्ष जब आजकल पवन के झोंके से हिलने-डुलने लगते हैं तो रमणियों के चित्त को अतीव उत्सुक बना देते हैं॥१७॥

अशोक के वे वृक्ष जिनमें नीचे से लेकर ऊपर तक मूंगे के समान लाल रंग की नई कोंपलें फूट पड़ी हैं और लाल रंग के फूलों से व्याप्त हो गये हैं, देखने मात्र से ही नवयुवती कामिनियों के हृदय को शोक से भर देते हैं॥१८॥

जिनके मनोहर पुष्पों को मदमाते भ्रमर चूम रहे हैं, जिनके नूतन कोमल पल्लव मन्द मन्द वायु के कारण झूल रहे हैं, उन अतिमुक्त नामक नन्हीं-नन्हीं लताओं को देखकर ही कामुक व्यक्तियों का चित्त अकस्मात् उत्सुक हो उठता है॥१९॥

कान्तामुखद्युतिजुषामचिरोद्गतानां
शोभां परां कुरबकद्रुममञ्जरीणाम्।
दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य
कंदर्पबाणपतनव्यथितं हि चेतः॥२०॥
आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुतावधूतैः
सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं
रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः॥२१॥
किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं
किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम्।
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभि-
र्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति॥२२॥
पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम्॥२३॥
आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा
विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते॥२४॥

हे प्रिये! अभी अभी के खिले हुए और सुन्दरी रमणियों के मुख के समान सुन्दर लगने वाले कुरबक के पुष्पों की अनोखी छटा देखकर किस सहृदय व्यक्ति का चित्त कामदेव के बाण लगने से व्यथित नहीं हो जाता॥२०॥

इस वसन्त ऋतु में पवन के झोंकों से हिलता हुआ, जलती हुई अग्नि के समान दिखाई पड़नेवाला एवं पुष्पों के भार से नीचे की ओर झुका हुआ पलाश का वन, जो सर्वत्र दिखाई पड़ता है, उससे सुशोभित यह पृथ्वी लाल चूनर से सुशोभित नव वधू के समान दिखाई पड़ रही है॥२१॥

अपनी प्रियतमा की मुखच्छवि पर लगे हुए नवयुवक प्रेमियों के चित्त को सुग्गे की ठोर के समान पलाश के पुष्पों ने क्या छिन्न-भिन्न नहीं कर दिया था अथवा (आग की लपटों के समान) कनेर के फूलों ने कुछ कम जलाया था जो यह कोयल भी अपनी मधुर कूक सुनाकर उसे और भी नष्ट कर डालने पर उतारू हो गई है॥२२॥

इस वसन्त ऋतु में अत्यन्त हर्षविभोर होकर मधुर स्वर में कूकनेवाले नर-कोकिलों ने तथा मस्ती में भरकर गूंजते हुए भ्रमरों ने कुलीन घरानों की पतिपरायणा स्त्रियों के लज्जा तथा मर्यादा से भरे हृदयों को भी थोड़ी देर के लिए अधीर कर दिया है॥२३॥

इस वसन्त ऋतु में बरफ के न गिरने से वायु मंजरियों से लदी हुई आम की डालों को हिलाता हुआ और कोयल की रसभरी वाणी को दसों दिशाओं में फैलाता हुआ मनुष्यों के हृदय को हरता हुआ अतीव मनोहर ढंग से बह रहा है॥२४॥

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै-
रुद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२५॥
आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः
कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
मासे मधौ मधुरकोकिलभृङ्गनादै-
र्नार्यो हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥२६॥
नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्-
हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान्
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलान्तान्-
दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥२७॥
नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं
घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः।
कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्ति-
र्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२८॥
समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः
कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां
तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय ॥२९॥

विलासिनी सुन्दरियों की हावभाव से युक्त मदभरी हँसी के समान श्वेत कुन्द के पुष्पों से चमकते हुए मनोहर उपवन इस वसन्त ऋतु में राग-राग से दूर रहनेवाले मुनियों के चित्त [illegible]

[illegible]

काम की उत्तेजना से ढीले शरीरवाली रमणियाँ लोगों के चित्त को बरबस ही अपनी ओर खींच लेती हैं ॥२६॥

जिनके शिखरों पर विविध प्रकार के मनोहर पुष्पों से लदे हुए वृक्ष सुशोभित रहते हैं, जिनकी उपत्यकाएँ मुप्रसन्न कोयलों की मधुर कूक से गूँजती रहती हैं, जिन पर पत्थरों की सुविस्तृत चट्टानें फैली होती हैं, उन पर्वतों को देखकर आजकल सभी लोग आनन्द प्राप्त करते हैं ॥२७॥

इस वसन्त ऋतु में अपनी प्रियतमा से दूर रहने के कारण जिनका चित्त बेचैन रहता है, वे पथिक जब मञ्जरियों से लदे हुए आम के वृक्षों को देखते हैं तब शोक के कारण अपनी आँखें मूँद लेते हैं, रुदन करने लगते हैं और हाथ से नाक को बन्द करके उच्च स्वर से विलाप करने लगते हैं ॥२८॥

मतवाले भ्रमरों तथा कोकिलों के मधुर स्वरों से युक्त यह वसन्त का रमणीय समय फूले हुए आमों एवं कनेर के वृक्षों द्वारा पैने बाणों की भाँति मानिनी स्त्रियों के चित्तों को कामोत्तेजित करते हुए व्यथित कर रहा है ॥२९॥

रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चतः पुष्पराशीन्-
मृदुपवनविधूतान्पुष्पितांश्चूतवृक्षान् ।
अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे
मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥३०॥
परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि
स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभै-
रुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥३१॥
कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डै-
रुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः।
मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रान्-
स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान् ॥३२॥
मधुसुरभि मुखाब्जं लोचने लोध्रताम्रे
नवकुरवकपूर्णः केशपाशो मनोज्ञः।
गुरुतरकुचयुग्मं श्रोणिबिम्बं तथैव
न भवति किमिदानीं योषितां मन्मथाय ॥३३॥
आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः।
उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः ॥३४॥

प्रवास में रहनेवाला यात्री एक तो पहले ही से अपनी प्रियतमा के वियोग के कारण दुर्बल रहता है, दूसरे जब वह अपने सामने मार्ग में स्थित मधुर मंद पवन के झोंके से हिलते हुए सुन्दर-सुनहली मंजरियों को गिरानेवाले आम के वृक्षों को देखता है तो कामदेव के बाणों की चोट से वह मूर्च्छित हो जाता है ॥३०॥

यह वसन्त ऋतु हृदय को उत्सुक बनानेवाले कोकिल के मनोहर गीतों से, अपने समय में खिलने वाले कुन्द के पुष्पों की कान्ति से तथा लाल मूँगे के समान वृक्षों के पल्लवों से क्रमशः विलासिनी रमणियों के सुन्दर वचन, उनकी मुस्कराहट के समय की दाँतों की शोभा एवं उनकी कोपलों के समान कोमल रंग की हथेलियों की मानो खिल्ली उड़ा रहा है ॥३१॥

स्तनों के भार से झुकी हुई सुन्दरी स्त्रियाँ (इस वसन्त ऋतु में) अपने सुवर्ण-कमल के समान सुन्दर गौर वर्ण के कपोलोंवाले मुखों से, गीले चन्दन में पुते एवं मुक्ताहार से सुशोभित स्तन मण्डलों से एवं मदमाती तथा चंचल कटाक्षों से युक्त चितवन से शान्त चित्त तपस्वियों के मन को भी डगमग कर देती हैं ॥३२॥

इस वसन्त ऋतु में आसव पीने के कारण सुगन्धित कमल के समान सुन्दरियों का मुख, लोध के पुष्प के समान लाल लाल उनकी आँखें, नूतन कुरबक के पुष्पों से सुन्दर सजे हुए उनके केशपाश, ऊँचे उठे हुए उनके दोनों स्तन और उसी प्रकार बाहर को निकले हुए उनके स्थूल नितम्ब क्या लोगों के हृदयों में काम का उत्तेजन नहीं कर रहे हैं ॥३३॥

फूले हुए (बौरे हुए) आम के वृक्षों में बसे हुए पवन से, मदमस्त कोकिलों की मधुर कूक से तथा कानों को मधुर लगनेवाली भ्रमरों की सुमधुर गुंजार से मनस्विनी स्त्रियों के मन भी (इस वसन्त ऋतु में) डिग जाते हैं ॥३४॥

रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं
सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥३५॥

रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥३६॥

मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्धप्रबन्धः ।
विविधमधुपयूथैर्वेष्ट्यमानः समन्ता-
द्भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥३७॥

आम्री मञ्जुलमञ्जरी वरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्बन्दिनो लोकजि-
त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥३८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे वसन्तवर्णनं नाम
षष्ठः सर्गः ॥६॥

मन को खींच लेनेवाली सन्ध्या, खिली हुई चाँदनी, पुरुष कोकिल की मदमाती कूक, सुगन्धि से भरा हुआ पवन, मतवाले भ्रमरों की गुंजार एवं रात्रि के समय मधु-पान—ये सब इस वसन्त ऋतु में कामदेव को उत्तेजित करनेवाले रसायन हैं ॥३५॥

अमृत से भरे लाल अधरों के समान रक्त-अशोक के पुष्पों से, मदमस्त भ्रमरों की गुंजार से, दाँतों की चमकती हुई पंक्ति के समान उज्ज्वल कुन्द के पुष्पों से निर्मित हारों से, अच्छी तरह से खिले हुए कमल के समान मनोहर मुखों से और आम की मंजरी की सुगन्धि से भरे हुए मन्द-मन्द बहनेवाले पवन से शृंगार की शिक्षा देनेवाला यह कामदेव का मित्र वसन्त आप सब लोगों को कल्पान्त तक प्रसन्न रखे ॥३६॥

मलयगिरि के पवन से युक्त, कोकिल के आलाप से चित्त को लुभानेवाला, सर्वत्र सुगन्धित मधु को छिड़ककर चराचर को सुगन्धि-युक्त करनेवाला, चारों ओर बसे भ्रमरों की पंक्तियों से घिरा हुआ यह श्रेष्ठ वसन्त का समय आप लोगों को सुखकारी बने ॥३७॥

आम की मञ्जुल मंजरी ही जिसका बाण है, पलाश का सुन्दर पुष्प जिसका धनुष है, भ्रमरों की पंक्तियाँ जिसके धनुष की प्रत्यंचा हैं, कलंकविहीन चन्द्रमा जिसका श्वेत छत्र है, मलयगिरि से आया हुआ पवन जिसका मतवाला हाथी है, कोकिल समूह जिसके विरुद-गायक बन्दीजन हैं और शरीर-रहित होकर भी जिसने चराचर संसार को अपने वश में कर लिया है, ऐसा कामदेव अपने सखा वसन्त के साथ आप सबका कल्याण करे ॥३८॥

महाकवि श्री कालिदास कृत ऋतुसंहार काव्य में वसन्त वर्णन नामक
छठाँ सर्ग समाप्त ॥६॥

# द्वितीय खण्ड

## महाकवि कालिदास के नाटक

# अभिज्ञान शाकुन्तल के पात्रों का परिचय

### पुरुष पात्र

सूत्रधार—नाटक का प्रबन्धकर्त्ता।
दुष्यन्त—हस्तिनापुर का सम्राट।
भद्रसेन—दुष्यन्त का सेनापति।
माढव्य—विदूषक और मित्र।
सर्वदमन—दुष्यन्त का पुत्र (भरत)
सोमरात—राजा का धर्मगुरु।
रैवतक—द्वारपाल।
करभक—राजा का सेवक।
पार्वतायन—कञ्चुकी।
वैतालिकौ—राजा के दो बन्दीजन
वैखानस शार्ङ्गरव, शारद्वत, हारीत, गौतम — महर्षि कण्व के शिष्य।
श्याल—राजा दुष्यन्त का साला, प्रधान राजपुरुष।
धीवर—मछुआ।
सूचक, जानुक—राजा के दो सेवक।
मातलि—इन्द्र का सारथी।
मारीच—प्रजापति कश्यप।
दुर्वासा—सुप्रसिद्ध महर्षि।

### स्त्री पात्र

नटी—सूत्रधार की पत्नी।
शकुन्तला—महर्षि कण्व की पोषित कन्या।
अनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तला की सखियाँ।
गौतमी—एक तपस्विनी महिला।
चतुरिका, परभृतिका, मधुकारिका, प्रतिहारी, यवनी — राजा के अन्तःपुर की परिचारिकाएं।
सानुमती—एक अप्सरा।
अदिति—प्रजापति कश्यप की पत्नी।

॥ श्रीः ॥

# अभिज्ञानशाकुन्तलम्

## प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥१॥

[ नान्द्यन्ते ]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण ( नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम्।

नटी—[प्रविश्य] अज्जउत्त इअ म्हि। आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठिअदुत्ति।

(आर्यपुत्र इयमस्मि। आज्ञापयतु आर्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।)

सूत्रधारः—आर्ये इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

## अभिज्ञानशाकुन्तल

### प्रथम अंक

(१) जो (जलमयी मूर्ति) विधाता की सर्वप्रथम रचना है, (२) जो (अग्निमयी मूर्ति) विधिपूर्वक हवन की गई सामग्रियों को उन-उन देवताओं के पास पहुँचानेवाली है, जिनके निमित्त उन्हें हवन किया जाता है, (३) जो (ईश्वर की मूर्ति) होत्री अर्थात् यजमान स्वरूपा है, (४-५) जो (चन्द्रमा और सूर्य के रूप में) रात और दिन को करने वाली है, (६) जो (आकाशमयी मूर्ति) श्रवणेन्द्रिय के विषय—शब्दों का आश्रय बनकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर स्थित है, (७) जो (पृथ्वीमयी मूर्ति) सब प्रकार के बीजों को उत्पन्न करने वाली है, और (८) जिस (वायुरूपी मूर्ति) से संसार के समस्त प्राणी जीवित रहते हैं—इन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली अपनी आठों मूर्तियों से संसार पर उपकार करनेवाले शिवजी आप लोगों की रक्षा करें॥१॥

[मंगलाचरण के समाप्त हो जाने पर]

सूत्रधार—बस। अब अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये! यदि वेश-भूषा की साज-सज्जा समाप्त हो चुकी हो तो यहाँ आ जाओ।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं वि परिहाइस्सदि।
(सुविहितप्रयोगतयाऽऽर्यस्य न किमपि परिहापयिष्यते।)

सूत्रधार—[सस्मितम्] आर्ये कथयामि ते भूतार्थम्—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥२॥

नटी—[सविनयम्] अज्ज एव्व एदम्। अणन्तरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु।

(आर्य एवमेतत्। अनन्तरकरणीयं तावदार्य आज्ञापयतु।)

सूत्रधार—आर्ये किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमोदहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति।

नटी—अथ कदमं उण उदुं अधिकरिअ गाइस्सम्।

(अथ कतमं पुनरृतुं अधिकृत्य गास्यामि।)

सूत्रधार—आर्ये नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। सम्प्रति हि—

---

नटी—[प्रवेश करके] मैं आ गई आर्य पुत्र! आर्य, आज्ञा करें! मेरे लिए क्या आदेश है?

सूत्रधार—आर्ये! सभी रसों और भावों के दीक्षागुरु महाराज विक्रमादित्य की बड़े-बड़े विद्वानों से भरी हुई यह सभा है। अतः इस सभा में हमें कालिदास के बनाये अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नूतन नाटक को दिखाना ही उचित है। इसलिए तुम जाकर सब पात्रों को ठीक करो।

नटी—हमारे सभी पात्र अपने-अपने कामों में विशेष निपुण हैं, अतः उनके कारण आप की हँसी न होगी।

सूत्रधार—[मुस्कराते हुए] आर्ये! मैं तुम से सच-सच बता रहा हूँ कि जब तक विद्वान लोग मेरे नाट्य-कौशल से सन्तुष्ट न हो जायें तब तक मैं अपने नाटक को सफल नहीं मानता, क्योंकि पात्रों को चाहे जितने भी अच्छे ढंग से शिक्षित किया जाय फिर भी उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं रहता॥२॥

नटी—[विनयपूर्वक] आप का कथन सत्य है। अब इसके बाद हमें जो कुछ करना हो आर्य! आज्ञा दें।

सूत्रधार—आर्ये! इस सभा के लिए, कानों को आनन्द देनेवाली सुमधुर तान युक्त गीत को छोड़कर दूसरी और क्या बात हो सकती है।

नटी—तब फिर किस ऋतु का गीत गाया जाय?

सूत्रधार—आर्ये! ग्रीष्म ऋतु अभी थोड़े ही दिनों पहले आई है और अभी सुहावनी लग रही है तो फिर इसी ग्रीष्म ऋतु पर ही कोई गीत गाओ। क्योंकि इस समय—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥३॥

नटी— तह। (तथा) [इति गायति]

ईसीसिचुंबिआइं भमरेहिं सुउमारदरकेसरसिहाइं।
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥४॥

(ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥)

सूत्रधारः—आर्ये साधु गीतम्। अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी—ण अज्जमिस्सेहिं पढम एव्व आणत्तं अहिण्णाणसउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदु त्ति।

(नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति।)

सूत्रधारः—आर्ये सम्यगनुबोधितोऽस्मि। ननु अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया कुतः—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।

[कर्णं दत्त्वा]

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥

[इति निष्क्रान्तौ]

---

जल में स्नान करना बहुत अच्छा लगता है, पाटल की सुगन्धि से सुरभित वन का पवन भी बड़ा अच्छा लगता है, वृक्षों की सघन छाया में नींद आसानी से लग जाती है और सूर्यास्त के समय का दिन तो बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ता है ॥३॥

नटी—जो आज्ञा। [गाती है]

यह देखो, भ्रमरों ने धीरे-धीरे जिनका चुम्बन किया है, उन कोमल केसर से युक्त शिरीष के पुष्पों को, मदमाती तरुणियाँ सदय भाव से (चुनकर) अपने कानों का आभूषण बना रही हैं ॥४॥

सूत्रधार—आर्ये! तुमने बहुत अच्छा गीत गाया। ओह! तुम्हारे मधुर राग से तो इस सभा के लोग ऐसे मुग्ध हो गए हैं कि यह सम्पूर्ण रंगशाला ही चित्रलिखी-सी जान पड़ती है। तो बताओ, अब कौन-सा नाटक दिखाकर इन सब को प्रसन्न किया जाय?

नटी—आर्यचरण ने तो अभी-अभी कहा था न कि अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नवीन नाटक का अभिनय किया जायगा।

सूत्रधार—आर्ये! तू ने ठीक स्मरण दिलाया। मैं तो इस समय सचमुच भूल गया था।

तुम्हारे गीत के सुमधुर राग ने मेरे चित्त को बलपूर्वक उसी प्रकार खींच लिया—

[कान लगाकर सुनते हुए]

जैसे वेग से दौड़ते हुए इस हरिण ने राजा दुष्यन्त को यहाँ खींच लिया है ॥५॥

[नट और नटी—दोनों चले जाते हैं।]

॥ इति प्रस्तावना ॥

[ ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च । ]

सूतः—[ राजानं मृगं चावलोक्य ] आयुष्मन् ।

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥६॥

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥

[ सविस्मयम् ] तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ।

सूतः—आयुष्मन् उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः । संप्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

---

प्रस्तावना समाप्त ।

[इसके बाद सारथी के साथ रथ पर बैठे हुए धनुष-बाणधारी राजा दुष्यन्त हरिण का पीछा करते हुए प्रवेश करते है—]

सारथी—[राजा और मृग को देखकर] आयुष्मन् !

इस कृष्णसार मृग पर आँखें लगाए हुए और धनुष पर डोरी चढ़ाए हुए आप (इस समय) ऐसे दिखाई पड रहे है मानो साक्षात् शिवजी मृग का पीछा करते हुए भागे आ रहे हैं ॥६॥

राजा—सारथी ! यह हरिण तो हम लोगो को बहुत दूर खीच ले आया है और अब भी यह—

बार-बार पीछे की ओर मुड कर इस हमारे रथ को अपलक नेत्रो से देखता हुआ, सुन्दर दिखाई पडनेवाला यह मृग, बाण लगने के भय से अपने शरीर के पिछले आधे भाग को सिकोडकर अगले आधे भाग से मिलाता हुआ किस प्रकार से दौड रहा है। दौडने के परिश्रम से इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग भर मे गिरती चली जा रही है। देखो, यह इतनी लबी-लबी छलाँगें भर रहा है कि अधिकतर आकाश मे ही चल रहा है और पृथ्वी पर बहुत थोडा चल रहा है ॥७॥

[आश्चर्य के साथ] अरे ! हम तो इसके पीछे-पीछे ही दौड रहे हैं, फिर यह हरिण इतनी दूर हमसे हो गया है कि कठिनाई से दिखाई पड रहा है।

सारथी—आयुष्मन् ! यह जमीन ऊँची नीची रही, इसी से मैंने रथ के घोडो की बागडोर खींच रखी थी, जिसके कारण हमारे रथ का वेग धीमा हो गया था और हरिण उतनी दूर निकल गया। किन्तु अब समतल भूमि पर तुम्हारे पहुँच जाने से उसका मिलना कठिन नही है।

राजा—तब फिर घोडो की बागडोर छोड (ढीली कर) दो।

सूत—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। [रथवेगं निरूप्य] आयुष्मन् पश्य पश्य।

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥८॥

राजा—[सहर्षम्] नूनमतीत्य हरिणं हर्यो वर्तन्ते। तथा हि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥९॥

सूत पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। [इति शरसंधानं नाटयति।]

[नेपथ्ये] भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूत—[आकर्ण्यावलोक्य च] आयुष्मन् अस्य खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्ण-सारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—[ससंभ्रमम्] तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूत—तथा। [इति रथं स्थापयति।]

[ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः।]

---

सारथी—आयुष्मान् की जो आज्ञा। [रथ का वेग देखकर] देखिए आयुष्मन्! देखिए तो।

बागडोर के छोड देने पर अपने शरीर के आगे का भाग विस्तृत कर, माथे की चौंरी को सीधी खडी करके तथा कानों को ऊपर उठाकर ये हमारे रथ के घोडे इतने तीव्र वेग से दौड रहे हैं कि अपने पैरों से उठी हुई धूल से भी ये आगे ही रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे ये उस हरिण के वेग को नहीं सहन कर रहे हो॥८॥

राजा—[प्रसन्नता के साथ] निश्चय ही अब इन हमारे घोडों ने हरिण को पछाड दिया। क्योंकि—

जो वस्तु दूर से सूक्ष्म दिखाई पडती है वह तुरन्त (वेगपूर्वक रथ के समीप पहुँच जाने पर) मोटी हो जाती है, जो वस्तु मध्य भाग से कटी जान पडती है वह तुरन्त जुडी हुई मालूम देती है और जो वस्तुएँ स्वभावतः टेढी हैं, वे भी नेत्रों को सीधी मालूम देती हैं। हमारे रथ के वेग से क्षण भर के लिए भी कोई वस्तु न तो हम से दूर रह पाती है और न हमारे समीप ही रह पाती है॥९॥

सारथी! बस अब इस हरिण को मारा जाता हुआ देखो। [ऐसा कहकर धनुष पर बाण चढाने का अभिनय करता है]

[नेपथ्य में] अरे! अरे! राजन्! यह आश्रम का हरिण है। इसे नहीं मारना चाहिए, नहीं मारना चाहिए।

सारथी—[सुनकर और देखकर] आयुष्मन्! आपके बाण के पथ के सामने इस काले हरिण के बीच में तपस्वी आकर खडे हो गये हैं।

राजा—[घबराहट के साथ] तब फिर घोडों की रास खींच लो।

सूत—बहुत अच्छा [रथ को रोक लेता है]

[इसके बाद दो शिष्यों के साथ एक तपस्वी प्रवेश करता है]

वैखानस—[हस्तमुद्यम्य] राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते॥१०॥
तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥११॥

राजा—एष प्रतिसंहृत [इति यथोक्तं करोति।]

वैखानस—सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥१२॥

इतरौ—[हस्तमुद्यम्य] सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा—[सप्रणामम्] प्रतिगृहीतम्।

वैखानस—राजन् समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपात तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेय सत्कार। अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्ना क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति॥१३॥

---

वैखानस—[हाथ उठाकर] राजन्! यह आश्रम का हरिण है। इसे नहीं मारना चाहिए। नहीं मारना चाहिए।

रुई की राशि में अग्नि फेंकने के समान इस हरिण के कोमल शरीर में आपको यह बाण नहीं मारना चाहिए। कहाँ तो बेचारे हरिणों का अति चपल जीवन और कहाँ वज्र के समान कठोर आपके तीखे बाण॥१०॥

इसलिए यह जो आपने अपने धनुष को तानकर चढ़ाया है उसे नीचे उतार लो। क्योंकि आप लोगों का अस्त्र दुःखियों के दुःखों को दूर करने के लिए है, निरपराधों को मारने के लिए नहीं॥११॥

राजा—*यह लीजिए, उतार लिया। [बाण को धनुष से नीचे उतार लेता है]*

वैखानस—पुरुवंश के प्रदीप आप जैसे राजा के लिए यही उचित है—

जिसका जन्म महाराज पुरु के वंश में हुआ है उसको ऐसा तो करना ही चाहिए। आपको अपने ही गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो॥१२॥

दोनों शिष्य—[हाथ ऊपर उठाकर] निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो।

राजा—[प्रणाम करते हुए] आपका शुभाशीर्वाद स्वीकार करता हूँ।

वैखानस—राजन्! हम लोग समिधा लेने के लिए निकले हैं। यह सामने ही मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व का आश्रम दिखाई पड़ रहा है। यदि किसी अन्य कार्य का हर्ज न हो तो आश्रम में चलकर हमारा अतिथिसत्कार स्वीकार करें। और,

तपस्वियों की सुचारु रूप से निर्विघ्न सम्पन्न होती क्रियाओं को देखकर आप यह भी जान लेंगे कि धनुष की प्रत्यंचा के खींचने से पैदा होनेवाले घट्टों से युक्त आपकी भुजा कहाँ-कहाँ तक पहुँचकर लोगों की रक्षा करती है॥१३॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

राजा—भवतु तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

वैखानसः—साधयामस्तावत्। [इति सशिष्यो निष्क्रान्तः।]

राजा—सूत तूर्णं चोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। [इति भूयो रथवेगं निरूपयति।]

राजा—[समन्तादवलोक्य] सूत अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति।

सूतः—कथमिव।

राजा—किं न पश्यति भवान्। इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।

---

राजा—तो क्या गुरु जी यहाँ हैं?

वैखानस—अभी-अभी अपनी कन्या शकुन्तला को अतिथिसत्कार के लिए नियुक्त करके उसी के अरिष्ट ग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ चले गये हैं।

राजा—अच्छी बात है। मैं उसी से मिलूँगा। वह महर्षि से बता देगी कि उनमें मेरी कितनी भक्ति है?

वैखानस—तब हम लोग चल रहे हैं [शिष्यों के साथ बाहर जाते हैं]

राजा—सारथी! घोड़ों को शीघ्र आगे बढ़ाओ। पुण्याश्रम के दर्शन से अपने आपको पवित्र करें।

सारथी—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा। [फिर से अपने रथ का वेग दिखाता है]

राजा—[चारों ओर देखकर] सारथी! बिना किसी के बताए ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह आश्रम के तपोवन की सीमा है।

सूत—यह कैसे?

राजा—क्या तुम देख नहीं रहे हो? क्योंकि यहाँ कहीं खोखलों में बैठे हुए सुग्गों के बच्चों के मुख से गिरे हुए तिन्नी के दाने वृक्षों के नीचे बिखरे पड़े हैं, कहीं इंगुदी के फल तोड़ने के कारण चिकने पत्थर दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं निर्भय मृग इस विश्वास से हमारे रथ के शब्दों को सुनते हुए भी नहीं दौड़ रहे हैं कि कोई मारेगा नहीं और कहीं जलाशयों को जानेवाले मार्ग भी (मुनियों के) वल्कलों के छोर से टपकनेवाले जल से सिञ्चित हैं॥१४॥

एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्भांकुरायां।
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥१५॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम्।

राजा—[स्तोकमन्तरं गत्वा] तपोवननिवासिनामुपरोधो माभूत्। एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि।

सूतः—धृता प्रग्रहा अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—[अवतीर्य] सूत विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद् गृह्यताम्। [इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति।] सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[परिक्रम्यावलोक्य च] इदमाश्रमद्वारम् यावत्प्रविशामि। [प्रविश्य निमित्तं सूचयन्]

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

[नेपथ्ये] इदो इदो सहीओ। (इत इतः सख्यौ)

---

और भी, वायु के कारण लहरें वनने से चचल गूल (छोटी नहर) के जल से यहाँ के वृक्षों की जडें धुल गई है, घी आदि की आहुति से उत्पन्न होनेवाले धुंए से चमकती हुई कोपलो का रग कुछ बदल गया है, और जहाँ से कुश के अकुरों को निकाल लिया गया है ऐसी उपवन भूमि मे ये हरिण के बच्चे निर्भय होकर धीरे-धीरे चर रहे है ॥१५॥

सारथी—आप का कहना यथार्थ है।

राजा—[कुछ आगे बढकर] आश्रमवासियो को हम लोगो के आ जाने से किसी प्रकार की बाधा न हो इसलिए तुम रथ को यही रोक दो। मैं उतर जाता हूँ।

सारथी—[मैंने बागडोर खीच ली है। आयुष्मान् उतर जायें।

राजा—[रथ से नीचे उतर कर] सारथी! तपोवन मे विनीत वेश मे प्रवेश करना उचित है। इसलिए इन सब को तब तक तुम सम्हालो [अपने आभूषण तथा धनुष को उतारकर देता है] और सारथी! जब तक मैं आश्रमवासियो से भेंट करके वापस लौटूँ तब तक तुम घोडो को ठण्डा कर लो।

सारथी—जैसी आज्ञा [प्रस्थान करता है]

राजा—[लौटकर और देख कर] यही आश्रम का प्रवेश द्वार मालूम पडता है। इसी से भीतर चलूँ [प्रवेश करके शुभ शकुन की सूचना देते हुए] यह आश्रम शान्त स्थान है और यहाँ पहुँचने पर मेरी दाहिनी भुजा फडक रही है, इसका फल यहाँ कहाँ मिल सकता है। अथवा होनेवाली बात के लिए सर्वत्र द्वार खुले रहते हैं ॥१६॥

[नेपथ्य के भीतर से] इधर आओ सखियो, इधर आओ।

राजा—[कर्णं दत्त्वा] अये दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अये एतास्तपस्विकन्यका स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। [निपुणं निरूप्य] अहो मधुरमासां दर्शनम्।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥१७॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। [इति विलोकयन्स्थितः।]

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।]

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ। [इत इतः सख्यौ]

अनसूया—हला सउन्दले तुवत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता।

(हला शकुन्तले त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।)

शकुन्तला—ण केवलं तादणिओओ एव्व। अत्थि मे सोदरसणेहो वि एदेसु।

(न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।)

[इति वृक्षसेचनं रूपयति।]

राजा—कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् कण्वः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

---

राजा—[कान उधर करके] वाटिका की दाहिनी ओर किसी की बातचीत की तरह सुनाई पड़ रहा है। उधर ही चलता हूँ। [घूमकर और देखकर] अरे रे! ये तपस्वियों की कन्याएँ अपने-अपने कद के अनुसार छोटे-बड़े सींचने के घड़ों को लेकर छोटे-छोटे पौधों में जल डालने के लिए इसी ओर चली आ रही हैं। [अच्छी तरह देखकर] ओ हो! ये तो परम सुन्दरी हैं।

अन्तःपुर की रानियों में भी जो सुन्दरता बड़ी कठिनाई से देखने को मिलती है, वह यदि इन आश्रमवासिनी कन्याओं को मिली है तो इससे यह समझना चाहिए कि जंगल में उत्पन्न लताओं ने अपनी विशेषताओं से उद्यान में लगायी गयी तथा पाली-पोसी गयी लताओं को परास्त कर दिया है॥१७॥

अच्छा तब तक इसी छाया में रुककर इनकी प्रतीक्षा करूँ। [उस ओर देखते हुए खड़ा रहता है]

[छोटे छोटे पौधों को सींचती हुई दो सखियों के साथ शकुन्तला का प्रवेश]

शकुन्तला—सखियो! इधर आओ, इधर।

अनसूया—प्यारी सखी शकुन्तला! मैं समझती हूँ कि ये आश्रम के वृक्ष पिता कण्व को दृष्टि में तुमसे भी अधिक प्यारे हैं, इसी से चमेली की कली के समान सुकुमार अंगोंवाली तुम को भी उन्होंने इनके थाल्हा में जल डालने का काम सौंप दिया है।

शकुन्तला—केवल पिता जी की आज्ञा से ही मैं इन्हें नहीं सींचती हूँ, मेरा भी तो इनसे सहोदर-सा स्नेह है। [पौधों में पानी देने का नाट्य करती है]

राजा—क्या यही कण्व ऋषि की पुत्री शकुन्तला है। सचमुच माननीय कण्व की यह बात विवेक-हीन मालूम पड़ती है, जो इसे भी उन्होंने आश्रम के कामों में नियुक्त कर दिया है।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलता छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१८॥

भवतु। पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। [इति तथा करोति।]

शकुन्तला--सहि अणसूए अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअन्तिद म्हि। सिढिलेहि दाव णं।

(सखि अनसूये अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि। शिथिलय तावदेतत्।)

अनसूया--तह (तथा) [इति शिथिलयति।]

प्रियंवदा--[सहासम्] एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालभेसि। (अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे।)

राजा--काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति कुतः।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१९॥

---

जो ऋषि इस सहज सुन्दर शरीर से तपस्या का कष्ट सहन करने के लिए चाह रहे हैं वे सचमुच नीले कमल की पखुडी की धार से शमी का वृक्ष काटना चाहते है ॥१८॥

अच्छा, जो भी हो, तब तक निश्चिन्त होकर वृक्षो की आड से इसे खूब देख तो लूँ। [ ऐसा ही करता है]

शकुन्तला--सखी अनसूया! प्रियंवदा ने ऐसा कसकर यह वल्कल बाँध दिया है कि मैं हिलने-डोलने मे भी कठिनाई अनुभव कर रही हूँ। तुम इसे तनिक ढीला तो कर दो।

प्रियंवदा--[हँसती हुई] स्तनो को इतना बड़ा देनेवाले अपने यौवन को उलाहना दो। मुझे क्या उलाहना देती हो।

राजा--यद्यपि इसका सुकुमार शरीर वल्कल धारण करने योग्य नही है, फिर भी यह वल्कल भी इसके शरीर को अलंकारो के समान सुशोभित नही कर रहा है, ऐसी बात नहीं है क्योंकि--

सेवार से चारो ओर घिरा होने पर भी कमल सुन्दर ही लगता है, चन्द्रमा मे दिखाई पडनेवाला कलंक भी उसकी शोभा को बढाता ही है। वैसे वल्कल को धारण किए हुए भी यह कृशांगी अत्यंत मनोहर दिखाई पड रहा है। सच्ची बात तो यह है कि मधुर आकृतिवालो के लिए कौन-सी वस्तु अलंकार नहीं बन जाती ॥१९॥

शकुन्तला—[अग्रतोऽवलोक्य] एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव ण संभावेमि। (एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां चूतवृक्षः। यावदेनं सम्भावयामि) [इति परिक्रामति।]

प्रियंवदा—हला सउन्दले एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि।

(हला शकुन्तले अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं चूतवृक्षकः प्रतिभाति।)

शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं (अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्।)

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥ २०॥

अनसूया—हला सउन्दले इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणि त्ति णोमालिआ। णं विसुमरिदा सि।

(हला शकुन्तले इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि।)

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। [लतामुपेत्यावलोक्य च] हला रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो।

---

शकुन्तला—[आगे की ओर देखकर] यह सामने जो आम का वृक्ष है, वह पवन के झोंकों से हिलती हुई पल्लवों की अंगुलियों से मुझे शीघ्रता से अपने समीप बुला रहा है। जाकर इसका भी मान रख आऊँ। [उधर घूमती है]

प्रियंवदा—प्यारी शकुन्तला! तनिक क्षण भर तू यहीं ठहर जा। जब तू इस पेड़ में लगकर खड़ी होती है तब यह आम का वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उसके संग कोई लता लिपटी हुई हो।—

शकुन्तला—इन्हीं सब बातों से तो तुम्हारा नाम प्रियंवदा रखा गया है।

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला को एकदम सत्य और प्रिय बात ही तो कहा है। सचमुच—इसके ओठ लता के नूतन किसलय के समान लाल हैं, इसकी दोनों भुजाएँ लता की कोमल शाखाओं के समान प्रतीत होती हैं, और इसके सभी अंगों में खिला हुआ नवयौवन लता के लुभावने पुष्प की भाँति दिखाई पड़ रहा है॥२०॥—

*अनसूया—प्यारी शकुन्तला! यह इस आम के वृक्ष की अपने आप पसन्द की गई* नवमल्लिका की लता है, जिसका नाम तुमने वनज्योत्स्ना रखा है। इसे तो तू भूल ही गई थी।

शकुन्तला—तब तो मैं अपने को ही भूल जाऊँगी [लता के पास पहुँचकर और उसे देखकर] सखी! सचमुच इस नवमल्लिका तथा इस वृक्ष का मिलन बड़े सुन्दर अवसर पर हुआ है। इधर नवीन कुसुमों से खिली हुई जवानी से मनोहर वनज्योत्स्ना है और उधर फलों से लदी हुई शाखाओं से युक्त यह आम का वृक्ष भी जवानी पर आने से इसके सेवन करने योग्य है। [उसे देखती हुई खड़ी रहती है]

(तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि। हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः।) [इति पश्यन्ती तिष्ठति।]

प्रियंवदा—[सस्मितम्] अणसूए जाणासि किं णिमित्तं सउन्दला वणजोसिणीं अदिमेत्तं पेक्खदित्ति।

(अनसूये जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति।)

अनसूया—ण क्खु विभावेमि कहेहि। (न खलु विभावयामि कथय।)

प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअत्ति। (यथा वनज्योत्स्ना अनुरूपेण पादपेन संगता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।)

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो। (एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः) [इति कलशमावर्जयति।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्। अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥२१॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—[ससंभ्रमम्] अम्मो सलिलसेअसम्भमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। (अम्मो सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।) [इति भ्रमरबाधां रूपयति।]

---

प्रियंवदा—[मुस्कराती हुई] अनुसूया! क्या तुम जानती हो कि शकुन्तला इतनी मगन होकर इस वनज्योत्स्ना को क्यों देख रही है?

अनसूया—नहीं, मैं तो नहीं समझ पा रही हूँ। तुम्हीं बताओ।

प्रियंवदा—जैसे यह वनज्योत्स्ना अपने अनुरूप इस आम के वृक्ष के साथ मिल गई है, वैसे ही मैं भी अपने योग्य वर प्राप्त करूँ—इसलिए।

शकुन्तला—यह तो तू निश्चय ही अपने मन की बात कह रही है। [घड़े का जल पेड़ में डालती है]

राजा—तो क्या यह कुलपति कण्व की ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण से उत्पन्न कन्या है? अथवा सन्देह करना व्यर्थ है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षत्रिय के ग्रहण करने योग्य है जिससे मेरा विशुद्ध मन भी इसे चाहता है। क्योंकि किसी सन्दिग्ध वस्तु में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं॥२१॥

फिर भी मैं इसका ठीक-ठीक पता लगाता हूँ।

शकुन्तला—[घबराहट से] अरे! अरे! जल डालने से घबराकर उड़ा हुआ यह भौंरा नवमालती की लता को छोड़कर बार-बार मेरे ही मुंह पर मँडरा रहा है। [भौंरे से पीड़ित होने का नाट्य करती है]

राजा—[सस्पृहम्]—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥२२॥

शकुन्तला—ण एसो दुट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं [पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्] कहं इदो वि आअच्छदि। हला परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहूअमाणं।

(न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति। हला परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण अभिभूयमानाम्।)

उभे—[सस्मितम्] का वअं परित्तादुं। दुस्सन्दं अक्कन्द। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम।

(के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तमाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।)

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम्। न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत्। भवतु एवं तावदभिधास्ये।

शकुन्तला—[पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्] कहं इदो वि मं अणुसरदि।

(कथमितोऽपि मामनुसरति)

राजा—[सत्वरमुपसृत्य] आः।

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु॥२३॥

---

राजा—[स्पृहा के साथ देखकर] अरे भौंरे! तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो। इधर हम तो सच्ची बात का पता लगाने में ही वंचित रह गए और उधर तुम इस चंचल चितवन वाली, काँपती हुई सुन्दरी को बार-बार छूने जा रहे हो, उसके कानों के पास जा-जाकर ऐसा धीरे-धीरे गुनगुनाते हो, मानो कोई गोपनीय बात उसे सुनाना चाहते हो। और बार-बार हाथों से हटाए जाने पर भी तुम उसके रति-सर्वस्व अधर का पान कर रहे हो॥२२॥

शकुन्तला—अरे! यह दुष्ट नहीं मान रहा है। भागूँ, कहीं और चलूँ। [दूसरे स्थान पर जाकर और आँखें फेरकर] अरे क्या यह दुष्ट यहाँ भी आ गया। अरी सखियो! मुझे बचाओ इस भौंरे से। यह दुष्ट मुझे बहुत परेशान कर रहा है।

दोनों सखियाँ—[मुस्कराती हुई] हम तुम्हें बचानेवाली कौन होती हैं। राजा दुष्यन्त को पुकारो, क्योंकि तपोवन की रक्षा राजा द्वारा की जाती है।

राजा—अपने को प्रकाश में लाने का यह अच्छा अवसर मिला। मत डरो, मत डरो [आधी बात यह कर फिर अपने मन ही मन] किन्तु इससे तो यह समझ जायगी कि मैं राजा दुष्यन्त हूँ। अच्छा, तब फिर मैं इस प्रकार कहता हूँ।

शकुन्तला—[थोड़ा दूर जाकर फिर दृष्टि फेर लेती है] हाय! मैं क्या करूँ, यह तो यहाँ भी मेरा पीछा कर रहा है।

राजा—[शीघ्रता से वहाँ पहुँचकर] ओह—जब तक दुष्टों को दण्ड देनेवाला पुरुवंशी दुष्यन्त इस पृथ्वी पर शासन कर रहा है तब तक कौन ऐसा है जो भोली-भाली ऋषियों की कन्याओं के साथ छेड़छाड़ कर रहा है॥२३॥

[सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः।]

अनसूया—अज्ज ण क्खु किंवि अच्चाहिदं। इअ णो पिअसही दुट्ठ महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा। (आर्य न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी दुष्टमधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता।) [इति शकुन्तलां दर्शयति।]

राजा—[शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा] अपि तपो वर्द्धते।

[शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति।]

अनसूया—दाणिं अदिहिविसेसलाहेण। हला सउन्दले गच्छ उडअं फलमिस्सं अग्घं उवहर इदं पादोदअं भविस्सदि।

(इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति।)

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

प्रियंवदा—तेण हि इमस्सिं दाव पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो।

(तेन ह्यस्यां तावत् प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।)

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनसूया—हला सउन्दले उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं। ता एहि एत्थ उवविसम्ह। (हला शकुन्तले उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम्। तदेहि अत्रोपविशामः।) [इति सर्वा उपविशन्ति।]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअम्हि संवुत्ता। (किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।)

---

[राजा को उपस्थित देखकर सब घबरा जाती हैं]

अनसूया—आर्य ! ऐसी कोई बड़े भय की बात नहीं है। हमारी इस प्यारी सखी को एक दुष्ट भौंरे ने तंग कर रखा था, इसीसे यह कुछ डर-सी गई है [शकुन्तला की ओर संकेत करती है]

राजा—[शकुन्तला के सामने पहुँचकर] तुम्हारी तपस्या तो बढ़ रही है न ?

[शकुन्तला लज्जा से मुँह नीचे करके खड़ी रहती है]

अनसूया—आप जैसे विशेष अतिथि के आगमन से इस समय तो अवश्य इसकी तपस्या बढ़ रही है। सखी शकुन्तला ! जा, आश्रम में कुछ फल-फूल के साथ अर्घ्य तो ले आ। हाँ, चरण धोने का जल तो यही हो जायगा।

राजा—आप लोगों की मधुर-मधुर बातों से ही मेरा आतिथ्य पूरा हो जायगा।

प्रियंवदा—आर्य ! तब फिर घनी छायावाले इस सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे जो शीतल चबूतरा है, वहीं कुछ क्षण रुककर अपनी थकान मिटा लीजिए न !

राजा—आप सब लोग भी तो इस परिश्रम के काम से थक गई होंगी ?

अनसूया—प्यारी शकुन्तला ! हम सबको अतिथि की आज्ञा का पालन करके उनके पास ही रहना चाहिए। तब फिर आ जाओ, यहीं बैठ जायें। [सब बैठती हैं]

शकुन्तला—[मन ही मन] पता नहीं क्यों इन्हें देखकर मेरे मन में ऐसी कुछ उथल-पुथल मची है, जैसी तपोवन में निवास करनेवालों के मन में नहीं होनी चाहिए।

राजा—[सर्वा विलोक्य] अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी महुरं पिअ आलवन्तो पहाववन्तो विअ लक्खीअदि। (अनसूये को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।)

अनसूया—सहि मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। [प्रकाशम्] अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमण-परिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो।

(सखि ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलङ्क्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ मा उत्तम्म। एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूआ मन्तेदि। (हृदय मा उत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।)

राजा—[आत्मगतम्] कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि। भवतु एवं तावदेनां वक्ष्ये-- [प्रकाशम्] भवति यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनसूया—सणाहा दाणिं धम्मआरिणो। (सनाथा इदानीं धर्मचारिणः) [शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति]

---

राजा—[सब की ओर देखकर] आप सभी एक समान सुन्दरी और एक-सी अवस्था वाली हैं अतः आप सब का आपस का प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है।

प्रियंवदा—[धीरे से] अनसूया, यह चतुर और गम्भीर दिखाई पड़ने वाले तथा प्रिय एवं मधुर भाषी कोई महान् पुरुष की भाँति मालूम पड़ रहे हैं।

अनसूया—सखी! मुझे भी इन्हें जानने की बड़ी उत्सुकता है। तब इन्हीं से क्यों न पूछा जाय। [प्रकट रूप में] आर्य! आपकी मधुर वाणी से जो आपके प्रति हम में विश्वास उत्पन्न हो गया है वही हमें आप से यह पूछने के लिए प्रेरित कर रहा है कि श्रीमान् किस राजवंश को सुशोभित करते हैं, किस देश की प्रजा को अपने वियोग से व्याकुल करके यहाँ पधारे हैं और ऐसा कौन-सा विशेष प्रयोजन आ पड़ा है, जिसने आपने इस अतीव सुकुमार शरीर को इस तपोवन तक लाने का कष्ट दिया है।

शकुन्तला—[मन ही मन] हृदय! अधीर मत बनो। तुमने जो कुछ सोचा था, वही सब अनसूया पूछ रही है।

राजा—[मन ही मन] अब किस प्रकार से अपना परिचय दूँ और कैसे अपने को छिपाऊँ। [प्रकट रूप में] पुरुवंशी राजा ने मुझे अपने राज्य के धार्मिक क्रिया-कलापों की देख-रेख का काम सौंप रखा है। इसलिए मैं यहाँ यह देखने के लिए आया हुआ हूँ कि इस आश्रम में रहने वाले तपस्वियों के कार्य में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं पड़ रही है।

अनसूया—हम आश्रमवासी आपके इस आगमन से सनाथ हो गये हैं।

[शकुन्तला प्रेम और लज्जा का नाट्य करती है]

सख्यौ—[ उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम् ] हला सउन्दले जइ एत्थ अज्ज तादो सणिहिदो भवे। (हला शकुन्तले यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्।)

शकुन्तला—तदो किं भवे। (ततः किं भवेत्।)

सख्यौ—इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। (इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।)

शकुन्तला—तुम्हे अवेध। किं वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो वअणं सुणिस्सं। (युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि।)

राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः।

सख्यौ—अज्ज अणुग्गहो विअ इयं अब्भत्थणा। (आर्य अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना।)

राजा—भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तस्यात्मजेति कथमेतत्।

अनसूया—सुणादु अज्जो अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी। (शृणोत्वार्यः। अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः।)

राजा—अस्ति श्रूयते।

अनसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहिं तादकण्णो से पिदा। (तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीर-संवर्धनादिभिस्तातकण्वोऽस्याः पिता।)

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

---

दोनों सखियाँ—[ दुष्यन्त और शकुन्तला की आकृति से मन की बात को ताडकर धीरे से ] शकुन्तला ! यदि आज पिता जी आश्रम में होते—

शकुन्तला—तो क्या होता ?

दोनों सखियाँ—अपने जीवन की सर्वस्व के समान तुम्हें सौंपकर इन महान् अतिथि को कृतार्थ कर देते।

शकुन्तला—हटो, तुम लोग अपने मन में न जाने क्या ले-लेकर सलाह करती रहती हो। तुम दोनों की बात मैं नहीं सुनूँगी।

राजा—हम भी आप लोगों की इस सखी के सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहते हैं।

दोनों सखियाँ—आर्य पूछें न ? यह तो आप की कृपा ही होगी।

राजा—यह बात सब जानते हैं कि महर्षि कण्व जन्म से ही ब्रह्मचारी हैं फिर आपकी यह सखी उनकी पुत्री कैसे हुई ?

अनसूया—आर्य ! सुनें। कौशिक गोत्र के एक महान् प्रतापी राजर्षि हो गये हैं।

राजा—हाँ, है हमने भी सुना है।

अनसूया—तब बस उन्हीं कौशिक राजर्षि (विश्वामित्र) को हमारी इस सखी का जन्मदाता समझिए। इसकी माता ने इसे छोड़ दिया था तो महर्षि कण्व ने इसका पालन-पोषण कर इसे बड़ा किया। इसी से वे इसके दूसरे पिता कहे जाते हैं।

राजा—माता द्वारा छोड़ देने की बात से मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है। मैं इसकी पूरी कथा आरम्भ से सुनना चाहता हूँ।

अनसूया—सुणादु अज्जो। गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणी। (शृणोत्वार्य। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नाम अप्सरा प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी।)

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअरूवं पेक्खिअ—(ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृरूपं प्रेक्ष्य—) [इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति।]

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव सर्वथा अप्सरःसम्भवैषा।

अनसूया—अह इं। (अथ किम्।)

राजा—उपपद्यते।

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥२४॥

(शकुन्तला अधोमुखी तिष्ठति।)

राजा—[आत्मगतम्] हन्त लब्धावकाशो मे मनोरथः। किंतु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः।

प्रियंवदा—[सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा] पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। (पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः।)

---

अनसूया—आर्य। सुनें। बहुत पुरानी बात है। गौतमी नदी के तट पर बैठे हुए वह राजर्षि घोर तपस्या में लीन थे। ऐसा कहा जाता है कि उनकी तपस्या से आशंकित देवताओं ने मेनका नाम की अप्सरा को उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए भेजा।

राजा—दूसरों की तपस्या को देखकर देवताओं को भय होता ही है।

अनसूया—तब वसन्त ऋतु के उस मोहक अवसर पर उस मेनका का उन्मादी यौवन देखकर [आधी बात कहकर लज्जा का नाट्य करती है]

राजा—इसके बाद की कथा तो मालूम ही हो गई कि तुम्हारी यह सखी अप्सरा की पुत्री है।

अनसूया—और क्या?

राजा—ठीक ही है। अन्यथा भला मनुष्य जाति में जन्म लेकर ऐसा मनोहर रूप कहाँ मिल पाता है? चंचल चमक से युक्त बिजली पृथ्वी के भीतर से थोड़े ही निकल सकती है॥२४॥

[शकुन्तला अपना सिर नीचे झुका लेती है]

राजा—[मन ही मन] वाह! मेरे मनोरथ का पूर्ण होने का अवसर मिल गया। किन्तु इसकी सखी प्रियंवदा ने मजाक में इसके वर मिलने की बात अभी कही थी, जिससे मन में कुछ दुविधा हो रही है।

प्रियंवदा—[मुस्कराती हुई शकुन्तला की ओर देखकर फिर राजा की ओर देखती हुई] आर्य! फिर से कुछ पूछना-सा चाहते हैं?

राजा—अलमस्मानन्यथा सभाव्य। राज परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छय।

प्रियवदा—तेण हि णारिहदि एद अगुलीअअं अगुलिविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिआ दाणि एसा। [किंचिद्विहस्य] हला सउन्दले मोइदासि अणुअम्पिणा अज्जेण अहवा महाराएण। गच्छ दाणि (तेन हि नार्हत्येतदगुलीयकमगुलिवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणा इदानीमेषा। हला शकुन्तले मोचितास्यनुकम्पिना आर्येण अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] जइ अत्तणो पहविस्स [प्रकाशम्] का तुम विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि। का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा।)

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य आत्मगतम्] किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रतिस्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीनाभूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥२९॥

[नेपथ्ये] भो भोस्तपस्विनः सनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्न किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥३०॥

---

राजा—आप लोग किसी दूसरी बात का ख्याल न करें। यह अँगूठी तो मुझे राजा के यहाँ से मिली है, मुझे भी आप राजा का सेवक समझें।

प्रियवदा—यदि ऐसा है तब तो इस अँगूठी को आपकी अँगुली से अलग करना ठीक नही है। श्रीमान् के कहने से ही मैं अब इसको ऋणमुक्त कर देती हूँ। अरे सखी शकुन्तला श्रीमान् की अथवा यों कहो कि महाराज की कृपा से तुम ऋण से मुक्त कर दी गयी हो। अब तुम जा सकती हो।

शकुन्तला—[मन ही मन] यदि मैं अपने वश मे होऊँ तब तो जाऊँ। [प्रकट रूप मे] मुझे जाने या रुकने के लिए कहनेवाली तू कौन होती है।

राजा—[शकुन्तला की ओर देखकर अपने आप] जैसे हम इस पर रीझ गये हैं वैसे ही कहीं यह भी तो नही हम पर रीझ उठी है। अथवा मेरी प्रार्थना के सफल होने का यह अवसर ही आ गया है। क्योंकि—

यद्यपि जिस समय मैं बातें करने लगता हूँ, यह अपना मत नही प्रकट करती फिर भी कान लगाकर मेरी बातें सुनती है। और यद्यपि यह मेरे सामने मुंह कर के नही बैठती फिर भी इसकी दृष्टि अधिकतर किसी दूसरी ओर नही जाती ॥२९॥

[नेपथ्य में] अरे तपस्वियो! तपोवन के आस-पास रहनेवाले जीवो की रक्षा करने के लिए तैयार हो जाओ, क्योंकि शिकार का प्रेमी राजा दुष्यन्त समीप मे पहुँच गया है।

राजा दुष्यन्त के घोडो की टाप से उठी हुई और अस्तोन्मुख सूर्य के प्रकाश अर्थात् सन्ध्या समय की लालिमा के समान रक्त वर्ण की धूल टिड्डी दल के समान उडकर आश्रम के उन वृक्षो पर पड रही है, जिनकी शाखाओ पर गीले वस्त्र सूखने के लिए फैलाए हुये हैं ॥३०॥

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥३१॥

[सर्वाः कर्णं दत्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः।]

राजा—[आत्मगतम्] अहो धिक्। सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु। प्रतिगमिष्यामस्तावत्।

सख्यौ—अज्ज इमिणा अरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल म्ह। अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स। (आर्य अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः। अनुजानीहि न उटजगमनाय।)

राजा—[ससंभ्रमम्] गच्छन्तु भवत्यः। वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

सख्यौ—अज्ज असंभाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं।

(आर्य असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम्।)

राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

---

और भी, राजा के रथ को देखने से भयभीत यह जंगली हाथी, हमारी तपस्या के लिए मूर्तिमान विघ्न की भाँति हरिणों के समूहों को तितर-बितर करता हुआ हमारे इस तपोवन में ही घुसता चला आ रहा है। इसने अपनी ठोकर से एक वृक्ष को गिरा दिया है, जिसमें उसका एक दाँत भी फँसा हुआ है और टूटी हुई लताएँ बेड़ी की तरह उसके पैरों में चारों ओर लिपटी हुई हैं॥३१॥

[वे सब कुमारियाँ यह सुनकर कुछ घबरा जाती हैं।]

राजा—[मन ही मन] अरे इन मूर्ख सैनिकों को धिक्कार है, जो मालूम होता है, हमें ढूँढने के लिए इस तपोवन को तहस-नहस कर दे रहे हैं। अब तो हमें उसी ओर चलना चाहिए।

दोनों सखियाँ—आर्य! इस जंगली हाथी की बात सुनकर हम लोग डर गयी हैं। अतः हमें अपनी पर्णकुटियों में जाने की आज्ञा दीजिए।

राजा—[शीघ्रता से] आप लोग जायें। मैं भी कुछ ऐसा प्रयत्न करूँगा कि आपके इस तपोवन में कोई विघ्न न हो। [सब लोग उठकर खड़े होते हैं]

दोनों सखियाँ—आर्य! हम लोगों ने आपका कुछ भी अतिथि-सत्कार नहीं किया, अतः श्रीमान् से यह प्रार्थना करते हुए लज्जा आती है कि हमें फिर से दर्शन देंगे।

राजा—नहीं, नहीं, ऐसा न कहिए। आप लोगों के तो दर्शन से ही हमारा स्वागत-सत्कार हो गया।

[शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याज विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।]

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमन प्रति यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मान निवर्तयितुम्। मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥३२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति प्रथमोऽङ्कः।

---

[शकुन्तला राजा की ओर देखती हुई पैर मे कुशा गड जाने तथा वृक्ष मे वस्त्र के अँटक जाने का बहाना करके कुछ क्षण रुकती है और फिर सखियो के साथ चली जाती है।]

राजा—अब राजधानी को वापस लौटने की उत्सुकता मन्द पड गई है। इसलिए इस आश्रम के समीप ही सैनिको के साथ डेरा डालता हूँ। ऐसा लगता है कि शकुन्तला के साथ इस प्रेम-व्यापार से मैं छुटकारा नहीं पा सकूँगा। क्योंकि मेरा तो, जैसे वायु के सामने पताका ले चलने पर उसकी रेशमी झडी तो पीछे की ओर फहराती चलती है और दण्ड आगे चलता है वैसे ही शरीर तो आगे की ओर जाता है और मन पीछे की ओर भागता है ॥३२॥

[सबका प्रस्थान]

॥ प्रथम अंक समाप्त ॥

# द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः]

**विदूषक**—[निःश्वस्य] भो दिट्ठं। एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि। अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअन्ति। अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो। अण्होअदि तुरगाणुधावणकण्डिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिवोधिदो म्हि। एत्तएण दाणिं वि पीडा ण णिक्कमदि। तदो गण्डस्स उवरि पिण्डआ संवुत्ता। हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि। अज्ज वि से तं एव्व चिन्तअन्तस्स अक्खीसु पभादं आसि। का गदी जाव णं विदाचारपरिक्कमं पेक्खामि। [इति परिक्रम्यावलोक्य च] एसो बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। होदु। अङ्गभङ्गविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं। जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं।

---

# द्वितीय अंक

[इसके बाद उदास मन से विदूषक प्रवेश करता है।]

**विदूषक**—[लम्बी साँस खींचकर] बस। देख चुका। इस शिकारी राजा की मित्रता से मेरा जी ऊब गया है। ग्रीष्मऋतु की इस भरी दोपहरी में भी यह एक वन से दूसरे वन में भटकते हुए उन प्रदेशों में से, जहाँ के वृक्षों में छाया भी अत्यन्त विरल है, घूमते हुए यह हरिण है, यह सूअर है, और यह सिंह है—इस प्रकार का शोर मचाते हुए वन की पंक्तियों में मारा-मारा घूमता है। इसके साथ सड़े हुए पत्तों से मिले हुए जल युक्त पहाड़ी नदियों का कसैला और कड़वा पानी पीना पड़ता है और कभी देर कभी सवेरे लोहे की सलाखों पर भूना हुआ मांस खाने को मिलता है। घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ते हुए शरीर के जोड़-जोड़ इतने ढीले पड़ गए हैं और दुख रहे हैं कि रात में भी नींद ठीक तरह से नहीं आती और उसपर ये दासी के पुत्र चिड़ीमार बड़े तड़के ही वन को चलने के लिए जा चिल्ला चिल्ला कर शोर मचाते हैं उससे नींद उचट जाती है अभी यही विपत्ति बाकी थी कि उधर कपोल के ऊपर एक फोड़ा के समान दूसरी विपदा भी सामने आ गई है। सुनते हैं कि कल हम लोगों का साथ छूट जाने पर एक हरिण का पीछा करते हुए श्रीमान् राजा तपस्वियों के आश्रम में पहुँच गए थे वहीं मेरे दुर्भाग्य से उन्हें मुनि की कन्या शकुन्तला दिखाई पड़ गई। अब अब तो किसी तरह से उनका मन राजधानी की ओर लौटने का ही नहीं हो रहा है। आज को रात्रि भर उसी की

(भो दृष्टम। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी। पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति। ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः। ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता। सांप्रतं नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति। अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत्। का गतिः यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि। एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। भवतु। अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रमं लभेय।)

[इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः]

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा।]

[आत्मगतम्]

राजा— कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते। तथा हि—

---

चिन्ता में जागरण करते हुए उनकी आँखों ने सवेरा कर दिया है। क्या करूँ! चलकर देखूँ, वे संभवतः अब नित्यकर्म से निवृत्त हो चुके होंगे। [घूम कर और देखकर] अरे अरे! हमारे सम्माननीय मित्र तो इसी ओर चले आ रहे हैं, जिनके साथ हाथ में धनुष धारण किए हुए और गले में जंगली पुष्पों की मालाएँ धारण किए हुए बहुत-सी यवनी परिचारिकाएँ भी घेरे हुए चली आ रही हैं। खैर, जो कुछ भी हो। तब तक मैं भी अपने अंगों को अस्त-व्यस्त सा बनकर खड़ा हो जाता हूँ। यदि इस प्रकार खड़ा होने से भी कुछ विश्राम मिल जाय तो—

[लाठी को टेक कर खड़ा हो जाता है]

[इसके पश्चात् जैसा बताया गया है, उसी प्रकार परिचारिकाओं के साथ राजा का प्रवेश]

राजा—[अपने आप] प्रिया शकुन्तला का मिलना बिल्कुल सुगम नहीं है किन्तु उसके भावों को देखकर मेरे मन को बड़ा भरोसा हो गया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि भले ही कामदेव को सफलता न मिले किन्तु इतनी तो सन्तोष की बात होनी ही है कि नायक नायिका की एक दूसरे से प्रार्थना—दोनों को आनन्दित करती है ॥१॥

[मुस्कराकर] जो प्रेमी अपनी प्रेयसी के चित्त को अपने चित्त से परखता है वह इसी प्रकार धोखा खाता है। क्योंकि—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥२॥

विदूषकः—[तथास्थित एव] भो वअस्स ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। ता वाआमेत्तएण जईकरीयसि। जेदु जेदु भवं (भो वयस्य न मे हस्तपादाः प्रसरन्ति। तद् वाचामात्रेण जयीक्रियसे। जयतु जयतु भवान्)

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषकः—कुदो किल अअं अच्छीं आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि। (कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा—न खल्ववगच्छामि। भिन्नार्थमभिधीयताम्।

विदूषकः—भो वअस्स जं वेदसो कुज्जलील विडवेदि तं किं अत्तणो। पहावेण उद णईवेअस्स।

(भो वयस्य यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य।)

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः—मम पि भवं। (ममापि भवान्)

राजा—कथमिव।

---

जब शकुन्तला अपनी आँखें दूसरी ओर घुमाती थी तब मैं यह समझता था कि वह मेरे ही ऊपर अपनी स्नेहभरी चितवन डाल रही है। अपने नितम्बों के भारी होने के कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं यह समझता था कि वह मुझे अपनी विलास-युक्त चाल दिखला रही है। जब उसकी सखिया ने उसे वहाँ से कहीं अन्यत्र जाने से रोका उस समय अपनी सखियों को जो उसने झिड़की दी तब मैंने समझा कि यह सब मेरे ही प्रेम के कारण हो रहा है। आह! कामी को सभी बातों में अपना ही स्वार्थ दिखाई पड़ता है॥२॥

विदूषक—[उसी प्रकार लुञ्ज-पुञ्ज बन कर खड़े होकर] अरे मित्र! मेरे तो हाथ पैर चल ही नहीं रहे हैं। अतः मैं केवल अपनी वाणी से आपका जय-जयकार मना रहा हूँ। आपकी जय हो, जय हो।

राजा—तुम्हारा यह अंग-भंग कैसे हो गया?

विदूषक—वाह! क्यों और कैसे? स्वयं आँख में कोंचकर आँसू बहने का कारण पूछ रहे हो।

राजा—मैं कुछ समझ नहीं सका। साफ साफ बताओ, क्या बात है?

विदूषक—हे मित्र! बेंत जो कुबड़े का अनुकरण करता है वह अपने मन से करता है या नदी के वेग के प्रभाव से करता है।

राजा—इसमें तो नदी का वेग ही कारण है।

विदूषक—तो मेरी इस स्थिति के आप ही कारण हैं।

राजा—यह कैसे?

विदूषकः—एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्व। ज सच्च पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं सक्खोहिअसंधिबन्धाण मम गत्ताण अणीसो म्हि सवुत्तो। ता पसादइस्स विसज्जिदुं म एक्काहं वि दाव विस्समिदुं। (एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशे आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः सक्षोभितसंधिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्।)

राजा—[स्वगतम्] अय चैवमाह। ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेत.। कुत।

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥३॥

विदूषकः—[राजो मुख विलोक्य] अत्तभवं किं पि हिअए करिअ मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिअ आसि। (अत्रभवान्किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते। अरण्ये मया रुदितमासीत्।)

राजा—[सस्मितम्] किमन्यत् अनतिक्रमणीय मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः—चिर जीअ। (चिरं जीव।)[इति गन्तुमिच्छति।]

राजा—वयस्य तिष्ठ। सावशेष मे वच.।

विदूषकः—आणवेदु भव (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोदअखण्डिआए। तेण हि अअ सुगहीदो खणो। (किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्यय सुगृहीतः क्षणः।)

---

विदूषक—इस प्रकार सब राजकाज छोड़कर ऐसे बीहड जगली प्रदेश मे जगली लोगो के समान तुम जीवन बिता रहे हो। यहाँ जगली जीवो का पीछा करते-करते मेरे अगो के जोड-जोड ऐसे शिथिल हो गए हैं कि अपने वश में नही रह गए हैं। अत. मैं प्रार्थना करूँगा कि कृपाकर मुझे एक ही दिन का विश्राम करने की आज्ञा दे दीजिए।

राजा—[मन ही मन] इधर यह इस प्रकार से कह रहा है और उधर कण्व ऋषि की कन्या शकुन्तला का ध्यान करते-करते मेरा भी चित्त शिकार से उचट गया है। क्योकि—

जिन हरिणो ने प्यारी शकुन्तला के साथ-साथ रहकर उसे अपनी भोली चितवन सिखाई है उन्हीं हरिणो को मारने के लिए यह चढाए हुए बाण से युक्त धनुष मुझसे खींचते भी नहीं बनता है॥३॥

विदूषक—[राजा के मुँह की ओर देखकर] श्रीमान् तो न जाने क्या अपने मन ही मन बडबड़ा रहे हैं। मैने तो जैसे जगल मे रुदन किया हो।

राजा—[मुस्कराते हुए] नही, मैं भी तो यही सोच रहा था कि अपने आदरणीय मित्र की बात को टालना नहीं चाहिए। इसीलिए मैं चुप हो गया था।

विदूषक—जीते रहिए। [वहाँ से जाना चाहता है।]

राजा—मित्र! तनिक रुक जाओ। मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई है।

विदूषक—आप आज्ञा करें।

राजा—आप विश्राम ले चुकें तो मेरे भी एक काम म, जिसमें कोई परिश्रम नहीं लगेगा, सहायता करें।

द्वारपाल—क्या लड्डू खाने हैं? तब तो उसके लिए दूसरा यह बड़ा सुन्दर अवसर है?

राजा—यद् वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भो।

[प्रविश्य]

दौवारिकः—[प्रणम्य] आणवेदु भट्टा। (आज्ञापयतु भर्ता।)
राजा—रैवतक सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः—तह। [इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य] एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। (तथा। एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पत्वार्यः।)

सेनापतिः—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] दृष्टदोषाऽपि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता। तथा हि देवः—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥४॥

[उपेत्य] जयतु जयतु स्वामी गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमद्याप्यवस्थीयते।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन।

सेनापतिः—[जनान्तिकम्] सखे स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये। [प्रकाशम्] प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्।

---

राजा—उसे बताता हूँ। अरे! यहाँ कोई है?
द्वारपाल—[प्रणाम करके] स्वामी! आज्ञा करें।
राजा—अरे रैवतक! सेनापति को तनिक बुला लाओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा। [बाहर जाकर फिर सेनापति के साथ वापस आता है] यहाँ इधर आप आ जायें। देखें, वह सामने ही आज्ञा देने के लिए उत्सुक हमीं लोगों की ओर दृष्टि किए स्वामी बैठे हुए हैं।

सेनापति—[राजा को देखकर अपने आप] यद्यपि शिकार में अनेक दोष देखे जाते हैं तथापि हमारे स्वामी के लिए तो वह गुणयुक्त ही सिद्ध हुई है क्योंकि—सदैव धनुष की प्रत्यंचा खींचने के कारण पर्वतों में घूमनेवाले हाथी के समान इनके बलवान शरीर के ऊपर का भाग इतना कठोर हो गया है कि वह सूर्य की कड़ी किरणों को सहन कर लेता है और पसीने की बूँदें भी नहीं होतीं। बहुत दौड़-धूप के कारण यद्यपि दुर्बल हो गए हैं तथापि पुट्ठों के सुदृढ़ होने के कारण इनका यह दुबलापन भी दिखाई नहीं पड़ रहा है॥४॥

[समीप पहुँचकर] स्वामी की जय हो, जय हो। जंगल में हमने पशुओं को चारों ओर से घेर रखा है। तब फिर अब क्यों बैठे हैं स्वामी!

राजा—शिकार के निन्दक इस माढव्य ने मेरा सारा उत्साह ठंडा कर दिया है।

सेनापति—[अकेले में विदूषक से] मित्र! तुम शिकार का डटकर विरोध करो। मैं स्वामी की चित्तवृत्ति के अनुसार व्यवहार करूँगा। [प्रकट रूप में] देव! इस गँवार को बकने दीजिए। इस सम्बन्ध में तो श्रीमान् स्वयं प्रमाण हैं—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥५॥

विदूषकः—अवेहि रे उत्साह हेतुअ अत्तभव पकिदिं आपण्णो। तुम दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। (अपेहि रे उत्साहहेतुक अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।)

राजा—भद्र सेनापते आश्रमसंनिकृष्टे स्थिता स्मः। अतस्ते वचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्या। पश्य—

---

मृगया के परिश्रम से व्यर्थ की चर्बी नष्ट हो जाती है और बाहर निकली हुई तोंद सिकुड़ कर पेट दुर्बल हो जाता है। शरीर हल्का और फुर्तीला बन जाता है। भय और क्रोध के समय जंगली जीवों की प्रकृति की वास्तविक जानकारी होती है और धनुष धारण करनेवालों के लिए जो सबसे बड़ी विशेषता की बात है—चलते हुए लक्ष्य पर बाण का निशाना सफल करना, सो वह भी मृगया में ही संभव होता है। इसलिए मैं तो कहूँगा कि लोग व्यर्थ ही मृगया की निन्दा करते हैं, ऐसा मनोरंजन का साधन कोई दूसरा नहीं है।॥५॥

विदूषक—अरे उत्साह दिखानेवाले। तू भाग यहाँ से। महाराज अब वास्तव में अपनी सच्ची प्रकृति पर आ गए हैं अर्थात् मनुष्य बन गए हैं। तुझे तो इसी प्रकार एक दिन इस वन से उस वन में घूम-घूम कर शिकार करते-करते, मनुष्य की नाक काटने के लोभी किसी बूढ़े भालू के मुँह में फँसना ही पड़ेगा।

राजा—भद्र सेनापति! हम लोग मुनियों के आश्रम के समीप ठहरे हुए हैं। इसलिए अब तुम्हारी बात का मैं समर्थन नहीं करूँगा। अब तो—

भैंसे अपनी सींगों से बार-बार मथे हुए सरोवर के जल में खूब नहाएँ, हरिणों के समूह वृक्षों की सघन छाया में घेरा बनाकर बैठे हुए जुगाली करें, बड़े-बड़े सुअरों का गिरोह निर्भय होकर छोटे-छोटे तालाबों में मोथे खोदकर खाएँ और ढीली डोरी वाला मेरा यह धनुष भी अब विश्राम करे।॥६॥

सेनापति—जैसी प्रभु की आज्ञा।

राजा—तब फिर जो हाँका करनेवाले वन में आगे बढ़ गए हैं, उन्हें पीछे लौटा लो। और जिस प्रकार से भी मेरे सैनिक इस तपोवन में कुछ भी विघ्न-बाधा न पहुँचा सकें वैसी निषेधात्मक आज्ञा दे दो। देखो—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥७॥

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी।

विदूषकः—ध्वंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो। (ध्वंसतां ते उत्साहवृत्तान्तः।)

[निष्क्रान्तः सेनापतिः।]

राजा—[परिजनं विलोक्य] अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम्। रैवतक त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति)। [इति निष्क्रान्तः।]

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं संपदं एदस्सिं पादवच्छाआए विरइदलदाविदाणदंसणीए आसणे णिसीददु भवं जाव अहं वि सुहासीणो होमि। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान् यावदहमपि सुखासीनो भवामि।)

राजा—गच्छाग्रतः।

विदूषकः—एदु भवं। (एतु भवान्।)

[इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ।]

राजा—माधव्य अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः—णं भवं अग्गदो मे वट्टदि। (ननु भवानग्रतो मे वर्तते।)

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि।

---

इन शान्ति प्रधान-तपोवन में एक प्रकार का गुप्त और जलनेवाला तेज छिपा रहता है, जैसे सूर्यकान्त मणि स्पर्श करने में तो शीतलता प्रतीत होती है, किन्तु जब कोई दूसरी वस्तु उस पर अपना तेज दिखलाती है तो वह भी आग उगलने लगती है।।७।।

सेनापति—स्वामी की जैसी आज्ञा।

विदूषक—तुम्हारी उत्साहजनक बातें भस्म हो जायें। [सेनापति बाहर जाता है।]

राजा—[अपने सेवकों को देखकर] अब तुम लोग भी अपने शिकारी वेश उतार डालो। और रैवतक! तुम भी जाओ, अपना कर्तव्य पूरा करो।

सेवकगण—जैसी महाराज की आज्ञा। [सब जाते हैं।]

विदूषक—चलो अच्छा हुआ, जो इन मक्खियों की तरह भनभनानेवालों को दूर भगा दिया। अब चलिए। वृक्षों की सघन छाया में मनोहर लतामण्डप के नीचे सुन्दर आसन पर आप विराजमान हों और मैं भी वहीं सुख से बैठता हूँ।

राजा—अच्छा, आगे आगे चलो।

विदूषक—आप भी तो आएँ न। [दोनों चलकर वहाँ बैठते हैं।]

राजा—माधव्य! तुम्हें अपनी आँखों के होने का फल नहीं मिला, क्योंकि तुमने जो वस्तु देखने योग्य थी, उसे नहीं देखा।

विदूषक—आप तो मेरे नेत्रों के सम्मुख ही विराजमान हैं न।

राजा—अपने को तो सभी सुन्दर देखते हैं। मैं तो इस आश्रम की शोभा शकुन्तला के सम्बन्ध में तुमसे बता रहा हूँ।

विदूषक—[स्वागतम्] होदु से अवसर ण दाइस्स। [प्रकाशम्] भो वअस्स ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसदि। (भवतु अस्यावसर न दास्ये। भो वयस्य ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते।)

राजा—सखे न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणा मनः प्रवर्तते।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥८॥

विदूषक—[विहस्य] जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअ अब्भत्थणा। (यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।)

राजा—न तावदेना पश्यसि येनैवमवादी।

विदूषक—त क्खु रमणिज्ज ज भवदो विम्हअ उप्पादेदि। (तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति।)

राजा—वयस्य किं बहुना।

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ॥९॥

---

विदूषक—[अपने आप] अच्छा मैं इनकी इस बात को यहीं समाप्त कर दूँ। [प्रकट रूप में] मित्र! ऐसा जान पडता है कि आप उस तपस्वी की कन्या पर अत्यन्त रीझ गए हैं।

राजा—मित्र! पुरुवंशियों का चित्त किसी छोड देने योग्य वस्तु पर नहीं रीझता है।

सुना जाता है कि उसकी माता कोई देवांगना थी, उसकी मा उसे छोडकर चली गई थी, मुनि ने उसका पालन-पोषण किया है, इससे वह उनकी सन्तान कही जाती है। यह तो ऐसा ही है मानो नवमल्लिका का पुष्प अपनी डाली से चूकर मदार के ऊपर आकर गिर पड़ा हो ॥८॥

विदूषक—[हँसकर] जैसे कोई मीठा खजूर (छुहारा) का फल खाते-खाते ऊब जाय और इमली खाने के लिए टूट पड़े उसी प्रकार अन्तःपुर की एक एक बढ़कर सुन्दरी रानियों को भुलाकर आप इसके लिए प्रार्थी हो रहे हैं।

राजा—तुमने उसे देखा नहीं है, इसी से ऐसी बातें कर रहे हो।

विदूषक—ठीक है। अब मैं जान गया कि वह अवश्य परम सुन्दरी होगी। क्योंकि तुम भी उसे देखकर चकित हो गए हो।

राजा—मित्र! अधिक क्या कहें—विधाता की सृष्टि रचने की सामर्थ्य तथा शकुन्तला का सुन्दर शरीर देखने से यही प्रतीत होता है कि विधाता ने सर्वप्रथम उसका चित्र बनाकर अथवा उसकी रचना करने की समस्त सामग्रियों को अपने मन में रखकर, उसमें प्राण डाल दिया होगा। क्योंकि संसार में वह अपने ढंग की अनूठी स्त्री-रत्न की रचना है ॥९॥

विदूषक—जइ एव्व पच्चादेसो दाणिं रूववदीणा।
(यद्येवम् प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्।)

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

विदूषक—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्सवि तवस्सिणो इङ्गुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीसस्स आरण्णअस्स हत्थे पडिस्सदि। (तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च सन्निहितोऽत्र गुरुजनः।

विदूषक—अत्तभवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ। (अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः।)

राजा—वयस्य। निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः। तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥

विदूषक—[विहस्य] ण क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अङ्कं समारोहदि। (न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति।)

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

---

विदूषक—यदि ऐसा है तो उसने संसार की सभी सुन्दरियों को परास्त कर दिया।

राजा—मेरे मन में तो यह बात आती है कि उसका मनोहारि रूप वैसा ही पवित्र है जैसे बिना सूँघा हुआ पुष्प, नखों से अछूता पत्ता, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नूतन मधु और बिना भोगा हुआ पुण्यों एवं सत्कर्मों का फल। किन्तु मैं यह नहीं जानता कि इस पापरहित रूप को भोगने के लिए विधाता ने किसे बनाया है ॥१०॥

विदूषक—तब तो फिर इसकी आप शीघ्र ही रक्षा करें, नहीं तो हिंगोट के तेल से चिकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाथों में न चली जाय।

राजा—वह पराधीन है। और उसके पिता जी भी आश्रम में विद्यमान नहीं हैं।

विदूषक—आपने यह तो देखा ही होगा कि आप की ओर उसका प्रेम कैसा है?

राजा—मित्र! तपस्वियों की कन्याएँ स्वभाव से ही अतीव भोली भाली होती हैं। फिर भी जब मैं उसकी तरफ मुँह करता था तब वह अपनी आँखें हटा लेती थी और किसी न किसी बहाने से हँसने लगती थी। अपने शील के कारण वह इतनी दबी हुई थी कि न तो वह कामदेव को छिपा पा रही थी और न प्रकट कर पा रही थी ॥११॥

विदूषक—[हँसकर] तब क्या आप चाहते थे कि आपको देखते ही वह आप की गोद में आ जाती।

राजा—जब वह अपनी सखियों के साथ वहाँ से जाने लगी तब शिष्टाचार की रक्षा करते हुए भी उसने अपना प्रेम प्रकट ही कर दिया। क्योंकि—

दर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥१२॥

विदूषक —तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किद तुए उववणं तावोवण त्ति पेक्खामि।
(तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।)

राजा—सख तपस्विभि कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रम वसाम।

विदूषक —को अवरो अवदेसो तुह रण्णो। णीवार-छट्ठभाअं अह्माण उवहरन्तु त्ति।
(कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञ। नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।)

राजा—मूर्ख अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य—

तदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि न ॥१३॥

[नेपथ्ये] हन्त सिद्धार्थौ स्व

राजा—[कर्णं दत्त्वा] अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम्।

[प्रविश्य]

---

कुछ ही पग आगे जाने पर वह कृशांगी सहसा यह कहकर रुक गई कि मेरे पैर मे कुश का अकुर चुभ गया है। और यद्यपि उसका वल्कल वृक्षों की शाखा मे उलझा हुआ नहीं था तथापि धीरे-धीरे वल्कल छुडाने का बहाना बनाकर मेरी ओर मुँह किए हुई खडी रही ॥१२॥

विदूषक—तब तो यह प्रकट है कि उन्होने तुम्हें रास्ते का भोजन दे दिया है। इस से तो म अब यही देख रहा हूँ कि आप ने इस तपोवन को एकदम प्रमोद-वन बना डाला है।

राजा—मित्र! कुछ तपस्वियों ने मुझे पहचान लिया है। तो बताओ फिर कोई बहाना बनाकर एक बार पुन आश्रम मे हो आऊं।

विदूषक—तुम राजा हो। फिर तुम्हें दूसरा बहाना बनाने की क्या आवश्यकता है? जाकर कहो कि तिन्नी के दाने का छठा भाग हम दो—बस यह बहाना तो है ही।

राजा—अरे मूर्ख! इन ऋषियों की रक्षा के बदले हमें ऐसा अनुपम कर मिलता है कि मूल्यवान रत्नों की ढेरी को त्याग कर उसका अभिनन्दन करना चाहिए। देखो—

चारों वर्णों से राजाओं को जो कर मिलता है उसका फल तो नष्ट होने वाला है। किन्तु ये वनवासी तपस्वी लोग जो अपनी तपस्या का छठा भाग हमें देते है वह कभी नष्ट होने वाला नहीं है॥१३॥

[नेपथ्य के भीतर से] वाह! हम दोनों के सब काम बन गए।

राजा—[कान लगाकर] यह गभीर और शान्त स्वर तो तपस्वियों का सा मालूम पडता है। [प्रवेश करके]

दौवारिक—जेदु जेदु भट्टा। एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा। (जयतु जयतु भर्ता। एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहारभूमिमुपस्थितौ।)

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ।

दौवारिक—एसो पवेसेमि। [इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य] इदो इदो भवन्तो। (एष प्रवेशयामि। इत इतो भवन्तौ।)

[उभौ राजानं विलोकयतः।]

प्रथम—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः, अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि। कुतः।

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये।
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः।
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥१४॥

द्वितीय—गौतम अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः।

प्रथम—अथ किम्।

द्वितीय—तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

उभौ—[उपगम्य] विजयस्व राजन्।

---

द्वारपाल—स्वामी की जय हो, जय हो। दो ऋषिकुमार द्वार देश पर आए हुए हैं।

राजा—तब उन्हें तुरन्त यहाँ ले आओ।

द्वारपाल—अभी ला रहा हूँ। [प्रस्थान तथा दो ऋषिकुमारों के साथ पुनः प्रवेश।] इधर से आइए भगवन्! इस ओर से।

[दोनों राजा को देखते हैं।]

प्रथम शि०—इनके शरीर के अत्यन्त तेजस्वी होते हुए भी इन्हें देखकर हमारे चित्त में विश्वास उत्पन्न होता है। अथवा ऋषियों से बहुत कुछ अभिन्न राजा के लिए यह उचित ही है। क्योंकि—

यह भी सब प्रकार से भोग्य आश्रम में निवास करते हैं। प्रजा की रक्षा करके यह भी प्रतिदिन तप का सचय करते हैं। इस जितेन्द्रिय राजा का यशोगान जो चारण दम्पती गाते हैं, स्वर्ग का स्पर्श करता है। अतः यह महात्मा भी 'मुनि' इस पवित्र नाम को धारण करते हैं, अन्तर केवल यही है कि इनके पूर्व 'राज' शब्द है ॥१४॥

द्वितीय शि०—गौतम! क्या इन्द्र के सखा राजा दुष्यन्त यही हैं?

प्रथम शि०—और क्या।

द्वितीय शि०—इसीलिए तो—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नील समुद्र से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी पर यह नगर द्वार की अर्गला के समान लम्बी अपनी भुजाओं से अकेले ही शासन करते हैं और दैत्यों से वैर ठाननेवाली देवताओं की स्त्रियाँ इन्हीं के चढ़े हुए धनुष तथा देवराज इन्द्र के वज्र से विजय की आशा बाँधती हैं ॥१५॥

दोनों शिष्य—[समीप जाकर] राजन्! आप की जय हो।

राजा—[आसनादुत्थाय] अभिवादये भवन्तौ।
उभौ—स्वस्ति भवते। [इति फलान्युपहरत।]
राजा—[सप्रणाम परिगृह्य] आज्ञापयितुमिच्छामि।
उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थ। तेन भवन्त प्रार्थयन्ते।
राजा—किमाज्ञापयन्ति।
उभौ—तत्रभवत कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्र सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।
राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।
विदूषक—[अपवार्य] एसा दाणि अणुऊला ते अब्भत्यणा। (एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना।)
राजा—[स्मित कृत्वा] रैवतक मद्वचनादुच्यता सारथि। सबाणासन रथमुपस्थापयेति।
दौवारिक—ज देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति] [इति निष्क्रान्त।]
उभौ—[सहर्षम्]—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः॥१६॥

राजा—[सप्रणामम्] गच्छता पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।
उभौ—विजयस्व। [इति निष्क्रान्तौ]
राजा—माढव्य अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम्।

---

राजा—[अपने आसन से उठकर] आप दोनो को प्रणाम करता हूँ।
दोनो शिष्य—आप का कल्याण हो। [फल भेंट करते हैं।]
राजा—[प्रणामपूर्वक स्वीकार करते हुए] आज्ञा करें।
दोनो शिष्य—सब आश्रमवासी यह जान गए है कि आप यहाँ विद्यमान है। इसी से उन सब ने प्रार्थना की है।
राजा—क्या आज्ञा है?
दोनो शिष्य—पूजनीय गुरु महर्षि कण्व के यहाँ न रहने से राक्षस लोग हम लोगो के यज्ञो मे बडा विघ्न पहुँचाते है। इसलिए आप अपने सारथी के साथ कुछ रातें निवास कर हमारे आश्रम को कृतार्थ करें—यही प्रार्थना है।
राजा—यह तो मेरे ऊपर उनका अनुग्रह है।
विदूषक—[दूसरी ओर मुँह करके] उनकी यही प्रार्थना तो आप के लिए बहुत अनुकूल है।
राजा—[मुस्कराते हुए] रैवतक! सारथी से मेरी बात जाकर कहो कि रथ और मेरा धनुप वाण लेकर यहाँ आ जायँ।
विदूषक—जैसी महाराज की आज्ञा। [बाहर जाता है।]
दोनो शि०—[सहर्ष] आप अपने पूर्वजो के समान ही यह कर रहे है। क्योकि सभी पुरुवशी राजा लोग विपत्तिग्रस्त लोगों का भय दूर करने मे अग्रसर रहे है॥१६॥
राजा—[प्रणाम पूर्वक] आप लोग चलें। हम भी आप के पीछे-पीछे आ रहे हैं।
दोनो शि०—आप की विजय हो। [प्रस्थान करते हैं।]
राजा—माढव्य! क्या तुम्हें शकुन्तला को देखने की उत्सुकता है?

विदूषकः—पढम सपरीवाह आसि। दाणिं रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दू वि णावसेसिदो (प्रथम सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः।)

राजा—मा भैषीः। ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे।

विदूषकः—एस रक्खसादो रक्खिदो म्हि। (एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि।)

दौवारिकः—[प्रविश्य] सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीण आणत्तिहरओ करभओ आअदो। (सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः।)

राजा—[सादरम्] किमम्बाभिः प्रेषितः।

दौवारिकः—अह इ। (अथ किम्।)

राजा—ननु प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः—तह। [इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य] एसो भट्टा। उवसप्प। (तथा। एष भर्ता। उपसर्प।)

करभकः—जेदु भट्टा। देवी आणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पवुत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि। तहिं दीहाउणा अवस्सं सम्भाविदव्वा त्ति। (जयतु भर्ता। देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषावश्यं सम्भावितव्येति।)

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः—तिसङ्कू विअ अन्तराले चिट्ठ। (त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ।)

---

विदूषक—पहले तो बड़ी इच्छा थी किन्तु जब से राक्षस का नाम सुना है तब से तो बूंद भर भी नहीं रह गई है।

राजा—डरो मत! तुम्हें तो हम अपने साथ ही रखेंगे।

विदूषक—हाँ, तब तो राक्षस से रक्षा हो सकेगी।

द्वारपाल—[प्रवेश करके] स्वामी का रथ सुसज्जित है, और विजयार्थ आपके प्रस्थान की प्रतीक्षा है। और हाँ, राजमाता की आज्ञा लेकर राजधानी से यह करभक आया है।

राजा—[सादर] क्या माता जी ने भेजा है?

द्वारपाल—जी हाँ।

राजा—तब उसे हमारे पास ले आओ।

द्वारपाल—जैसी आज्ञा [बाहर जाकर फिर करभक के साथ प्रवेश करता है] देखो, यह सामने स्वामी विराजमान हैं। आगे चले आओ।

करभक—स्वामी की जय हो। देवी ने आज्ञा दी है कि आज से चौथे दिन हमारे व्रत की समाप्ति होगी। उस अवसर पर चिरजीवी भी उपस्थित रहें।

राजा—इधर तपस्वियों का काम, उधर बड़ों की आज्ञा। दोनों की ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय?

विदूषक—त्रिशंकु की तरह दोनों के बीच में पड़े रहो।

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

[विचिन्त्य] सखे त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति।

विदूषक—ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि। (न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि।)

राजा—[सस्मितम्] कथमेतद्भवति सम्भाव्यते।

विदूषक—जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि। (यथा राजानुजेन गन्तव्यम् तथा गच्छामि।)

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि।

विदूषक—[सगर्वम्] तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो। [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः।]

राजा—[स्वगतम्] चपलोऽयं बटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु। एनमेवं वक्ष्ये—[विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्] वयस्य ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

---

राजा—सचमुच मैं तो बड़ी परेशानी मे पड गया।

पत्थरो के सामने पड जाने के कारण जिस प्रकार नदी का प्रवाह दो भागो मे बँट कर बहने लगता है, इसी प्रकार मेरा मन भी दूर-दूर के भिन्न स्थानो के दो कार्यों के कारण दुविधा मे पड गया है॥१७॥

[सोचकर] मित्र! माता ने तुम्हें भी पुत्र रूप मे स्वीकार किया है इसलिए तुम चले जाओ। और माता जी से कह देना कि मै ऋषियो की रक्षा मे लगा हूँ। और हाँ, वहाँ जो कुछ भी मेरे करने योग्य काम हो, उन सब को तुम पूरा कर देना।

विदूषक—किन्तु इससे तुम मुझे राक्षसो से डरने वाला मत गिन लेना।

राजा—[मुस्कराते हुए] भला तुम्हारे बारे में मै ऐसा कैसे सोच सकता हूँ?

विदूषक—तब जैसे राजा का छोटा भाई जाता है वैसे ही मै भी जाऊँगा।

राजा—तपोवन मे विघ्न डालने वाले को दूर ही रखना उचित है, अत: भील अनुचरों एवं सारी सेना को भी मैं तुम्हारे साथ वापस भेज देता हूँ।

विदूषक—[गर्व के साथ] तब तो इस समय मैं युवराज बन गया हूँ।

राजा—[अपने आप] यह ब्राह्मण कुमार बडा चंचल है। कहीं हमारी प्रार्थना को यह अन्त पुर की रानियों से न कह दे। अच्छा। तब इसे यो समझा देता हूँ। [विदूषक को हाथ से पकडकर, प्रकट रूप मे] मित्र! मुनियों के प्रति गौरव की दृष्टि रखने के कारण मैं आश्रम मे जा रहा हूँ। और उस मुनिकन्या के साथ मैंने जो प्रेम होने की चर्चा तुमसे की थी वह झूठी है। देखो—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥१८॥

विदूषकः—अह इ। (अथ किम्।)

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति द्वितीयोऽङ्कः।

---

कहाँ हम और कहाँ काम कला से नितान्त अनभिज्ञ तथा हरिनों के बच्चों के साथ पली हुई वह मुनिकन्या। अरे मित्र! हमने तो यह बात हँसी-हँसी में तुमसे कही थी, कहीं उसे तुम सच न मान लेना॥१८॥

विदूषक—अच्छी बात है।

[सब चले जाते हैं।]

॥ द्वितीय अङ्क समाप्त॥

## तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः।]

शिष्यः—अहो महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः प्रविष्टमात्रे एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥१॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि [परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे] प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते। [आकर्ण्य] किं ब्रवीषि। आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति। तर्हि त्वरितं गम्यताम्। सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्। अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि। [इति निष्क्रान्तः]

विष्कम्भकः।

[ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा।]

---

## तृतीय अंक

[तदनन्तर कुश लिए हुए यज्ञ में प्रवृत्त कण्व के एक शिष्य का प्रवेश।]

शिष्य—महाराज दुष्यन्त का महान् प्रभाव है उनके आश्रम में प्रवेश करते ही हमारे सभी कार्य विघ्न-बाधा से रहित सम्पन्न होते चले जा रहे हैं।

बाण चढाने की तो बात ही क्या ? केवल अपने धनुष की प्रत्यंचा के हुंकार के समान टंकार से ही वे समस्त विघ्न-बाधाओं को दूर भगा देते हैं॥१॥

तो मैं चलूँ ऋत्विजों के लिए वेदी पर बिछाने की कुशा ले जाकर पहुँचा दूँ।

[घूमकर आश्रम की ओर देखते हुए] अरी प्रियंवदा ! यह किसके लिए तुम खस का लेप तथा कमल-दण्ड युक्त कमलिनी के पत्तों को ले जा रही हो। [सुनकर] क्या कह रही हो कि—शकुन्तला कड़ी धूप लग जाने से अतीव अस्वस्थ हो गई है, उसी के शरीर को शीतलता पहुँचाने के लिए यह सब ले जा रही हूँ। तो, तुम तुरन्त जाओ, क्योंकि शकुन्तला भगवान् कण्व के इस आश्रम के प्राणों के समान है। मैं भी तब तक उसके लिए यज्ञ का शान्ति-जल गौतमी के हाथ से भेजता हूँ। [प्रस्थान]

विष्कम्भक

[तदनन्तर काम पीडित अवस्था में राजा का प्रवेश।]

राजा—[सचिन्त निःश्वस्य]

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

[मदनबाधा निरूप्य] भगवन्कुसुमायुध त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसधीयते कामिजनार्थः। कुतः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥३॥

अथवा।

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥४॥

[सखेद परिक्रम्य] क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि। [निःश्वस्य] किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत्। यावदेनामन्विष्यामि। [सूर्यमवलोक्य] इमामुग्रातपवेलां प्रायेणलतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव तावद्गच्छामि। [परिक्रम्य सस्पर्शं रूपयित्वा] अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम्।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥५॥

---

राजा [चिन्तित मुद्रा मे गहरी साँस लेते हुए]—मैं तपस्वियो की शक्ति को भली-भाँति जानता हूँ। वह सुन्दरी परवश है—यह भी जानता हूँ। किन्तु ऐसा होने पर भी न जाने क्या ऐसा कारण है कि मेरा हृदय उस ओर से नही फिर रहा है ॥२॥

[काम-पीडा का नाट्य करते हुए] भगवान् कामदेव! तुमने और चन्द्रमा ने उन सब कामुक प्रकृति के व्यक्तियो को बडा धोखा दिया है, जिन्होंने तुम दोनो पर विश्वास किया था। क्योकि—

तुम्हारा पुष्पो का बाण वाला तथा चन्द्रमा का शीतल किरणोवाला कहा जाना—ये दोनो ही बातें मुझ जैसे विरही व्यक्तियो के लिए यथार्थ नहीं मालूम पडती हैं। क्योकि चन्द्रमा तो अपनी शीतल किरणो से अग्नि की वर्षा कर रहा है और तुमने भी अपने पुष्पो के बाणो मे वज्र की कठोरता भर ली है ॥३॥

अथवा, हे मकरकेतु कामदेव! तुम जो मदभरी एव बडे-बडे नेत्रोवाली उस शकुन्तला के लिए मुझे अत्यन्त पीडित कर रहे हो, वह तो मेरे लिए इष्ट ही है ॥४॥

[खेद पूर्वक घूमकर] ऋषि लोग अपना यज्ञ समाप्त हो जाने पर जब मुझे इस तपोवन से विदा कर देंगे तब अपने थके एव सन्तप्त शरीर को लेकर कहाँ मन बहलाऊँगा [साँस खीचकर] प्रिया शकुन्तला का दर्शन छोडकर दूसरा क्या आश्रय है। चलूँ उसी का पता लगाऊँ। [सूर्य की ओर देखकर] इस प्रचड धूपभरी दोपहरी मे प्राय शकुन्तला अपनी सखिया के साथ मालिनी नदी के तट पर बने हुए लता-मण्डपो मे ही जाकर बैठती है, तो वहीं चल रहा हूँ। [घूमकर तथा वायु के स्पर्श का अभिनय करते हुए] अहा हा! यहाँ तो बडी अच्छी हवा चल रही है।

कमल के स्पर्श से सुगंधित तथा मालिनी नदी की लहरो के शीकरो को ढोने वाला यह वायु मेरे काम से सन्तप्त अगो को परम सुहावना लग रहा है ॥५॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे सनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम्। तथा [अधो विलोक्य]—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा॥६॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। [परिक्रम्य तथा कृत्वा। सहर्षम्] अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। भवतु। श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि। [इति विलोकयन् स्थितः।]

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।]

सख्यौ—[उपवीज्य सस्नेहम्] हला सउन्दले अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो। (हला शकुन्तले अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः।)

शकुन्तला—किं वीअअन्ति मं सहीओ। (किं वीजयतो मां सख्यौ।)

[सख्यौ विषाद नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः।]

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। [सवितर्कम्] तत्किमयमातपदोषः स्यात् उत यथा मे मनसि वर्तते [साभिलाष निर्वर्ण्य] अथवा कृतं संदेहेन।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु॥७॥

---

[घूमकर तथा देखकर] इस बेंतो से चारो ओर घिरे हुए लता-मण्डप मे ही शकुन्तला कही अवश्य बैठी होगी। क्योकि [नीचे की ओर देखकर] इस लता मण्डप के द्वार की पीली बालुका राशि पर आगे की ओर ऊँची उठी हुई और पीछे की ओर अर्थात् एँडी की तरफ नितम्ब के बोझ से गहरी पद-पंक्ति दिखाई पड रही है।॥६॥

अच्छा इस वृक्ष की आड से देखता हूँ। [घूमकर वृक्षो की ओट से देखते हुए—सहर्ष] अहा हा! नेत्रो को परम आनन्द मिल गया। यह मेरी प्राण प्रियतमा सुन्दर पुष्पो की शैय्यावाली पत्थर की शिला पर लेटी हुई है और उसकी दोनो सखियाँ सेवा मे रत हैं। अच्छा! तनिक इनकी विश्वास भरी बातें तो सुनूं। [खडा होकर सुनता है]

[तदनन्तर पूर्वोक्त दशा मे अपनी सखियो के साथ शकुन्तला का प्रवेश]

दोनो सखियाँ—[स्नेह के साथ पखे से हवा करती हुई] अरी सखी शकुन्तला! कमल के पत्तो के झलने से क्या कुछ ठण्ढक मिल रही है।

शकुन्तला—मेरी सखियो! क्या तुम लोग मुझे पखा झल रही थी।

[सखियाँ दुखी होने का अभिनय करती हुई एक दूसरी का मुंह देखती हैं]।

राजा—शकुन्तला का शरीर तो बहुत ही अस्वस्थ दिखाई पड रहा है। [तर्क-वितर्क करते हुए।] यह लू लग जाने के कारण ऐसा हुआ है अथवा जैसे मेरे मन मे सन्ताप है, वैसा ही है। [चाव के साथ देखते हुए] अथवा सन्देह करना व्यर्थ है—

इसके स्तनो पर उशीर (खस) का लेप किया हुआ है, मृणाल (कमल नाल) का बना हुआ एक कगन हाथ मे ढीला पड गया है और यद्यपि उसके शरीर मे पीडा की अधिकता है तथापि वह अधिक सुन्दर दिखाई पड रहा है। काम तथा लू दोनो की बेचैनी एक-सी होती है—यह मैं मानता हूँ, किन्तु लू का युवती-स्त्रियो पर इस प्रकार का अपराध नही होता कि वे सुन्दरी दिखाई पडें॥७॥

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला। किं णु क्खु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे। (अनसूये तस्य राजर्षे प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं न खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातंको भवेत्।)

अनसूया—सहि मम वि ईदिसी आसङ्का हिअअस्स। होदु। पुच्छिस्सं दाव णं। [प्रकाशम्] सहि पुच्छिदव्वासि किं पि। बलवं क्खु दे संदावो। (सखि ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु। प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। सखि प्रष्टव्याऽसि किमपि। बलवान्खलु ते संतापः।)

शकुन्तला—[पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय] हला किं वत्तुकामासि। (हला किं वक्तुकामासि।)

अनसूया—हला सउन्दले अणब्भन्तरा क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स। किंदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहि किंणिमित्तं संदावो। विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स। (हला शकुन्तले अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किंतु यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि। कथय किंनिमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।)

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] बलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कुणोमि णिवेदिदुं। (बलवान्खलु मेऽभिनिवेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्।)

---

प्रियंवदा—[चुपके से] अनसूया! शकुन्तला ने जब से उन राजर्षि का दर्शन किया है, तभी से यह इस प्रकार उत्कण्ठित सी हो गई है। इसका यह सन्ताप उन्हीं के कारण तो नहीं है?

अनसूया—सखी! मेरे मन में भी इसी प्रकार की आशंका है। अच्छा तो यही होगा कि इसी से पूछूँ। [प्रकट रूप में] सखी! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ। क्योंकि तुम्हारे शरीर का सन्ताप अत्यधिक दिखाई पड रहा है।

शकुन्तला—[शैय्या पर से आधा उठकर] सखी! बोलो, क्या पूछना चाहती हो।

अनसूया—सखी शकुन्तला! हम लोग प्रेम अथवा मदन के प्रसंग की बातें तो तनिक भी नहीं जानतीं, किन्तु पुरानी कथा-कहानियों में हमने काम-पीड़ित प्रेमियों की जो बातें सुनी हैं वैसी ही दशा ठीक-ठीक तुम्हारी भी दिखाई पड रही है। बताओ, यह तुम्हारा सन्ताप किसके लिए है। क्योंकि जब तक भलीभाँति विकार का पता नहीं लग जाता तब तक उसके प्रतीकार का उपाय किया नहीं जा सकता।

राजा—मैं जो बात अपने मन में सोच रहा था वही अनसूया भी सोच रही है। मैंने जो कुछ सोचा था वह केवल मेरे ही मन की बात नहीं थी।

शकुन्तला—[अपने आप] मेरा प्रेम बहुत आगे बढ चुका है अतः इस समय भी मैं सहसा इन दोनों से अपने मन की बातें नहीं बता सकूँगी।

**प्रियंवदा**—सहि सउन्दले सुट्ठु एसा भणादि किं अत्तणो आतङ्कं उवेक्खसि। अणुदिअहं क्खु परिहिअसि अङ्गेहिं। केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुञ्चदि। (सखि शकुन्तले सुष्ठु एषा भणति। किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे। अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति।)

**राजा**—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं,
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥८॥

**शकुन्तला**—सहि कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं। आआइसत्तिआ दाणिं वो भविस्सं। (सखि कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि। आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि।)

**उभे**—अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो। सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि— (अत एव खलु निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति।)

**राजा**—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णमत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि॥९॥

**शकुन्तला**—सहि जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता। (सखि यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि संवृत्ता।)

---

**प्रियंवदा**—सखी शकुन्तला! अनसूया ठीक ही कह रही है। तुम क्यों अपना रोग बढ़ाती जा रही हो। तुम दिन प्रति दिन इतनी सूखती जा रही हो कि तुम्हारे शरीर पर बस यह सुन्दरता की छाया मात्र शेष बची है।

**राजा**—प्रियंवदा ने बिलकुल ठीक ही कहा है। क्योंकि—

शकुन्तला के कपोल सूख गए हैं, मुख मुरझा गया है, वक्षस्थल के दोनो स्तन अपनी
[illegible]
है
हु
दया की पात्र भी लगती है॥८॥

**शकुन्तला**—मैं भला तुमसे न कहूँगी तो किसी अन्य से कहूँगी। सखी! अब तुम दोनो को मैं कुछ कष्ट देना चाहूँगी।

**दोनों सखियाँ**—इसीलिए तो हम लोग इतना आग्रह कर रही हैं। देखो, अपने स्नेहीजनों मे बाँट देने पर दुःख सहने योग्य हो जाता है।

**राजा**—दुःख और सुख मे सदैव साथ देनेवाली अपनी सखियों के पूछने पर अपनी व्यथा का कारण यह न बताएगी—ऐसी बात नहीं है अर्थात् अब तो बताएगी ही। किन्तु उस समय शकुन्तला ने यद्यपि बार-बार फिर-फिर कर मुझे ललचाए हुए नेत्रों से देखा था तथापि इस समय इसका उत्तर सुनने के लिए मैं अधीर हो रहा हूँ॥९॥

**शकुन्तला**—सखि! जब से आश्रम की रक्षा करनेवाले उक्त राजर्षि को मैंने देखा है तभी से उन्हीं के प्रेम मे मेरी यह दशा हो गई है।

राजा—[सहर्षम्] श्रुतं श्रोतव्यम्।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥१०॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं। ता तह वट्टह। जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिञ्चध मे तिलोदअं। (तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथाम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा अवश्यं सिञ्चत मे तिलोदकम्।)

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

प्रियंवदा—[जनान्तिकम्] अणसूए दूरगअमम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं। (अनसूये दूरगतमन्मथा अक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।)

अनसूया—तह जह भणासि। (तथा यथा भणसि।)

प्रियंवदा—[प्रकाशम्] सहि दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ। को दाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि। (सखि दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।)

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेम्ह। (कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः।)

---

राजा—[हर्ष के साथ] जो सुनना था, वह तो सुन लिया। कामदेव ने मेरे हृदय में सन्ताप उत्पन्न किया था और अब वही हमारे सन्ताप को दूर करनेवाला भी है। जिस प्रकार गर्मी का दिन पहले तो जीवों को व्याकुल कर देता है किन्तु गर्मी बीत जाने के बाद मेघाछन्न होकर उस व्याकुलता को हर भी लेता है ॥१०॥

शकुन्तला—तो यदि तुम दोनों उचित समझो तो कोई ऐसा उपाय करो, जिससे उक्त राजर्षि की कृपादृष्टि मुझे प्राप्त हो। और नहीं तो मुझे तिलाजलि देने की तैयारी तुम लोग करो।

राजा—यह तो सन्देह को दूर करनेवाली बात है।

प्रियंवदा—[चुपके से] सखी 'अनसूया' इसकी प्रेम-पीड़ा इतनी आगे बढ़ चुकी है कि हम कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। सचमुच, इस की अभिलाषा की तो सराहना ही करनी पड़ेगी कि इसने प्रेम भी किया तो पुरुकुल भूषण राजा दुष्यन्त से किया।

अनसूया—तुम्हारा कथन सत्य है।

प्रियंवदा—[प्रकट रूप में] तुम्हारा सौभाग्य है कि तुमने अपने अनुरूप प्रेमी से ही प्रेम किया। समुद्र को छोड़कर महानदी अन्यत्र कहाँ जाती है। नूतन पल्लव से अलंकृत माधवी लता आम के वृक्षों को छोड़कर भला अन्य किस वृक्ष का आश्रय ग्रहण करेगी।

राजा—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, जो विशाखा के दोनों नक्षत्र चन्द्रमा की कला का अनुसरण करें।

अनसूया—तब ऐसा कौन सा उपाय किया जाय जिससे बिना विलम्ब तथा बिना किसी दूसरे की सूचना के हमारी इस सखी की अभिलाषा की पूर्ति हो जाय।

प्रियंवदा—णिहुअं त्ति चिन्तणिज्जं भवे। सिग्घं त्ति सुअरं। (निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्।)

अनसूया—कहं विअ। (अयमिव।)

प्रियंवदा—ण सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि। (ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।)

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥११॥

प्रियंवदा—[विचिन्त्य] हला मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं। (हला मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।)

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि। (रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति।)

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि। (को नियोगो विकल्प्यते।)

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदबन्धणं। (तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम्।)

---

प्रियंवदा—किसी को सूचना न हो—यही सोचने की बात है शीघ्रता करना तो आसान है।

अनसूया—यह कैसे?

प्रियंवदा—निश्चय ही वह राजर्षि भी शकुन्तला के प्रति स्नेहदृष्टि से अपनी अभिलाषा प्रकट करनेवाले हैं तभी तो इतने दिनों से लगातार जागते रहने के कारण दुबले दिखाई पड़ने लगे हैं।

राजा—सचमुच मैं दुबला हो गया हूँ। क्योंकि रात रात भर सिर के नीचे लगी हुई भुजा पर बँधा हुआ यह भुजबन्ध मेरी आँखों की कोरों से आन्तरिक सन्ताप के कारण छन कर गिरी हुई गरम आँसुओं से मलिन रत्नोंवाला होकर इतना ढीला-ढाला हो गया है कि बारबार ऊपर सरकाते रहने पर भी कलाई तक खिसक आता है और धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ न पड़े हुए पट्टों पर भी यह नहीं ठहर पाता है॥११॥

प्रियंवदा—[विचार करके] सखी! तो इसके लिए इससे एक प्रेम-पत्र तैयार करवाया जाय। और उसे पुष्पों में छिपाकर देवता के प्रसाद के बहाने से उन राजर्षि के हाथ में दे आया जाय।

अनसूया—यह सुन्दर प्रयोग मुझे रुचिकर लगता है। किन्तु शकुन्तला से पूछो यह क्या कहती है?

शकुन्तला—भला सखी की आज्ञा में मैं क्या तर्क वितर्क कर सकती हूँ।

प्रियंवदा—यदि ऐसा है तो जैसी तुम्हारी दशा है उसके अनुरूप सुललित पदों में एक सुन्दर सा कविता बना डालो।

शकुन्तला—हला चिन्तेमि अह। अवहीरणभीरुअ पुणो वेवइ मे हिअअं। (हला चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरुक पुनर्वेपते मे हृदयम्।)

राजा—[सहर्षम्]—

**अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।**
**लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्॥१२॥**

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि को दाणिं सरीरणिव्वाविअं सारदिअं जोसिणिं। पडन्तेण वारेदि। (आत्मगुणावमानिनि क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति।)

शकुन्तला—[सस्मितम्] णिओइआ दाणिं म्हि। (नियोजितेदानीमस्मि।) [इत्युपविष्टा चिन्तयति।]

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥१३॥

शकुन्तला—हला चिन्तिदं मए गीववत्थु। ण क्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि। (हला चिन्तितं मया गीतवस्तु। न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि।)

प्रियंवदा—ईदस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि। (एतस्मिञ्छुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु।)

शकुन्तला—[यथोक्तं रूपयित्वा] हला सुणुह दाणिं संगदत्थं ण वेत्ति। (हला शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति।)

---

शकुन्तला—सखी! कविता तो मैं बना डालूँगी। किन्तु यह सोचकर मेरा हृदय काँप उठता है कि कहीं वह मेरा निरादर न कर दें।

राजा—[सहर्ष] तुम जिससे निरादर की आशंका करती हो वह तो तुमसे मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक है। प्रार्थना करनेवाला लक्ष्मी को कभी प्राप्त करे या न करे किन्तु जिसस लक्ष्मी स्वयं मिलना चाहती हो, वह लक्ष्मी के लिए दुर्लभ कैसे रह सकता है॥१२॥

सखियाँ—अरी अपने गुणों का अपमान करनेवाली, सखी! ऐसा कौन है, जो शरीर को शान्ति देनेवाली शरद की चाँदनी को रोकने के लिए अपने सिर पर कपड़ा तान लेगा।

शकुन्तला—अच्छा जो आप सखियों ने कहा है, उसे पूरा करूँगी। [बैठकर सोचती है।]

राजा—अब प्रियतमा को आँखभर देखने का यह सुन्दर अवसर मिल गया है। क्योंकि प्रेमपत्र के लिए कविता बनाते समय, लता के समान चढ़ी हुई एक भौंहवाला और पुलकित कपोलों से युक्त इसका सुन्दर मुख यह बता रहा है कि मेरे प्रति इसमें कितना प्रेमानुराग भरा हुआ है।

शकुन्तला—सखी! मैंने गीत का वर्ण्य विषय सोच लिया है किन्तु यहाँ लिखने की कोई सामग्री नहीं है।

प्रियंवदा—इस सुग्गे के उदर की भाँति सुकोमल कमलिनी के पत्ते पर अपने नखों से अक्षरों की रचना कर लो।

शकुन्तला—[ऐसा ही करती हुई] सखी! लो तनिक सुनो, यह ठीक ढंग से बन भी सकी है या नहीं।

**उभे**––अवहिद म्ह। (अवहिते स्व।)

**शकुंतला**––[वाचयति]––

तुज्झ ण आणे हिअअ मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि।
णिग्घिण तवइ बलीअ तुइ वुत्तमणोरहाइ अङ्गाइ ॥१४॥

(तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवाऽपि रात्रिमपि।
निघृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथा यङ्गानि॥)

**राजा**––[सहसोपसृत्य]

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिश मा पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्क न तथा हि कुमुद्वतीं दिवस ॥१५॥

**सख्यौ**––[सहषम] साअद अविलम्बिणा मणोरहस्स। (स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य।)

[शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति।]

**राजा**––अलमलमायासेन।

सवष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१६॥

**अनसूया**––इदोसिलातलेक्कदेस अलकरेदु व अस्सो। (इत शिलातलकदेशमल करोतु वयस्य।)

[राजोपविशति। शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति।]

---

**दोनों सखियाँ**––हा हम सावधान ह

**शकुन्तला**––[बाचती है] हे निदयी! मैं तुम्हारे हृदय को तो नहीं जानता किन्तु अपनी सम्पूण अभिलाषा तुझम ही समर्पित कर दी है जिससे कामदेव मेरे सम्पूण अगो को दिन म भी और रात्रि मे भी अयन्त सन्तप्त करता रहता है॥१४॥

**राजा**––[एकाएक पहुँचकर] हे दुबल शरीरवाली! तुम्हें तो कामदेव सताता है किन्तु मुझ तो वह निरन्तर जलाए ही जा रहा है। क्योंकि दिन के निकलने पर कुमुदिनी उतनी नही मरझाती जितना चन्द्रमा मलिन हो जाता है॥१५॥

**सखियाँ**––[सहष] तत्काल मिलनेवाले मनोरथ का स्वागत है।

[शकुन्तला उठना चाहती है।]

**राजा**––बस बस। कष्ट मत करो। विरह के अत्यन्त असह्य सन्ताप से तुमने पुष्प की शय्या पर जो इधर-उधर की करवट बदली उसके कारण पुष्पो की पखुडियाँ तुम्हारे शरीर म पसीने से चिपक गई हैं। मृणाल क जो आभूषण पहन रख हैं वे भी टूट जान से सुगधि बिखरा रहे हैं। इससे तुम्हारे शरीर का गभीर सताप विदित हो रहा है अत अभी तुम्हारा शरीर आदर-सत्कार का उपचार करन योग्य नही है॥१६॥

**अनसूया**––हे सहृद! आप भी इसी पत्थर की शिला के एक कोने को अलकृत करें।

[राजा बठता है। शकुन्तला लज्जित हो उठती है]

प्रियंवदा—दुवेण णु वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि। (द्वयोर्ननु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः। सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति।)

राजा—भद्रे नैतत्परिहार्यम्। विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो। (आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः।)

राजा—नास्मात्परम्।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवदा मअणेण आरोविदा। ता अरहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं। (तेन हीयं नौ प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता। तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम्।)

राजा—भद्रे साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि।

शकुन्तला—[प्रियंवदामवलोक्य] हला किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण। (हला किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।)

राजा—सुन्दरि।

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१७॥

अनसूया—वअस्स बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि। (वयस्य बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय।)

---

प्रियंवदा—निश्चय ही आप दोनों का पारस्परिक प्रेम प्रत्यक्ष दिखाई पड रहा है, तथापि सखी का प्रेम मुझे पुनरुक्ति के लिए विवश कर रहा है।

राजा—भद्रे! उसे रोकिए नहीं। क्योंकि जो बात कहने की इच्छा हो, यदि वह नहीं कही जाती तो पश्चात्ताप को जन्म देती है।

प्रियंवदा—राजा को अपने राज्य की सीमा में रहनेवाले विपत्तिग्रस्त लोगों के कष्टों को दूर करना धर्म है।

राजा—हाँ, इससे बढ़कर कोई दूसरा धर्म राजा का नहीं है।

प्रियंवदा—हम दोनों की यह प्रिय सखी आपके ही कारण भगवान कामदेव द्वारा इस विषम स्थिति में पहुँचा दी गई है। अब आप ही जब कृपा करेंगे तो इनके प्राणों को अवलम्ब मिलेगा।

राजा—भद्रे! यह प्रार्थना तो दोनों ही तरफ से एक जैसी है। हम आपके सब प्रकार से अनुगृहीत हैं।

शकुन्तला—[प्रियंवदा को देखती हुई] सखी! राजर्षि तो अपनी अन्तःपुर की रानियों के विरह में उत्सुक हैं अतः उन्हें इस चक्कर में क्यों फँसा रही हो।

राजा—सुन्दरी! मेरा हृदय तुम्हें छोड़कर किसी अन्य को प्रेम नहीं करता। हे मदभरे नेत्रोंवाली! किन्तु यदि तुम हमारी इस बात का विश्वास नहीं करती हो तो मैं तो यही समझूँगा कि कामदेव के बाणों से आहत मुझको तुम पुनः चोट पहुँचा रही हो ॥१७॥

अनसूया—मित्र! राजा लोग अनेक प्रेयसियों के प्रेमी सुने जाते हैं। तो हमारी इस प्रिय सखी के लिए कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम परिवार के लोगों को उसकी चिन्ता न करनी पड़े।

राजा—भद्रे किं बहुना।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्रवसना - चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥१८॥

उभे—णिव्वुद म्ह। (निर्वृते स्वः।)

प्रियंवदा—[सदृष्टिक्षेपम्] अणसूए जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि एहि। संजोएम णं। (अनसूये यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति एहि। संयोजयाव एनम्।) [इत्युभे प्रस्थिते।]

शकुन्तला—हला असरण म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु। (हला अशरणाऽस्मि। अन्यतरा युवयोरागच्छतु)

उभे—पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ। (पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते।) [इति निष्क्रान्ते]।

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व। (कथं गते एव।)

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्-
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥१९॥

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं। (न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये।) [इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति।]

---

राजा—भद्रे! अधिक तो क्या कहूँ। इतना ही कहूँगा कि अन्तःपुर में अनेक रानियों के होते हुए भी मेरे कुल में दो की ही प्रतिष्ठा होगी। एक तो समुद्र से चारों ओर घिरी हुई पृथ्वी की तथा दूसरे तुम्हारी इस प्रियसखी शकुन्तला की॥१८॥

दोनों सखियाँ—तब हम निश्चिन्त हैं।

प्रियंवदा—[आँखें झपकती हुई] सखी अनसूया! देखो, वह मृग का छौना हम लोगों की ओर आँखें करके अपनी माँ को ढूँढ रहा है, चलो, इसे इसकी माँ से मिला दें। [दोनों वहाँ से चलने को उद्यत होती है।]

शकुन्तला—सखी! मैं यहाँ अकेली रह जाऊँगी। दोनों में से कोई एक तो रुक जाओ।

दोनों सखियाँ—सम्पूर्ण पृथ्वी को सहारा देनेवाला तो तुम्हारे समीप में विद्यमान है। [दोनों चली जाती है।]

शकुन्तला—क्या दोनों चली गई।

राजा—घबराने की क्या आवश्यकता है? तुम्हारी सेवा करनेवाला यह सेवक तो तुम्हारे समीप बैठा ही है। हे करभोरु! इस समय जो कुछ भी तुम्हें अच्छा मालूम पड़े, मैं वह सब करने के लिए सन्नद्ध हूँ। कहो तो थकावट दूर करनेवाले इन शीतल कमलिनी के पत्तों से तुम्हें हवा करूँ या रक्त कमलों के समान दोनों चरणों को अपनी गोद में रखकर धीरे-धीरे दबाऊँ॥१९॥

शकुन्तला—अपने सम्माननीय से सेवा लेकर मैं अपने को अपराधिनी नहीं बनाऊँगी। [उठकर जाना चाहती है।]

राजा—सुन्दरि अनिर्वाणो दिवस इव च ते शरीरावस्था।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः॥२०॥

[इति बलादेनां निवर्तयति]

शकुन्तला—पोरव रक्ख अविणअं। मअणसंतत्ता वि ण क्खु अत्तणो पहवामि। (पौरव रक्षाविनयम्। मदनसन्तप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।)

राजा—भीरु अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥२१॥

शकुन्तला—मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं। (मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।)

राजा—भवतु मोक्ष्यामि।

शकुन्तला—कदा। (कदा।)

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता यदा ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥२२॥

[इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन।]

---

राजा—सुन्दरी! अभी दिन भी नहीं ढला है और तुम्हारे शरीर की ऐसी अवस्था है। इस धूप में फूलों की शय्या छोड़कर और कमलिनी के पत्ते से स्तनों को ढँक कर विरह से सन्तप्त अपने दुर्बल अंगों को लेकर तुम कैसे जाओगी॥२०॥

[बलपूर्वक शकुन्तला को रोकता है।]

शकुन्तला—पौरव! अपनी मर्यादा की रक्षा करें। काम से पीड़ित होकर भी मैं अपने मन से कुछ भी नहीं कर सकती।

राजा—हे भीरु! डर की आवश्यकता नहीं। धर्म की मर्यादा के जाननेवाले तुम्हारे पिता कुलपति कण्व जब बात जान लेंगे तो हम लोगों के इस व्यवहार को दोषयुक्त नहीं मानेंगे। देखो, बहुत से राजर्षियों की कन्याओं का गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ है और यह भी सुना जाता है कि उनके पिताजनों ने उनके विवाहों का समर्थन ही किया है॥२१॥

शकुन्तला—अच्छा अभी तो मुझे छोड़ दें। मैं अपनी सखियों से तो अनुमति प्राप्त कर लूँ।

राजा—अच्छी बात है, छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कब?

राजा—जिस प्रकार नूतन कोमल पुष्प का रस भ्रमर सदय भाव से पीता है उसी प्रकार अधीर प्यासे मुझको जब तुम्हारे कोमल अधरों का रस पान करने के लिए मिल जायगा, तब छोड़ दूँगा।

[शकुन्तला के मुख को ऊपर उठाना चाहते हैं किन्तु शकुन्तला रोकने का अभिनय करती है।]

[नेपथ्ये]

चक्कवाकबहुए आमन्तेहि सहअर। उवट्ठिआ रअणी। (चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।)

शकुन्तला—[ससम्भ्रमम्] पोरव असंसअं मम सरीरवुत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि ता विडवन्तरिदो होहि। (पौरव असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति तद्विटपान्तरितो भव।)

राजा—तथा। [इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति]

[ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च।]

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी। (इत इत आर्या गौतमी।)

गौतमी—[शकुन्तलामुपेत्य] जादे अवि लहुसंदावाइं दे अङ्गाइं। (जाते अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि।)

शकुन्तला—अज्जे अत्थि मे विसेसो। (आर्ये अस्ति मे विशेषः।)

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि। [शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य] वच्छे परिणदो दिअहो। एहि। उडजं एव्व गच्छम्ह। (अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से परिणतो दिवसः। एहि। उटजमेव गच्छामः।)

[इति प्रस्थिताः]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि। साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो। [पदान्तरे स्थित्वा प्रकाशम्] लदावलअ संदावहारअ आमन्तेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स। (हृदय! प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः। लतावलय संतापहारक आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय) [इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः।]

---

[नेपथ्य में] अरी चक्रवाकी! अपने प्रियतम से विदा ले ले, क्योंकि रात आ गई है।

शकुन्तला—[घबराकर] पौरव! जान पड़ता है, मेरे शरीर का वृत्तान्त जानने के लिए आर्या गौतमी हमारी ही तरफ आ रही हैं, अतः तुम वृक्ष की आड़ में छिप जाओ।

राजा—बहुत अच्छा। [वृक्ष की ओट में अपने को छिपाता है।]

[तदनन्तर हाथ में पात्र लिए हुए दोनों सखियों के साथ गौतमी का प्रवेश।]

दोनों सखियाँ—आर्या गौतमी! आप इधर आएँ, इधर!

गौतमी—[शकुन्तला के समीप जाकर] बेटी! तुम्हारे शरीर का ताप कुछ कम हुआ।

शकुन्तला—हाँ, अब तो मुझे विशेष आराम है।

गौतमी—इस कुशा के जल से तुम अब बिल्कुल चंगी हो जाओगी। [शकुन्तला के मस्तक पर कुशा से जल छिड़कते हुए] बेटी! अब दिन समाप्त हो रहा है, आओ चलो, पर्णकुटी में चलें। [जाती है।]

शकुन्तला—[अपने आप] हृदय! जब तुम्हारा प्रियतम सुखपूर्वक यहीं मिल गया था तब तो तुमने अपनी कातरता नहीं छोड़ी। अब उनसे विमुख होने पर तुम्हें क्यों पश्चात्ताप हो रहा है। [कुछ पग चलने के बाद फिर खड़ी होकर प्रकट रूप में] हे मेरे सन्ताप को दूर करनेवाले लतामण्डप! विहार के लिए मैं तुम्हें पुनः निमंत्रण दिए जा रही हूँ। [खेद के साथ अपनी सखियों समेत शकुन्तला का प्रस्थान।]

राजा—[पूर्वस्थानमुपेत्य सनिःश्वासम्] अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥२३॥

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि। अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि। [सर्वतोऽवलोक्य]

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥२४॥

[आकाशे]

राजन्—

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्॥२५॥

राजा—अयमयमागच्छामि। [इति निष्क्रान्तः।]

इति तृतीयोऽङ्कः।

---

राजा—[पहले स्थान पर पहुँच कर साँस खींचते हुए] मन की अभिलाषाओं की पूर्ति में कितनी बाधाएँ आती हैं। मैं तो सुन्दर पलकों वाली प्यारी शकुन्तला के उस मुख को ऊपर उठाकर उसका चुम्बन भी नहीं कर सका, जिसके ओंठ को वह बार-बार अपनी अँगुलियों से ढकने की चेष्टा कर रही थी और जो बारम्बार नहीं-नहीं कहते हुए अतीव मनोहर लग रहा था और जिसे वह बारम्बार अपने कंधे की ओर घुमाती रहती थी॥२३॥

अब इस समय कहाँ जाऊँ। अथवा अपनी प्रियतमा द्वारा सेवित इसी लता कुंज में थोड़ी देर तक रुकूँगा। [चारों ओर देखकर]

इस पत्थर की शिला पर उसके शरीर से मसली हुई यह पुष्पों की शय्या पड़ी है। कमलिनी के पत्तों पर नखों से लिखा हुआ और धूप में मुरझाया हुआ यह प्रेमपत्र भी यहीं रखा हुआ है। उसके हाथों से सूखकर गिरे हुए ये मृणाल के आभूषण भी इधर-उधर बिखरे हुए हैं। इन सब चीजों में मेरी आँखें इतना रम गई हैं कि मैं इस प्रियतमा से सूने लता-गृह को सहसा छोड़कर जाने में असमर्थ हूँ॥२४॥

[आकाश में] राजन्! सन्ध्या के समय का यज्ञ प्रारम्भ होते ही जलती हुई अग्नि से युक्त वेदियों के चारों ओर, सन्ध्या के बादलों के समान काले-काले और लाल-लाल भयानक आकृतिवाले राक्षसों की छाया अब चक्कर लगाने लगी है॥२५॥

राजा—यह मैं आ रहा हूँ। [प्रस्थान करता है।]

अभिज्ञान शाकुन्तल में तीसरा अंक समाप्त॥३॥

## चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशत- कुसुमावचयं नाट्यन्त्यौ सख्यौ।)

अनसूया---पिअंवदे जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुद मे हिअअं तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्ज। (प्रियंवदे यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयं तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्।)

प्रियंवदा---कह विअ। (कथमिव)।

अनसूया---अज्ज सो राएसी इट्टि परिसमाविअ इसीहि' मविज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो एदोगद वुत्तन्त सुमरदि वा ण वेत्ति। (अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगर प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगत वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति।)

प्रियंवदा---वीसद्धा होहि। ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। तादो दाणि इमं वुत्तन्त सुणिअ ण जाणे कि पडिवज्जिस्सदि त्ति। (विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। तात इदानीमिम वृत्तान्त श्रुत्वा न जाने कि प्रतिपत्स्यत इति।)

अनसूया---जह अह देक्खामि तह तस्स अणुमद भवे। (यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमत भवेत्।)

प्रियंवदा---कहं विअ। (कथमिव।)

---

## चतुर्थ अंक

[तदनन्तर फूल चुनने का अभिनय करती हुई दोनो सखियो का प्रवेश]

अनसूया---प्रियवदा ! यद्यपि सखी शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो गया और उसने अपने अनुरूप पति भी प्राप्त कर लिया तथा पि मुझे इस बात की चिन्ता है।

प्रियंवदा---किस बात की तुम्हे चिन्ता है ?

अनसूया---यही कि आज वे राजर्षि यज्ञ-विधि समाप्त कर ऋषियो द्वारा बिदा कर दिए जाने पर अपनी राजधानी के अन्त पुर में जब पहुँच जायेंगे तब यहाँ के वृत्तान्त की उन्हे सुधि रहेगी या नही रहेगी ?

प्रियंवदा---विश्वास रखो। क्योकि उनके समान विशिष्ट आकृति-प्रकृति के लोग गुण-विहीन नही होते। किन्तु यह सब बातें सुनकर तात कण्व न जाने क्या करेंगे ?

अनसूया---मैं तो जहाँ तक देखती हूँ वहाँ तक वे इस बात का समर्थन ही करेंगे।

प्रियंवदा---यह कैसे ?

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जेत्ति अअं दाव पढमो सङ्कप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। (गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः सङ्कल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः।)

प्रियंवदा—[पुष्पभाजनं विलोक्य] सहि अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं। (सखि अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।)

अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ। (ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।)

प्रियंवदा—जुज्जदि। (युज्यते।) [इति तदेव कर्मारभेते।]

[नेपथ्ये] अयमहं भोः।

अनसूया—[कर्णं दत्त्वा] सहि अदिधीणं विअ णिवेदिदं। (सखि अतिथीनामिव निवेदितम्।)

प्रियंवदा—णं उडजसणिहिदा सउन्दला। [आत्मगतम्] अज्ज उण हिअएण असणिहिदा। (ननूटजसंनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता।)

अनसूया—होदु। अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं। (भवतु। अलमेतावद्भिः कुसुमैः।) [इति प्रस्थिते]

[नेपथ्ये]

आः अतिथिपरिभाविनि!

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥१॥

---

अनसूया—उनका संकल्प था कि गुणवान व्यक्ति को कन्या समर्पित करेंगे और यदि उसे दैव ने ही पूरा कर दिया तब तो बिना किसी परिश्रम के ही वे कृतार्थ हो गए।

प्रियंवदा—[पुष्प-पात्र को देखकर] सखी! पूजा के लिए इतने पुष्प तो पर्याप्त हैं न?

अनसूया—अरे! अभी सखी शकुन्तला के सौभाग्य देवता की भी तो पूजा करनी है।

प्रियंवदा—ठीक है। [फिर पुष्प चयन करने लगती है]

नेपथ्य में—अरे! कोई है, मैं आया हुआ हूँ।

अनसूया—[कान लगाकर] अतिथि की तरह कोई बुला रहा है।

प्रियंवदा—पर्णकुटी में शकुन्तला तो है ही। [मन ही मन] किन्तु आज वह कुछ अपने मन से वहाँ नहीं है।

अनसूया—जो हो, अब इतने पुष्प पर्याप्त हैं। [दोनों सखियों का प्रस्थान।]

[नेपथ्य में]—अरे अतिथि का अपमान करनेवाली! अनन्य चित्त से जिसका ध्यान करती हुई तू आश्रम पर उपस्थित मुझ तपोनिधि की सुधि भी नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दिलाये जाने पर भी उसी प्रकार तुम्हें भूल जायगा, जिस प्रकार उन्मत्त पुरुष अपनी पिछली बातें भूल जाता है॥१॥

प्रियंवदा—हद्धी हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। [पुरोऽवलोक्य] ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। (हा धिक् हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिस्तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति।)

अनसूया—गच्छ पादेसु पणमिय णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। (गच्छ पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनम्। यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।)

प्रियंवदा—तह। (तथा) [इति निष्क्रान्ता।]

अनसूया—[पदान्तरे स्खलितं निरूप्य] अव्वो आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्टं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं। (अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्।) [इति पुष्पोच्चयं रूपयति।]

प्रियंवदा—[प्रविश्य] सहि पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो। (सखि प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।)

अनसूया—[सस्मितम्] तस्सिं बहु एदं पि। कहेहि। (तस्मिन्बह्वेतदपि। कथय।)

प्रियंवदा—जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए। भअवं पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो त्ति। (यदा निर्वर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।)

अनसूया—तदो तदो। (ततस्ततः)

---

प्रियंवदा—हाय हाय, यह तो अनर्थ हो गया। ऐसा मालूम होता है कि किसी पूजनीय व्यक्ति के संग शून्यहृदय शकुन्तला ने कोई अपमानजनक व्यवहार कर दिया है। [सामने की ओर देखकर] अरे, किसी ऐसे वैसे व्यक्ति का अपमान नहीं हुआ है यह तो मामूली-सी बात पर कोप करने वाले महर्षि दुर्वासा हैं जो उक्त शाप देकर लंबे-लंबे डग रखते हुए बड़े वेग के साथ आश्रम से वापस लौटे जा रहे हैं। अग्नि के सिवा जलाने का काम भला कोई दूसरा कौन करेगा।

अनसूया—जाओ जल्दी से उनके चरणों में गिरकर वापस लौटा लाओ। तब तक मैं उनके लिए अर्घ्य का जल ला रही हूँ।

प्रियंवदा—अच्छी बात है। [जाती है।]

अनसूया—[दो-एक पग चलकर ठोकर खाती है।] हाय हाय! शीघ्रता में चलने के कारण ऐसी ठोकर लग गई कि हमारे हाथ से पुष्पों का पात्र गिर पड़ा। [पुष्पों को बटोरने का नाट्य करती है।]

प्रियंवदा—[प्रवेश करके] सखी! वह तो स्वभाव से ही बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं। वे भला किसका अनुनय सुनते हैं। किन्तु फिर भी मैंने उन्हें थोड़ा-बहुत मना लिया है।

अनसूया—[मुस्कराती हुई] इतना ही बहुत है। बोलो क्या मना लिया है।

प्रियंवदा—जब वे लौटने को सहमत नहीं हुए तब मैंने उनसे प्रार्थना की कि भगवन्! एक तो यह मेरी सखी शकुन्तला का प्रथम अपराध है और यह कि तपस्या के महत्त्व को न समझनेवाली कन्या का अपराध है, इसलिये उसे आप क्षमा करें।

अनसूया—तब क्या हुआ?

प्रियंवदा—तदा ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो। (ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते इति मन्त्रयन्स्वयमन्तर्हितः।)

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअङ्किअं अङ्गुलीअअं सुमरणीअं त्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।)

प्रियंवदा—सहि एहि देवकज्जं दाव से णिव्वत्तेम्ह। (सखि एहि देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयाव।) [इति परिक्रामतः।]

प्रियंवदा—[विलोक्य] अणसूए पेक्ख दाव। वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि किं उण आअन्तुअं। (अनसूये पश्य तावत्। वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयाऽऽत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्।)

अनसूया—पिअंवदे दुवेणं एव्व णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही। (प्रियंवदे द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।)

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चेदि। (को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति।)

[इत्युभे निष्क्रान्ते।]

॥ विष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः।]

---

प्रियंवदा—तदनन्तर वे इतना कहकर अन्तर्धान हो गए कि मेरी बात तो अन्यथा नहीं हो सकती किन्तु यह हो सकता है कि यदि कन्या अपने प्रेमी की कोई पहचान का आभूषण दिखला देगी तो मेरा शाप निवृत्त हो जाएगा।

अनसूया—अब हम कुछ धैर्य धारण कर सकेंगी। क्योंकि राजर्षि दुष्यन्त प्रस्थान के समय अपने नाम से अंकित एक अँगूठी स्वयं शकुन्तला के हाथ में स्मरण कराने के लिए ही पहना गए हैं। अब इस अँगूठी के द्वारा शकुन्तला अपने शाप से छुटकारा पा जायगी।

प्रियंवदा—सखी! आओ, तब तक देवपूजन की क्रिया समाप्त कर लें। [दोनों घूमती हैं।]

प्रियंवदा—[देखकर] अनसूया! तनिक देखो तो सही। अपने बाएँ हाथ पर गाल रखे हुए शकुन्तला चित्रलिखित-सी दिखाई पड़ रही है। पति की चिन्ता में जब इसे अपनी ही सुधि-बुधि नहीं है तो अतिथि की चिन्ता इसे कैसे हो सकती है?

अनसूया—प्रियंवदा! देखो, यह वृत्तान्त केवल हमारे और तुम्हारे ही मुख तक रहे। स्वभाव से ही अत्यन्त कोमल शकुन्तला की हमें सबको रक्षा करनी चाहिए।

प्रियंवदा—भला गरम जल से नवमल्लिका को कौन सींचता है? [दोनों जाती हैं।]

॥ विष्कम्भक ॥

[तदनन्तर सोकर उठे हुए एक शिष्य का प्रवेश]

शिष्य---वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति। [परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त प्रभातम्। तथा हि---

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

अपि च---

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

[प्रविश्यापटीक्षेपेण]

अनसूया---जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं। (यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्।)

शिष्य---यावदुपस्थिता होमवेला गुरवे निवेदयामि। [इति निष्क्रान्तः]

---

शिष्य---प्रवास से वापस आए हुए पूज्य कण्व ऋषि ने मुझे समय देखने के लिए आदेश दिया है। इसलिए चलूँ बाहर निकलकर देखूँ। [इधर उधर घूमकर और देखकर] अरे, यह तो प्रभात हो गया। क्योंकि, एक ओर औषधियों के स्वामी चन्द्रमा अस्ताचल की ओर चले जा रहे हैं और दूसरी ओर भगवान् सूर्यनारायण अपने सारथी अरुण को अग्रसर करके उदित हो रहे हैं। इन दो तेजस्वियों के एक ही साथ उदय और अस्त को देखकर इस संसार को यही शिक्षा मिलती है कि इन्हीं के उदय और अस्त के समान दुःख के पीछे सुख तथा सुख के पीछे दुःख का मिलना अनिवार्य है ॥२॥

और भी, चन्द्रमा के अस्त हो जाने से अब वह कुमुदिनी मेरी आँखों को उस प्रकार नहीं भा रही है। और उसकी शोभा केवल स्मरण करने योग्य रह गई है। सच है, अपने प्रियतम के विरह से उत्पन्न दुःख स्त्रियों के लिए अत्यन्त असहनीय हो जाता है ॥३॥

[बिना पर्दा को गिराए ही प्रवेश करके।]

अनसूया---यद्यपि विषय-सुख अर्थात् प्रेम-सम्बन्धी प्रसंगों से विमुख होने से मुझे कुछ ज्ञात नहीं है तथापि मैं इतना अवश्य कहूँगी कि उस राजा ने शकुन्तला के साथ उचित व्यवहार नहीं किया है।

शिष्य---हवन की बेला आ गई है चलकर गुरुदेव से निवेदन कर दूँ। [बाहर जाता है।]

अनसूया—पडिबुद्धा वि किं करिस्सं। ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति। कामो दाणिं सकामो होदु जेण असच्चसंघे जणे असण्णहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। ण सहीगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकण्णस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदुं। इत्थगए अम्हेहिं किं करणिज्जं। (प्रतिबुद्धापि किं करिष्ये। न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसंधे जने असन्यहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः कोप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्।)

[प्रविश्य]

प्रियंवदा—[सहर्षम्] सहि तुवर तुवर सउन्दलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं। (सखि त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्।)

अनसूया—सहि कहं एदं। (सखि कथमेतत्)।

प्रियंवदा—सुणाहि। दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि। (शृणु। इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गतास्मि)।

अनसूया—तदो तदो। (ततस्ततः।)

---

अनसूया—जाग कर भी क्या करूँगी? नित्य करने वाले कामों में भी हाथ व पैर नहीं फैल रहे हैं। कामदेव की इच्छा पूरी हो जिसने सरल स्वभाव वाली मेरी सखी को एक झूठ बोलनेवाले राजा के हाथों में सौंप दिया है। अथवा यह सम्भव है कि महर्षि दुर्वासा के शाप के कारण ऐसा हो रहा हो। अन्यथा वह राजर्षि किस प्रकार वैसी मीठी-मीठी बातें करके के जाने के बाद इतने दिनों के बीत जाने पर एक पत्र भी नहीं भेज रहा है। अतः अब हम उनके पास यहाँ से उस पहचान वाली अँगूठी को भिजवाएँगी। किन्तु दुःखपूर्ण जीवन बितानेवाले इन तपस्वियों में इस कार्य के लिए किनसे प्रार्थना की जाय। यह मेरी सखी शकुन्तला का दोष है—ऐसा निवेदन करने का निश्चय कर चुकने के बाद भी दुष्यन्त द्वारा गान्धर्व विधि से ब्याही गई शकुन्तला के गर्भवती होने की बात को प्रवास से वापस लौटे हुए पूजनीय कण्व के समक्ष कहने का साहस नहीं है। ऐसी विषम परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए।

प्रियंवदा—[प्रवेश करके सहर्ष] सखी, शीघ्रता करो। शकुन्तला की विदाई का आयोजन हमें करना होगा।

अनसूया—सखी! यह कैसे?

प्रियंवदा—सुनो अभी मैं शकुन्तला से उसके सुखपूर्वक शयन को पूछने गई हुई थी।

अनसूया—तब क्या हुआ?

प्रियंवदा—सदो जाव एण लज्जावणदमुहि परिस्सजिअ तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं—दिट्ठिआ धूमाउलिदिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे सुहिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता। अज्ज एव्व इसिरक्खिद तुम भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति। (ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकण्वेनैवमभिनन्दितम्—दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता वत्से सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता। अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वा भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति।)

अनसूया—अह कोण सूइदो तादकण्णस्स वुत्तन्तो। (अथ केन सूचितस्तातकण्वस्य वृत्तान्तः।)

प्रियंवदा—अग्गिसरण पविट्ठस्स सरीर विणा छन्दोमईए वाणिआए। (अग्निसरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या।)

अनसूया—[सविस्मयम्] कह विअ। (कथमिव)।

प्रियंवदा—[संस्कृतमाश्रित्य]

दुष्यन्तेनाऽऽहृतं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४॥

अनसूया—[प्रियंवदामाश्लिष्य] सहि पिअं मे। किन्दु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कण्ठामाहारण परितोस अणुहोमि। (सखि प्रियं मे। किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि।)

प्रियंवदा—सहि वअ दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामो। सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु। (सखि आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृता भवतु।)

---

प्रियंवदा—तब तक पिता कण्व आ पहुँचे और लज्जा से सिर नीचे की हुई शकुन्तला को अपने गले से लगाकर इस प्रकार से अभिनन्दन किया—'बेटी! सौभाग्यवश धूम से व्याकुल नेत्र होने पर भी यजमान की आहुति अग्नि मे ही गिरी है, अत तू अच्छे शिष्य को दी गई विद्या के समान अब चिन्ता से रहित हो गई हो। आज ही ऋषियों के साथ तुम्हें तुम्हारे पति के समीप भेज दूँगा।'

अनसूया—सखी! तात कण्व से यह सब वृत्तान्त कहा किसने?

प्रियंवदा—उनके यज्ञशाला मे पहुँचने पर छन्दोमयी आकाशवाणी हुई थी।

अनसूया—क्या हुई थी?

प्रियंवदा—[संस्कृत मे बोलती है]

हे ब्राह्मण! जिसके भीतर अग्नि रहती है, ऐसी शमी वृक्ष की शाखा की भाँति आप की कन्या ने संसार के कल्याणार्थ दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज को धारण किया है—ऐसा समझ लें ॥४॥

अनसूया—[प्रियंवदा को चिपकाकर] सखी! यह तो मेरा प्रिय कार्य हुआ। किन्तु भेद इतना ही है कि हमारी प्यारी सखी शकुन्तला आज ही चली जायगी। इसलिए उत्कंठा के साथ-साथ सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ।

प्रियंवदा—सखी! हम लोग अपनी उत्कण्ठा तो शान्त ही कर लेंगी। वह तपस्विनी सुखी रहे।

**अनसूया**—तेण हि एदस्सि चूदसाहावलम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्त एव्व कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसण्णिहिदं करेहि जाव अहं पि से मअलोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणि त्ति मङ्गलसमालम्भणाणि विरएमि। (तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्तसंनिहितां कुरु यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि।)

**प्रियंवदा**—तह करीअदु। (तथा क्रियताम्)।

[अनसूया निष्क्रान्ता। प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति।]

[नेपथ्ये]

गौतमि आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय।

**प्रियंवदा**—[कर्णं दत्त्वा] अणसूए तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअन्ति। (अनसूये त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दायन्ते।)

[प्रविश्य समालम्भनहस्ता]

**अनसूया**—सहि एहि गच्छम्ह। (सखि एहि गच्छाव।)

[इति परिक्रामतः।]

**प्रियंवदा**—[विलोक्य] एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवाअणिआहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठदि। उवसप्पम्ह णं। [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्।)

[इत्युपसर्पतः।]

[ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला।]

---

**अनसूया**—सखी! यह सामने जो आम की शाखा पर नारियल की बनी पेटारी लटक रहा है, उसके भीतर हमने बहुत दिनों तक सुगन्धित बनी रहनेवाली बकुल की माला आज के दिन के लिए ही सुरक्षित रख छोड़ा है। उसे उतार तो लो। तब तक मैं गोरोचन, तीर्थ की मिट्टी, कोमल दूर्वा के अंकुर आदि मांगलिक सामग्रियाँ एकत्र कर रही हूँ।

**प्रियंवदा**—ठीक है, यही करो। [अनसूया जाती है। प्रियंवदा उक्त माला उतारने का नाट्य करती है।]

[नेपथ्य में] गौतमी! शार्ङ्गरव आदि से कहो कि वे शकुन्तला को पहुँचाने के लिए तैयार हो जायें।

**प्रियंवदा**—[कान लगाकर] अनसूया! जल्दी करो, जल्दी करो। यह हस्तिनापुर जानेवाले ऋषियों की बुलाहट हो रही है।

[हाथ में सामग्री लेकर अनसूया का प्रवेश]

**अनसूया**—सखी! आओ चलें अब! [दोनों घूमती हैं।]

**प्रियंवदा**—यह सूर्योदय होते ही शिखास्नान किये हुए शकुन्तला बैठी है, और ये सब तपस्विनी स्त्रियाँ हाथ में तिन्नी के दाने लेकर आशीर्वाद दे-देकर उसका अभिनन्दन कर रही हैं। चलो, हम दोनों भी वहीं चलें। [दोनों उसी ओर जाती हैं]

[तदनन्तर उपर्युक्त प्रकार से आसन पर बैठी हुई शकुन्तला दिखाई पड़ती है।]

तापसीनामन्यतमा—[शकुन्तलां प्रति] जादे भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि। (जाते भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्द लभस्व।)

द्वितीया—वच्छे वीरप्पसविणी होहि। (वत्से वीरप्रसविनी भव।)

तृतीया—वच्छे भत्तुणो बहुमदा होहि। (वत्से भर्तुर्बहुमता भव।)

[इत्याशिषो दत्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ता।]

सख्यौ—[उपसृत्य] सहि सुहमज्जण दे होदु। (सखि सुखमज्जनं ते भवतु।)

शकुन्तला—साअद मे सहीण। इदो णिसीदह। (स्वागत मे सख्योः। इतो निषीदतम्।)

उभे—[मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य] हला सज्जा होहि जाव दे मङ्गलसमालम्भण विरएम। (हला सज्जा भव यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः।)

शकुन्तला—इद पि बहु मन्तव्व दुल्लह दाणि मे सहीमण्डण भविस्सदि त्ति। (इदमपि बहु मन्तव्यं दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति।) [इति बाष्पं विसृजति।]

उभे—सहि उइअ ण दे मङ्गलकाले रोइद। (सखि उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम्) [इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः।]

प्रियंवदा—आहारणोइद रूव अस्समसुलहेहिं पसाहणोहिं विप्पआरीअदि। (आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।)

[प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ।]

उभौ—इदमलंकरणम्। अलंक्रियतामत्रभवती।

[सर्वा विलोक्य विस्मिताः।]

गौतमी—वच्छ णारअ कुदो एद। (वत्स नारद कुत एतत्।)

प्रथमः—तातकण्वप्रभावात्।

---

एक तपस्विनी—[शकुन्तला के प्रति] बेटी! तुम पति से अत्यन्त आदर पानेवाली पटरानी बनो।

दूसरी तपस्विनी—पुत्री! वीर पुत्र की माता बनो।

तीसरी तपस्विनी—बेटी! तू पति की प्राण-प्यारी बनो।

[उक्त आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर सब तपस्विनियाँ चली जाती हैं।]

दोनों सखियाँ—[समीप आकर]—सखी! तुम्हारा यह स्नान सुखदायी बने।

शकुन्तला—आओ, मेरी प्यारी सखियो! यहाँ बैठो।

दोनों सखियाँ—[मांगलिक पात्र लेकर बैठती हुई] सखी, तुम अब तैयार हो जाओ, हम तुम्हारा मांगलिक शृंगार करेंगी।

शकुन्तला—सखी! आज तो उसका विशेष आदर करूँगी, क्योंकि अब मेरे लिए सखियों के हाथ का शृंगार दुर्लभ हो जायगा। [रोने लगती है।]

दोनों सखियाँ—सखी! इस मंगलमय प्रस्थान की वेला में रुदन करना उचित नहीं है। [शकुन्तला के आँसू पोंछकर शृंगार करने का अभिनय करती हैं।]

प्रियंवदा—आभूषणों में सुसज्जित करने योग्य तुम्हारा रूप इन जंगली प्रसाधनों से तिरस्कृत-सा हो रहा है। [हाथ मे उपहार की वस्तुएँ लिए हुए दो ऋषि-कुमारों का प्रवेश।]

दोनों ऋषिकुमार—यह आभूषण लीजिए और इनके द्वारा देवी को सजाइए।

[उसे देखकर सब चकित होती हैं।]

गौतमी—क्यों वत्स नारद! यह सब आभूषण तुम्हें कहाँ से मिले?

प्रथम शिष्य—तात कण्व के प्रभाव से मिले हैं?

गौतमी—किं माणसी सिद्धी। (किं मानसी सिद्धिः।)

द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥५॥

प्रियंवदा—[शकुन्तला विलोक्य] हला इमाए अब्भुववत्तीए सूइया दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति। (हला अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति।)

[शकुन्तला व्रीडां रूपयति।]

प्रथमः—गौतम एह्येहि अभिषेकोत्तीर्णाय कण्वाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

द्वितीयः—तथा।

[इति निष्क्रान्तौ]

सख्यौ—अए अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अङ्गेसु दे आहरणविणिओअं करेम्ह। (अये अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।)

शकुन्तला—जाणे वो णेउणं। (जाने वां नैपुणम्।)

[उभे नाट्येनालंकुरुतः।]

[ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः कण्वः।]

---

गौतमी—क्या यह सब केवल उनके मन के संकल्प से ही मिल गए हैं।

दूसरा शिष्य—जी नहीं, सुनिए। पूज्य तात कण्व ने हम आज्ञा दी कि शकुन्तला के लिए आश्रम की लताओं एवं वृक्षों से पत्र-पुष्प चुन लाओ। बस, इसी पर किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के समान श्वेत मांगलिक रेशमी वस्त्र दिया, किसी वृक्ष ने चरणों को रँगने के लिए महावर दिया, और वन-देवताओं ने वृक्षों की शाखाओं में से मणिबन्ध तक निकले हुए अपने कोमल पल्लवों के समान सुन्दर हाथों से ये बहुत से आभूषण भेंट किए हैं ॥५॥

प्रियंवदा—[शकुन्तला की ओर देखकर] सखी! इन शुभ लक्षणों से यह प्रकट हो रहा है कि अपने पति के घर में किस प्रकार से राज्य-लक्ष्मी का सुख अनुभव करोगी।

[शकुन्तला लज्जा जाती है।]

प्रथम शिष्य—गौतम! चलो, स्नान करके लौटे हुए तात कण्व को वृक्षों द्वारा दी गई इन भेंट की वस्तुओं की सूचना दे दें।

द्वितीय—बहुत अच्छा। [दोनों जाते हैं।]

दोनों सखियाँ—हम लोगों ने तो कभी ऐसे आभूषण पहने नहीं हैं। किन्तु चित्रों में जैसा देखा है, वैसा ही तुम्हारे अंगों में भी इन्हें हम पहना देती हैं।

शकुन्तला—मैं तुम दोनों की निपुणता से परिचित हूँ।

[दोनों शकुन्तला को शृङ्गार करने का अभिनय करती हैं।]

[तदनन्तर स्नान से वापस लौटते हुए कण्व का प्रवेश]

कण्वः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥६॥

[इति परिक्रामति]

सख्यौ—हला सउन्दले अवसिदमण्डणासि। परिधेहि सपद खोमजुअलं। (हला शकुन्तले अवसितमण्डनासि। परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम्।)

[शकुन्तलोत्थायपरिधत्ते]

गौतमी—जादे एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरु उवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स। (जाते एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजनाय इव गुरुरुपस्थितः। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व।)

शकुन्तला—[सव्रीडम्] ताद वन्दामि। (तात वन्दे।)

कण्व—वत्से।

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि॥७॥

गौतमी—भअवं वरो क्खु एसो ण आसिसा। (भगवन् वरः खल्वेषः। नाशीः।)

कण्व—वत्से! इत सद्योहुतान्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व।

[सर्वे परिक्रामन्ति।]

---

कण्व—आज मेरी प्रियपुत्री शकुन्तला चली जायगी—यह सोचते ही विषाद ने आकर मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है। आँसुओं को रोकता हूँ तो वह आकर कण्ठ की आवाज को रोक लेते हैं और चिन्ता के कारण आँखों की शक्ति भी कुण्ठित हो गई है। जब वन में निवास करनेवाले मुझ जैसे तपस्वी को स्नेह के कारण इस प्रकार की विकलता है तो फिर गृहस्थ लोग कन्या के प्रथम वियोग के असह्य दुःख से क्यों न दुःखी होते होंगे॥६॥

[घूमते हैं।]

दोनों सखियाँ—सखी शकुन्तला! तुम्हारा शृंगार पूरा हो गया। अब लो यह रेशमी वस्त्र का जोड़ा पहन लो। [शकुन्तला उठकर पहनती है।]

गौतमी—पुत्री! आनन्द के आँसुओं से भरे हुए नेत्रों द्वारा ही आलिंगन करने के लिए मानो यह तुम्हारे पिता इधर चले आ रहे हैं। इसलिए उठकर उनके प्रति उचित आचरण प्रदर्शित करो।

शकुन्तला—[लज्जा के साथ] तात! प्रणाम करती हूँ।

कण्व—बेटी! जैसे शर्मिष्ठा राजा ययाति की अतिशय प्रेमपात्र थी, उसी प्रकार तुम भी अपने पति की अत्यन्त स्नेहभाजन बनो और जिस तरह शर्मिष्ठा ने भावी सम्राट् पुरु को पुत्र के रूप में प्राप्त किया था उसी प्रकार तुम भी सम्राट् पुत्र की जननी बनो॥७॥

गौतमी—भगवन्! यह तो आप का वरदान है। आशीर्वाद नहीं।

कण्व—बेटी! चलो! तुरन्त हवन किए गए अग्नि की परिक्रमा कर लो।

[सब जाते हैं।]

कण्वः—[ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते]

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिष्ठस्वेदानीम्। [सदृष्टिक्षेपम्] क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः।
शिष्यः—[प्रविश्य] भगवन् इमे स्मः।
कण्वः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय।
शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती।

[सर्वे परिक्रामन्ति।]

कण्वः—भो भो सन्निहितदेवतास्तपोवनतरवः।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥

[कोकिलरवं सूचयित्वा]

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥

---

कण्व—[ऋग्वेद के छन्द में आशीर्वाद देते हैं।] वेदी के चारों ओर विविध अग्नों के लिए स्थान नियत हैं, समिधा रखी हुई है, कुशाएँ बिछी हुई हैं और यज्ञीय [illegible] जलती हुई हवि की सुगन्ध से सभी दिशाओं को सुवासित एवं पवित्र कर रहा है। [illegible] शोभित यह यज्ञ-सम्बन्धी अग्नि तुम्हें पवित्र करे ॥८॥

अब चलो। [इधर उधर देखकर।] वे शार्ङ्गरव आदि [illegible]।
शिष्य—[प्रवेश करके] भगवन्! हम लोग यहाँ हैं।
कण्व—अपनी बहिन को ले जाओ, मार्ग दिखाओ।

[सब लोग जाते हैं।]

कण्व—वन देवताओं से सुशोभित तपोवन के वृक्षो! [illegible] बिना स्वयं नहीं पीती थी, जो आभूषणों के पहनने की [illegible] अतीव स्नेह के कारण तुम्हारे कोमल पल्लवों को [illegible] नूतन कलियों को देखकर उत्सव मनाती [illegible] घर जा रही है। तुम सब जाने की [illegible]।

[एक ओर कोयल की कूक [illegible] में शकुन्तला के साथी वृक्षों ने [illegible] की आज्ञा दे दी है। क्योंकि [illegible] सुनाई पड़ रही है ॥१०॥

[आकाशे]

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥

[सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति।]

**गौतमी**—जादे ण्णादिजणसिणिद्धाहि अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहि। पणम भअवदीण। (जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः। प्रणत भगवतीः।)

**शकुन्तला**—[सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम्] हला पिअंवदे ण अज्जउत्तदसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति। (हला प्रियंवदे नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।)

**प्रियंवदा**—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ। पेक्ख—

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥१२॥

(न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते।) पश्य—

(उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥)

---

[आकाश में] शकुन्तला की यह यात्रा कल्याणदायिनी हो। इसके मार्ग के बीच-बीच में नीली कमलिनियों से भरे हुए सरोवर हों, छायादार वृक्षों से सूर्य की धूप एवं ताप का निवारण हो, मार्ग की धूल में कमल के पराग के समान कोमलता हो तथा शान्त एवं अनुकूल दिशा की ओर से सुगंधित वायु बहे ॥११॥

[सब लोग आश्चर्य से सुनते हैं।]

**गौतमी**—बेटी! अपने सगे सम्बन्धी की भाँति स्नेह करनेवाले वन-देवताओं ने तुम्हें पति के घर जाने की अनुमति दे दी है। इसलिए इन्हें प्रणाम करो।

**शकुन्तला**—[प्रणाम करती हुई घूमकर, एकान्त में] प्रियंवदा! यद्यपि मुझे आर्यपुत्र के दर्शन की उत्कट लालसा है तथापि जब यह अनुभव होता है कि मैं आश्रम को छोड़कर जा रही हूँ तो दुःख के कारण मेरे पैर आगे की ओर नहीं पड़ रहे हैं।

**प्रियंवदा**—तपोवन के वियोग से केवल तुम्हीं अतीव दुःखी नहीं हो अपितु ज्यों-ज्यों तुम्हारे वियोग की घड़ी समीप आ रही है त्यों-त्यों इस तपोवन की अवस्था भी तुम्हारे ही समान अतीव उदास दिखाई पड़ रही है। देखो तो—

ये हरिणियाँ चबाए हुए कुशा के ग्रासों को भी उगल दे रही हैं, मयूरियों ने अपना नृत्य बन्द कर दिया है और ये लताएँ मानो आँसुओं के समान अपने पीले-पीले पत्ते गिरा रही हैं ॥१२॥

शकुन्तला—[स्मृत्वा] ताद लदावहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं। (तात लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये।)

कण्वः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम्। इयं तावद्दक्षिणेन।

शकुन्तला—[उपेत्य लतामालिङ्ग्य] वणजोसिणि! चूदसंगता वि मं पच्चालिङ्ग इदोगदाहिं साहावाहाहिं। अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं। (वनज्योत्स्ने! चूतसंगतापि मां प्रत्यालिङ्ग इतोगताभिः शाखाबाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि।)

कण्वः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः॥१३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला—[सख्यौ प्रति] हला एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेवो। (हला एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।)

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो। (अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः।) [इति बाष्पं विसृजतः]

कण्वः—अनसूये अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला।

[सर्वे परिक्रामन्ति।]

---

शकुन्तला—[स्मरण करती हुई] तात! मैं अपनी लता-बहिन वन-ज्योत्स्ना से तनिक मिल लेना चाहती हूँ।

कण्व—उसके साथ सगी बहिन के समान तुम्हारे प्रेम को मैं भली भाँति जानता हूँ। देखो वह यहाँ तुम्हारे दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—[लता के समीप जाकर और उससे लिपटकर] प्यारी वन-ज्योत्स्ना! तुम यद्यपि आम के वृक्ष से लिपटी हुई हो फिर भी इधर की ओर फैली हुई अपनी शाखा रूपी भुजाओं से मुझे भेंट लो। क्योंकि अब आज से मैं तुमसे बहुत दूर चली जाऊँगी।

कण्व—बेटी! मैंने पहले तुम्हारे लिए योग्य पति के हाथों में सौंप देने का संकल्प किया था, सो तुमने अपने ही गुणों से अपने समान वर प्राप्त कर लिया और इधर इस नव मालिका को भी इस आम के वृक्ष का सहारा मिल गया है, अतः अब मैं तुमसे तथा इससे निश्चिन्त हो गया हूँ॥१३॥

अब चलो, आगे का मार्ग पकड़ो।

शकुन्तला—[दोनों सखियों से] सखियो! इस वनज्योत्स्ना को मैं तुम दोनों के हाथों में सौंपती जा रही हूँ।

दोनों सखियाँ—और हम लोगों को किसके हाथों में सौंपती जा रही हो? [दोनों आँसू बहाती हैं।]

कण्व—अनसूया! रोओ मत। तुम्हीं दोनों को चाहिए कि शकुन्तला को धीरज बँधाओ। [सब घूमते हैं।]

शकुन्तला—ताद एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह। (तात एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदानघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।)

कण्वः—नेदं विस्मरिष्यामः।

शकुन्तला—[गतिभङ्गं रूपयित्वा] को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ। (को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते।) [इति परावर्तते।]

कण्वः—वत्से !

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

शकुन्तला—वच्छ किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव। (वत्स किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्।) [इति रुदती प्रस्थिता।]

कण्वः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥

---

शकुन्तला—तात ! हमारे आश्रम के पास गर्भ के भार से अलसाती हुई चलने वाली मृग हरिणी जब आनन्द के साथ बच्चे को जन्म दे तो किसी के द्वारा यह सुखद संवाद मेरे पास भिजवा दीजिएगा।

कण्व—यह नहीं भूलेंगे।

शकुन्तला—[चलने में रुकावट का अनुभव करती हुई] अरे ! कौन यह मेरे वस्त्र को पकड़कर खींच रहा है। [पीछे की ओर लौटती है।]

कण्व—बेटी ! कुश के तेज अंकुरों से छिदे हुए जिसके मुँह को अच्छा करने के लिए तू हिंगोट का तेल लगाया करती थी, वही तेरे हाथ से दिए गए मुट्ठी-मुट्ठी भर साँवे के दानों से पला हुआ, तुम्हारे पुत्र के समान प्यारा हरिण तुम्हारा मार्ग रोक रहा है ॥१४॥

शकुन्तला—वत्स ! अब तो मैं तुम्हारा साथ छोड़कर चली जा रही हूँ, तब तुम मेरा पीछा क्यों कर रहे हो ? प्रसव के कुछ ही समय बाद तेरी माँ मर गई थी, मैंने पालन-पोषण करके तुम्हें बड़ा किया। अब भी मेरे चले जाने पर तात तुम्हारी चिन्ता करेंगे। जा, तू वापस लौट जा। [रोती हुई जाती है।]

कण्व—बेटी ! धैर्य धारण करके अपने नेत्रों के आँसुओं को पोंछ डालो। क्योंकि इन आँसुओं के कारण तेरी ऊपर उठी हुई बरौनियों वाले नेत्र ठीक से देख नहीं पा रहे हैं। और इसीलिए इस ऊबड़-खाबड़ जमीन पर न देखने के कारण तेरे पैर ऊपर-नीचे होकर पड़ रहे हैं ॥१५॥

शार्ङ्गरव—भगवन् ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः।

[सर्वे परिक्रम्य स्थिताः।]

कण्वः—[आत्मगतम्] किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम्। [इति चिन्तयति।]

शकुन्तला—[जनान्तिकम्] हला पेक्ख। णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमित्ति तक्केमि। (हला पश्य। नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि।)

अनसूया—सहि मा एव्वं मन्तेहि।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥१६॥

(सखि मैवं मन्त्रयस्व।

एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥)

कण्वः—शार्ङ्गरव इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान्।

---

शार्ङ्गरव—मैंने सुना है कि स्नेही जनों को विदाई देते समय जलाशय के समीप तक पहुँचाना चाहिए। आगे सरोवर का तट आ गया है, इसलिए जो कुछ सन्देश देना हो वह यहीं बतलाकर आप लोग वापस लौट जायें।

कण्व—तो चलो, इस बरगद की छाया में थोड़ा बैठ जायें।

[सब लोग घूमकर वहीं बैठ जाते हैं।]

कण्व—[अपने आप] सम्माननीय राजा दुष्यन्त के पास हमें क्या संदेश भेजना उचित है। [सोचते हैं।]

शकुन्तला—[अलग से] सखी! देखो तो भला! नलिनी के पत्ते की ओट में छिपे हुए अपने सहचर चकवाक को न देख पाने के कारण बेचारी चकवाकी करुण क्रन्दन कर रही है। इसी से मैं अनुमान लगाती हूँ कि मुझे भी अपना कार्य दुष्कर प्रतीत हो रहा है।

अनसूया—सखी! ऐसा मत सोचो। यह चकवाकी भी अपने पति के बिना ही, विषाद के कारण अतीव लंबी रात्रि को बिता देती है। विरह के भारी दुःख को आशा का बन्धन सह्य बना देता है॥१६॥

कण्व—शार्ङ्गरव! मेरी ओर से शकुन्तला को सौंपते हुए तुम राजा दुष्यन्त से कह देना—

शार्ङ्गरव—हाँ, आप आज्ञा दें।

कण्व—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्ति च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः॥१७॥

शार्ङ्गरव—गृहीत सदेश।

कण्वः—वत्से त्वमिदानीमनुशासनीयासि। वनौकसोपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमता कश्चिदविषयो नाम।

कण्व—सा त्वमित पतिकुल प्राप्य—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपद युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥१८॥

कथ वा गौतमी मन्यते।

गौतमी—एत्तिओ बहूजणस्स उवदेसो जादे एद क्खु सव्व ओधारेहि। (एतावान्वधूजनस्योपदेश। जाते एतत्खलु सर्वमवधारय।)

कण्व—वत्से परिष्वजस्व मा सखीजनञ्च।

---

कण्व—हम लोगो को सयमी, तपस्वी तथा अपने कुल को उच्च समझकर, एव अपने प्रति शकुन्तला के बन्धु-बान्धवो के बिना ही की गई उस उच्च स्नेह की भावना को भली भाँति विचार कर आप कम से कम अपनी अन्य स्त्रियो के समान ही शकुन्तला के साथ व्यवहार करेंगे। इससे आगे बढ़कर यदि इसे और भी सौभाग्य मिलता है तो वह इसके भाग्य की बात है। उसके लिए हम कन्या के परिवार के लोगो को कुछ भी नही कहना है ॥१७॥

शार्ङ्गरव—आपका सन्देश ग्रहण कर लिया।

कण्व—बेटी! अब तुम्हें कुछ अनुशासन की शिक्षा देनी है। यद्यपि हम लोग वनवासी हैं, तथापि लोक-व्यवहार की भी हमे यथेष्ट जानकारी है।

शार्ङ्गरव—बुद्धिमान लोगो के लिए कोई भी विषय अज्ञात नही होता।

कण्व—तुम यहाँ से पति के घर जाकर अपने से बडो की सेवा करना, अपनी सौतो के साथ अपनी प्यारी सखियो के समान मधुर व्यवहार करना। पति द्वारा अपमानित किए जाने पर भी क्रोध के कारण उनके विपरीत आचरण मत करना, दास-दासी आदि सेवक-जनो के साथ उदारता का व्यवहार करना, और अपने सौभाग्य पर गर्व मत करना। जो नव वधुएँ इस प्रकार का आचरण पति के घर करती हैं व गृहिणी का पद प्राप्त करती हैं और जो इसके विपरीत चलती हैं वे अपने कुल की व्याधि बनती हैं ॥१८॥

गौतमी! तुम्हारी क्या सम्मति है?

गौतमी—यही तो बहुओ के लिए उपयोगी शिक्षा है। बेटी! तुम यह सब बातें गाँठ मे बाँध लो।

कण्व—बेटी! आओ, मुझसे और अपनी सखियो से गले मिलो।

शकुन्तला—ताद इदो एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति। (तात इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते।)

कण्वः—वत्से इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला—[पितरमाश्लिष्य] कहं दाणि तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा मलअतरुम्मूलिआ चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं। (कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।)

कण्वः—वत्से किमेवं कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१९॥

[शकुन्तला पितुः पादयोः पतति।]

कण्वः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

शकुन्तला—[सख्यावुपेत्य] हला दुवे वि मं सम एव्व परिस्सजह। (हला द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।)

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअङ्किअं अंगुलिअअं दंसेहि। (सखि यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय)।

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि। (अनेन संदेहेन वामाकम्पितास्मि।)

---

शकुन्तला—तात ! क्या यहीं से प्रिय सखी प्रियंवदा और अनसूया वापस लौट जायेंगी।

कण्व—बेटी ! इनको भी पराए घर देना है। इसलिए इनका वहाँ जाना उचित नहीं है। तुम्हारे साथ गौतमी जायेंगी।

शकुन्तला—[पिता को गले से लगाकर] अब मैं अपने पूज्य तात की गोद से वियुक्त होकर दूसरे देश में जाकर मलय पर्वत से उखाड़ी गई चन्दन की लता के समान कैसे जीवन धारण कर सकूँगी।

कण्व—बेटी ! क्यों ऐसी अधीर हो रही हो। अपने परमकुलीन पति की पटरानी के पद पर स्थित होकर उनके वैभवपूर्ण कामों में प्रतिक्षण व्यस्त होकर, शीघ्र ही जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य जैसे पावन पुत्र को उत्पन्न करती है उसी प्रकार पावन पुत्र उत्पन्न करोगी तब तुम हे बेटी ! मेरे वियोग से उत्पन्न दुःख को कुछ भी न गिनोगी अर्थात् भूल जाओगी ॥१९॥

[शकुन्तला पिता कण्व के चरणों पर गिरती है।]

कण्व—तुम्हारे लिए मेरी जो इच्छाएँ हैं वे सब पूरी हों।

शकुन्तला—[सखियों के समीप जाकर] सखियो ! तुम दोनों मुझे एक ही साथ गले से लगा लो।

सखियाँ—[वैसा ही करती हुई] सखि ! कदाचित् यदि राजा तुम्हें पहचानने में विलम्ब करे तो उसके नाम से अंकित यह अँगूठी उसे दिखला देना।

शकुन्तला—तुम दोनों की इस सन्देहभरी बात ने तो मुझे कँपा दिया है।

सख्यौ—मा भाआहि सिणेहो पावसङ्की। (मा भैषीः स्नेहः पापशङ्की।)

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।

शकुन्तला—[आश्रमाभिमुखी स्थित्वा] ताद कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं। (तात कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये।)

कण्वः—श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

गौतमी—जादे परिहीअदि गमणवेला। णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि णिवत्तदु भवं। (जाते परिहीयते गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते निवर्ततां भवान्।)

कण्वः—वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।

शकुन्तला—[भूयः पितरमाश्लिष्य] तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं ता मा अतिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठिदुम्। (तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् तस्माऽतिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्।)

कण्वः—[सनिःश्वासम्]—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥२१॥

---

सखियाँ—डरो मत! स्नेह पाप की आशंका करता ही है।

शार्ङ्गरव—सूर्य काफी ऊपर चढ़ आए हैं। देवी जी! शीघ्रता करें।

शकुन्तला—[आश्रम की ओर मुख करके] तात! फिर मैं कब इस तपोवन को देख सकूँगी।

कण्व—बेटी! सुनो। चिरकाल तक चारों समुद्र पर्यन्त सीमा से युक्त इस पृथ्वी की सपत्नी (सौत) बनकर और अपने अप्रतिहत रथ की गति वाले दुष्यन्त से जन्मे पुत्र के ऊपर राज्य तथा कुटुम्ब का सब भार सौंपकर अपने पति के संग इस शान्त आश्रम में तू पुनः अपने चरण रखेगी ॥२०॥

गौतमी—बेटी! चलने का समय बीता जा रहा है। पिता जी को अब वापस जाने दो। अथवा बहुत देर तक शकुन्तला यही सब कहती रहेगी, अतः अब आप ही (कण्व) वापस चलें।

कण्व—बेटी! अब हमारे अनुष्ठान में बाधा पड़ रही है।

शकुन्तला—[फिर से पिता से लिपट कर] पिता जी! आप का शरीर स्वतः तपस्या के कारण दुर्बल है, अतः आप मेरे लिए बहुत खिन्न न होंगे।

कण्व—[गहरी साँस खींच कर] हे बेटी! तुमने बोने के लिए बलि के रूप में जो नीवार के धान छीटे थे, उनके अंकुर जब तक हमारी कुटी के द्वार पर दिखाई पड़ते रहेंगे तब तक भला मेरा शोक किस प्रकार दूर हो सकेगा ॥२१॥

गच्छ शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

[निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च।]

सख्यौ—[शकुन्तलां विलोक्य] हद्धी हद्धी अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए। (हा धिक् हा धिक् अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।)

कण्वः—[सनिःश्वासम्] अनसूये गतवती वा सहधर्मचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मा प्रस्थितम्।

उभे—ताद सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो। (तात शकुन्तला-विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः।)

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। [सविमर्शं परिक्रम्य] हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥२२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति चतुर्थोऽङ्कः।

---

जाओ बेटी! तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो। [शकुन्तला और साथ जाने वाले जाते हैं।]

दोनों सखियाँ—[शकुन्तला को देखकर] हाय, हाय! अब तो शकुन्तला वन के वृक्षों की पंक्ति की ओट में चली गई।

कण्व—[लंबी साँसें खींचते हुए] अनसूया! तुम्हारी सखी अब चली गई, अब शोक छोड़कर मेरे साथ वापस चलो।

दोनों सखियाँ—शकुन्तला के बिना इस सूने तपोवन में हम कैसे चलेंगी।

कण्व—प्रेम की प्रकृति ही ऐसी होती है—[कुछ विचारते हुए घूम कर] आह! शकुन्तला को उनके पति के घर भेजकर अब निश्चिन्त हुआ। क्योंकि—

कन्या पराये की ही सम्पत्ति है। उसे आज उसके पति के समीप भेजकर किसी की दी हुई धरोहर लौटाने की भाँति मेरी अन्तरात्मा अतीव निर्मल हो गई है॥२२॥

[सब लोग चले जाते हैं।]

अभिज्ञान शाकुन्तल में चतुर्थ अंक समाप्त॥४॥

# पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च]

विदूषकः—[कर्णं दत्वा] भो वअस्स सगीदसालन्तरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हसवदिआ वण्णपरिअअं करेदित्ति। (भो वयस्य सगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीते स्वरसयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।)

राजा—तूष्णी भव यावदाकर्णयामि।

[आकाशे गीयते]

अहिणवमहुलोलुवो भव तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदोमहुअर विह्मरिओ सि ण कहं ॥१॥
(अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥)

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो (किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः।)

राजा—[स्मितं कृत्वा] सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य मद्वचनादुच्यतां हसपदिका—निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।

---

# पाँचवाँ अंक

[तदनन्तर आसन पर बैठे हुए राजा तथा विदूषक का प्रवेश।]

विदूषक—[कान लगाकर] हे मित्र! तनिक संगीतशाला की ओर तो ध्यान दो। अतीव मधुर तथा दोषरहित गीत का स्वर सुनाई पड रहा है। मैं समझता हूँ महारानी हंसपदिका संगीत का सरगम सीख रही हैं।

राजा—चुप रहो। तनिक सुनने तो दो।

[आकाश में गीत सुनाई पडता है]

हे भ्रमर! नूतन पुष्प पराग के लोभ में पडकर तुम उस प्रकार से आम की मंजरी का आस्वादन करके अब केवल कमल पर निवास करने से सन्तुष्ट होकर उस आम की मंजरी को किस प्रकार भूल गए॥१॥

राजा—अहा हा! इस गीत में प्रेम की धारा बह रही है।

विदूषक—क्या आपने उसके गूढ अभिप्राय को भी समझ लिया है?

राजा—(मुस्कराते हुए) हाँ मैंने इस रानी से केवल एक बार प्रेम किया था। सो यह हंसपदिका देवी वसुमती के सम्बन्ध में मुझे उलाहना दे रही है—यह मैं समझ गया हूँ। मित्र माढव्य! तुम मेरी तरफ से रानी हंसपदिका से जाकर कह दो कि बड़ी निपुणता से मुझे उलाहना दिया गया है।

विदूषकः—ज भव आणवेदि। [उत्थाय] भो वअस्स गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणि मे मोक्खो। (यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।)

राजा—गच्छ। नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषकः—का गई। (का गतिः) [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[आत्मगतम्] किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥२॥

[इति पर्याकुलस्तिष्ठति।]

[ततः प्रविशति कञ्चुकी।]

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था॥३॥

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य। तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्। अथवाविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः।

---

विदूषक—महाराज की जैसी आज्ञा। (उठकर) किन्तु हे मित्र! जिस प्रकार से अप्सराओं के भाव-विलास में पड़कर अनुरागहीन तपस्वी को मोक्ष नहीं मिलता उसी प्रकार उस रानी हंसपदिका द्वारा बाँदियों के हाथों से मेरी चोटी पकड़वाकर जब वह पिटवाने लगेगी तो मेरा छुटकारा नहीं हो सकेगा।

राजा—तुम जाकर निपुणता से उसे मेरा सन्देश देना।

विदूषक—जब आप की आज्ञा है तो फिर मैं कैसे बच सकता हूँ। [जाता है।]

राजा—[मन ही मन] न जाने क्यों इस गीत को सुनकर मैं इतना क्यों अनमना-सा हो गया हूँ, यद्यपि अपने स्नेहियों का वियोग भी मुझे नहीं है, अथवा यह हो सकता है कि रमणीय वस्तु को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर लोग सब प्रकार से सुखी होने पर भी जो उदास हो जाते हैं तो वहाँ यही समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्मों के प्रेमियों के जो संस्कार बैठे हुए हैं, वे ही जाग पड़े हैं॥२॥

[ऐसा विचार कर व्याकुल हो जाता है]

[उसके बाद कञ्चुकी प्रवेश करता है]

कंचुकी—आह! मैं अब इस अवस्था को पहुँच गया हूँ। महाराज के अन्तःपुर में दत्तचित्त होकर मैंने कर्तव्य समझकर जिस बेंत का छड़ी को लिया था, वही अब बहुत-सा समय बीत जाने के बाद, चलते समय लड़खड़ाते हुए मेरे टेकने का सहारा बन गई है।

यह मैं मानता हूँ कि महाराजा का धर्म-कार्य अनिवार्य है। तब भी अभी-अभी धर्मासन से उठकर गए हैं अतः उन से फिर विघ्नकारी कण्व के शिष्य के आगमन की चर्चा करने का मेरा उत्साह नहीं हो रहा है। अथवा प्रजा के शासन के कार्य में विश्राम को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥४॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥५॥

[उपगम्य] जयतु जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः कण्वसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।

राजा—[सादरम्] किं कण्वसंदेशहारिणः।

कञ्चुकी—अथ किम्।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। अहमप्येतांस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[उत्थाय] वेत्रवति अग्निशरणमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देव।)

---

सूर्य ने अपने घोड़ों को (रथ में) एक ही बार जोता है, पवन दिन रात बहता रहता है। शेष नाग सदैव भूमि का भार धारण करते हैं इसी प्रकार प्रजा का छठा भाग लेने वाले राजा का भी यही धर्म है॥४॥

अतः मैं तो अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा ही। [घूम कर और देखकर] महाराज यही हैं। अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन एवं शासन कर शान्त चित्त हो इस समय एकान्त का सेवन कर रहे हैं। उसी प्रकार जैसे गजराज दिन के समय हाथियों के समूह को चरा कर सूर्य की किरणों से सन्तप्त हो कर किसी शीतल स्थान में आश्रय ग्रहण करता है॥५॥

[राजा के समीप जाकर] महाराज की जय हो जय हो। हिमालय पर्वत की उपत्यका के वन में निवास करने वाले महर्षि कण्व का सन्देश लेकर कुछ तपस्वी स्त्रियों के साथ आए हुए हैं। सुनकर महाराज जो आज्ञा दें वह करूँ।

राजा—[आदरपूर्वक] क्या महर्षि कण्व का सन्देश लेकर आए हुए हैं?

कंचुकी—हाँ महाराज!

राजा—तो तुम जाकर मेरी ओर से कुलपुरोहित सोमरात को सूचित करो कि इन तपोवन निवासियों का वैदिक रीति से सत्कार कर के स्वयं अपने साथ लिवा लाएँ। मैं भी इन तपस्वियों से भेंट करनेवाले स्थान में बैठकर इनकी प्रतीक्षा करूँगा।

कंचुकी—जैसी महाराज की आज्ञा [बाहर जाता है]

राजा—[उठकर] वेत्रवती! मुझे अग्निशाला का मार्ग बतलाओ।

प्रतीहारी—इधर आएँ महाराज! इधर।

राजा—[परिक्रामति। अधिकारखेदं निरूप्य] सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥

[नेपथ्ये]

वैतालिकौ—विजयतां देवः।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः। [इति परिक्रामति]

---

राजा—[घूमता है। राज्य के कार्य भार के दुःख का अभिनय करते हुए] समस्त प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तु पाकर सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु राजाओं का सुख तो दुःखों से ही भरा होता है। राजाओं की प्रतिष्ठा उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति में ही समाप्त होती है। प्राप्त किए हुए राज्य का जब प्रबन्ध करना पड़ता है तब क्लेश ही होता है। इसलिए राज्य उस छाते के समान है जिसकी मूठ को अपने हाथ में लेने पर क्लेश ही अधिक बढ़ता है थकावट उतनी नहीं मिटती ॥६॥

[नेपथ्य में] दो वैतालिक—महाराज की जय हो!

प्रथम वैतालिक—अपने सुख के प्रति निरपेक्ष होकर आप प्रतिदिन जनता के कल्याणार्थ क्लेश सहन करते हैं। अथवा आपका धर्म ही ऐसा है। क्योंकि वृक्ष अपने मस्तक पर तो कठिन धूप का अनुभव करता है किन्तु अपनी छाँह से अपने नीचे आश्रय लेनेवाले पथिकों का सन्ताप दूर करता है ॥७॥

द्वितीय वैतालिक—आप दण्ड लेकर कुमार्ग पर चलनेवालों का नियन्त्रण करते हैं परस्पर में होनेवाले कलह को शान्त करते हैं। और प्रजा की रक्षा की व्यवस्था करते हैं। बहुत धन-सम्पत्ति होने पर प्रजा वर्ग को बहुत से सम्बन्धी और रिश्तेदार भले ही मिल जायँ किन्तु वास्तव में साधारण प्रजा के लिए तो सम्बन्धियों का सब कार्य तुम्हारे ही अधीन है ॥८॥

राजा—मेरा मन उदास हो रहा था किन्तु इन लोगों ने उसे फिर से ताजा कर दिया।

[घूमता है]

प्रतीहारी—एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो। (एष अभिनवसमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।)

राजा—[आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति।] वेत्रवति किमुद्दिश्य भगवता कण्वेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः।

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः॥९॥

प्रतीहारी—सुचरिदणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि। (सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि।)

[ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः। पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च।]

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः।

शार्ङ्गरव—शारद्वत!

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव॥१०॥

---

प्रतीहारी—यही है, अभी झाड़ बहारकर स्वच्छ-सुन्दर की गई अग्निशाला की बैठक, जिसके समीप हवन के लिए उपयोगी गौ बँधी हुई है। महाराज! बैठक में चढ़ जायँ।

राजा—[चढ़कर अनुचरों का कंधा पकड़कर खड़ा होता है] वेत्रवती! भगवान् कण्व ने किस उद्देश्य से मेरे पास इन ऋषियों को भेजा है। विविध प्रकार की तपस्या का संचय करने वाले व्रतधारियों का तप विघ्नों [राक्षसों] ने कहीं दूषित तो नहीं किया अथवा तपोवन में रहने वाले जीवों के साथ किसी ने दुष्ट व्यवहार तो नहीं कर दिया। अथवा वहाँ की लताओं का फलना फूलना मेरे अपराधों के कारण रुक तो नहीं गया। मेरे मन में अनेक प्रकार की ऐसी ही बुरी-बुरी आशंकाएँ उठ रही हैं, जिससे मैं किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ॥९॥

प्रतीहारी—आप के सत्कर्मों से सुप्रसन्न ऋषि लोग महाराज को बधाई देने के लिए आए होंगे—ऐसा मैं अनुमान करती हूँ।

[तदनन्तर शकुन्तला को आगे किए, गौतमी के संग तपस्वियों का प्रवेश। इन सब के आगे वृद्ध द्वारपाल और पुरोहित हैं।]

कंचुकी—इधर से आप लोग आएँ।

शार्ङ्गरव—शारद्वत! यद्यपि मैं मानता हूँ कि मर्यादाओं का उल्लंघन न करनेवाला यह राजा परम धर्मात्मा है, और इसके राज्य में नीच से नीच वर्ण के लोग भी कोई अधर्म का कार्य नहीं करते, तथापि लोगों से भरे हुए इसके इस स्थान को, निरन्तर एकान्तनिवास का अभ्यासी होने के कारण मेरा मन चारों ओर आग से घिरे हुए घर के समान मानता है॥१०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूत संवृत्तः। अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

शकुन्तला—[निमित्तं सूचयित्वा] अम्महे किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि। (अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति।)

गौतमी—जादे पडिहदं अमङ्गलं। सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु। [जाते प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवताः वितरन्तु।]

[इति परिक्रामति।]

पुरोहितः—[राजानं निर्दिश्य] भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण काममेतदभिनन्दनीय तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

प्रतीहारी—देव पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ। (देव प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः।)

राजा—[शकुन्तलां दृष्ट्वा] अथात्रभवती—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

---

शारद्वत—जानता हूँ कि नगर में प्रवेश करने के कारण तुम ऐसे हो गए हो। मैं भी यहाँ के विषय-भोगासक्त लोगों को ऐसा मानता हूँ, जैसे स्नान से निवृत्त तेल लगाए हुए को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जगता हुआ सोए हुए को और स्वतन्त्र व्यक्ति बाँधे हुए को मानता है ॥११॥

शकुन्तला—[अपशकुन को देखकर] अरे! रे! मेरी यह दाहिनी आँख क्यों फड़क रही है।

गौतमी—बेटी! तेरे अमगल का नाश हो। तुम्हारे पति-कुल के देवता तुम्हारा कल्याण करेंगे। [घूमती है।]

पुरोहित—[राजा को दिखला कर] हे तपस्वियो! वर्णाश्रम की मर्यादा के पालन कर्ता राजा पहले से ही अपना आसन छोड़कर आप लोगों की राह देख रहे हैं, इनकी ओर देखिए।

शार्ङ्गरव—हे महान् ब्राह्मण! मानता हूँ कि यह प्रशंसा के पात्र हैं, तथापि इस विषय में हमें कोई स्पृहा नहीं है। क्योंकि, फल लगने से वृक्ष नीचे की ओर झुकते हैं, बादल नूतन जल से भर कर नीचे दूर-दूर तक फैल जाते हैं, सज्जन पुरुष वैभव पाकर विनम्र होते हैं, परोपकारियों का तो ऐसा स्वभाव ही होता है ॥१२॥

प्रतीहारी—महाराज! यह ऋषि लोग सुप्रसन्न मुख दिखाई पड़ते हैं, इससे लगता है, ये लोग किसी शान्ति के कार्य को लेकर आए होंगे।

राजा—[शकुन्तला को देखकर] यह देवी कौन है। पीले पत्तों में नवीन पल्लव के समान, इन तपस्वियों के मध्य में घूँघट काढ़े हुए, जिससे इनके शरीर का पूरा-पूरा सौन्दर्य दिखाई नहीं पड़ रहा है, यह कौन महिला है? ॥१३॥

प्रतीहारी—देव कुतुहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि। णं दसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि। (देव कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।)

राजा—भवतु। अनिर्वर्णनीय परकलत्रम्।

शकुन्तला—[हस्तमुरसि कृत्वा आत्मगतम्] हिअअ किं एव्व वेवसि। अज्जउत्तस्स भाव ओहारिअ धीर दाव होहि। (हृदय किमेव वेपसे। आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीर तावद्भव।)

पुरोहित—[पुरो गत्वा] एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसंदेशः। तं देव श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषय—[हस्तानुद्यम्य] विजयस्व राजन्।

राजा—सर्वानभिवादये।

ऋषय—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।

ऋषय—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥१४॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः। अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः।

ऋषय—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान्।

---

प्रतीहारी—मेरा अनुमान तो अत्यन्त उत्कण्ठा से भर गया है, इसलिए आगे नहीं बढ़ता है। किन्तु इतना तो कहूँगी ही कि इसकी सुन्दर आकृति देखने योग्य है।

राजा—हुआ करे सुन्दर आकृति। पराई स्त्री को देखना उचित नहीं है।

शकुन्तला—[छाती पर हाथ रख कर, अपने ही आप] हे हृदय! क्यों इस तरह काँप रहे हो। आर्यपुत्र के वैसे अगाध प्रेम का स्मरण कर धैर्य धारण करो।

पुरोहित—[आगे बढ़कर] महाराज! इन तपस्वियों का विधिपूर्वक स्वागत-समादर हो चुका है। इनके गुरु का कुछ सन्देश है, जिसे महाराज सुन लें।

राजा—सुनने के लिए उत्सुक हूँ।

ऋषिगण—[हाथ ऊपर उठाकर] महाराज की जय हो।

राजा—आप सब को प्रणाम करता हूँ।

ऋषिगण—महाराज का मनोरथ पूर्ण हो।

राजा—ऋषियों की तपस्या तो निर्विघ्न रीति से चल रही है न!

ऋषिगण—तुम्हारे जैसे रक्षक के होते हुए धार्मिक व्यक्ति के धर्माचरण में विघ्न पड़ ही कैसे सकता है? सूर्य के प्रकाशित होने पर भला अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है ॥१४॥

राजा—मेरा 'राजा' नाम सार्थक हुआ। लोक के कल्याण के लिए भगवान् कण्व तो कुशल से हैं न?

ऋषिगण—सिद्ध पुरुषों की कुशल तो उनके हाथ की वस्तु है। उन्होंने आप के लिए कुशलपूर्वक यह सन्देश भेजा है।

राजा—भगवान् कण्व की मेरे लिए क्या आज्ञा है?

शार्ङ्गरव—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

गौतमी—अज्ज किंपि वत्तुकामम्हि ण मे वअणावसरो अत्थि। कहत्ति।

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो।
एक्कक्कमेव्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥१६॥

(आर्ये किमपि वक्तुकामास्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति।
नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य॥)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि। (किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति।)

राजा—किमिदमुपन्यस्तम्।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] पावओ क्खु वअणोवण्णासो (पावकः खलु वचनोपन्यासः।)

शार्ङ्गरव—कथमिदं नाम भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

---

शार्ङ्गरव—आपने गान्धर्व विधि से जो मेरी इस कन्या के साथ एकान्त में प्रेम विवाह कर लिया था, उसे मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति प्रदान करता हूँ। क्योंकि मेरे आदरणीय व्यक्तियों में आप प्रमुख हैं और यह शकुन्तला मेरी समस्त पुण्य क्रियाओं की मूर्ति है। बहुत दिनों बाद विधाता ने एक समान उत्तम गुणों वाले वर-वधू की जोड़ी मिलाकर अपनी पुरानी बदनामी को दूर किया है ॥१५॥

सो अब इस गर्भवती को अपने साथ धर्माचरण के लिए स्वीकार करें।

गौतमी—आर्य! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ। यद्यपि मुझे कुछ कहने का यह उचित अवसर नहीं है। क्योंकि, न तो इसी ने अपने गुरुजनों की अपेक्षा की और न आपने ही अपने सगे-सम्बन्धियों से कुछ पूछा-जाँचा। इस प्रकार अकेले-अकेले में हुए काम के सम्बन्ध में मैं तुम दोनों में से किसी एक को क्या कहूँ ॥१६॥

शकुन्तला—[अपने आप] अब आर्यपुत्र क्या कहते हैं?

राजा—यह सब क्या हो रहा है?

शकुन्तला—[मन ही मन] इनकी बातचीत का आरम्भ तो निरी अग्नि के समान है।

शार्ङ्गरव—हैं? यह क्या, आप तो लोकाचार की बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। जो सौभाग्यवती स्त्री अपने पिता के घर रहती है, वह भले ही पतिव्रता हो, फिर भी लोग उसके सम्बन्ध में व्यर्थ की शंका करते रहते हैं। इसलिए स्त्री के भाई-बन्धु चाहे वह उनको प्रिय हो या न हो, उसके पति के समीप ही रखना चाहते हैं ॥१७॥

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा।

शकुन्तला—[सविषादम्। आत्मगतम्] हिअअ संपदं दे आसङ्का। (हृदय साम्प्रतं ते आशङ्का।)

शार्ङ्गरव—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः।

शार्ङ्गरव—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

गौतमी—जादे मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि। (जाते! मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति।) [इति यथोक्तं करोति।]

राजा—[शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्]

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥१९॥

[इति विचारयन्स्थितः।]

---

राजा—क्या इन देवी के साथ मेरा पहले विवाह हुआ है?

शकुन्तला—[दुःख के साथ, आप ही आप] हाय मन! अब तेरी आशंका सत्य हुई।

शार्ङ्गरव—क्या आप को अपने किए हुए काम से घृणा हो रही है। या धर्माचरण से आप विमुख होना चाहते हैं, अथवा दरिद्र होने के कारण इसकी अवज्ञा कर रहे हैं।

राजा—इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ आप कर ही क्यों रहे हैं?

शार्ङ्गरव—ऐश्वर्य से उन्मत्त लोगों में प्रायः ये विकार बढ़ते ही हैं ॥१८॥

राजा—आप मुझे विशेष रूप से फटकार बता रहे हैं।

गौतमी—बेटी! क्षण भर के लिए अपनी लज्जा त्याग दो। मैं तुम्हारा घूँघट उघाड़ देती हूँ जिससे तुम्हारे पति तुम्हें पहचान लें। [शकुन्तला का घूँघट हटाती है।]

राजा—[शकुन्तला को ध्यान से देखकर अपने आप] इस प्रकार अनायास प्राप्त, सम्पूर्ण सौन्दर्य से युक्त इस रूपवती को मैंने पहले ब्याहा था या नहीं—इसका ठीक ठीक निर्णय न कर पाने के कारण न तो इसे स्वीकार कर पा रहा हूँ और न त्याग कर पा रहा हूँ। ठीक वैसे ही जैसे प्रातःकाल भ्रमर पाले से भरे हुए कुन्द के पुष्प को न तो त्याग छोड़ पाता है, और न उसका रस ही ले पाता है ॥१९॥ [विचार करते हुए बैठा रहता है।]

प्रतीहारी—[स्वगतम्] अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।)

शार्ङ्गरव—भो राजन् किमिति जोषमास्यते।

राजा—भोस्तपोधनाः! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये।

शकुन्तला—[अपवार्य] अज्जस्स परिणए एव्व सदेहो। कुदो दाणिं मे दूरा दरोहिणी आसा। (आर्यस्य परिणय एव संदेहः। कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा।)

शार्ङ्गरव—मा तावत्—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव! विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।

---

प्रतीहारी—[अपने आप] धन्य है, महाराज की धर्मपरायणता को। नहीं तो, इस प्रकार अनायास प्राप्त अद्भुत रूप को देखकर दूसरा कौन विचार करता है।

शार्ङ्गरव—महाराज! आप चुप क्यों बैठ गए हैं?

राजा—हे तपस्वियो! बहुत सोचने पर भी इन देवीजी के साथ अपने विवाह की बात का स्मरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ। तो गर्भ के स्पष्ट चिह्नों से युक्त इनको मैं स्वीकार करके, दूसरे से गर्भ धारण करानेवाली स्त्री का पति कहलाने का अपयश किस प्रकार स्वीकार कर सकता हूँ।

शकुन्तला—[अलग से] आर्यपुत्र को जब मेरे संग विवाह करने में ही सन्देह हो रहा है तो मैंने इनसे जो बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रक्खी थी वे भला कैसे पूरी हो सकती हैं।

शार्ङ्गरव—ऐसा मत कहो। तुमसे जबर्दस्ती फुसलाकर दूषित की गई अपनी पुत्री शकुन्तला का अनुमोदन करते हुए मुनि कण्व वास्तव में अपमानित हो रहे हैं। जिस प्रकार चोरी गए हुए अपने धन को पकड़ कर भी कोई चोर को ही वापस कर दे, उसी प्रकार तुम्हें भी मुनि ने अपनी कन्या देकर जो नेकी की है, उसका तुम अच्छा बदला चुका रहे हो ॥२०॥

शारद्वत—शार्ङ्गरव! तुम अब रुक जाओ। शकुन्तला! हम लोगों को जो कुछ इनसे कहना था वह तो हम कह चुके। और यह राजा इस प्रकार की बातें कर रहे हैं। अतः तुम इन्हें जिस प्रकार से विश्वास पैदा हो, वैसी बातें बताओ।

शकुन्तला—[अपवार्य] इम अवत्थन्तर गदे तारिसे अणुराए कि वा सुमराविदेण। अत्ता दाणि मे सोअणीओ त्ति ववसिद एद। [प्रकाशम्] अज्जउत्त [इत्यर्धोक्ते] सस‌इदे दाणि ण एसो समुदाआरो। पोरव ण जुत्त णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअ इम जण समअपुव्व पतारिअ ईदिसेहिँ अक्खरेहिँ पच्चाचक्खिदु। (इदमवस्थान्तर गते तादृशेऽनुरागे कि वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्। आर्यपुत्र! सशयित इदानीं नैव समुदाचारः। पौरव! न युक्त नाम ते तथा पुराऽऽश्रमपदे स्वभावोत्तान हृदयमिम जन समयपूर्व प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।)

राजा—[कर्णौ पिधाय] शान्त पापम्।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिम च पातयितुम्।
कूलकपेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

शकुन्तला—होदु जइ परमत्थतो परपरिग्गहसङ्किणा तुए एव्वव त्त पउत्त ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसङ्क अवणइस्स। (भवतु यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैव मवत् प्रवृत्त तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि।)

राजा—उदार कल्प।

शकुन्तला—[मुद्रास्थान परामृश्य।] हद्धी हद्धी अङ्गुलीअअसुण्णा मे अङ्गुली। (हा धिक् हा धिक् अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलि।) [इति सविषाद गौतमीमवेक्षते।]

गौतमी—णूण दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिल वन्दमाणाए पब्भट्ट अङ्गुलीअअ (नून ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिल वन्दमानाया प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम्।)

---

शकुन्तला—(अलग से) जब वैसे प्रेम की इस प्रकार से स्थिति बदल चुकी है तब उस स्नेह का स्मरण दिलाने से अब क्या लाभ हो सकता है। अब तो मुझे अपने को निष्कलक सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। [प्रकट रूप में] आर्यपुत्र! [आधी बात कहकर कुछ क्षणों तक रुक जाती है] जब इन्हें मेरे सग विवाह करने की बात पर ही सन्देह है तो यह सम्बोधन उचित नहीं है। हे पुरुवंशी राजन्! मुझ भोल-भाले स्वभाववाली को पहले आश्रम में उस प्रकार की मीठी-मीठी बातों में जाल में फुसला कर अब इस प्रकार के शब्दों से अपमानित करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

राजा—[दोनों कानों को बद करके] पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। अपने तटों को गिराने वाली नदी जिस प्रकार अपने निर्मल जल को कलुषित और तटवर्ती वृक्षों को गिरा देती है उसी प्रकार से तुम अपने कुल को दूषित करने के लिए और इस व्यक्ति को पतित बनाने के लिए ऐसी बात क्यों कर रही हो॥२१॥

शकुन्तला—अच्छा! यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझकर पाप की आशंका से इस प्रकार की बातें कर रहे हैं तो इस पहचान करानेवाली अँगूठी से मैं आपकी आशंका दूर करती हूँ।

राजा—यह ठीक उपाय है।

शकुन्तला—[अँगूठी पहनने की जगह को टटोलकर] हाय! हाय! मेरी यह अँगुली तो अँगूठी से रहित है। [विषाद के साथ गौतमी की ओर देखती है।]

गौतमी—निश्चय ही शक्रावतार में शची तीर्थ के जल की वन्दना करते समय तुम्हारी अँगूठी वहीं गिर गई होगी।

राजा—[सस्मितम्] इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

शकुन्तला—एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं। अवरं दे कहिस्सं। (अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि।)

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उदअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसि। (नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत्।)

राजा—शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिदो। तुए अअं दाव पढमं पिअदु त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उदएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवे वि एत्थ आरण्णआत्ति। (तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वया अयं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्ते अपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति।)

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ ण अरिहसि एव्वं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। (महाभाग नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य।)

---

राजा—[मुस्कराते हुए] जैसा कि स्त्रियों की चतुराई के सम्बन्ध में कहा जाता है, यह उसी का दृष्टान्त है।

शकुन्तला—इस सम्बन्ध में भी मेरे भाग्य ने अपना प्रभाव दिखला दिया। अब दूसरी बात तुमसे बतलाती हूँ।

राजा—अब तो उसे भी सुनना ही है।

शकुन्तला—जब एक दिन चमेली के कुञ्ज में तुम्हारे हाथ में कमल के पत्तों से बने हुए दोन में जल था—इसकी तुम्हें याद है?

राजा—मैं सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—उसी समय मैंने जिसे पुत्र की भाँति पाल रखा था, वह दीर्घापाङ्ग नाम का मृग का छौना भी वहीं आ पहुँचा था। तब तुम—'यही पहले जल पी ले'—इस विचार से दयायुक्त होकर उसे जल पिलाने की चेष्टा करने लग गये। किन्तु अपरिचित होने के कारण वह तुम्हारे समीप गया ही नहीं। तब उसी पानी को मेरे ले लेने पर उसने जल पी लिया था। इस पर तुमने यह कहकर मेरा मजाक उड़ाया था कि—'सभी लोग अपने सम्बन्धियों का ही विश्वास करते हैं। तुम दोनों वनवासी ठहरे न।'

राजा—अपना काम, जैसे भी हो, साधनेवाली स्त्रियों की इस प्रकार की झूठी-मूठी प्यारी बातों से कामुक प्रकृति के लोग आकृष्ट हुआ करते हैं।

गौतमी—हे भाग्यशाली! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। तपोवन में पालित-पोषित यह कन्या इस प्रकार के छल-छन्दों से अनभिज्ञ है।

राजा—तापसवृद्धे।

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥२२॥

शकुन्तला—[सरोषम्] अणज्ज अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणि अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदि पडिवदिस्सदि। (अनार्य आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।)

राजा—[आत्मगतम्] संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

[प्रकाशम्] भद्रे प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्। तथापीदं न लक्षये।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा। (सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता।) [इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति।]

---

राजा—हे वृद्धा तपस्विनी! मनुष्य जाति की स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों में भी बिना कुछ सिखाए-पढ़ाए ही जब चतुरता देखी जाती है तो विचार की शक्ति रखनेवाली स्त्रियों की चतुरता के सम्बन्ध में क्या कहा जाय! यह बात सभी जानते हैं कि उड़ने की शक्ति पैदा होने के पूर्व तक कोयलें अपने बच्चों का दूसरे पक्षियों (कौवों) से पालन कराती है ॥२२॥

शकुन्तला—[क्रोध पूर्वक] अनार्य! तुम अपने ही हृदय के समान सबको समझते हो। धर्म का ओढ़ना ओढ़े हुए, ऊपर घास-फूस से ढँके हुए कुँए की तरह, तुम्हारा कौन दूसरा ऐसा है, जो अनुकरण कर सके।

राजा—[अपने आप] इसके क्रोध में सत्यता का आभास होता है, अतः मेरी बुद्धि सन्देह में पड़ गई है। क्योंकि—ठीक से स्मरण न आने के कारण मैंने एकान्त में इसके संग किए गए प्रेम को, जो इतनी कठोरता के साथ अस्वीकार कर दिया सो अत्यन्त क्रोध के कारण लाल-लाल आँखें किए हुए इसने अपनी भृकुटियों को मरोड़कर चढ़ा लिया है, उससे ऐसा लगता है मानो कामदेव के धनुष को ही तोड़ डाला है ॥२३॥

[प्रकट रूप में] हे कल्याणी! दुष्यन्त का आचरण सर्वप्रसिद्ध है। फिर भी आप जो कुछ कह रही हैं, उसका स्मरण नहीं हो रहा है।

शकुन्तला—ठीक है। अब तो मैं स्वच्छन्द-विहारिणी बना दी गई हूँ, जो पुरुवंश में विश्वास कर, मुख में मधु और हृदय में हलाहल विष भरे ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़ गई हूँ। [ऐसा कहकर आँचल में मुख छिपाकर रोती है।]

शाङ्गरवः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥२४॥

राजा—अयि भोः किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्सयुतदोषाक्षरेण क्षिणुथ।

शाङ्गरवः—[सासूयम्] श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥२५॥

राजा—भोः सत्यवादिन् अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते।

शाङ्गरवः—विनिपातः।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयम्।

शारद्वतः—शाङ्गरव! किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः संदेशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। [राजानं प्रति]—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी॥२६॥

गौतमि! गच्छाग्रतः।

[इति प्रस्थिताः]

---

शाङ्गरव—इसी प्रकार अपने मन से शीघ्रता से किया हुआ काम तो जलाता ही है। इसलिए एकान्त का समागम विशेष रूप से परख करके ही करना चाहिए क्योंकि एक दूसरे के हृदयगत भावों को न समझने वालों की मित्रता इसी प्रकार बाद में शत्रुता बन जाती है॥२४॥

राजा—ओ महाशय! आप क्यों इस प्रकार इन देवी जी के प्रति विश्वास करके हमारे ऊपर दोष से भरी बातों द्वारा आक्षेप लगा रहे हैं।

शाङ्गरव—[अमर्ष के साथ] सुन ली आप लोगों ने, इनकी उल्टी-सीधी बातें। जिसने जन्म से लेकर आज तक धूर्तता नहीं सीखी उस व्यक्ति की बात तो अविश्वसनीय समझ ली जाय और जिन्होंने दूसरों को वंचित करने की कला का ही विद्या के समान अध्ययन किया है, उनकी बातों को प्रमाण माना जाय॥२५॥

राजा—हे सत्यवादी! हम मान लेते हैं कि ऐसे ही है, पर यह तो बताइए कि इन्हें छलकर हमें मिलेगा क्या?

शाङ्गरव—पतन।

राजा—पुरुवंश में जन्म लेनेवाले पतन चाहते हैं—यह विश्वसनीय बात नहीं है।

शारद्वत—शाङ्गरव! इनको उत्तर देने से क्या लाभ है? गुरु जी का सन्देश हम भुगता चुके हैं, अब हम वापस लौट चलें। [राजा की ओर मुँह करके] तो यह आपकी पत्नी है। इसे चाहे अपने भवन से निकाल दें, चाहे रखें। क्योंकि स्त्रियों पर पति का सब प्रकार का अधिकार होता है॥२६॥

गौतमी! चलो आगे आगे। [वे सब चलते हैं]

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्धम्हि। तुम्हे वि मं परिच्चअह। (कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि। यूयमपि मां परित्यजथ। [इत्यनुप्रतिष्ठते।]

गौतमी—[स्थित्वा] वच्छ सङ्गरव। अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला। पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु। [वत्स शाङ्गरव अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु।]

शाङ्गरवः—[सरोषं निवृत्य] किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे।

[शकुन्तला भीता वेपते।]

शाङ्गरवः—शकुन्तले।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

राजा—भोस्तपस्विन्! किमत्रभवती विप्रलभसे।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥

शाङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः।

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२९॥

---

शकुन्तला—क्यों इस धूर्त ने तो मुझे छला ही अब तुम लोग भी मुझे छोड़ कर चले जा रहे हो। [यह कहकर उन्हीं के पीछे-पीछे जाती है।]

गौतमी—[खड़ी होकर] बेटा शाङ्गरव! यह करुण क्रन्दन करती हुई शकुन्तला तो हम लोगों के पीछे-पीछे वापस लौटी आ रही है। निर्मोही पति द्वारा त्याग दिए जाने पर यह मेरी बेटी अब क्या करे?

शाङ्गरव—[क्रोध के साथ घूम कर] क्यों री दुष्टे! अब तू स्वच्छन्द बनना चाहती है। [शकुन्तला भय के कारण काँपने लगती है।]

शाङ्गरव—शकुन्तला! यदि जैसा राजा कहते है, तू वैसी ही है तो तुम जैसी कुलनाशिनी को लेकर पिता जी क्या करेंगे। और यदि तू अपने आचरण को पवित्र मानती है तो इस ससुराल में तुम्हारा दासी के रूप में भी रहना उचित होगा ॥२७॥ तुम रुको यहीं। हम सब जाते है।

राजा—अरे तपस्वी तुम क्यों इस देवी को छल रहे हो। चन्द्रमा कुमुदिनी को तथा सूर्य कमलिनी को ही प्रफुल्लित करता है। जितेन्द्रियों की मनोवृत्ति परकीया स्त्री के स्पर्श से विमुख रहती है ॥२८॥

शाङ्गरव—जब तुम पहले के सारे वृत्तान्त को अब दूसरी रानियों के संसर्ग के कारण भुला ही चुके हो तो भला अधर्म से कैसे डर सकते हो?

राजा—तब फिर आप ही बताइए कि मेरे लिए करने या न करने योग्य कौन-सी बात है? मैं स्मृतिविहीन मूर्ख बन गया हूँ, या यही झूठ बोल रही है। ऐसी सन्देहजनक स्थिति में अपनी स्त्री के परित्याग का पातकी बनूँ या पराई स्त्री को स्वीकार कर के कलंकी बनूँ ॥२९॥

पुरोहितः—[विचार्य] यदि तावदेव क्रियताम्।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यत इति चेत्। त्वं साधुभिरुद्दिष्ट प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोहितः—वत्से! अनुगच्छ माम्।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे देहि मे विवरं। (भगवति वसुधे देहि मे विवरम्)

[इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च।]

[राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति।]

[नेपथ्ये]

आश्चर्यम्। आश्चर्यम्।

राजा—[आकर्ण्य] किं नु खलु स्यात्।

[प्रविश्य]

पुरोहितः—[सविस्मयम्] देव अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा—किमिव।

पुरोहितः—देव! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

---

पुरोहित—[विचार करके] यदि ऐसा है तो यो कीजिए।

राजा—आप आज्ञा करें।

पुरोहित—यह देवी अपने बच्चे के जन्म तक मेरे घर पर निवास करें। यदि पूछें कि मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ तो इसलिए कि तुम्हें तपस्वियों ने पहले कहा था कि चक्रवर्ती पुत्र के पिता बनोगे। यदि यह महर्षि कण्व का नाती चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त पैदा हो तो आदरपूर्वक इसे अपने अन्तःपुर में रख लेना और यदि वैसा न हो तो इसके पिता के पास वापस भेज देना तो निश्चित ही है।

राजा—जो गुरुजनों को रुचे, वही करें।

पुरोहित—बेटी! मेरे पीछे पीछे आओ।

शकुन्तला—भगवती वसुन्धरा! मुझे अपने भीतर ठौर दे दो।

[ऐसा कहकर रोती हुई जाती है। पुरोहित और तपस्वियों के साथ चलती है।]

[शाप के कारण विस्मृति में पड़ा राजा शकुन्तला के सम्बन्ध में विचार करता है।]

[नेपथ्य में] आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—[सुनकर] क्या हुआ?

पुरोहित—[बड़े विस्मय के साथ] महाराज! बड़े आश्चर्य की बात हो गई

राजा—क्या हुआ?

पुरोहित—महाराज! उन कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर, वह मुनि-कन्या अपने भाग्य की निन्दा करती हुई ज्यों ही अपनी भुजाएँ पसारकर विलाप करने लगी कि...

राजा—किं च।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराटुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥

[सर्वे विस्मयं रूपयन्ति।]

राजा—भगवन् प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यतु भवान्।

पुरोहितः—[विलोक्य] विजयस्व [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—वेत्रवति पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।) [इति प्रस्थिता।]

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥३१॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति पंचमोऽङ्कः॥

---

राजा—फिर क्या हुआ ?

पुरोहित—तब स्त्री के समान आकृति वाली एक ज्योति हमारे समीप से उसे उठाकर अप्सरस तीर्थ की ओर चली गई ॥३०॥

[सब लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं।]

राजा—भगवन् ! हमें तो पहले ही यह बात मालूम पड़ गई थी। अब तर्क से इस बात की तह में पहुँचना व्यर्थ है। आप भी जायें, विश्राम करें।

पुरोहित—[देखकर] महाराज की जय हो। [जाता है।]

राजा—वेत्रवती ! मैं व्याकुल-सा हो रहा हूँ। शयनागार का मार्ग बताओ।

प्रतीहारी—इधर महाराज, इस ओर। [प्रस्थान]

राजा—अत्यन्त तिरस्कृत उस ऋषिकन्या के साथ मेरा विवाह कब सम्पन्न हुआ—इसकी मुझे स्मृति नहीं है। किन्तु अत्यन्त दुःख से भरा हुआ मेरा हृदय रह-रह कर उसकी बातों में विश्वास पैदा कर रहा है ॥३१॥

[सब लोग प्रस्थान करते हैं।]

अभिज्ञान शाकुन्तल में पाँचवाँ अंक समाप्त ॥५॥

# षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।]

रक्षिणौ—[ताडयित्वा] अले कुम्भीलआ! कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए। (अरे कुम्भीरक! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम्।)

पुरुषः—[भीतिनाटितकेन] पशीदन्तु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली। (प्रसीदन्तु भावमिश्राः अहं नेदृशकर्मकारी।)

प्रथमः—किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ लञ्ञा पडिग्गहे दिण्णे। (किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः।)

पुरुषः—शुणुध दाणिं। हगे शक्कावदालब्भन्तरालवाशी धीवले। (शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।)

द्वितीयः—पाडच्चला किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा। (पाटच्चर किमस्माभिर्जातिः पृष्टा।)

श्यालः—सूअअ कहेदु शव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धह। (सूचक कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरा प्रतिबध्नीत।)

उभौ—जं आवुत्त आणवेदि। कहेहि। (यदावुत्त आज्ञापयति। कथय।)

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुडुम्बभलणं कलेमि। (अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।)

---

# छठाँ अङ्क

[तदनन्तर राजा का साला कोतवाल प्रवेश करता है, तथा उसके पीछे दो रखवाले सिपाही एक बँधे हुए पुरुष को लेकर प्रवेश करते हैं।]

दोनों सिपाही—[पीटकर] अरे चोर! बोल। कहाँ तुमने राजा के नाम से अंकित यह नगजड़ी अँगूठी पाई।

पुरुष—[भय का अभिनय करते हुए] अरे महाशय! क्षमा करें। मैं ऐसा काम नहीं किया करता।

प्रथम सिपाही—क्या तुझे सुपात्र ब्राह्मण जानकर राजा ने दक्षिणा दी थी।

पुरुष—तनिक सुनने की तो कृपा करें। मैं शक्रावतार गाँव का रहने वाला मछुआ हूँ।

दूसरा सिपाही—अबे! क्या हम तेरी जाति-पाँति पूछ रहे हैं।

कोतवाल—सूचक! इसे सब बातें ब्योरे के साथ बताने दो, बीच में टोको मत।

दोनों सिपाही—जैसी श्रीमान् की आज्ञा। बोल रे!

पुरुष—मैं जाल बंसी आदि मछली को पकड़ने वाले साधनों से अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता हूँ।

श्यालः—[विहस्य] विसुद्धो दाणि आजीवो। (विशुद्ध इदानीमाजीवः।)

पुरुषः—भट्टा मा एव्व भण।

शहजे किल जे वणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदुएव्व शोत्तिए॥१॥

(भर्तः मैवम् भण।)

सहज किल यद्विनिन्दित न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥

श्यालः—तदो तदो (ततस्ततः।)

पुरुषः—एक्कश्शि दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे। जाव तश्श उदलब्भन्तले एद लदणभाशुल अगुलीअअ देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुञ्चेह वा। अअ शे आअमवुत्तन्ते। (एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः। मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्तः।)

श्यालः—जाणुअ विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्ससअ। अगुलीअअदसण शे विमरिसिदव्व। राअउल एव्व गच्छामो। (जानुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः।)

रक्षिणौ—तह। गच्छ अले गण्ठभेदअ (तथा गच्छ अरे ग्रन्थिभेदक।)

[सर्वे परिक्रामन्ति।]

---

कोतवाल—[हँसते हुए] तेरी आजीविका तो बहुत अच्छी है।

पुरुष—स्वामी! ऐसा न कहें। लोग चाहे जितनी भी निन्दा करें किन्तु जो जिसका स्वाभाविक जाति-धर्म या आजीविका है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए। देखिए, करुणा से आर्द्र हृदय वेदनिष्ठ ब्राह्मण ही यज्ञों मे पशुओं की हिंसा जैसे क्रूर कर्म मे प्रवृत्त होते है॥१॥

कोतवाल—हाँ, तब उसके बाद क्या हुआ?

पुरुष—एक दिन जब मै एक रोहू मछली को टुकडे-टुकडे मे काट रहा था तब उसके पेट के भीतर से रत्न के कारण चमकती हुई इस अँगूठी को देखा। बाद मे मै उसी को बेचने के लिए दिखला रहा था कि आप लोगो ने मुझे पकड लिया। अब चाहे मुझे मारिये और चाहे तो छोड दीजिए—इसके मिलने का सम्पूर्ण वृत्तान्त यही है।

कोतवाल—जानुक! इसमे तो कोई सन्देह नही कि यह गोह खानेवाला मछुआ ही है, क्योंकि इसके शरीर से कच्चे मास की दुर्गन्ध आ रही है। हाँ, इस अँगूठी के मिलने की घटना की जाँच करनी चाहिए। इसे राज-दरबार मे हमे ले चलना चाहिए।

दोनों सिपाही—बहुत अच्छा! अरे गिरहकट! चल। [सब लोग घूमते है।]

श्यालः—सूअअ इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि। (सूचक इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथाऽऽगमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि।)

उभौ—पविसदु आवुत्ते शामिपशादस्श। (प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय।)

[इति निष्क्रान्तः श्यालः।]

प्रथमः—जाणुअ चिलाअदि क्खु आवुत्ते। (जानुक चिरायते खल्वावुत्तः।)

द्वितीयः—ण अवशलोवशप्पणीआ लाआणो। (नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः।)

प्रथमः—जाणुअ फुल्लन्ति मे हत्था इमस्स वहस्स सुमणा पिणद्धं। (जानुक प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम्।) [इति पुरुषं निर्दिशति।]

पुरुषः—ण अरुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं। (नार्हति भावोऽकारणमारणो भवितुम्।)

द्वितीयः—[विलोक्य] एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि। गिद्धबली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि। (एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।)

[प्रविश्य]

श्यालः—सूअअ मुञ्चेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु अगुलीअअस्स आअमो। (सूचक मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वङ्गुलीयकस्यागमः।)

सूचकः—जह आवुत्ते भणादि। (यथाऽऽवुत्तो भणति।)

द्वितीयः—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते। (एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः।) [इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति]।

---

कोतवाल—सूचक! नगर-द्वार पर सावधानी से इसकी रखवाली करना, तब तक मैं महाराज से इस अँगूठी के प्राप्त होने का ब्यौरा निवेदन करके और उनकी आज्ञा लेकर के आता हूँ।

दोनों सिपाही—हाँ, ठीक है, आप महाराज की अनुग्रह प्राप्ति के लिए जावें।

[कोतवाल जाता है।]

प्रथम सिपाही—जानुक! कोतवाल साहब बड़ी देर कर रहे हैं।

दूसरा सिपाही—अरे! राजा के समीप अवसर देखकर जाया-आया जाता है।

पहला सिपाही—जानुक! इसे मारने के लिए माला पहनाने को मेरे हाथ फड़क रहे हैं। [मछुए की ओर संकेत करता है।]

मछुआ—यह आप के लिए उचित नहीं है कि बिना किसी कारण के मुझे मारने का विचार करें।

दूसरा पुरुष—[देखकर] यह हमारे अधिकारी हाथ में महाराज का आज्ञापत्र लिए हुए इसी तरफ मुख किए दिखाई पड़ रहे हैं। अब तू या तो गिद्धों का आहार बनेगा या कुत्तों के मुँह में जायगा। [प्रवेश करता है।]

कोतवाल—सूचक! इस मछुए को छोड़ दो। अँगूठी के मिलने का रहस्य मालूम पड़ गया।

सूचक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा।

दूसरा सिपाही—यह तो यमराज के घर पहुँचकर भी वापस लौट आया।

[मछुए को बंधन से मुक्त करता है।]

पुरुष —[श्यालं प्रणम्य] भट्टा ! अह कीलिशे मे आजीवे। (भर्तः ! अथ कीदृशो मे आजीवः।)

श्याल —एसो भट्टिणा अगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो। (एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसमितः प्रसादोऽपि दापितः।) [इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति।]

पुरुष —[सप्रणाम प्रतिगृह्य] भट्टा अणुग्गहीदम्हि। (भर्तः अनुगृहीतोऽस्मि।)

[illegible] त्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे। (एष [illegible]

[illegible] भट्टिणो शम्मदेण होदव्व। (आवुत्त परितोष कथय तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः सम्मतेन भवितव्यम्।)

श्याल —ण तस्सि महारुहं रदण भट्टिणो बहुमद त्ति तक्केमि। तस्स दसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअ पकिदिगम्भीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि। (न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्।)

सूचक —सेविद णाम आवुत्तेण। (सेवित नामायुत्तेन)।

जानुक —ण भणाहि इमस्स कए मच्छिआभत्तुणो त्ति। (ननु भण अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति।) [इति पुरुषमसूयया पश्यति।]

पुरुष —भट्टालक इदो अद्ध तुम्हाण शुमणोमुल्ल होदु। (भट्टारक इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु।)

जानुक —एत्तके जुज्जइ। (एतावद्युज्यते)

---

मछुआ—[कोतवाल को प्रणाम करते हुए] श्रीमान् ! बताएँ मेरी आजीविका कैसी रही ?

कोतवाल—महाराज ने इस अँगूठी के मूल्य के बराबर इसे उपहार देने की आज्ञा भी दी है। [मछुए को धन देता है।]

मछुआ—[प्रणामपूर्वक स्वीकार करते हुए] श्रीमान् ! मैं कृतार्थ हो गया।

सूचक—इसे ही राजा की कृपा कहते है, जो सूली के तख्ते पर से उतार कर हाथी की पीठ पर बैठा दिया।

जानुक—श्रीमान् ! इसे पारितोषिक कहिए। मालूम होता है वह अँगूठी स्वामी को विशेष प्रिय थी।

कोतवाल—मैं तो समझता हूँ कि उस अँगूठी मे जो बहुमूल्य नग जडा था, उसके कारण वह महाराज को प्रिय नही लगी बल्कि उसे देखकर महाराज को किसी प्रियजन की याद आ गई है। क्योकि स्वभाव से गम्भीर होने पर भी उनके नेत्र इस अँगूठी को देखकर अनमने से हो गए थे।

सूचक—तब तो श्रीमान् ने महाराज का बहुत बडा काम किया है।

जानुक—यो कहो कि इस मछुए ने राजा का बडा काम किया। [मल्लाह को ईर्ष्या से देखता है]।

मछुआ—श्रीमान् ! इसका आधा भाग आप लोगो के पत्र-पुष्प के लिए है।

जानुक—यह तुमने ठीक कहा।

**श्यालः**—धीवर! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे सवुत्तो। कादम्मरीसक्खिअं अम्हाण पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपण एव्व गच्छामो। (धीवर! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे सवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।)

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमतिं नामाप्सराः।]

**सानुमती**—णिव्वट्टिद मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। संपद इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वम्हि। [समन्तादवलोक्य] किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं। किं दु सहीए आदरो मए माणइदव्वो होदु। इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं। (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति। साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि। किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु। अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।) [इति नाट्येनावतीर्य स्थिता।]

[ततः प्रविशति चूतांकुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्तस्याः।]

---

**कोतवाल**—मछुए! अब तो तुम मेरे बड़े अच्छे मित्र हो गए। मदिरा का पात्र हमारा-तुम्हारा प्रथम प्रीतिपात्र हो—ऐसी मेरी इच्छा है। चलो मदिरालय की ओर चलें। [सब लोग जाते हैं।]

प्रवेशक समाप्त



[तदनन्तर आकाशमार्ग से सानुमती नामक अप्सरा का प्रवेश।]

**सानुमती**—जब तक साधुजनों के स्नान का समय था, तब तक आज उस अप्सरस तीर्थ के पास देखभाल करने की मेरी बारी थी। अपना कार्य समाप्त कर चुकी। अब तनिक इस राजर्षि का वृत्तान्त मालूम कर लूँ। मेनका की कन्या के नाते शकुन्तला भी मेरे शरीर के समान है। मेनका ने अपनी कन्या के लिए मुझे पहले ही से आदेश दे रखा है। [चारों ओर देखकर] है, यह ऋतु के महोत्सव के अवसर पर ही यह राजभवन उत्सव के आयोजन से शून्य की भाँति क्यों मालूम पड़ रहा है। दिव्य दृष्टि से सब कुछ जान लेने की सामर्थ्य भी तो मुझ में है। किन्तु अपनी सखी का मुझे आदर करना चाहिए। अच्छा। अपनी तिरस्करिणी नामक माया से छिपकर इन दोनों बाग की रखवाली करने वाली स्त्रियों के समीप जाकर मालूम करूँगी कि क्या मामला है।

[नीचे उतरने का अभिनय करती हुई खड़ी होती है।]

[उसी समय आम की मंजरी को देखती हुई एक दासी आती है। उसी के पीछे दूसरी दासी आती है।]

प्रथमा—

आतम्महरिअपण्डुर जीविदसव्व वसन्तमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि॥२॥
(आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि॥)

द्वितीया—परहुदिए किं एआइणी मन्तेसि। (परभृतिके किमेकाकिनी मन्त्रयसे।)

प्रथमा—महुअरिए चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि। (मधुकरिके चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।)

द्वितीया—[सहर्षं त्वरयोपगम्य] कहं उवट्ठिदो महुमासो। (कथमुपस्थितो मधुमासः।)

प्रथमा—महुअरिए तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं। (मधुकरिके तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्।)

द्वितीया—सहि अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेअच्चणं करेमि। (सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।)

प्रथमा—जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स। (यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य।)

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं सरीरं। (अकथितेऽप्येतत्संपद्यते यत एकमेव नौ जीवितम् द्विधा स्थितं शरीरम्।)
[सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।] अए अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धणभङ्गसुरभी होदि। (अये अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति।)
[इति कपोतहस्तकं कृत्वा]—

तुमं सि मए चूदङ्कुर दिण्णो कामस्स गहिदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पञ्चब्भहिओ सरो होहि॥३॥

---

पहली—हे वसन्त मास के जीवन सर्वस्व ! कुछ कुछ लाल, हरे और श्वेत ! वसन्त के मंगल-स्वरूप ! आम के बौर ! आज मैं तुम्हारा दर्शन कर रही हूँ, मैं तुम्हें मनाती हूँ ॥२॥

द्वितीय—अरी परभृतिका ! तू अकेले अकेले क्या कह रही है ?

पहली—मधुरिका ! आम की मंजरी को देखकर परभृतिका (मैं तथा कोयल) तो उन्मत्त हो ही जाती है।

दूसरी—[आनन्दपूर्वक शीघ्रता से उसके समीप जाकर] तो क्या वसन्त का महीना आ गया ?

पहली—अरी मधुकरिके (भ्रमरी) तेरे मस्ती से भरे गायन के भी तो यही दिन हैं।

दूसरी—सखी ! मुझे तनिक सहारा देकर उचका दे तो अपने पंजों के बल खड़ी होकर आम की मंजरी तोड़कर कामदेवता की पूजा कर लूँ।

पहली—यदि पूजा का आधा फल मुझे देने का वादा करो तब।

दूसरी—तुम्हारे न कहने पर भी यह होता क्योंकि हम दोनों के प्राण तो एक ही हैं, केवल शरीर दो हैं। [सखी का सहारा लेकर खड़ी होती हुई आम की मंजरी तोड़ती है।] अहा हा ! पूर्णतः खिली हुई न होने पर भी आम की यह मंजरी अपने स्थान से टूट जाने पर सुगन्धि देती है। [हाथ जोड़कर] हे आम की मंजरी ! मैं तुझे धनुर्धारी कामदेव के लिए समर्पित कर रही हूँ। तू पथिक जनों की युवती स्त्रियों पर निशाना बननेवाले पाँचों बाणों में अतिरिक्त बाण बन जाओ ॥३॥

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव॥)

[इति चूतांकुरम् क्षिपति।]

[प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः]

कंचुकी—मा तावत्। अनात्मज्ञे देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गमारभसे।

उभे—[भीते] पसीददु अज्जो। अगहीदत्थाओ वअं। (प्रसीदत्वार्यः। अगृहीतार्थे आवाम्।)

कंचुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च। तथा हि—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥४॥

सानुमती—णत्थि संदेहो। महाप्पहावो राएसी। (नास्ति संदेहः। महाप्रभावो राजर्षिः।)

प्रथमा—अज्ज कति दिवहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं। एत्थ अ णो पमदवणस्स पालणकम्मं समप्पिदं। ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो। (आर्य, कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलप्रेषितयोः। अत्र च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः।)

---

[ऐसा कहकर आम की मजरी को नीचे गिराती है।]

[बिना पर्दा गिराए ही प्रवेश करके क्रोधपूर्वक]

कंचुकी—अरे! ऐसा मत करो। मूर्ख छोकरियो! महाराज ने जब इस वर्ष वसन्तोत्सव को मनाने से रोक दिया है तब फिर तुम लोग आम की मजरियो को क्यों तोड़ रही हो!

दोनों—[डरी हुई] आप क्षमा करें। हम दोनो को इसकी सूचना ही नही थी।

कंचुकी—क्या तुम दोनो ने यह सब सुना ही नहीं, जब कि वसन्त ऋतु मे फलने-फूलने वाले वृक्षो ने तथा उनमें बसेरा लेनेवाले पक्षियों ने भी महाराज की आज्ञा स्वीकार कर ली। क्योंकि सामने देखो, आम की मजरी बहुत पहले से लगी होने पर भी अपने पराग को नही धारण कर रही है। यद्यपि कुरवक खिलना ही चाहता था, किन्तु अब भी वह कली ही लिए हुए है। पुस्य-कोकिल की कूक, शिशिर ऋतु के बीत जाने पर भी, उसके कण्ठ तक आकर रुक गई है, कामदेव भी भयभीत होकर मानों तरकस से निकाले हुए अपने बाणो को पुन डरकर अपने तरकस के भीतर रख रहा है। ऐसा मेरा अनुमान है॥४॥

सानुमती—इसमें कोई सन्देह नहीं है। राजर्षि महान् प्रभावशाली हैं।

पहली—आर्य! अभी कुछ ही दिन हुए, मित्रावसु कातवाल ने हमे महाराज के चरणो मे भेजा है और इस प्रकार हमें प्रमद वन की रखवाली के काम मे नियुक्त किया गया है। अत नई-नई होने के कारण हम दोनों को यह बात आज के पहिले नहीं ज्ञात थी।

कञ्चुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे—अज्ज कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किं णिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो। (आर्य! कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः।)

सानुमती—उस्सवप्पिआ खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं। (उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।)

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्।

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअअदंसणं। (श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्।)

कञ्चुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथा हि—

> रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
> शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
> दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
> गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५॥

सानुमती—पिअं मे। (प्रियं मे।)

---

कञ्चुकी—खैर अब आगे से ऐसा मत करना।

दोनों—आर्य! हम लोग यह जानने के लिए लालायित हैं अतः यदि हमारे सुनने योग्य बात हो तो बताएँ कि महाराज ने वसन्तोत्सव को किस लिए मना कर दिया है।

सानुमती—मनुष्य तो उत्सवों के प्रेमी होते हैं। इसमें निश्चय ही कोई बड़ा कारण होगा।

कञ्चुकी—यह बात जब बहुत से लोगों को ज्ञात है तो तुम लोगों को क्यों न बता दी जाय। क्या यहाँ तुम्हारे कानों में शकुन्तला के त्याग करने की चर्चा नहीं पहुँच सकी है।

दोनों—राजा के साले के मुँह से अंगूठी मिलने तक की चर्चा तो हमने सुनी है।

कञ्चुकी—तब तो थोड़ी ही बात कहनी है। जिस समय महाराज ने उक्त अंगूठी देखी उसी समय उन्हें स्मरण हुआ कि वास्तव में मैंने देवी शकुन्तला के साथ एकान्त में विवाह किया था और भ्रम में पड़कर उनका मैंने तिरस्कार कर दिया है। उसी समय से महाराज पश्चात्ताप में पड़े हुए हैं। क्योंकि—

जो सुन्दर वस्तुएँ हैं उनसे वे घृणा करते हैं। पहले की तरह वे अपने मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन नहीं बैठते। निद्रा रहित होकर पलंग की पाटी पर करवटें बदलते हुए सारी रात बिता देते हैं। जब अन्तःपुर की रानियों द्वारा अत्यन्त अनुरोध करने पर उचित उत्तर देते हैं तो नाम लेने में भूल हो जाने के कारण बहुत देर तक लज्जा से चकित रहते हैं ॥५॥

सानुमती—मुझे तो यह बात प्रिय लगी।

कञ्चुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सव प्रत्याख्यातः।
उभे—जुज्जइ। (युज्यते।)

[नेपथ्ये]

एदु एदु भवं। (एतु एतु भवान्।)
कञ्चुकी—[कर्णं दत्त्वा] अये! इत एवाभिवर्तते देवः। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।
उभे—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ते।]

[ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च।]

कंचुकी—[राजानमवलोक्य] अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
विभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितोमहामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

सानुमती—[राजानं दृष्ट्वा] ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति। (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।)

---

कञ्चुकी—उनके इसी प्रबल मानसिक सन्ताप के कारण वसन्तोत्सव का आयोजन रोक दिया गया है।
दोनों—तब तो उचित ही था।

[नेपथ्य में] आइए, आप आइए।

कञ्चुकी—[कान लगाकर] अरे! महाराज तो इसी ओर आ रहे हैं। तुम लोग अपना काम करो।
दोनों—बहुत अच्छा [जाती हैं।]

[तदनन्तर विदूषक और प्रतीहारी के साथ पछतावा करने वाले की तरह वेश धारण कर राजा आता है।]

कञ्चुकी—[राजा को देखकर] विशिष्ट आकृतिवालों की सुन्दरता तो सभी अवस्थाओं में रहती है। इस प्रकार अत्यन्त खिन्न होने पर भी महाराज देखने में बड़े सुन्दर मालूम पड़ते हैं। क्योंकि—

केवल बाईं भुजा पर पहनने वाले एक मात्र सुवर्ण के भुजबन्ध को छोड़कर उन्होंने अपनी शोभा वृद्धि करनेवाले समस्त आभूषणों को उतार दिया है। उनकी लंबी उसांसों से नीचे का ओठ लाल हो गया है और चिन्ता के मारे रात-रात भर जागते रहने से उनकी आँखें मलिन हो गई हैं। किन्तु इस प्रकार दुर्बल होने पर भी वे उसी प्रकार क्षीण नहीं दिखाई पड़ते जैसे सान पर खरादा हुआ बहुमूल्य मणि छोटा होने पर भी अपनी उत्कृष्ट चमक के कारण छोटा नहीं मालूम पड़ता ॥६॥

सानुमती—[राजा को देखकर] इस राजा की अस्वीकृति के कारण अपमानित होने पर भी जो शकुन्तला इसके लिए तड़पती रहती है, यह उचित ही है।

राजा—[ध्यानमन्द परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥७॥

सानुमती—ण ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि। (नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि।)

*विदूषक—[अपवार्य] लङ्घिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं* चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति। (लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।)

कञ्चुकी—[उपगम्य] जयतु जयतु देव। महाराज प्रत्यवेक्षिता प्रमदवनभूमय। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराज।

राजा—वेत्रवति मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी—ज देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—वातायन त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्त।]

विदूषक—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। सपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देशे आत्मानं रमयिष्यसि।)

---

राजा—[चिन्तित मुद्रा मे घूमता हुआ] उस समय मृगनयनी प्रियतमा के समझाए जाने पर भी मेरी आँखें नहीं खुलीं, *अब यह अभागा हृदय केवल पश्चात्ताप का दुःख सहने के लिए जाग पड़ा है॥७॥*

सानुमती—निश्चय ही उस तपस्विनी शकुन्तला के ऐसे भाग्य है।

विदूषक—[अलग से] ओह! शकुन्तला रूपी व्याधि ने इन्हें फिर आकर घेर लिया। न जाने किस प्रकार से इस व्याधि का उपचार सभव होगा।

कञ्चुकी—[समीप जाकर] महाराज की जय हो, जय हो। महाराज! प्रमद वन की भूमि देख ली गई। महाराज अपनी इच्छा के अनुरूप मनोविनोद के स्थान में विश्राम करें।

राजा—वेत्रवती! मेरी ओर मे तुम जाकर अमात्य आर्यपिशुन से कहो कि—विलब करके उठने के कारण आज न्याय सिंहासन पर हमारे बैठने की सभावना नहीं है अत आर्य! प्रजा-सम्बन्धी जो भी कार्य करना हो, उसे पत्र मे लिखकर भेज दें।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा। [बाहर जाती है।]

*राजा—वातायन! तुम भी जाओ अपना काम देखो।*

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है।]

विदूषक—आपने अच्छा किया, जो मक्खियाँ भगा दी। अब अब चलकर उस प्रमद वन के कुंज म *जो शीत तथा गर्मी की तपन से रहित होने के कारण* अतीव मनोहर लगता है, अपना मन बहलाइए।

राजा—वयस्य यदुच्यते रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति तदव्यभिचारि वचः। कुतः।

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव। इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पवाणं णासइस्सं। (तिष्ठ तावत्। अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि।) [इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति।]

राजा—[सस्मितम्] भवतु दृष्टं ब्रह्मवर्चसम्। सखे क्वोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि।

विदूषकः—ण आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं। तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति। (नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति।)

राजा—ईदृशं हृदयविनोदनस्थानम्। तत्तमेव मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवं। (इत इतो भवान्।)

[उभौ परिक्रामतः। सानुमत्यनुगच्छति।]

विदूषकः—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवआररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि। ता पविसिअ णिसीददु भवं। (एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति। तत्प्रविश्य निषीदतु भवान्।)

[उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ।]

---

राजा—मित्र! अनर्थ अवसर की ताक में रहता है, यह जो कहा जाता है, वह बात सत्य ही है। क्योंकि हे सखे! अभी तक मेरे चित्त से शकुन्तला के प्रेम की स्मृति को दूर करने वाला मोह उतरा ही था कि प्रहार करने वाले कामदेव ने अपने धनुष पर आम की मंजरी का बाण चढ़ा लिया ॥८॥

विदूषक—तनिक रुकिए। मैं अभी अपने इसी डण्डे से, काम के उस बाण को तोड़ डालता हूँ। [ऐसा कहकर डण्डे को ऊपर उठाकर आम के बौर को तोड़ना चाहता है।]

राजा—[मुस्कराते हुए] खैर रहने भी दो। तुम्हारा ब्रह्मतेज देख लिया। चलो, और ऐसा कोई स्थान बतलाओ, जहाँ बैठकर अपनी प्रिया से कुछ मिलती-जुलती लताओं को देखकर मैं अपनी आँखों को शीतल करूँ।

विदूषक—क्यों, अन्तःपुर की दासी चतुरिका को आपने आदेश दिया था कि माधवी मण्डप में यह समय बिताऊँगा और वहीं पर मेरी चित्र लिखनेवाली पट्टी में स्थित मेरे हाथ से बना हुआ देवी शकुन्तला का चित्र ले आना।

राजा—हाँ, वह तो मन बहलाने की अच्छी जगह है। तब फिर उसी ओर को राह बतलाओ।

विदूषक—इधर से आइए महाराज, इधर।

[दोनों घूमते हैं। सानुमती उनके पीछे-पीछे जाती है।]

विदूषक—पुष्पों की शय्या आदि से सुसज्जित सुन्दर मणिजटित शिला से युक्त यह माधवी लता का कुञ्ज निस्सन्देह स्वागत करने के समान हम दोनों की प्रतीक्षा कर रहा है। अतः आप इसमें प्रविष्ट होकर बैठें। [दोनों प्रवेश करके बैठते हैं।]

सानुमती—लदासस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं। (लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि।) [इति तथा कृत्वा स्थिता।]

राजा—सखे सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषक—ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी। (न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।)

सानुमती—एव्वं णेदं। (एवं नु एतत्।)

राजा—[ध्यात्वा] सखे त्रायस्व माम्।

विदूषक—भो किं एदं। अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति। ण पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ। (भोः किमेतत्। अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।)

---

सानुमती—लता की आड में होकर तनिक अपनी सखी शकुन्तला का चित्र देखूं तभी तो मैं उससे जाकर बता सकूँगी कि तुम्हारे पति तुम पर कितना अपार प्रेम दिखलाते हैं।

[वैसा करती है।]

राजा—मित्र! अब तो शकुन्तला की सभी बातें याद आ रही हैं। और तुमसे भी तो मैंने बताया था। किन्तु तुम उसके परित्याग के समय मेरे समीप नहीं थे और पहले भी तुमने मेरे सामने उसका नाम नहीं लिया। क्या मेरी ही तरह तुम भी भूल गए थे?

विदूषक—मैं तो नहीं भूला था। किन्तु सब बातें कहने के बाद अन्त में तुमने यह कहा था कि यह सब मजाक की बात है सत्य नहीं है। मिट्टी के ढेले के समान बुद्धि रखने वाले मैंने भी उसे मजाक ही समझ रखा था। अथवा यह कहो कि होनहार सब से अधिक बलवान होता है।

सानुमती—यही बात है।

राजा—[ध्यान करके] मित्र! मेरी रक्षा करो।

विदूषक—अरे यह क्या? तुम्हारे जैसे लोगों को ऐसा करना उचित नहीं है। सत्पुरुष कभी शोक के कारण अपना धीरज नहीं छोड़ते। क्योंकि आंधी और तूफान में भी पर्वत निश्चल रहते हैं।

राजा—वयस्य। निराकरणविक्लवाया प्रियाया समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि।

सा हि—

> इत प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
> स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
> पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
> मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥९॥

सानुमती—अम्महे। ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स सन्दावेण अहं रमामि। (अहो! ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे।)

विदूषक—भो अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति। (भो अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवती आकाशचारिणा नीतेति।)

यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति

खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः।)

विदूषक—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए। (यद्येवम् अस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या।)

राजा—कथमिव।

विदूषक—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं चिरं देक्खिदुं पारेन्ति। (न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः।)

---

राजा—मित्र! परित्याग के कारण अतीव व्याकुल प्रिया की दयनीय अवस्था का स्मरण करके मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही है। क्योंकि जब मैंने यहाँ प्रिया का त्याग दिया और वह अपने स्वजनों के पीछे-पीछे जाने लगी तो पिता के समान गुरु कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव के यह कहकर डाँट देने पर कि—तू यहीं रहेगी—वह रुक गई। उस समय अपनी आँखों में आँसुओं को भरकर मुझ निष्ठुर की ओर जो उसने देखा था वह विष से बुझी हुई बर्छी की भाँति मुझे बेध रहा है॥९॥

सानुमती—अहो! ऐसी स्वार्थपरायणता। इसके सन्ताप से मुझे प्रसन्नता हो रही है।

विदूषक—मित्र! मैं सोचता हूँ कि किसी आकाश में उड़नेवाली शक्ति के द्वारा उस देवी का हरण किया गया है।

राजा—पतिव्रता का भला दूसरा कौन छूने में समर्थ हो सकता है। मैंने भी सुना है कि तुम्हारी सखी शकुन्तला को जन्म देनेवाली मेनका नाम की अप्सरा है। मेरा हृदय ऐसी आशंका करता है कि उसकी सहेलियों द्वारा तुम्हारी सखी हरण की गई है।

सानुमती—इस समय इस राजा को जो इतनी सारी बातें स्मरण हो रही हैं, उनसे मुझे उतना आश्चर्य नहीं होता, जितना इस बात पर कि वे उस समय यह सब बातें भूल कैसे गए थे।

विदूषक—यदि सचमुच ऐसा है तो निश्चय ही देवी से थोड़े ही समय में तुम्हारी भेंट होगी।

राजा—यह कैसे?

विदूषक—माता पिता अपने पति के वियोग में दुःखी पुत्री को अधिक समय तक नहीं देख सकते।

राजा—वयस्य।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाताः ॥१०॥

विदूषक—मा एव्वं। अंगुलीअअं एव्व णिदसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति। (मैवम्। नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति।)

राजा—[अंगुलीयकं विलोक्य] अये इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे। (यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्।)

विदूषक—भो इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदिए हत्थाब्भासं पाविदा। (भो इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता।)

सानुमती—मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो। (ममापि कौतूहलेनाकारित एषः।)

राजा—श्रूयताम्, स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

विदूषक—तदो तदो। (ततस्ततः)

---

राजा—ऐसा है तो अवश्य किन्तु फिर भी मैं ठीक-ठीक से यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तला के साथ फिर कभी वापस न आने के लिए बीता हुआ वह प्रथम मिलन स्वप्न था अथवा इन्द्रजाल था। मेरी मति का भ्रम था या मेरे अल्प पुण्यों का उतना ही फल था। ये मेरी आशाओं की चट्टानों से गिरे हुए झरने हैं।

विदूषक—ऐसा न कहें महाराज! यह अँगूठी ही बता रही है कि अवश्यम्भावी समागम अचिन्तनीय होता है अर्थात् उससे आपकी भेंट अवश्यमेव होगी।

राजा—[अँगूठी को देखकर] इस अँगूठी को देखकर इसके ऊपर भी मुझे तरस आता है कि इतने दुर्लभ स्थान पर पहुँच कर यह कैसे गिर पड़ी।

हे अँगूठी! परिणाम से अनुमान होता है कि मेरे ही समान निश्चय ही तुम्हारा भी पुण्य बहुत अल्प है जो प्रिया के लाल नाखूनों से मनोहर अँगुली में स्थान प्राप्त करके भी तू गिर पड़ी ॥११॥

सानुमती—यदि यह किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ पड़ गई होती तो सचमुच यह दया का पात्र होती।

विदूषक—अच्छा यह तो बताइए कि आप के नाम से अंकित यह अँगूठी देवी के हाथ में किस प्रकार पहुँच गई थी।

सानुमती—मेरे ही समान इसके मन में भी यह बात जानने की इच्छा है।

राजा—सुनो जब मैं अपने नगर की ओर चलने लगा तो प्रिया ने आँखों में आँसू भर कर कहा था—आर्यपुत्र! कितने दिनों में सन्देश भेजेंगे।

विदूषक—तब फिर।

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

> एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
> नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।
> तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
> नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। (रमणीय खल्ववधिर्विधिना विसंवादित।)

विदूषकः—अथ कहं धीवरकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदरब्भन्तरे आसि। (अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्।)

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषकः—जुज्जइ। (युज्यते।)

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए सन्देहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि कहं विअ एदं। (अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत्)

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम्।

विदूषकः—[आत्मगतम्] गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआणम्। (गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्।)

---

राजा—तब फिर इसी अँगूठी को उसकी अंगुली में पहनाते हुए मैंने कहा था—हे प्रिये! इसी अँगूठी पर अंकित मेरे नाम का एक एक अक्षर तुम प्रतिदिन गिनती रहना, जब सब अक्षर समाप्त हो जायँगे तब मेरे अन्तःपुर में प्रवेश के लिए ले जाने वाला कोई व्यक्ति तुम्हारे समीप आ जायगा ॥१२॥

और अपने उस वादे को क्रूर हृदय वाले मैंने तो अज्ञान के कारण पूरा नहीं किया।

सानुमती—अवधि की यह बात तो बहुत अच्छी थी किन्तु दैव ने सब चौपट कर दिया।

विदूषक—अच्छा तो मछुए द्वारा काटी गई रोहू मछली के पेट के भीतर यह अँगूठी कैसे पहुँच गई।

राजा—शचीतीर्थ को जब तेरी सखी प्रणाम कर रही थी तब उसके हाथ से यह गंगा की धारा में गिर पड़ी थी।

विदूषक—अच्छा।

सानुमती—इसीलिए पराई स्त्री के साथ सम्पर्क की आशंका करनेवाले इस राजर्षि का तपस्विनी शकुन्तला के साथ विवाह करने के सम्बन्ध में सन्देह हो गया था। नहीं तो ऐसा उत्कृष्ट प्रेम किसी पहचान की क्यों अपेक्षा रखता। यह भला कैसे सम्भव था।

राजा—मैं इस अँगूठी को ही उलाहना देता हूँ।

विदूषक—[अपने आप] अब इसने पागलों का मार्ग पकड़ लिया है।

राजा—

कथ नु त बन्धुरकोमलाङ्गुलि कर विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतन नाम गुण न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

विदूषक—[आत्मगतम्] अह क्खु बभुक्खाए खादिदव्वत्ति। (अह खलु बुभुक्षया खादितव्य इति।)

राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामय जन पुनर्दर्शनेन।

[प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता]

चतुरिका—इअ चित्तगदा भट्टिणी। (इय चित्रगता भट्टिनी।)

[इति चित्रफलक दर्शयति।]

विदूषक—साहु वअस्स। महुरावत्थाणदसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु। (साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेश। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।)

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति। (अहो एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।)

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।

तथापि तस्या लावण्य रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

सानुमती—सरिस एद पच्छादावगुरुणो सिणहस्स अणवलेवस्स अ। (सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरो स्नेहस्यानवलेपस्य च।)

---

राजा—हे अँगूठी! सुन्दर और सुकुमार अँगुलियों से युक्त उस हाथ को छोडकर तू भला जल के भीतर कैसे गिर पडी? अथवा तुम अचेतन होकर गुण की पहचान कर ही क्या सकती थी। मैंने ही (मनुष्य होकर) अपनी प्रिया का क्या तिरस्कार किया ॥१३॥

विदूषक—[अपने आप] मुझे तो भूख खाए जा रही है।

राजा—हे प्रिये! तुम्हें बिना किसी कारण के त्याग देने के कारण उत्पन्न पश्चात्ताप की अग्नि से मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है अत उस फिर से दर्शन देने की कृपा की जाय।

[पर्दा हटाकर हाथ में चित्रपट लिए हुए प्रविष्ट होकर]

चतुरिका—यह चित्र में लिखित देवी हैं। [चित्र पट दिखलाती है।]

विदूषक—धन्य हो मित्र! इसमें मनोभावों की झलक तो इसके सुन्दर अंगों की स्थिति से देखने योग्य बन गई है। नीची ऊँची जगहों में तो मेरी दृष्टि लडखडा जाती है।

सानुमती—वाह! राजर्षि की चित्र-लेखन में कैसी निपुणता है। मैं तो ऐसा समझ रही हूँ जैसे हमारी सखी शकुन्तला हमारे सामने ही खडी है।

राजा—चित्र में जो-जो वस्तुएँ ठीक नहीं होतीं उन्हें ठीक से बनाया जाता है। फिर भी उसकी सुन्दरता तो इन रेखाओं में बहुत थोडी ही खींची जा सकी है ॥१४॥

सानुमती—राजा की यह बात उनके पश्चात्ताप से बढे हुए प्रेम तथा विनम्रता के योग्य ही है।

विदूषकः—भो दाणि तिण्णिओ तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला। (भोः इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमात्र तत्रभवती शकुन्तला।)

सानुमती—अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रुवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। (अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।)

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि।

विदूषकः—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णसेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे ईसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओ त्ति। (तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।)

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

> स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
> अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥१५॥

चतुरिके अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ। वर्तिका तावदानय।

चतुरिका—अज्ज माढव्व अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि। (आर्य माढव्य अवलम्बस्व चित्रफलकम् यावदागच्छामि।)

---

विदूषक—अच्छा! इस चित्र मे तीन देवियाँ दिखाई पड रही हैं और सब की सब देखने योग्य हैं। इनमे शकुन्तला देवी कौन है?

सानुमती—यह निरर्थक नेत्रों वाला व्यक्ति वास्तव मे सुन्दरता के विषय में अनभिज्ञ है।

राजा—अच्छा, तुम किसे समझते हो।

विदूषक—मैं ऐसा अनुमान करता हूँ सीचने के कारण गीले नए नए पत्तों वाले आम के वृक्ष के पास जो थकी-सी [illegible]
ढीले केशपाश से फूल नीचे गिरे जा [illegible]
दोनों कन्धे नीचे की ओर झुक गए [illegible]
पडती हैं।

राजा—तुम बडे चतुर हो। इस चित्र मे मेरे प्रेम के चिह्न भी बने हुए हैं।

चित्र के एक छोर पर काला-काला पसीजी हुई मेरी अगुली का चिह्न दिखाई पड रहा है। और मेरी आंखों से जो आँसू टपका है, उससे शकुन्तला के कपोल का रग कुछ कम हो गया है॥१५॥

अरी चतुरिका! हमारे मनोविनोद का साधन यह चित्र अभी अधूरा ही बना हुआ है, जा जरा तूलिका तो ले आ।

चतुरिका—आर्य माढव्य! आप तनिक इस चित्रपट को सम्हाल लें, मैं अभी आती हूँ।

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। [इति यथोक्त करोति।]

[निष्क्रान्ता चेटी।]

राजा—[नि श्वस्य] अह हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमा बहुमन्यमान.।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जात सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

विदूषक.—[आत्मगतम्] एसो अत्तभव णदि अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआ सकन्तो। [प्रकाशम्] भो अवर वि एत्थ लिहिदव्व। (एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सक्रान्त। भो अपर किमत्र लिखितव्यम्।)

सानुमती—जो जो पदेशो सहीए मे अहिरुवो त त आलिहिदुकामो भवे। (यो य प्रदेश सख्या मेऽभिरुपस्त तमालिखितुकामो भवेत्।)

राजा—श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावना.।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध.
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमाना मृगीम् ॥१७॥

विदूषक—[आत्मगतम्] जह अह देक्खामि पूरिदव्व णेण चित्तफलअ लम्बकुच्चाण तावसाण कदम्बेहिं। (यथाऽह पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलक लम्बकूर्चाना तापसाना कदम्बैः।)

---

राजा—अरे! मैं ही इसे लिए रहूँगा। [ऐसा कह राजा चित्र लिए रहता है।]

[दासी चली जाती है]

राजा—[उसाँस खींच कर] पहले साक्षात् आई हुई प्रिया का परित्याग कर और अब चित्र मे लिखित उसके स्वरूप का मै जो यह आदर कर रहा हूँ, वह उसी तरह से है जैसे जल से भरी हुई नदी को मार्ग मे पार कर कोई मृगतृष्णा की ओर लालायित हो ॥१६॥

विदूषक—[अपने आप] यह राजा तो शकुन्तला रूपी नदी को पारकर चित्र रूपी मृगतृष्णा मे पड़ा है। [प्रकट रूप मे] बताइए, अब इस चित्र मे और क्या-क्या लिखना चाहते हैं।

सानुमती—मेरी सखी को जो-जो स्थल प्रिय थे, शायद उन्हीं-उन्हीं को यह अंकित करना चाहते हैं।

राजा—सुनो। जिसकी रेती मे हस के जोड़े बैठे हुए हो—ऐसी मालिनी नदी अंकित करनी है। उसके दोनो ओर पार्वती के पिता हिमालय की वह छोटी छोटी पवित्र उपत्यकाएँ अंकित करनी हैं जिनमे हरिण बैठे हुए हो। ऐसा एक वृक्ष भी अंकित करना चाहता हूँ, जिस पर ऋषियों के वल्कल वस्त्र टँगे हुए हो और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बाईं आँख को अपने प्रिय काले हरिण की सींग से रगड़ रगड़ कर खुजला रही हो ॥१७॥

विदूषक—[अपने आप] मैं तो समझता हूँ, यह इस चित्र को लम्बी-लम्बी दाढ़ियो वाले तपस्वियो के समूहों से भर देंगे।

राजा—वयस्य अन्यच्च। शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्रविस्मृतमस्माभिः।

विदूषकः—किं विअ। (किमिव।)

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अ जं सरिसं भविस्सदि। (वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत्सदृशं भविष्यति।)

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥१८॥

विदूषकः—भो किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ट्ठिआ। [सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा] आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलङ्घेदि महुअरो। (भोः किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिना-ग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आः एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्र-भवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः।)

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषकः—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। (भवानेवा-विनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति।)

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे। किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि।

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति॥१९॥

---

राजा—मित्र! कुछ अन्य बातें भी हैं। शकुन्तला के प्यार आभूषणों का भी अभी हमें अंकित करना है।

विदूषक—कौन-से आभूषण हैं वे?

सानुमती—जो शकुन्तला के वन-वासी जीवन और सुकुमारता के अनुरूप होंगे।

राजा—हे मित्र! अभी मैं उसके कानों में पहने हुए सिरस के पुष्प को नहीं बना गया हूँ, जिसकी डण्ठल को उसने कानों पर रखा था और जिसके पराग उसके कपोलों पर फैले हुए थे। और अभी उसके स्तनों के बीच में शरद के चन्द्रमा की किरण के समान कोमल कमल-नाल की माला भी मैंने नहीं बनाई है॥१८॥

विदूषक—और, यह देवी लाल कमल की पखुड़ी के समान सुन्दर अपने हाथ के अगले भाग से अपने मुँह को ढककर बहुत भयभीत के समान क्यों खड़ी हुई है। [सावधानी से कुछ ध्यान देखकर] अरे! यह दासी का छोकरा, पुष्पों के रस का चोर भौंरा देवी के मुँह की ओर दौड़ा आ रहा है।

राजा—ऐसा है तो इस ढीठ को रोक दिया जाय।

विदूषक—अविनयी लोगों को दण्ड देनेवाले आप ही इसे रोकने में समर्थ हो सकेंगे।

राजा—ठीक है। अरे ओ पुष्प लताओं के प्रेमी अतिथि! तुम क्यों इसके मुख पर मँडराने का कष्ट कर रहे हो। तेरे प्रेम की प्यासी भ्रमरी फूलों के ऊपर बैठकर भी तुम्हारी ओर दृष्टि लगाए हुए है। वह तुम्हारे बिना मधुपान भी नहीं कर रही है॥१९॥

सानुमती—अज्ज वि अभिजाद क्खु एसो वारिदो। (अद्याप्यभिजात खल्वेष वारित ।)
विदूषक —पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। (प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जाति ।)
राजा—एव भो न मे शासने तिष्ठति। श्रूयतां तर्हि सप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीय पीत मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधर स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वा कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषक —एव्व तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि। [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उम्मत्तो। अह पि एदस्स सगेण ईदिसवण्णो विअ सवुत्तो। [प्रकाशम्] भो चित्त क्खु एद। (एव तीक्ष्णदण्डस्य कि न भेष्यति। एष तावदुन्मत्त । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव सवृत्त । भो चित्र खल्वेतत्।)

राजा—कथ चित्रम्।

सानुमती—अह पि दाणि अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो। (अहम् पीदानीमवगतार्था। किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येष ।)

राजा—वयस्य किमिदमनुष्ठित पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवत साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

इति बाष्प विहरति।]

---

सानुमती—इस अवस्था में भी यह किस कोमलता से इस भौंरे को निवारित कर रहे हैं।

विदूषक—अरे! ऐसे नीच प्रकृति के लोग रोकने पर भी प्रतिकूल आचरण करते है।

राजा—अरे! इस तरह प्रतिकूल आचरण करता हुआ तू यदि मेरी आज्ञा म नही रहता तो अब सुन ले–

हे भ्रमर! बिना मसल हुए नवीन वृक्ष के पल्लव के समान मनोहर रति विलास के समय मेरे द्वारा धीरे धीरे पीये गये प्रिया शकुन्तला के बिम्बाफल के समान लाल अधरो का यदि तुम स्पश करोगे तो तुम्हें कमल के उदररूपी कारागार मे बन्दी बना दूगा ॥२०॥

विदूषक—तब फिर ऐसे कठोर दण्ड देनेवाले से वह क्यो न डरेगा? [हँसकर अपने आप] यह तो सचमुच पागल हो गए है। और मैं भी मालूम पडता है इनके ससग से इसी तरह का हो गया हूँ। [प्रकट रूप मे] अरे भाई! यह तो चित्र है।

राजा—किस प्रकार का चित्र?

सानुमती—स्वय म भी अभी समझ सकी हूँ कि यह चित्र है। तब फिर उसके सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसने लिखने के अनुसार शकुन्तला का ध्यान किया है।

राजा—मित्र! तुमने यह कौन सा दुष्कम कर दिया? मैं तो अत्यन्त मग्न होकर अपने सम्मुख खडी शकुन्तला के दशन का आनन्द प्राप्त कर रहा था किन्तु तुमने इस प्रकार स्मरण दिलाकर मेरी प्रिया को निरा चित्र ही बना दिया ॥२१॥

[ऐसा कहकर आँसू बहाता है।]

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। (पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।)

राजा—वयस्य। कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि॥२२॥

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए। (सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिदम्हि। (जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि।)

राजा—किं च।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। (स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।)

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। (दिष्ट्या त्वं मुक्ता।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। (यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

---

सानुमती—पहले की और बाद की अवस्थाओं का नितान्त विरोधी यह वियोग-मार्ग अनन्य ढंग का निराला ही होता है?

राजा—मित्र! मैं किस प्रकार इस अनवरत दुःख को सहन करता चलूँ। बराबर जागते रहने के कारण उसके साथ स्वप्न में भी मेरा मिलाप रुक गया है। और सदैव बहते रहनेवाले ये आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते॥२२॥

सानुमती—सब प्रकार से शकुन्तला के परित्याग-जनित दुःख को तुमने दूर कर दिया।

चतुरिका—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो, जय हो। तूलिका और रंग का पात्र लेकर मैं इसी ओर चली आ रही थी कि—

राजा—तब क्या हुआ?

चतुरिका—उसे मार्ग में ही मेरे हाथों से तरलिका के साथ महारानी वसुमती ने यह कह कर जबर्दस्ती छीन लिया कि 'इसे मैं ही आर्यपुत्र के पास पहुँचा दूँगी।'

विदूषक—बड़े भाग्य से तू छोड़ दी गई?

चतुरिका—जब वृक्ष की डाली में फँसे हुए महारानी के दुपट्टे को तरलिका छुड़ाने लगी तब तक मैं वहाँ से भाग खड़ी हुई।

राजा—मित्र! जान पड़ता है कि बड़ा मान करके महारानी मुँह फुलाए हुए इसी ओर आ रही हैं, सो तुम इस चित्र को तो छिपा ही लो।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि। [चित्रफलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुच्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि। (आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।) [इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः।]

सानुमती—अण्णसंकन्तहिअओवि पढमसंभावणं अवेक्खदि। अदिसिढिलसोहदो दाणि एसो। (अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते। अतिशिथिलसौहार्द इदानीमेषः)

[प्रविश्य पत्रहस्ता]

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो। (जयतु जयतु देवः।)

राजा—वेत्रवति न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

प्रतीहारी—अह इं। पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता। (अथ किम्। पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।)

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव अमच्चो विण्णवेदी अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं त देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति। (देव अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय। [प्रतीहार्युपनयति।]

राजा—[अनुवाच्य] कथम्। समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

---

विदूषक—ऐसा क्यों नहीं कहते कि मुझको छिपा लो। [चित्रपट लेकर उठते हुए] अच्छा, यदि आप अन्तःपुर रूपी कालकूट से छूटें तो मुझे मेघप्रतिच्छन्द नामक भवन में पुकार लेंगे। [यह कह कर तेजी के साथ जाता है।]

सानुमती—अन्य स्त्री में आसक्त होने पर भी यह प्रथम रानी की इज्जत करता है। किन्तु सत्य तो यह है कि अब इस रानी के लिए इसके हृदय में प्रेम अत्यन्त शिथिल हो गया है।

प्रतीहारी—*महाराज की जय हो, जय हो।*

[हाथ में पत्र लिए हुए प्रवेश करके]

राजा—वेत्रवती! तूने आते समय मार्ग में महारानी को तो नहीं देखा।

प्रतीहारी—हाँ, मुझे हाथ में पत्र लेकर इधर आती देखकर वह वापस लौट गई।

राजा—रानी कार्यकुशल हैं, वे मेरे राजकाज में विघ्न नहीं पहुँचाना चाहती।

प्रतीहारी—महाराज! प्रधान अमात्य ने प्रार्थना की है कि आज के दिन अनेक विभागों के लेखे-जोखे का परीक्षण करते रहने के कारण एक ही नागरिक-कार्य हुआ है। वह इसी पत्र में लिखा हुआ है, जिसे महाराज स्वयं देखने का कष्ट करें।

राजा—इधर लाओ, पत्र दिखलाओ। [प्रतीहारी पत्र देती है।]

राजा—[पत्र पढ़कर] क्या, समुद्र में व्यापार करनेवाले धनमित्र नामक प्रमुख वणिक की नाव डूब गई और वह मर गया। वह बेचारा सन्तानहीन है। अतः उसका सब संचित धन राजकोश में आना चाहिए—ऐसा प्रधान अमात्य ने लिखा है। अहो! सचमुच सन्तान का न होना कितना कष्टदायी है। बहुत धन होने के कारण अवश्य ही इस सेठ जी की अनेक स्त्रियाँ होंगी। पता लगाएँ, कदाचित् उसकी स्त्रियों में से किसी को गर्भ हो।

प्रतीहारी—देव दाणि एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि। (देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते।)

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवममात्यं ब्रूहि।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति प्रस्थिता।]

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इअम्हि। (इयमस्मि।)

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥२३॥

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं। [निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम्। (एवं नाम घोषयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।)

राजा—[दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य] एवं भो सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी—पडिहदं अमङ्गलम्। (प्रतिहतममङ्गलम्।)

राजा—धिङ् मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

सानुमती—असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अप्पा। (असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।)

---

प्रतीहारी—महाराज! ऐसा सुना जा रहा है कि अभी कुछ दिन हुए अयोध्या वाले सेठ की जो कन्या इनके साथ ब्याही थी, वह पुंसवन संस्कार से निवृत्त हुई है।

राजा—तब तो गर्भ में अवस्थित बालक अपने पिता की सम्पत्ति का उचित अधिकारी है। जाकर मुख्य अमात्य से ऐसा ही कह दे।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा। [यह कहकर जाती है।]

राजा—तनिक रुक तो जा।

प्रतीहारी—आई महाराज।

राजा—उसे सन्तान है या नहीं है—इससे कोई मतलब नहीं। जाकर यह घोषणा करा दो कि पाप करने वालों को छोड़कर हमारे राज्य में जितने भी व्यक्ति हैं उनके जो जो कुटुम्बी न रहे, उनका वह कुटुम्बी मैं (दुष्यन्त) समझा जाऊँ॥२३॥

प्रतीहारी—ऐसी घोषणा कर दी जायगी। [जाकर तथा फिर वापस लौटकर] समय पर हुई वर्षा के समान महाराज की इस घोषणा का प्रजा ने अभिनन्दन किया है।

राजा—[लंबी गरम साँसें खींचकर] अहा! इसी प्रकार सन्तान के अभाव में आश्रयविहीन कुलों की सारी धन-सम्पदा, मुखिया के नाश हो जाने पर दूसरों के हाथों में चली जाती है। मेरे न रहने पर पुरुवंश की राज्य-लक्ष्मी का भी यही हाल होगा।

प्रतीहारी—अमंगल का नाश हो।

राजा—स्वयं प्राप्त मंगल का निरादर करनेवाले मुझको धिक्कार है।

सानुमती—निश्चय ही हमारी प्रिय सखी शकुन्तला को ही अपने हृदय में स्मरण करके यह अपनी निन्दा कर रहे हैं।

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

सानुमती—अपरिच्छिण्णा दाणि दे सददी भविस्सदि। (अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति।)

चतुरिका—[जनान्तिकम्] अए इमिणा सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा। ण अस्सासिदु मेहप्पडिच्छन्दादो अज्ज माढव्व गेण्हिअ आअच्छेहि। (अपि अनेन सार्थवाह वृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यमाढव्य गृहीत्वागच्छ।)

प्रतीहारी—सुट्ठु भणासि। (सुष्ठु भणसि।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः।

अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥

[इति मोहमुपगतः]

चतुरिका—[ससंभ्रममवलोक्य] समस्ससदु समस्ससदु भट्टा। (समाश्वसितु समाश्वसितु भर्ता।)

---

राजा—समय पर बोई गई बीज वाली तथा बहुत अच्छी फसल (स्त्री पक्ष मे सन्तान रूपी फल) के लिए अनुमान की गई धरती के समान अपने कुल की प्रतिष्ठा रूपी धर्मपत्नी को, अपने द्वारा गर्भवती होने पर भी मैंने त्याग दिया है ॥२४॥

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारी वंश-परम्परा को अटूट बनाने वाली होगी।

चतुरिका—[अलग से] अरी प्रतीहारी! उस सेठ के उक्त वृत्तान्त से महाराज की पीड़ा दुगुनी हो गई है। अत इन्हें ढाढस बंधाने के लिए मेघप्रतिच्छन्द नामक भवन से माधव्य महाशय को तुम जाकर लिवा लाओ।

प्रतीहारी—तुम ठीक कहती हो। [यह कह कर जाती है।]

राजा—हाय! दुष्यन्त के पितर लोग सकट मे पड गए होंगे क्योंकि वे विह्वल हो कर यह सोच रहे होंगे कि दुष्यन्त के बाद हमारे लिए वैदिक विधि विधान से श्राद्ध एवं तर्पण कौन करेगा। और इसी चिन्ता के कारण वे मेरे हाथ से तर्पण किए हुए जल के अधिकांश से अपने आँसुओं को धोते होंगे और जो बचा रहता होगा, उतना ही पान करते होंगे ॥२५॥

[यह कहकर राजा मूर्च्छित हो जाता है।]

चतुरिका—[घबराहट में देखती हुई] महाराज! धैर्य धारण करें, धैर्य धारण करें।

सानुमती—हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे वबधाणदोसेण एसो अन्धआरदोस अणुहोदि। अह दाणि एव्व णिव्वुद करेमि। अहवा सुद मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्दजणणीए मुहादो—जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जइ अइरेण धम्मपदिणि भट्टा अहिणन्दिस्सदि ति। ता ण जुत्त एद कालं पडिपालिदु। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहि समस्सासेमि। (हा धिक्। हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात्—यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यतीति। तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।) [इत्युद्भ्रान्तेन निष्क्रान्ता।]

[नेपथ्ये]

अब्बम्हण्णम्। (अब्रह्मण्यम्।)

राजा—[प्रत्यागत्य कर्णं दत्त्वा] अये माधव्यस्येवार्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—[ससम्भ्रमम्] परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम्। (परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।)

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः।

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो। (अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः।)

---

सानुमती—हाय, धिक्कार है, हाय, धिक्कार है। जिस प्रकार दीपक के रहते हुए भी मध्य में पर्दा पड़ जाने से अँधेरा हो जाता है, उसी प्रकार इस राजा को भी (पुत्ररूप दीपक शकुन्तला से बालक के होते हुए भी दूरस्थ होने के कारण) मोह हो गया है। मैं तो इसे अभी सुखी कर देती किन्तु देवी अदिति ने शकुन्तला को समझाते हुए यह कहा था कि—'यज्ञभाग के अभिलाषी देवता लोग ही वैसा करेंगे, जिससे शीघ्र ही अपनी धर्मपत्नी को उसका पति आनन्द देगा'—इसे मैंने सुना है। सो अब विलम्ब नहीं करना चाहिए। चलकर इस वृत्तान्त से अपनी प्रिय सखी को धीरज बँधाऊँ। [ऐसा कहकर झटके से उड़ जाती है।]

[नेपथ्य में]

अरे दुहाई है, ब्राह्मण को मार डाला।

राजा—[सजग होकर, कान लगाकर] अरे! यह रुदन तो माढव्य के समान मालूम पड़ रहा है। अरे! यहाँ कोई है।

[ प्रवेश करके ]

प्रतीहारी—[घबराहट के साथ] महाराज खतरे में पड़े हुए अपने मित्र की रक्षा कीजिए।

राजा—यह माढव्य को किसने सताया है।

प्रतीहारी—किसी गुप्त शरीरधारी भूत या पिशाच ने उन्हें पकड़कर मेघप्रतिच्छन्द नामक भवन की मुँडेरा पर ले जाकर रख दिया है।

राजा—[उत्थाय] मा तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः।

अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

[नेपथ्ये]

भो वअस्स अविहा अविहा। (भो वयस्य अविहा अविहा।)

राजा—[गतिभेदेन परिक्रामन्] सखे न भेतव्यं न भेतव्यम्।

[पुनस्तदेव पठित्वा] कहं ण भाइस्सं। एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि। (कथं न भेष्यामि। एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति।)

राजा—[सदृष्टिक्षेपम्] धनुस्तावत्।

[प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता]

यवनी—भट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। (भर्तः एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।)

[राजा सशरं धनुरादत्ते।]

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥२७॥

---

राजा—[उठकर] यह तो संभव नहीं है कि मेरे भी घर भूत पिशाचों का अड्डा जमने लगे। अथवा—प्रतिदिन अपने द्वारा ही कितने कुकर्म होते हैं, यह जानने में जब असमर्थ हूँ तब फिर प्रजावर्ग में कौन किस मार्ग पर चल रहा है, यह पूरी तौर पर जानने की शक्ति कैसे मुझमें हो सकती है ॥२६॥

नेपथ्य में— अरे मित्र! हाय, बचाओ मुझे, बचाओ मुझे।

राजा—[शीघ्रता से घूमता हुआ] मित्र! डरो मत, डरना नहीं चाहिए।

[नेपथ्य में, फिर वही दुहराते हुए] कैसे न डरूँ। यह कोई मेरी गरदन को पीछे की ओर करके ईख की तरह मेरे तीन टुकड़े बना रहा है।

राजा—[चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर] अरे! कोई मेरा धनुष तो लाओ।

[हाथ में धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

यवनी—महाराज! यह आपका धनुष तथा दस्ताना है।

[राजा बाण समेत धनुष लेता है।]

[नेपथ्य में] तेरे कण्ठ के गरमागरम रक्त को पीने की इच्छा से मैं अब तेरा उसी प्रकार से वध करता हूँ, जैसे तड़पते हुए पशु को सिंह मारता है। पीड़ितों के भय को दूर करनेवाला धनुषधारी दुष्यन्त अब तेरी रक्षा करे ॥२७॥

राजा—[सरोषम्] कथं मामेवोद्दिशति। तिष्ठ कुणपाशन। त्वमिदानीं न भविष्यसि। [शार्ङ्गमारोप्य] वेत्रवति! सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।)

[सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति।]

राजा—[समन्ताद्विलोक्य] शून्यं खल्विदम्।

[नेपथ्ये]

अविहा अविहा। अहं अत्त भवन्तं पेक्खामि। तुमं मं ण पेक्खसि। विडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो। (अविहा अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि। बिडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।)

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित। मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं संदधे।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥२८॥

[इत्यस्त्रं सन्धत्ते]

[ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः।]

मातलिः—

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम्।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः॥२९॥

---

राजा—[क्रोध के साथ] क्या तू मुझे ही सम्बोधित करता है। अरे मुर्दा खानेवाला राक्षस! तनिक ठहर तो। अब तू जीवित न बचेगा [धनुष चढ़ाकर] वेत्रवती! सीढ़ी का मार्ग बतला।

प्रतीहारी—महाराज! इधर आएँ, इधर।

[सब लोग शीघ्रता से पहुँचते हैं।]

राजा—[चारों ओर देखकर] अरे! यह तो सुनसान है।

[नेपथ्य में] हाय! हाय! मैं तो आप को देख रहा हूँ, किन्तु आप मुझे नहीं देख रहे हैं। बिल्ली से पकड़े गए चूहे के समान मैं तो अब अपने जीवन से निराश हो गया हूँ।

राजा—अरे छल विद्या के गर्व करनेवाले! अब मेरा शस्त्र ही तुम्हें देखेगा। लो अब उसी बाण को मैं चला रहा हूँ जो मारने योग्य तुम्हारा वध करेगा और रक्षा करने योग्य ब्राह्मण की रक्षा करेगा। क्योंकि हंस दूध ले लेता है और उसमें मिले हुए जल को छोड़ देता है॥२८॥

[राजा इस प्रकार अस्त्र चढ़ाते हैं]

[तदनन्तर विदूषक को छोड़कर मातलि प्रवेश करता है।]

मातलि—देवराज इन्द्र ने राक्षसों को तुम्हारे बाणों का लक्ष्य बनाया है, उन्हीं पर यह धनुष चढ़ाओ। क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रों पर प्रेम से भरी हुई दृष्टि डालते हैं, बाण नहीं छोड़ा करते॥२९॥

राजा—[ससंभ्रममस्त्रमुपसंहरन्] अये! मातलिः। स्वागतं महेन्द्रसारथेः।

[प्रविश्य]

विदूषकः—अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि। (अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते।)

मातलिः—[सस्मितम्] आयुष्मन् श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः।

राजा—अस्ति। श्रुतपूर्वं मया नारदात्।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥३०॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया। अथ माढव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्।

---

राजा—[अचानक बाण को धनुष से उतारते हुए] अरे! तुम मातलि हो, इन्द्र के सारथी। तुम्हारा स्वागत है। [प्रवेश कर]

विदूषक—मुझे जिसने यज्ञ के बलि-पशु की तरह मारा है, उसी का यह स्वागत-सत्कार कर रहे हैं।

मातलि—[मुस्कराते हुए] आयुष्मन्! सुनिए, जिस प्रयोजन के लिए मुझे देवराज इन्द्र ने आपके पास भेजा है।

राजा—मैं सावधानी से सुन रहा हूँ।

मातलि—कालनेमि के वंश में दुर्जय नामक दैत्यदल है।

राजा—हाँ है, मैंने नारदजी से पहिले ही उनके बारे में सुना था।

मातलि—वह दैत्य-समूह निश्चय ही तुम्हारे मित्र इन्द्र से अजेय सिद्ध हो रहा है। अब यही समझा जा रहा है कि तुम्हीं रणभूमि में उन सबका संहार कर सकोगे। क्योंकि रात्रि के जिस अन्धकार को सूर्य नहीं नष्ट कर सकता, उसे चन्द्रमा दूर करता है॥३०॥

सो आप अब यहीं धनुष बाण धारण किए हुए देवराज इन्द्र के इस रथ पर चढ़कर विजय के लिए प्रस्थान करें।

राजा—देवराज इन्द्र के इस सम्मान से मैं अनुगृहीत हो गया। किन्तु आपने माधव्य के साथ ऐसा कठोर व्यवहार क्यों किया था।

मातलि—तदपि कथ्यते। किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः।

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः॥३१॥

राजा—[जनान्तिकम्] वयस्य अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्य पिशुनं ब्रूहि—

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः॥३२॥

इति

विदूषक—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्तः।]

मातलि—आयुष्मान् रथमारोहतु।

[राजा रथाधिरोहणं नाटयति।]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति षष्ठोऽङ्कः।

---

मातलि—इसे भी आप से कह रहा हूँ। मैंने देखा कि आयुष्मान् किसी मानसिक सन्ताप के कारण बड़े विकल हैं तो मैंने आयुष्मान् को क्रुद्ध करने के लिए ऐसा किया था। क्योंकि—अग्नि ईंधन के हिलाने-डुलाने से जलती है, सर्प छेड़ने पर अपना फन उठाता है, प्रायः मनुष्य भी इसी तरह क्षोभ या उत्तेजना में आकर अपने वास्तविक प्रभाव को प्रकट करता है॥३१॥

राजा—[अलग विदूषक से] मित्र! देवराज इन्द्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सो इस सम्बन्ध की सूचना देते हुए प्रधान अमात्य पिशुन को मेरी ओर से जाकर कह दो कि जब तक मेरा बाणयुक्त यह धनुष उधर दूसरे कार्यों में लगा हुआ है तब तक वह केवल अपनी बुद्धि द्वारा प्रजा का पालन करें॥३२॥

विदूषक—आपकी जैसी आज्ञा। [जाता है।]

मातलि—अब आयुष्मान् रथ पर चढ़ें।

[राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करता है।]

[सबका प्रस्थान]

छठाँ अङ्क समाप्त॥६॥

## सप्तमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च।]

राजा—मातले! अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये।

मातलिः—[सस्मितम्] आयुष्मन्! उभयमप्यपरितोषं समर्थये।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान्।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान्॥१॥

राजा—मातले मा मैवम्। स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा॥२॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति। पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः॥३॥

---

## सातवाँ अंक

[तदनन्तर आकाशमार्ग से रथ पर बैठे हुए राजा तथा मातलि का प्रवेश।]

राजा—मातलि! इन्द्र की आज्ञा का पालन करके भी, उनके द्वारा जो मेरा विशेष

तुच्छ मानते हैं और उधर इन्द्र भी आपकी वीरता से आश्चर्यचकित हैं और अपने द्वारा किए गए आपके विशेष सत्कार को कोई महत्व नहीं देते हैं॥१॥

राजा—मातलि! ऐसी बात तो नहीं है। वहाँ से चलते समय मेरा जो विदाई का सत्कार हुआ, वह मेरे मन की कल्पना से भी परे है। देवताओं के सामने अपने आधे आसन पर बिठाकर मुझको, समीपवर्ती और हृदय में स्वयं पहनने के लिए अभिलाषा रखनेवाले जयन्त को देखकर देवराज ने मुस्कराते हुए अपने वक्षस्थल पर सुशोभित उस मन्दार की माला को मुझे पहना दिया, जिस पर हरिचन्दन लगा हुआ था॥२॥

मातलि—आयुष्मन्! आप किस प्रकार देवराज इन्द्र द्वारा किए गए सत्कार के अयोग्य हैं? देखिए, इस बार आपके चिकने-चिकने जोड़ वाले बाणों से तथा इसके पूर्व नरसिंह भगवान के चिकने-चिकने पोरवाले नाखूनों से—सुखपरायण देवराज इन्द्र का स्वर्गलोक दानव-रूपी कण्टकों से विहीन बनाया गया है॥३॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्॥४॥

मातलिः—सदृशमेवैतत्। [स्तोकमन्तरमतीत्य] इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥५॥

राजा—मातले असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे।

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्॥६॥

राजा—मातले अत खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। [रथाङ्गमवलोक्य] मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

---

राजा—मैं तो इस प्रसग मे भी देवराज इन्द्र की ही महिमा की सराहना करूँगा, क्योंकि बड़े-बड़े कार्यों मे सेवकों को जो सफलता मिलती है तो उसमें उनके स्वामी के ही सत्कार विशेष की महिमा समझनी चाहिए अर्थात् स्वामी ने जो उन्हें इस विशिष्ट कार्य के लिए सम्मानित करने का पात्र समझा उसी का यह परिणाम है। यदि सूर्य अपने रथ के आगे अरुण को न बैठाते तो वह अन्धकार का विनाशक कैसे हो सकता था॥४॥

मातलि—यह उत्तर आपके सर्वथा योग्य है। [कुछ दूर चलकर] इधर स्वर्ग भर में व्याप्त अपनी कीर्ति का प्रभाव तनिक देखिए। यह देवता लोग आपके पराक्रम का गीत बना-बनाकर देवागनाओं की कल्पवृक्ष से प्राप्त साड़ियों पर उनके अगराग से बचे हुए रगों से लिख रहे हैं॥५॥

राजा—हे मातलि! असुरों के साथ युद्ध करने के लिए अतीव उत्कण्ठित होने के कारण मैंने स्वर्ग पर चढ़ते समय पहले दिन स्वर्ग का मार्ग भलीभाँति नहीं देखा था, बताइए पवन के किस मार्ग मे हम लोग चल रहे हैं।

मातलि—जो मार्ग आकाश मे अवस्थित तीन धाराओं वाली आकाश गंगा को धारण करता है, और वायु रूप से विभक्त होकर नक्षत्रों का सचरण कराता है, उस परिवह नामक पवन का यह मार्ग है, जिसे वामन भगवान ने अपने दूसरे पग से नापकर निष्पाप किया था॥६॥

राजा—मातलि! यही कारण है कि बाह्य इन्द्रियों समेत मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो उठी है। [रथ के चक्कों को देखकर] हम दोनों मेघों के मार्ग में उतर आए हैं।

मातलि—कथमवगम्यते।

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥७॥

मातलि—क्षणादायुष्मान्स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—[अधोऽवलोक्य] मातले! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

मातलि—साधु दृष्टम्। [सबहुमानमवलोक्य] अहो उदाररमणीया पृथिवी।

राजा—मातले! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिष्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते।

---

मातलि—आपने यह कैसे जान लिया?

राजा—[illegible] चले [illegible] के [illegible] से चल रहा है ॥७॥

मातलि—अभी पल भर मे आयुष्मान अपने राज्य की भूमि पर उतर जायेंगे।

राजा—[नीचे देखकर] मातलि! रथ के शीघ्रता से नीचे उतरने के कारण मनुष्य लोक का दृश्य अतीव विचित्र दिखाई पड रहा है, क्योंकि देखो, पृथ्वी निकलते हुए पर्वतों के शिखरों मे नीचे की ओर उतरती हुई सी मालूम पडती है। पत्तों के भीतर छिपी हुई वृक्षों की शाखाएँ तथा तने अब दिखाई देने लगे हैं। दूर से पतली दिखाई पडनेवाली नदियाँ, जिनके जल पहले नहीं दिखाई पड रहे थे, अब चौडी दिखाई पडने लगी हैं और यह पृथ्वी इस प्रकार हमारी ओर उठती हुई चली आ रही है मानो कोई नीचे से इसे ऊपर की ओर उछाल रहा हो ॥८॥

मातलि—आप ने ठीक ही देखा। [आदरपूर्वक देखते हुए] अहा, पृथ्वी कितनी सुहावनी दिखाई पड रही है।

राजा—हे मातलि! पूर्व और पश्चिम के समुद्रतटों तक फैला हुआ, सुनहरी धारा बहानेवाला और सायंकाल के मेघों के समान लंबा चौडा यह कौन-सा पर्वत है जो सामने दिखाई पड रहा है?

मातलि—आयुष्मन् ! एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम्। पश्य—

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥९॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

मातलि—प्रथमः कल्पः।

[नाट्येनावतीर्णौ]

राजा—[सविस्मयम्]—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

मातलि—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

राजा—मातले कतरस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः।

मातलिः—[हस्तेन दर्शयन्]—

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥११॥

---

मातलि—आयुष्मन् ! यह हेमकूट नामक पर्वत है, जिसमे किन्नर लोग निवास करते हैं और जहां तपस्या करने से शीघ्र ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। देखिए देवताओं और दानवों के पिता स्वयम्भू मरीचि के पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नी अदिति के साथ यहां तपस्या करते हैं॥९॥

राजा—तब तो यह सुलभ सौभाग्य नहीं छोडना चाहिए। मेरी इच्छा है कि भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करता चलूं तब आगे चलूं।

मातलि—यह तो आपका विचार ठीक ही है। [दोनों नीचे उतरने का नाट्य करते हैं।]

राजा—[आश्चर्य के साथ] अरे ! आपका रथ नीचे कब उतर पडा-यह तो ज्ञात ही नहीं हो सका, क्योंकि पृथ्वीतल का स्पर्श न होने के कारण इसके पहियों का धुरी से तनिक भी आवाज नहीं निकली, धूलि भी उड़ती हुई नहीं दिखाई पडी और न यही दिखाई पडा कि तुमने रास कब खींची॥१०॥

मातलि—देवराज इन्द्र और आयुष्मान के रथ में इतना ही अंतर है।

राजा—हे मातलि ! मरीचिपुत्र महर्षि कश्यप का आश्रम किस ओर है?

मातलि—[हाथ से दिखाते हुए] वह है महर्षि कश्यप का आश्रम, जिसमे वे ऐसी तपस्या में निरत हैं कि उनके आधे शरीर पर दीमकों ने अपनी बांबी बना ली है, छाती पर सर्पों की केंचुलियां छूटी हुई पड़ी हैं, गले में सूखी हुई लतायें उलझी हुई हैं, कन्धों तक लटकी हुई जटाओं में चिड़ियों ने घोंसला बना लिया है और इस प्रकार सूखे हुए वृक्ष के ठूंठ के समान निश्चल होकर वह भगवान सूर्यनारायण पर दृष्टि जमाए हुए हैं॥११॥

राजा—नमोऽस्मै कष्टतपसे।

मातलि—[संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा] महाराज एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

मातलि—[रथं स्थापयित्वा] अवतरत्वायुष्मान्।

राजा—[अवतीर्य] मातले भवान्कथमिदानीम्।

मातलि—संयन्त्रितो मया रथः वयमप्यवतराम। [तथा कृत्वा] इत आयुष्मान् [परिक्रम्य] दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

मातलि—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना [परिक्रम्य आकाशे] अये वृद्धशाकल्य। किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः। किं ब्रवीषि। दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्ठस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

---

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करनेवाले मुनि को नमस्कार है।

मातलि—[लगाम खींचकर रथ को रोकते हुए] महाराज! यह हम लोग महर्षि कश्यप के आश्रम में प्रविष्ट हो गए जिसमें मन्दार के वृक्ष स्वयं देवी अदिति द्वारा पाल-पोसकर बढ़ाए गए हैं।

राजा—यह तो स्वर्ग से भी बढ़कर शान्तिपूर्ण स्थान है। मैं तो अमृत के कुण्ड में स्नान किए हुए के समान हो गया हूँ।

मातलि—[रथ रोककर] आयुष्मन् उतर जायँ।

राजा—[उतरकर] मातलि! अब आप क्या करेंगे?

मातलि—मैंने रथ को भलीभाँति रोक लिया है, मैं भी आपके साथ ही उतर रहा हूँ। [उतरकर] इधर से आएँ आयुष्मन्! [घूमते हुए] आइए इधर, पूज्य ऋषियों के तपोवन की भूमि देखिए।

राजा—मुझे तो यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि यहाँ के तपस्वी लोग उन साधनों के बीच में स्थित होकर तपस्या कर रहे हैं, जिनकी प्राप्ति की कामना दूसरे तपस्वी अपने तप द्वारा किया करते हैं। यहाँ के कल्पवृक्ष युक्त वन में ये तपस्वी लोग केवल वायुपान करके जीवन धारण करते हैं। सुनहरे कमलों के परागों से बादामी रंग के सुवासित जल में पुण्यदायी स्नान करते हैं। रत्नजटित शिलाओं पर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओं के समीप इन्द्रिय निग्रह करते हैं॥१२॥

मे अन्य ऋषिपत्नियों समेत अदिति को कुछ बतला रहे हैं।

राजा—[कर्णं दत्वा] अये प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

मातलिः—[राजानमवलोक्य] अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

राजा—यथा भवान्मन्यते। [इति स्थितः।]

मातलिः—आयुष्मन् साधयाम्यहम्। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा]—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥१३॥

[नेपथ्ये]

मा क्खु चावलं करेहि। कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं। (मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्।)

राजा—[कर्णं दत्वा] अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते। [शब्दानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्] अये को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति॥१४॥

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः।]

बालः—जिम्भ सिङ्घ दन्ताइं दे गणइस्स। (जृम्भस्व सिंह दन्तास्ते गणयिष्ये।)

---

राजा—[कान लगाकर] अरे! यह तो ऐसा प्रसंग है कि इसकी समाप्ति तक प्रतीक्षा ही करनी पड़ेगी।

मातलि—[राजा को देखकर] तब तक आप इस अशोक वृक्ष के नीचे चलकर ठहरें जब तक मैं इन्द्र के पिता महर्षि कश्यप को आपके आगमन की सूचना देने का कोई अवसर ढूंढ निकालूंगा।

राजा—जैसा आप उचित समझें। [यह कहकर बैठ जाता है।]

मातलि—अच्छा तो मैं जा रहा हूँ आयुष्मन्! [जाता है।]

राजा—[शकुन की सूचना देते हुए] हे भुजा! अपने मनोरथ को पूर्ण होने की तो मुझे कोई आशा नहीं दिखाई पड़ रही है, फिर तुम व्यर्थ में क्यों फड़क रही हो। जो आए हुए श्रेयस् को ठुकराता है, उसका दुःख ही बढ़ता है॥१३॥

[नेपथ्य में] चंचलता मत करो। तू फिर अपने स्वभाव पर उतर आया।

राजा—[कान लगाकर] यह स्थान तो धृष्टता करने का नहीं है, फिर यहां किसको निषेध किया जाता है [जिधर से आवाज आई थी उधर देखकर आश्चर्यपूर्वक] अरे! तपस्विनियों के पीछे-पीछे जानेवाला यह अतीव पराक्रमशाली कौन-सा बालक है, जो अपने खेलने के लिए अपनी मां सिंहनी के स्तनों से आधा दूध पिए हुए सिंहिनी के बच्चे को बलपूर्वक घसीटे लिए चला जा रहा है, जिसके अयाल (केश) इस खींचातानी में छितरा गए हैं॥१४॥

[तदनन्तर तपस्विनियों के साथ उपर्युक्त कार्य करता हुआ बालक प्रवेश करता है।]

बालक—अरे सिंह! तू तनिक जंभाई तो ले, मैं तेरे दाँतों को गिनूंगा।

प्रथमा—अविणीद किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि। हन्त वड्ढइ दे सरम्भो। ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि। (अविनीत किं नोऽपत्य निर्विशेषाणि सत्वानि विप्रकरोषि। हन्त। वर्धते तव संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।)

राजा—किं न खलु बाले स्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया—एसा क्खु केसरिणी तुमं लङ्घेदि जइ से पुत्तअं ण मुञ्चेसि। (एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।)

बाल—[सस्मितम्] अम्हहे वलिअं क्खु भीदो म्हि। (अहो बलीयः खलु भीतोऽस्मि।) [इत्यधरं दर्शयति।]

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥१५॥

प्रथमा—वच्छ एदं बालमिइन्दअं मुञ्च। अवरं दे कीलणअं दाइस्सं। (वत्स एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि।)

बाल—कहिं। देहि णं। (कुत्र। देह्येतत्।) [इति हस्तं प्रसारयति।]

---

पहली स्त्री—अरे ढीठ बालक! जिन पशुओं का हमने अपनी औरस सन्तान की तरह पालन-पोषण किया है, उन्हें तू क्यों सता रहा है? अरे! तुम्हारा उत्साह बहुत बढ़ता जा रहा है। ऋषियों ने जो तुम्हारा 'सर्वदमन' नाम रख दिया है, यह ठीक ही किया है।

राजा—न जाने क्यों इस बालक पर औरस पुत्र की भाँति मेरा मन स्नेह कर रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि मेरे जो पुत्र नहीं है उसी के कारण यह वात्सल्य-प्रेम उमड़ पड़ा है।

दूसरी स्त्री—यदि सिंहिनी के बच्चे को तू नहीं छोड़ेगा तो वह तेरे ऊपर झपट पड़ेगी।

बालक—[मुस्कराते हुए] ओहो, मैं तो बहुत डर गया हूँ। [ऐसा कहकर वह अपना निचला ओंठ बिचकाता है।]

राजा—यह बालक तो मुझे किसी परम तेजस्वी का पुत्र मालूम पड़ता है और चिनगारी के रूप में विद्यमान उस अग्नि के समान दिखाई पड़ता है, जो प्रचण्ड बनने के लिए ईंधन की बाट जोह रही हो॥१५॥

प्रथम स्त्री—बेटा! इस शेर के बच्चे को छोड़ दो, मैं तुझे दूसरा खिलौना दूँगी।

बालक—कहाँ है, दूसरा खिलौना। उसे दो न? [हाथ पसारता है।]

राजा—कथम्, चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते ? तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥१६॥

द्वितीया—सुव्वदे। ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमयिदुं। गच्छ तुमं। ममकेरए उडए मक्कण्डेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि। तं से उवहर। (सुव्रते न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्। मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। तमस्योपहर।)

प्रथमा—तह। (तथा) [इति निष्क्रान्ता।]

बालः—इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं। (अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि।) [इति तापसीं विलोक्य हसति।]

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

तापसी—होदु। ण मं अअं गणेदि। [पार्श्वमवलोकयति] को एत्थ इसिकुमाराणं। [राजानमवलोक्य] भद्दमुह। एहि दाव। मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए बाहीअमाणं बालमिइन्दअं। (भवतु। न मामयं गणयति। कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्। भद्रमुख एहि तावत्। मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।)

---

राजा—अरे! इस बालक के हाथ में तो चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षण हैं। क्योंकि खिलौने के लोभ से फैलाया हुआ, जाल की तरह गुँथी हुई अंगुलियों वाला इसका हाथ उस एकाकी कमल के समान दिखाई दे रहा है जो प्रातःकाल की अरुणिमा से चमक रहा हो और जिसकी पंखुड़ियाँ अभी पूरी तरह खुल न पाई हों ॥१६॥

दूसरी स्त्री—सुव्रता! यह कोरी बातों से नहीं फुसलाया जा सकता। तुम जाकर मेरी कुटी में ऋषि मार्कण्डेय का रंगा हुआ मिट्टी का एक मोर रखा हुआ है, उसे इसके लिए उठा लाओ।

पहली स्त्री—अच्छा। [जाती है।]

बालक—तब तक तो मैं इसी से खेलूँगा। [ऐसा कहकर उस तपस्विनी को देखकर हँसता है।]

राजा—इस नटखट बालक को अपनी गोद में लेने की इच्छा करता हूँ।

बिना किसी कारण की हँसी से जरा-जरा दिखाई पड़ने वाली कली के समान दाँतों से सुशोभित, अस्पष्ट अक्षरों के कारण सुनने योग्य तुतली बोली बोलनेवाले और गोद में बैठने के लिए मचलते हुए पुत्रों को गोद में लेकर जो उनकी शरीर के धूल से मैले हो जाते हैं, वे भाग्यवान पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

तपस्विनी—अच्छा! तो यह मुझे तनिक भी नहीं गिनता। [इधर उधर देखती है।] ऋषिकुमारों में यहाँ कौन है? [राजा की ओर देखकर] हे भद्रपुरुष! आपही तनिक आ जाइए। इसने बालक्रीडा में सताए गए सिंह के इस बच्चे को ऐसा कसकर पकड़ रखा है कि मेरे छुड़ाने से नहीं छोड़ रहा है।

राजा—[उपगम्य। सस्मितम्] अयि भो महर्षिपुत्र!

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः॥१८॥

तापसी—भद्दमुह ण क्खु अअं इसिकुमारओ। (भद्रमुख न खल्वयमृषिकुमारः।)

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः।

[यथाऽभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्]

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
का निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्ररूढः॥१९॥

तापसी—[उभौ निर्वर्ण्य] अच्छरिअं। अच्छरिअं। (आश्चर्यम्। आश्चर्यम्।)

राजा—आर्ये! किमिव।

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति। (अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापितास्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति।)

राजा—[बालकमुपलालयन्] न चेन्मुनिकुमारोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः।

तापसी—पुरुवंसो। (पुरुवंशः।)

---

राजा—[समीप जाकर मुस्कराते हुए] अरे ऋषिकुमार! तुम तो यहाँ तपोवन के जीवन के विरुद्ध आचरण कर रहे हो। ये बेचारे जंगली पशु जन्म से ही सरल एवं सीधे रहकर सुखी जीवन बिताते रहे हैं, और तुम उन्हें इस प्रकार सता रहे हो जैसे काले सर्प का बच्चा चन्दन के वृक्ष को सताता हो॥१८॥

तपस्विनी—भद्र! यह ऋषिकुमार नहीं है।

राजा—इसके स्वरूप और व्यवहार से ही इसकी सूचना मिल रही है। किन्तु यहाँ तपोवन में इसे देखकर हमने ऐसा अनुमान किया था। [तपस्विनी की प्रार्थना के अनुसार सिंह शावक को छुड़ाते हुए उस बालक के स्पर्श का अनुभव कर, अपने ही आप] यह सुन्दर बालक किसके वंश का अंकुर है, जो इसके स्पर्श से मेरे शरीर में इस प्रकार का सुख उत्पन्न हो रहा है। और जिस भाग्यवान के शरीर से यह इतना बड़ा हुआ उसके चित्त में तो यह न जाने कितना सुख देता होगा॥१९॥

तपस्विनी—[दोनों को देखकर] बड़े आश्चर्य की यह बात है।

राजा—आर्ये! क्या आश्चर्य की बात है?

तपस्विनी—इस बालक के साथ एकदम मिलती हुई तुम्हारी आकृति से मुझे परम आश्चर्य हो रहा है। इसने तुझ जैसे अपरिचित का भी कहना मान लिया यह भी आश्चर्य है।

राजा—[बालक को प्यार करता हुआ] यदि यह ऋषिकुमार नहीं है तो फिर किस वंश का है।

तपस्विनी—पुरुवंश का।

राजा—[आत्मगतम्] कथमेतान्वयो मम। अन खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्य कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

[प्रकाशम्] न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि। अच्छरासम्बन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तपोवणे पसूदा। (यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसम्बन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।)

राजा—[अपवार्य] हन्त द्वितीयमिदमाशाजननम्। [प्रकाशम्] अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी।

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम सकीतिदु चिन्तिस्सदि। (कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति।)

राजा—[स्वगतम्] इय खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

[प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता]

तापसी—सव्वदमण सउन्दलावण्णं पेक्ख। (सर्वदमन शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।)

बालः—[सदृष्टिक्षेपम्] कहिं वा मे अज्जू। (कुत्र वा मम माता।)

उभे—णामसारिस्सेण वञ्चिदो माउवच्छलो। (नाम सादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः।)

द्वितीया—वच्छ इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्खत्ति भणिदो सि। (वत्स अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि।)

---

राजा—[मन ही मन] अरे यह किस प्रकार से मेरे ही वश का है। इसी से इसको मेरी आकृति से मिलती-जुलती आकृतिवाला यह तपस्विनी मानती है। किन्तु पुरुवंशियों का यह अंतिम कुलाचार है कि वे युवावस्था में पृथ्वी की रक्षा के निमित्त भोग-विलास की सामग्रियों से भरे हुए भवनों में रहना चाहते हैं और वृद्धावस्था में अपनी पतिव्रता स्त्री को संग लेकर वृक्षों के नीचे कुटिया में निवास करते हैं॥२०॥

[प्रकटरूप में] और यहाँ अपनी इच्छा से कोई मनुष्य तो नहीं पहुँच सकता।

तपस्विनी—भद्रपुरुष! आपका कथन ठीक है। अप्सराओं के सम्बन्ध से इसकी माता ने यहाँ आकर देवताओं के पिता कश्यप के आश्रम में इसे जन्म दिया है।

राजा—[अलग से] अहा! यह तो मेरी आशा को दूसरा भी कारण मिल गया। [प्रकट रूप में] क्यों उक्त देवी किस राजर्षि की पत्नी है।

तपस्विनी—अपनी धर्मपत्नी को त्यागने वाले उस राजर्षि का नाम लेने का भी विचार कौन करे?

राजा—[अपने आप] यह कथा तो मुझे ही लक्ष्य कर रही है। यदि पिता का नाम नहीं बतला रही है तो इस बालक की माता का ही नाम पूछता हूँ। अथवा पराई स्त्री के सम्बन्ध में चर्चा करना सत्पुरुषों के लिए उचित नहीं है।

[हाथ में मिट्टी का मयूर लिए हुई तपस्विनी आती है।]

तपस्विनी—सर्वदमन! देखो यह शकुन्त-लावण्य (इस पक्षी का सौन्दर्य)।

बालक—[उस ओर दृष्टि दौड़ा कर] कहाँ है मेरी माँ।

दोनों—नाम की समानता से यह माँ का प्यारा धोखा खा गया।

दूसरी—बेटा! मैंने यह कहा था कि इस मिट्टी के मयूर की सुन्दरता को देखो।

राजा—[आत्मगतम्] किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बालः—अज्जुए ! रोअदि मे एसो भद्दमोरओ। (मातः रोचते मे एष भद्रमयूरः।) [इति क्रीडनकमादत्ते।]

प्रथमा—[विलोक्य सोद्वेगम्] अम्हहे रक्खाकरण्डअं से मणिबन्धे ण दीसदि। (अहो रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।)

राजा—अलमलमावेगेन। ननिवदमस्य सिंहशावविमर्दात्परिभ्रष्टम्। [इत्यादातुमिच्छति।]

उभे—मा क्खु एदं अवलम्बिअ। कहं गहीदं णेण। (मा खल्विदमवलम्ब्य। कथम् गृहीतमनेन।) [इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः।]

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धा स्म।

प्रथमा—सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। (श्रृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।)

राजा—अथ गृह्णाति।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दसइ। (ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।)

---

राजा—[अपने आप] क्या इसकी माँ का नाम शकुन्तला है। किन्तु नाम में भी तो समानता हो सकती है। कहीं मृग-मरीचिका के समान केवल शकुन्तला नाम का उल्लेख ही मेरे विषाद को बढ़ानेवाला न बन जाय।

बालक—माँ ! यह सुन्दर मोर मुझे बहुत अच्छा लगता है। [ऐसा कहकर खिलौना हाथ में लेता है।]

पहली—[देखकर घबराहट के साथ] अरे ! इसकी कलाई पर जो रक्षा का गण्डा बँधा हुआ था, वह नहीं दिखाई पड़ रहा है।

राजा—घबराइए नहीं। यह इसके और सिंह के बच्चे के बीच खींचातानी में नीचे गिर पड़ा है। [ऐसा कहकर उस गण्डे को लेना चाहता है।]

दोनों—इसे मत छूइए। अरे ! इन्होंने तो उठा ही लिया। [ऐसा कहकर आश्चर्य से अपनी छाती पर हाथ रखे हुए एक दूसरी की ओर देखती है।]

राजा—आप लोग मुझे क्यों रोक रही थीं।

पहली—सुनिए महाराज ! यह अपराजिता नाम की ओषधि है, जिसे इसके जातकर्म संस्कार के समय भगवान् कश्यप ने दी थी। माता-पिता और अपने लोगों को छोड़कर इसे यदि भूमि पर गिर गई हो तो कोई दूसरा नहीं उठा सकता है।

राजा—यदि कोई दूसरा उठा लेता है तब ?

पहली—तब उसको यह सर्प बनकर डस लेती है।

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया।
उभे—अणेअसो। (अनेकशः।)

राजा—[सहर्षम्। आत्मगतम्] कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि। [इति बालं परिष्वजते।]

द्वितीया—सुव्वदे एहि। इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह। (सुव्रते एहि। इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः।)

[इति निष्क्रान्ते]

बालः—मुञ्च मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं। (मुञ्च माम् यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।)

राजा—पुत्रक! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि।
बालः—मम क्खु तादो दुस्सन्दो। ण तुमं। (मम खलु तातो दुष्यन्तः, न त्वम्।)
राजा—[सस्मितम्] एष विवाद एव प्रत्याययति।

[ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला]

शकुन्तला—विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं। (विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आसाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाव्यत एतत्।)

---

राजा—आप लोगों ने कभी इस प्रकार इसे सर्प रूप में बदलते हुए देखा भी है।
दोनों—अरे! अनेक बार देख चुकी हूँ।

राजा—[अपने आप] तब तो मेरा मनोरथ पूरा हुआ। अब क्यों न आनन्द मनाऊँ। [बालक को उठाकर अपने वक्ष से लगाता है।]

दूसरी—सुव्रता! चलो इस घटना का संवाद तपस्विनी शकुन्तला से बतलाएँ। [जाती हैं।]

बालक—मुझे छोड़ो, मैं अपनी माता के पास जाऊँगा।
राजा—बेटा! अब तो मेरे साथ ही चलकर माता को प्रसन्न करोगे।
बालक—मेरे पिता दुष्यन्त हैं। तुम नहीं हो।

राजा—[मुस्कराते हुए] तुम्हारा यह विरोध ही अब मेरे विश्वास को पक्का कर रहा है। [तदनन्तर एक वेणी धारण किए हुए शकुन्तला प्रवेश करती है।]

शकुन्तला—विकार-युक्त होने के अवसर पर भी सर्वदमन की अपराजिता औषधि का अपनी स्वाभाविक अवस्था में रह जाना सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं हो रहा है। अथवा जैसा कि सानुमती ने बताया था, वह यदि सत्य हो तो यह सब सम्भव भी हो सकता है।

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य] अये सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

शकुन्तला—[पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा] ण क्खु अज्जउत्तो विअ। तदो को एसो दाणिं किदरक्खामङ्गलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि। (न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।)

बाल—[मातरमुपेत्य] अज्जुए एसो कोवि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिङ्गदि। (मातः एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।)

राजा—प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ समस्सस समस्सस। परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण। अज्जउत्तो क्खु एसो। (हृदय समाश्वसिहि। समाश्वसिहि। परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन। आर्यपुत्रः खल्वेषः।)

राजा—प्रिये।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो .। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः . . .) [इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति।]

---

राजा—[शकुन्तला को देखकर] अहा! यही तो देवी शकुन्तला है, जो मलिन वस्त्र पहिने हुए हैं, तपस्या के कारण जिसका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। जिसने एक वेणी धारण कर रखी है और जो अपने विशुद्ध आचरण से मुझ जैसे परम निर्दयी के दीर्घकालिक वियोग का व्रत धारण किए हुए है ॥२१॥

शकुन्तला—[पश्चात्ताप के कारण उदास चेहरे वाले राजा को देखकर] अरे! यह तो आर्यपुत्र की भाँति नहीं दिखाई पड रहे हैं। तब यह कौन हैं, जो मंगलदायी रक्षाबंधन से सुरक्षित मेरे पुत्र को अपने मैले शरीर से चिपटाकर मैला बना रहे हैं।

बालक—[माता के समीप जाकर] माँ! यह कौन पुरुष है, जो मुझे 'बेटा' कहकर गले लगा रहा है।

राजा—प्रिये! तुम्हारे प्रति जो मैंने क्रूरता की थी, उसका यही उचित दण्ड था जो तुम मुझे अभी तक ठीक से पहचान भी नहीं रही हो।

शकुन्तला—[अपने आप] हृदय! धैर्य धारण करो। धैर्य धारण करो। आज दैव ने पिछला सारा वैरभाव भूलकर मेरे ऊपर कृपा की है। अहा! यह तो सचमुच आर्यपुत्र ही हैं।

राजा—प्रिये! यह सचमुच मेरा परम सौभाग्य है, जो मेरी स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का परदा हट गया है और तुम सुन्दर मुखवाली मुझे उसी प्रकार मिल गई हो जैसे ग्रहण बीत जाने के बाद रोहिणी चन्द्रमा से मिलती है ॥२२॥

शकुन्तला—आर्यपुत्र की जय हो, जय हो। [ऐसा कहकर आँसू से गला भर आने के कारण आगे की बात नहीं कह पाती है।]

राजा—सुन्दरि!

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

बालः—अज्जुए को एसो। (मातः क एषः।)
शकुन्तला—वच्छ दे भाअहेआइं पुच्छेहि। (वत्स ते भागधेयानि पृच्छ।)
राजा—[शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य]—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणाममुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो। (उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।)

[राज्ञोत्तिष्ठति।]

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाइणी अअं जणो। (अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः।)

---

राजा—हे सुन्दरी! तुम्हारे जय शब्द से, आँसुओं से कंठ के रोक लिये जाने पर भी मैं जीत गया क्योंकि आज मेरे नेत्रों ने बिना सँवारे हुए गुलाबी ओंठ वाले तुम्हारे मुख को देख लिया।।२३।।

बालक—माता यह कौन है?

शकुन्तला—बेटा! अपने भाग्य से पूछो न ?

राजा—[शकुन्तला के चरणों पर गिरकर] हे सुन्दरी! तुम अपने हृदय से मेरे त्याग की अप्रियता को दूर कर दो। उस समय न जाने किस कारण से मेरे चित्त को अज्ञान ने घेर लिया था। सचमुच जो लोग तमोगुणी होते हैं वे मांगलिक कार्यों में भी ऐसी भूलें कर बैठते हैं। अन्धा सिर पर रखी हुई माला को भी सर्प के भ्रम से उतार कर फेंक देता है।।२४।।

शकुन्तला—आर्यपुत्र! उठिए। उन दिनों निश्चय ही मेरे पूर्व जन्मों के किसी पाप का परिणाम था, जो इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने विरक्त (क्रूर-कठोर) बन गए थे।

[राजा उठता है]

शकुन्तला—आर्यपुत्र को इस दुखिनी की किस प्रकार याद आई?

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

[इति यथोक्तमनुतिष्ठति।]

शकुन्तला—[नाममुद्रां दृष्ट्वा] अज्जउत्त एद तं अङ्गुलीअअं। (आर्यपुत्र! इद तेऽङ्गुलीयकम्।)

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि। (विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्।)

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम्।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु। (नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु।)

[ततः प्रविशति मातलिः]

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

राजा—अभूत्सपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले! न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्।

---

राजा—पहले अपने हृदय से दुःख की बरछी को निकाल डालूं, तब कहूंगा।' हे सुन्दर अंगोंवाली! जो आँसुओं की बूँदें पहले तेरे अधर को पीड़ा देती हुई मेरी अज्ञानता के कारण उपेक्षित रह गई थीं, जरा-जरा, तिरछी बरौनियों में लगी हुई उन्हीं आँसुओं को आज पोंछकर मैं अपने सन्ताप को मिटानेवाला बनूंगा॥२५॥

[ऐसा कहकर शकुन्तला की आँखों से आँसू को पोंछता है।]

शकुन्तला—[राजा के नामवाली उस अँगूठी को देखकर] आर्यपुत्र! यह तुम्हारी वही अँगूठी है।

राजा—इस अँगूठी के मिलने से ही तो तुम्हारी स्मृति आई।

शकुन्तला—इसी ने बुरा किया, जो उस समय आर्यपुत्र को विश्वास दिलाने के अवसर पर दुर्लभ हो गई।

राजा—तो जिस प्रकार लता में पुष्प लगने से यह ज्ञात होता है कि उसका वसन्त से मिलन हो गया, उसी प्रकार तुम्हारा मेरे साथ आज जो मिलन हुआ, उसकी सूचना के लिए यह अँगूठी धारण कर लो।

शकुन्तला—[हाथ को उठाती हुई] नहीं, अब मैं इसका विश्वास नहीं करूंगी। आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें।

[मातलि का प्रवेश]

मातलि—अपनी धर्मपत्नी से भेंट होने और पुत्र का मुंह देखने के उपलक्ष में आयुष्मान् को बधाइयां देता हूं।

राजा—मेरे मनोरथ को सचमुच बहुत मधुर फल प्राप्त हुआ। मातलि! किन्तु देवराज इन्द्र को तो इस बात की सूचना नहीं होगी।

मातलिः—[सस्मितम्] किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्मान् भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले! अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं। (जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।)

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु। एह्येहि। [सर्वे परिक्रामन्ति।]

[ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः।]

मारीचः—[राजानमवलोक्य] दाक्षायणि।

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः॥२६॥

अदितिः—सभावणीआणुभावा से आकिदी। (सम्भावनीयानुभावाऽस्याकृतिः।)

मातलिः—आयुष्मन्! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः। तावुपसर्प।

---

मातलि—[हँसते हुए] भला देवताओं को इस सृष्टि की कोई बात ज्ञात न हो। आयुष्मान् आर्य भगवान् कश्यप अब आप को दर्शन देंगे।

राजा—शकुन्तला! बेटे को ले लो। तुम्हें अपने आगे करके भगवान् मारीच का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—आर्यपुत्र के साथ गुरुजनों का दर्शन करने में लज्जित हो रही हूँ।

राजा—शुभ अवसरों पर ऐसा तो करना ही चाहिए। आओ, चलें।

[सब घूमते हैं।]

[तदनन्तर अदिति के साथ आसन पर बैठे हुए महर्षि कश्यप का प्रवेश।]

कश्यप—[राजा को देखकर] दाक्षायणी! यही दुष्यन्त नामक समस्त भूमण्डल के पालनकर्ता तुम्हारे पुत्र देवराज इन्द्र के युद्धों में अग्रगामी हैं। इनके धनुष द्वारा सब काम पूर्ण हो जाने पर इन्द्र का वह तीक्ष्ण धारवाला वज्र अब आभूषण मात्र रह गया है॥२६॥

अदिति—इनकी आकृति ही इनके महान् प्रभाव की सूचना देनेवाली है।

मातलि—आयुष्मन्! सम्पूर्ण देवजाति के माता और पिता यह महर्षि दम्पती, अपने पुत्र के समान स्नेहभरी दृष्टि से आपकी ओर निहार रहे हैं, आप इनके समीप चले जाइए।

राजा—मातले एतौ—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम्॥२७॥

मातलिः—अथ किम्।

राजा—[उपगम्य] उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्त प्रणमति।

मारीचः—वत्स चिर जीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वच्छ अप्पडिरहो होहि। (वत्स अप्रतिरथो भव।)

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवन्दणं करेमि। (दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि।)

मारीचः—वत्से।

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव॥२८॥

अदितिः—जादे भत्तुणो अभिमदा होहि। अवस्स दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उवविस। (जाते भर्तुरभिमता भव। अवश्य दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत।)

[सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति।]

मारीचः—[एकैकं निर्दिशन्]—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥२९॥

---

राजा—मातलि! क्या ये ही वे दम्पति है जो विधाता से एक पीढी पीछे दक्ष और मरीचि से उत्पन्न हुए है जिन्हे मुनि लोग बारह मूर्ति धारण करनेवाले सूर्य का उत्पत्ति-कर्त्ता मानते है, जिन्होंने तीनों भुवनो के पालनकर्त्ता, यज्ञ मे भाग लेनेवाले देवताओ के प्रमुख देवराज इन्द्र को उत्पन्न किया है और जिनके द्वारा ब्रह्मा से उत्कृष्ट पुरुष भगवान् विष्णु ने भी वामन रूप से उत्पत्ति के लिए स्थान प्राप्त किया है॥२७॥

मातलि—हाँ, यही वह है।

राजा—[समीप जाकर] आप दोनो के चरणों मे इन्द्र का किंकर दुष्यन्त प्रणाम निवेदन करता है।

कश्यप—बेटा! चिरकाल तक जीवित रहो। पृथ्वी का पालन करो।

अदिति—बेटा! तुम्हारे रथ की गति कही भी खंडित न हो।

शकुन्तला—पुत्र के साथ मैं भी आप दोनो के चरणो की वन्दना करती हूँ।

कश्यप—हे बेटी! तेरा पति इन्द्र के समान, पुत्र जयन्त के समान और तू पुलोम की पुत्री शची के समान हो। अन्य कोई आशीर्वाद तुम्हारे योग्य नहीं है।

अदिति—बेटी! अपने पति की प्रियतमा बनो। तुम्हारा पुत्र दीर्घायु बनकर दोनो कुलो को आनन्द देनेवाला हो। बैठो।

[सभी लोग प्रजापति कश्यप के चारो ओर बैठते हैं।]

कश्यप—[एक एक की ओर निर्देश करते हुए] आज बड़े सौभाग्य से यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और आप—यह तीनो इस प्रकार एक ही स्थान पर मिल गए हो जिस प्रकार श्रद्धा, धन और विधि—एक साथ मिल जाते हैं॥२९॥

राजा—भगवन् ! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद्दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥३०॥

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

राजा—भगवन् ! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

मारीचः—वत्स अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

---

राजा—भगवन् ! पहले ही मनोरथ की सिद्धि और पीछे दर्शन हुआ। इसलिए मैं तो कहूँगा कि आप की कृपा अपूर्व है। क्योंकि, पहले पुष्प लगता है, तब फल आता है पहले बादल उठता है तब पानी बरसता है, कारण और कार्य का तो यही क्रम रहा है किन्तु आपकी कृपा से तो सारी सुख-सम्पदा पहले ही मिल गई है ॥३०॥

मातलि—जो स्रष्टा अथवा निर्माता होते हैं, उनकी प्रसन्नता इसी प्रकार की होती है।

राजा—आपकी इस सेविका शकुन्तला से मैंने गान्धर्व विधि से विवाह किया था, किन्तु कुछ दिनों के बाद जब इनके परिवार के लोग इन्हें हमारे पास ले आए तो अपनी स्मरण शक्ति की शिथिलता के कारण मैंने इन्हें अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार मैं आपके गोत्रधारी महर्षि कण्व के समीप अपराधी बन गया हूँ। किन्तु पीछे अपनी अँगूठी को देखने से मुझे यह अवगत हो गया कि उनकी कन्या के साथ मैंने विवाह किया है। यह बात मुझे बड़े आश्चर्य की मालूम पड़ रही है कि ऐसा क्यों हो गया।

मुझे तो अपनी यह भूल इस प्रकार की मालूम पड़ती है कि जैसे प्रत्यक्ष हाथी को जाते हुए देखने पर 'यह हाथी नहीं है'—ऐसा सन्देह पैदा हो जाय किन्तु उसके चले जाने उसके पद-चिह्नों को देखकर विश्वास हो कि हाँ यह हाथी ही था ॥३१॥

मारीच—वत्स ! आप अपने अपराध की शंका न करें। आपका जो यह सम्मोह हुआ—वह उचित ही था। उसे सुनो।

राजा—सावधान हूँ।

मारीच—जब शक्रावतार से वापस लौटकर अत्यन्त विह्वल दिखाई पड़नेवाली शकुन्तला को लेकर मेनका अदिति के पास आई उसी समय मैंने ध्यान द्वारा यह जान लिया था कि महर्षि दुर्वासा के शाप के कारण इस तपस्विनी धर्मपत्नी को तुमने त्याग दिया, अन्य कोई दूसरा कारण नहीं था और यह उसका शाप तभी तक के लिए था जब तक तुम अपनी अँगूठी न देख लाते।

राजा—[सोच्छ्वासम्] एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला—[स्वगतम्] दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्त अत्ताण सुमरेमि अहवा पत्तो मए स हि साबो विरह सुण्णहिअआए ण विदिदो। अदो सहीहिं सदि ट्ठम्हि भत्तुणो अगुलीअअ दसइदव्व त्ति। (दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्र.। न खलु शप्तमात्मान स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदित। अत सखीभ्या सदिष्टाऽस्मि भर्तुरङ्गुलीयक दर्शयितव्यमिति।)

मारीच—वत्से विदितार्थाऽसि। तदिदानी सहधर्मचारिण प्रति न त्वया मन्यु कार्य। पश्य।

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

राजा—यथाऽऽह भगवान्।

मारीच—वत्स कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेय।

राजा—भगवन् अत्र खलु मे वशप्रतिष्ठा। [इति बाल हस्तेन गृह्णाति।]

---

राजा—[गहरी साँस लेकर] इस लोकापवाद से आज मुक्ति मिली।

शकुन्तला—[अपने आप] यह बडे भाग्य की बात है कि आर्यपुत्र ने बिना किसी कारण से मुझे नहीं त्यागा था। किन्तु मुझे स्मरण नहीं कि यह शाप मुझे कब मिला था। अथवा यह भी हो सकता है कि मुझे वह शाप मिला हो और वियोग से शून्यहृदया होने के कारण मुझे ज्ञात न हो सका हो। सभवत इसीलिए मेरी सखियो ने आज्ञा दी थी कि पति को अँगूठी दिखा देना।

मारीच—बेटी[1] तुम घटना को ठीक से जान गई हो। अत अपने पति के प्रति तुम्हे अमर्ष नही करना चाहिए। देखो, जैसे दर्पण पर मैल जमी हो तो उसम छाया ठीक से नही दिखाई पडती उसी प्रकार शाप के कारण स्मृति के धुँधली हो जाने से इन्होने तुम्हे त्यागा दिया था किन्तु अब शाप के दूर हो जाने पर उनपर तुम्हारी ही प्रभुता है।॥३२॥

राजा—भगवान् ने जैसा कहा है, वह ठीक है।

कश्यप—वत्स[1] क्या तुमने शकुन्तला के इस पुत्र को प्यार किया, जिसका जातार्म सस्कार हमने कराया है।

मारीचः—तथा भाविनमेन चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे।

अदितिः—भअव इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि। (भगवन् अनया दुहितृमनोरथसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए। (मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या।)

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः प्रष्टव्यः। कः कोऽत्र भोः।

[प्रविश्य]

शिष्यः—भगवन्! अयमस्मि।

मारीचः—गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

---

मारीच—अपने वंश की प्रतिष्ठा होने के साथ-साथ इसे चक्रवर्ती भी जान लें। देखो, यह बालक अपने सुदृढ़ एवं सीधे चलनेवाले रथ पर चढ़कर समुद्र को पारकर सातों द्वीपों वाली पृथ्वी को जीत लेगा और कोई इसके रथ का सामना नहीं करेगा। हमारे आश्रम में सभी जीवों को इसने बलात् दमन किया, इस से इसका 'सर्वदमन' नाम पड़ा, किन्तु आगे चलकर समस्त लोकों के भरण-पोषण करने के कारण इसका 'भरत' नाम पड़ेगा ॥३३॥

राजा—भगवान् के द्वारा इसके जात संस्कार हुए हैं, अतः इससे तो हमें इन सब विशेषताओं की आशा है ही।

अदिति—भगवान्! पुत्री की मनोरथ सिद्धि का यह संवाद विस्तारपूर्वक महर्षि कण्व को भी तो सूचित करा दिया जाय। पुत्री पर प्रेम करने वाली मेनका तो यहीं हम सब की सेवा करती हुई विद्यमान है।

शकुन्तला—[अपने आप] देवी ने मेरे मनोरथ को ही कह दिया।

मारीच—अपने तप के प्रभाव से मान्य कण्व को सब कुछ अवगत है।

राजा—इसीलिए मेरे ऊपर मुनि का अत्यन्त क्रोध नहीं हुआ।

मारीच—तब भी यह सुखदायी संवाद हमसे वह पूछ सकते हैं। अरे, यहाँ कौन है?

शिष्य—[प्रवेश करके] भगवन्! यह मैं हूँ।

मारीच—गालव! अभी तुरन्त आकाशमार्ग से जाकर मेरी ओर से पूज्य कण्व को यह सुखदायी संवाद कह दो कि पुत्रवती शकुन्तला शाप की समाप्ति हो जाने पर स्मृतिलाभ करनेवाले दुष्यन्त द्वारा स्वीकार कर ली गई है।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान्। [इति निष्क्रान्तः।]

मारीच—वत्स त्वमपि स्वापत्यदारसहित सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानी प्रतिष्ठस्व।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान्।

मारीच—अपि च।

भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
युगशतपरिवर्तै रेवमन्योन्यकृत्यैः
जयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः　　॥३४॥

राजा—भगवन्! यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये।

मारीच—वत्स! कि ते भूय प्रियमुपकरोमि।

राजा—अत परमपि प्रियमस्ति। यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु।

[भरतवाक्यम्।]

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥३५॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति सप्तमोऽङ्कः

॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम्॥

---

शिष्य—जैसी भगवन् की आज्ञा। [जाता है।]

मारीच—वत्स! तुम भी अपने पुत्र तथा स्त्री के साथ अपने मित्र इन्द्र के रथ पर आरूढ होकर अपनी राजधानी को वापस जाओ।

राजा—भगवान् की जैसी आज्ञा।

मारीच—मेरा आशीर्वाद है कि इन्द्र तुम्हारी प्रजा के लिए सदैव भरपूर वृष्टि करें और तुम भी अनेक यज्ञ करके इन्द्र को भलीभाँति सन्तुष्ट करो। स्वर्ग और पृथ्वी इन दोनो लोकों के उपकारी होने के नाते अत्यन्त यशस्वी होते हुए तुम दोनों परस्पर मिल जुलकर कार्य करते हुए सैकडों युगों तक विजय का लाभ करते रहो॥३४॥

राजा—भगवन्! मैं यथाशक्ति कल्याणकारी कार्यों के लिए प्रयत्नशील रहूँगा।

मारीच—वत्स! बताओ, और तुम्हारा क्या प्रियकार्य करूँ।

राजा—भगवन्! क्या इससे बढकर भी कोई प्रियकार्य संभव है। किन्तु फिर भी यदि आप मेरा कुछ और प्रियकार्य करना चाहते हैं तो ऐसी कृपा कीजिए कि—

[भरतवाक्य]

राजा लोग सर्वदा अपनी प्रजा के कल्याण में प्रवृत्त हों, वेद जिसकी महिमा गाते हैं वह सरस्वती (संस्कृतवाणी) अथवा वेदज्ञान से वरिष्ठ ब्राह्मणों या कवियों की वाणी सर्वत्र आदर प्राप्त करे। और चारों ओर अपनी शक्ति का विस्तार करनेवाले आत्मसम्भव शिवजी मेरे पुनर्जन्म को निवृत्त करें, अर्थात् ऐसी कृपा करें कि मुझे पुनर्जन्म न लेना पड़े॥३५॥

[सब लोग जाते हैं।]

सातवाँ अंक समाप्त॥७॥

महाकवि कालिदास-रचित अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक समाप्त।

# विक्रमोर्वशीयम्

नाटकम्

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि। [प्रणिपत्य]

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

[नेपथ्ये]

अज्जा परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गदी अत्थि।
(आर्याः परित्रायध्व परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

सूत्रधारः—[कर्णं दत्वा] अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकाशे शब्द श्रूयते।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥३॥

[विचिन्त्य] भवतु। ज्ञातम्।

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥४॥

[इति निष्क्रान्तः।]

॥ प्रस्तावना ॥

---

सूत्रधार—तब तक मैं अपने जानकार दर्शक महानुभावों से कुछ निवेदन करलूं। [प्रणाम करके] अपने स्नेही जनों पर अनुकूलता से अथवा इस कथानक के नायक के प्रति आदर भाव से आप लोग कालिदास के बनाए हुए इस नाटक को तनिक सावधानी से सुनें ॥२॥

[नेपथ्य में]

आर्यगण! हमें बचाएँ, बचाएँ। जो कोई देवताओं का पक्षपाती हो अथवा जिसकी आकाश में गति हो वह आकर हमें बचाए।

सूत्रधार—[कान लगाकर] अरे! यह क्या बात है, जो मेरी सूचना के समाप्त होते ही आकाश में कुररी के रोने जैसा शब्द सुनाई पड़ने लगा। क्या यह पुष्पों का रस पीकर मतवाले भ्रमरों की गुंजार है? अथवा यह कोकिल की गंभीर कूक तो नहीं है। अथवा देवताओं से सेवित आकाश में अप्सराएँ अपनी मधुर तान से युक्त गीत तो नहीं छेड़े हुए है ॥३॥

[कुछ सोचकर] हाँ, समझ गया।

नर के मित्र नारायण मुनि की जाँघ से जो उर्वशी नाम की अप्सरा उत्पन्न हुई थी, वह कैलासनाथ कुबेर की आराधना करके जब लौट रही थी, तब राक्षस उसे मध्य मार्ग से ही पकड़ कर उठा ले गए। उसी पर अप्सराओं का समूह यह क्रन्दन कर रहा है ॥४॥

[प्रस्थान]

प्रस्तावना समाप्त।

[ततः प्रविशन्त्यप्सरसः]

अप्सरसः—अज्ज परित्ताअध परित्ताअध। जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गदी अत्थि। (आर्याः परित्रायध्वं परित्रायध्वम्। यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।)

[ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूतश्च।]

राजा—अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति।

रम्भा—असुरावलेपादो। (असुरावलेपात्।)

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम्।

रम्भा—सुणादु महाराओ। जा तवोविसेससङ्किदस्स सुउमारं पहरणं महेन्दस्स पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरिगोरिए अलंकारो सग्गस्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुबेरभवणादो णिवत्तमाणा केणावि दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपहे ज्जेव बन्दिग्गाहं गहीदा। (शृणोतु महाराजः। या तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः अलङ्कारः स्वर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखाद्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता।)

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः।

अप्सरसः—ईसाणीए दिसाए। (ऐशान्या दिशा।)

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय।

---

[तदनन्तर अप्सराएँ प्रवेश करती हैं।]

अप्सराएँ—आर्यवृन्द! हमारी रक्षा करें, रक्षा करें! जो कोई देवताओं का पक्षपाती हो, अथवा जिसकी आकाश में गति हो, वह आकर हमें बचाए।

[तदनन्तर बिना पर्दा गिराए ही रथारूढ राजा पुरूरवा तथा सारथी का प्रवेश।]

राजा—बस! रोओ मत! मैं पुरूरवा हूँ। अभी भगवान सूर्यनारायण की आराधना करके आ रहा हूँ। आप लोग मेरे पास आकर यहाँ बताएँ कि किससे आप लोगों की रक्षा करनी है।

रम्भा—असुरों के गर्व से।

राजा—असुरों के गर्व ने आप लोगों का क्या अपराध किया है?

रम्भा—महाराज सुनें। किसी की विशेष तपस्या से सशंक देवराज इन्द्र का जो सुकुमार अस्त्र रही है, अपने सुन्दर रूप पर गर्व करनेवाली लक्ष्मी को जो पराजित करनेवाली है, जो सम्पूर्ण सृष्टि का अलंकार है, वही हमारी प्रिय सखी उर्वशी जब कुबेर के भवन से वापस लौट रही थी तब मध्य मार्ग में ही चित्रलेखा समेत उसको कोई बंदी की भाँति पकड़ ले गया है।

राजा—आप लोग यह बता सकती हैं कि वह दुष्ट दैत्य किस दिशा की ओर गया है।

अप्सराएँ—ईशान अर्थात् पूर्व और उत्तर दिशा के कोण की ओर गया है।

राजा—तब आप लोग खिन्न न हों। मैं आप की सखियों को वापस लौटाने का प्रयत्न करूँगा।

अप्सरसः—सरिसं एदं सोमवंससम्भवस्स। (सदृशमेतत्सोमवंशसम्भवस्य।)

राजा—क्वपुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति।

अप्सरसः—एदस्सिं हेमकूडसिहरे। (एतस्मिन्हेमकूटशिखरे।)

राजा—सूत ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशुगमनाय।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति यथोक्तं करोति।)

राजा—[रथवेगं रूपयित्वा।] साधु साधु। अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्। किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः। मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-<br>
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।<br>
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं<br>
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥५॥

[निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च]

सहजन्या—हला गदो राएसी। ता अम्हे वि जधासदिट्ठं पदेसं गच्छम्ह। (हला गतो राजर्षिः। तद्वयमपि यथासंदिष्टं प्रदेशं गच्छाम।)

मेनका—सहि एव्वं करेम्ह। (सखि एवं कुर्मः।)

[इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति।]

रम्भा—अवि णाम सो राएसी उद्धरदि णो हिअअसल्लम्। (अपि नाम स राजर्षिरुद्धरति नो हृदयशल्यम्।)

---

अप्सराएँ—चन्द्रवंश में उत्पन्न होनेवाले के अनुरूप ही यह है।

राजा—आप लोग मेरी प्रतीक्षा कहाँ करेंगी।

अप्सराएँ—इसी हेमकूट पर्वत के शिखर पर।

राजा—सारथी! ईशान कोण की ओर वेग से जरा घोडों को हाँको तो।

सारथी—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा। [आज्ञा के अनुसार करता है।]

राजा—[रथ की चाल देखते हुए] रथ की इस तीव्र गति से आगे गए हुए गरुड को भी पकड़ा जा सकता है तो इन्द्र के अपकारी उस दैत्य की क्या बात है? क्योंकि हमारे रथ के तीव्र वेग से बादल चूर्ण होकर धूल के समान उड रहे हैं, चक्के इतनी तीव्रता से चल रहे हैं कि इनके आरों के बीच में दूसरा अरावली सी दिखाई पड रही है। घोड़े के मस्तक की चँवरी चित्रलिखित के समान स्थिर हो गई है और दण्ड में लगा हुआ ध्वजपट कभी बराबर में और कभी हवा के झोंके से अपनी बगल में स्थित हो जाता है॥५॥

[रथ पर आरूढ होकर राजा और सारथी जाते है।]

सहजन्या—अरे! राजर्षि गए। तब तक हमलोग भी वहाँ पहुँच चलें, जहाँ मिलन के लिए संकेत किया गया है।

मेनका—सखी! हम लोग ऐसा ही करें। [हेमकूट के शिखर पर आरोहण करने का नाट्य करती हैं।]

रम्भा—सखी! यदि वहीं वे राजर्षि हमारे हृदय के इस काँटे को निकाल देते।

मेनका—सहि मा दे सम्सो भोदु। (सखि मा ते संशयो भवतु।)

रम्भा—ण दुज्जआ दाणवा। (ननु दुर्जया दानवाः।)

मेनका—उवट्ठिदसंपराओ महिन्दो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाहिअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि। (उपस्थितसंपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते।)

रम्भा—सव्वहा विजई भोदु। (सर्वथा विजयी भवतु।)

मेनका—(क्षणमात्रं स्थित्वा।) हला समस्ससध समस्ससध। एस उल्लसिदहरिणकेदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि। ण एसो अकिदत्थो पडिणिवत्तिस्सदि त्ति तक्केमि। (सख्यः समाश्वसित समाश्वसित। एष उल्लसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते। नैषोऽकृतार्थः प्रतिनिवर्तिष्यते इति तर्कयामि।)

[निमित्तं सूचयित्वावलोकयन्त्यः स्थिताः।]

[ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च। भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखा दक्षिणहस्तावलम्बिता उर्वशी च।]

चित्रलेखा—सहि समस्सस समस्सस। (सखि समाश्वसिहि समाश्वसिहि।)

राजा—सुन्दरि समाश्वसिहि।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पंकजम्॥६॥

---

मेनका—सखी! तुम्हें इस विषय में तो सन्देह होना ही नहीं चाहिए।

रम्भा—किन्तु वे दानव तो दुर्जेय हैं।

मेनका—सखि! क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जब युद्ध का अवसर आता है तब देवताओं के स्वामी इन्द्र भी विजय प्राप्ति के लिए इन्हीं राजर्षि को मध्यम लोक से बड़े आदर के साथ बुला कर सेनापति के पद पर नियुक्त करते हैं।

रम्भा—उनकी सब प्रकार से विजय हो।

मेनका—[क्षण भर ठहरकर] सखियो! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो। वह सामने देखो राजर्षि के सोमदत्त नामक अथवा चन्द्रमा द्वारा दिए गए रथ की हरिण से चिह्नित पताका फहराती हुई दिखाई पड़ रही है। मेरा अनुमान है कि वह बिना सफलता प्राप्त किए हुए वापस नहीं लौटेंगे।

[सब शकुन को सूचित करती हुई उसी ओर देखती हैं।]

[तदनन्तर रथारूढ राजा और सारथी का प्रवेश होता है। चित्रलेखा ने भय के कारण आँखें मूंद ली हैं। उर्वशी चित्रलेखा के दाहिने हाथ पर आश्रित हुई है।]

चित्रलेखा—सखी! अब आश्वस्त हो जाओ, होश में आओ।

राजा—सुन्दरी! अब होश में आ जाओ। राक्षसों का भय अब नहीं रहा, क्योंकि देवराज इन्द्र का पराक्रम तीनों लोकों से रक्षा करता है। हे भीरु! इसलिए जिस प्रकार प्रातःकाल हो जाने पर कमलिनी कमलों को खिला देती है, उसी प्रकार तुम भी अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोल दो॥६॥

**चित्रलेखा**—अम्महे कह उस्ससिदमेत्तसभाविदजीविदा अज्ज वि एसा सण्ण ण पडिवज्जदि। (अहो कथमुच्छ्वसितमात्रसभावितजीविता अद्याप्येषा सज्ञा न प्रतिपद्यते।)

**राजा**—बलवदत्र भवती परित्रस्ता। तथाहि।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्या सूच्यते हृदयकम्प।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतो पयोधरयो ॥७॥

**चित्रलेखा**—[सकरुणम्] हला उव्वसि पज्जवत्थावेहि अत्ताणम। अणच्छरा विअ पडिभासि। [सखि उर्वशी पर्यवस्थापयात्मानम। अनप्सरेव प्रतिभासि।)

**राजा**—

मञ्चति न तावदस्या भयकम्प कुसुमकोमल हृदयम्।
सिचयान्तेन कथचित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथित ॥८॥

(उर्वशी प्रत्यागच्छति।)

**राजा**—[सहर्षम्।] चित्रलेखे दिष्टया वर्धसे। प्रकृतिमापन्ना त प्रियसखी। पश्य—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरिय रक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥९॥

---

**चित्रलेखा**—यह आश्चर्य की बात है कि इसकी साँसें तो चल रही है, जिससे इसके जीवित होने की आशा दिखाई पडती है, किन्तु फिर भी इसे होश क्यो नही आ रहा है।

**राजा**—यह बहुत डर गई हैं न। क्योकि इनके उन्नत उरोजो के मध्य भाग मे जो मन्दार की माला पडी हुई है, उसके बराबर हिलते रहने से यह ज्ञात होता है कि इनका हृदय डर के मारे अभी तक जोर-जोर से काँप रहा है॥७॥

**चित्रलेखा**—[करुणा के साथ] सखी उर्वशी! होश मे आकर अपने को सम्भालो। ऐसा करती हुई तुम अप्सरा नही मालूम पड रही हो।

**राजा**—इनके उन्नत उरोजो के ऊपर हिलनेवाले वस्त्र से ही यह ज्ञात हो रहा है कि अत्यन्त भय के कारण जो कम्पन आरम्भ हुआ था उससे अभी तक इनके पुष्प के समान कोमल हृदय को छुटकारा नही मिला है॥८॥

[उर्वशी होश मे आती है।]

**राजा**—[सहर्ष] चित्रलेखा! तुम्हारे सौभाग्य के लिए तुम्हे बधाई है। तुम्हारी प्रिय सखी को होश आ गया है। देखो न, चन्द्रोदय हो जाने के अनन्तर अधकार से मुक्त रात्रि के समान, धुएँ की रेखा से विमुक्त रात्रि की अग्नि की लपट के समान तथा निर्मलता को प्राप्त कगारा के गिरने से मलिन जलवाली गगाजी की धारा के समान तुम्हारी यह सुन्दर शरीरवाली सखी मूर्च्छा के दूर हो जाने पर कितनी मनोहर दिखाई पड रही है॥९॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि वीसद्ध भव। आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदसपरिपन्थिणो हदासा दाणवा। (सखि उर्वशि विश्रब्धा भव। आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः खलु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हताशदानवाः।)

उर्वशी—[चक्षुषी उन्मील्य।] किं पहावदंसिणा महिन्देण अब्भुववण्णह्मि। (किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेणाभ्युपपन्नास्मि।)

चित्रलेखा—ण महिन्देण। महिन्दसरिसाणुभावेण राएसिणा पुरूरवसेण। (न महेन्द्रेण। महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा।)

उर्वशी—[राजानमवलोक्य। आत्मगतम्।] उवकिदं क्खु दाणवेन्दसंरम्भेण। (उपकृतं खलु दानवेन्द्रसंरम्भेण।)

राजा—[उर्वशीं विलोक्य। आत्मगतम्।] स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नैव तपस्विनः सृष्टिरियमर्हति। कुतः।

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥१०॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे सहीअणो क्हिं क्खु भवे। (सखि चित्रलेखे सखीजनः कुत्र खलु भवेत्।)

---

चित्रलेखा—सखी उर्वशी! अब विश्वास करो। विपन्नों पर अनुकम्पा करने वाले महाराज ने उन देवताओं के शत्रु हताश दानवों को मार कर खदेड़ दिया है।

उर्वशी—[दोनों आँखें खोलकर] क्या अपना प्रभाव दिखानेवाले महेन्द्र ने इस विपत्ति से हम लोगों को उबार लिया?

चित्रलेखा—महेन्द्र ने नहीं। महेन्द्र के समान पराक्रमशाली महाराज पुरुरवा ने।

उर्वशी—[राजा की ओर देखकर अपने मन में] यह तो दानवों के इस संघर्ष ने हमारे लिए उपकार ही किया।

राजा—[उर्वशी को देखकर। अपने आप ही] यह ठीक ही था कि नारायण ऋषि को लुभाने के लिए जो अप्सराएँ गई थीं, उन्होंने जब ऋषि की जांघ से उत्पन्न इस सुन्दरी उर्वशी के अलौकिक रूप को देखा तो सब की सब लज्जित हो गईं। अथवा मैं समझता हूँ कि यह किसी तपस्वी की सृष्टि नहीं हो सकती है। क्योंकि इसके निर्माण के लिए कान्तिमान चन्द्रमा ही स्वयं विधाता बने होंगे अथवा शृंगार रस के देवता स्वयं कामदेव ने ही इसका निर्माण किया होगा, अथवा वसन्त ने ही इसकी रचना की होगी। अन्यथा वेद पढ़ते-पढ़ते, जो नितान्त जड़ हो गए थे एवं भोग-विलास के प्रति जिनके मन में कोई उत्कण्ठा नहीं रह गई थी, ऐसे बूढ़े वे पुराने ऋषि ऐसा मनोहर रूप किस प्रकार से उत्पन्न कर सकते थे॥१०॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा! हमारी सब सखियाँ कहाँ होंगी?

**चित्रलेखा**—सहि अभअप्पदाई महाराओ जाणादि। (सखि अभयप्रदायी महाराजो जानाति।)

**राजा**—[उर्वशीं विलोक्य।] महति विषादे वर्तते सखीजन। पश्यतु भवती।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः पथि स्थिता सुंदरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्सखीजनस्ते किमुदार्द्रसौहृदः॥११॥

**उर्वशी**—[आत्मगतम्।] अमिअं क्खु दे वअणम्। अहवा चन्दादो अमिअं त्ति किं अच्चरिअम्। [प्रकाशम्] अदो एव्व मे पेक्खिदुं तुवरदि हिअअम्। (अमृतं खलु ते वचनम्। अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम्। अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम्।)

**राजा**—[हस्तेन दर्शयन्]

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम्॥१२॥

[उर्वशी साभिलाष पश्यति।]

**चित्रलेखा**—हला किं पेक्खसि। (सखि किं प्रेक्षसे।)

**उर्वशी**—णं समदुक्खगदो पिबीअदि लोअणेहिं। (ननु समदुःखगतः पीयते लोचनाभ्याम्)

**चित्रलेखा**—[सस्मितम्] अइ को। (अयि कः।)

**उर्वशी**—णं पणइअणो। (ननु प्रणयिजनः।)

---

**चित्रलेखा**—सखी! इसे तो हमें अभय प्रदान करनेवाले महाराज ही जानते होंगे।

**राजा**—[उर्वशी को देखकर] आपकी सभी सखियाँ अत्यन्त विषाद में मग्न हैं। आप देखें न, हे सुन्दरी! आपको एक बार अकस्मात् देखकर भी जो अपनी आँखों को सफल कर लेता है, वह भी आपके बिना जब व्याकुल हो जाता है तो आपके प्रेम में पगी हुई वे आपकी सखियाँ यदि व्याकुल हो उठी हैं तो इसमें क्या बड़ी बात है॥११॥

**उर्वशी**—[मन ही मन] आपका वचन तो अमृत के समान है। अथवा चन्द्रमा से यदि अमृत बरसता है तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है? [प्रकट रूप में] इसीलिए तो उन्हें देखने के लिए मेरा हृदय धड़क रहा है।

**राजा**—[हाथ से दिखाते हुए] हे सुन्दर शरीर वाली! आपकी वे सखियाँ उधर हेमकूट के शिखर पर बैठी हुई आपके मुख को उसी प्रकार बड़ी उत्सुकता से देख रही हैं, जिस प्रकार ग्रहण से छूटे हुए चन्द्रमा को लोग देखते हैं॥१२॥

[उर्वशी अभिलाषा के साथ देखती है।]

**चित्रलेखा**—सखी! क्या देख रही हो?

**उर्वशी**—यह हमारे दुःख में दुःखी है अतः मैं अपने नेत्रों से इन्हें पी रही हूँ।

**चित्रलेखा**—वह कौन है?

**उर्वशी**—अपने प्रिय लोग।

रम्भा—[सहर्षमवलोक्य] हला चित्तलेहादुदीअ पिअसही उव्वसी गहिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी। (सखि चित्रलेखाद्वितीया प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान्सोम: समुपस्थितो राजर्षि:।)

मेनका—[निर्वर्ण्य] हला दुवे वि णो एत्थ पिआ उवणदा। इअं पच्चाणीदा पिअसही। अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी दीसदि। (सखि द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते। इयं प्रत्यानीता प्रियसखी। अयं चापरिक्षतशरीरो राजर्षि:।)

सहजन्या—सहि जुत्तं भणासि दुज्जओ दाणओ त्ति। (सखि युक्तं भणसि दुर्जयो दानव इति)

राजा—सूत इदं तच्छैलशिखरम्। अवतारय रथम्।

सूत:—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। [इति तथा करोति।]

[उर्वशी रथावतारक्षोभं नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते।]

राजा—[स्वगतम्] हन्त सफलो मे विषमावतार:।

यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१३॥

उर्वशी—हला किं पि परदो ओसर। (सखि किमपि परतोऽपसर।)

चित्रलेखा—णाहं सक्केमि। (नाहं शक्नोमि।)

---

रम्भा—[हर्षपूर्वक देखकर] सखियो! चित्रलेखा के साथ हमारी प्रिय सखी उर्वशी को लेकर यह राजर्षि उसी प्रकार यहाँ उपस्थित हो गए हैं जिस प्रकार विशाखा के दोनों तारों के साथ चन्द्रमा उपस्थित हो गए हों।

मेनका—[भलीभाँति देखकर] सखी! ये दोनों बातें हम लोगों के लिए सुखदायिनी हुईं। यह हमारी प्यारी सखी भी लौटकर आ गई और राजर्षि के शरीर में भी कहीं कोई घाव नहीं लगा।

सहजन्या—सखी! तुम ठीक ही कह रही हो। क्योंकि वे दानव तो दुर्जेय हैं।

राजा—सारथी! यही वह पर्वत शिखर है। रथ को नीचे उतारो।

सारथी—आयुष्मान् की जैसी आज्ञा। [रथ को नीचे उतारता है।]

[उर्वशी रथ के नीचे उतरने के झटके का अभिनय करती हुई डर कर राजा को पकड़ लेती है।]

राजा—[मन ही मन] इस ऊँची-नीची भूमि में मेरा उतरना सफल हो गया। क्योंकि रथ के हिलने-डोलने से इस दीर्घनेत्रवाली सुन्दरी के शरीर से मेरे शरीर के बारबार स्पर्श होने के कारण मुझे जो रोमांच हो आया है वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो प्रेम के अंकुर निकल आए हों ॥१३॥

उर्वशी—सखी! तनिक उधर हट चलो।

चित्रलेखा—मैं उधर नहीं हट सकूँगी।

रम्भा—एत्य पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिम्। (अत्र प्रियकारिणं संभावयामो राजर्षिम्।)

[सर्वा उपसर्पन्ति।]

राजा—सूत उपश्लेषय रथम्।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका।
सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी॥१४॥

[सूतो रथं स्थापयति।]

अप्सरसः—दिट्ठिआ महाराओ विजएण वड्ढदि। (दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते।)

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन।

उर्वशी—[चित्रलेखादत्तहस्तावलम्बा रथादवतीर्य] हला अधिअं परिस्सजह। ण क्खु मे आसो आसासो जहा पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सं त्ति। (सख्यः अधिकं परिष्वजध्वम्। न खलु मे आसीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्ये इति।)

[सख्यः परिष्वजन्ते]

मेनका—[साशंसम्।] सव्वहा कप्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होदु। (सर्वथा कल्पशतं महाराजः पृथिवीं पालयन्भवतु।)

सूतः—आयुष्मन्! पूर्वस्या दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः।
अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः॥१५॥

---

रम्भा—यहाँ हम लोग अपना भला करनेवाले राजर्षि का आगे बढ़कर स्वागत करें।

[सभी आगे बढ़ती हैं।]

राजा—सारथी! तनिक रथ को और आगे बढ़ाकर तब रोको। जिससे यह अत्यन्त अधीर हुई सुन्दरी अपनी घबराई हुई सखियों से उसी प्रकार मिल सकें जिस प्रकार वसन्त की शोभा लताओं से आनन्द मिलती है॥१४॥

[सारथी रथ को खड़ा कर देता है।]

अप्सराएँ—सौभाग्य से विजय प्राप्त करनेवाले महाराज को बधाई है।

राजा—और आप सब को अपनी प्रिय सखी से मिलने की बधाई है।

उर्वशी—[चित्रलेखा के हाथ का सहारा लेकर रथ से उतरकर] सखियों! आओ तुम सबको अपने कण्ठ से खूब चिपका कर भेंट लूं। मुझे तो तुम सबसे पुनः मिलने की आशा ही नहीं रह गई थी।

[सखियाँ भेंटती हैं।]

मेनका—[प्रशंसा करते हुए] महाराज! सैंकड़ो कल्पों तक धरती पर शासन करते रहें।

सारथी—आयुष्मन्! पूर्व दिशा की ओर अत्यन्त वेग से आते हुए रथ की घरघराहट सुनाई पड़ रही है। देखिए, उधर आकाश मार्ग से कोई सुवर्ण का भुजबन्ध पहने हुए इस पर्वत शिखर पर इस प्रकार उतर रहा है जैसे कोई बिजली से युक्त मेघ हो॥१५॥

अप्सरसः—[पश्यन्त्यः।] अम्मो चित्तरहो। (अहो चित्ररथः।)

[ततः प्रविशति चित्ररथः।]

चित्ररथः—[राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्।] दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रम-महिम्ना वर्धते भवान्।

राजा—अये! गन्धर्वराजः। [रथादवतीर्य।] स्वागतं प्रियसुहृदे।

(परस्पर हस्तौ स्पृशतः।)

चित्ररथः—वयस्य केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्या शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा। ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः। स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति। महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता। पश्य।

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया॥१६॥

राजा—सखे! मैवम्।

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः।
वसुधाधरकंदराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान्॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः।

---

अप्सराएँ—[देखती हैं] अरे! यह तो चित्ररथ जी हैं।

[तदनन्तर चित्ररथ प्रवेश करते हैं।]

चित्ररथ—[राजा को देखकर अत्यन्त आदर के साथ] महेन्द्र का उपकार करने में समर्थ महाराज! आप अपने पराक्रम से विजयी हुए हैं। आप को बधाई है।

राजा—अरे गन्धर्वराज! [रथ से नीचे उतरकर] स्वागत है आपका प्यारे मित्र!

[दोनों एक दूसरे से हाथ मिलाते हैं।]

चित्ररथ—मित्र! देवर्षि नारदजी द्वारा यह सुनकर कि उर्वशी को केशी हर ले गया है, इसे छुड़ाने के लिए इन्द्र ने गन्धर्वों की सेना को आज्ञा दी थी। [मैं वहीं जा रहा था कि] इसी बीच में चारणों द्वारा आपके विजयगान को सुनकर यहाँ आपके समीप चला आया। सो अब आप उर्वशी को साथ लेकर स्वयं हमारे संग चलकर देवराज इन्द्र से भेंट कर लें। आपने सचमुच देवराज इन्द्र का महान् उपकार किया है। देखिए न,

इस उर्वशी को पहले नारायण ऋषि ने उत्पन्न करके देवराज को सौंपा था और आज आप दैत्यों के हाथों से छीनकर इसे उन्हें सौंपेंगे॥१६॥

राजा—ऐसा न कहिए मित्र! यह सब इन्द्र भगवान् के ही परम पराक्रम का फल है, जो उनके मित्र अपने शत्रुओं को पराजित कर देते हैं। देखिए न, पर्वतों की कन्दरा में फैलनेवाली सिंह के गर्जन की प्रतिध्वनि भी हाथियों को डराकर दूर भगा देती है॥१७॥

चित्ररथ—आपका कहना ठीक ही है। क्योंकि विनम्रता ही पराक्रम का अलंकार है।

राजा—सखे नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम्। अतस्त्वमेवात्रभवतो प्रभोरन्तिकं प्रापय।

चित्ररथ—यथा भवान्मन्यते। इत इतो भवत्यः।

[सर्वाः प्रस्थिताः।]

उर्वशी—[जनान्तिकम्] हला चित्तलेहे, उवआरिणं राएसिं ण सक्कणोमि आमन्तेदुम्। ता तुमं एव्व मे मुहं होहि। (सखि चित्रलेखे! उपकारिणं राजर्षि न शक्नोम्यामन्त्रयितुम्। तत्त्वमेव मे मुखं भव।)

चित्रलेखा—[राजानमुपेत्य।] महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स कित्तिं सुरलोअं णेदुं। (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम्।)

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय।

[सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति।]

उर्वशी—[उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा।] अम्मो लदाविडवे एसा एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा। [सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती।] सहि चित्तलेहे मोआवेहि दाव णं। (अहो लता-विटप एषैकावली वैजयन्तिका मे लग्ना। सखि चित्रलेखे मोचय तावदेनाम्।)

चित्रलेखा—[विलोक्य विहस्य च।] आ दिढं क्खु लग्गा सा। असक्का मोआयिदुं। (आम् दृढं खलु लग्ना सा। अशक्यं मोचयितुम्।)

---

राजा—मित्र! इन्द्र से भेंट करने का मेरे लिए यह अनुकूल अवसर नहीं है। इसलिए इस समय तो आप ही इन्हें भगवान् इन्द्र के समीप पहुँचा दीजिए।

चित्ररथ—जैसी श्रीमान् की इच्छा। देवियो! इधर से आ जाओ।

[सब जाती हैं।]

उर्वशी—[अलग से] सखी चित्रलेखा! उपकारी राजर्षि को अपने यहाँ आमन्त्रित करने में अपने को असमर्थ पा रही हूँ अतः तुम ही मेरा मुख बन जाओ।

चित्रलेखा—[राजा के समीप आकर] उर्वशी निवेदन कर रही है कि यदि महाराज की आज्ञा हो तो अपनी प्रियसखी की भाँति महाराज की कीर्ति को अपने संग देवलोक को ले जाऊँ।

राजा—आप लोग चलें। फिर से दर्शन दीजिएगा।

[सभी अप्सराएँ गन्धर्वों के साथ आकाश में उड़ने का नाट्य करती हैं।]

उर्वशी—[उड़ने में रुकावट का अभिनय करती हुई] अरे! इस लता की शाखा में मेरी एक लड़ वाली वैजयन्ती की माला फँस गई है। [इसी बहाने से मुड़कर राजा की ओर देखती हुई] सखी चित्रलेखा! तनिक आकर इसे छुड़ा दो न।

चित्रलेखा—[देखकर हँसती हुई] अरे यह तो बुरी तरह फँस गई है। इसे छुड़ाना तो मेरे वश की बात नहीं है।

उर्वशी—अल पडिहासेन। मोआवेहि दाव ण। (अलं परिहासेन। मोचय तावदेनाम्।)

चित्रलेखा—आ दुम्मोआ विअ मे पडिहादि। तहा वि मोआवस्सं दाव। (आम् दुर्मोच्येव मे प्रतिभाति। तथापि मोचयिष्ये तावत्।)

उर्वशी—[स्मितं कृत्वा] पिअसहि सुमरेहि क्खु एद अत्तणो वअणम्। (प्रियसखि स्मरस्वं खल्वेतदात्मनो वचनम्।)

राजा—[स्वगतम्।]

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा॥१८॥

[चित्रलेखा मोचयति। उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनिःश्वासं सखीजनमुत्पतन्तं पश्यति।]

सूतः—आयुष्मन्!

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्प्रक्षिप्य दैत्याँल्लवणाम्बुराशौ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम्॥१९॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम्। यावदारोहामि। [सूतस्तथा करोति। राजा नाट्येन रथमारोहति।]

---

उर्वशी—मजाक मत करो। इसे छुड़ाओ तो पहले।

चित्रलेखा—अरे! यह तो मुझसे छूटती हुई नहीं दिखाई पड रही है। फिर भी छुड़ाने का प्रयत्न करती हूँ।

उर्वशी—[हँसकर] प्रिय सखी! अपने इन शब्दों को तुम स्मरण रखना।

राजा—[मन ही मन] हे लता! तुमने इस उर्वशी को रोककर मुझपर बड़ी कृपा की, जो इधर की तरफ आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े-बड़े नेत्रोंवाली को मैंने इसी बहाने से फिर से तो देख लिया॥१८॥

[चित्रलेखा माला को छुड़ा लेती है। उर्वशी राजा को देखकर साँसें खींचकर ऊपर उड़ती हुई अपनी सखियों को देखती है।]

सारथी—आयुष्मन्! इन्द्र के शत्रु दैत्यों को लवण समुद्र में झोंककर आपका यह वायव्य अस्त्र उसी प्रकार से आपके तूणीर में आकर बैठ गया जैसे कोई महान् सर्प अपनी बिल में आकर बैठ जाय॥१९॥

राजा—ठीक है, अब रथ को समीप ले आओ, जिससे मैं चढ़ सकूँ।

[सारथी रथ को समीप ले आता है और राजा रथ पर चढ़ने का नाट्य करता है।]

उर्वशी—[सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती।] अवि णाम पुणो वि उअआरिणं एदं पेक्खिस्सं। (अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये।)

[इति सखीभिः सह सखीभिर्निष्क्रान्ता।]

राजा—[उर्वशीवर्त्मोन्मुखः।] अहो दुर्लभाभिलाषी मदनः।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥२०॥

[इति निष्क्रान्तौ।]

इति प्रथमोऽङ्कः॥

# द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—ही ही भोः णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कणोमि जणाइण्णे अइण्णेण अत्तणो जीहं धारिदुम्। ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंपादे देवच्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम्। [परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिधाय स्थितः।] (ही ही भोः ! निमन्त्रितः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्णेनात्मनो जिह्वां धारयितुम्। तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इव आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रासादे आरुह्य स्थास्ये।)

[ततः प्रविशति चेटी]

अदिमयादक्खो। अहवा तणग्गलग्ग विअ अवस्सायसलिलं ण चिरं राअरहस्सं चिरं चिट्ठदि त्ति तक्केमि। ता जाव णं अण्णेसामि। [परिक्रम्यावलोक्य च।] अम्मो आलेक्खवाणरो विअ किंपि मन्तअन्तो णिहुदो अज्जमाणअवो चिट्ठदि। ता जाव णं उवसप्पामि।

---

# द्वितीय अंक

[तदनन्तर विदूषक प्रवेश करता है।]

विदूषक—हा, हा, हा, निमन्त्रित ब्राह्मण का पेट जिस प्रकार खीर खान से खूब भरा रहता है, उसी प्रकार राजा के रहस्यमय प्रेम की बात से मेरा पेट इतना भरा है कि मैं अपनी जीभ को इतने लोगों के बीच में रोक नहीं सकता हूँ। तो जब तक महाराज अपने राज-दरबार से निकलते हैं तब तक मैं इस देवच्छन्दक नामक भवन में चढ़कर बैठूं, जहाँ बिरले लोग पहुँच पाते हैं। [घूमकर बैठता है तथा दोनों हाथों से अपना मुख ढक लेता है।]

[तदनन्तर चेटी का प्रवेश होता है।]

चेटी—काशी-नरेश की पुत्री देवी ने आज्ञा दी है कि—निपुणिका ! जब से महाराज भगवान् सूर्यनारायण की उपासना करके वापस लौटे हैं तब से उनका मन बहुत उदास दिखाई पड़ता है। इसलिए तू जाकर उनके प्रियसखा माधव्य से उनकी उदासी का कारण पूछ आ। अतः अब मैं किस प्रकार उन मूर्ख ब्राह्मण को ठगकर उनका रहस्य प्राप्त करूँ। अथवा मैं तो यह समझती हूँ कि जिस प्रकार घास के अगले भाग पर लगी हुई ओस की बूँदें देर तक नहीं ठहर पाती हैं उसी प्रकार उस ब्राह्मण के पेट में राजा के

[उपसृत्य।] अज्ज वन्दामि। (आज्ञप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हञ्जे निपुणिके! यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तो महाराजस्ततः प्रभृति शून्यहृदय इव लक्ष्यते। तत्त्वमपि तावदार्यमाणवकाज्जानीह्यस्योत्कण्ठाकारणमिति। तत्कथं स ब्रह्मबन्धुरतिसंधातव्यः। अथवा तृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिलं न तस्मिन्राजरहस्यं चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि। तद्यावदेनमन्वेषयामि। अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। आर्य! वन्दे।)

[illegible]

भित्त्वा निष्क्रामतीव। भवति निपुणिके संगीतव्यापारमुज्झित्वा कुत्र प्रस्थितासि।)

चेटी—देवीए वअणेण अज्ज एव्व पेक्खिदुम्। (देव्या वचनेनार्यमेव प्रेक्षितुम्।)

विदूषकः—किं तत्तभोदी आणवेदि। (किं तत्रभवत्याज्ञापयति।)

चेटी—देवी भणादि जधा—अज्जस्स मम उअरि अदक्खिण्णम्। ण म अणुइहवेअण दुक्खिदं अवलोअदि त्ति। (देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम्। न मामनुचितवेदना दुःखितामवलोकयतीति।)

विदूषकः—णिउणिए! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं किंवि समाचरिदम्। (निपुणिके! किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्।)

चेटी—ज णिमित्तं उण भट्टा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा। (यन्निमित्तं पुनर्भर्ता उत्कण्ठितः तस्याः स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता।)

---

रहस्य की बातें भी देर तक नहीं ठहर सकेंगी। इसलिए चलकर उसे खोजूँ कि वह कहाँ है? [घूमकर तथा देखकर] अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्रलिखित वानर की तरह किसी विचार मे मग्न होकर चुपचाप बैठा हुआ है। तो फिर इसके समीप चलूँ। [समीप जाकर] आर्य! प्रणाम करती हूँ।

विदूषक—तुम्हारा कल्याण हो। [मन ही मन] इस दुष्ट चेटी को देखकर तो राजा के प्रेम-रहस्य की बातें मेरे हृदय को फाड़कर बाहर निकलना चाहती है। [मुँह को कुछ बटोर कर। प्रकट रूप मे] अरे निपुणिका! अपना गाना-बजाना छोड़कर तुम यहाँ किधर चल पड़ी हो?

निपुणिका—महारानी की आज्ञा से आपका ही दर्शन करने चली आ रही हूँ।

विदूषक—महारानी की मेरे लिए क्या आज्ञा है?

निपुणिका—देवी ने कहलाया है कि आर्य हमारे ऊपर कृपा नहीं कर रहे हैं। और न बिना किसी कारण के जो कठोर वेदना मैं झेल रही हूँ, उसमे कभी मुझे देखने के लिए ही आते हैं।

विदूषक—[सोचकर] निपुणिके! क्या हमारे प्रिय मित्र ने महारानी के प्रति कुछ विरुद्ध आचरण किया है।

निपुणिका—महाराज जिस स्त्री के लिए आजकल उत्कण्ठित हैं उसी का नाम लेकर उन्होंने महारानी को पुकारा है।

विदूषकः—[स्वगतम्] कहं सअं एव्व तत्तभोदा वअस्सेण रहस्सभेदो किदो। किं दाणिं अहं बम्हणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि। [प्रकाशम्।] किं तत्तभोदा उव्वसीणामधेएण आमन्तिदा। (कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः। किमिदानीमहं ब्राह्मणो जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। किं तत्र भवता उर्वशीनामधेयेनामन्त्रिता।)

चेटी—अज्ज का सा उव्वसी। (आर्य का सा उर्वशी।)

विदूषकः—अत्थि उव्वसि त्ति अच्छरा। ताए दंसणेण उम्मादिदो ण केवलं तं आआसेदि मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि। (अस्त्युर्वशीत्यप्सराः। तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणमशितव्यविमुखं दृढं पीडयति।)

चेटी—[स्वगतम्।] उग्घाडिदो मए भेओ भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स। ता गदुअ देवीए एदं णिवेदेमि। (उद्घाटितो मया भेदो भर्तुः रहस्यदुर्गस्य। तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि।) [इति प्रस्थिता।]

विदूषकः—णिउणिए ! विण्णावेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरम्—परिस्सन्तम्हि इमाए मिअतिण्हिआए वअस्सं णिअत्तावेदुम्। जइ भोदीए मुहकमलं पक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति। (निपुणिके विज्ञापय मम वचनेन काशिराजदुहितरम्—परिश्रान्तोऽस्म्येतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्यं निवर्तयितुम्। यदि भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति।)

चेटी—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति) [इति निष्क्रान्ता।]

[नेपथ्ये वैतालिकः]

---

विदूषक—[मन में] अरे ! तो क्या स्वयं महाराज ने ही अपना सब रहस्य खोल दिया। तब फिर ब्राह्मण होकर मैं ही क्यों अपनी जीभ को बाँधकर रख सकता हूँ। [प्रकट रूप में] तो क्या महाराज ने देवी को उर्वशी का नाम लेकर पुकारा था।

चेटी—आर्य ! वह उर्वशी कौन है ?

विदूषक—उर्वशी एक अप्सरा है। उसे देखकर महाराज उसके प्रेम में उन्मत्त होकर न केवल महारानी को ही कष्ट पहुँचा रहे हैं प्रत्युत इस ब्राह्मण को भी खूब खाने-पीने की साँसत में डाले हुए हैं।

निपुणिका—[मन में] मैंने तो महाराज के रहस्यमय दुर्ग का भेदन कर ही लिया। अब चल कर यह सारी बातें महारानी को बतला देती हूँ। [जाने को उद्यत होती है।]

विदूषक—अरे निपुणिका ! जरा सुनो। देखो, मेरी ओर से महारानी काशी नरेश की पुत्री से कह देना कि मैं तो अपने मित्र को इस मृगतृष्णा से बचे रहने की बात समझाते-समझाते थक गया हूँ। हाँ, यदि वे आपका मुख-कमल देख लेंगे तो उनका चित्त उर्वशी की ओर से जरूर फिर जायगा।

चेटी—जैसी श्रीमान् की आज्ञा। [बाहर जाती है।]

[नेपथ्य में वैतालिक गाते हैं]

जयतु जयतु देव ।

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतो नः।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः ॥१॥

विदूषक—[कर्णं दत्वा] एसो उण पिअवअस्सो धम्मासणसमुत्थिदो इदो एव्व आअच्छदि। ता जाव पासपडिवत्ती होमि। [इति निष्क्रान्तः।] (एष पुनः प्रियवयस्यो धर्मासनसमुत्थित इत एवागच्छति। तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि।)

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च।]

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२॥

विदूषक—सपीडा क्खु जादा तत्तभोदी कासिराअदुहिदा। (सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता।)

राजा—[निरीक्ष्य] अपि रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः।

---

महाराज की जय हो, जय हो। हम समझते हैं कि आप तथा भगवान सूर्यनारायण दोनों अपना-अपना नित्य का कर्त्तव्य ठीक एक जैसा ही करते हैं। क्योंकि सूर्यनारायण जगत का अन्धकार दूर करते हैं तो आप अपनी समस्त प्रजा का दुःख दूर करते हैं। प्रकाशमान नक्षत्रों के एकमात्र स्वामी सूर्यनारायण जिस प्रकार अपने कर्त्तव्य से तनिक सा छुटकारा पाकर आकाश के मध्यभाग में क्षण भर के लिए विश्राम करते हैं, उसी प्रकार हे महाराज! आप भी अपने राज काज से कुछ क्षणों के लिए अवकाश प्राप्त करके दिन के छठें भाग अर्थात् तीसरे पहर विश्राम करते है॥१॥

विदूषक—[कान लगाकर]यह हमारे प्रिय सखा अपने राज-सिंहासन से उठकर इसी ओर चले आ रहे हैं। तो चलूँ मैं भी उनके साथ हो लूँ [जाता है।]

॥ प्रवेशक समाप्त ॥

[तदनन्तर अनमने से राजा तथा विदूषक प्रवेश करते हैं।]

राजा—कामदेव के अमोघ बाण ने हमारे हृदय में उस स्वर्ग लोक की सुन्दरी के प्रवेश का जो मार्ग बना दिया उससे वह दर्शनमात्र से ही प्रविष्ट हो गई है॥२॥

विदूषक—[मन ही मन] सचमुच काशीनरेश की पुत्री महारानी अब पीडित हुई।

राजा—[उसकी ओर देखकर] अरे! आपने मेरे रहस्य की बात को तो छिपा रखा है न?

विदूषकः—[आत्मगतम्] हद्धी, हद्धी! वञ्चिदोम्हि दुट्ठ दासीए णिउणिआए। अण्णधा कधं एव्वं पुच्छदि वअस्सो। (हा धिक् हा धिक्! वञ्चितोऽस्मि दुष्टदास्या निपुणिकया। अन्यथा कथमेवं पृच्छति वयस्यः।)

राजा—किं भवांस्तूष्णीमास्ते।

विदूषकः—भो एव्वं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पडिवअणम्। (भोः एवं मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम्।)

राजा—युक्तम्। अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि।

विदूषकः—भो महाणसं गच्छह्म्। (भो महानसं गच्छावः।)

राजा—किं तत्र।

विदूषकः—तहिं पञ्चविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणा पेक्खमाणेहिं सक्कं उक्कण्ठा विणोदेदुम्। (तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजना समाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम्।)

राजा—तत्रेप्सितसंनिधानाद् भवान् रंस्यते। मया खलु दुर्लभप्रार्थनं कथमात्मा विनोदयितव्यः।

विदूषकः—ण भवं वि तत्तभोदीए उव्वसीए दंसणपहं गदो। (ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः।)

राजा—ततः किम्।

विदूषकः—ण क्खु दे दुल्लहं त्ति तक्केमि। (न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि।)

---

विदूषक—[मन ही मन] अरे धिक्कार है, धिक्कार है। उस दुष्ट दासी निपुणिका ने तो बड़ा धोका दे दिया, नहीं तो मेरे प्रिय मित्र मुझसे इस प्रकार क्यों पूछते?

राजा—आप चुप क्यों हो गए हैं?

विदूषक—अरे! मैंने अपनी जीभ को ऐसा कसकर बाँध दिया है कि आपकी बात का भी उत्तर शीघ्र नहीं दे पाता हूँ।

राजा—ठीक है। किन्तु यह तो बताओ कि मैं किस प्रकार से अपना मन बहलाऊँ?

विदूषक—अरे! चलिए रसोई घर में चला जाय?

राजा—तो वहाँ क्या है?

विदूषक—वहाँ पाँच प्रकार के भोजन एवं पकवानों की सामग्री तथा तैयारी को देखकर हम लोगों की सारी उदासी जाती रहेगी।

राजा—वहाँ अपनी मनचाही वस्तु को देखकर तुम तो रम जाओगे किन्तु हमारे मन बहलाव का वहाँ क्या उपाय होगा, क्योंकि हमारी मनचाही वस्तु तो वहाँ दुर्लभ ही रहेगी।

विदूषक—किन्तु हाँ, आपको भी तो उस उर्वशी ने देखा होगा न?

राजा—तो इससे क्या होना है?

विदूषक—तब तो मैं समझता हूँ कि तुम्हारे लिए उसका मिलना कुछ कठिन न होगा।

राजा—पक्षपातोऽपि तस्या सद्रूपस्यालौकिक एव।

विदूषकः—एव्व मन्तअन्तेण मे वड्ढिद कोदूहलम्। किं तत्तभोदी उव्वसी अदुदुदीआ रूवेण अह वीअ विरूवदाए। (एवं मन्त्रयता मम वर्धितं कौतूहलम्। किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया।)

राजा—माणवक प्रत्यवयवमशक्यवर्णना तामवेहि। तेन हि समासत श्रूयताम्।

विदूषक—भो अवहिदोम्मि। (भोः अवहितोऽस्मि।)

राजा—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥३॥

विदूषकः—अदो दाव तुए दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वद गहिदम्। ता दाव तुम कहिं पत्थिदो। (अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम्। तत्तावत्त्वं कुत्र प्रस्थितः।)

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु।

विदूषकः—[आत्मगतम्] का गदी। [प्रकाशम्] इदो इदो भव। (का गतिः। इत इतो भवान्।)

[इति परिक्रामतः।]

विदूषकः—एसो पमदवणपरिसरो। आणमिअ पच्चुवगदो भव आअन्तुओ दक्खिणमारुदेण। (एष प्रमदवनपरिसरः। आनम्य प्रत्युपगतो भगवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन।)

---

राजा—उस अत्यन्त सौन्दर्य ने उर्वशी में जो पक्षपात किया है वह अलौकिक ही है।

विदूषक—आपके इस कथन से तो मेरा कौतूहल और अधिक बढ रहा है। क्या उर्वशी जी सुन्दरता में इतनी ही अनुपम है, जितना मैं कुरूपता में हूँ।

राजा—माणवक! यही जान लो कि उसके अगो की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए सक्षेप मे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे सुनो।

विदूषक—हाँ, सावधान हूँ।

राजा—उसका शरीर आभूषणो का भी आभूषण है, शृगार के प्रसाधनो का भी शृगार है, और उपमायोग्य वस्तुओ की भी उससे उपमा दी जा सकती है।

विदूषक—इसीलिए उस स्वर्गीय जल की अभिलाषा मे आपने चातक का व्रत धारण किया है। अच्छा आप इधर कहाँ चल रहे हैं?

राजा—प्रेम में दुःखी लोगों के लिए एकान्त को छोडकर दूसरी कोई चीज शरण नही होती। तो चलो मुझे प्रमदवन की ओर ले चलो।

विदूषक—[मन ही मन] क्या उपाय है? [प्रकट रूप मे] इधर से चलें महाराज!

[दोनों जाते हैं।]

विदूषक—यह प्रमदवन की सीमा आ गई। यह आप जैसे तेजस्वी अतिथि के आगमन पर दक्षिणपवन बडी विनम्रता के साथ अगवानी कर रहा है।

राजा—[विलोक्य] उपपन्नं विशेषणमस्य वायोः। अयं हि—

निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे॥४॥

विदूषकः—सरिसो एव्व से अहिणिवेसो। [इति परिक्रम्य।] इदं पमदवणम्। पविसदु भवम्। (सदृश एवास्याभिनिवेशः। एतत्प्रमदवनम्। प्रविशतु भवान्।)

राजा—वयस्य प्रविशावः।

[उभौ प्रवेशं नाटयतः।]

राजा—[त्रासं रूपयित्वा।] वयस्य साधु मनसा समर्थितं आपत्प्रतीकारं किल ममोद्या-नप्रवेशेन। तच्चान्यथैवोपपन्नम्।

विविक्षोर्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं महत्॥५॥

विदूषकः—कह विअ। (कथमिव।)

राजा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥६॥

विदूषकः—अलं परिदेविदेण। अइरेण दे इट्ठसम्पादणेण अणङ्गो एव्व दे सहाओ भविस्सदि। (अलं परिदेवितेन। अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव ते सहायो भविष्यति।)

---

राजा—[देखकर] इस वायु का दक्षिण विशेषण उचित ही है। क्योंकि यह माधवी-लता को पुष्परस से सींचता हुआ और कुन्द की लता को नचाता हुआ ऐसा मालूम पड़ रहा है मानों सभी प्रेमिकाओं से एक साथ प्रेम करनेवाला और सबको एक साथ प्रसन्न रखनेवाला कोई निपुण कामी हो॥४॥

विदूषक—यह भी आपके समान ही है, इसी से इसके प्रति इतना आकर्षण है। यह प्रमदवन है। आप प्रवेश करें।

राजा—मित्र! आगे तुम चलो।

[दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।]

राजा—[डरने का अभिनय करते हुए] मित्र! मैंने अपनी विपदा से मुक्ति पाने के लिए इस प्रमदवन में प्रवेश करने का अच्छा उपाय सोचा था। किन्तु वह तो विपरीत सिद्ध हो रहा है। अपने चित्त की पीड़ा को शान्त करने के लिए इस उद्यान में मेरा आगमन वैसा ही हुआ जैसे प्रवाह में बहते हुए को चढ़ाव की ओर तैरना पड़ जाय॥५॥

विदूषक—यह कैसे?

राजा—अति कठिनता से प्राप्त होनेवाली वस्तु के लिए कामना करनेवाले मेरे मन को कामदेव ने पहले ही बहुत क्षीण कर दिया था, उस पर देख रहा हूँ कि यहाँ उद्यान में इन आम के वृक्षों में नई-नई कोंपलें फूट निकली हैं, जिनके पीले पत्तों को मलय-पवन ने उन्मूलित कर दिया था॥६॥

विदूषक—यह रोना-धोना व्यर्थ है। यह कामदेव ही थोड़े दिनों में आपका अभीष्ट सिद्ध करके सहायक बन जायगा।

राजा—प्रतिगृहीत ब्राह्मणवचनम्।

[इति परिक्रामतः]

विदूषकः—पेक्खदु भव वसतावदार सूचअ अहिरामत्तण पमद वणस्स। (प्रेक्षतां भवान्वसन्तावतार सूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य।)

राजा—ननु प्रतिपदमेवावलोकयामि। अत्र हि—

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ॥७॥

विदूषकः—भो एसो क्खु मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामण्डवो भमरसपट्टपडि- [illegible] ता अणुगेण्हिअदु दाव एसो। (भोः [illegible] भ्रमरसपट्टपतितैः कुसुमैः स्वयमिव [illegible]

राजा—यथा भवते रोचते।

[परिक्रम्योपविशतः।]

विदूषकः—दाणि इह सुहासीणो भव ललिदलदाविलोहीअमाणणअणो उव्वसीगद उक्कंठ विणोदेदु। (इदानीमिह सुखासीनो भवाल्ललितलताविलोभ्यमानमयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु।)

---

राजा—ब्राह्मण का कथन स्वीकार करता हूँ। [दोनो घूमते हैं।]

विदूषक—महाराज देखें, वसन्त के आगमन की सूचना देते हुए यह प्रमद वन कितना सुरम्य बन गया है।

राजा—मैं तो पग-पग पर देख रहा हूँ। यहाँ तो, यह है कुरबक का पुष्प, जो स्त्रियों के नखों के समान लाल और श्वेत वर्ण का है और जिसके दोनों छोर श्यामल वर्ण के हैं। अपनी उत्कृष्ट लालिमा से सुन्दर दिखाई पडनेवाला यह बाल अशोक का वृक्ष है, जो बस अब खिलने ही वाला है। आम के वृक्षों में कुछ-कुछ दिखाई पडनेवाले पराग के कारण पीली दिखाई पडनेवाली मंजरी फूट रही है। इस प्रकार हे मित्र! मानो अपनी मुग्धावस्था एवं यौवनावस्था के बीच में यह वसन्त की शोभा विराजमान है ॥७॥

विदूषक—यह अतिमुक्त लता का मण्डप, जो मणिजटित पत्थर की चौकी से युक्त है, भ्रमरों के उडने से गिरे हुए कुसुमों द्वारा मानो स्वयं आप के स्वागत की तैयारी करके प्रतीक्षा कर रहा है। तो चलकर इसको अनुगृहीत कीजिए।

राजा—आप को जैसा अच्छा लगे। [दोनों घूम कर बैठते हैं।]

विदूषक—अब यहाँ सुखपूर्वक बैठकर सुन्दर लताओं में अपने नेत्रों को उलझाकर उर्वशी की चिन्ता को मिटा डालिए।

राजा—[निःश्वस्य]

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम्॥८॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम्।

विदूषकः—[विहस्य] भो अहल्लाकामुअस्स महिन्दस्स वेज्जो सचिवो उव्वसीपज्जुस्सुअस्स अ भवदो अहं दुवेवि एत्थ उम्मत्तआ। (भोः अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतोऽहं द्वावप्यत्रोन्मत्तौ।)

राजा—मा मैवम्। अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी। तदुपायश्चिन्त्यताम्।

विदूषकः—एसो चिंतेमि। मा उण परिदेविदेण मम समाधिं भिंधि। (एष चिन्तयामि। मा पुनः परिदेवितेन मम समाधिं भिन्धि।) [इति चिन्तां नाटयति।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा। स्वगतम्।]

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः॥९॥

[इति आताशस्तिष्ठति]

[ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च।]

चित्रलेखा—हला कहिं दाणि अणिदिट्ठकारणं गच्छीअदि। (हला क्वेदानीमनिर्दिष्टकारणं गम्यते।)

---

राजा—[गहरी साँस लेकर] उस उर्वशी की सुन्दरता देखकर हमारी इन आँखों पर जो दुराग्रह बहुत बढ़ गया है, उसके कारण शाखाओं से झुकी तथा पुष्पों से लदी हुई इस उद्यान की लताओं पर भी वे नहीं बँध पा रही हैं॥८॥

इसलिए वह उपाय सोचो, जिससे मेरी कामना को सफलता प्राप्त हो।

विदूषक—[हँसकर] अरे! अहल्या के प्रति अभिलाषी महेन्द्र की सहायता करने वाले औषधियों के स्वामी चन्द्रमा तथा उर्वशी के लिए लालायित आप की सहायता करने वाला मैं—ये दोनों पागल हैं।

राजा—ऐसा मत कहो। अधिक स्नेह ही कार्य की पूर्ति देखता है। तो कोई उपाय तुम सोचो।

विदूषक—यह मैं उपाय सोच रहा हूँ। तब फिर रोना-धोना मचाकर मेरी समाधि आप भंग न करें। [सोचने का नाट्य करता है।]

राजा—[अच्छे शकुन की सूचना देते हुए, मन ही मन] पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली उस सुन्दरी का मिलना सुलभ तो नहीं है किन्तु न जाने क्यों कामदेव मुझे शुभ शकुन दिखा रहा है। इससे मेरा चित्त अकस्मात् ऐसा सुप्रसन्न हो उठा है मानो हमारा मनोरथ अब सिद्ध ही होनेवाला है॥९॥

[इस प्रकार आशा लगा कर बैठता है।]

[तदनन्तर आकाशगामी विमान पर चढ़ी हुई उर्वशी और चित्रलेखा का प्रवेश होता है।]

चित्रलेखा—सखी! तुम इस समय यहाँ बिना कुछ सोचे-समझे चली जा रही हो।

उर्वशी—[मदनवेदनमभिनीय सलज्जम्] सहि तदा हेमऊडसिहरे लदाविडवेण खणविग्घिदआआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि कहिं गच्छीअदि त्ति। (सखि तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्नताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि क्व गम्यते इति।)

चित्रलेखा—किं णु क्खु तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि। (किं नु खलु तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थितासि।)

उर्वशी—अह इं। अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ। (अथ किम्। अयं मेऽपहस्तितलज्जो व्यवसायः।)

चित्रलेखा—को उण सहीए तहिं पुढमं पेसिदो। (कः पुनः सख्या तत्र पुरतः प्रेषितः।)

उर्वशी—णं हिअअं। (ननु हृदयम्।)

चित्रलेखा—तथा वि सअं एव्व साहु संपधारिअदु दाव। (तथापि स्वयमेव साधु सम्प्रधार्यतां तावत्।)

उर्वशी—सहि मअणो क्खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि। (सखि मदनः खलु नियोजयति। किमत्र सम्प्रधार्यते।)

चित्रलेखा—अदोवरं णत्थि मे वअणम्। (अतः परं नास्ति मे वचनम्।)

उर्वशी—तेण हि आदिसीअदु मग्गो जेण तहिं गच्छन्तीण अंतराओ ण भवे। (तेन ह्यादिश्यतां मार्गो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरायो न भवेत्।)

चित्रलेखा—सहि ! विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबंधणविज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघणिज्जा कदम्ह। (सखि ! विस्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।)

---

उर्वशी—[काम वेदना का अभिनय करती हुई, लज्जा के साथ] उस समय हेमकूट पर्वत के शिखर पर जब लता की शाखा में माला के उलझ जाने पर मुझे क्षण भर के लिए विलम्ब हो गया था तो उस समय मेरा मजाक बनाकर फिर अब पूछ रही हो कि कहाँ चली जा रही हो।

चित्रलेखा—तो क्या तुम उन्हीं राजर्षि पुरूरवा के पास जा रही हो।

उर्वशी—और क्या ? आज मैंने सारी लज्जा छोड़कर यही ठान लिया है।

चित्रलेखा—तो तुम्हारे वहाँ पहुँचने का सन्देश लेकर वहाँ कोई भेजा भी गया है।

उर्वशी—अरे ! अपने हृदय को भेज दिया है ?

चित्रलेखा—फिर भी इस काम का बुरा-भला परिणाम स्वयं भली-भाँति सोच-विचार लो।

उर्वशी—सखी ! कामदेव ने ही जब मुझे इस काम में नियुक्त कर दिया है तब क्या इस विषय में सोच-विचार करूँ।

चित्रलेखा—तब इसके बाद कुछ कहने के लिए तो मेरे पास शब्द ही नहीं है।

उर्वशी—तो वह मार्ग बतलाओ, जिस के द्वारा वहाँ जाती हुई हम दोनों को कोई विघ्न न हो।

चित्रलेखा—सखी ! विश्वास करो। देवगुरु बृहस्पति ने अपराजिता नामक, शिखा बाँधने की विद्या सिखाते हुए हम दोनों को ऐसी शक्ति दे दी है कि देवताओं के शत्रु राक्षस लोग भी हमारा कुछ नहीं कर सकते।

उर्वशी—[सलज्जम्] अहो विसुमरिदं मे हिअअं। (अहो विस्मृतं मे हृदयम्।)

[उभे भ्रमणं रूपयतः।]

चित्रलेखा—सहि! पेक्ख पेक्ख। एदं भअवदीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अत्ताणअं ओलोअन्तस्स विअ पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूदं तस्स राएसिणो भवणं उवट्ठिदम्ह। (सखि! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद्भगवत्याः भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वात्मानमवलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्वः।)

उर्वशी—[सस्पृहमवलोक्य] ण वत्तव्वं ठाणन्तरगदो सग्गो त्ति। [विमृश्य] सहि कहिं णु क्खु सो आवण्णाणुकम्पी भवे। (ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति। सखि क्व नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्।)

चित्रलेखा—हला एदस्सिं णन्दणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे अवदरिअ जाणिस्सामो। (हला एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यावः।)

[उभे अवतरतः।]

चित्रलेखा—[राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्] सहि एसो क्खु पढमोदिदो विअ चन्दो कोमुदिं विअ तुमं पडिच्छदि। (सखि एष खलु प्रथमोदित इव चन्द्रः कौमुदीमिव त्वां प्रतीच्छति।)

उर्वशी—[विलोक्य] हला दाणिं पढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि। (हला इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेषं प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति।)

चित्रलेखा—जुज्जदि। ता एहि उवसप्पम्ह। (युज्यते। तदेहि उपसर्पावः)

---

उर्वशी—[लज्जा के साथ] यह बात तो मैं हृदय से भूल ही गई थी।

[दोनों जाने का नाट्य करती हैं।]

चित्रलेखा—सखी! देखो, देखो। यही वह प्रतिष्ठानपुर के सिर का अलङ्कार-स्वरूप राजर्षि पुरूरवा का वह भवन है, जो यमुना जी के संगम के कारण विशेष रूप से पवित्र गंगा जी के जल में अपने को देखता हुआ-सा दिखाई पड़ रहा है। हम लोग उसके समीप पहुँच गई हैं।

उर्वशी—[बड़े चाव से देखती हुई] सखी, यह कहना चाहिए कि दूसरे स्थान पर आया हुआ स्वर्ग ही यह है। दुखिया पर अनुकम्पा करनेवाले वह महाराज कहाँ पर होंगे?

चित्रलेखा—सखी! इसी नन्दनवन के एक भाग की भाँति मनोहर प्रमदवन में उतरकर हम लोग पता लगाएँगी। [दोनों उतरती हैं।]

चित्रलेखा—[राजा को देखकर सहर्ष] सखी! यह देखो प्रथम निकले हुए चन्द्रमा के समान महाराज कौमुदी की भाँति आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

उर्वशी—[देखकर] सखी! आज तो महाराज पहले दिन से भी अधिक सुन्दर दिखाई पड़ रहे हैं।

चित्रलेखा—ठीक कह रही हो। चलो, चलें उनके पास।

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सं। तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव पासवत्तिणा वअस्सेण सह विअणे किं मंतअंतो चिट्ठदि त्ति। (न तावदुपसर्पिष्ये। तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वगतास्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयमाणस्तिष्ठतीति।)

चित्रलेखा—ज दे रोअदि। (यत्ते रोचते।)

[उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः]

विदूषकः—भो चिंतिदो मए दुल्लहप्पणइणीसमाअमोवाओ। (भोः चिन्तितो मया दुर्लभ प्रणयिनीसमागमोपायः।)

[राजा तूष्णीमास्ते।]

उर्वशी—[सेर्ष्यम्] का णु क्खु धण्णा इत्थिआ जा इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं किदत्थेइ। (का नु खलु धन्या स्त्री या अनेन प्रार्थ्यमानात्मानं कृतार्थयति।)

चित्रलेखा—किं उण मणुस्सअं विडम्बीअदि। (किं पुनर्मानुष्यं विडम्ब्यते।)

उर्वशी—सहि भीआमि सहसापभावादो विण्णादुं। (सखि बिभेमि सहसा प्रभावाद्विज्ञातुम्।)

विदूषकः—भो ण भणामि चिंतिदो मए उवाओ त्ति। (भोः ननु भणामि चिन्तितो मया उपाय इति।)

राजा—तेन हि कथ्यताम्।

विदूषकः—सिविणसमाअमआरिणिं णिद्दं सेविदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं चित्तफलए आलिहिअ ओलोअंतो चिट्ठदु। (स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवता भवान्। अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।)

---

उर्वशी—नही, उनके समीप मैं नही जाऊँगी। अपनी तिरस्करणी विद्या के द्वारा मैं छिपकर उनके समीप मे ही खडी होकर सुनूँगी कि वे अपने बगल मे बैठे हुए मित्र से एकान्त मे क्या मन्त्रणा कर रहे हैं।

चित्रलेखा—जो तुम्हे अच्छा लगे। [दोनों ऐसा ही करती हैं।]

विदूषक—अरे! मैंने उस दुर्लभ प्रेयसी के समागम का उपाय सोच लिया है।

[राजा चुप बैठा रहता है।]

उर्वशी—[ईर्ष्या के साथ] ऐसी कौन सी परम भाग्यशालिनी सुन्दरी स्त्री है, जो इनके द्वारा प्रार्थित होकर अपने को कृतार्थ मानती है।

चित्रलेखा—क्यों मनुष्यो की तरह बातें कर रही हो।

उर्वशी—सखी! मैं अपनी दैवी शक्ति द्वारा सब बातें एक साथ जान लेने मे डरती हूँ।

विदूषक—अरे! सुनिए, मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच लिया है।

राजा—तो बताओ न?

विदूषक—स्वप्न मे समागम करा देनेवाली निद्रा की आप सेवा करें या चित्रफलक पर उर्वशी को अंकित कर उसे देखते बैठे रहे।

उर्वशी—[सहर्षमात्मगतम्] हीणसत्त हिअअ समस्सस समस्सस। (हीनसत्व हृदय समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।)

राजा—उभयमप्यनुपपन्नम्। पश्य।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य ता
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥१०॥

चित्रलेखा—सुद तुए अवण। (श्रुतं त्वया वचनम्।)

उर्वशी—सहि! सुद। ण उण पज्जत्त हिअअस्स। (सखि! श्रुत। न पुन. पर्याप्त हृदयस्य।)

विदूषक—एत्तिओ एव्व मे मदिविहओ। (एतावानेव मे मतिविभव।)

राजा—[नि श्वस्य]

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम्।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चबाणः कृती ॥११॥

चित्रलेखा—सहि! सुद तुए। (सखि! श्रुतं त्वया।)

---

उर्वशी—[हर्ष के साथ, मन ही मन] अरे कमजोर हृदय! धैर्य धारण करो! धैर्य धारण करो!

राजा—ये दोनों ही बातें नहीं बन सकती। देखो, कामदेव के बाणों ने हमारे हृदय को इस तरह से सदैव पीडित कर रखा है कि किस प्रकार से उस स्वप्न-समागमकारिणी निद्रा को प्राप्त कर सकता हूँ। और हे मित्र! इसी प्रकार मैं प्रियतमा का चित्र भी पूरा-पूरा बना नहीं सकता क्योंकि चित्र को समाप्त किए बिना ही मेरी आँखें आँसुओं से भर जायेंगी और चित्र अधूरा रह जायगा ॥१०॥

चित्रलेखा—तुमने बात तो सुन ली न!

उर्वशी—सखी! सुन तो ली बात। किन्तु अभी तक मेरे हृदय को पूरा पूरा भरोसा नहीं हो सका है।

विदूषक—मेरी बुद्धि का पराक्रम तो बस इतना ही था।

राजा—[गहरी साँसें खींचकर] वह मेरे मन की इस अत्यन्त कठिन व्याधि को नहीं जानती होगी अथवा अपने प्रभाव को समझती हुई वह जानबूझकर भी मेरे प्रेम को ठुकरा रही होगी। मैं ऐसा समझता हूँ कि मेरे मन में उस से मिलने की जो अभिलाषा है, उसे चूर-चूर करके मेरे जीवन को निष्फल और नीरस बनाकर ही कामदेव कृतार्थ होगा ॥११॥

चित्रलेखा—सखी! यह सुना तुमने?

उर्वशी—हद्धी हद्धी ! म एव्व अवगच्छदि। [सखीमवलोक्य] सहि असमत्थम्हि अगदो भविअ से पडिवअणस्स। ता पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण सपादिदउत्तरा होदु इच्छामि। (हा धिक् हा धिक् ! मामेवमवगच्छति। सखि असमर्थास्म्यग्रतो भूत्वास्य प्रतिवचनस्य। तत्प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण संपादितोत्तरा भवितुमिच्छामि।)

चित्रलेखा—हला अणुमद मे। (हला अनुमतं मे।)

[उर्वशी नाट्येन ससंभ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिपति।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा ससंभ्रमम्] अविहा अविहा। भो किं णु क्खु एद भुअगणिम्मोअ किं म खादिदु णिवडिदम्। (अविधा अविधा। भोः किं नु खलु एतत्। भुजङ्गनिर्मोकः किं मां खादितुं निपतितः।)

राजा—[विभाव्य विहस्य च] वयस्य नाय भुजङ्गनिर्मोकः। भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः।

विदूषकः—ण अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविद सुणिअ समाणानुराअसूअआइं अक्खराइं विसज्जिआइं होन्ति। (ननु अदृष्टयोर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा समानानुरागसूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः।)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्। [गृहीत्वानुवाच्य च सहर्षम्] सखे प्रसन्नस्ते तर्कः।

विदूषकः—ही ही भो। किं बम्हणवअणाणि अण्णधा होन्ति। दाणिं पसीददु भवं। ज एत्थ लिहिद तं सुणिदु इच्छामि। (ही ही भोः। किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति। तदिदानीं प्रसीदतु भवान्। यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि।)

---

उर्वशी—हाय, हाय, धिक्कार है, धिक्कार है, मुझे यह ऐसी क्रूर समझ रहे हैं। [सखी को देखकर] सखी ! इनके सामने पहुँचकर इनकी बातों का उत्तर देने में मैं असमर्थ हो रही हूँ। इसलिए मैं अपनी दैवी शक्ति से एक भोजपत्र उत्पन्न करके उसी पर अपना उत्तर लिख देना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—हाँ, मैं भी इससे सहमत हूँ।

[उर्वशी बड़े चाव से भोजपत्र पर अपना उत्तर लिखने का नाट्य करती है, और उसे राजा के आगे फेंक देती है।]

विदूषक—[देखकर घबराते हुए] हाय रे, मुझे निगल जाने के लिए यह सर्प की केंचुली कहाँ से गिर पड़ी है।

राजा—[देखकर और हँसकर] मित्र ! यह सर्प की केंचुली नहीं है, यह भोजपत्र है, जिसपर कुछ लिखा हुआ है।

विदूषक—अरे ! मैं समझता हूँ, छिपी हुई उर्वशी ने तुम्हारा रोना-धोना सुनकर तुम्हारे समान अपना भी प्रेम प्रकट करने के लिए यह पत्र लिखकर छोड़ दिया होगा।

राजा—मनोरथ के लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। [पत्र को लेकर और उसे पढ़कर सहर्ष] मित्र ! तुम्हारा अनुमान सत्य निकला।

विदूषक—अहा, हा, क्या ब्राह्मण की बात कभी झूठी होती है। तब तो आप प्रसन्न हो जायें। इसमें जो कुछ लिखा है, मैं भी उसे सुनना चाहता हूँ।

उर्वशी—साहू। अज्ज णाअरिओसि। (साधु। आर्य नागरिकोऽसि।)

राजा—वयस्य श्रूयताम्।

विदूषकः—अवहिदो म्हि। (अवहितोऽस्मि।)

राजा—श्रूयताम् [वाचयति]

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अणुमिआ
तह अणुरत्तस्य जइ णाम तुह उवरि।
किं मे ललिअपारिजाअसणिज्जयम्मि होन्ति
णंदणवणवादा वि अच्चुण्हआ सरीरए॥१२॥

(स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वयाऽज्ञाना तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि।
किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके।)

उर्वशी—किं णु क्खु भवद भणिस्सदि। (किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति।)

चित्रलेखा—ण भणिदं एव्व मिलाणकमलणालसरिसेहिं अंगेहिं। (ननु भणितमेव म्लानकमलनालायमानैरङ्गैः।)

विदूषकः—दिट्ठिआ मए बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणं विअ उवलद्धं भवदा उक्कण्ठिदेण समासासणं। (दिष्ट्या मया बुभुक्षितेन स्वस्तिवाचनमिवोपलब्धं भवतोत्कण्ठितेन समाश्वासनम्।)

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन॥१३॥

---

उर्वशी—धन्य हो, तुम सच्चे नागरिक हो ?

राजा—मित्र ! सुनो।

विदूषक—हाँ, सावधान हूँ।

राजा—सुनो [पढ़ता है] स्वामिन् ! प्रेम से भरे हुए हृदय वाले आपके प्रति मेरी जिस उदासीनता की संभावना आप करते हैं, यदि वही बात रहती तो हमारा यह शरीर सुन्दर पारिजात के पल्लवों से बनाई गई शैय्या पर क्यों छटपटाता रहता तथा नन्दन वन का सुखदायी पवन भी उसे अत्यन्त उष्ण क्यों मालूम पड़ता॥१२॥

उर्वशी—देखो, अब इसपर यह क्या कहते हैं ?

चित्रलेखा—अरे ! इनके मुरझाए हुए कमल नाल के समान अंगों ने ही सब कुछ कह डाला है।

विदूषक—सौभाग्य से जैसे भूख लगने पर स्वस्तिवाचन में मिष्ठान मिल जाता है, उसी प्रकार उर्वशी के प्रति लालायित उत्कण्ठित आपको यह आश्वासन मिल गया।

राजा—मात्र आश्वासन मिल गया —यह क्यों कहते हो ? मेरे ही समान उसके भी अनुराग की सूचना देने वाले तथा मनोहर अर्थ में उदाहरण समेत बँधे हुए इस सुन्दर प्रेमपत्र को प्राप्तकर मुझे ऐसा मालूम पड़ता है, मानो हे मित्र ! उठी हुई बरौनियों की आँखों वाले मेरे मुख के सामने उस मदभरे नयनों वाली का मुख ही आकर उपस्थित हो गया हो॥१३॥

उर्वशी—एत्थ णो समविभाआ पीदी। (अत्रावयोः समविभागा प्रीतिः।)

राजा—वयस्य अङ्गुलिस्वेदेन दूष्येरन्नक्षराणि। धार्यतामिदं मम प्रियायाः स्वहस्ते।

विदूषकः—[गृहीत्वा] किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंवददि। (किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति।)

उर्वशी—सहि! जाव उवगमणकादरं हिअअं पज्जवत्थावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे खमं तं भणाहि। (सखि! यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद् भण।)

चित्रलेखा—तह। (तथा) [तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—[दृष्ट्वा सहर्षं] स्वागतं भवत्यै [पार्श्वमवलोक्य] भद्रे!

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तया।
सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया विना॥१४॥

चित्रलेखा—णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुलदा। (ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता।)

---

उर्वशी—इस समय तो हम दोनों का अनुराग एक ही समान है।

राजा—मित्र! मेरी प्रिया का यह प्रेम-पत्र तुम अपने हाथ में ले लो, क्योंकि मेरी अंगुलियों के पसीज जाने से इसके अक्षर मिट जायेंगे।

विदूषक—[पत्र को लेकर] अब उर्वशी जी, जिन्होंने आपके मनोरथ में पुष्प खिला दिये हैं, क्या फल लगाने में विलम्ब या टाल मटोल करेंगी?

उर्वशी—सखी! जब तक उनके समीप जाने में कातर अपने हृदय को मैं संभाल रही हूँ, तब तक तुम उनके सामने अपने को प्रकट करके, मेरी ओर से जो कुछ कहना उचित समझो चल कर कहो।

चित्रलेखा—अच्छी बात है। [तिरस्करिणी विद्या का प्रभाव हटाकर तथा राजा के समीप पहुँचकर] महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—[देखकर, सहर्ष] आपका स्वागत है। [बगल में देखकर] भद्रे! जिस प्रकार प्रयाग में गंगा और यमुना के संगम को देखनेवाले को गंगा के बिना यमुना अकेली अच्छी नहीं मालूम देती, उसी प्रकार अपनी सखी के बिना तुम भी पहले की भाँति आनन्दित नहीं कर रही हो॥१४॥

चित्रलेखा—अरे! पहले बादलों की पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, फिर बाद में बिजली की चमक होती है।

विदूषकः—[अपवार्य] कहं ण एसा उव्वसी। ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी। (कथं नैषोर्वशी। तस्यास्तत्रभवतया अभिमता सहचरी।)

राजा—एतदासनमास्यताम्।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि। (उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति।)

राजा—किमाज्ञापयति।

चित्रलेखा—तस्सिं सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अह तुह दसणसमुत्थेण मअणेण वलिअं बाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकंपणीअत्ति। (तस्मिन्सुरारिसम्भवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत्। साह साम्प्रतं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया भवामि इति।)

राजा—अयि भद्रमुखि!

पर्युत्सुका कथयसि प्रियदर्शनां तां
आर्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्॥१५॥

चित्रलेखा—[उर्वशीमुपेत्य] एहि एहि। तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं पेक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता। (सखि एहि। त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता।)

---

विदूषक—[अलग से] अरे! तो क्या यह स्वयं उर्वशी जी नहीं हैं, उनकी प्रिय सखी हैं।

राजा—यह आसन है, आइए, बैठिए!

चित्रलेखा—उर्वशी ने महाराज को सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए मुझसे कहलवाया है।

राजा—क्या आज्ञा दी है।

चित्रलेखा—उन दानवों के कारण उपस्थित आपदा में महाराज ही हमारे रक्षक रहे। उस समय आपको देख लेने के कारण अब मेरे चित्त को कामदेव ने अत्यन्त पीडित कर रखा है, अतः चाहती हूँ कि फिर से मैं महाराज की कृपा पात्र बनूं।

राजा—हे सुमुखि! अपनी प्रियदर्शना सखी को तुम इतना प्रेम में व्याकुल बतला रही हो किन्तु यह नहीं देख रही हो कि उसके लिए यह पुरूरवा कितना दुःखी बना है। कामदेव का यह प्रेम हम दोनों के लिए बराबर ही दुःखदायी है, इसलिए एक तपाए गए लोहे को दूसरे तपाए गए लोहे से जोड़ देना ही उचित है॥१५॥

चित्रलेखा—[उर्वशी के समीप आकर] सखी! इधर आ जाओ। कामदेव ने मुझसे भी अधिक इन्हें सता रखा है, इसलिए मैं अब तुम्हारे प्रियतम की दूती बनकर आई हूँ।

उर्वशी—[तिरस्करिणीमपनीय] अम्महे लहुअ तुए अणवेक्खिद उज्झिदम्हि। (अहो लघु त्वयानवेक्षितमुज्झितास्मि।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] सहि इदो मुहुत्तादो जाणिस्स का क उज्झिस्सदि। आआर दाव पडिवज्ज। (सखि इतो मुहूर्तादेव ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचार तावत्प्रतिपद्यस्व।)

उर्वशी—[ससाध्वसं राजानमुपेत्य प्रणम्य च सव्रीडम्] जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—[सहर्षम्] सुन्दरि।

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते।
जयशब्दः सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम्॥१६॥

[हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति]

विदूषक—भोदि रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि। (भवति राज-प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते।

[उर्वशी सस्मितं प्रणमति।]

विदूषकः—सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

[नेपथ्ये देवदूतः]

चित्रलेखे! त्वरय त्वरयोर्वशीम्।

मुनिना यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥१७॥

---

उर्वशी—[तिरस्करिणी विद्या को हटाकर] अरे! तुमने तो बडी शीघ्रता से मुझे अलग छोड दिया।

चित्रलेखा—[हँसकर] सखी! यह तो अभी क्षण भर में ही मालूम हो जायगा कि कौन किसको छोडकर जाती है। अच्छा, पहले महाराज के प्रति शिष्टाचार तो दिखाओ।

उर्वशी—[घबराहट में राजा के समीप पहुँचकर लज्जापूर्वक प्रणाम करके] महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—[सहर्ष] सुन्दरी! तुम्हारे मुख से उच्चरित 'जय' शब्द सहस्र नेत्रों वाले इन्द्र को छोडकर किसी अन्य पुरुष को नहीं मिला, उसका मेरे लिए जो तुमने प्रयोग कर दिया है, उससे आज सचमुच मेरी 'जय' हुई है॥१६॥

[हाथ से पकडकर उर्वशी को बैठाते हैं।]

विदूषक—देवीजी! राजा के प्रिय मित्र इस ब्राह्मण को आप क्या प्रणाम नहीं करेंगी?

[उर्वशी मुस्कराते हुए प्रणाम करती है।]

विदूषक—देवी का कल्याण हो।

[नेपथ्य में देवदूत] चित्रलेखा! उर्वशी को जल्दी करने के लिए कहो। मुनिवर भरत ने जो तुम लोगों को आठ रसों से भरा हुआ मनोहर नाटक सिखलाया है, उसी का सुन्दर अभिनय आज देवताओं के स्वामी इन्द्र लोकपालों के साथ देखना चाहते हैं॥१७॥

[सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी विषादं रूपयति]

चित्रलेखा—सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं। ता अणुमाणीअदु महाराओ। (श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम्। तदनुमान्यतां महाराजः।)

उर्वशी—णत्थि मे वाआ। (नास्ति मे वाचा)।

चित्रलेखा—महाराअ उव्वसी विण्णवेदि—परवसो अअं जणो। ता महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देवेसु अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं—त्ति। (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—परवशोऽयं जनः। तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम्—इति।)

राजा—[कथं कथमपि वाचं व्यवस्थाप्य] नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः।

(उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता)

राजा—[निःश्वस्य] सखे वैयर्थ्यमिव मे चक्षुषो गच्छति।

विदूषकः—[पत्रं दर्शयितुकामः] ण एदं [इति अर्धोक्ते सविषादमात्मगतम्।]... ह्यी ह्यी उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जावत्तं पब्भट्ठं वि हत्थादो पमादेण णविण्णादं। (ननु एतत्...हा धिक् हा धिक् उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम्।)

राजा—वयस्य किमपि वक्तुकाम इव।

---

[सब लोग उसी आवाज की तरफ कान लगाते हैं। उर्वशी दुःखी होने का नाट्य करती है।]

चित्रलेखा—प्रियसखी! तुमने देवदूत के शब्द सुन लिए न। तो अब महाराज से विदा लो।

उर्वशी—मुझसे तो बोला ही नहीं जा रहा है।

चित्रलेखा—महाराज! यह उर्वशी मुझसे कहला रही है, मैं पराधीन हूँ। इसलिए यदि महाराज की आज्ञा हो तो देवताओं के समीप अपने को अनपराधिनी सिद्ध कर सकूँ।

राजा—[किसी किसी तरह से बोलते हुए] मैं आपके स्वामी की आज्ञा का पालन करने का भला विरोध कैसे कर सकता हूँ। किन्तु मुझे भुलाइएगा नहीं।

[उर्वशी राजा के वियोग के दुःख का नाट्य करती हुई राजा को देखती हुई अपनी सखी के साथ जाती है।]

राजा—[सांस खींचकर] मित्र! मेरी आँखों का होना तो अब व्यर्थ हो गया।

विदूषक—[पत्र को दिखलाने की इच्छा से] किन्तु यह [यहाँ आधी बात कहकर विषाद के साथ, मन ही मन] हाय, हाय, यह तो उर्वशी को देखने से मैं इतने विस्मय में पड़ गया कि अपने हाथ से असावधानी से उस भोजपत्र के गिर जाने पर भी नहीं जान सका।

राजा—क्या कहना चाहते हो मित्र?

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि। (तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि।)

[निपुणिका वाचयति]

देवी—[श्रुत्वा] एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण द अच्छाराकामुअ पेक्खामि। (अत्रानेनैवोपायनेन तमप्सर कामुक प्रेक्षे।)

निपुणिका—तह। (तथा।)

[इति परिजनसहिते लतागृह परिक्रामत ]

विदूषक—[विलोक्य] भो वअस्स किं एद पवणवसगामि पमदवणसमीवगदकीलापव्वदपज्जते दीसदि। (भो वयस्य किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते।)

राजा—[उत्थाय] भगवन्वसन्त प्रिय दक्षिणवायो।

वासार्थं हर सभृत सुरभिणा पौष्प रजो वीरुधां
किं कार्यं भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे।
जानीते हि मनोविनोदनशतैरेवविधैर्धारित
कामार्तं जनमज्जना प्रति भवानालक्षितप्रार्थना॥१९॥

निपुणिका—भट्टिणि पेक्ख पेक्ख। एदस्स एव्व अण्णेसणा वट्टदि। (भट्टिनी प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतस्यैवान्वेषणा वर्तते।)

---

देवी—तब तो इसका अर्थ मैं सुनना चाहती हूँ।

[निपुणिका पढकर सुनाती है।]

देवी—[सुनकर] तो चलो फिर यही उपहार लेकर हम उस अप्सरा के प्रेमी से चलकर भेंट कर लें।

निपुणिका—अच्छी बात है।

[दासियो के साथ दोनो लतामण्डप की ओर जाती हैं।]

विदूषक—[देखकर] देखो, यह प्रमदवन के समीपवर्ती क्रीडापर्वत पर पवन के झकोरे से हिलता सा क्या दिखाई पड रहा है।

राजा—[उठकर] हे वसन्त के प्रिय दक्षिण पवन! सुगन्धि को प्राप्त करने के लिए तुम वसन्त द्वारा एकत्र किए गए लताओ के पुष्पा के पराग उडा ले जाओ। भला मेरी प्रिया के हाथ से लिखा हुआ पत्र हरण करके तुम क्या करोगे। तुम तो स्वय अजना से प्रेम कर चुके हो, इसी कारण जानते ही हो कि ऐसी ही मन बहलानेवाली वस्तुओ को देखकर प्रेमीजनो का जीवन बचा रहता है॥१९॥

निपुणिका—स्वामिनी! देखिए, देखिए इसी पत्र की खोज की जा रही है।

देवी—ण पेक्खामि दाव। तुण्हि चिट्ठ। (ननु पश्यामि तावत्। तूष्णीं तिष्ठ।)

विदूषकः—[सविषादम्] हृद्धी हृद्धी भो मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धो म्हि। [हा धिक् हा धिक् भोः म्लायमानकेशरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि।]

राजा—सर्वथा हतोस्मि।

देवी—[सहसोपसृत्य।] अज्जउत्त अलं आवेएण। एदं तं भुज्जवत्तं। (आर्यपुत्र अलमावेगेन। एतत्तद्भूर्जपत्रम्)

राजा—[ससंभ्रमम्] अये देवी। स्वागतं देव्यै।

विदूषकः—[अपवार्य] दुरागदं दाणिं संवुत्तं। [दुरागतमिदानीं संवृत्तम्]

राजा—[जनान्तिकम्] वयस्य किमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः—(अपवार्य) लोत्तेण गहीदस्स कुभीलअस्स अत्थि वा पडिवअणं। (लोत्रेण गृहीतस्य कुंभीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम्।)

राजा—[जनान्तिकम्] मूढ नायं परिहासकालः। [प्रकाशम्] देवि नेदं मया मृग्यते। अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः।

देवी—जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छादेदुं। (युज्यते आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम्।)

विदूषकः—भोदि तुवेरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि। (भवति त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति)

देवी—णिउणिए सोहणं क्खु वम्हणेण आसासिदो वअस्सो। (निपुणिके शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयस्यः)

---

देवी—हां, मैं भी वही देख रही हूँ। तू चुप बैठी रह।

विदूषक—[विषाद के साथ] हाय, हाय, इस सूखे केसर के समान कान्तिवाले मयूर पंख ने मुझे धोखा दे दिया।

राजा—सब प्रकार से मारा गया।

देवी—[सहसा आगे बढ़कर] आर्यपुत्र! घबराएं नहीं। यह रहा वह भोजपत्र।

राजा—[घबराकर] अरे! आप हैं देवीजी। आपका आगमन अच्छा हुआ।

विदूषक—[अलग से] इस समय तो इनका आगमन बुरा हुआ।

राजा—[अलग से] मित्र! अब क्या करना होगा।

विदूषक—[अलग से] चोरी गए माल के साथ पकड़ा गया चोर अब क्या कह सकता है?

राजा—[अलग से] अरे मूर्ख! यह मजाक करने का अवसर नहीं है। [प्रकट रूप में] देवी! मैं यह नहीं ढूंढ रहा था, मैं तो कोई दूसरी वस्तु ढूंढ रहा था।

देवी—आप अपने सौभाग्य की बात को जो छिपाते हैं, यह उचित ही है।

विदूषक—देवी! इनके भोजन का तुरन्त प्रबन्ध कीजिए, जिससे अपने पित्त की शान्ति में समर्थ हो जायें।

देवी—निपुणिका! इस ब्राह्मण ने अपने मित्र को कैसा आश्वासन दिया।

विदूषक.—भोदि ण पेक्खु आसासिदो पिसाचावि भोअणेण। (भवति ननु पश्य आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन।)

राजा—मूर्ख बलादपराधिन मा प्रतिपादयसि।

देवी—णत्थि क्खु भवदो अवराहो। अह एव्व एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि। इदो अह गमिस्स। णिउणिए, एहि गच्छम्ह (नास्ति खलु भवतोऽपराध। अहमेवात्रापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठामि। इतोऽह गमिष्यामि। निपुणिके एहि गच्छाम।)

[इति कोप नाटयित्वा प्रस्थिता।]

राजा—[अपसृत्य।]

अपराधी नामाह प्रसीद रंभोरु विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपित. कथं नु दासो निरपराध.॥२०॥

[इति पादयो॰ पतति।]

देवी—[स्वगतम्] मा क्खु लहुहिअआ अह अणुणअ बहु मण्णे। किं दु अदक्खिण्ण किदस्स पच्छादावस्स भाएमि। (मा खलु लघुहृदयाहमनुनय बहु मन्ये। किन्त्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चात्तापाद्बिभेमि।)

[इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता],

विदूषक —पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी। ता उट्ठेहि उट्ठेहि। (प्रावृण्नदीवाप्रसन्ना गता देवी। तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ।)

---

विदूषक—देवी! यह तो सभी जानते है कि भोजन देकर पिशाच को भी आश्वस्त कर लिया जाता है।

राजा—मूर्ख! तुम मुझे जबदस्ती अपराधी बना रहे हो।

देवी—इस विषय मे आपका कोई अपराध नही है। यह तो मेरा ही अपराध है जो बिना अवसर के आपके कार्य मे बाधा बनकर यहाँ आपके सामने आकर खड़ी हो गई। लीजिए मैं यहाँ से चली जा रही हूँ। निपुणिका! यहाँ आओ, हम लोग चलें।

[इस प्रकार क्रोध का नाट्य करके जाती है।]

राजा—[दौड़कर] हे कदली के स्तम्भ के समान जाघो वाली! मैं ही अपराधी हूँ। आप अपना क्रोध दूर करें। यदि स्वामी को क्रोध आता है तो सेवक का अपराध कैसे नही होगा॥२०॥

[रानी के पैरो पर गिरता है।]

देवी—[अपने आप] मैं इतने छोटे हृदय वाली नहीं हूँ, जो तुम्हारे इस अनुनय विनय के चक्कर म फँस जाऊँगी। किन्तु भय इसी बात का है कि बिना विशेष समझेबूझे कुछ कर बैठूँ तो बाद म पश्चात्ताप होगा।

[राजा को छोड़कर अपने परिजनो के साथ चली जाती है।]

विदूषक—वर्षा काल की नदी के समान हृदय म मैल रखे हुए देवी चली गई तो अब उठिए, उठिए।

राजा—[उत्थाय] वयस्य, नेदमनुपपन्नम्। पश्य।

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः॥२१॥

विदूषकः—अणुऊलं एव्व एत्थभवदो एद। ण क्खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुहे दीवसिहं सहेदि। (अनुकूलमेवात्रभवत एतत्। न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।)

राजा—मा मैवम्। उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः। किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्या धैर्यमवलम्बिष्ये।

विदूषकः—भो चिट्ठदु दाव भवदो धीरदा। बुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलम्बदु भवं। समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेविदुं (भोः तिष्ठतु तावद्भवतो धीरता। बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान्। समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम्।)

राजा—[ऊर्ध्वमवलोक्य] गतमर्धं दिवसस्य। अतः खलु।

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥२२॥

[इति निष्क्रान्तौ]

इति द्वितीयोऽङ्कः।

---

राजा—[उठकर] मित्र! यह जो कुछ हुआ उसमें उनका दोष नहीं है, क्योंकि देखो, यदि कोई पति विविध प्रकार की मीठी बातों से, बिना भीतरी प्रेम के अपनी प्रिया का अनुनय-विनय करता है, तो उसकी बातें ठीक उसी प्रकार से स्त्रियों के हृदय में नहीं जँचतीं जैसे कृत्रिम रंग से रँगा हुआ मणि सच्चे पारखी की दृष्टि में नहीं जँचता॥२१॥

विदूषक—यह तो आपके लिए अनुकूल ही है। क्योंकि यह बात सभी जानते हैं कि जिसकी आँखें दुखती रहती हैं वह सामने रखे हुए दीपक की लौ को नहीं सहन करता।

राजा—नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि मेरा मन उर्वशी में रमा हुआ है तथापि देवी के प्रति मेरा प्रगाढ़ प्रेम है। किन्तु जो उन्होंने हमारे प्रणिपात को भी ठुकरा दिया है, उससे अब मैं भी धैर्य के साथ काम लूँगा।

विदूषक—रहा आपका धैर्य। पहले इस भूखे ब्राह्मण का जीवन आप बचाएँ। यह स्नान और भोजन करने का समय आ गया है।

राजा—[ऊपर की ओर देखकर] अरे! दिन आधा बीत गया। इसलिए, यह मयूर अब गर्मी से परेशान होकर वृक्षों के मूल भाग में बने ठण्डे थालों में आकर बैठ गया है। भ्रमर कनेर की कली का मुख खोलकर उनके भीतर छिपना चाहता है, यह कारण्डव जल कुक्कुट तालाब के गरम जल को छोड़कर उनके तट पर कमलिनी का सेवन कर रहा है, और क्रीड़ा भवन के भीतर पिंजड़े में बन्द यह प्यासा सुग्गा 'पानी' 'पानी' कर रहा है॥२२॥

[दोनों चले जाते हैं।]

द्वितीय अङ्क समाप्त॥

# तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ]

गालवः—सखे पेलव! महेंद्रभवन गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासन प्रतिग्राहित'। अग्निशरणसरक्षणाय स्थापितोऽहम्। अत खलु पृच्छामि—अपि गुरो' प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता।

पेलवः—गालव! ण जाणे आराहिदा ण वत्ति। तास्सि उण सरस्सईकिदकव्वबंधे लच्छीसअवरे तेसु तेसु रसतरेसु तम्मई आसि। किंतु—। (गालव। न जाने आराधिता न वा इति। तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत्। किन्तु...)

गालवः—सदोषावकाश इव ते वाक्यशेष'।

पेलवः—आम् तस्सि उव्वसीए वअण पमादक्खलिद आसि। (आम् तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत्।)

गालवः—कथमिव।

---

## तीसरा अंक

[तदनन्तर भरत के दो शिष्य प्रवेश करते हैं।]

गालव—मित्र पेलव! महेन्द्र भवन को जाते समय गुरुदेव ने तुम्हे तो अपना आसन ले चलने के लिए साथ ले लिया था और मुझे अग्निहोत्र भवन की रक्षा के लिए यही छोड दिया था। इसलिए मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि गुरुदेव के नाटक से वह देवताओ की सभा खूब प्रसन्न हुई थी न।

पेलव—गालव! यह तो मैं नही बता सकता कि देवसभा खूब प्रसन्न हुई या नही हुई। उस देवसभा मे लक्ष्मी स्वयवर नामक नाटक का अभिनय किया गया था, जिसके गीत स्वय सरस्वती देवी ने बनाए थे, उसमे जो जो रस जिस जिस समय दिखाए जाने चाहिए थे, दिखाए गए, जिससे देवसभा तन्मय हो गई थी। किन्तु...

गालव—जान पड़ता है कुछ खराबी आ गई थी क्या जो तुम रुक गए।

पेलव—हाँ, यही कि उस नाटक मे उर्वशी ने प्रमादवश कुछ भूल कर दी थी।

गालव—वह कैसे?

पेलवः—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए पुच्छिदा—सहि समागदा एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेशवा अ लोअवाला। कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसोत्ति। (लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमाने उर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्ठा—सखि समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः। कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति।)

गालवः—ततस्ततः।

पेलवः—तदो ताए पुरुसत्तमे त्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति ताए निग्गद वाणी। (ततस्तया पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये पुरूरवसीति तस्या निर्गता वाणी।)

गालवः—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि। न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः।

पेलवः—सा क्खु सत्ता उवज्झाएण। महिंदेण उण अणुगहीदा। [सा खलु शप्तोपाध्यायेन। महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता।]

गालवः—कथमिव।

पेलवः—जेण मम उवदेसो तुए लंघिदो तेण ण दे दिव्व ठाणं हुविस्सदि त्ति उवज्झाअस्स सावो। महिंदेण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही सा एव्व भणिदा—जस्सिं तुमं बद्धभावा सि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं। ता दाव तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुह दिट्ठसंताणो भोदि त्ति। (येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्य स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता—यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति)

---

पेलव—लक्ष्मी की भूमिका उर्वशी कर रही थीं और वारुणी की भूमिका मेनका कर रही थी। मेनका ने उर्वशी से पूछा कि—'सखी! इस अवसर पर यहाँ तीनो लोको मे एक से एक बढ़कर सुन्दर पुरुष, लोकपाल गण तथा स्वय विष्णु भगवान आए हुए है। इनमे से किसके प्रति तुम्हारा प्रगाढ प्रेम है।'

गालव—तब क्या हुआ?

पेलव—तब उर्वशी को कहना तो चाहिए था। पुरुषोत्तम के प्रति, परन्तु उसके मुख से निकल गया 'पुरूरवा के प्रति।'

गालव—इन्द्रियाँ भवितव्यता का ही अनुसरण करती है। तब क्या गुरुदेव उस पर क्रुद्ध नही हुए

पेलव—गुरुदेव ने उसे शाप दे दिया। किन्तु फिर महेन्द्र ने उसे बचा लिया।

गालव—वह कैसे?

पेलव—गुरुदेव ने तो उसे शाप दे दिया कि तुमने जो कुछ मैंने इस अवसर के लिए सिखाया था, उसका उल्लघन कर दिया अत अब तुम स्वर्ग मे नही रह सकती। किन्तु नाटक की समाप्ति पर लज्जा से सिर नीचा करके खडी उर्वशी से महेन्द्र ने आकर कहा—रणक्षेत्र मे सदैव हमारी सहायता करनेवाले राजर्षि से तुम प्रेम करती हो तो उनका प्रिय तुम्हे करना चाहिए। तो तुम अपने मनचाहे ढग से राजर्षि पुरूरवा के साथ तब तक रह सकती हो जब तक वह तुम्हारे सयोग मे सन्तान का मुख न देख लें।

गालव —सदृशमेतत्पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य।

पेलव —[सूर्यमवलोक्य] कथा पसंगेण अम्हेहिं अवरद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स। ता एहि। से पासवत्तिणो होम। (कथाप्रसङ्गेनास्माभिरपराद्धाभिषेकवेला खलु उपाध्यायस्य। तदेहि। अस्य पार्श्ववर्तिनौ भवाव।)

गालव —तथा।

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति कञ्चुकी]

कञ्चुकी—[विनि श्वस्य]

सर्व. कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारा परिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः॥१॥

[परिक्रम्य] आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या-व्रतसम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराज। तदेवं त्वं मद्वचनाद्विज्ञापय इति। यावदहमिदानीमवसितसन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनि। इह हि।

---

गालव—दूसरे के हृदय की बात को जाननेवाले महेन्द्र ने अपने अनुरूप ही ऐसा किया।

पेलव—[सूर्य की ओर देखकर] इस कथा के प्रसंग में हम लोगों ने गुरुदेव की स्नानवेला का अतिक्रमण करने का अपराध कर दिया। तो आओ चलें, उनके समीप हम लोग चलें।

गालव—अच्छी बात है।

[ दोनों जाते हैं। ]

मिश्रविष्कम्भक की समाप्ति।

[ तदनन्तर कंचुकी प्रवेश करता है। ]

कंचुकी—[ गहरी साँस लेकर ] सभी कुटुम्बी जन अपनी जवानी की अवस्था में धन संग्रह के कामों में लगे रहते हैं और फिर बाद में [वृद्धावस्था आने पर] पुत्रों पर कुटुम्ब का भार डालकर विश्राम की कल्पना करते हैं। किन्तु हम लोग हैं जो दिन रात इस नौकरी के चक्कर में फँसकर वृद्ध हो चले हैं। यह नौकरी तो कारा बन गई है। सचमुच, स्त्रियों की सेवा का कार्य बड़ा कष्टदायी होता है॥१॥

कि इस समय सन्ध्याकाल का जप आदि करके महाराज निवृत्त हो चुके होंगे और मैं उन्हें देखना चाहती हूँ। [ घूमकर तथा देखकर ] सन्ध्याकाल के समय राजभवन का दृश्य भी कितना मनोहर होता है।

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः,
सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥२॥

[नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अये इत एव प्रस्थितो देवः।

परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः।
गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥३॥

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि।

[परिक्रम्य स्थितः]

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च]

राजा—[स्वगतम्] आः।

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥४॥

कञ्चुकी—[उपसृत्य] जयतु जयतु देवः। देव देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। तत्र सन्निहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति।

---

यहाँ रात्रि की निद्रा में अलसाए हुए मयूर अपने निवास के लिए निर्मित अड्डों पर बैठे हुए पत्थर में खुदे हुए की भाँति दिखाई पड़ रहे हैं। अगुरु आदि सुगंधित धूप-पदार्थों का जो धूम, राजभवन के झरोखों से निकल रहा है, उसके कारण छतों से बाहर निकली हुई टाँडें ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानों उन पर कबूतर बैठे हुए हों। और राजभवन के वृद्ध सेवक, जिनका आचरण सुन्दर है, जगमगाते हुए दीपों को भजा-सजाकर पुष्पों से सुसज्जित भवनों में, सन्ध्या काल की मांगलिक पूजा के लिए रख रहे हैं ॥२॥

[नेपथ्य की ओर देखकर] अरे! महाराज तो इसी ओर चले आ रहे हैं।

हाथों में दीपमालिका लिए हुए दासियों से चारों ओर घिरे हुए महाराज इस समय ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों ऐसे पर्वत हैं जिसकी ढालों पर कनेर के पुष्पित वृक्ष विराजमान हों और जो पंखों के न कटने के कारण गतिमान हों ॥३॥

तब तक मैं मार्ग में आगे खड़ा होकर उनके आगमन की प्रतीक्षा करूँगा। [घूमकर खड़ा होता है।]

[तदनन्तर जैसा बताया गया है, उसी वेश-भूषा में राजा तथा विदूषक का प्रवेश होता है।]

राजा—[मन ही मन] दिन भर विविध कार्यों में व्यस्त रहने के कारण मेरा दिन तो बड़ी आसानी से बीत गया, किन्तु अब मनोविनोद की सामग्री से विहीन इस लम्बी रात को मैं किस प्रकार बिताऊँगा ॥४॥

कंचुकी—[आगे बढ़कर] महाराज की जय हो, जय हो। महाराज! देवी ने निवेदन किया है कि मणिजटित छत पर से चन्द्रमा का दृश्य अत्यन्त मनोहर होता है। इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं वहीं से महाराज के संग चन्द्रमा और रोहिणी का मिलन देखूँ।

**राजा**—आर्य लातव्य विज्ञाप्यता देवी यस्ते छन्द इति।

**कंचुकी**—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्तः।]

**राजा**—वयस्य किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात्।

**विदूषक**—भो तक्केमि सजादपच्छादावा तत्तभोदि वदावदेसेण भवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकाम त्ति। (भो तर्कयामि सञ्जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति।)

**राजा**—उपपन्नं भवानाह।

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्संतप्यमानमनसो हि।
विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः ॥५॥

तदादेशय मणिहर्म्यं पृष्ठमार्गम्।

**विदूषक**—इदो इदो भवं। इमिणा गंगातरंगसस्सिरीएण फलिअमणिसोवाणेण आरोहदु भवं पदोसावसररमणिज्जं मणिहम्मिअपिट्ठं। (इतो इतो भवान्। एतेन गङ्गातरङ्गसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम्।)

**राजा**—आरोहामतः।

[सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति।]

**विदूषक**—[निरूप्य] भो पच्चासण्णेण चंदोदएण होदव्वं जह तिमिररेईअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि। (भोः प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् यथा तिमिररिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोकसुभगं दृश्यते।)

---

**राजा**—आर्य लातव्य! आप देवी से जाकर कहें कि जैसी उनकी आज्ञा।

**कंचुकी**—महाराज की जैसी आज्ञा।

**राजा**—मित्र! क्या सचमुच देवी ने व्रत के लिए यह सब आयोजन रचा होगा।

**विदूषक**—मैं तो समझता हूँ कि देवी को अपने उस दिन के आचरण पर पश्चात्ताप है, इसलिए वह इस व्रत के बहाने से आपके प्रणिपात के उल्लंघन का अपना अपराध धो देना चाहती हैं।

**राजा**—आप ठीक कह रहे हैं। मनस्विनी स्त्रियाँ पहले तो स्वामी द्वारा किए गए प्रणिपात को भी ठुकरा देती हैं किन्तु पीछे चलकर प्रियतम के उन अनुनय-विनय का स्मरण कर के पछताती हैं॥५॥

अच्छा तो मणिजटित छत वाले राजभवन का मार्ग मुझे बतलाओ।

**विदूषक**—इधर से आइए, महाराज, इधर से। यह गंगा जी की लहरों के समान उज्ज्वल स्फटिक मणि से निर्मित सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर आप सन्ध्या के समय अतीव आकर्षक लगनेवाले मणिजटित छतवाले राजभवन में पहुँच जायगे।

**राजा**—तुम आगे बढ़ो।

[सब लोग सीढ़ी पर चढ़ने का अभिनय करते हैं।]

**विदूषक**—[देखकर] अरे! चन्द्रोदय अब समीप आ गया है। देखो न, अन्धकार दूर हो जाने से पूर्व दिशा का मुख देखने में कितना सुन्दर लग रहा है।

राजा—सम्यग्भवान्मन्यते।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम्॥६॥

विदूषकः—[विलोक्य।] ही ही भो एसो क्खु खण्डमोदअस्सिरीओ उदिदो राआ दुआदीण। (ही ही भोः एष खलु खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।)

राजा—[सस्मितम्] सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः। [प्राञ्जलिः प्रणम्य] भगवन् क्षपानाथ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते॥७॥

[इति उपतिष्ठते]

विदूषकः—भो बम्हणवअणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो सि। ता आसणट्ठिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि। (भो ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञातोऽसि। तदासनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि।)

राजा—[विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य।] अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजनः—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्तः।]

---

राजा—आप ठीक कह रहे हैं। उदयाचल के पीछे छिपे हुए चन्द्रमा की किरणों से जो अन्धकार दूर होता जा रहा है, वह सचमुच मेरे चित्त को ऐसा आकर्षित कर रहा है, मानो बँधे हुए केशपाश से सुशोभित पूर्व दिशा का मुख हो॥६॥

विदूषक—[देखकर] हा, हा, हा, अरे यह खाँड के लड्डू के समान द्विजातियों का राजा चन्द्रमा ऊपर उठता हुआ सुशोभित हो रहा है।

राजा—[हँसकर] सब जगह तुम पेटू लोगों को खाने वाली ही वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। [हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए] भगवान् चन्द्रमा! आप सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में सूर्य के साथ-साथ मिल जाते हैं, आप अपना अमृत पिलाकर देवताओं तथा पितरों को तृप्ति करते हैं। रात्रि में चतुर्दिक फैले हुए अन्धकार को आप नष्ट कर देते हैं। आप शङ्कर जी के जटा-जूट पर निवास करनेवाले हैं। आपके लिए मेरा नमस्कार है॥७॥

[इस प्रकार चन्द्रमा की उपासना करता है।]

विदूषक—अरे! आपके पितामह अर्थात् चन्द्रमा मुझ ब्राह्मण द्वारा आपको यह आज्ञा दे रहे हैं कि आप आसन पर विराजमान हों और मैं भी सुखपूर्वक बैठ जाऊँ।

राजा—[राजा विदूषक की बात मानकर बैठ जाता है और अपने परिजनों को देखकर] जब चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई है तब यह दीपक क्यों व्यर्थ में जलाए गए हैं। अत आप लोग जाकर विश्राम करें।

परिजन—जैसी महाराज की आज्ञा। [सभी परिजन चले जाते हैं।]

राजा—[चन्द्रमसमवलोक्य विदूषकं प्रति] वयस्य पर मुहूर्तादागमनं देव्याः। तद्विविक्ते कथयिष्यामि स्वामवस्थाम्।

विदूषकः—ण दीसदि एव्व सा। किंदु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसावंधेण अत्ताणं धारेदुं। (ननु दृश्यत एव सा। किन्तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्।)

राजा—एवमेतत्। बलवान्पुनर्मे मनसोऽभितापः

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति॥८॥

विदूषकः—भो जहा परिहीअमाणेहिं अंगेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं दे पेक्खामि। (भोः यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे।)

राजा—[निमित्तं सूचयन्।] वयस्य।

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथकम्।
अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः॥९॥

विदूषकः—ण क्खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं। (न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्।)

[राजा सप्रत्याशस्तिष्ठति।]

[ततः प्रविशति आकाशयानेनाभिसारिकावेषा उर्वशी चित्रलेखा च।]

---

राजा—[चन्द्रमा को देखकर विदूषक से] मित्र! अभी देवी जी के आने में घड़ी भर का विलम्ब है, तो एकान्त में तुम्हें अपनी मानसिक अवस्था बताऊँगा।

विदूषक—अरे वह तो दिखाई ही पड़ रही है। किन्तु उर्वशी ने आप पर अपना जितना प्रेम प्रदर्शित किया है, उसकी आशा से तो आप अपने को सँभाले रह सकते हैं।

राजा—यह तो है। किन्तु मेरे मन का सन्ताप अत्यधिक है। जिस प्रकार ऊँची-नीची शिलाओं के ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर पहुँचकर नदी का वेग स्खलित होकर अनेक धाराओं में बहने लगता है, उसी प्रकार जब अपने प्रिय से मिलने के सुख में बाधाएँ आती हैं तो प्रेम की जलन भी सैकड़ों गुनी बढ़ जाती है॥८॥

विदूषक—यह जो आप अपने क्षीण हो जाने वाले अंगों से अधिक निखरते जा रहे हैं उससे लगता है कि अब प्रिया का समागम बहुत दूर नहीं है।

राजा—[शकुन की सूचना देते हुए] मित्र! आशा उत्पन्न करने वाली बातें कह-कह कर जिस प्रकार तुम प्रेम के घायल मुझ को आश्वासन दे रहे हो वैसी ही यह मेरी दाहिनी भुजा भी फड़क-फड़क कर मुझे आश्वासन दे रही है॥९॥

विदूषक—अरे! ब्राह्मण की बात भला कभी झूठी हो सकती है।

[राजा आशान्वित होकर बैठता है।]

[इसी समय विमान में बैठी अभिसारिका का वेश धारण किए हुए उर्वशी तथा चित्रलेखा आती हैं।]

उर्वशी—[आत्मानमवलोक्य] हला चित्तलेहे अवि रोआदि दे अअं मम अप्पाभरणभूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो। (हला चित्रलेखे अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः।)

चित्रलेखा—सहि णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुं। इदं तु चिंतेमि अवि णाम अहं पुरूरवा भवेअं त्ति। (सखि नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम्। इदं तु चिन्तयामि अपि नामाहं पुरूरवा भवेयमिति।)

उर्वशी—सहि मदणो क्खु तुमं आणवेदि। ता सिग्घं णेहि मं तस्स सुहअस्स वसदिं। (सखि मदनः खलु त्वामाज्ञापयति। तच्छीघ्रं नय मां तस्य सुभगस्य वसतिम्।)

चित्रलेखा—[विलोक्य] णं एदं परिवत्तिदं विअ कैलाससिहरं पिअदमस्स दे भवणं उवगद म्ह। (नन्वेतत्परिवर्तितमिव कैलासशिखरं प्रियतमस्य ते भवनमुपगते स्वः।)

उर्वशी—तेण हि पहावदो जाणहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिट्ठदि त्ति। (तेन हि प्रभावाज्जानीहि तावत्क्व स मम हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति।)

चित्रलेखा—[ध्यात्वा विहस्यात्मगतम्] भोदु कीलिस्सं दाव एदाए। [प्रकाशम्] हला दिट्ठो मए एसो मणोरहलद्धपिआसमाअमसुहं अणुहवन्तो उवहो अक्खमं ओआसं चिट्ठदि त्ति। (भवतु। क्रीडिष्यामि तावदेतया। हला दृष्टो मया एष मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवन्नुपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठतीति।)

उर्वशी—[विषादं नाटयति। निःश्वस्य] धण्णो सो अण्णो जो एव्वं भवे। (धन्यः स जनो य एवं भवेत्।)

---

उर्वशी—[अपने को देखकर] सखी चित्रलेखा। क्या तुझे थोड़ा सा आभूषण धारण किए हुए और नीली रेशमी साड़ी से शरीर को ढँके हुए मेरा अभिसारिका का वेश अच्छा लग रहा है।

चित्रलेखा—सखी! मेरी वाणी में इतनी सामर्थ्य नहीं है जो इसकी प्रशंसा कर सकूँ—मैं तो यही सोचती हूँ कि यदि कहीं मैं पुरूरवा हो सकती।

उर्वशी—सखी! कामदेव तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे उस भाग्यशाली के भवन में शीघ्र पहुँचा दो।

चित्रलेखा—[देखकर] अरे हम लोग तुम्हारे प्रियतम के उस राजभवन में पहुँच गए जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों कैलास पर्वत का शिखर ही यहाँ उतर कर चला आया हो।

उर्वशी—तो अब अपनी दैवी शक्ति के प्रभाव से तुम यह भी पता लगा लो कि वह मेरे हृदय को चुराने वाला कहाँ है और इस समय क्या कर रहा है?

चित्रलेखा—[ध्यान करके हँसती हुई, मन ही मन] खैर। तब तक इससे कुछ खिलवाड़ करूँ [प्रकट रूप में] अरे मैंने देख लिया, सखी! वे अपनी प्रियतमा के साथ मन से अभिलषित समागम का सुख लूटते हुए आनन्दप्रद स्थान में बैठे हुए हैं।

उर्वशी—[दुःखी होने का अभिनय करती है। लम्बी साँस लेकर] धन्य है वह परम भाग्यशालिनी, जो ऐसा सुख लूट रही है।

चित्रलेखा—मुद्धे का उण चिंता तुए विणा अण्णपिआसमाअमस्स। (मुग्धे का पुनश्चिन्ता त्वया विनान्यप्रियासमागमस्य।)

उर्वशी—[सोच्छ्वासम्] सहि अदक्खिणं संदेहदि मे हिअअं। (सखि अदक्षिणं संदिग्धे मे हृदयम्।)

चित्रलेखा—[विलोक्य] एसो मणिहम्मिअप्पासादपिट्ठगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी। ता एहि उवसप्पाम णं। (एष मणिहर्म्यप्रासादपृष्ठगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः। तदेहि उपसर्पाव एनम्।)

[उभे अवतरत]

राजा—वयस्य रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा।

उर्वशी—अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकंपिदं मे हिअअं। ता अंतरिदा एव्व सुणाम से सेरालावं जाव णो संसअच्छेदो होदि। (अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम्। तदन्तर्हिते शृणुवोऽस्य स्वैरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति।)

चित्रलेखा—जं दे रोअदि। (यत्ते रोचते।)

विदूषकः—णं इमे अमिअगब्भा सेवीअदु चंदपादा। (नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः।)

राजा—वयस्य एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः। पश्य।

कुसुमशयनं न प्रत्ययं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं . . .

---

चित्रलेखा—अरी पगली! तुझे इसकी चिन्ता क्यों हो रही है। तुझे छोड़कर भला वे किसी अन्य प्रियतमा के समागम की बात कैसे सोच सकते हैं।

उर्वशी—[लम्बी सांस लेकर] सखी! मेरा सीधा-सरल हृदय तो यही सन्देह कर रहा था।

चित्रलेखा—[देखकर] यह मणिजटित छत वाले राजभवन के ऊपर अपने मित्र के साथ राजर्षि विराजमान हैं। तो आओ, चलें हम लोग उनके समीप। [दोनों उतरती हैं।]

राजा—मित्र! रात्रि के साथ काम की वेदना भी बढ़ती जाती है।

उर्वशी—इस अस्पष्ट अर्थवाली बात से तो मेरा हृदय अत्यन्त काँप उठा है। तो चलें, छिपकर इनकी अपने मन से कही हुई बातें सुनें, जिससे हमारे मन का सन्देह दूर हो।

चित्रलेखा—जो तुम्हें अच्छा लगे।

विदूषक—लो! अब अमृत से भरी हुई इन चन्द्रमा की किरणों का सेवन करो।

राजा—इन सब उपायों से तो यह काम-पीड़ा शान्त नहीं की जा सकती। देखो।

मेरी इस काम-वेदना को न तो कुसुम की शैय्या दूर कर सकती है, न चन्द्रमा की किरणें। न तो सम्पूर्ण शरीर में मलय चन्दन का लेप दूर कर सकता है, न मणि की मालाएँ। मेरी इस वेदना को यदि कोई जड़ से दूर कर सकती है तो बस वही एक स्वर्ग में निवास करने वाली . . .।

उर्वशी—[उरसि हस्तं दत्वा।] का वा अवरा। (का वा अपरा।)

राजा—....

रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा॥१०॥

उर्वशी—हिअअ म उज्झिअ इदो सकतेण तुए दाणि फल उवलद्ध। (हृदय मामुज्झित्वा इतः संशान्तेन त्वयेदानीं फलमुपलब्धम्।)

विदूषकः—आम्। ह वि पत्ययतो जदा मिट्ठहरिणीमसमोअण ण लहे तदा ण सकित्तअतो आसासेमि अत्ताण। (आम्। अहमपि प्रार्थयमानो यदा मिष्ट हरिणीमासभोजनं न लभे तदेतत्सङ्कीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम्।)

राजा—सम्पद्यते पुनरिद भवत।

विदूषकः—भव वि त अइरेण पाविस्सदि। (भवानपि तामचिरेण प्राप्स्यति।)

राजा—सखे एव मन्ये.. ..

चित्रलेखा—सुणु असतुट्ठे सुणु (शृणु असन्तुष्टे शृणु।)

विदूषकः—कह विअ। (कथमिव)

राजा—

अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः॥११॥

चित्रलेखा—सहि कि दाणि विलम्बीअदि। (सखि किमिदानीं विलम्ब्यते।)

---

उर्वशी—[हृदय पर हाथ रखकर] वह दूसरी कौन ऐसी है?

राजा—अथवा एकान्त मे चलाई गई उसके प्रेम से सम्बन्धित चर्चा॥१०॥

उर्वशी—हृदय! मुझे छोड़कर तूने जो इतने सम प्रीति की, उसका फल तुझे मिल गया।

विदूषक—हाँ, मुझे भी जब कभी माँगने के बाद भी हरिणी के मीठे माँस का भोजन नहीं मिलता तब मैं उसका नाम ले-लेकर अपने को ढाढस देता हूँ।

राजा—किन्तु तुमको तो वह मिल जाता है?

विदूषक—तो आप भी शीघ्र ही उसे प्राप्त करेंगे।

राजा—मित्र! मैं भी तो ऐसा मानता हूँ।

चित्रलेखा—अरी असन्तुष्ट रहने वाली! सुन लो न।

विदूषक—हाँ, क्या मानते हो?

राजा—कुछ क्षण चुप रहकर यही कि हमारे इस सम्पूर्ण शरीर के अगो में यह कन्धा ही भाग्यवाली है जो रथ के हिलने-डुलने के समय मेरे सग बैठी हुई उस प्रियतमा के कधों का स्पर्श कर सका था। शरीर के दूसरे अगो को तो बस पृथ्वी का भार ही समझना चाहिए॥११॥

चित्रलेखा—सखी! अब विलम्ब क्यों कर रही हो?

उर्वशी—[सहसोपसृत्य] हला अग्गदा वि मम ट्ठिदाए उदासीणो विअ महाराओ। (हला अग्रतोऽपि मम स्थिताया उदासीन इव महाराजः।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] अइ अदितुवरिदे अणक्खित्ततिरक्खरिणी आसि। (अयि अतित्वरिते अनाक्षिप्ततिरस्करिणीकासि।)

[नेपथ्ये]

इदो इदो भट्टिणी। (इतो इतो भट्टिनी।)

[सर्वे कर्णं ददति। उर्वशी सह सख्या विषण्णा।]

विदूषकः—[सविस्मयम्] अइ भो उवट्ठिदा देवी। ता वाचजमो होहि। (अयि भोः उपस्थिता देवी। तद्वाचयमो भव।)

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम्।

उर्वशी—सहि किं एत्थ करणिज्जं। (सखि किमत्र करणीयम्।)

चित्रलेखा—अलं आवेएण। अंतरिदा दाणिं वयं। विहिदणिअमवेसा राएसिमहिसी दीसदि। ता ण एसा इह चिरं चिट्ठिस्सदि। (अलमावेगेन। अन्तर्हिते इदानीमावाम्। विहितनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते। तन्नेयं चिरं स्थास्यति।)

[ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी चेटी च]

देवी—[परिक्रम्य चन्द्रमसमवलोक्य च] हज्जे णिउणिए एसो रोहिणीसंजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलछणो। (हञ्जे निपुणिके एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं शोभते भगवान् मृगलाञ्छनः।)

---

उर्वशी—[सहसा आगे बढकर] सखी! मैं तो आकर महाराज के सामने खडी भी हो गई हूँ, किन्तु महाराज उदासीन की भाँति बैठे हैं।

चित्रलेखा—[मुस्कराती हुई] अरी शीघ्रता करनेवाली! तूने तो अभी अपने तिरस्करिणी विद्या को छोडा ही नहीं है।

[नेपथ्य में]—इधर से आइए स्वामिनी, इधर से।

[सब लोग कान उधर लगाते हैं। उर्वशी अपनी सखी के साथ विषाद से भर जाती है।]

विदूषक—[आश्चर्य के साथ] अरे! देवी जी आ गईं। तो अब वाणी पर संयम रखो।

राजा—हाँ, तो आप भी अब सँभलकर बैठ जाइए।

उर्वशी—ऐसे अवसर पर हमें क्या करना चाहिए?

चित्रलेखा—घबराओ नहीं। हम दोनों इस समय तो छिपी हुई हैं। महारानी नियमव्रत के अनुष्ठान का वेश धारण किए हुए दिखाई पड रही हैं। सो यह बडी देर तक तो यहाँ ठहरेंगी नहीं।

[तदनन्तर हाथ में पूजा की सामग्री लिए हुए दासियों के साथ महारानी का प्रवेश होता है।]

देवी—[घूमकर तथा चन्द्रमा को देखकर] अरी निपुणिका! यह रोहिणी के साथ भगवान चन्द्रमा कितने अधिक मनोहर दिखाई पड रहे हैं।

चेटी—ण भट्टिणीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो। (ननु भट्टिनीसहितो भर्त्ता विशेषरमणीयः।)

[इति परिक्रामतः]

विदूषकः—[दृष्ट्वा] भो ण जाणामि सोत्थिवाअण मे देइ त्ति आदु वदव्ववदेसेण मुक्करोसा भवदो पणिपादलङ्घणं पमज्जिदुकाम त्ति। अज्ज मे अक्खीण सुहदंसणा देवी। (भोः न जानामि स्वस्तिवाचनं मे ददातीति अथवा व्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति। अद्य मेऽक्ष्णोः शुभदर्शना देवी।)

राजा—[सस्मितम्] उभयमपि घटते। तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मा प्रतिभाति। यदत्रभवती।

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते॥१२॥

देवी—[उपसृत्य] जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयतु आर्यपुत्रः।)

परिजनः—जेदु जेदु भट्टारओ। (जयतु जयतु भट्टारकः।)

विदूषकः—सत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

राजा—स्वागतं देव्यै।

[तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति।]

उर्वशी—हला ठाणे क्खु इअं देवीसद्देण उवअरीअदि। ण किं वि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए। (हला स्थाने खलु इयं देवीशब्देनोपचर्यते। न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया।)

---

चेटी—इधर स्वामिनी के साथ महाराज भी तो अतीव मनोहर दिखाई पड रहे हैं।

[दोनों घूमती हैं।]

विदूषक—[देखकर] मित्र! यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि यह देवी मुझे स्वस्ति-वाचन का उपहार देने के लिए आ रही हैं या व्रत का बहाना करके अपने क्रोध को छोडकर आपके प्रणिपात का उल्लंघन रूपी अपराध धोने के लिए आ रही हैं। आज तो मेरी आँखों में देवी की सुन्दरता बहुत भली दिखाई पड रही है।

राजा—[मुस्कराकर] दोनों ही बातें हो सकती हैं। किन्तु जो बात आपने अन्त में कही है, वही अधिक ठीक जान पड़ती है। क्योंकि इस समय उज्ज्वल रेशमी वस्त्र पहने हुए, शरीर पर केवल मांगलिक आभूषण धारण किए, केशपाश को केवल पवित्र दूबों के अकुरों से सजाकर, व्रत के बहाने से अपना मान त्याग कर चली आ रही हैं। उनके रंग ढंग से तो यही मालूम पड रहा है कि वे मुझ पर प्रसन्न हैं॥१२॥

देवी—[समीप जाकर] आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

परिजन—स्वामी की जय हो, जय हो।

विदूषक—देवी का कल्याण हो।

राजा—देवी का स्वागत है। [राजा हाथ से पकडकर देवी को बैठाते हैं।]

उर्वशी—सखी! इस समय तो देवी शब्द इनके लिए उपयुक्त मालूम पड रहा है, क्योंकि इन्द्राणी की तेजस्विता से तनिक भी कम इनकी तेजस्विता नहीं दिखाई पड़ रही है।

चित्रलेखा—आहु असूआपरम्मुह मंतिद तुए। (साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितं त्वया।)

देवी—अज्जउत्त पुरोकरिअ को वदविसेसो मए संपादणीओ। ता मुहुत्त उवरोधो सहीअदु। (आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः। तन्मुहूर्तमुपरोधः सह्यताम्।)

राजा—मा मैवम्। अनुग्रह खलु अयं नोपरोधः।

विदूषकः—ईरिसो सोत्थिवाअणवतो उवरोहो बहुसो होदु (ईदृशः स्वस्तिवाचनवानुपरोधो बहुसो भवतु।)

राजा—किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम्।

[देवी निपुणिकामुखमवेक्षते।]

निपुणिका—भट्टा पिआणुप्पसादण णाम। (भर्तः प्रियानुप्रसादनं नाम।)

राजा—[देवीं विलोक्य।] यद्येवम्।

*अनेन कल्याणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्।*
*प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥१३॥*

उर्वशी—महतो क्खु से इमस्सि बहुमाणो। (महान्खलु अस्य एतस्यां बहुमानः।)

चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णसक्तप्पेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्खिणा होन्ति। (अयि मुग्धे अन्यसङ्क्रातप्रेमाणो नागरिका भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति।)

---

चित्रलेखा—तुमने अपनी ईर्ष्या छोड़कर बिल्कुल सत्य बात कही है।

देवी—मैं आर्यपुत्र को आगे करके एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ। इसलिए कुछ देर के लिए यह विघ्न सहन करें।

राजा—नहीं, ऐसा न कहो। इसमें विघ्न किस बात का है। यह तो आपका अनुग्रह है।

विदूषक—ऐसे स्वस्तिवाचन के उपहार जिनमें मिलें, ऐसे विघ्न तो अनेक बार आते रहें।

राजा—देवी के इस व्रत का क्या नाम है?

[देवी निपुणिका की ओर देखती हैं।]

निपुणिका—स्वामी! इसे अपने प्रियतम को प्रसन्न करनेवाला व्रत कहते हैं।

राजा—[देवी की ओर देखकर] यदि ऐसा है, तो तुम अपने कमल के समान कोमल अंगों को व्यर्थ में ही क्यों सुखा रही हो। क्योंकि तुम्हारा जो सेवक, स्वयं तुम्हें सुप्रसन्न देखने के लिए लालायित था, उसे तुम्हें प्रसन्न करने की भला क्या आवश्यकता है? ॥१३॥

उर्वशी—इस देवी में अति तो महाराज के हृदय में अत्यन्त आदर है।

चित्रलेखा—अरी पगली! जो चतुर नागरिक जन किसी अन्य स्त्री से प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पत्नी से विशेष प्रेम दिखलाने की चतुरता भी करते ही हैं।

देवी—[सस्मितम्] ण इमस्स वदपरिग्गहस्स अअं पहावो जं एत्तिअं मंताविदो अज्ज-उत्तो। (नन्वेतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मन्त्रित आर्यपुत्रः।)

विदूषकः—विरमदु भवं। ण जुत्तं सुहासिदं पच्चाचरिदुं। (विरमतु भवान्। न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम्।)

देवी—दारिआओ आणेध ओवहारिअं जाव मणिहम्मिअपिट्ठगदे चदपादे अच्चेमि। (दारिकाः आनयतोपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपृष्ठगतांश्चन्द्रपादानर्चामि।)

परिजनः—जं भट्टिणी आणवेदी। एसो गंधकुसुमादिउवहारो। (यद्भट्टिनी आज्ञापयति। एष गन्धकुसुमाद्युपहारः।)

देवी—उवणेध। [नाट्येन गंधपुष्पादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य।] हञ्जे णिउणिए इवमेओ-हारिअमोदए अज्जमाणवअं लम्भावेहि। (उपनयत। हञ्जे निपुणिके एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय।)

निपुणिका—जं भट्टिणी अणवेदी। अज्ज माणवअ एद दाव दे। (यद्भट्टिन्याज्ञापयति। माणवक इदं तावत्ते।)

विदूषकः—[मोदकशरावं गृहीत्वा।] सोत्थि भोदीए। बहुफलो दे एसो वदो मोदु। (स्वस्ति भवत्यै। बहुफलं तवैतद्व्रतं भवतु।)

देवी—अज्जउत्त इदो दाव। (आर्यपुत्र इतस्तावत्।)

राजा—अयमस्मि।

---

देवी—[मुस्कराकर] सचमुच इस व्रत के अनुष्ठान का ही यह प्रभाव है जो आर्य-पुत्र ने इतना तो कहा।

विदूषक—आप रुक जाइए। किसी अच्छी बात का मात्र उपचार के लिए प्रत्युत्तर देना उचित नहीं होता।

देवी—अरी लड़कियो! पूजा की सामग्री तो ले आओ, जिससे मैं मणिजटित छत वाले इस राजभवन पर फैली हुई चन्द्रमा की किरणों की पूजा करूँ।

परिजन—जैसी स्वामिनी की आज्ञा। यह है, चन्दन, पुष्प आदि पूजा की सामग्रियाँ।

देवी—ले आओ [चन्दन पुष्पादि से चन्द्रमा की किरणों की पूजा का अभिनय करके] ले आओ। निपुणिका! इन पूजा प्रसाद के लड्डुओं को ले जाकर आर्य माणवक को दे दो।

निपुणिका—जैसी स्वामिनी की आज्ञा। माणवक! यह आपके लिए है।

विदूषक—[लड्डू का पात्र लेकर] आपका कल्याण हो। मेरी कामना है कि आपका यह व्रत बहुत बहुत फले।

देवी—आर्यपुत्र! तनिक इधर आ जायें।

राजा—मैं यह आ गया।

देवी—[राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य।] एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलञ्छणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि—अज्जप्पहुदि जं इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेदि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणयिणी ताए सह मए पीदिबंधेण वत्तिदव्वं त्ति। (एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि—अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम् इति।)

उर्वशी—अम्महे ण आणे किंपर से वअणं त्ति। मम उण विस्सासविसदं हिअअं संवुत्तं। (अहो न जाने किंपरमस्या वचनमिति। मम पुनर्विश्वासविशदं हृदयं संवृत्तम्।)

चित्रलेखा—सहि महाणुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणंतराओ दे पिअसमागमो हुविस्सदि। (सखि महानुभावया पतिव्रतयाभ्यनुज्ञातः अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति।)

विदूषकः—[अपवार्य।] छिण्णहत्थे मच्छे पलायिदे णिव्विण्णो धीवरो भणादि—गच्छ धम्मो मे हुविस्सदि त्ति। [प्रकाशम्] भोदि किं तारिसो दे पिओ तत्तभवं। (छिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति। भवति किं तादृशस्ते प्रियस्तत्रभवान्।)

देवी—मूढ अहं क्खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि। एत्तिएण चिंतेहि दाव पिओ ण वत्ति। (मूढ अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि। एतावता चिंतय तावत्प्रियो न वेति।)

राजा—

दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम्।
नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शंकसे भीरु॥१४॥

---

देवी—[राजा की पूजा करने का नाट्य कर करबद्ध प्रणाम करके,] आज मैं देव-युगल चन्द्रमा और रोहिणी को साक्षी बनाकर आर्यपुत्र को प्रसन्न कर रही हूँ। आज से जिस किसी भी स्त्री को आर्यपुत्र प्रेम करेंगे और जो भी आर्यपुत्र की पत्नी बनना चाहेगी, उसके साथ मैं प्रेम का सम्बन्ध रखूँगी।

उर्वशी—अहो, न जाने किस स्त्री को लक्ष्य करके यह ऐसा कह रही हैं। किन्तु इनकी इस बात से तो कम से कम मेरे हृदय को विश्वास मिल गया।

चित्रलेखा—सखी! इस महान् हृदय वाली पतिव्रता की इस स्वीकृतिसूचक बातों से तुम्हारा प्रियतम के साथ समागम निर्विघ्न सम्पन्न होगा—यह निश्चित हो गया।

विदूषक—[अन्य से] जब मछुए के ढीले हाथ से मछली निकलकर भाग जाती है तो उदास होकर वह मछुआ भी कहता है कि—जाओ, मुझे धर्म होगा। [प्रकट रूप में] देवी! क्या आपको महाराज इतने प्यारे हैं।

देवी—अरे मूर्ख! मैं अपने सभी प्रकार के सुखों को बलि देकर भी आर्यपुत्र को सन्ताप रहित करना चाहती हूँ। इतने से ही समझ लो कि वे मेरे प्यारे हैं या नहीं?

राजा—देवी! तुम चाहो तो मुझे किसी दूसरे को दे दो अथवा अपना ही सेवक बना लो। हे भीरु! तुम जैसी आशंका मेरे सम्बन्ध में कर रही हो, मैं उतना दूर तुमसे नहीं हूँ॥१४॥

देवी—होदि वा मा वा। जधाणिद्दिट्ठं संपादिदं मए पिआणुप्पसादणं णाम वदं। दारिआओ एध गच्छह्म। (भवतु वा मा वा। यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्। दारिकाः एत गच्छामः।

[इति प्रस्थिता]

राजा—प्रिये न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते।

देवी—अज्जउत्त अलंघिदपुव्वो मए णिअमो। (आर्यपुत्र अलंघितपूर्वो मया नियमः।)

[इतिसपरिवारा निष्क्रांता।]

उर्वशी—सहि पिअकलत्तो राएसी। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्केमि। (सखि प्रियकलत्रो राजर्षिः। न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि।)

चित्रलेखा—किं उण तुए णिरासाए णिवत्तीअदि। (किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते।)

राजा—[आसनमुपेत्य] वयस्य न खलु दूरं गता देवी।

विदूषकः—भण विस्सद्धं जं सि वत्तुकामो। असज्झो त्ति वेज्जेण आदुरो विअ सेर मुत्तो भव दाअहोदीए। (भण विस्रब्धं यदसि वक्तुकामः। असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवाँस्तत्रभवत्या।)

राजा—अपि नामोर्वशी।

उर्वशी—अज्ज किदत्था भवे। (अद्य कृतार्था भवेत्।)

---

देवी—आप दूर हों या न हों, किन्तु मैंने तो अपने प्रिय को प्रसन्न करने का जो व्रत ग्रहण किया था वह पूरा हो गया। आओ, दासियो, चलो हम लोग चलें।

[दासियों के साथ रानी चलने को उद्यत होती है।]

राजा—प्रिये! यदि तुम इस समय मुझे छोड़कर चली जाओगी तो यह जान लो कि मैं प्रसन्न नहीं हूँ।

देवी—आर्यपुत्र! मैंने आज के पहले कभी व्रत के नियमों का उल्लंघन नहीं किया है।

[अपनी दासियों के संग जाती है।]

उर्वशी—सखी! राजा अपनी पत्नी को प्यार करते हैं। किन्तु मैं जानकर भी मैं इन पर से अपना हृदय हटा नहीं सकूँगी।

चित्रलेखा—तो क्या तुम निराश होकर वापस लौट जाना चाहती हो।

राजा—[अपने आसन पर बैठकर] मित्र! देवी अभी दूर तो नहीं चली गई होंगी।

विदूषक—जो कुछ कहना चाहते हो विश्वासपूर्वक कहो। जैसे रोगी को असाध्य मानकर वैद्य उसकी औषधि करना छोड़ देता है, उसी प्रकार देवी ने भी आपको मनमाना करने के लिए छोड़ दिया है।

राजा—क्या अच्छा होता यदि उर्वशी......।

उर्वशी—आज कृतार्थ हो जाती।

राजा—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजधृते कुर्वीत वा लोचने।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्
आनीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥१५॥

चित्रलेखा—सहि उव्वसि इमं दाव से मणोरहं संपादेहि। (सखि उर्वशी इमं तावदस्य मनोरथं सम्पादय।)

उर्वशी—[ससाध्वसम्] भोदु। कीलिस्सं दाव। (भवतु क्रीडिष्यामि तावत्।)
[इति तिरस्करणीमपनीय पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने संवृणोति।

[चित्रलेखा तिरस्करिणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति।]

विदूषक—भो वअस्स का उण एसा। (भो वयस्य का पुनः एषा।)
राजा—[स्पर्शं रूपयित्वा] सखे नारायणोरुसम्भवा रोम बरोरू।
विदूषक—कहं भवं अवगच्छदि। (कथं भवानवगच्छति।)
राजा—किमत्र ज्ञेयम्।

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात्।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्येवांशुभिः कुमुदम् ॥१६॥

उर्वशी—[हस्तौ अपनीय उत्तिष्ठति। किञ्चिदपसृत्य] जेदु जेदु महाराओ (जयतु जयतु महाराज।)

---

राजा—कितना अच्छा होता यदि उर्वशी इसी समय छिपे-छिपे आकर अपने नूपुर की मधुर ध्वनि का मेरे कानों में डाल जाती, अथवा पीछे की ओर से आकर अपने कमल के समान कोमल हथेलियों से मेरी आँखों को बंद कर लेती या इस राजभवन की छत पर उतर कर डरती हुई बहुत धीमे धीमे अपना पग आगे बढ़ाती और उसकी चतुर सखी उसे जबर्दस्ती पकड़कर मेरे समीप पहुँचा देती ॥१५॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी! अब तो आकर इनकी अभिलाषाओं को पूरी करो।

उर्वशी—[घबराहट से] अच्छा। पहले तो मैं इनसे कुछ खिलवाड़ करूँगी। [अपनी तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव को हटाकर पीछे से जाकर राजा के नेत्रों को मूँद लेती है। और चित्रलेखा भी अपनी माया को हटाकर विदूषक को संकेत करती है।]

विदूषक—अरे मित्र! ये कौन हैं?

राजा—[स्पर्श करने का अभिनय कर] मित्र! यह तो नारायण ऋषि की जाँघों से उत्पन्न सुन्दर जाँघोंवाली उर्वशी हैं।

विदूषक—यह आप कैसे पहचान रहे हैं?

राजा—अरे! इसमें क्या पहचानना है? ऐसी कोई स्त्री नहीं है जो मेरे काम से पीड़ित अंगों को स्पर्श कर सुखी बना दे। चन्द्रमा की किरणों से खिलनेवाला कुमुद सूर्य की किरणों से नहीं खिला करता ॥१६॥

उर्वशी—[हाथों को हटाकर खड़ी हो जाती है। कुछ समीप जाकर] महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—सुंदरि स्वागतम्। [इत्येकासन उपवेशयति।]

चित्रलेखा—अवि सुहं वअस्सस्स। (अपि सुखं वयस्यस्य।)

राजा—नन्वेतदुपपन्नम्।

उर्वशी—हला देवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसपक्क गदम्हि। मा क्खु मं पुरोभाइणि समत्थेहि। (हला देव्या दत्तो महाराजः। अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसम्पर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व।)

विदूषकः—कहं इह ज्जेव तुम्हाण अत्थमिदो सुज्जो। (कथं इहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः।)

राजा—[उर्वशीमवलोकयन्]

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन्।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमपि मे त्वया हृदयम्॥१७॥

चित्रलेखा—वअस्स णिरुत्तरा एसा। संपद मह विण्णवणा सुणी अदु। (वयस्य निरुत्तरा एषा। साम्प्रतं मम विज्ञापनो श्रूयताम्।)

राजा—अवहितोऽस्मि।

चित्रलेखा—वसन्ताणन्तर उण्हसमए भअव सुज्जो मए उवचरिदव्वो ता जहा इअ मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कंठेदि तहा वअस्सेण कादव्वं। (वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः। तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गाय नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्।)

---

राजा—सुन्दरी! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ।

चित्रलेखा—अब तो तुम्हारे मित्र को प्रसन्नता हुई?

राजा—यह तो ठीक ही कह रही हैं।

उर्वशी—सखी! देवी ने महाराज को मुझे समर्पित कर दिया है। इसलिए इनकी प्रणयिनी की भाँति अब मैं इनके शरीर से सटकर बैठी हूँ। तुम मुझे कुलटा स्त्री मत समझ लेना।

विदूषक—क्या आप लोगों को यहीं पर सूर्यास्त हुआ था?

राजा—[उर्वशी को देखते हुए] आज तो तुम यह कहकर हमारे शरीर से सम्पर्क स्थापित कर रही हो कि देवी ने तुम्हें दे दिया है, किन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि पहले तुमने किस की अनुमति लेकर मेरे हृदय को चुरा लिया था॥१७॥

चित्रलेखा—यह तो निरुत्तर हो गई किन्तु अब आप मेरी बात तो सुनिए।

राजा—मैं सावधान हूँ।

चित्रलेखा—वसन्त ऋतु के व्यतीत हो जाने के बाद ग्रीष्म ऋतु में मुझे भगवान् सूर्यनारायण की उपासना करनी है, तो फिर जिस उपाय से मेरी यह प्रिय सखी स्वर्ग के लिए उत्कण्ठित न हो वही उपाय आप करेंगे।

विदूषक—किं वा सग्गे सुमरिदव्वं। ण वा तत्थ अण्हीअदि ण वा पीअदि। केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडंवीअंति। (किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा तत्राश्यते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते।)

राजा—भद्रे।

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति।
अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः॥१८॥

चित्रलेखा—अणुगहीदम्हि। हला उव्वसि अकादरा भविअ विसज्जेहि मं। (अनुगृहीतास्मि। हला उर्वशि अकातरा भूत्वा विसर्जय माम्।)

उर्वशी—[चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्] सहि मा क्खु मं विसुमरेहि। (सखि मा खलु मां विस्मर।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] वअस्सेण सगदा तुमं मए जाचिदव्वा। (वयस्येन सङ्गता त्वमेवैतन्मया याचितव्या।) [इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता।]

विदूषक—दिट्ठिआमणोरहसम्पदीए वड्ढदि भवं। (दिष्ट्या मनोरथसम्पत्त्या वर्धते भवान्।)

राजा—इयं तावद्वृद्धिर्मम। पश्य—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥१९॥

---

विदूषक—स्वर्ग में ऐसी स्मरण करने योग्य क्या वस्तु है? वहाँ न तो कुछ खाया जाता है, न पिया जाता है। वहाँ के निवासी तो दिनरात मछली के समान निर्निमेष नेत्रों से देखते रहते हैं।

राजा—भद्रे! स्वर्ग के सुखों का वर्णन नहीं किया जा सकता, भला उसे कौन भुला सकता है? किन्तु मैं पुरूरवा अनन्य भाव से अर्थात् अन्य स्त्रियों से चित्त को हटाकर तुम्हारी सखी का दास बना रहूँगा॥१८॥

चित्रलेखा—मैं अनुगृहीत हुई। सखी उर्वशी! अब तो मुप्रसन्न होकर बिना किसी दुःख के तुम मुझे बिदा दे दो।

उर्वशी—[चित्रलेखा को अपने गले में लगाकर करुणापूर्वक] सखी! देखना मुझे भूल न जाना।

चित्रलेखा—[मुस्कराती हुई] अब तो तुम अपने प्रियतम को पा गई हो इसलिए ऐसी प्रार्थना तो मुझे तुमसे करनी चाहिए थी। [राजा को प्रणाम करके जाती है।]

विदूषक—सौभाग्यवश आपका मनोरथ पूरा हुआ, जिसके लिए मेरी बधाई है।

राजा—यह तो हमारा अभ्युदय हो गया। देखो,

हे मित्र! इनके चरणों में पहुँचकर इनकी आज्ञा के पालन करने का अवसर प्राप्त करके मैं जिस प्रकार से अपने को कृतकृत्य मानता हूँ उस प्रकार मैं इस सम्पूर्ण पृथ्वी का एकच्छत्र सम्राट्, होकर एवं अपने चरणों के रखने के पीठ को सामन्त राजाओं के मुकुटों की मणियों द्वारा रंजित करके भी कृतकृत्य नहीं मानता था॥१९॥

उर्वशी—णत्थि मे वाआविहवो अदो पिअदरं मंतिदुं। (नास्ति मे वाग्विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।)

राजा—[उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य] अहो विरुद्धमपर्यन्तमीप्सितलाभो नाम। यतः।

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत् त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ॥२०॥

उर्वशी—अवरद्धम्हि चिरआरिआ अज्जउत्तस्स। (अपराद्धास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य।)

राजा—सुन्दरि मा मैवम्।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥

विदूषकः—भो सेविदा पदोसरमणीआ चन्दवादा। समओ क्खु दे वासघरप्पवेसस्स। (भोः सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः। समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।)

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवदी। (इत इतो भवती।)

[इति सर्वे परिक्रामन्ति।]

राजा—सुन्दरि इयमिदानी मेऽभ्यर्थना।

---

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात कहने की मेरी वाणी में सामर्थ्य नहीं है।

राजा—[उर्वशी को हाथ से पकड़कर] अहा, जब अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब विरोधी वस्तुएँ भी मोहनमाल बन जाती हैं। क्योंकि चन्द्रमा की वे ही किरणें आज सुख देनेवाली हो गई हैं और कामदेव के वे ही बाण आज चित्त को अनुकूल मालूम पड़ रहे हैं। हे सुन्दरी! उस समय जो जो वस्तुएँ क्रोध से भरी हुई अथवा कठोर मालूम पड़ती थीं, वे सब की सब तुम्हारे मिलने ही अनुकूल बन गई हैं॥२०॥

उर्वशी—मैंने विलंब से आकर आर्यपुत्र के प्रति अपराध किया है।

राजा—सुन्दरी! ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जो सुख दुःख के बाद प्राप्त होता है, वह अत्यन्त आनन्ददायी होता है। देखो न, वृक्ष की छाया उसी व्यक्ति को विशेष सुख देती है, जो धूप में तपकर आता है॥२१॥

विदूषक—अरे! अब तो रात्रि के चन्द्रमा की किरणों का यथेष्ट सेवन हो चुका, अब तो आपके शयन-गृह में जाने का समय हो गया है।

राजा—तो तुम अपनी सखी उर्वशी को मार्ग बताओ न?

विदूषक—इधर से चलें देवी जी, इधर से।

[सभी घूमते हैं।]

राजा—सुन्दरी! अब तो मेरी यही प्रार्थना है।



# चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

पिअसहिविओअविमणा सहि हंसो वाउला समुल्लवइ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुसंगे ॥१॥

( प्रियसखीवियोगविमनाः सखी हंसी व्याकुला समुल्लपति।
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे ॥ )
[ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च ]

(नेपथ्ये)

सहअरि दुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअं।
वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥२॥

(सहचरी दुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।
बाष्पावगलितनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥)

सहजन्या—[चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्] सहि चित्तलेहे मिलाअमाणसदवत्तविअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थद सूएदि। ता कहेहि मे णिव्वेदकारण। समदुक्खा भविदु इच्छामि। (सखि चित्रलेखे। म्लायमान शतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति। तत्कथय मे निर्वेदकारणम्। ते समदुःखा भवितुमिच्छामि

---

## चौथा अंक

[नेपथ्य मे] अपनी प्यारी सखी के वियोग से अनमनी होकर तथा व्याकुल होकर हंसिनी सूर्य की किरणों के स्पर्श से जिसमें कमल खिले हुए हैं, ऐसे सरोवर की गोद (जल में) बैठी विलाप कर रही है ॥१॥

[तदनन्तर अनमनी-सी चित्रलेखा तथा सहजन्या का प्रवेश होता है।]

[नेपथ्य मे] अपनी सहचरी के दुःख से दुःखित होकर एक दूसरी के प्रति अत्यन्त प्रेम में पगी हुई दो हंसिनियाँ आँखो मे आँसू बहाती हुई सरोवर मे बैठी सिसक रही हैं ॥२॥

सहजन्या—[ चित्रलेखा को देखकर खेद के साथ] सखी चित्रलेखा! यह मुरझाए हुए कमल के समान दिखाई पडने वाला तुम्हारा मुख यह बतला रहा है कि तेरा मन ठीक नहीं है। तो तू मुझे अपने दुःख का कारण बता, क्योंकि मैं भी तेरे दुःख में हिस्सा बँटाना चाहती हूँ।

चित्रलेखा—[सकरुणम्] सहि अच्छरावारपज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पदमूलोवट्ठणे वट्टदि त्ति वलिअ क्खु उव्वसीए उक्कठिदम्हि। (सखि अप्सरोवारपर्यायेण भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तत इति बलवत्खलु उर्वश्याः उत्कण्ठितास्मि।)

सहजन्या—सहि जाणे वो अण्णोण्णसिणेहं। तदो तदो। (सखि जाने युवयोरन्योन्यस्नेहम्। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तदो इमाइं दिवसाइं को ण क्खु वत्तातो त्ति पणिधाणट्ठिदाए मए अच्चाहिद उवलद्ध। (ततः एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्तः इति प्रणिधानस्थितया मयात्याहितमुपलब्धम्।)

सहजन्या—[सावेगम्] सहि कीरिस तं। (सखी कीदृशं तत्।)

चित्रलेखा—[सकरुणम्] उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसिं अमच्चेसु णिवेसिदरज्जधुरं गेण्हिअ गधमादणवणं विहरिदुं गदा। (उर्वशी किल रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता।)

सहजन्या—[सश्लाघम्] सो णाम सभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु। तदो तदो। (स नाम सम्भोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तहिं क्खु मदाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदापव्वद केलीहिं कीलमाणा विज्जाहरदारिआ उदयवदी णाम तेण राएसिणा णिज्झाइद त्ति कुविदा उव्वसी। (तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलीभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिको-दयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।)

---

चित्रलेखा—[करुणा के साथ] सखी! सभी अप्सराओं में भगवान् सूर्यनारायण की उपासना के लिए बारी बँधी हुई है, आज जब मैं अपनी बारी पर सूर्योपासना के लिए यहाँ आई तो अपनी सखी उर्वशी का स्मरण करके मेरा चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित हो गया है।

सहजन्या—सखी! मैं तुम दोनों में एक दूसरे के साथ जो स्नेह है, उसे जानती हूँ। तब फिर इसके बाद क्या हुआ?

चित्रलेखा—मैंने यह सोचकर जो ध्यान लगाया कि इतने दिन बीत गए हैं हमारी सखी का क्या हालचाल है तो मुझे ज्ञात हुआ कि वह बड़े संकट में फँस गई है।

सहजन्या—[घबराहट में] किस प्रकार का संकट है सखी!

चित्रलेखा—[करुणा के साथ] उर्वशी एकान्त विहार करने के लिए, अपने मन्त्रियों पर राज्य का भार सौंपनेवाले राजर्षि पुरुरवा को साथ लेकर गन्धमादन पर्वत पर गई हुई थी। वे उस समय ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे साक्षात् रति को साथ लिए हुए हों।

सहजन्या—[श्लाघा के साथ] अरे सखी! उसे ही तो सम्भोग कहा जा सकता है जो वैसे एकान्त सुन्दर प्रदेशों में किया जाय। हाँ, तब फिर क्या हुआ?

चित्रलेखा—वहाँ पर मन्दाकिनी के रेतीले तट पर बैठी हुई बालू का पर्वत बनाकर खेलती हुई एक उदयवती नामक गन्धर्व कन्या को जब राजर्षि पुरुरवा बड़ी देर तक देखते ही रह गए तो यह देखकर उर्वशी कोप से भर गई।

सहजन्या—होदव्व। दूराढो क्खु पणओ असहणो। तदो तदो। (भवितव्यम्। दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः। ततस्ततः।)

चित्रलेखा—तदो सा भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसाव समूढहिअआ विसुमरिददेवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसाणंतरं अ काणणोवंतवत्तिलदाभावेण परिणदं से रूवम्। (ततः सा भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृतदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम्।)

सहजन्या—[सशोकम्] सव्वधा णत्थि विहिणो अलङ्घणिज्जं णाम। जेण तारिसस्स अणुराअस्स अअं एव्वं एक्कवदे अण्णारिसो परिणामो संवुत्तो। अह किमवत्थो सो राएसी। (सर्वथा नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम। येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवंकपदेऽन्यादृशः परिणामः संवृत्तः। अथ किमवस्थः स राजर्षिः।)

चित्रलेखा—सो वि तस्सिं एव्व काणणे पिअदमं विचिण्णंतो अहो रत्ते अदिवाहेदि। [नभोऽवलोक्य] इमिणा उण णिव्वुदाणं वि उक्कंठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हुविस्सदि।

(नेपथ्ये)

सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअंमि सिणिद्धअ।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसी जुअलअं॥३॥

(सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति। एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।)

(सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम्॥)

---

सहजन्या—यह संभव है। क्योंकि जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है तो वह ऐसी बातें सहन नहीं करता। तब इसके बाद क्या हुआ?

चित्रलेखा—तब वह पति के अनुनय-विनय को ठुकराकर, क्योंकि गुरु भरत के शाप से उसका हृदय शून्य हो गया था अतः देवताओं के नियम का कोई ध्यान न कर कार्तिकेय के उस वन में चली गई, जहाँ स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था। बस, फिर क्या, जैसे ही वह उस वन में प्रविष्ट हुई तैसे ही उस वन की सीमा के समीप ही एक लता के रूप में बदल गई।

सहजन्या—[शोक के साथ] सच है, विधाता की इच्छा को कभी कोई रोक नहीं सकता, जो ऐसे उत्कट प्रेम का एक मामूली सी बात में ऐसा भयकर परिणाम हो गया। हाँ, तब उन राजर्षि की कैसी दशा हुई?

चित्रलेखा—तब से वह राजर्षि भी उसी वन में अपनी प्रियतमा को रातदिन ढूंढते हुए अपना समय बिता रहे हैं। [आकाश की ओर देखकर] अरे! सुखी लोगों के चित्त में भी उत्कण्ठा भर देनेवाले इन काले-काले मेघों को देखकर तो वे गहरी विपत्ति में पड़ जायेंगे।

[नेपथ्य में] अपनी सहचरी के दुःख से दुःखित होकर एक दूसरी के प्रति अत्यन्त प्रेम में पगी हुई दो हंसिनियाँ आँखों में आँसू बहाती हुई सरोवर में बैठी सिसक रही हैं॥३॥

**सहजन्या**—सहि ण क्खु तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्ख भाइणो होन्ति। ता अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूवोवि समागमकारणं हविस्सदि। [प्राची दिशं विलोक्य] ता एहि। उदअमुहस्स भअवदो सुज्जस्स अवट्ठाणं करेम्ह।

(नेपथ्ये)

चिंतादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदसण लालसिआ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसो सरवरए॥४॥

(सखि न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति। तदवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि। उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।)

(चिन्तादूनमानसिका सहचरीदर्शनलालसिका।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे।)

[इति निष्क्रान्ते]

॥ प्रवेशकः ॥

(नेपथ्ये)

गहणं गइदणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो।
विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो॥५॥

(गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः।)

[ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्यः उन्मत्तवेषो राजा]

---

**सहजन्या**—सखी! उस प्रकार के सुन्दर तथा भाग्यशाली लोग चिरकाल तक दुःखी नहीं रह सकते। अवश्य ही कोई न कोई ऐसा कारण उनके सम्मुख उपस्थित हो जायगा, जिससे पुनः उन दोनों का समागम सम्भव हो जायगा। [पूर्व दिशा की ओर देखकर] तो इधर आओ न! उदयोन्मुख भगवान् सूर्यनारायण की हम लोग उपासना कर लें।

[नेपथ्य में] चिन्ता से अनमनी और अपनी प्रिय सखी से मिलने के लिए अधीर हंसी खिले हुए कमलों से मनोहर सरोवर में विहार कर रही है॥४॥

[दोनों जाती हैं।]
प्रवेशक समाप्त

---

[नेपथ्य में] यह महान् गजराज अपनी प्रियतमा के वियोग में पागल हो जाने के कारण अपने चित्त की गहरी व्यथा को प्रकट करते हुए के समान वृक्षों के पुष्पों तथा पल्लवों से अपने विशाल शरीर को अलङ्कृत किए हुए वन में प्रवेश कर रहा है॥५॥

[तदनन्तर आकाश की ओर देखते हुए पागलों जैसा वेश धारण किए राजा का प्रवेश होता है।]

राजा—[सक्रोधम्] आः दुरात्मन् रक्ष। तिष्ठ तिष्ठ। मे प्रियतमामादाय गच्छसि। [विलोक्य] हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति।

(नेपथ्ये)

हिअआहि अपिअ दुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ।
वाहोग्गअ णअणओ तम्मइ हंसजुआणओ॥६॥

(हृदयाहित प्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः।
बाष्पावग्लपितनयनस्ताम्यति हंसयुवा।)

[लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकरुणम्]

कथम्।

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी॥७॥

(नेपथ्ये)

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णवतलिसामल धाराहरु वरिसेइ॥८॥

(मया ज्ञातं मृगलोचना निशाचरः कोऽपि हरति।
यावत् नव तडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति॥)

---

राजा—[क्रोध के साथ] अरे दुष्ट राक्षस! खड़ा रह, खड़ा रह। मेरी प्रियतमा को लेकर तू जा रहा है। [देखकर] अरे! यह तो पर्वत शिखर से आकाश में उड़कर मेरे ऊपर बाण बरसा रहा है।

[नेपथ्य में] यह युवा हंस अपनी प्रियतमा के वियोग में पंख फड़फड़ाते हुए, आँखों में आँसू भरकर सरोवर में बैठा रुदन कर रहा है॥६॥

[एक ढेला लेकर मारने दौड़ता है, किन्तु फिर ठीक से समझकर करुणा के साथ] अरे यह तो नूतन बादल दिखाई पड़ रहा है, यह गर्वीला राक्षस तो नहीं है। इसमें खिंचा हुआ इन्द्रधनुष दिखाई पड़ रहा है, दूर तक तना हुआ राक्षस का धनुष नहीं है। अरे! यह जो टप टप बरस रहे हैं वे बाण नहीं हैं, उस बादल की झड़ी लगी हुई है, और यह जो कसौटी पर बनी हुई सुवर्ण की रेखा के समान चमक रही है, वह बिजली है, मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं है॥७॥

–[नेपथ्य में] नूतन विद्युत से सुशोभित यह जो काला मेघ बरस रहा है, उसे मैंने समझा था कि हमारी मृगलोचना प्रिया को कोई राक्षस हरकर लिए चला जा रहा है॥८॥

[विचिन्त्य सकरुणम्] क्व नु खलु सा रम्भोरुर्गता स्यात्।
तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
ता हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनी
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥९॥

[इति दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्।] अये परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि। कुतः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०॥

[अनन्तरे चर्चरी]

जलहर संहर एहु कोपइं आढत्तओ अविरलधारासारदिसामुहकंतओ।
ए मइं पुहविं भमंतो जइ पिअं पेक्खिमि तव्वे जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥११॥
(जलधर संहरैतं कोपमाज्ञप्तः अविरलधारासारदिशामुखकान्तः।
ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये।)

[विहस्य] मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरपेक्ष्यते। यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति–राजा कालस्य कारणमिति। तत्किमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि।

गंधमाइअ महुअरगीएहिँ वज्जंतेहिँ परहुअ तूरेहिँ।
पसरिअपवणुव्वेल्लिअपल्ल वणिअरु सुललिअविविहआरं णच्चइ कप्पअरु ॥१२॥

---

[कुछ सोचकर करुणा के साथ] वह कदली के समान जांघोंवाली हमारी प्रिया कहाँ गई होगी? कहीं वह क्रोधावेश मे आकर अपने दैवी प्रभाव से छिप न गई हो, किन्तु वह इतनी देर तक कभी क्रुद्ध नहीं रह पाती थी। अथवा वह स्वर्गलोक को न उड़ गई हो, किन्तु यह भी सम्भव नहीं क्योंकि मेरे प्रति उसका मन प्रेम से आर्द्र है। मेरे सामने से उसे देवताओं के शत्रु राक्षस लोग भी हरण करके नहीं ले जा सकते। तब फिर वह मेरे नेत्रों से सदा के लिए कहाँ छिप गई, यह न जाने कैसा मेरा दुर्भाग्य है ॥९॥

[चारों दिशाओं मे देखकर गहरी साँसें खींचकर] जिनका भाग्य फूटा रहता है, उनकी एक विपत्ति मे दूसरी विपत्ति भी आ जाती है। क्योंकि, इधर तो प्रिया का ऐसा वियोग मुझे प्राप्त हुआ जो मेरे लिए असहनीय है, और दूसरी ओर नूतन मेघों के आ जाने से धूप छिप गई है, और मौसम अत्यन्त रमणीय बन गया है ॥१०॥

[इसी बीच मे चर्चरी गीत होता है।]

हे बादल! अनवरत वृष्टि द्वारा दिशाओं के मुख को प्रसन्न करनेवाले तुम, इस समय मैं आज्ञा दे रहा हूँ कि अपना क्रोध सँभालो। पृथ्वी पर चारों ओर घूमकर जब मैं अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर लूँ तब तुम जो चाहे करोगे, मैं सब सहन करूँगा ॥११॥

[हँसकर] मैं व्यर्थ ही अपने मन का सताप बढ़ा रहा हूँ। क्योंकि मुनियों का कहना है कि राजा जैसा चाहे वैसा समय उपस्थित कर सकता है। तब फिर मैं इस वर्षा के समय को रुक जाने का आदेश क्यों न दूँ।

सुगन्धि के कारण उन्मत्त भ्रमरों के गीत के साथ साथ, कोयल की वाणी मे बजनेवाले वाद्य से गूँजते हुए पवन के द्वारा जिस कल्पवृक्ष के पत्ते हिल रहे हैं, वह मालूम होता है कि यह अनेक प्रकार के सुललित हाव-भावों के साथ नृत्य कर रहा है ॥१२॥

(गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः, वाद्यमानैः परभृततूर्यैः
प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः॥)

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति। कथमिव—

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः
धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः॥१३॥

भवतु। किमेव परिच्छदश्लाघया। यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि।

(नेपथ्ये)

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ विरहाणुगओ परिमंथरओ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गजजूहवई बहुझीणगई॥१४॥

(दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिर्बहुक्षीणगतिः॥)

[परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त हन्त! व्यवसितस्य मे सदीपनमिव संवृत्तम्। कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगर्भैः।
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः॥१५॥

---

अथवा मैं इस वर्षा के समय को रुक जाने का आदेश नहीं दूँगा, क्योंकि उन्हीं वर्षाकाल के चिह्नों के कारण तो मैं इस समय भी राजचिह्न से सुशोभित हो रहा हूँ। क्योंकि,

बिजली की सुवर्ण रेखा से खचित बादल ही मेरा छत्र है, बेंतों के वृक्ष अपनी मंजरियों का चमर हमें डुला रहे हैं, गर्मी के दूर हो जाने से मधुर गान करनेवाले ये नीलकण्ठ मयूर मेरे वन्दीजन बन गए हैं, और अपने झरनों से मोती भेंट करते हुए ये शिखरोंवाले पर्वत मेरे लिए व्यापारी बन गए हैं॥१३॥

अच्छा छोड़ो, अपनी वेश-भूषा की ऐसी प्रशंसा से क्या लाभ है? तो अब इस वन में अपनी प्रिया का पता लगाऊँ।

[नेपथ्य में] अपनी प्रिया के बिना अत्यन्त दुःखी होने के कारण यह हाथी पुष्पों से उज्ज्वल इस पर्वतीय कानन में बहुत धीमी गति से घूम रहा है॥१४॥

[घूमकर और देखकर] हाय, हाय! उसे ढूँढने समय यह मेरी पीडा को बढ़ानेवाली दूसरी वस्तु मिल गई। इस नूतन कन्दली के वृक्ष के जल की बूँदों से भरे हुए लाल लाल पुष्पों को देखकर मुझे उर्वशी के उन नेत्रों का स्मरण हो आया है जो क्रोध के कारण ऐसे ही हो गए थे और उनमें भी आँसू की बूँदें छलक आई थीं॥१५॥

इतो गतेति कथं नु तत्रभवती मया सूचयितव्या। यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यदि सा सुगात्री मेघाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का॥१६॥

[परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्] उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्॥१७॥

भवतु। आदास्ये तावत्। [परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्] कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम्। कुतो नु खलु निर्जने वने प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या। [शिखिनं दृष्ट्वा] अये अयमासारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणमारूढः—

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवातताडितशिखण्डः।
केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन॥१८॥

[उपेत्य] भवतु। यावदेनं पृच्छामि।

(नेपथ्ये)

संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ।
पिअदम-दंसण-लालसओ गअवरुविम्हिअ-माणसओ॥१९॥

(सम्प्राप्त विसूरणः स्वरितं परवारणः।
प्रियतमादर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः॥)

[अञ्जलिं बद्ध्वा]

---

इसी ओर से वह गई है—इसका पता मुझे किस प्रकार लग सकेगा? क्योंकि यदि वह सुन्दर शरीरवाली वर्षा से भीगी हुई बालू से युक्त इस वनस्थली पर से गई होती तो महावर से रँगे हुए उसके मनोहर चरणों की निशानी दूर दूर तक अवश्य दिखाई पड़ती जो उसके नितम्बों के भारी होने के कारण एँडी की तरफ से अधिक गहरी होती॥१६॥

[घूमकर तथा देखकर] अरे! यह कुछ चिह्न तो ऐसे मिल गए हैं जिनके द्वारा मैं यह अनुमान कर सकता हूँ कि क्रोध से भरी हुई देवी किस ओर से गई है। क्योंकि—

तोते के उदर भाग के समान हरी उसकी चोली यहाँ पर है, जिस पर उसकी आँखों की आँसुओं से धुलकर ओठों से गिरे हुए लाल रंग की बूँदें दिखाई पड़ रही हैं और जो क्रोधावेश में हड़बड़ी से चलने के कारण, ऐसा लगता है कि नीचे गिर पड़ी है॥१७॥

अच्छा, तो मैं इसे ले लेता हूँ। [घूमकर उसे देखकर आँसू बहाते हुए] अरे! यह तो हरी हरी घासों पर बीरबहूटियाँ फैली हुई हैं। तब फिर इस निर्जन वन में प्रिया का पता किस प्रकार लगाया जा सकेगा। [मयूर को देखकर] अरे! वर्षा के कारण भाप छोड़ने वाली पत्थर की शिला पर बैठा हुआ और सामने की दिशा से बहनेवाले तीव्र वायु के कारण छितराती हुई कलगी से सुशोभित यह मयूर अपना कण्ठ ऊँचा उठा उठाकर केकाध्वनि करता हुआ, मेघों को देख रहा है॥१८॥

[उसके समीप जाकर] अच्छा, इससे तो चलकर पूछूँ।

[नेपथ्य में] दुःख से भरा हुआ, अपनी प्रियतमा को देखने के लिए अत्यन्त लालायित और अपने शत्रु को पछाड़ देनेवाला यह महान् गजराज अत्यन्त व्याकुल चित्त-सा होकर बड़े वेग से चला जा रहा है॥१९॥

[हाथ जोड़ते हुए]

वंहिण पइँ इअ अब्भत्थिअमि आअक्खहि मं ता
एत्थ वणे भम्मंते जइ पइँ दिट्ठी सा मह्नु कंता ।
णिसमाहि मिअंकसरिसवअणा हंसगई
ए चिण्हे जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइँ ॥२०॥

(बर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्
अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगतिः
अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया॥)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत्॥२१॥

[विलोक्य] कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः। किं नु खलु हर्षकारणमस्य। [विचिन्त्य] आः ज्ञातम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात् घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही॥२२॥

भवतु। परव्यसननिवृत्तं न खलु एनं पृच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] अये इयमातपान्ते मधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा। यावदेनामभ्यर्थये।

---

हे मयूर! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि कहीं इस वन में घूमते-फिरते हुए तुमने मेरी खोई हुई प्रियतमा को देखा हो तो मुझे बता दो। वह मेरी प्रिया शशलाञ्छन चन्द्रमा के समान मुखवाली है तथा उसकी गति हंस के समान है, इसी पहचान से तुम उसे पहचान लोगे, बस मैंने यह चिह्न तुम्हें बता दिया है॥२०॥

भाई नीलकण्ठ! तुमने क्या इस वन में मेरी उस प्रियतमा को देखा है, जिसकी आँखें विशाल हैं, और जिसके लिए मेरी इतनी विह्वलता है कि क्या बताऊँ। हे श्वेत आँखों वाले! मेरी प्रिया देखने ही योग्य है॥२१॥

[देखकर] अरे! यह तो मेरी बातों का उत्तर दिए बिना ही नाचने में प्रवृत्त हो गया। इसकी प्रसन्नता का क्या कारण हो सकता है? [सोचकर] हाँ, अब ज्ञात हुआ कारण —

मेरी प्रियतमा के खो जाने पर अब इसके मन्द-मन्द पवन से छितराए हुए बादलों के समान सुन्दर पंखों को लज्जित करनेवाला कोई नहीं रह गया। आज यदि वह सुन्दर केशों वाली होती, जिनके बिखरे हुए बालों में पुष्प गूँथे हुए होते तो उसके सामने इस मयूर की शोभा को भला कौन पसन्द करता॥२२॥

अच्छा, दूसरों के सुख-दुःख पर तनिक भी ध्यान न देनेवाले इस मयूर से मैं अब बातें ही नहीं करूँगा [घूमकर तथा देखकर] अरे! ग्रीष्म ऋतु के बीत जाने से मतवाली कोयल, जो पक्षी जाति में सबसे अधिक पण्डिता है, इस जामुन के वृक्ष की डालों पर बैठी हुई है, तो चलकर इसी से पूछता हूँ।

(प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्तः।
बाष्पजलाकुललोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः॥)

[सकरुणम्] हा धिक् कष्टम्।

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम्।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम्॥३०॥

भवतु। यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसोऽस्मान्नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या। [उपसृत्य] भो भो जलविहङ्गमराज।

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव॥३१॥

अये यथोन्मुखो विलोकयति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येव वचनमाह।

रे रे हंसा किं गोइज्जइ गइअणुसारें मइँ लक्खिज्जइ।
कइँ पइँ सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइँ दिट्ठी जहणभरालस॥३२॥

(रे रे हंस किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते।
केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लालसा सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा॥)

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चोर गतं त्वया गृहीतम्॥३३॥

---

[करुणा के साथ] हाय इस कष्ट को धिक्कार है। मेघों से उमडी हुई काली-काली दिशाओं को देखकर मानसरोवर जाने के लिए उत्सुक राजहंसों की यह आवाज थी, जिसे मैं प्रियतमा के नूपुरों की मधुर रुनझुन समझे हुए था॥३०॥

अच्छा। जब तक ये मानसरोवर जाने के लिए उत्सुक राजहंस इस सरोवर से उडकर नहीं चले जाते तब तक मैं इनसे अपनी प्रियतमा का हालचाल पूछकर देखता हूँ। [समीप जाकर] हे जलपक्षियों के राजा! तुम मानसरोवर की ओर बाद में चले जाना, और जो ये अपने पाथेय के लिए तुमने मृणालों को तोडा है उन्हे भी अभी छोड दो, फिर पीछे से ले लेना। पहले तुम मेरी प्रियतमा का समाचार बताकर मुझे उबार लो, क्योंकि सज्जनों के लिए अपने स्वार्थ से बढकर अपने प्रेमियों का कार्य होता है॥३१॥

अरे! यह तो ऊपर मुँह किए हुए जो देख रहा है, इससे लगता है कि यह कह रहा है कि मानसरोवर जाने की उत्सुकता में मैंने नहीं देखा है।

अरे हंस! तुम मुझसे छिपा क्या रहे हो? तुम्हारी गति से ही मैं सब समझ गया। बताओ। यह मनोहर गति तुमने किससे सीखी है। तुमने मेरी उस प्रिया को अवश्य ही देखा है, जो अपने भारी नितम्बों के भार से धीमी गति से चलती है॥३२॥

यदि तुमने उस नम्र भौंहोंवाली सुन्दरी को इस सरोवर के तट पर नहीं देखा था तो हे चोर! तुमने उसकी यह मदमानी इठलाती सुन्दर गति कहाँ से प्राप्त की॥३३॥

अतश्च [इति अञ्जलिं बद्ध्वा]

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥३४॥

[विहस्य] एष चोरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः। यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। [परिक्रम्यावलोक्य च] अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः। तावदेनं पृच्छामि।

(नेपथ्ये)

मंमररणिअमणोहरए कुसुमिअतरुवरपल्लवए।
दइआविरहुंमाइअओ काणण भमइ गइंदओ॥३५॥

(मर्मररणितमनोहरे कुसुमिततरुवरपल्लवे।
दयिता विरहोन्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः॥)

गोरोअणा कुंकुमवण्णा चक्का भणइ मइँ।
महुवासर कीलंती धणिआ णा दिट्ठी पइँ॥३६॥

(गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम्।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया॥)

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः॥३७॥

कथं कः क इत्याह माम्। मा तावत्। न खलु विदितोऽहमस्य।

---

इसलिए [हाथ जोड़कर] हे हंस! तुम मेरी उस प्रियतमा को मुझे वापस लौटा दो, जिसकी गति को तुमने चुरा लिया है, क्योंकि यदि चोर के पास चोरी का थोड़ा-सा भी माल मिल जाता है तो उसे पूरा का पूरा माल देना पड़ता है॥३४॥

[हँसकर] अरे यह तो मुझे चोरों को दण्ड देने वाला राजा समझकर डर के मारे उड़कर भाग गया। चलूँ, कहीं अन्य स्थान पर प्रिया को खोजूँ। [घूमकर तथा देखकर] यह चक्रवाक अपनी प्रिया के साथ बैठा हुआ है। चलकर इसी से पूछ लूँ।

[नेपथ्य में] पत्तों की मर्मर ध्वनि से मनोहर, फूले हुए वृक्षों के सुन्दर पत्तों वाले, इस वन में अपनी प्रिया के वियोग से विह्वल गजराज इधर-उधर घूम रहा है॥३५॥

गोरोचन और केसर के रंगवाले हे चक्रवाक! बताओ तुमने इस वसन्त के समय में मेरी खेलती हुई सौभाग्यवती प्रिया को कहीं देखा है॥३६॥

हे चक्रवाक! रथ के चक्र के समान स्थूल नितम्बोंवाली अपनी प्रिया से वियुक्त और चित्त में सैकड़ों मनोरथ लिए हुए मैं महारथी तुमसे यह पूछता हूँ॥३७॥

अरे! मुझसे कौन यह पूछ रहा है कि—"कौन है, कौन है?" बस रहने दो। क्या यह मुझे नहीं जानता है।

सूर्याश्चन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृत. पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः॥३८॥

मथ तूष्णीं स्थित। भवतु। उपालभे तावदेनम्।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहाम्
ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुक.।
इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता
मयि च विधुरे भाव' कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुख'॥३९॥

सर्वथा मदीयाना भागधेयाना विपर्ययेण प्रभावप्रकाश। यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। [पदान्तरे स्थित्वा] भवतु न तावद्गच्छामि। [परिक्रम्यावलोक्य च]

इदं रुणद्धि मा पद्ममन्त.कूजितषट्पदम्।
मया दष्टाधर तस्याः ससीत्कारमिवाननम्॥४०॥

भवतु। इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यस्मिन्नपि कमलसेविनि मधुकरे प्रणयित्व करिष्ये।

(नेपथ्ये)

एक्ककक्कमवड्ढिअगुरुअरपेम्मरसें।
सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसें॥४१॥
(एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसेन।
सरसि हंसयुवा क्रीडति कामरसेन॥)

---

सूर्य और चन्द्रमा जिसके मातामह (नाना) और पितामह (दादा) हैं और जिसे उर्वशी तथा धरती ने अपने आप स्वामी के रूप में स्वीकार किया है वह पुरुरवा मैं हूँ॥३८॥

क्यों चुप बैठा हुआ है यह। अच्छा। इसको उलाहना देता हूँ।

सरोवर में कमलिनी के पत्र की आड़ में भी छिपी हुई अपनी प्रिया को बहुत दूर में स्थित जानकर तुम यहाँ उत्कण्ठा से रुदन करने लगते हो। अपने तो तुम इस प्रकार से अपनी प्रिया के वियोग से डरते हो किन्तु मैं जो अपनी प्रियतमा से वियुक्त हूँ, सो तुम मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो जैसे स्त्री के प्रति तुम्हारा कोई अनुराग ही नहीं है॥३९॥

मेरा भाग्य ही ऐसा खोटा है जो सब कहीं मुझे विपरीत ही फल मिलता है। चलूँ, कहीं अन्यत्र प्रिया का पता लगाऊँ? [कुछ पग चलकर खड़े होकर] अच्छा, अब अन्यत्र नहीं जाऊँगा। [घूमकर और देखकर] यह भ्रमरा की गुंजार से भरा हुआ कमल मुझे बरबस अन्यत्र जाने से रोक रहा है। क्योंकि यह उर्वशी के उस मनोहर मुख के समान दिखाई पड़ रहा है, जो उसके अधरों के मेरे द्वारा काट लेने पर 'सी सी' की आवाज से युक्त होता था॥४०॥

अच्छा! यहाँ से चले जाने पर मुझे पश्चात्ताप न हो, इसलिए कमल पर मँडराने हुए इन भ्रमरों से साथ ही अपनी मित्रता जोड़ूँ।

[नेपथ्य में] सरोवर में एक ऐसा युवा हंस प्रेम रस में लीन होकर खेल रहा है, जिसके मन में प्रेम का भाव अचानक ही बढ़ गया है॥४१॥

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं,
[विभाव्य]
वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे।
यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥४२॥

साधयामस्तावत्। [इति परिक्रम्यावलोक्य च] अये एष नीपस्कन्धनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति। अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये। यावदेनमुपसर्पामि।

(नेपथ्ये)
करिणीविरहसंतावियओ।
काणणे गंधुद्धुअमहुअरु ॥४३॥
(करिणीविरहसंतापितः)
कानने गन्धोद्धतमधुकरः।

[विलोक्य] अथवा न त्वरा कार्या। न तावदयमुपसर्पणकालः।
अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन।
अभिलषतु तावदासवसुरभिरसं सल्लकीभङ्गम् ॥४४॥

[क्षणमात्रं स्थित्वा। अवलोक्य] हन्त कृताह्निकः संवृत्तः। भवतु। समीपमस्य गत्वा पृच्छामि।

हउँ पइँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवर।
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ॥४५॥

---

हे मधुकर! उस मदभरे नैनों वाली मेरी प्रियतमा का कुछ समाचार तो मुझे बताओ, [कुछ क्षण सोचकर] अथवा कौन जाने उस सुन्दर अंगोंवाली को तुमने देखा ही न हो। क्योंकि यदि तुम्हें उसके मुख से निकलने वाली साँसों की सुगन्धि मिल गई होती तो तुम्हारी इस कमल में इतनी प्रीति क्यों होती॥४२॥

अच्छा तो मैं अन्यत्र जाता हूँ। [घूमकर तथा देखकर] अरे! इस कदम्ब की डाल पर अपने सूँड को रखे हुए अपनी प्रिया हथिनी के साथ यह एक बड़ा-सा हाथी खड़ा है। चलूँ, उसी से अपनी प्रिया का समाचार पूछूँ। अब चलता हूँ, उसके समीप।

[नेपथ्य में] अपनी प्रिया हथिनी के वियोग में पीड़ित यह गजराज जंगल में घूम रहा है, जिसके गण्डस्थल पर गन्ध से मतवाले भ्रमर घूम रहे हैं॥४३॥

*[देखकर] अथवा हमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। अभी उसके समीप जाना ठीक न होगा। क्योंकि हथिनी ने अभी अभी अपनी सूँड़ में नूतन पल्लवों वाली और मदिरा के समान गन्ध से भरी जो सल्लकी वृक्ष की शाखा तोड़कर गिराई है, उसका सुन्दर स्वाद यह ले ले तब॥४४॥*

[क्षणभर रुककर तथा देखकर]• अच्छा, अब तो इसने अपना दिन भर का भोजन समाप्त कर लिया। अच्छा तो अब चलकर इसके समीप पूछूँ।

अपने खेलवाड़ खेलवाड़ में ही बड़े बड़े वृक्षों को विनष्ट करने वाले हे गजराज! मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि क्या तुमने मेरी उस प्रियतमा को इधर अपने सामने से जाते हुए देखा है, जिसने अपने शरीर की कान्ति से चन्द्रमा की कान्ति को दूर कर दिया है॥४५॥

(अहं त्वा पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ललितप्रहारेण नाशिततरुवर।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुखं यान्ती॥)

[पदद्वये पुरतः उपसृत्य]

मदकल युवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका॥४६॥

[आकर्ण्य सहर्षम्] अहह अनेन भवतः स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाश्वासितोऽस्मि। साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः।

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथेतवेयं वशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः॥४७॥

सुखमास्तां भवान्। साधयामस्तावत्। [परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्त्वा।] अये। अयमसौ सुरभिकन्दरोनाम विशेषरमणीयः सानुमानालोक्यते। प्रियश्चायमप्सरसाम्। अपि नाम सा सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत। [परिक्रम्यावलोक्य च।] कथमन्धकारः। भवतु विद्युत्प्रकाशेनावलोकयामि। हन्त मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः तथापि शिलोच्चयमेनमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये।

---

[दो पग आगे की ओर चलकर] हे मदोन्मत्त गजराज! क्या तुमने सुदूर तक देखने वाली अपनी आँखों से सदैव युवती रहने वाली मेरी प्रियतमा उस उर्वशी को कहीं देखा है, जो युवती स्त्रियों में चन्द्रमा की नूतन किरणों के समान चमकती है, और जिसके केशपाश में जूही के फूल गूँथे हुए हैं॥४६॥

[सुनकर हर्षपूर्वक] अहा हा, इस तुम्हारे कोमल एवं सुमधुर तथा प्रियतमा का पता बताने वाले गरजन से मेरे मन को बड़ा आश्वासन मिला है। तुम भी मेरे ही समान बलवान हो, इसलिए तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में बड़ा आदर है।

क्योंकि मुझे लोग यदि राजाओं का स्वामी कहते हैं तो तुम्हें भी हाथियों का स्वामी कहते हैं। तुम भी दिन-रात अपना दान अर्थात् मदजल बहाया करते हो और मेरे यहाँ भी दिन रात याचकों का दान देने का काम चलता रहता है। इधर स्त्री रत्नों में सर्वश्रेष्ठ उर्वशी मेरी प्रियतमा है तो यह हथिनी भी तुम्हारी वैसी ही प्रियतमा है। इस प्रकार हम दोनों सभी बातों में एक समान हैं, किन्तु मेरी कामना है कि मेरी तरह तुम कभी अपनी प्रियतमा के वियोग का दुःख न अनुभव करो॥४७॥

आप सुख से रहें। हम जा रहे हैं। [घूम कर बगल की ओर देखते हुए] अरे! यह सुरभिकन्दर नामक अत्यन्त रमणीय शिखर वाला पर्वत दिखाई पड़ रहा है। और अप्सराओं को यह पर्वत अतीव प्रिय भी है। कदाचित् वह सुन्दर अंगोंवाली इस पर्वत की उपत्यका में कहीं मिल जाय? [घूमकर और देखकर] अरे! यहाँ अन्धकार कैसे है? अच्छा, बिजली के प्रकाश से देखता हूँ। हाय! मेरे दुर्भाग्य से बादल भी बिजली से शून्य हो गया है। फिर भी इस पर्वत शिखर से बिना पूछे हुए मैं यहाँ से वापस नहीं लौटूँगा।

परिसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु।
परिसप्पइ पेच्छह लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु॥४८॥

(प्रसृततरखुरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः॥)

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत पर्वसु संनता।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव॥४९॥

कथं तूष्णीमेवास्ते। शङ्के विप्रकर्षान्न शृणोतीति। भवतु। समीपेऽभ्यगत्वा पुनरेनं पृच्छामि।

फलिहसिलाहअणिम्मलणिज्झरु बहुविहकुसुमें विरइअसेहरु।
किणरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु॥५०॥

(स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर।
किंनरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमां महीधर॥)

[इति परिक्रम्य अञ्जलिं बद्ध्वा।]

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया॥५१॥

[नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य सहर्षम्] कथं यथाक्रमं दृष्टा इत्याह। भवानपि अतः प्रियतरं शृणोतु। क्व तर्हि मे प्रियतमा। [पुनरेव सर्वक्षितिभृतां नाथ इति पठति। नेपथ्ये तदेव आकर्ण्य विभाव्य च।] हा धिक्। ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्दः। [इति मूर्च्छति। उत्थाय सविषादम्।] अहह श्रान्तोऽस्मि। अस्यास्तावद्गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातमासेविष्ये। [परिक्रम्यावलोक्य च] इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः। कुतः—

---

अपने बड़े-बड़े और तीक्ष्ण खुरों से पृथ्वी को खोदता हुआ और अपनी आन पर अविचलित यह जंगली सुअर, अपनी धुन में मस्त होकर इस जंगल में घूम रहा है॥४८॥

हे बड़ी बड़ी डालोंवाले पर्वत ! तुमने अपने इस कामदेव के वन में सटे हुए स्तनों वाली, प्रशंसनीय नितम्बों वाली, एवं पोर पोर पर झुकी हुई उस सुन्दरी को कहीं देखा है, जो छिपी हुई है॥४९॥

क्यों तुम चुप्पी मारकर बैठे हो। अथवा मेरे दूरस्थ होने के कारण यह मेरी बात नहीं सुन रहे हो क्या ? अच्छा, तब इसके समीप चलकर पूछता हूँ—

स्फटिक की चट्टानों पर बहते हुए उज्ज्वल निर्झरों वाले ! तुमने रंग-बिरंगे पुष्पों से अपने शिखरों को सजा रखा है। तुम्हारा प्रदेश किन्नरों के जोड़ों के सुमधुर गीतों से अत्यन्त सुहावना लग रहा है। हे महीधर ! तुम मेरी प्रियतमा को मुझे दिखा दो॥५०॥

[घूम कर तथा हाथ जोड़कर] हे सम्पूर्ण पर्वतों के स्वामी ! क्या इस वन्य प्रान्त में तुमने मुझसे वियुक्त उस अनुपम सुन्दरी को कहीं देखा है॥५१॥

[नेपथ्य में अपनी इसी बात को सुनकर सहर्ष] अरे ! यह क्या कह रहा है कि जैसा मैंने कहा है, ठीक वैसा ही इसने देखा भी है। अतः अब इससे अधिक प्रिय बात तुम मुझसे सुनो और बताओ कि वह मेरी प्रियतमा कहाँ है ?

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥५२॥

भवतु। प्रसादयामि तावदेनाम्। [अञ्जलिं बद्ध्वा।]

पसीअ पिअअम सुंदरिए णए खुहिआकरुणविहंगमए णए।
सुरसरितीरसमूसुअए णए अलिउलझंकारिअए णए ॥५३॥

(प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकरुणविहङ्गमे नदि।
सुरसरित्तीरसमुत्सुके नदि अलिकुलझङ्कारिते नदि॥)

(नेपथ्ये)

पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ
मेहअअंगे णच्चइ सललिअं जलणिहिणाहओ।
हंसविहंगमकुंकुमसंखकअभरणु
करिमअराउलकसणकमलकआवरणु ।
वेलासलिलुव्वेल्लिअहत्थदिण्णतालु
ओत्थरइ दस दिस रुंधेविणुणवमेहआलु ॥५४॥

---

[फिर से यही सम्पूर्ण पर्वतों के स्वामी आदि को कहता है। नेपथ्य में फिर वही बात सुनाई पड़ती है। उसे सुनकर तथा विचारकर] हाय धिक्कार है। यह तो मेरा ही शब्द है, जो पर्वत की कन्दराओं में जाकर प्रतिध्वनित हुआ है [मूर्च्छित हो जाता है। फिर उठकर विषाद के साथ] आह। अब तो बहुत थक गया हूँ। इस पर्वतीय नदी के तट पर बैठकर तरंगों से शीतल वायु का सेवन करता हूँ। [घूमकर तथा देखकर] इस नए जल से मटमैली धारावाली नदी को भी देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हो रहा है क्योंकि इसकी लहरें चढ़ी हुई भौंहों के समान है, शब्द करती हुई पक्षियों की पंक्तियाँ इसकी करधनी हैं। इसके फेन क्रोधावेश में चलने के कारण अस्तव्यस्त वस्त्र है, जिन्हें यह घसीटे हुए चली जा रही है। अपनी टेढ़ी-मेढ़ी गति से गिरती-पड़ती यह इस प्रकार से चली जा रही है, जिसमें मुझे मालूम पड़ता है कि मेरी असहनशील प्रियतमा उर्वशी ही मुझसे रूठ कर नदी के रूप में परिणत हो गई है॥५२॥

अच्छा। चलकर इसे मनाकर प्रसन्न करता हूँ। [हाथ जोड़कर]

हे प्रियतमा! उड़ते हुए और करुण स्वर में बोलने वाले पक्षियों से युक्त नदी के रूप में तुम गंगाजी से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक और भ्रमरों की पंक्तियों से गुंजनेवाली हो। हे सुन्दरी! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो॥५३॥

[नेपथ्य में] यह देखो जलनिधिनाथ समुद्र का सुललित नृत्य हो रहा है। पूर्व दिशा से बहनेवाली वायु से उठी लहरें ही मानों नृत्य के लिए उठाई हुई भुजाएँ है, जल में दिखाई पड़नेवाली मेघों की परछाईं अंग हैं, हंस आदि पक्षी, तथा शंख आदि चरण के घुंघुरू आदि आभूषण हैं, जलहस्ती तथा मगरों के समूह एवं नीले कमल का आवरण धारण किए हुए है। तट से टकराती हुई लहरों से मानों वह हाथ से ताल दे रहा है और इसी बीच में नवीन वर्षा के समय ने आकर सभी दिशाओं को ढँक लिया है॥५४॥

नृत्यति सुललितं जलनिधिनाथः।
करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः
दशदिशोरुद्ध्वा नवमेघकालः ॥)

त्वयि निबद्धरतौ प्रियवादिनि प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसि।
कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥५५॥

कथ तूष्णीमेवास्ते [विचिन्त्य] अथवा परमार्थसरिदेवैषा। न खलूर्वशी पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति। भवतु। अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि यावत्तमेव प्रदेश गच्छामि यत्र मे नयनयो सा सुनयना तिरोहिता। [परिक्रम्य विलोक्य च] इम तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये।

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितरवझङ्कारमनोहरे ।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥५६॥

कृष्णसारच्छवियोऽसौ दृश्यते काननश्रिया।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥५७॥

[विलोक्य] कि नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतो मुख संवृत्त। [दृष्ट्वा]

---

हे नदी! तुझमे प्रेम रखनेवाले, प्रियवादी, प्रणयभग से सदैव विमुख चित्त रहने वाले मुझमे तुमने कौन-सा ऐसा छोटा-सा अपराध देख लिया जिसके कारण हे मानिनी! तुमने इस जल को त्याग दिया है ॥५५॥

क्यो चुप है? [सोचकर] अथवा यह सचमुच नदी ही है। क्योंकि उर्वशी कभी भी पुरुरवा को त्यागकर समुद्र के सग अभिसार करने के लिए नही जा सकेगी। अच्छा। बिना दुःख को भोगे हुए कल्याण नही मिलता। अब मैं उसी जगह चलूंगा जहां से वह सुन्दर नेत्रोंवाली मेरी आंखो के सामने से ओझल हो गई थी। [घूमकर और देखकर] चलूं, इस बैठे हुए हरिण से ही अपनी प्रिया का पता पूछूं।

[नेपथ्य मे] नूतन पुष्पों के स्तवको से लदे हुए तथा मदमाती कोयल की मधुर कूक से मन को हरने वाले इस नन्दन वन के इस वृक्ष के समीप यह ऐरावत नामक गजराज, अपनी हथिनी के विरहानल मे दग्ध हुआ-सा विचरण कर रहा है ॥५६॥

इस कृष्णसार मृग के शरीर पर बनी हुई काली काली ये बुंदकियां इस प्रकार शोभित हो रही हैं मानो वनश्री ने इस वन की नूतन हरियाली को देखने के लिए इस पर अपना कटाक्षपात किया है ॥५७॥

[देखकर] अरे! इसने तो मेरी बातो को अनसुनी करके अपना मुख दूसरी ओर फेर लिया।

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति॥५८॥

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुंगघणत्थणी
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगई।
गअणुज्जलकाणणें मिअलोअणि भमंती
दिट्ठी पइं तह विरह समुद्दंतरें उत्तारहि मइँ॥५९॥

(सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम्॥)

[उपसृत्य अञ्जलिं बद्ध्वा] हहो हरिणीपते।

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभग तथैव खलु सापि वीक्षते॥६०॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखः स्थितः? उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः। यावदितोऽहमन्यमवकाशमवगाहिष्ये। [परिक्रम्यावलोक्य च।] हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य।

रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम्।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम्॥६१॥

[परिक्रम्याशोकमवलोक्य च]

---

[देखकर] इसके समीप इसकी प्रिया हरिणी चली आ रही थी जिसे उसके दूध पाने वाले शिशु ने बीच में ही रोक लिया है। यह उसी की ओर टकटकी लगाए हुए देख रहा है॥५८॥

नितम्बों के स्थूल होने के कारण धीरे धीरे चलने वाली एवं उन्नत उरोजोंवाली, सदैव युवती बनी रहने वाली क्षीणकटि, हंसगति एवं मृगनयनी मेरी प्रिया अप्सरा का यदि तुमने इस आकाश के समान नीले वन में घूमती हुई देखा हो तो उसका पता बताकर मुझे इस विरह के समुद्र से उबार लो॥५९॥

[समीप जाकर हाथ जोड़ हुए] हे हरिणी के स्वामी! क्या तुमने इस वन में कहीं मेरी प्रियतमा को देखा है। मैं तुम्हें उसकी हुलिया बता रहा हूँ। सुनो! जैसे बड़ बड़े नेत्रोंवाली तुम्हारी प्रिया हरिणी जिस प्रकार सुन्दर ढंग से देखती है वैसे ही वह भी देखती है॥६०॥

अरे यह क्यों मेरी बातों का अनादर करके अपनी प्रिया की ओर मुँह करके बैठ गया। ठीक ही है जब खोटे दिन आते हैं तो सब जगह अपमान उठाना ही पड़ता है। अब यहाँ से मैं अन्य स्थान को चलूँगा। [चलकर तथा देखकर] आह! मैंने उसके मार्ग का पता लगा लिया। यह वही रक्तकदम्ब का वृक्ष है, जिसमें खिले हुए पुष्प बता रहे थे कि ग्रीष्म ऋतु बीत गई। मेरी प्रिया ने इसी का एक पुष्प तोड़कर अपने केशपाश का शृंगार किया था, जिसमें केसर के न फूटने से कड़ापन था॥६१॥

[घूमकर अशोक के वृक्ष को देखकर]

रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
[पवनघूयमानमूर्धानमवलोक्य सक्रोधम्]
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिनूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः
तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः॥६२॥

भवतु। सुखमास्तां भवान्। [परिक्रम्यावलोक्य च] किं नु खलु एतच्छिलाभेदान्तरगतं नितान्तरक्तमवलोक्यते।

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः
स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत इदम्।
[विभाव्य]
अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः॥६३॥

अहो अयं हरति मे मनः। भवतु। आददे तावदेनम्।

(नेपथ्ये)

पणयिणिवह्वासाइओ बाहाउलणिअणअणओ।
गअवइ गहणे दूहिअओ भमइ क्खामिअवअणओ॥६४॥
(प्रणयिनीवद्धाशाको बाष्पाकुलनिजनयनः।
गजपतिर्गहने दुःखितः भ्रमति क्षामितवदनः॥)

[ग्रहणं नाटयति। गृहीत्वा] अथवा

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः।
सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्त्रोपहतं करोमि॥६५॥

---

हे रक्त अशोक के वृक्ष! वह कृशोदरी सुन्दरी अपने प्रेमीजन को छोड़कर कहाँ चली गई? [अशोक के पवन से काँपते हुए शिखर को देखकर क्रोधपूर्वक] पवन से झूमते हुए अपने सिर को हिलाकर तुम यह क्यों कह रहे हो कि मैंने उसे नहीं देखा है, क्योंकि यदि तुमने उसे न देखा होता तो बताओ मधु के लोभ से एकत्र होनेवाले भ्रमरों से कुतरी जानेवाली पत्तियों वाले तुम्हारे ये पुष्प, उसके चरणों का प्रहार पाए बिना कैसे फूल उठते॥६२॥

अच्छा। आप सुखी रहें। [घूमकर तथा देखकर] अरे! यह पत्थर की शिला की दरार के भीतर बहुत गहरे लाल रंग की क्या वस्तु दिखाई पड़ रही है। चूँकि यह चमक रहा है, इसलिए सिंह के द्वारा मारे गए हाथी के मांस का टुकड़ा तो हो नहीं सकता। यह आग की चिनगारी भी नहीं है क्योंकि अभी अभी घनघोर वृष्टि हो चुकी है। [भली भाँति निरखकर] अरे यह तो रक्त अशोक के पुष्प के समान लाल रंग का मणि है, जिसे उठाने के लिए सूर्यनारायण भी मानो अपने किरणरूपी हाथ वहाँ तक फैलाए हुए हैं॥६३॥

अरे! यह तो मेरे मन को हर ले रहा है। अच्छा! चलूँ इसे ले लूँ।

[नेपथ्य में] अपनी प्रणयिनी को प्राप्त करने की आशा लगाए, आँखों में आँसू भरे यह सूखे मुखवाला हाथी इस जंगल में बड़े दुःख के साथ घूम रहा है॥६४॥

[उसे उठाने का अभिनय करता है। उसे पकड़कर] अथवा! मेरी जिस प्रियतमा के मन्दार के पुष्पों से सुगन्धित केशपाश में इसे बाँधना चाहिए वह प्रियतमा ही जब मुझे नहीं मिल रही है तो मैं इसे लेकर भी, अपने आँसुओं से क्यों मलिन करूँ॥६५॥

[इत्युत्सृजति।]

[नेपथ्ये]

वत्स गृह्यतां गृह्यताम्।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता चरणरागयोनिरयम्।
आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥६६॥

राजा—[कर्णं दत्त्वा] को न खलु मामेवमनुशास्ति। [अवलोक्य] अये अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान्। भगवन् अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद्भवत [मणिमादाय] हंहो सङ्गमनीय।

तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥६७॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अये किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते। अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम्। इयं हि।

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥६८॥

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां परिष्वङ्गप्रणयी भवामि।

---

वहीं छोड़ देता है।

[नेपथ्य में] वत्स! इसे ले लो तुम। ले लो। यह तुम्हें अपनी प्रियतमा से समागम कराने वाली सङ्गमनीय मणि है, जो पार्वती जी के चरण राग से उत्पन्न हुई है। इसे जो धारण करता है, उसकी निश्चयपूर्वक शीघ्र ही अपने प्रियजन से भेंट हो जाती है ॥६६॥

राजा—[कान लगाकर] कौन मुझे इस प्रकार से आज्ञा दे रहा है। [देखकर] अहा कोई मृगवृत्ति धारण करनेवाले मुनि मुझ पर यह अनुकम्पा कर रहे हैं। भगवन्! मैं आपके इस उपदेश से अनुगृहीत हुआ। [मणि को उठाकर] हे सङ्गमनीय मणि! यदि तुम मुझ वियोगी को उस क्षीणकटि वाली सुन्दरी से मिला दोगी तो मैं तुम्हें उसी प्रकार से अपने मुकुट में धारण करूँगा, जैसे शिवजी बालचन्द्रमा को अपने सिर की जटाओं में धारण करते हैं ॥६७॥

[घूमकर तथा देखकर] अरे! क्यों इस पुष्पविहीन लता को भी देखकर मेरा मन रमता है। किन्तु इसे देखकर तो मेरे मन को सुख मिलना उचित ही है। क्योंकि यह मेघ के जल से धुले हुए कोमल पत्तों के कारण उस सुन्दरी के समान दिखाई पड़ रही है, जिसके ओठ आँसुओं से धुल गए हों। फूलने का समय होने पर भी जो यह फूली नहीं है, इससे यह ऐसी मालूम पड़ रही है, मानों अपने आभूषणों को उतारकर रख दिया हो। और इस पर जो भ्रमर भी नहीं गूँज रहे हैं उससे ऐसा मालूम पड़ता है जैसे इसने मौन व्रत धारण किया हो। इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता है मानो क्रोध करने वाली मेरी प्रिया उर्वशी मेरे चरण पतन की उपेक्षा करके इस समय पश्चात्ताप कर रही है ॥६८॥

तो चलूँ अपनी प्रियतमा के समान दिखाई पड़नेवाली इस लता को अपने गले से लगा लूँ।

लए पेक्ख विणु हिअएँ भमामि जइ विहिजोएँ पुणि तँहि पाविमि।
ता रण्णें विणु करमि णिभंतो पुण णइ मेल्लइँ ताह कअन्ती ॥६९॥

(लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्नोमि।
तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रान्ति पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥)

[इति उपसृत्य लतां आलिङ्गति। ततः प्रविशति तत्स्थान एव उर्वशी।]

राजा—[निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा।] अये उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिव निर्वृतं मे शरीरम्। तथापि नास्ति विश्वासः। कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा।
अतो विनिद्रे सहसाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥७०॥

[शनैश्चक्षुष्युन्मील्य] कथं सत्यमेव प्रियतमा। [इति मूर्च्छितः। पतति।]

उर्वशी—[बाष्पं विसृज्य] समस्ससदु समस्ससदु महाराओ। (समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।)

राजा—[संज्ञां लब्ध्वा] प्रिये मम जीवितम्।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥७१॥

उर्वशी—अब्भन्तरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो क्खु महाराओ। (अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराज।)

---

हे लता! देखो मैं इस समय यहाँ बिना हृदय के ही घूम रहा हूँ। यदि सौभाग्यवश उसे प्राप्त कर लूँ तो इस वन से उसे कभी सम्बन्ध नहीं रखने दूँगा और इस वन में कभी आने भी नहीं दूँगा ॥६९॥

[ऐसा कहकर लता को अपने गले से लगाता है। तदनन्तर उसी स्थान से उर्वशी का प्रवेश होता है।]

राजा—[आँखे मूँदकर स्पर्श करते हुए] अरे! यह तो मेरी प्रियतमा उर्वशी के शरीर-स्पर्श की भाँति मेरे शरीर को सुख मिल रहा है। फिर भी मुझे विश्वास नहीं है।-क्योंकि, मैंने *अब तक जिन-जिन वस्तुओं को अपनी प्रियतमा समझ रखा था, वे सभी क्षण भर में* ही बदलती रही हैं। अतः अपनी प्रिया के इस स्पर्श-सुख का अनुभव करते हुए मैं अपनी मुँदी हुई आँखों को खोलूँगा ही नहीं ॥७०॥

[धीरे से आँखें खोलकर] अरे! क्या सचमुच मेरी प्रियतमा उर्वशी है। [मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है।]

उर्वशी—[आँसू गिराती हुई] महाराज! धैर्य धारण करें, धैर्य धारण करें।

राजा—[होश में आकर] अब तो मैं जी गया प्रिये! हे सुन्दरी! तुम्हारे वियोग के अन्धकार में डूबते हुए मैंने सौभाग्यवश तुझे उसी प्रकार प्राप्त कर लिया है जैसे मरे हुए को चेतना मिल जाय ॥७१॥

उर्वशी—महाराज! मैं अपनी भीतरी इन्द्रियों से आपकी सब बातें जान रही थी।

राजा—*अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।*

उर्वशी—कहइस्सं। इद दाव पसीददु महाराओ ज मए कोववस गदाए एदं अवत्थन्तरं पाविदो महाराओ। (कथयिष्यामि। एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो मन्मथा कोपवशं गतया एतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः।)

राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्य। त्वद्दर्शनादेवप्रसन्नबाह्यान्तःकरणो-ऽन्तरात्मा तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

मोरा परहुअ हंस रहंग अलि अग पव्वअ सरिअ कुरंगम।
तुज्झह कारण रण्णभमन्ते को णहु पुच्छिअ मइँ रोअंते॥७२॥

(मयूरः परभृतो हंसो रथाङ्गः अलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गमः।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता॥)

उर्वशी—एव्व अतक्करणपच्चक्खीकिद वुत्तंतो महाराओ। (एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः।)

राजा—प्रिये। अन्तःकरणमिति न खल्ववगच्छामि।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पुरा भअवदा कुमारेण सासदं कुमारव्वदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गंधमादणकच्छो अज्झासिदो। किदो अ एस विही। (शृणोतु महाराजः। पुरा भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वाकलुषो नाम गंधमादनकच्छोऽध्यासितः। कृतश्चैष विधिः।)

राजा—क इव।

---

राजा—यह 'भीतरी इन्द्रिय' से क्या कह रही हो। इसका तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आया।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उसका तात्पर्य। किन्तु आपसे यह प्रार्थना है कि पहले मुझे क्षमा कर दें क्योंकि मैंने ही क्रोध के आवेश में आकर आपको इतना कष्ट पहुँचाया है।

राजा—कल्याणी! तुम्हें मुझसे क्षमा नहीं माँगनी चाहिए। तुम्हारे तो दर्शन मात्र से ही मेरी अन्तरात्मा और बाह्य इन्द्रियाँ सभी सुप्रसन्न हो गई हैं। किन्तु यह तो बताओ कि तुम इतने दिनों तक मेरे बिना किस प्रकार रही हो।

मयूर, कोयल, हंस, चक्रवाक, भ्रमर, हाथी, पर्वत, नदी तथा हिरण—इन सबमें से कौन ऐसा नहीं था, जिससे मैंने रोते हुए तुम्हारा वृत्तान्त न पूछा हो॥७२॥

उर्वशी—महाराज! मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियों से आपके इन सब वृत्तान्तों को प्रत्यक्ष देखा था।

राजा—प्रिये! मैं तुम्हारी भीतरी इन्द्रियों का तात्पर्य कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ।

उर्वशी—महाराज सुनें। प्राचीन काल में भगवान् स्वामिकार्तिकेय ने सर्वदा के लिए कुमार (ब्रह्मचर्य) व्रत को स्वीकार करके इस गन्धमादन पर्वत की अकलुष नामक घाटी पर अपना आवास बनाया था और यह नियम बना लिया था कि।

राजा—कौन-सा नियम?

उर्वशी—जा किल इत्थिआ इमं पदेसं पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि त्ति। सिदो अ अअं सावन्तो गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा तदो ण मुच्चिस्सदि त्ति। तदो अहं गुरुसावसमूढहिअआ देवदासमअं विसुमरिअ अगहिदाणुणआ इत्थिआजणपरिहरणीअं कुमारवणं पविट्ठा। पवेसानन्तरं एव्व अकाणणोवतवत्तिवासन्तीलदाभाएण परिणदं मे रूवम्। (या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणंस्यतीति। कृतश्चायं शापान्तः गौरीचरणरागसम्भवं मणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति। ततोऽहं गुरुशापसमूढहृदया देवतासमयं विस्मृत्यागृहीतानुनया स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरमेव च काननोपान्तवर्तिवासन्तीलताभावेन परिणतं मे रूपम्।)

राजा—प्रिये सर्वमुपपन्नम्।

यनःखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम्।
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम्॥७३॥

इदं तदुपाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलब्धं मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभिः। [इति मणिं दर्शयति।]

उर्वशी—अम्मो सगमणीओ अअं मणी। अदो क्खु महाराएण आलिंगिदमेत्त ज्जेव्व पकिदित्थ म्हि संवुत्ता। (अहो सङ्गमनीयोऽयं मणिः। अतः खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थास्मि संवृत्ता।) [मणिमादाय मूर्धनि वहति।]

राजा—एवमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्थीयताम्।

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य॥७४॥

---

उर्वशी—जो कोई स्त्री इस प्रदेश में प्रविष्ट होगी वह लता के रूप में बदल जायगी। किन्तु अपने इस शाप को दूर करने का उन्होंने यह उपाय बताया था कि पार्वती के चरण-राग से उत्पन्न होने वाली मणि को प्राप्त किये बिना इस शाप से मुक्ति नहीं मिलेगी। सो मैं गुरु जी के शाप के कारण ऐसी बुद्धिहीन बन गई थी कि मैं स्वामिकार्तिकेय के इस नियम को भूल गई और आपके अनुनय विनय को ठुकरा कर कार्तिकेय के उसी वन में प्रविष्ट हो गई, जहां हम स्त्रियों को नहीं जाना चाहिए था। और प्रवेश करते ही उसकी सीमा के समीप ही वासन्ती लता के रूप में बदल गई।

राजा—प्रिये! अब यह बात मेरी समझ में आई। अन्यथा जब तुम शैय्या पर थकी-हारी मेरे थककर सो जाने पर भी मुझे दूर गया हुआ समझने लगती थीं तब भला यह किस प्रकार सम्भव था कि मुझसे इतने लंबे दिनों तक अलग रह सकती थीं॥७३॥ और जो तुमने उस मणि की चर्चा की थी, सो तुमसे मिलाने वाली उस मणि को एक मुनि के कहने से मैंने प्राप्त किया और उस मणि के प्रभाव से तुम्हें प्राप्त किया। [मणि को दिखलाता है।]

उर्वशी—अहा, यही वह सङ्गमनीय मणि है। इसी से महाराज का आलिङ्गन करते ही मैं जैसी की तैसी बन गई। [मणि को लेकर अपने मस्तक पर चढ़ाती है।]

राजा—हे सुन्दरी! तुम इसी प्रकार क्षण भर के लिए खड़ी रहो। क्योंकि मस्तक पर लगी हुई इस मणि के कारण चमकता हुआ तुम्हारा मुख प्रातःकाल के सूर्य की किरणों से चमकते हुए लाल कमल के समान मनोहर लग रहा है॥७४॥

[illegible] णिग्गदस्स। कदाइ असूइस्सति मं पकिदं [illegible] कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य। कदा [illegible]

राजा—यदाह भवती।

[इति उत्तिष्ठतः।]

उर्वशी—अध कध महाराओ गन्तु इच्छदि। (अथ कथ महाराजो गन्तुमिच्छति।)

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना।
गमितेन खेलगमने विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥७५॥

(नेपथ्ये)

पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअअंगओ।
सेच्छापत्तविमाणओ विहरइ हंसयुवाणओ ॥७६॥

(प्राप्तसहचरीसङ्गमः पुलकप्रसाधिताङ्गः।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा॥)

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

---

उर्वशी—हे प्रियवादी महाराज! आपको राजधानी प्रतिष्ठानपुर से निकले हुए बहुत दिन बीत गए हैं। क्या जाने इस कारण से आपके मन्त्रीगण तथा प्रजावर्ग के लोग मेरी निन्दा कर रहे होंगे। इसलिए चलिए वापस चलें।

राजा—जैसी देवी की इच्छा। [दोनों उठते हैं।]

उर्वशी—तो महाराज किस प्रकार जाना चाहते हैं।

राजा—मेरी इच्छा है कि नूतन मेघ ही मेरे रथ बनें, बिजली की कान्ति उनकी पताका बने। इन्द्रधनुष के नूतन चित्र उस रथ को सुसज्जित करें और उस रथ पर चढ़कर जिस प्रकार खेलने के लिए लोग जाते हैं, उसी प्रकार मैं अपनी राजधानी को पहुँचना चाहता हूँ ॥७५॥

[नेपथ्य में] अपनी प्रियतमा का समागम प्राप्त कर, रोमाञ्च से शरीर को अलङ्कृत कर अपने मनचाहे विमान पर आरूढ़ होकर युवा हंस क्रीडा विहार कर रहा है ॥७६॥

दोनों चले जाते हैं।

चौथा अंक समाप्त॥

# पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः।]

**विदूषकः**—ही ही भो दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णन्दणवणप्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो। पविसिअ णअरं दाणिं सक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जन्तो रज्जं करेदि। सन्ताणत्तणं वज्जिअ ण किं वि से हीणं। अज्ज तिहिविसेसो त्ति भअवदीए गङ्गाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो। ता जाव तत्तभवदो अलङ्करीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि। (ही ही भोः दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः। प्रविश्य नगरमिदानीं सत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति। सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्टः। तद्यावत्तत्रभवतोऽलङ्क्रियमाणस्यानुलेपमाल्येऽग्रभागी भवामि।) [इति परिक्रामति]

[नेपथ्ये]

हद्धी हद्धी। दुऊलुत्तरच्छदे तालवेंटाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भट्टिणो अब्भन्तर-विलासिणीमोलिरअणजोग्गो मणी आमिसतक्किणा गिद्धेण अक्खित्तो। (हा धिक् हा धिक् दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्न-योग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः।)

---

# पाँचवाँ अंक

[तदनन्तर प्रसन्न मुद्रा में विदूषक का प्रवेश होता है।]

**विदूषक**—हा, हा, हा, सौभाग्य से उर्वशी के साथ चिरकाल तक नन्दनकानन प्रभृति देवताओं के उपवनों में क्रीडा विहार करके हमारे प्रिय मित्र राजधानी को वापस लौट आए हैं। अब वे अपने नगर में अपने मन्त्रिमण्डल तथा प्रजावर्ग से स्वागत सत्कार एवं उपहार प्राप्त कर प्रसन्न होकर अपने राजकाज में लग गए हैं। अब केवल सन्तान को छोड़कर उन्हें किसी बात की कमी नहीं रह गई है। आज पर्व का दिन है इसलिए अपनी पत्नियों के साथ गंगा एवं यमुना जी के पवित्र संगमस्थल पर स्नान करके वे अभी अभी अपने शिविर में प्रविष्ट हुए हैं। इसलिए जब तक महाराज अपना राज-शृंगार पूरा करते हैं तब तक मैं भी चलकर चन्दन एवं माला आदि से अपना हिस्सा पहले ही से निकाल लूं। [घूमता है।]

[नेपथ्य में] हाय हाय। ताड़ की टोकरी पर रेशम का टुकड़ा बिछाकर, उसके ऊपर महाराज की हृदयेश्वरी उर्वशी के मस्तक पर धारण करनेवाली मणि को रखकर मैं लिए जा रहा था कि उसे मांस का टुकड़ा समझकर एक गिद्ध ने झपट लिया।

**विदूषकः**—[कर्णं दत्त्वा] अच्चाहिद अच्चाहिद। परमबहुमदो क्खु सो वअस्सस्स सगमणीओ णाम चूणामणि। अदो क्खु असमत्तणेवच्छो एव्व तत्तभव आसणादो उट्ठिअ इदो आअच्छदि। जाव ण उवसप्पामि। (अत्याहितमत्याहितम्। परमबहुमत. खलु स वयस्यस्य सङ्गमनीयो नाम चूडामणिः। अतः खल्वसमाप्त नेपथ्य एव तत्र भवानासनादुत्थायेत आगच्छति। यावदेनमुपसर्पामि।) [इति निष्क्रान्त.।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राजा।]

**राजा**—वेधक वेधक

आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः।
येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥१॥

**किरातः**—एसो एसो क्खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहन्तो विअ आआस परिब्भमदि। (*एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनालिखन्निवाकाश परिभ्रमति।*)

**राजा**—पश्याम्येनम्।

असौ मुखालंबितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मंडलचारशीघ्रः।
अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥२॥

किं नु खल्वत्र कर्तव्यम्।

---

**विदूषक**—[कान लगाकर] यह तो अत्यन्त अनर्थ हो गया। वह सगमनीय नामक चूडामणि हमारे मित्र को बहुत ही प्रिय थी। इसीलिए महाराज अपना साज शृंगार समाप्त किए बिना ही अपने आसन से उठकर इधर चले आ रहे हैं। तो चलूं मैं भी इनके समीप चलूं।

[बाहर जाता है।]

प्रवेशक समाप्त।

[तदनन्तर अपने घबराए हुए अनुचरों के साथ राजा का प्रवेश।]

**राजा**—बहेलिए, बहेलिए। अपनी मृत्यु को अपने आप बुलाने वाला वह चोट्टा पक्षी कहाँ चला गया, जिसने यह पहली चोरी स्वयं रक्षक के घर में की है ॥१॥

**किरात**—यह देखिए, यह देखिए अपनी चोंच में सुवर्ण का तन्तु पकडे हुए यह पक्षी आकाश में इस प्रकार से चारों ओर चक्कर लगा रहा है मानो वह उसे चित्रित कर रहा हो।

**राजा**—मैं उसे देख रहा हूँ। मणि में लगे हुए सुवर्ण के तन्तु को अपने मुख में पकडे हुए, बडे वेग के साथ आकाश में यह इस प्रकार से मण्डलाकार भ्रमण कर रहा है कि उसके भ्रमण की शीघ्रता से पैदा होनेवाली मणि की लाल रेखा आकाश में ऐसी दिखाई पडती है जैसे कोई आग लगाकर बनेठी घुमा रहा हो ॥२॥

अब क्या करना चाहिए।

विदूषक—[उपेत्य] भो अलं एत्थ घिणाए। अवराही सासणीओ। (भोः। अलमत्र घृणया। अपराधो शासनीयः।)

राजा—सम्यगाह भवान्। धनुर्धनुस्तावत्।

यवनी—एसा आणीअररा। (एषाऽऽनेष्यामि।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—वयस्य न दृश्यते स विहगाधम। क्व नु खलु गतः।

विदूषक—भो। इदो दक्खिणन्तेण अवगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो। (भोः। इतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीयः कुणपभोजनः।)

राजा—[परिवृत्यावलोक्य च।] दृष्ट इदानीम्।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः।
अशोकस्तबकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम्॥३॥

यवनी—[चापहस्ता प्रविश्य।] भट्टा एद हत्थावावसहिद सरासणं। (भर्तः। एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्।)

राजा—किमिदानीं शरासनेन। बाणपथमतीतः स क्रव्यभोजनः। तथा हि।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः॥४॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य।) आर्य लातव्य।

---

विदूषक—[समीप आकर] अब इस पर दया करना व्यर्थ है। अपराधी को दण्डित करना चाहिए।

राजा—आपने ठीक कहा। हाँ, धनुष। धनुष तो दो।

यवनी—यह लाई महाराज! [जाती है।]

राजा—मित्र! वह दुष्ट पक्षी तो अब नहीं दिखाई पड रहा है। कहाँ चला गया वह।

विदूषक—वह इधर दक्षिण दिशा में आ गया है। इस मांसभक्षी को अब मार डालना चाहिए।

राजा—[घूमकर तथा देखकर] अब देख गया। चमकती हुई मणि को चोंच में लेकर इधर उधर उडते हुए यह पक्षी इस प्रकार दिखाई पड रहा है मानो उस दिशा के मस्तक पर अशोक के पुष्पों का गुच्छा बाँध रहा हो॥३॥

यवनी—[धनुष लेकर प्रवेश करती हुई] स्वामी! यह रहा बाणों समेत आप का धनुष।

राजा—अब धनुष से क्या होगा। वह मांसभक्षी तो अब बाण की पहुँच से बाहर चला गया। क्योंकि, वह उस मणि को लेकर इतनी दूरी पर चला गया है कि वहाँ से ऐसा मालूम पडता है मानो घने बादल की टुकडी के साथ रात्रि के समय मंगल ग्रह चमक रहा हो॥४॥

[कञ्चुकी की ओर देखकर] आर्य लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देव ।

राजा—मद्वचनादुच्यतां नागरिकः । सायं निवासवृक्षाश्रयी विचीयतां स विहगदस्युरिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रान्तः]

विदूषकः—भो । उवविसदु भवं सम्पदं । कहिंगदो सो रअणकुम्भरीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि । (भो । उपविशतु भवान् साम्प्रतम् । क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते ।)

राजा—[विदूषकेण सहोपविश्य] वयस्य ।

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्ते ।
प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥ ५ ॥

विदूषकः—ण परिगदत्थो म्हि किदो भवदा । (ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता ।)
[ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—जयतु जयतु देव ।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोषेण ते मार्गणतां गतेन ।
प्राप्तापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री ॥ ६ ॥

[सर्वे विस्मयं रूपयन्ति ।]

कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम् ।

---

कंचुकी—महाराज की क्या आज्ञा है ?

राजा—मेरी ओर से नागरिकों को सूचित कर दिया जाय कि सायंकाल जब यह अपने निवास पर आश्रय ले तब इस चोट्टे पक्षी को खोजा जाय ।

कंचुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । [बाहर जाता है ।]

विदूषक—आप अब बैठ जायें । वह रत्न चुरानेवाला आपके दण्ड से बचकर जायगा कहाँ ?

राजा—[विदूषक के साथ बैठते हुए] मित्र ! उस पक्षी ने यह जो मणि चुराया है, उसे एक रत्न समझकर नहीं प्रत्युत इसलिए इतना आदर करता हूँ कि उसी सगमनीय मणि ने मुझे अपनी प्रियतमा से भेंट कराया था ॥५॥

विदूषक—आपने तो यह सारी बात मुझे बताई थी ।

[तदनन्तर कंचुकी आदरपूर्वक मणि लेकर आता है ।]

कंचुकी—महाराज की जय हो, जय हो । महाराज ! इस मारने योग्य दुष्ट पक्षी को आपके क्रोध ने बाण बनकर मार डाला । उसे अपने अपराध के योग्य दण्ड मिल गया । और वह आकाश से इस रत्न के साथ नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ा । [सभी लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं ।]

कंचुकी—महाराज ! मैंने इस मणि को जल से धो डाला है । इसे किसको दे दूँ ।

राजा—नैषधक गच्छ। अग्निशुद्धेन कृत्वा पेटकं प्रवेशय।

किरातः—जं भट्टा आणवेदि। (यद्भर्ताज्ञापयति।) [इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्तः।]

राजा—आर्य लातव्य। जानीते भवान् कस्यायं बाण इति।

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽत्र दृश्यते। न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि। [कञ्चुकी तथा करोति। राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति।]

कञ्चुकी—यावदहं नियोगमनुष्ठितं करोमि। [इति निष्क्रान्तः।]

विदूषकः—किं भवं विआरेदि। (किं भवान्विचारयति।)

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि।

विदूषकः—अवहिदो म्हि। (अवहितोऽस्मि।)

राजा—श्रूयताम्। [इति वाचयति।]—

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम्॥७॥

विदूषकः—[सपरितोषम्।] दिट्ठिआ सन्ताणेण वड्ढदि भवं। (दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवान्।)

---

राजा—बहेलिया! जाओ, इसे अग्नि में शुद्ध करके पेटी में रख दो।

किरात—जैसी स्वामी की आज्ञा। [मणि लेकर बाहर जाता है।]

राजा—आर्य लातव्य! आप जानते हैं कि यह बाण किसका है?

कंचुकी—इस पर तो नाम लिखा हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु मेरी दृष्टि कमजोर है, इन अक्षरों को मैं पढ़ नहीं पा रहा हूँ।

राजा—तो बाण मेरे पास लाओ, मैं ही उसे पढ़ता हूँ। [कंचुकी बाण देता है, राजा नाम के अक्षरों को पढ़कर विचारमग्न होते हैं।]

कंचुकी—तब मैं अपना कार्य सम्पन्न करूँ [बाहर जाता है।]

विदूषक—आप क्यों विचार मग्न हैं?

राजा—अरे! उस पक्षी को मारनेवाले का नाम सुनो।

विदूषक—सावधान हूँ।

राजा—सुनो। [पढ़ता है।] उर्वशी और इला के पुत्र पुरूरवा के धनुर्धारी पुत्र आयु नामक उस राजकुमार का यह बाण है, जो अपने शत्रुओं की आयु को नष्ट कर देता है॥७॥

विदूषक—[सन्तोष प्रकट करते हुए] आपको ऐसा वीर पुत्र पाने की बधाई है।

**राजा**—सखे कथमेतत्। अयत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। न च मया कदाचिदपि गर्भव्यक्तिरालक्षिता कुत एव प्रसूति। किंतु—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।
कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्या.॥८॥

**विदूषक**—मा भव सव्व माणुसीधम्मं दिव्वासु समावेदु। पहावणिगूढाइं ताण चरिदाइं। (मा भवान् सर्वं मानुषीधर्मं दिव्यासु सभावयतु। प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि।)

**राजा**—अस्तु तावदेव यथा भवानाह। पुत्रसवरणे तु किमिव कारणं तत्र भवत्या।

**विदूषक**—मा वुड्ढि म राआ परिहरिस्सदित्ति। (मा वृद्धा मा राजा परिहरिष्यतीति।)

**राजा**—कृत परिहासेन। चिन्त्यताम्।

**विदूषक**—को देवदारहस्साइं तक्कइस्सदि। (को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति।)

[प्रविश्य कञ्चुकी]

**कञ्चुकी**—जयतु जयतु देव। देव च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापसी देवं द्रष्टुमिच्छति।

**राजा**—उभयमप्यविलम्बितं प्रवेशय।

**कञ्चुकी**—यदाज्ञापयति देव। [इति निर्गम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्ट।]

---

**राजा**—मित्र! यह कैसे सभव है। नैमिषेय यज्ञ को छोडकर मैं कभी उर्वशी से अलग नही रहा और इस अवधि म मैंने कभी उनमे गर्भवती के लक्षण भी नही देखे, तब यह सन्तान कैसे पैदा हो गई। किन्तु, एक बात है कि अभी कुछ ही दिन हुए जब मैंने उनके शरीर को देखा था तो उनकी आँखे आलस्य से भरी हुई थी, उनका मुख लवली के पत्तो के समान पीले रग का तथा उनके स्तनों का अग्रभाग साँवले रग का हो गया था॥८॥

**विदूषक**—आप मनुष्य की स्त्रियोवाली सारी बातें देवयोनि से सम्बन्धित अप्सराओं के सम्बन्ध मे लागू न समझिए। वे तो जो कुछ चाहे अपनी दैवी शक्ति से छिपाए रख सकती हैं।

**राजा**—अच्छा तो जो कुछ तुम कह रहे हो वही बात हो सकती है। किन्तु अपने पुत्र को छिपाये रखने का कारण उनके सामने क्या था।

**विदूषक**—यही कि मुझ वृद्धा समझकर कही राजा छोड न दें।

**राजा**—अच्छा परिहास मत करो। सोचो क्या बात है?

*विदूषक—भला देवताओ की बातों का भेद कोई अनुमान से लगा सकता है।*

[प्रवेश करके] **कंचुकी**—महाराज! आपकी जय हो जय हो। महाराज! महर्षि च्यवन के आश्रम स एक कुमार को लिए हुए कोई तपस्विनी आई हुई है, जो आपका दर्शन करना चाहती हैं।

**राजा**—दोनो को ही शीघ्र ले आओ।

**कंचुकी**—महाराज की जैसी आज्ञा। [बाहर जाकर धनुषबाणधारी कुमार तथा तपस्विनी के साथ आता है।]

कञ्चुकी—इत इतो भगवती। [सर्वे परिक्रामन्ति।]

विदूषकः—[विलोक्य] किं णु क्खु सो एसो तत्तभव खत्तिअकुमारओ जस्स णामे किदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ। तह हि बहुअर भवदो अणुकरेदि। (किं नु खलु एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्रलक्ष्यवेध्यर्धनाराच। तथा हि बहुतर भवतोऽनुकरोति।)

राजा—स्यादेवम्। अत खलु।

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झित धैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः॥९॥

कञ्चुकी—भगवति। एव स्थीयताम्।

[तापसीकुमारौ स्थितौ।]

राजा—अम्ब। अभिवादये।

तापसी—महाभाग। सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि। [आत्मगतम्] अम्हो अणाचक्खिदोवि विण्णादो एव्व इमस्स राएसिणो आउसो अओरसो संबधो। [प्रकाशम्] जाद पणम दे गुरु। (महाभाग। सोमवंशविस्तारयिता भव। अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्षेरायुषश्च औरसः सम्बन्धः। जात! प्रणम ते गुरुम्।)

[कुमारश्चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति।]

राजा—वत्स। आयुष्मान् भव।

कुमारः—[स्वगतम्]

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः॥१०॥

---

कंचुकी—देवी, इधर आ जायें, इधर। [सब लोग घूमते हैं।]

विदूषक—[देखकर] क्या यह वही क्षत्रिय कुमार है, जिसने अपने नाम से अंकित अर्धचन्द्र बाण को उस गिद्ध को लक्ष्य करके चलाया था। यह तो आपकी आकृति से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

राजा—हो सकता है। इसीलिए तो इसको देखते ही मेरी आँखों में आँसू भर आए हैं। हृदय में वात्सल्य प्रेम उमड आया है, चित्त प्रसन्न हो गया है, और मेरा शरीर अपना सहज धैर्य छोड़कर काँपने लगा है और इसे उठाकर मैं अपने अंगों से चिपका लेने के लिए लालायित हो उठा हूँ॥९॥

कंचुकी—देवी! बस यही आप खड़ी रहें। [तपस्विनी और कुमार खड़े होते हैं।]

राजा—माता मैं प्रणाम करता हूँ।

तपस्विनी—महान भाग्यशाली! आप चन्द्रवंश के बढ़ानेवाले हों। [मन ही मन] अरे! यह तो बिना बताए ही पता लग जाता है कि इस राजा का कुमार आयुस् से औरस सम्बन्ध है। [प्रकट रूप में] बेटा! अपने पिताजी से प्रणाम करो।

[कुमार धनुष को हाथ में लिए हुए ही करबद्ध प्रणाम करता है।]

राजा—बेटा! आयुष्मान् हो।

कुमार—[मन ही मन] यदि यह सुनकर ही कि यह मेरे पिता हैं, मुझे इतनी हार्दिक प्रसन्नता हो रही है तो गोद में खिलाए गए बच्चों के हृदय में अपने पिता-माता के प्रति कितना गहरा प्रेम होता होगा॥१०॥

राजा—भगवति। किमागमनप्रयोजनम्।

तापसी—सुणादु महाराओ। एसो दोहाऊ आउजादमेत्तो एव्व उव्वसीए। किंवि णिमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। जं खत्तिअकुमारअस्स आदकम्मादि विहाणं तं से भअवदा चवणेण असेसं अणुचिट्ठिदं। गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो। (शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।)

राजा—सनाथः खलु संवृत्तः।

तापसी—अज्ज पुप्फसमिधकुसणिमित्तं इसिकुमारएहिं सहगदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं। (अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारकैः सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्।)

विदूषक—[सावेगम्] किं विअ। (किमिव)

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो बाणस्स। (गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य।)

[विदूषको राजानमवलोकयति।]

राजा—ततस्ततः।

तापसी—तदो उवलद्धउत्तन्तेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा—णिज्जादेहि एदं उव्वसीहत्थे णासं त्ति। ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदुं। (तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टा—निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति। तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम्।)

---

राजा—देवी! आपके आगमन का प्रयोजन क्या है?

तपस्विनी—महाराज! सुनें। इस चिरजीवी आयुकुमार को उर्वशी ने पैदा होते ही किसी विशेष कारण से मेरे हाथों में सौंप दिया था। क्षत्रिय कुमार के लिए जितने भी जातकर्म आदि संस्कार उचित होते हैं, उन सब संस्कारों को महर्षि च्यवन ने सम्पन्न किया है। और विद्याध्ययन के अनन्तर इसे धनुर्विद्या की भी उचित शिक्षा दी जा चुकी है।

राजा—इससे तो मैं आभारी हुआ?

तपस्विनी—आज यह ऋषि कुमारों के साथ समिधा, कुश और पुष्प लेने के लिए गया था तो वहाँ आश्रम धर्म के विरुद्ध आचरण किया।

विदूषक—[घबराहट के साथ] क्या विरुद्ध आचरण किया।

तपस्विनी—*एक गिद्ध मांस का टुकड़ा लेकर वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ था, जिसे इसने अपने बाण का निशाना बना दिया।*

[विदूषक राजा की ओर देखता है।]

राजा—तब क्या हुआ?

तपस्विनी—उस वृत्तान्त को सुनकर भगवान् च्यवन ने मुझे आज्ञा दी कि उर्वशी की इस धरोहर को अब तुम जाकर उसके हाथ में वापस कर आओ। सो मैं देवी उर्वशी से भेंट करना चाहती हूँ।

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती।

[तापसी उपनीत आसन उपविशति।]

राजा—आर्य लातव्य। आहूयतामुर्वशी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[कुमारमवलोक्य।] एहि एहि वत्स।

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेनमामुपगतेन।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥११॥

तापसी—जाद णंदेहि पिदरम्। (जात नन्दय पितरम्।)

[कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहणं करोति]

राजा—[कुमारमालिङ्ग्य पादपीठे चोपवेश्य।] वत्स इतस्तव पितुः प्रियसख ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व।

विदूषकः—किंति सङ्किस्सदि। ण अस्समवासपरिचिदो एव्व सहामिओ। (किमिति शङ्क्यते। नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः।)

कुमारः—[सस्मितम्] तात वदे।

विदूषकः—सत्थि भवदो। वड्ढदु भव। (स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।)

[ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च।]

कञ्चुकी—इत इतो देवी।

---

राजा—तब तक भगवती इस आसन पर विराजें।

[तपस्विनी लाए गए आसन पर बैठती है।]

राजा—आर्य लातव्य। उर्वशी को बुलाओ।

कंचुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है।]

राजा—[कुमार को देखकर] बेटा! यहाँ आओ मेरे पास। पुत्र का स्पर्श सम्पूर्ण अंगों को गुदगुद शीतल कर देता है। इसलिए तुम भी मेरे पास आकर मुझे उसी प्रकार आनन्दित करो, जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणि को आनन्दित करती हैं ॥११॥

तपस्विनी—बेटा! अपने पिता को आनंदित करो। [कुमार राजा के समीप जाकर उनके चरणों पर गिरता है।]

राजा—[कुमार का आलिंगन कर तथा उसे चरण-पीठ पर बैठाकर] बेटा! इधर तुम्हारे पिता के मित्र यह ब्राह्मण हैं। इन्हें भी निर्भय होकर प्रणाम करो।

विदूषक—क्या यह डरेगा। ऋषियों के आश्रम में निवास करने के कारण वानरों से तो परिचित होगा ही।

कुमार—[मुस्कराकर] तात! प्रणाम करता हूँ।

विदूषक—आपका कल्याण हो, आप बड़े हो जायँ।

[तदनन्तर उर्वशी तथा कंचुकी का प्रवेश होता है।]

कंचुकी—इधर आएँ देवी! इधर।

राजा—भगवति। किमागमनप्रयोजनम्।

तापसी—सुणादु महाराओ। एसो दीहाऊ आउआदमेत्तो एव्व उव्वसीए। किंवि णिमित्त अवेक्खिअ मम हत्ते णासीकिदो। जं खत्तिअकुमारअस्स जादकम्मादि विहाण त से भअवदा चवणेण असेस अणुचिट्ठिदं। गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो। (शृणोतु महाराज। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृत। यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधान तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीत।)

राजा—सनाथ खलु सवृत्त।

तापसी—अज्जपुप्फसमिधकुसणिमित्त इसिकुमारएहिं सहगदेण इमिणा अस्समविरुद्ध आअरिद। (अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्त ऋषिकुमारकै सहगतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम्।)

विदूषक—[सावेगम्] कि विअ। (किमिव)

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो बाणस्स। (गृहीतामिष किल गृध्र पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य।)

[विदूषको राजानमवलोकयति।]

राजा—ततस्तत।

तापसी—तदो उवलद्धउत्तन्तेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा—णिज्जादेहि एद उव्वसीहत्थे णास त्ति। ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदु। (तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाह समादिष्टा—निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति। तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम्।)

---

राजा—देवी! आपके आगमन का प्रयोजन क्या है?

तपस्विनी—महाराज! सुनें। इस चिरजीवी आयुकुमार को उवशी ने पैदा होते ही किसी विशेष कारण से मेरे हाथों में सौंप दिया था। क्षत्रिय कुमार के लिए जितने भी जातकर्म आदि सस्कार उचित होते हैं उन सब सस्कारों को महर्षि च्यवन ने सम्पन्न किया है। और विद्याध्ययन के अनन्तर इसे धनुर्विद्या की भी उचित शिक्षा दी जा चुकी है।

राजा—इससे तो मैं आभारी हुआ?

तपस्विनी—आज यह ऋषि कुमारों के साथ समिधा, कुश और पुष्प लेने के लिए गया था तो वहाँ आश्रम धर्म के विरुद्ध आचरण किया।

विदूषक—[घबराहट के साथ] क्या विरुद्ध आचरण किया।

तपस्विनी—एक गिद्ध मास का टुकड़ा लेकर वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ था जिसे इसने अपने बाण का निशाना बना दिया।

[विदूषक राजा की ओर देखता है।]

राजा—तब क्या हुआ?

तपस्विनी—उस वृत्तान्त को सुनकर भगवान च्यवन ने मुझे आज्ञा दी कि उवशी की इस धरोहर को अब तुम जाकर उसके हाथ में वापस कर आओ। सो मैं देवी उवशी से भेंट करना चाहती हूँ।

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती।

[तापसी उपनीत आसन उपविशति।]

राजा—आर्य लातव्य। आहूयतामुर्वशी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्तः।]

राजा—[कुमारमवलोक्य।] एहि एहि वत्स।

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेनमामुपगतेन।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥११॥

तापसी—जाद णंदेहि पिदरम्। (जात नन्दय पितरम्।)

[कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहण करोति]

राजा—[कुमारमालिङ्ग्य पादपीठे चोपवेश्य।] वत्स इतस्तव पितु प्रियसख ब्राह्मणमसङ्कितो वन्दस्व।

विदूषक—किंति सङ्किस्सदि। ण अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ। (किमिति शङ्किष्यते। नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृग।)

कुमारः—[सस्मितम्] तात वदे।

विदूषकः—सत्थि भवदो। वड्ढदु भव। (स्वस्ति भवते। वर्धता भवान्।)

[तत प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च।]

कञ्चुकी—इत इतो देवी।

---

राजा—तब तक भगवती इस आसन पर विराजें।

[तपस्विनी लाए गए आसन पर बैठती है।]

राजा—आर्य लातव्य। उर्वशी को बुलाओ।

कचुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है।]

राजा—[कुमार को देखकर] बेटा! यहाँ आओ मेरे पास। पुत्र का स्पर्श सम्पूर्ण अंगों को सुप्रसन्न-शीतल कर देता है। इसलिए तुम भी मेरे पास आकर मुझे उसी प्रकार आनन्दित करो, जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणि को आनन्दित करती हैं ॥११॥

तपस्विनी—बेटा! अपने पिता को आनंदित करो। [कुमार राजा के समीप जाकर उनके चरणों पर गिरता है।]

राजा—[कुमार का आलिंगन कर तथा उसे चरण-पीठ पर बैठाकर] बेटा! इधर तुम्हारे पिता के मित्र यह ब्राह्मण हैं। इन्हें भी निर्भय होकर प्रणाम करो।

विदूषक—क्यों मुझसे डरेगा। ऋषियों के आश्रम में निवास करने के कारण वानरों से तो परिचित होगा ही।

कुमार—[मुस्कराकर] तात! प्रणाम करता हूँ।

विदूषक—आपका कल्याण हो, आप बड़े हो जायें।

[तदनन्तर उर्वशी तथा कचुकी का प्रवेश होता है।]

कंचुकी—इधर आएँ देवी! इधर।

उर्वशी—[कुमारमवलोक्य] को णु क्खु एसो सबाणासणो पादपीठे सअं महाराएण सञमीअमाससिहण्डओ चिट्ठदि। [तापसीं दृष्ट्वा।] अम्मो सच्चवही सूइदो अअं मे पुत्तओ आऊ। महन्तो क्खु संवुत्तो। (को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति। अहो सत्यवतीसूचितोऽयं मे पुत्रक आयुः। महान् खलु संवृत्तः।)

[इति सहर्षं परिक्रामति।]

राजा—[उर्वशीं दृष्ट्वा।] वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥१२॥

तापसी—जाद एहि। पच्चुग्गच्छ मादरं। (जात एहि। प्रत्युद्गच्छ मातरम्।) [इति कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति।]

उर्वशी—अज्ज पादवंदणं करेमि। (आर्ये पादवन्दनं करोमि।)

तापसी—वच्छे भत्तुणो बहुमदा होहि। (वत्से भर्तुर्बहुमता भव।)

कुमारः—अम्ब अभिवादये।

उर्वशी—[कुमारमुन्नमितमुखं परिष्वज्य।] वच्छ पिदरं आराधइत्तओ होहि। [राजानमुपेत्य।] जेदु जेदु महाराओ। (वत्स पितरमाराधयिता भव। जयतु जयतु महाराजः।)

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै। इत आस्यताम्। [इत्यर्धासनं ददाति।]

[उर्वशी उपविशति। सर्वे यथोचितमुपविशन्ति।]

---

उर्वशी—[कुमार को देखकर] अरे! यह हाथ में धनुष लिए हुए कौन बालक है, जिसे अपने चरणपीठ पर बैठाकर स्वयं महाराज ही उसके बालों को गूंथ रहे हैं। [तपस्विनी को देखकर] अरे! इस सत्यवती को देखते ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र आयुकुमार है। यह तो बड़ा हो गया। [ऐसा कहकर सहर्ष घूमती है।]

राजा—[उर्वशी को देखकर] बेटा! यह तुम्हारी माता तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाकर देखती हुई आ गई। तुम्हारे प्रति अतीव वात्सल्य के कारण उनकी चोली दूध से भीग गई है॥१२॥

तपस्विनी—बेटा यहाँ आओ। अपनी माता का स्वागत करो। [कुमार को लेकर उर्वशी से मिलने के लिए आगे बढ़ती हैं।]

उर्वशी—माता। मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

तपस्विनी—बेटी! अपने प्रिय की अत्यन्त दुलारी बनो।

कुमार—मां! प्रणाम करता हूं।

उर्वशी—[ऊपर मुख उठाए हुए कुमार को गले लगाती हुई] बेटा! पिता के सेवक बनो। [राजा के समीप जाकर] महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—पुत्रवती का स्वागत करता हूँ। आओ, यहाँ बैठो। [अपने आधे आसन पर बैठाता है। उर्वशी बैठती है और अन्य लोग यथायोग्य स्थानों पर बैठ जाते हैं।]

**तापसी**—वच्छे। एसो गहीदविज्जो आऊ संपद कवअहरो संवुत्तो। ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो। ता विसज्जेदु इच्छामि। उवरुज्झइ मह अस्समधम्मो। (वत्से। एष गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचहरः संवृत्तः। तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्त-निक्षेपः। तद्विसर्जयितुमिच्छामि। उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः।)

**उर्वशी**—चिरस्स अज्ज देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हम्हि। ण सक्कणोमि विसज्जिदुं। अण्णय्यं उण उवरोहिदुं। ता गच्छदु अज्जा पुणो दसणाअ। (चिरस्यार्यां दृष्ट्वाऽधिकतरमवितृप्णास्मि। न शक्नोमि विस्रष्टुम्। अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम्। तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय।)

**राजा**—अम्बे भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय।

**तापसी**—एव्व भोदु। (एवं भवतु।)

**कुमारः**—आर्ये सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याश्रमं नेतुमर्हसि।

**राजा**—अपि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः।

**तापसी**—जाद। गुरुअणो अवणं अणुचिट्ठ। (जात। गुरोर्वचनमनुतिष्ठ)

**कुमारः**—तेन हि।

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥१३॥

**तापसी**—[विहस्य।] एव्व करेमि। (एवं करोमि।)

**उर्वशी**—भअवदि पादवदणं करेमि। (भगवति पादवन्दनं करोमि।)

---

**तपस्विनी**—बेटी! यह कुमार अब समस्त विद्याएँ प्राप्त कर कवच धारण करने योग्य बन गया है। सो मैं तुम्हारे स्वामी के सामने तुम्हारी यह धरोहर तुम्हें लौटा देती हूँ। अब मैं जाना भी चाहती हूँ, क्योंकि आश्रम का बहुतेरा कार्य मेरे जिम्मे रुका पड़ा है।

**उर्वशी**—आर्या को बहुत दिनों बाद देख सकी हूँ, इससे चित्त नहीं भरा है। जाने देने की इच्छा नहीं हो रही है, किन्तु रोकने में भी अन्याय का भय है। तो आर्या आज तो जा सकती हैं किन्तु पुनः दर्शन देंगी।

**राजा**—माता! भगवान् च्यवन से मेरा प्रणाम निवेदन करेंगी।

**तपस्विनी**—ऐसा ही करूँगी।

**कुमार**—आर्या सचमुच आप वापस जा रही हैं तो मुझे भी वहीं लेते चलें।

**राजा**—बेटा! तुम ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा कर चुके हो, अब तो तुम्हारे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का समय आ गया है।

**तपस्विनी**—बेटा! गुरुजनों की आज्ञा मानो।

**कुमार**—तो आप उस बड़े-बड़े पंखोंवाले मेरे मणिकण्ठक नामक मयूर को यहाँ भेज दीजिएगा, जो मेरी गोद में सोते हुए अपने शिखण्डक को मेरे हाथों से खुजलाए जाने का आनन्द लिया करता था॥१३॥

**तपस्विनी**—[हँसकर], अच्छी बात है, उसे पहुँचा दूँगी।

**उर्वशी**—भगवती! आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ।

राजा—भगवति प्रणमामि।

तापसी—सोत्थि भोदु तुम्हाणम्। (स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम्।)

[इति निष्क्रान्ता।]

राजा—[उर्वशीं प्रति] कल्याणि।

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव।
पौलोमीसम्भवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः॥१४॥

[उर्वशी स्मृत्वा रोदिति।]

विदूषकः—[विलोक्य सावेगम्।] भो किं णु क्खु सम्पदं अत्तहोदी एक्कपदे अस्सुमुही संवुत्ता। (भो किं नु खलु साम्प्रतमत्र भवती एकपदे अश्रुमुखी संवृत्ता।)

राजा—[सावेगम्।]

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे।
पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्रैः॥१५॥

[इति अस्या बाष्पं प्रमार्ष्टि।]

उर्वशी—सुणादु महाराओ। पढमं उण पुत्तदंसणसमुत्थेण आणंदेण विसुमरिदह्मि। दाणिं महिंदसकित्तणेण सुमरिओ समओ मह हिअअं आआसेदि। (शृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमुत्थेनानन्देन विस्मृतास्मि। इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मृतः समयो मम हृदयमायासयति।)

राजा—कथ्यतां समयः।

---

राजा—देवी! प्रणाम करता हूँ।

तपस्विनी—आप दोनों का कल्याण हो। [जाती है।]

राजा—[उर्वशी के प्रति] हे कल्याणी! तुम्हारे इस सुपुत्र को प्राप्त करके आज मैं उसी प्रकार से सभी पुत्रवानों में अगुआ बन गया हूँ जैसे इन्द्राणी से उत्पन्न हुए पुत्र जयन्त को प्राप्त करके देवराज इन्द्र—१४—॥

[उर्वशी कुछ स्मरण करके रोती है।]

विदूषक—[देखकर घबराया हुआ] अरे क्या हुआ जो अकस्मात् आपकी आँखों में आँसू आ गए?

राजा—[घबराहट के साथ] हे सुन्दरी! ऐसे महान आनन्द के अवसर पर तुम क्यों रो रही हो, जब मेरे वंश को बढ़ानेवाला पुत्र तुम्हें प्राप्त हो गया है। तुम अपने उन्नत उरोजों पर गिरनेवाले आँसुओं से दुहरी मुक्तावली की रचना व्यर्थ ही क्यों कर रही हो।॥१५॥

[राजा उर्वशी के आँसू पोंछता है।]

उर्वशी—महाराज सुनें। पहले तो मैं अपने पुत्र को देखने के आनन्द में ऐसी मग्न हो गई थी कि अपने को भूल गई थी। किन्तु जब अभी आपने देवराज इन्द्र का नाम लिया तो मुझे एक बात याद आ गई जो मेरे हृदय को कचोट रही है।

राजा—वह कौन सी बात है। कहो तो।

**उर्वशी**—अहं पुरा महाराअगहिदहिअआ गुरुसावसमूढा महिंदेण आणत्ता। (अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया गुरुशापसंमूढा महेन्द्रेण आज्ञापिता।)

**राजा**—किमिति।

**उर्वशी**—जदा सो मे पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओ वि मम समीवं आअन्तव्वं त्ति। तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो। अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थो संवुत्तो त्ति कलअन्तीएताए णिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ। ता एत्तिओ मे महाराएण सह संवासो। (यदा स मे प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति। ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमे एष पुत्रक आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः। अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या तया निर्यातित एष मे दीर्घायुरायुः। तदेतावान्मे महाराजेन सह संवासः।)

[सर्वे विषादं नाटयन्ति। राजा मोहमुपगच्छति।]

**विदूषकः**—अब्बम्हण्णं। अब्बम्हण्णं (अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्।)

**कञ्चुकी**—समाश्वसितु महाराजः।

**राजा**—[समाश्वस्य सनिःश्वासम्।] अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य।

**आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः।**
**व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥१६॥**

---

**उर्वशी**—बहुत दिन हुए जब मैं महाराज से प्रेम करने लगी थी तो भरत मुनि ने मुझे शाप दे दिया था तब मैं अत्यन्त घबरा गई थी। उस समय देवराज इन्द्र ने मुझे आज्ञा दी थी।

**राजा**—क्या आज्ञा दी थी?

**उर्वशी**—यही आज्ञा दी थी कि जब मेरे प्रिय मित्र राजर्षि तुमसे उत्पन्न हुए वंश-रक्षक पुत्र का मुख देख लें तब तुम मेरे पास वापस लौट आना। इसीलिए ज्यों हीं यह बालक उत्पन्न हुआ त्यों हीं मैंने इस भय से कि कहीं आप इसे देख लेंगे तो आपका और हमारा वियोग हो जायगा, मैंने इस बालक को पढ़ाने-लिखाने के बहाने से महर्षि च्यवन के आश्रम में भगवती सत्यवती के समीप धरोहर बना कर चुपके से छोड़ आई थी। आज उन्होंने मेरे इस चिरजीवी पुत्र आयुकुमार को पिता की सेवा करने के योग्य समझकर वापस लौटा दिया है। इसलिए अब इतने ही दिनों तक मैं महाराज के संग रह सकती थी।

[सभी लोग विषाद का नाट्य करते हैं। राजा मूर्च्छित हो जाता है।]

**विदूषक**—यह तो महान् अनर्थ हुआ। महान् अनर्थ हुआ।

**कंचुकी**—महाराज धैर्य धारण करें।

**राजा**—[होश में आकर लंबी साँस लेते हुए] हाय! दैव मेरे सुखों का विरोधी है। आज ही तो पुत्र को प्राप्त कर मैं प्रसन्न हुआ था और हे कृशोदरि! उसे पाते ही तुम्हारा यह चिर-वियोग मेरे लिए आ गया। यह तो उसी प्रकार हुआ जैसे प्रथम वर्षा से शीतल हुए वृक्ष पर अचानक बिजली गिर पड़ी हो॥१६॥

विदूषक—अअ सो अत्यो अणत्थाणुबधो सवुत्तो। सपद तक्केमि अत्तभवदा वक्कल गेण्हिअ तवोवण गदव्व त्ति। (अथ सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः सवृत्तः। साम्प्रत तर्कयाम्यत्र भवता वल्कल गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यमिति।)

उर्वशी—म वि मदभाइणि किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणतर सग्गारोहणेण अवसिदकज्ज विप्पओअमुही महाराओ समत्थइस्सदि। (मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तर स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां विप्रयोगमुखीं महाराज समर्थयिष्यति।)

राजा—सुन्दरी मा मैवम्।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः।
अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥

कुमारः—नार्हति तात पुङ्गवधारितायां धुरि दम्य नियोजयितुम्।
राजा—अयि वत्स। मा मैवम्।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विप. कलभोऽपि सन्
भवति सुतरा वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम्।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितु
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः॥१८॥

आर्ये लातव्य।

---

विदूषक—अरे! यह तो एक ही अनर्थ नही है। अन्य अनर्थ भी घटित होंगे, ऐसी आशका हो रही है। अत मैं अनुमान करता हूँ कि अब आप वल्कल वस्त्र धारण कर तपोवन का मार्ग पकड लेंगे।

उर्वशी—और मुझ मन्दभागिनी के लिए भी महाराज यही सोचते होंगे कि इसका पुत्र पर्व लिख कर आ गया और उसे प्राप्त करने के अनन्तर यह अब स्वर्ग को चली जा रही है।

राजा—सुन्दरी! ऐसा मत कहो। पराधीनता में वियोग अत्यन्त सुलभ होता है, इस परवशता मे कोई भी अपनी मनचाही बात नही कर सकता। अत तुम अपने स्वामी इन्द्र की आज्ञा का पालन करो। और मैं भी आज तुम्हारे पुत्र कुमार आयु के कन्धो पर राज्य का भार सौंपकर इधर-उधर भ्रमण करने वाले हरिणो से भरे हुए तपोवन का आश्रम ग्रहण करूँगा॥१७॥

कुमार—पिता जी! जिस रथ के जूए को बहुत बडा बैल खीचता हो, उसमें नए बछडे को नही जोतना चाहिए।

राजा—ऐसा न कहो मेरे बेटे! जिस प्रकार ऊँची जाति के हाथी का बच्चा अवस्था मे छोटा होकर भी दूसरे हाथियों को पछाड देता है, सर्प के छोटे शिशु का भी विष अत्यन्त भयकर होता है, वैसे ही राजा का पुत्र बालक होने पर भी पृथ्वी का उचित रीति से शासन कर सकता है, क्योंकि अपने अपने कर्तव्यों के पालन करने की शक्ति अधिक अवस्था होने पर नही प्रत्युत जन्म या स्वभाव से ही उत्पन्न होती है॥१८॥

आर्ये लातव्य!

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि सन्नियतामायुषो राज्याभिषेक इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। [इति दुःखितो निष्क्रान्तः।]

[सर्वे दृष्टिविघातं रूपयन्ति।

राजा—[आकाशमवलोक्य।] किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्सम्पातः।

उर्वशी—[विलोक्य।] अम्मो भअवं णारदो। (अहो भगवान् नारदः।)

राजा—[निपुणमवलोक्य।] अये भगवान् नारदः। य एष—

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः॥१९॥

अर्घ्यं तावदस्मै।

उर्वशी—[यथोक्तमादाय।] इअं भअवदे अरिहणा। (इयं भगवतेऽर्हणा।)

[ततः प्रविशति नारदः। सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

नारद—विजयतां विजयतां मध्यमलोकपालः।

राजा—[उर्वशी हस्तादर्घ्यमादायाघ्यं च।] भगवन्नभिवादये।

उर्वशी—भअवं पणमामि। (भगवन् प्रणमामि।)

---

कंचुकी—महाराज! आज्ञा दें।

राजा—मेरी ओर से मन्त्रिपरिषद को सूचित करो कि कुमार आयु का राज्याभिषेक का आयोजन किया जाय।

कंचुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। [दुःखी होकर जाता है।]

[सभी लोगों की आँखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं।]

राजा—[आकाश की ओर देखकर] अरे! बिना बादल के ही यह बिजली कैसे गिरी?

उर्वशी—[देखकर] अहा, भगवान् नारद हैं।

राजा—[भली भाँति देखकर] हाँ, यह तो सचमुच भगवान् नारद हैं। जो गोरोचन के समान पीली जटा से युक्त कंधे पर चन्द्रमा की कला के समान उज्ज्वल यज्ञोपवीत धारण किए हुए तथा मोतियों की माला गले में पहने हुए आकाश मार्ग से इस प्रकार नीचे उतरे चले आ रहे हैं जैसे सुनहरी शाखाओं वाला कोई चलता-फिरता कल्पवृक्ष आकाश से नीचे उतर रहा हो॥१९॥

उनके लिए अर्घ्य ले आओ।

उर्वशी—[अर्घ्य की सामग्री लेकर] यह देवर्षि की पूजा की सामग्री है।

[तदनन्तर नारद जी आते हैं और सब लोग उठकर खड़े होते हैं।]

नारद—इस पृथ्वीलोक की रक्षा करने वाले महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—[उर्वशी के हाथ से पूजा की सामग्री लेकर और पूजा करके] भगवन्! मैं प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी—भगवन्! मैं प्रणाम करती हूँ।

नारदः—अविरहिणौ दम्पती भूयास्ताम्।

राजा—[आत्मगतम्।] अपि नामैव स्यात्। [कुमारमाश्लिष्य प्रकाशम्।] वत्स भगवन्तमभिवादयस्व।

कुमारः—भगवन्! औवंशेय आयुः प्रणमति।

नारदः—आयुष्मानेधि।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्।

नारदः—तथा। [इत्युपविष्टः।]

[सर्वे नारदमनूपविशन्ति।]

राजा—[सविनयम्] भगवन् किमागमनप्रयोजनम्।

नारदः—राजन्! श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति।

राजा—किमाज्ञापयति।

नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टो महान्सुरासुरसंगरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन न त्वया शस्त्रं सन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

उर्वशी—[अपवार्य।] अम्महे सल्लं विअ मे हिअआदो अवणीदं। (अहो शल्यमिव मे हृदयादपनीतम्।)

---

नारद—तुम्हारी जुगल जोडी को कभी वियोग न सहना पड़े।

राजा—[मन ही मन] यदि ऐसा ही हो जाता। [कुमार का आलिंगन करके प्रकट रूप में] बेटा! भगवान् नारदजी को प्रणाम करो।

कुमार—भगवन्! मैं उर्वशी का पुत्र आयु आप को प्रणाम करता हूँ।

नारद—तुम्हारी लंबी आयु हो।

राजा—यह आसन ग्रहण करें देवर्षि!

नारद—अच्छा। [आसन पर बैठते हैं। [नारद के बैठ जाने पर सभी लोग बैठ जाते हैं।]

राजा—[विनयपूर्वक] भगवन्! आपने कैसे आने का कष्ट उठाया?

नारद—महाराज! सुनें, देवराज इन्द्र का सन्देश है।

राजा—सावधान हूँ।

नारद—अपने दैवी प्रभाव से सबके मन की बातों को जानने वाले देवराज इन्द्र ने वन जाने के लिए उद्यत श्रीमान् को कहलाया है कि—

राजा—क्या आज्ञा है देवराज की?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियों ने भविष्य वाणी की है कि भविष्य में देवताओं और असुरों का महान युद्ध होगा और संग्राम में परम दक्ष आप ऐसे युद्धों में देवताओं की सहायता करते आए हैं, अतः अपने हथियार न त्यागें। यह उर्वशी जीवन भर आपकी संगिनी बनी रहेगी।

उर्वशी—[अलग से] मेरे हृदय में से तो जैसे काँटा निकल गया।

राजा—परवानस्मि देवदवरेण।

नारद—युक्तम्।

त्वत्कार्यं वासव कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा॥२०॥

[आकाशमवलोक्य।] रम्भे। उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।

[प्रविश्य यथोक्तहस्ताप्सरसः।]

अप्सरसः—भअव इमे अभिसेअसंभारा। (भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः।)

नारद—उपवेशयतामायुष्मान्भद्रपीठे।

रम्भा—इदो वच्छ। (इतो वत्स।) [इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति।]

नारद—[कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य।] रम्भे। निवर्त्यतां शेषा विधिः।

रम्भा—[यथोक्तं निर्वर्त्य] वच्छ पणम भअवन्तं पिदरा अ। (वत्स प्रणम भगवन्तं पितरौ च।)

[कुमारो यथाक्रमं प्रणमति।]

नारदः—स्वस्ति भवते।

राजा—कुलधुरन्धरो भव।

उर्वशी—पिदुणा आराहओ होहि। (पितुराराधको भव।)

---

राजा—मैं तो देवराज का सेवक हूँ।

नारद—यह तो उचित ही है, क्योंकि जिस प्रकार से सूर्य अपने तेज से अग्नि को प्रदीप्त करता है और अग्नि सूर्य का अपने तेज से बढ़ाता है, उसी प्रकार से देवराज तुम्हारा कार्य करें और तुम देवराज का इच्छा-पूर्ति करो॥२०॥

[आकाश की ओर देखकर] रम्भा! स्वयं देवराज इन्द्र से कुमार आयु के युवराज पद पर होने वाले अभिषेक के लिए जो सामग्रियाँ भेजी हैं, उन्हें ले आओ।

[उक्त सामग्रियाँ लेकर अप्सराएँ प्रवेश करती हैं।]

अप्सराएँ—भगवान्! ये हैं अभिषेक की सामग्रियाँ।

नारद—चिरजीवी आयुकुमार को मंगल पीठ पर बैठाओ।

रम्भा—बेटा। इधर आ जाओ। [कुमार को मंगल पीठ पर बैठाती है।]

नारद—[कुमार के सिर पर कलश से जल गिराकर] रम्भा! अब शेष विधियाँ पूरी करो।

रम्भा—[विधिपूर्वक कुमार का अभिषेक कराती है] बेटा! महाराज नारद और अपने माता-पिता को प्रणाम करो।

[कुमार क्रम से सबको प्रणाम करता है।]

नारद—तुम्हारा कल्याण हो।

राजा—अपने वंश के प्रमुख पुरुष बनो।

उर्वशी—अपने पिता के सेवक बनो।

# मालविकाग्निमित्रम्

# पात्र-परिचय

## पुरुष पात्र

सूत्रधार—नाटक का प्रबन्धकर्त्ता।
पारिपार्श्वक—सूत्रधार का साथी।
राजा—अग्निमित्र नामक विदिशा का स्वामी।
वाहतक—प्राचीन मन्त्री।
विदूषक—राजा का मित्र।
कञ्चुकी—अन्तःपुर का रक्षक वृद्धब्राह्मण।
गणदास और हरदत्त—नाट्याचार्य।
सारस—कुबड़ा, एक सेवक।
वैतालिक—स्तुतिपाठ करने वाला।

## स्त्री पात्र

मालविका—मालवाधीश माधवसेन की भगिनी।
धारिणी—अग्निमित्र की प्रधान महिषी।
इरावती—अग्निमित्र की द्वितीय पत्नी।
परिव्राजिका—कौशिकी नामक माधवसेन के सचिव सुमति की विधवा भगिनी।
बकुलावलिका—रानी धारिणी की परिचारिका, मालविका की सखी।
मधुकरिका—मालिन।
कौमुदिका—दासी।
समाहितिका—परिव्राजिका की परिचारिका।
निपुणिका—इरावती की परिचारिका।
जयसेना—प्रतीहारी।
चेटी—दूसरी दासी।
मदनिका, ज्योत्स्निका } विदर्भदेशीय दो शिल्पी कन्याएँ।

# प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥१॥

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण [नेपथ्याभिमुखमवलोक्य।] मारिष। इतस्तावत्।

पारिपार्श्वकः—[प्रविश्य] भाव। अयमस्मि।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि। विद्वत्परिषदा कालिदासप्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां सङ्गीतम्।

पारिपार्श्वकः—मा तावत्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

---

# मालविकाग्निमित्र नाटक

## पहला अंक

अपने प्रणयीजनों को अभीष्ट फल देने का अनुपम ऐश्वर्य अपने पास होने हुए भी जो केवल हाथी का चर्म धारण करते हैं, अपने आधे शरीर में अपनी पत्नी को संग लिए रहने पर भी जो संसार के विषय-भोग से दूर रहने वाले योगी जनों में अग्रणी माने जाते हैं, अपनी आठों मूर्तियों से समस्त संसार का भरण-पोषण करते हुए भी जिनको अहंकार का स्पर्श नहीं होता, ऐसे संसार के स्वामी महादेव जी सन्मार्ग को दिखाने के लिए आप लोगों की तामसी वृत्तियों का विनाश करें॥१॥

[नान्दी पाठ होने के अनन्तर]

सूत्रधार—मंगलाचरण पर्याप्त हो गया, अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं [नेपथ्य की ओर देखकर] मारिष! तनिक इधर तो आ जाओ।

पारिपार्श्वक—[आकर] आर्य! मैं आ गया।

सूत्रधार—इस वसन्तोत्सव में कालिदास रचित "मालविकाग्निमित्र" नामक नाटक का अभिनय करने के लिए इस विद्वत्परिषद् ने मुझे आज्ञा दी है। अतः तुम संगीत को आरम्भ करो।

पारिपार्श्वक—आप ऐसा न कहें। भास, सौमिल्लक, कविपुत्र आदि सुप्रसिद्ध, प्राचीन कवियों के प्रबन्धों को छोड़; वर्तमान कवि कालिदास की कृति को क्यों इतना अधिक सम्मान दिया जा सकता है।

सूत्रधार:—अयि। विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य।

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥२॥

पारिपार्श्वक:—आर्यमिश्रा प्रमाणम्।

सूत्रधार:—तेन हि त्वरतां भवान्।

> शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम्।
> देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥३॥

[इति निष्क्रान्तौ।]

॥ इति प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति बकुलावलिका।]

बकुलावलिका—आणत्तम्हि देवीए धारणीए। अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णट्टअन्तरेण कीरिसि मालविअत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं। ता दाव संगीदसालं गच्छम्हि। (आज्ञाप्तास्मि देव्या धारिण्या। अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि। [इति परिक्रामति]

[ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कुमुदिनी]

---

सूत्रधार—यह तो तुम्हारे विवेक का अभाव है। देखो पुराने होने से ही न सब अच्छे हो जाते हैं और न नवीन होने से ही सब काव्य बुरे ही माने जाते हैं। बुद्धिमान लोग तो दोनों की परीक्षा करके जो उत्तम होता है, उसे ग्रहण करते हैं और दूसरों के विश्वास के आधार पर अपनी राय कायम कर लेना मूर्खों का काम है॥२॥

पारिपार्श्वक—तब तो फिर आप का ही मत प्रमाण है।

सूत्रधार—बस, अब शीघ्रता करो जिस प्रकार से ये महारानी धारिणी देवी की सेवा दक्ष दासी उनकी सेवा में निरत है, उसी प्रकार मैं भी पहले से ही शिरोधार्य की हुई इस विद्वत्परिषद् की आज्ञा का पालन करना चाहता हूँ।

[दोनों जाते हैं।]

प्रस्तावना समाप्त।

बकुलावलिका—देवी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि नाट्याचार्य गणदास से मैं पूछ आऊँ कि अभी थोड़े ही दिनों से आप 'छलिक' नामक नाट्य की जो शिक्षा उसे दे रहे हैं उसमें वह कहाँ तक प्रगति कर सकी है। इसलिए अब मैं संगीत शाला में जाती हूँ। [घूमती है। इसके बाद हाथ मे आभूषण लिए हुए एक दूसरी दासी आती है]

[तदनन्तर कुमुदिनी का प्रवेश होता है।]

बकुलावलिका—[कुमुदिनीं दृष्ट्वा।] हला कोमुदीए। कुदो दे दाणिं इअ धीरदा। जं समीवेण वि अदिक्कमन्ती इदो दिट्ठिं ण देसि। (सखि कौमुदिके। कुतस्त इदानीमियं धीरता। यत्समीपेनाप्यतिक्रामन्तीतो दृष्टिं न ददासि।)

कुमुदिनी—अम्हो वउलावलिआ। सहि देवीए इदं सिप्पिसआसादो आणीदं णागमुद्दासणाहं अङ्गुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती तुह उवालम्भे पडिदम्हि। (अहो बकुलावलिका। सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि।)

बकुलावलिका—[विलोक्य।] ठाणे सज्जदि दिट्ठी। इमिणा अङ्गुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसरेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि। (स्थाने सज्जति दृष्टिः। अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति।)

कुमुदिनी—हला कहिं पत्थिदासि। (सखि कुत्र प्रस्थितासि।)

बकुलावलिका—देवीए एव्व वअणेण णट्टाआरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं उवदेसग्गहणे कीरिसी मालविएत्ति। (देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुमुपदेशग्रहणे कीदृशी मालविकेति।)

कुमुदिनी—सहि ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा वि सा कहं भट्टिणा दिट्ठा। (सखी। ईदृशेन व्यापारेणासन्निहितापि सा कथं भर्त्रा दृष्टा।)

बकुलावलिका—आम्। सा जणो देवीए पास्सगदो चित्ते दिट्ठो। (आम्। स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः।)

कुमुदिनी—कहं विअ। (कथमिव।)

---

बकुलावलिका—[कुमुदिनी को देखकर] क्यों सखी कौमुदिका! आज तुम इतनी गम्भीर क्या दिखाई पड रही हो, जो मेरे बिल्कुल समीप से जाती हुई भी इस ओर आँखें नहीं फेर रही हो।

कुमुदिनी—अहा सखी बकुलावलिका! महारानी ने अपनी यह नागमुद्रा से युक्त अगूठी सोनार के यहाँ से मगवाई है, उसी को ले जाती हुई ध्यान से देखती जा रही थी कि तुमने यह उलाहना दे दिया।

बकुलावलिका—[देखकर] तुम्हारी दृष्टि उचित वस्तु पर अटकी थी। इस अगूठी से निकलती हुई केसर के समान किरणों से ऐसा लगता है मानो तुम्हारा हाथ पुष्पित हो गया है।

कुमुदिनी—सखी! तुम कहाँ जा रही थी।

बकुलावलिका—देवी की आज्ञा से नाट्याचार्य्य गणदास से यह पूछने जा रही हूँ कि नाट्य शिक्षा में मालविका की क्या स्थिति है?

कुमुदिनी—क्यों सखी! इस प्रकार सगीत शिक्षा के कारण दूर रहने पर भी महाराज ने उसे कैसे देख लिया?

बकुलावलिका—हाँ, उसे तो महाराज ने चित्र में देवी के साथ बैठी हुई देखा है।

कुमुदिनी—यह कैसे?

बकुलावलिका—सुणु। चित्तसालं गदा देवी जदा पच्चग्गवण्णराअं चित्तलेहं आआरिअस्स आलोअन्ती चिट्ठदि भट्टा अ उवट्ठिदो। (शृणु। चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। भर्ता चोपस्थितः।)

कुमुदिनी—तदो तदो। (ततस्ततः।)

बकुलावलिका—उवआराणन्तरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा। (उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा।)

कुमुदिनी—किं त्ति। (किमिति।)

बकुलावलिका—अपुव्वा इअं दारिआ देवीए आसण्णा आलिहिदा किंणामहेएत्ति। (अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किं नामधेयेति।)

कुमुदिनी—आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेदि। तदो तदो। (आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति। ततस्ततः।)

बकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा सङ्किदो देवीं पुणोवि अणुबन्धीदु। तदो कुमारिए वसुलच्छीए आअक्खिदम्। अज्ज एसा मालविएत्ति। (ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शङ्कितो देवीं पुनरप्यनुबन्द्धुम्। ततः कुमार्या वसुलक्ष्म्याख्यातम्। आर्य एषा मालविकेति।)

कुमुदिनी—[सस्मितम्।] सरिसं क्खु बालभावस्स। अदो अवरं कहेहि। (सदृशं खलु बालभावस्य। अतोऽपरं कथय।)

बकुलावलिका—किं अण्णं। संपदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि। (किमन्यत्। साम्प्रतं मालविका सविशेषं भर्तुर्दर्शनपथाद्रक्ष्यते।)

---

बकुलावलिका—सुनो, देवी एक दिन चित्रशाला में बैठी हुई चित्रकार द्वारा बनाए गए एक नवीन चित्र को देख रही थीं कि इसी समय महाराज भी वहाँ आ गए।

कुमुदिनी—तब फिर?

बकुलावलिका—स्वागत-सत्कार के अनन्तर देवी के साथ एक ही आसन पर बैठकर महाराज ने देवी के चित्र में दासियों के बीच में उन्हीं के पास खड़ी हुई एक बालिका को चित्रित देखकर देवी से पूछा।

कुमुदिनी—क्या पूछा?

बकुलावलिका—देवी के साथ चित्रित यह बालिका अत्यन्त सुन्दरी है, इसका नाम क्या है?

कुमुदिनी—सुन्दर आकृतिवालों में आदर हो ही जाता है। तब फिर?

बकुलावलिका—तब देवी ने महाराज की बात का जब कोई उत्तर नहीं देकर उपेक्षा कर दी तो इससे उनकी शङ्का बढ़ गई और उन्होंने आग्रहपूर्वक फिर पूछना आरम्भ किया। तब कुमारी वसुलक्ष्मी ने कह दिया कि—'आर्य! यह तो मालविका है।'

कुमुदिनी—[मुस्करा कर] कुमारी ने अपने बाल स्वभाव के अनुसार ही कहा। अब फिर इसके बाद क्या हुआ, यह तो बताओ।

बकुलावलिका—और क्या होता? आजकल तो मालविका को बड़े प्रयत्नों के साथ महाराज की दृष्टि के पथ से दूर रखा जाता है।

कुमुदिनी—हला अनुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं पि एदं अङ्गुलीअअं देवीए उवणइस्सं। (सखि अनुतिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमप्येतदङ्गुलीयकं देव्या उपनेष्यामि।)

[इति निष्क्रान्ता।]

बकुलावलिका—[परिक्रम्यावलोक्य।] एसो णट्टाअरिओ संगीदसालादो णिक्कमदि। जाव से अत्ताणं दंसेमि। (एष नाट्याचार्यः संगीतशालातो निर्गच्छति। यावदस्मा आत्मानं दर्शयामि।) [इति परिक्रामति।]

[प्रविश्य।]

गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्। तथाहि।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥४॥

बकुलावलिका—[उपेत्य।] अज्ज वन्दामि। (आर्य वन्दे।)

गणदासः—भद्रे चिरञ्जीव।

बकुलावलिका—अज्ज देवी पुच्छदि अवि उवदेसग्गहणे णादिकिलिस्सदि वो सिस्सा मालविए त्ति। (आर्य देवी पृच्छत्यप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्नाति वः शिष्या मालविकेति।)

गणदासः—भद्रे विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति। किं बहुना।

---

कुमुदिनी—सखी! अब अपना कार्य करो। मैं भी यह अंगूठी देवी को देने के लिए ले जा रही हूँ। [जाती है]

बकुलावलिका—[कुछ चलकर और देखकर] यह नाट्याचार्य महोदय संगीत शाला से बाहर चले आ रहे हैं, चलकर इनसे भेंट करूँ। [आगे बढ़ती है।]

गणदास—[प्रवेश करके] अपने-अपने कुल की विद्या के प्रति सबके हृदय में बड़ा आदर होता है। हम लोगों के हृदय में नाट्य विद्या के प्रति जो गौरव है वह मिथ्या गौरव नहीं कहा जा सकता। क्यों कि, मुनियों ने इस नाट्य विद्या को देवताओं के लिए सौम्य नेत्रयज्ञ कहा है, स्वयं महादेव जी ने अपने पार्वती से युक्त [अर्धनारीश्वर रूप] शरीर में इसे दो भागों (लास्य और ताण्डव) में विभक्त किया है। इस नाट्य विद्या में शृंगार आदि नवरस तथा सत्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त लोक चरित्र का चित्रण किया जाता है, जिसके कारण इस एक ही नाट्यकला के द्वारा भिन्न-भिन्न रुचिवालों का मनोविनोद हो जाता है॥४॥

बकुलावलिका—[आगे बढ़कर] आर्य! प्रणाम करती हूँ।

गणदास—भद्रे! चिरजीविनी होओ।

बकुलावलिका—आर्य! देवी ने पूछा है कि नाट्य-शिक्षा में आपकी शिष्या मालविका आप को अधिक परेशान तो नहीं करती।

गणदास—भद्रे! देवी से निवेदन कर देना कि वह लड़की शिक्षा ग्रहण में अत्यन्त निपुण तथा मेधाविनी है। अधिक क्या कहूँ।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥५॥

बकुलावलिका—[आत्मगतम्।] अदिक्कमदी विअ इरावदि पेक्खामि। [प्रकाशम्] किदत्था दाणि वो सिस्सा जाए गुरुअणो एव्व तुस्सदि। (अतिकामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि। कृतार्थेदानीं व. शिष्या यस्या गुरुजन एव तुष्यति।)

गणदास—भद्रे तद्विधामसुलभत्वात्पृच्छामि। कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम्।

बकुलावलिका—अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम। सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवालदुग्गे ठाविदो। तेण सिप्पाहिआरे जोग्गा इअ दारिएत्ति भणिअ भइणीए देवीए उवाअण पेसिदा। (अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे योग्येय दारिकेति भणित्वा भगिन्या देव्या उपायन प्रेषिता।)

गणदास—[स्वगतम्] आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां समावयामि। [प्रकाशम्] भद्रे ममापि यशस्विना भवितव्यम्। यतः।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥६॥

बकुलावलिका—अज्ज कहिं दाणिं वो सिस्सा। (आर्य कुत्रेदानीं व शिष्या।)

गणदास—इदानीमेव पञ्चाङ्गाभिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगताप्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

---

अभिनय की शिक्षा देते समय जो जो भाव मैं उसे सिखलाता हूँ, उनका अभिनय वह इतने सुन्दर ढंग से करके दिखलाती है मानो वह उलटे मुझी को सिखलाती हो ॥५॥

बकुलावलिका—[मन ही मन] मैं देखती हूँ कि वह इरावती को तो पीछे ही छोड देगी। [प्रकट रूप में] जिस पर गुरुजन ऐसे सन्तुष्ट है सचमुच वह आपकी शिष्या कृतार्थ हुई है।

गणदास—भद्रे! उस प्रकार की योग्यता और क्षमता के पात्र बड़ी कठिनाई से मिलते हैं, इससे मैं पूछता हूँ कि देवी ने उसे कहाँ प्राप्त किया।

बकुलावलिका—देवी के एक निम्नवर्ण में उत्पन्न एक भाई हैं, जिनका नाम वीरसेन है। महाराज ने उन्हें नर्मदा तटवर्ती अन्तपाल नामक दुर्ग का रक्षक नियुक्त करके रखा है। उन्होंने इसे संगीत शिक्षा की अधिकारिणी समझकर अपनी बहन देवी के समीप भेंट रूप में भजा है।

गणदास—[मन ही मन] किन्तु इसकी सुन्दर आकृति को देखने से तो यह ज्ञात होता है कि यह किसी उच्चकुल में पैदा हुई है। [प्रकट रूप में] भद्रे! मुझे भी इसके शिक्षक के नाते यश मिलेगा। क्योंकि मेघ का जल जिस प्रकार से समुद्र की सीप में गिरकर मोती बन जाता है, उसी प्रकार उत्तम पात्र में दी गई विद्या उत्कृष्ट रूप में फलवती होती है ॥६॥

बकुलावलिका—आर्य! आपकी वह शिष्या इस समय कहाँ हैं?

गणदास—अभी-अभी मैं ने पाँचों अंगों का अभिनय सिखाकर उसे विश्राम करने के लिए कहा है और वह बावली की ओर वाली खिड़कीपर बैठी हुई वायु का सेवन कर रही है।

बकुलावलिका—तेण हि पुणो अणुजाणादु मं अज्जो। जाव से अज्जस्स परितोसणिवेदणेण उस्साहं वड्ढेमि। (तेन हि पुनरनुजानातु मामार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोषनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।)

गणदासः—दृस्सदु सही। अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि।

[इति निष्क्रान्तौ।]

मिश्रविष्कम्भकः॥

[ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा।]

राजा—[अनुवाचितलेखममात्यं विलोक्य] वाहतक किं प्रतिपद्यते वैदर्भः।

अमात्यः—देव आत्मविनाशम्।

राजा—सन्देशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

अमात्य—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्। पूज्येनाहमादिष्टः। भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्य गृहीतः। स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोक्तव्य इति। एतन्नु वो विदितम्। यत्तुल्याभिजनेषु राज्ञां वृत्तिरीदृशी। अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति। सोदर्या पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथवा अवश्यमेव माधवसेनो मया पूज्येन मोचयितव्यः श्रूयतामभिसन्धिः।

---

बकुलावलिका—इसलिए आर्य! मुझे आज्ञा दें कि आपकी प्रसन्नता का समाचार इसे बतलाकर मैं उसका उत्साह बढ़ा आऊँ।

गणदास—जाओ सखी! सखी से मिल लो। मैं भी अब अवकाश प्राप्त कर अपने घर जा रहा हूँ।

[दोनों जाते हैं]।

मिश्र विष्कम्भक समाप्त।

[अपने सभासदों के साथ एकान्त में राजा बैठे हुए और मंत्री अपने हाथ में एक पत्र लिए हुए बैठे हैं।]

राजा—[उक्त पत्र के पढ़लेने के बाद मंत्री की ओर देखते हुए] वाहतक! वो विदर्भ के नरेश क्या करना चाहते हैं?

अमात्य—महाराज! अपना विनाश।

राजा—उनका सन्देश अब मैं सुनना चाहता हूँ।

अमात्य—वे लिखते हैं कि—आपकी आज्ञा है कि "आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन मेरे साथ अपनी बहिन का सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय कर के मेरे समीप आ रहे थे कि उन्हें आपके राज्य के सीमा रक्षकों ने आक्रमण करके वहां बन्दी बना लिया है, सो उन्हें मेरा ख्याल करके उनकी स्त्री और बहिन के साथ आप छोड़ दें। इस सम्बन्ध में आप को विदित है कि समान् वंश में उत्पन्न राजाओं में परस्पर ऐसे ही भाव होते हैं? अतः हम लोगों के इस विवाद में श्रीमान् मध्यस्थ बन जावें। उनकी बहिन तो इस आक्रमण की छीना झपटी में कहीं गायब हो गई है, उसके ढूँढने का प्रयत्न करूँगा। अथवा आप यदि माधवसेन को मुझसे अवश्य ही छुड़वा देना चाहते हैं तो मेरी शर्त भी इस सम्बन्ध में सुन लें।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥७॥

इति।

**राजा**—[सरोषम्।] कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञ। वाहतक प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।

**अमात्यः**—यदाज्ञापयति देवः।

**राजा**—अथवा किं भवान्मन्यते।

**अमात्यः**—शास्त्रदृष्टमाह देवः।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥८॥

**राजा**—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योज्यतां सेनाधिपतिः।

**अमात्यः**—तथा। [इति निष्क्रान्तः]

[परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः।]

[प्रविश्य।]

---

यदि आप हमारे साले मौर्य सचिव को जो आपके यहाँ बन्दी है, मुक्त कर दें तो मैं भी माधवसेन को अविलंब मुक्त कर दूंगा ॥७॥ बस।

**राजा**—[क्रोध के साथ] अरे। वह विदर्भनरेश क्या अपने को इतना भूल गया कि वह मेरे साथ भी काम के बदले काम की नीति का व्यवहार कर रहा है। वाहतक यह विदर्भ निरेश स्वभाव से ही हमारा शत्रु तथा विरुद्ध आचरण करनेवाला है। इसलिए इस शत्रु विदर्भ नरेश के पूर्व निश्चित उन्मूलन के लिए वीरसेन के सेनापतित्व में जितनी भी सेना है, सब को आक्रमण की आज्ञा दे दीजिए।

**अमात्य**—महाराज की जैसी आज्ञा?

**राजा**—अथवा इस विषय में आप की क्या सम्मति है?

**अमात्य**—महाराज ने वही कहा है जो शास्त्र में भी देखा जाता है। जिसकी जड़ें धरती में बहुत दूर तक न जा सकती हों ऐसे नए नए लगाए वृक्ष की भांति प्रजा तथा अमात्य वर्ग में जिसने अपने प्रति अनुराग नहीं पैदा किया है, ऐसे नवीन राज पद पर बैठे हुए शत्रु राजा को आसानी से उखाड़कर फेंका जा सकता है ॥८॥

**राजा**—तब तो नीतिकार का यह वचन इस प्रसंग में उचित ही लागू हो रहा है। अब तुम इसी निमित्त से सेनापति को उस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दो।

**अमात्य**—जो आज्ञा। [जाता है।]

[राजा के सभी अनुचर चारों ओर खड़े हुए अपने-अपने कार्यों में रत हैं।]

विदूषकः—आणत्तोम्हि तत्तभवदा रण्णा। गोदम चिन्तेहि दाव उवाअं। जह मे जादिच्छादिट्ठपडिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति। मए अ तं तहा क्किद दाव से णिवेदेमि। (आज्ञप्तोऽस्मि तत्र भवता राज्ञा। गौतम चिन्तय तावदुपायम्। यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति। मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि।) [इति परिक्रामति।]

राजा—[विदूषकं दृष्ट्वा।] अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः।

विदूषकः—[उपगम्य।] वड्ढदु भवं। (वर्धतां भवान्।)

राजा—[सशिरःकम्पम्।] इत आस्यताम्।

[विदूषकः उपविष्टः।]

राजा—अपि कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः।

विदूषकः—पओअसिद्धिं पुच्छ। (प्रयोगसिद्धिं पृच्छ।)

राजा—कथमिव।

विदूषकः—[कर्णे] एव्वमिव। (एवमिव)

राजा—साधु वयस्य निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशास्महे। कुतः—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि॥९॥

---

विदूषक—[प्रवेश करके] मुझे महाराज ने आज्ञा दी है कि 'गौतम ! ऐसा कोई उपाय सोचो, कि जिस मालविका को मैंने संयोग से चित्र में लिखी हुई देखा है, उसे प्रत्यक्ष देख सकूं।' मैंने इस कार्य के लिए जो उपाय सोच निकाला है, उसकी सूचना चलकर उन्हें दे दूं। [जाता है।]

राजा—[विदूषक को देखकर] यह हमारे दूसरे कार्यों में सहायक सचिव आ गए।

विदूषक—[राजा के समीप आकर] आपको बधाई है।

राजा—[सिर को हिलाकर] इधर बैठो।

[विदूषक बैठ जाता है।]

राजा—अरे ! उस कार्य के सम्बन्ध में तुम्हारी बुद्धि ने कोई उपाय खोज निकाला।

विदूषक—उपाय क्या पूछते हो, कार्य सिद्धि के बारे में पूछो।

राजा—यह कैसे ?

विदूषक—[कान में] इस तरह से।

राजा—धन्य हो मित्र ! तुमने खूब काम किया। अब तो इस अत्यन्त कठिनता से सिद्धि मिलने वाले इस कार्य के सम्बन्ध में हम आशान्वित हो गए हैं। क्योंकि किसी विघ्नबाधा युक्त काम में जब कोई सहायक मिल जाता है तब समझ लेना चाहिए कि कार्य सिद्धि सम्भव है। आंखों के रहते हुए भी अन्धकार में वर्तमान किसी वस्तु को दीपक के बिना नहीं देखा जा सकता ॥९॥

[नेपथ्ये।]

अलं बहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरयोर्व्यक्तिर्भविष्यति।

**राजा**—[आकर्ण्य।] सखे त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्नम्।

**विदूषकः**—फलं वि अइरेण दक्खिस्ससि। (फलमप्यचिरेण द्रक्ष्यसि।)

[ततः प्रविशति कञ्चुकी।]

**कञ्चुकी**—देव देव अमात्यो विज्ञापयति। अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। एतौ पुनर्हरदत्त-गणदासौ।

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ॥१०॥

**राजा**—प्रवेशय तौ।

**कञ्चुकी**—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य।] इत इतो भवन्तौ।

**गणदासः**—[राजानं विलोक्य।] अहो दुरासदो राजमहिमा।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥११॥

**हरदत्तः**—महत्खलु पुरुषाकार मिदं ज्योतिः तथाहि।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥१२॥

---

[नेपथ्य में] बस, बस, अपनी अत्यधिक प्रशंसा करने से क्या लाभ है? महाराज सामने ही, हम दोनों में *कौन बड़ा और कौन छोटा है*—इसका निपटारा हो जायगा।

**राजा**—[सुनकर] मित्र! तुम्हारी नीति के वृक्ष में पुष्प खिल गए?

**विदूषक**—आप शीघ्र ही फल भी देखेंगे।

[तदनन्तर कंचुकी का प्रवेश।]

**कंचुकी**—महाराज! मन्त्री महोदय ने कहा कि स्वामी की आज्ञा का पालन कर दिया गया है। और यह हरदत्त तथा गणदास महोदय आप की सेवा में दर्शनार्थ उपस्थित हैं। यह दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को पराजित करने के इच्छुक हैं। ऐसा लगता है मानो शरीर धारण करके अभिनय के अवतार ही आप की सेवा में आ गए हैं॥१०॥

**राजा**—तो दोनों को लिवा लाओ।

**कंचुकी**—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है और दोनों के साथ वापस आता है।] इधर आएँ आप लोग, इधर।

**गणदास**—[राजा को देखकर] *अहा! राजा की महिमा कितनी दुर्धर्ष होती है।* यद्यपि यह महाराज हमारे अपरिचित नहीं है, और देखने में भी सौम्य हैं, फिर भी इनके समीप जाते हुए मैं चकित-सा हो रहा हूँ। जलनिधि समुद्र की भाँति वह हमारी आँखों के लिए प्रतिक्षण नए-नए मालूम पड़ते हैं॥११॥

**हरदत्त**—पुरुष की आकृति में यह महती तेजोराशि हैं। क्यों कि द्वारपाल ने हमें इनके समीप प्रवेश करने की अनुमति दी है, सिंहासन के समीप सदैव रहने वाला कंचुकी हमारे साथ-साथ चल रहा है। फिर भी आँखों को चकाचौंध कर देने वाले इन के असह्य तेज से बिना वचन रूप में कहे ही हम आगे बढ़ने से मानों फिर निवारित कर दिए गये हैं॥१२॥

कञ्चुकी—एष देवः। उपसर्पतां भवन्तौ।

उभौ—[उपेत्य] विजयतां देवः।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम्। [परिजनं विलोक्य।] आसने तावदनयोः।

[उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ।]

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्।

गणदासः—देव श्रूयताम्। मया तीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः।

राजा—बाढं जाने। ततः किम्।

गणदासः—सोऽहमनेन हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षं न मे पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

हरदत्त—देव अयमेव प्रथमं परिवादकरः। अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति तदयमत्रभवान् मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः।

विदूषक—समत्थं पडिण्णादं। (समर्थं प्रतिज्ञातम्।)

गणदासः—प्रथमः कल्पः। अवहितो देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—तिष्ठ तावत्। पक्षपातमत्र देवी मन्यते। तदस्याः पण्डितकौशिकीसहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः।

---

कंचुकी—यह महाराज हैं। आप दोनों समीप जायें।

दोनों—[समीप जाकर] महाराज की विजय हो।

राजा—आप दोनों का स्वागत है। [अनुचरों की ओर देखकर] इनके लिए आसन!

[अनुचरों द्वारा लाए गए आसन पर दोनों बैठते हैं।]

राजा—शिष्यों को पढ़ाने के समय आप दोनों महानुभाव एक साथ ही आज यहाँ कैसे चले आए?

गणदास—महाराज सुनें! मैंने एक उत्तम गुरु से यह अभिनय विद्या सीखी है तथा इसका प्रयोग भी अनेक बार दिखला चुका हूँ। इसी से महाराज तथा देवी ने मुझे सेवा का अवसर दिया था।

राजा—बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। इसके बाद क्या कहना है?

गणदास—सो इस हरदत्त ने प्रमुख अधिकारियों के सामने मुझे इस प्रकार कह कर फटकारा है कि 'तुम मेरे चरण की धूल के बराबर भी नहीं हो।'

हरदत्त—महाराज! इन्होंने ही पहले मेरी निन्दा की है और कहा है कि मेरे तथा हरदत्त के बीच में समुद्र और गड्ढे के समान अन्तर है। अतः श्रीमान् ही इनके और मेरे शास्त्र ज्ञान तथा अभिनय कला के प्रदर्शन में परीक्षा लें, क्योंकि इस विषय में हम दोनों के लिये महाराज से बढ़कर दूसरा विशेषज्ञ और प्रश्न-कर्ता और कौन है।

विदूषक—यह तो बहुत ठीक ही कहा।

गणदास—ठीक है। महाराज सावधान होकर सुनें।

राजा—जरा ठहरिए। इस विषय में कदाचित् महारानी मेरे निर्णय में पक्षपात समझें। इसलिए उन्हें तथा पण्डिता कौशिकी के सामने ही इस प्रश्न का न्यायपूर्ण निपटारा हो।

विदूषकः—सुट्ठु भव भणादि। (सुष्ठु भवान्भणति।)
आचार्यौ—यद्देवाय रोचते।
राजा—मौद्गल्य अम प्रस्ताव निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयता देवी।
कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविष्टः।] इत इतो भवती।
धारिणी—परिव्राजिकां विलोक्य।] भअवदि हरदत्तस्स गणदासस्स अ सरम्भ कहं पेक्खसि। (भगवति हरदत्तस्य गणदासस्य च सरम्भे कथं पश्यसि।)
परिव्राजिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया। न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः।
धारिणी—जइ वि एव तह वि राअपरिग्गहो पहाणत्तण उवहरदि। (यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रधानत्वमुपहरति।)
परिव्राजिका—अयि राज्ञीशब्दभाजनमात्मानमपि चिन्तयतु भवती। पश्य।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः॥१३॥

विदूषकः—अइ उअट्ठिदा देवी पीठमद्दिअं पण्डिअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तभोदी धारिणी। (अयि उपस्थिता देवी पीठमर्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य तत्रभवती धारिणी।)
राजा—पश्याम्येनाम्। यैषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया॥१४॥

---

विदूषक—आपने ठीक कहा।
दोनों आचार्य—महाराज जैसा ठीक समझें।
राजा—मौद्गल्य! इस प्रस्ताव की सूचना देकर पण्डिता कौशिकी के साथ देवी को यहाँ बुला लाओ।
कंचुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है और परिव्राजिका कौशिकी के साथ देवी को लेकर आता है] इधर आएँ देवी, इधर।
धारिणी—[परिव्राजिका की ओर देखकर] देवी! इस हरदत्त और गणदास के विवाद में आप क्या सोच रही हैं।
परिव्राजिका—अपने पक्ष के पराजित होने की आशंका आप न करें। गणदास अपने प्रतिद्वन्द्वी से बहुत हीन नहीं हैं।
धारिणी—यद्यपि है तो ऐसा ही। तथापि राजा जिसे आश्रय देता है, उसकी भी प्रधानता होती है।
परिव्राजिका—आप तो अपने को महारानी समझें। देखो, अग्नि रात्रि में सूर्य के मिल जाने के कारण यदि अधिक तेजस्वी बन जाता है तो चन्द्रमा की शोभा भी रात्रि के मिल जाने से अधिक बढ़ जाती है॥१३॥
विदूषक—अहा! अपने शृंगार में सहायिका पण्डिता कौशिकी को आगे-आगे लेकर महारानी धारिणी आ गईं।
राजा—हाँ, देवी को देख रहा हूँ। जो यह परिव्राजिका के वेश में समीप में स्थित पण्डिता कौशिकी के संग मांगलिक वेष धारण किए हुए अध्यात्म विद्या से युक्त मूर्तिमती तीनों वेदों की विद्या की भाँति उपस्थित हो गई हैं॥१४॥

परिव्राजिका—[उपेत्य] विजयतां देव ।

राजा—भगवति अभिवादये।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥१५॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

राजा—स्वागतं देव्यै। [परिव्राजिकां विलोक्य।] भगवति क्रियतामासनपरिग्रहः।

[सर्वे उपविशन्ति।]

राजा—भगवति! अत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परं विज्ञानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम्।

परिव्राजिका—[सस्मितम्] अलमुपालम्भेन। पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा।

राजा—नैतदेवम्। पण्डितकौशिकी खलु भगवती पक्षपातिनावहं देवी च।

आचार्यौ—सम्यगाह देवः। मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः।

---

परिव्राजिका—[समीप आकर] महाराज की जय हो।

राजा—देवी! मैं प्रणाम करता हूँ।

परिव्राजिका—महान् तेजस्विनी तथा महती सम्पदा को उत्पन्न करने वाली उन दोनों—पृथ्वी तथा धारिणी देवी के आप सैकड़ों वर्षों तक स्वामी बने रहें, जिनमें सहन करने की एक जैसी शक्ति है॥१५॥

धारिणी—महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—देवी का स्वागत है। [परिव्राजिका की ओर देखकर] भगवती! आप अपना आसन ग्रहण करें। [सभी लोग बैठ जाते हैं।]

राजा—भगवती! आज हरदत्त और गणदास महाशय के बीच अपने अपने विशेष ज्ञान की उत्कृष्टता के विषय में परस्पर विवाद उपस्थित हो गया है अतः आप उन दोनों के प्रश्नकर्ता परीक्षक के पद को स्वीकार करें।

परिव्राजिका—[मुस्कराते हुए] क्यों मजाक उड़ाते हैं? नगर को छोड़कर क्या गाँवों में रत्नों की परीक्षा होती है।

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप ठहरीं पण्डिता कौशिकी (जिनसे किसी का कोई संबंध नहीं है), मुझे और महारानी-दोनों को पक्षपाती कहा जा सकता है।

दोनों आचार्य—महाराज ने ठीक ही कहा है। भगवती कौशिकी ही पक्षपात से रहित होने के कारण मध्यस्थ बनकर हम दोनों के गुण-दोषों की विवेचना करके अपना निर्णय दे सकती हैं।

राजा—तो फिर आप लोग अपना शास्त्रार्थ प्रस्तुत करें।

परिव्राजिका—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण। कथं वा देवी मन्यते ?

देवी—जइ मं पुच्छसि तदा एदाणं विवादो एव्व ण मे रोअदि। (यदि मां पृच्छसि तदेतयोर्विवाद एव न मे रोचते।)

गणदास—देवि न मा समानविद्यया परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि।

विदूषक—भोदि पेक्खामो उअरम्भरिसंवादं किं मुहा वेअणदाणेण एदेण। (भवति पश्याम उदरंभरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।)

देवी—णं कलहप्पिओसि। (ननु कलहप्रियोऽसि।)

विदूषक—मा एव्वं। चण्डि अण्णोण्णकलहप्पिआणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सिं अणिज्जिदे कुदो उवसमो। (मैवम्। चण्डि अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः।)

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवातिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती।

परिव्राजिका—अथ किम्।

राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम्।

परिव्राजिका—तदेववक्तुकामास्मि।

> श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
> यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१६॥

---

परिव्राजिका—महाराज ! नाट्य शास्त्र में तो अभिनय प्रयोग की ही प्रधानता होती है। उसके सम्बन्ध मे व्यर्थ के वाद-विवाद से क्या लाभ होगा ? अथवा महारानी की इस सम्बन्ध में क्या राय है ?

देवी—यदि मुझसे पूछती हो तो मुझे तो इन दोनों महानुभावों का यह विवाद ही अच्छा नहा लग रहा है।

गणदास—देवि ! मुझे समान विद्यावाला मानकर आप यह न समझें कि मैं हार जाऊँगा।

विदूषक—महारानी ! इन दोनों पेटुओं का विवाद देखा जाय, इन सब को व्यर्थ ही क्यों वेतन दिया जाता है ?

देवी—अरे ! तुम्हें तो विवाद अच्छा लगता है।

विदूषक—ऐसा न कहें देवी ! अप्रसन्न न हो। दो झगडालू हाथियों के लड़ने पर जब तक उनमें से एक की पराजय नहीं हो जाती तब तक उनको शान्ति कहाँ मिलती है ?

राजा—भगवती ! आपने तो इन दोनों महाशयों के अभिनय प्रयोगों की सुचारुता तो देखी ही होगी।

परिव्राजिका—हाँ देखा है

राजा—तब फिर यहाँ इन्हें हम लोगों को अपनी योग्यता का क्या विश्वास और दिलाना है ?

परिव्राजिका—मैं यही कहना चाहती थी। देखिए। कुछ गुणवान व्यक्ति ऐसे [illegible]

ष्ठित किया जाना चाहिए ॥१६॥

विदूषकः—सुद अज्जेहिं भअवदीए वअणं। एसो पिण्डितत्थो उवदेसदंसणादो णिण्णओ त्ति। (श्रुतमार्याभ्यां भगवत्या वचनम्। एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनान्निर्णय इति।)

हरदत्तः—परमभिमतं नः।

गणदासः—देवि। एवं स्थितम्।

देवी—जदा उण मन्दमेधा सिस्सा उवदेसं मलिणेन्ति तदा आअरिअस्स ण दोसो। (यदा पुनर्मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोषः।)

राजा—देवि। एवमापठ्यते। विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।

देवी—[जनान्तिकम्।] एह दाणिं। [गणदासं विलोक्य प्रकाशम्।] अलं अज्जउत्तस्स उस्साहकारणं मणोरहं पूरिअ। विरम णिरत्थआदो आरम्भादो। (कथमिदानीम्। अलमार्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा। विरम निरर्थकादारम्भात्।)

विदूषकः—सुट्ठु भोदी भणादि। भो गणदास संगीदपदं लम्भिअ सरस्सईए उवाअणमोदआणि खादमाणस्स किं दे सुहणिग्गहेण विवादेण। (सुष्ठु भवती भणति। भो गणदास संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः किं ते सुखनिग्रहेण विवादेन।)

गणदासः—सत्यसमयमेवार्थो देवीवाक्यस्य। श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम्।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥१७॥

---

विदूषक—आप दोनों महानुभावों ने देवी कौशिकी की बात सुन ली न। उनके कथन का सारांश यही है कि आप लोगों के शिष्यों के गुणों को देखकर ही आप दोनों की योग्यता का निर्णय हो सकता है।

हरदत्त—यह तो हमारे लिए अत्यन्त अनुकूल है।

गणदास—हमें भी स्वीकार है, यही होना चाहिए।

देवी—किन्तु यदि मन्द बुद्धिवाले छात्र अपने आचार्य की शिक्षा को दूषित रूप में प्रदर्शित करते हैं तो उसमें आचार्य का कोई दोष नहीं होता।

राजा—देवि! पण्डितों का कथन है कि आचार्यों द्वारा अयोग्य शिष्य का चुनाव भी उनकी बुद्धिहीनता का सूचक होता है।

देवी [अलग में] अब क्या किया जाय? [गणदास की ओर देखते हुए, प्रकट रूप में] आर्यपुत्र के इस उत्साहजनक मनोरथ का पूर्ण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस व्यर्थ के वितण्डावाद में मत पड़ो।

विदूषक—देवी ठीक कह रही हैं। देखो! संगीताचार्य का पद प्राप्त कर, सरस्वती देवी को चढ़ाए गए लड्डू खाकर पेट भरने वाले तुम जैसे लोगों को, मुख बंद करने वाले इस विवाद में पड़ने से क्या लाभ है?

गणदास—क्या सचमुच महारानी के इस कथन का यही तात्पर्य है? इस समय तो इस वर्तमान सन्दर्भ में मुझे यही कहना है। सुनिए।

जो उच्च प्रतिष्ठ शिक्षक अपनी पराजय होने के भय से शास्त्रीय विवाद से भागते हैं और दूसरों द्वारा की जाने वाली अपनी निन्दा को चुपचाप सहन कर लेते हैं, उनका शास्त्र-ज्ञान बनिए की दूकान में रखी हुई वस्तुओं की तरह केवल जीविका के लिए ही है, ऐसा कहते हैं॥१७॥

देवी—अइरोवणीदादे सिस्सा। अपरिणिट्ठिदस्स उवदेसस्स उण अण्णाय्य पआसण। (अचिरोपनीता शिष्या ते अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम्।)

गणदासः—अत एव मे निर्बंध।

देवी—तेण हि दुवेवि भअवदीए उवदेस दसेव। (तेन हि द्वावपि भगवत्यामुपदेशं दर्शयतम्।)

परिव्राजिका—देवी नैनन्याय्यम्। सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।

देवी—[जनान्तिकम्।] मूढे परिव्वाजिए म जाग्गतिपि सुत्त विअ करेसि। (मूढे परिव्राजिके मा जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि।) [इति सासूयं परावर्तते।]

[राजा देवीं परिव्राजिकायै दर्शयति।]

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥१८॥

विदूषक—ण सकारण एव्व। अत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो। [गणदासं विलोक्य।] दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परित्तादो भव। सुसिक्खिदो वि सव्वो उवदेसदसणेण णिण्हादो होदि। (ननु सकारणमेव। आत्मन पक्षो रक्षितव्यः। दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान्। सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति।)

---

देवी—आपकी शिष्या अभी नई नई है, उसकी शिक्षा भी अभी पूर्ण नहीं हुई है। अतः इस विवाद के अवसर पर उसकी कला का प्रदर्शन उचित नहीं है।

गणदास—इसीलिए तो मेरा और भी आग्रह है।

देवी—तो तुम दोनों आचार्य केवल भगवती कौशिकी को अपनी कला-शिक्षा का कौशल दिखलाओ।

परिव्राजिका—देवि! यह उचित नहीं होगा। कैसा भी सर्वज्ञ हो, यदि वह अकेले ही निर्णय देता है तो उसमें भी दोष रह ही जाता है।

देवी—[अलग से] अरी मूर्ख परिव्राजिका! मैं इन लोगों की यह सब चाल समझ रही हूँ, फिर तुम मुझे क्यों अनजान-सी बना रही हो। [चिढ कर मुँह फेर लेती हैं।]

[राजा परिव्राजिका का ध्यान देवी की ओर संकेत से आकृष्ट करता है।]

परिव्राजिका—हे चन्द्रमुखी! तुम अकारण ही महाराज से क्यों अप्रसन्न हो रही हो। अपने पति पर सब प्रकार की अधिकारिणी होकर भी कुलीन स्त्रियाँ किसी कारण से ही अपने पतियों पर कोप करती हैं, तुम्हारी तरह बिना किसी कारण के नहीं॥१८॥

विदूषक—अरे! कारण तो है ही। उन्हें अपना पक्ष सुरक्षित करना है। [गणदास की ओर देखकर] देवी ने अपने क्रोध के बहाने से भाग्यवश आपकी रक्षा कर ली। भली भांति शिक्षित होने पर भी गुरू की योग्यता का निर्णय उनके शिष्यों की निपुणता देखकर ही किया जा सकता है।

गणदास—देवि श्रूयताम्। एष जनो गृहणाति। तदिदानीम्।

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया॥१९॥

[इत्यासनादुत्थातुमिच्छति।]

देवी—[स्वगतम्] का गई। [प्रकाशम्।] पहुवदि आआरिओ सिस्सजणस्स (का गतिः। प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य।)

गणदास—चिरमपदेशशङ्कितोऽस्मि। [राजानमवलोक्य।] अनुज्ञात देव्या तदाज्ञापयतु देव कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोग दर्शयिष्यामि।

राजा—यथादिशति भगवती।

परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते तत शङ्कितास्मि।

देवी—भण वीसद्ध। पहवदि प्पहू अत्तणो परिअणस्स। (भण विस्रब्धम्। प्रभवति प्रभुरात्मन परिजनस्य।)

राजा—मम चेति ब्रूहि।

देवी—भअवदि भणेदाणीम्। (भगवति भणेदानीम्।)

परिव्राजिका—देव शर्मिष्ठाया कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थसंश्रयमुभयो प्रयोग पश्याम। तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम्।

---

गणदास—देवी सुनें। लोग इस तरह समझ रहे हैं। अत अब इस विवाद मे अपने शिष्यो के द्वारा मैं अपने गुणो को अवश्य प्रकट करना चाहूँगा कि मैंने अपनी विद्या को किस प्रकार अपने शिष्यो को सिखाई है। और यदि आप ऐसा करने की आज्ञा मुझे नही देती हैं तो मैं समझूंगा कि आपने मुझे त्याग दिया है। [अपने आसन से उठना चाहता है।]

देवी—[मन ही मन] अब क्या करूँ? [प्रकट रूप मे] आचार्य का अपने शिष्यो पर सब प्रकार का अधिकार है।

गणदास—बहुत देर से मैं यही डर रहा था कि कही देवी इन्कार न कर दें। [राजा की ओर देख कर] देवी ने आज्ञा दे दी है तो अब महाराज आज्ञा दें कि मैं आपको कौन-सा अभिनय करके दिखलाऊँ।

राजा—देवी जिसके लिए आज्ञा दें।

परिव्राजिका—देवी के मन में कोई विशेष बात है जिससे मैं डर रही हूँ।

देवी—आप नि सकोच कहें। राजा को अपने सेवको पर पूरा अधिकार है।

राजा—"और मेरे ऊपर भी अधिकार है" इतना और कहो।

देवी—भगवती! अब आप कहें।

परिव्राजिका—महाराज! लोग शर्मिष्ठा के चतुष्पदीयुक्त 'छलिक' नामक नाट्य को बहुत क्लिष्ट बतलाते हैं तो उसी विषय पर इन दोनो के अभिनय के प्रयोग देखे जायें। उतने ही से इन दोनों महानुभावो की सांसणिक योग्यता का अन्तर ज्ञात हो जायगा। (कि किसने अपने शिष्य को कैसा सिखलाया है।)

आचार्यौ—यदाज्ञापयति भगवती।

विदूषक—तेण हि दुवे वि वग्गा पेक्खाघरे सगीदरअण करिअ तत्तभवदो दूद पेसअह अहवा मुदङ्गसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि। (तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे सगीतरचना कृत्वा तत्रभवतो दूत प्रेषयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति।)

हरदत्त—तथा। [इत्युत्तिष्ठति।]

[गणदासो धारिणीमवलोकयति।]

देवी—[गणदास विलोक्य।] विजइ भोदु अज्जो। ण विजअब्भत्थिणी अह् अज्जस्स। (विजयी भवत्वार्य.। ननु विजयार्थयिन्यहमार्यस्य।)

[आचार्यौ प्रस्थितौ।]

परिव्राजिका—इतस्तावत्।

आचार्यौ—[परिवृत्य।] इमौ स्व।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययो पात्रयो प्रवेशोऽस्तु।

आचार्यौ—नेदमावयोरुपदेश्यम्। [इति निष्क्रान्तौ।]

देवी—[राजानमवलोक्य।] जइ राअकज्जेसु ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदो सोहण भवे। (यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभन भवेत्।)

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्।
प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः॥२०॥

---

दोनो आचार्य—भगवती की जो आज्ञा?

विदूषक—तो अब दोनो दल रगशाला मे अपने अपने साज सगीत को तैयार करके महाराज को सन्देश भिजवा दें अथवा आप लोगो के मृदग की ध्वनि ही हम लोगो को यहाँ से उठा देगी।

हरदत्त—बहुत अच्छा। [उठता है। गणदास धारिणी की ओर देखता है।]

देवी—[गणदास की ओर देखकर] आर्य की विजय हो। निश्चय ही मैं आर्य की विजय की अभिलाषिणी हूँ। ] दोनों आचार्य जाने को उद्यत होते हैं।]

परिव्राजिका—तनिक इधर सुनिए।

दोनो आचार्य—[वापस लौटकर] हम दोनों यह हैं।

परिव्राजिका—मैं निर्णय की अधिकारिणी की हैसियत से बोल रही हूँ कि पात्रों के सर्भ। अगों के हावभाव तथा उनकी सुन्दरता ठीक-ठीक प्रकट हो सके इसलिए आप लोग पात्रो को बिना वेश विन्यास के ही रखिएगा।

आचार्य—इसके लिए हम दोनों को बताने की आवश्यकता नही है। [दोनो जाते हैं।]

देवी—[राजा की ओर देखकर] यदि आर्यपुत्र अपने राज कार्यों मे भी इतनी निपुणता दिखाते तो सुन्दर होता।

राजा—हे मनस्विनी! आप कुछ भी अन्यथा न समझें। मैंने यह सब नहीं प्रस्तुत किया है। प्राय ऐसा होता ही है कि जो लोग समान विद्या वाले होते हैं वे एक दूसरे के यश को बढ़ता हुआ नहीं देखना चाहते॥२०॥

[नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः। सर्वे कर्णं ददति।]

परिव्राजिका—हन्त। प्रवृत्त सङ्गीतम्। तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि॥२१॥

राजा—देवि तस्या सामाजिका भवाम।

देवी—[स्वगतम्।] अहो अविणओ अज्जउत्तस्स। (अहो अविनय आर्यपुत्रस्य।)

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

विदूषकः—[अपवार्य] भो धीरं गच्छ। तत्तभोदी धारिणी विसं वाददस्सदि (भोः धीरं गच्छ। तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।)

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव॥२२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति प्रथमोऽङ्कः।

---

[नेपथ्य से मृदंग की ध्वनि होती है। सब लोग कान लगाते हैं।]

परिव्राजिका—हाँ, मृदंग बज उठा। देखो यह, मेघ गर्जन कर रहा है, इस भ्रम में मृदंग के शब्द को सुनकर मयूर अपने सिर को ऊपर उठाकर देख रहे हैं और मध्यम गंभीर स्वर से उठी हुई मायूरी नाम की मार्जना, हम लोगों के मन को मग्न बना रही है॥२१॥

राजा—तो अब हम लोग भी उसके सामाजिक (द्रष्टा और श्रोता) बनें।

देवी—[मन ही मन] अहो! यह आर्य पुत्र की कितनी धृष्टता है? [सब लोग उठते हैं।]

विदूषक—मित्र! तनिक धीरे-धीरे चलें। नहीं तो महारानी धारिणी सन्देह करके सब गड़बड़ कर देंगी।

राजा—मैं यद्यपि धैर्य धारण करके गंभीर बने रहना चाहता हूँ तथापि यह मुरज से निकला हुआ राग मुझे इस प्रकार शीघ्रता करने के लिए प्रेरित करता है मानो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकार कर कह रहा हो कि तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो गई है॥२२॥

[सब लोग जाते हैं।]

प्रथम अंक समाप्त।

# द्वितीयोऽङ्कः

[तत प्रविशति सगीतरचनाया कृतायामासनस्थो राजा सवयस्यो धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवार ।]

**राजा**—भगवत्यत्रभवतोराचार्ययो प्रथम कतरस्योपदेश द्रक्ष्याम ।

**परिव्राजिका**—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद् गणदास पुरस्कारमर्हति।

**राजा**—तेन हि मौद्गल्य एवमत्रभवतोरावेद्य नियोगमशून्य कुरु।

**कञ्चुकी**—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रान्तः।]

[प्रविश्य]

**गणदास**—देव शर्मिष्ठाया कृतिलयमध्या चतुष्पदास्ति। तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमना श्रोतुमर्हति देव।

**राजा**—आचार्य। बहुमानादवहितोऽस्मि।

[निष्क्रान्तो गणदास।]

---

## दूसरा अंक

[ तदनन्तर सगीतशाला म विदूषक के साथ राजा धारिणी, परिव्राजिका तथा अगल बगल मे खडे आवश्यक सेवक वग दिखाई पडते हैं।]

**राजा**—भगवती! इन दोनो आचार्यो मे से पहले किसका सिखाया हुआ अभिनय-प्रयोग देखना चाहिए।

**परिव्राजिका**—राजन्! यद्यपि दोनो की विद्या समान है तथापि वयोवृद्ध होने के नाते गणदास को पहले अवसर दिया जाना चाहिए।

**राजा**—मौद्गल्य! तो तुम जाकर दोनो आचार्यो को इसकी सूचना दे दो और अपना काम देखो।

**कचुकी**—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाता है।]

**गणदास**—[प्रवश करके] महाराज! शर्मिष्ठा की कृति मध्यम लय से युक्त जो चतुष्पदी है उसके आधार पर प्रस्तुत 'छलिक' अभिनय का प्रयोग श्रीमान् कृपया ध्यानपूवक सुनें।

**राजा**—आचार्य! मैं अतीव आदर के साथ उसे सुनने के लिए सावधान हूँ। [गणदास जाता है।]

राजा—[जनान्तिकम्।] वयस्य।

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥१॥

विदूषकः—[अपवार्य।] उवट्ठिदं णअणमहु सण्णिहिदमक्खिअं च। ता अप्पमत्तो दाणिं पेक्ख। (उपस्थितं नयनमधु संनिहितमाक्षिकं च। तदप्रमत्त इदानीं पश्य।)

[ततः प्रविशत्याचार्यवेक्ष्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका।]

विदूषकः—[जनान्तिकम्।] पेक्खदु ण क्खु से पडिच्छन्ददो परिहीअदि महुरदा। (पश्यतु भवान्। न खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात्परिहीयते मधुरता।)

राजा—[अपवार्य।] वयस्य।

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥२॥

गणदासः—वत्से मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव।

राजा—[आत्मगतम्।] अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य। तथाहि।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः॥३॥

---

राजा—[अलग से धीरे-धीरे] मित्र! इस परदे के पीछे जो मेरी प्यारी छिपी है, उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हमारी यह आँखें अपनी अधीरता के कारण पर्दे को फाड़ डालने के लिए उतावली हो रही हैं॥१॥

विदूषक—[अलग से] यह नेत्रों का मधु उपस्थित हो गया है, और मधुमक्खिका भी उपस्थित है। अतः अब सावधानी के साथ उसे देखो।

[तदनन्तर मालविका का प्रवेश होता है। उसके अंगों के हाव-भाव पर आचार्य की दृष्टि लगी है।]

विदूषक—[अलग से] आप देखें। इसके सौन्दर्य की माधुरी उस चित्र में कम नहीं है।

राजा—[अलग से, धीरे धीरे] मित्र! चित्र में इसके सौन्दर्य को देखकर मेरे मन में यह सन्देह था कि यह वास्तव में इतनी सुन्दरी न होगी। और इस समय उसे देखकर तो मैं यह मानता हूँ कि उस चित्रकार ने अच्छी तरह से ध्यान न लगा कर इसका चित्र बनाया था॥२॥

गणदास—बेटी! डरो मत और स्वस्थ हो जाओ।

राजा—[मन ही मन] अहा, इसके समस्त अंगों की सुन्दरता कितनी प्रशंसनीय है। क्योंकि इसकी बड़ी बड़ी आँखों से सुशोभित शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान मनोहर मुख, कंधों पर से थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरे हुए निविड़ उरोजों से जकड़ा वक्षस्थल, दोनों ओर सुन्दर चिकना पार्श्वभाग, मुट्ठी में आनेवाली कमर, विशाल एवं स्थूल जाँघें, टेढ़ी सश्लिष्ट उंगलियों वाले चरण—ये सब ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो नर्तक की रुचि को मन में रखकर ही विधाता ने इन सब अंगों का निर्माण किया हो॥३॥

मालविका—[उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।]

दुल्लहो पिओ मे तस्सि भव हिअअ णिरासं
अम्हो अपङ्गओ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम्॥४॥

(दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराश-
महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो
नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम्॥)

[ततो यथारसमभिनयति।]

विदूषकः—[जनान्तिकम्।] भो वअस्स। चउप्पवत्थुअं दुवारीकरिअ तुइ उवट्ठाविदो अप्पा तत्तहोदीए। (भो वयस्य। चतुष्पदवस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या।)

राजा—सखे एवमेव ममापि हृदयम्। अनया खलु।

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥५॥

[मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा।]

विदूषकः—भोदि चिट्ठ। किंवि वो विसुमरिदो कम्मभेदो। तं दाव पुच्छिस्सम्। (भवति तिष्ठ। किमपि वो विस्मृतः कर्मभेदः। तं तावत्प्रक्ष्यामि।)

---

मालविका—[आलाप भर कर यह चतुष्पद गीत गाती है।]

हे हृदय! प्रियतम दुर्लभ है, अतः तुम उनके मिलने की आशा छोड़ दो। किन्तु क्या कारण है जो मेरी बाईं आँख फड़क रही है। जिसे बहुत पहले देखा था, क्या उसे पुनः देख सकूँगी। हे नाथ, मैं पराए वश में हूँ, किन्तु तुम्हारे प्रति मेरा चित्त लगा हुआ है॥४॥

[गीत के अनन्तर उसके भावों के अनुसार नृत्य करती है।]

विदूषक—[अलग से] हे मित्र! इसने तो इस चतुष्पदी गीत के बहाने से अपनी आत्मा को तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर दिया है।

राजा—मित्र! मैं भी तो यही समझता हूँ। क्योंकि "हे नाथ मैं विवश हूँ किन्तु तुम्हारे प्रति मेरा चित्त लगा हुआ है।" इस आशय का गीत गाते हुए अपनी ओर इशारा करते हुए भी धारिणी के सामीप्य होने के कारण जब मेरी ओर से कुछ भी अनुराग नहीं देखा तब इस विनीत प्रार्थना द्वारा मुझे अपने मन का अभिप्राय तो प्रकट कर ही दिया है॥५॥

[मालविका गीत समाप्त करके बाहर जाने लगती है।]

विदूषक—कल्याणी! तनिक ठहरो, तुममें बीच में एक भूल हो गई है, मैं उसी के सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहता हूँ।

गणदासः—वत्से! क्षणमात्रं स्थीयताम्। उपदेशविशुद्धा यास्यसि।

[मालविका निवृत्य स्थिता।]

राजा—[आत्मगतम्] अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥६॥

देवी—ण गोदमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि। (ननु गौतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति।)

गणदासः—देवि मा मैवम्। दैवप्रत्ययात्सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य। पश्य।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः॥७॥

[विदूषकं विलोक्य।] तच्छृणुमो यद् विवक्षितमार्यस्य।

विदूषकः—[गणदासं विलोक्य।] कोसिइं दाव पुच्छ। पच्छा जो मए कम्मभेदो दिट्ठो तं भणिस्सं। (कौशिकीं तावत्पृच्छ। पश्चाद्यो मया कर्मभेदो दृष्टस्तं भणिष्यामि।)

गणदासः—भगवति यथादृष्टमभिधीयतां गुणो दोषो वेति।

---

गणदास—बेटी! क्षण भर के लिए रुक जाओ, तुम क्या भूली हो इसे समझ लो तब जाओ।

[मालविका वापस लौटकर खड़ी हो जाती है]

राजा—[अपने आप] अहा, यह तो सभी अवस्थाओं में इसकी सुन्दरता एक नया रूप धारण करती है। क्योंकि, इसने अपना बाँया हाथ अपने नितम्ब पर रख लिया है, इसलिए हाथ में पहना हुआ कंकण नीचे खिसक कर रुक गया है, श्यामा लता की शाखा के समान दाहिना हाथ ढीला होकर नीचे लटका हुआ है, नीचे की ओर आँखें किए हुए अपने चरण के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को हटा रही है। इस प्रकार खड़ी होने से इसके शरीर का आगे का अर्धभाग सरल-भाव में स्थित है और नाचने के समय से भी बढ़कर यह इस समय सुन्दर मालूम पड़ रही है॥६॥

देवी—आर्य! क्या आप भी गौतम की बात पर, सच मानकर विचार कर रहे हैं।

गणदास—देवी! ऐसा न कहें। महाराज के सम्पर्क में रहने से गौतम की आँखें भी सूक्ष्मदर्शिनी हो गई हैं। क्योंकि मूर्ख भी चतुर जनों के सम्पर्क में रहने से काफी चतुर बन जाता है। जैसे निर्मली के फलों से मटमैला जल भी स्वच्छ बन जाता है॥७॥

[विदूषक को देखकर] आर्य क्या कहना चाहते हैं, इसे हम भी तो सुनें।

विदूषक—[गणदास की ओर देखकर] पहले कौशिकी से पूछिए। तब उनके बाद मैंने जो त्रुटि देखी है, बतलाऊँगा।

गणदास—देवी! आपने इस प्रयोग में जो भी गुण या दोष जिस स्थान पर देखा हो, बताने की कृपा करें।

परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम्। कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥८॥

गणदास—देवः कथं वा मन्यते।

राजा—वयं स्वपक्षशिथिलाभिमाना संवृत्ताः।

गणदास—अद्य नर्तयितास्मि। कुतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥९॥

देवी—दिट्ठिआ अपरिक्खदाराहणेण अज्जो वड्ढइ। (दिष्ट्या परीक्षाराधनेनार्यो वर्धते।)

गणदास.—देवीपरिग्रह एव मे वृद्धिहेतुः। [विदूषकं विलोक्य] गौतम वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते।

विदूषक—पढमोवदेसदंसणे पढमं बम्हणस्स पूजा कादव्वा। सा ण वो विसुमरिदा।
(प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।)

---

परिव्राजिका—मैंने तो जो कुछ भी देखा, उसमें कहीं कोई दोष नहीं मिला। क्योंकि अंगो द्वारा गीतो का तात्पर्य इतनी सफाई से प्रकट किया गया कि मानों वे अंग ही बोल रहे हों। इसके चरण भी लय के साथ साथ चल रहे थे। सम्पूर्ण अभिनय में रस की तन्मयता यथापूर्व बनी रही। हाथों द्वारा प्रकट किया गया ताल अभिनय की कोमलता को बढ़ाने वाला था—इस प्रकार इसके नृत्य ने हमें भावों में ऐसा मग्न कर दिया था कि मन किसी अन्य विषय की ओर नहीं जा सकता था॥८॥

गणदास—और महाराज ने इसे कैसा माना है।

राजा—इसे देखकर हमें तो अपने पक्ष का अभिमान छोड़ देना पड़ा है।

गणदास—आज मैं सचमुच नृत्यकला का विशेषज्ञ बना, क्योंकि जिस प्रकार आग में डालने से भी सुवर्ण काला नहीं पड़ता उसी प्रकार आप लोगों के समान गुण-दोष के जानने वाले बुद्धिमान लोग अपने द्वारा ली गई परीक्षा में जो खरी उतरे उसी शिक्षा को निर्दोष मानते हैं॥९॥

देवी—सौभाग्यवश अपनी परीक्षा द्वारा इस सभा को प्रसन्न करने के उपलक्ष्य में आर्य को बधाई देती हूँ।

गणदास—देवी! आपका सहारा ही मेरी वृद्धि का कारण है। [विदूषक की ओर देखकर] गौतम जी! अब आपके मन में जो कुछ है, उसे कह डालिए।

विदूषक—अपने प्रथम प्रयोग की परीक्षा देने के पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए। उसे आप लोग भूल ही गए।

परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः।

[सर्वे प्रहसिताः। मालविका स्मितं करोति।]

राजा—[आत्मगतम्] उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः। यतः—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम्।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम्॥१०॥

गणदासः—महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्यामः।

विदूषकः—मए णाम मुक्खघणगज्जिदे अन्तरिक्खे जलपाणं इच्छिदा चादआइदम्। अहवा पण्डिदसन्तोसपच्चआ णं मूढा जादी। जदि अत्तहोदीए सोहणं भणिदं तदो इमं से पारितोसिअं पअच्छामि। (मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम्। अथवा पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः? यद्यत्रभवत्या शोभनं भणितं तत इदं ते पारितोषिकं प्रयच्छामि।)

[इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति।]

देवी—चिट्ठ दाव। गुणन्तरं अजाणन्तो किंणिमित्तं तुमं आहरणं देसि। (तिष्ठ तावत्। गुणान्तरमजानन्किंनिमित्तं त्वमाभरणं ददासि।)

विदूषकः—परकेरअं त्ति करिअ। (परकीयमिति कृत्वा।)

देवी—[आचार्यं विलोक्य] अज्ज गणदास णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा। (आर्य गणदास ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या।)

गणदासः—वत्से एहि गच्छावेदानीम्।

[सहाचार्येण निष्क्रान्ता मालविका।]

---

परिव्राजिका—अहा हा! कैसा सुन्दर अभिनय कला से सम्बन्धित प्रश्न किया है।

[सब लोग हँसते हैं। मालविका मुस्कराती है।]

राजा—[अपने आप] हमारी आँखों को तो जो देखना था, सो देख लिया। क्योंकि, आज इन आँखों ने इस मृगनयनी के थोड़े थोड़े दिखाई पड़ने वाले दाँतों की चमक से विभासित सुन्दर मुख को देख लिया है जो उन विकसित होने वाले कमल के समान मन्द मुस्कराहट से युक्त था, जिनके केसर अल्प मात्रा में दिखाई पड़ रहे हों॥१०॥

गणदास—अजी महाब्राह्मण! यह पहला प्रयोग प्रदर्शन नहीं है। नहीं तो आप जैसे दक्षिणा के पात्र ब्राह्मण की पूजा हम लोग क्यों भूल जाते?

विदूषक—तब तो फिर केवल गरजनेवाले आकाश के बादलों से जो जल की इच्छा करते हैं उन पपीहों की भाँति मेरी आशा व्यर्थ हो गई। अथवा मूर्खों की जाति पण्डितों के सन्तोष पर विश्वास करने वाली होती है। यदि भगवती कौशिकी ने तुम्हारे इस प्रयोग को सुन्दर कह दिया है तो लो मैं तुम्हें यह पारितोषिक प्रदान कर रहा हूँ।

[राजा के हाथ से उसका कंगन निकालने के लिए खींचता है।]

देवी—ठहरो। दूसरे आचार्य का प्रयोगाभिनय बिना देखे हुए तुम यह आभूषण क्या दे रहे हो?

विदूषक—दूसरे का है, इसलिए दे रहा हूँ।

देवी—[आचार्य की ओर देखकर] आर्य गणदास! आपकी शिष्या तो नाना अभिनय दिखा चुकी न?

गणदास—बेटी! आओ, अब हम लोग चलें। [आचार्य के साथ मालविका जाती है।]

विदूषकः—[जनान्तिकम्] एत्तिओ मे मदिविहवो भवन्त सेविदु। (एतावान्मे मतिविभवो भवन्तं सेवितुम्।)

राजा—अलमल परिच्छेदेन। अहं हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारविधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम्॥११॥

विदूषकः—[जनान्तिकम्] दलिद्दो विअ आदुरो वेज्जेण ओसद दीअमाण इच्छसि। (दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि।)

[प्रविश्य]

हरदत्तः—देव मदीयमिदानी प्रयोगमवलोकयितु क्रियतां प्रसादः।

राजा—[आत्मगतम्] अवसितो दर्शनार्थः। [दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम्।] ननु पर्युत्सुका एव वयम्।

हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि।

[नेपथ्ये]

वैतालिकः—जयतु जयतु देव। उपारूढो मध्याह्नः। तथा हि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।

---

विदूषक—[अलग से] आपकी इच्छा-पूर्ति करने के लिए मेरी बुद्धि की इतनी ही सामर्थ्य थी।

राजा—रहने दो अपनी बुद्धि की सामर्थ्य बतलाने को। मैं तो मालविका के इस प्रस्थान को अपने नेत्रों के सौभाग्य का अस्त होना मानता हूँ। हमारे हृदय का महोत्सव समाप्त हो गया और हमारे धैर्य का द्वार बन्द हो गया॥११॥

विदूषक—[अलग से] तो क्या दरिद्र रोगी की भांति वैद्य से दवा भी बिना मूल्य की चाहते हो?

हरदत्त—[प्रवेश करके] महाराज! अब हमें भी अपना प्रयोग दिखाने का अवसर प्रदान करने की कृपा करें।

राजा—[अपने आप] मुझे तो जो देखना था सो देख चुका। [उदारता दिखाने के लिए प्रकट में] हाँ, हम लोग तो उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हैं।

हरदत्त—मैं अनुगृहीत हुआ।

[नेपथ्य में]

वैतालिक—महाराज की जय हो, जय हो। मध्याह्न का समय हो गया। देखिए—बावली में हंस कमलों के पत्तों की छाया में आंखें मूंदकर बैठे हुए हैं, कपोत गण तपे हुए राजभवन की वलभी (छज्जे) पर नहीं जाना चाह रहे हैं। मयूरवृन्द भी पानी पीने

विन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥१२॥

विदूषकः—अविहा अविहा। अम्हाणं उण भोअणवेला उवट्ठिदा। अत्तभवदो उद्दवेलादिक्कमे चिइच्छआ दोसं उदाहरन्ति। [हरदत्तं विलोक्य] हरदत्त किं दाणिं भणसि (अविध अविध। अस्माकं पुनर्भोजनवेलोपस्थिता। अत्रभवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। हरदत्त किमिदानीं भणसि।)

हरदत्त—अस्ति वचनस्यावकाशोऽत्र?

राजा—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्वो वयं द्रक्ष्यामः। विरमतु भवान्।

हरदत्त—यदाज्ञापयति देवः। [इति निष्क्रान्तः।]

देवी—णिव्वट्टेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिम्। (निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम्।)

विदूषकः—भोदि विसेसेण पाणभोअणं तुवरावेहि। (भवति विशेषेण पानभोजनं त्वरय।)

परिव्राजिका—[उत्थाय] स्वस्ति भवते। [इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता।]

विदूषकः—भो वअस्स ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदीआ मालविआ। (भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।)

राजा—वयस्य।

अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥१३॥

---

के लिए चारों ओर घूमते हुए फौव्वारे के समीप चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सम्पूर्ण किरणों से साथ इसी प्रकार चमक रहे हैं जैसे आप अपने सम्पूर्ण राजसी गुणों से देदीप्यमान हैं ॥१२॥

विदूषक—अहा। सचमुच हमारे भोजन का समय हो गया। चिकित्सकों ने वेला का अतिक्रमण करके भोजन करने के लिए आपको भी निषेध किया है। हरदत्त! अब तुम क्या कह रहे हो।

हरदत्त—अब दूसरी बात के कहने का अवसर ही कहाँ रह गया?

राजा—अच्छा तो अब तुम्हारे प्रयोग का प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे। आप जाकर विश्राम करें।

हरदत्त—महाराज की जैसी आज्ञा। [चला जाता है]

देवी—आर्यपुत्र! अब चलकर स्नानादि से निवृत्त हों।

विदूषक—देवी! अब आप खाने-पीने का कुछ विशेष प्रबन्ध शीघ्र ही करें।

परिव्राजिका—[उठकर] आपका कल्याण हो। [सेवकों तथा देवी के साथ जाती है।]

विदूषक—हे मित्र! मालविका केवल सौन्दर्य में ही नहीं संगीत शिल्प में भी अद्वितीय है।

राजा—मित्र! स्वभाव से ही सुन्दर इस मालविका को विधाता ने ललित कला का ज्ञान देकर मेरे लिए कन्दर्प के बाण का विष में बुझा दिया है॥१३॥

किं बहुना। मसे चिन्तयितव्योऽस्मि।

**विदूषकः**—भवदा वि अह। दिट्ठ विपणिकन्दू विअ मे उअरब्भन्तरं दज्झइ। (भवताप्यहम्। दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।)

**राजा**—एवमेव भवान्सुहृदर्थेऽपि त्वरताम्।

**विदूषकः**—गहीदक्खिणोम्हि। किं तु मेहावलीणिरुद्धा जोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणापरिसरचरो विअ विअगिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओ अ। (गृहीतदक्षिणोऽस्मि। किं तु मेघावलीनिरुद्धा ज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना तत्रभवती मालविका। भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुश्च। अत्यन्तातुर इव कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचसे।)

**राजा**—कथमनातुरो भविष्यामि।

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥१४॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

---

अधिक क्या कहूँ? हे मित्र! मेरी दशा को तुम स्वयं सोच सकते हो?

**विदूषक**—आपको भी मेरी दशा की चिन्ता करनी चाहिए। क्योंकि भूख के कारण बाजार की भट्ठी के समान मेरा पेट जल रहा है।

**राजा**—तुम भी अब अपने मित्र के कार्य के लिए इसी प्रकार शीघ्रता करो।

**विदूषक**—वाह, इसका तो मैंने बयाना ही ले लिया है। किन्तु मेघों की घटा में छिपी हुई चाँदनी के समान मालविका का दर्शन भी तो दूसरों के वश में है। और इधर आप भी पशुवध-स्थान के मांसलोलुप गिद्ध की तरह ललचाते हुए भी डरते रहते हैं। फिर भी अत्यन्त आतुर होकर जो आप मुझसे इतना गिड़गिड़ाकर अपने कार्य की सफलता में सहायता की प्रार्थना कर रहे हैं, वह मुझे अच्छा मालूम पड़ता है।

**राजा**—मित्र! बताओ, भला मैं कैसे इतना आतुर न होऊँ। अन्तःपुर की सभी सुन्दरियों के हावभाव से मेरा हृदय फिर गया है, अब तो वह मृगनयनी मालविका ही मेरे प्रेम की एकमात्र आधार रह गई है॥१४॥ [सब लोग जाते हैं।]

द्वितीय अंक समाप्त।

# तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति परिव्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका।]

समाहितिका—आणत्तम्हि भअवदिए—देवस्स उवाअणत्थं बीअऊरअं गेण्हिअ आअच्छत्ति। ता जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि। [परिक्रम्यावलोक्य] एसा तवणीआसोअं ओलोअन्ती महुअरिआ चिट्ठदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (आज्ञप्तास्मि भगवत्या—समाहितिके देवस्योपायनस्य बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति। तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि। एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तिष्ठति। तद्यावदेनामुपसर्पामि।)

[ततः प्रविशत्युद्यानपालिका।]

समाहितिका—[उपसृत्य] महुअरिए ! अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो। (मधुकरिके ! अपि सुखस्त उद्यानव्यापारः।)

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ। सहि साअदं दे। (अहो समाहितिका। सखि स्वागतं ते।)

समाहितिका—हला भअवदी आणवेदि। अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी देक्खदव्वा। ता बीअपूरएण सुस्सूसिदुं इच्छामित्ति।(सखि भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।)

---

## तृतीय अंक

[तदनन्तर परिव्राजिका कौशिकी की दासी समाहितिका का प्रवेश होता है।]

समाहितिका—देवी कौशिकी ने मुझे आज्ञा दी है कि—समाहितिका ! जाओ, महाराज के उद्यान में एक बिजौरा नीबू लेकर आओ। मैं चलकर इस प्रमदवन की मालिन मधुकरिका का पता लगाऊँ। [घूमकर तथा देखकर] अरे यह मधुकरिका सुनहरे रंग के अशोक को देखती हुई खड़ी है। तो चलूँ फिर इस के समीप चलूँ।

[तदनन्तर मधुकरिका मालिन आती है।]

समाहितिका—[समीप जाकर] मधुकरिका तुम्हारा सब काम तो ठीक ढंग से चल रहा है न ?

मधुकरिका—अरे समाहितिका ! सखी आओ, तुम्हारा स्वागत है।

समाहितिका—सखी ! देवी कौशिकी ने आज्ञा दी है कि—हम लोगों को रिक्तहस्त होकर महारानी का दर्शन नहीं करना चाहिए। अतः एक बिजौरा नीबू का उपहार मैं उन्हें देना चाहती हूँ।

**मधुकरिका**—ण सण्णिहिदं बीजपूरअं। कहेहि दाव अण्णोण्णसंघरिसिदाणं णट्टाअरिआणं उवदेसं देक्खिअ कदरो भअवदीए पसंसिदो। (ननु सन्निहितं बीजपूरकम्। कथय तावदन्योन्यसंघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेशं दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशंसितः।)

**समाहितिका**—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ। किंतु सिस्साए मालविआए गुणविसेसेण गणदासस्स उवदेसो पसंसिदो। (द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च। किंतु शिष्याया मालविकाया गुणविशेषेण गणदासस्योपदेशः प्रशंसितः।)

**मधुकरिका**—अह मालविआगदं कोलीणं कीरिसं सुणीअदि। (अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते।)

**समाहितिका**—बाढं किल तस्सिं साहिलासो भट्टा। किंतु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्तो अत्तणो पहुत्तणं ण दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाणा लक्खीअदि। अदो अवरं ण जाणे। विसज्जेहि मं। (बाढं किल तस्याः साभिलाषो भर्ता। किन्तु केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं न दर्शयति। मालविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लाना लक्ष्यते। अतः परं न जाने। विसृज माम्।)

**मधुकरिका**—एदं साहावलम्बिदं बीअपूरअं गेण्ह। (एतच्छाखावलम्बितं बीजपूरकं गृहाण।)

**समाहितिका**—तह। [इति नाट्येन बीजपूरकं गृहीत्वा] हला तुमं वि अदो पेसलदरं साहुजणसुस्सूसाए फलं पावेहि। (तथा। सखि त्वमप्यतः पेशलतरं साधुजनशुश्रूषायाः फलं प्राप्नुहि।) [इति प्रस्थिता।]

---

**मधुकरिका**—लो। बिजौरा नीबू तो यह पास में ही है। हाँ, यह तो बताओ कि उस दिन जो दोनों नाट्याचार्यों में एक-दूसरे से विवाद उपस्थित हो गया था सो उनमें से किसके प्रयोग के अभिनय को देखकर देवी ने प्रशंसा की है?

**समाहितिका**—वे दोनों ही अपने शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित तथा अभिनय-कला में प्रवीण हैं। किन्तु अपनी शिष्या मालविका की गुणगरिमा के कारण आचार्य गणदास के प्रयोग की प्रशंसा हुई है।

**मधुकरिका**—अरे! मालविका के सम्बन्ध में आजकल जो कानाफूसी चल रही है, वह कैसी है?

**समाहितिका**—हाँ, महाराज तो उसे अत्यधिक चाहते हैं, किन्तु केवल देवी धारिणी का मन रखने के लिए वे अपने प्रभाव का उपयोग नहीं कर रहे हैं और इधर मालविका भी पहनकर उतारी गई मालती की माला की भाँति मलिन दिखाई पड़ रही है। इसके बाद का प्रसंग तो मैं नहीं जानती। मुझे जाने दो।

**मधुकरिका**—यह डाली में बिजौरा नीबू लटका हुआ है तुम तोड़ लो।

**समाहितिका**—अच्छा! [नीबू तोड़ने का नाट्य करती हुई] सखी! इस साधुजनों की सेवा करने का तुम्हें भी इससे अच्छा फल मिले। [जाती है]

मधुकरिका—हला सम जेव्व गच्छम्ह। अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवीए णिवेदेमि। (सखि सममेव गच्छावः। अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि।)

समाहितिका—जुज्जइ। अहिआरो क्खु तुह। (युज्यते। अधिकारः खलु तव।)

[इति निष्क्रान्ते]

॥ इति प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च।]

राजा—[आत्मानं विलोक्य।]

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥१॥

विदूषक—अलं भवदो धीरदं उज्झिअ परिदेविदेण। दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही बउलावलिआ। सुणाविदा अ अत्थ जो भवदा संदिट्ठो (अलं भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन। दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकाया प्रियसखी बकुलावलिका। श्राविता चार्थं यो भवता संदिष्टः।)

राजा—ततः किमुक्तवती।

---

मधुकरिका—सखी! हम दोनों साथ ही चलेंगी। मैं भी महारानी से निवेदन करूँगी कि यह सुनहरा अशोक का वृक्ष अभी तक फूल नहीं रहा है, देरी कर रहा है, अतः इसके फूलने का कोई उपाय करना चाहिए।

समाहितिका—ठीक है। यह कहने का तो तुम्हें अधिकार है। [दोनों जाती हैं]

।प्रवेशक समाप्त।

[तदनन्तर कामपीड़ित राजा विदूषक के साथ प्रवेश करता है।]

राजा—[अपने को देखकर] उस प्रेयसी के आलिंगन के सुख के अभाव में हमारे शरीर का दुर्बल होना ठीक है, क्षण भर के लिए भी जो वह दिखाई नहीं पड़ती है तो इसके कारण आँखों से आँसुओं का बहना भी ठीक है। किन्तु मेरे हृदय! तुम तो कभी भी उस मृगनयनी प्रिया से नहीं बिछुड़ते, तुम्हारे लिए तो परम सुख का साधन सदैव उपस्थित ही रहता है तब फिर तुम इतना परिताप क्यों करते हो॥१॥

विदूषक—आप अपनी धीरता छोड़कर इस प्रकार रुदन न करें। आज सौभाग्यवश मुझे मालविका की प्रिय सखी बकुलावलिका मिल गई थी उसे मैंने आपका संदेश सुना दिया था।

राजा—तब उसने क्या कहा?

विदूषक—विण्णावेहि भट्टारअम्। अणुगहीदम्हि इमिणा णिओएण। किंदु सा तवस्सिणी देवीए अहिअं रक्खन्तीए णाअरक्खिदो विअ णिही ण सुहं समासादइतव्वा तहवि जइस्सं। (विज्ञापय भट्टारकम्। अनुगृहीतास्म्यनेन नियोगेन। किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या। तथापि यतिष्ये।)

राजा—भगवन् मकरध्वज! प्रतिबन्धवत्स्वपि विषयेष्वभिनिवेश्य किं तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं न कालान्तरक्षमो भवति। [सविस्मयम्।]

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि॥२॥

विदूषक—ण भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवक्खेओ। ता पज्जवत्थावेदु भवं अप्पाणं। (ननु भणामि तस्मिन्साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः। तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम्।)

राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि।

विदूषक—अज्ज एव्व पढमावदारसुहआणि रत्तकुरबआणि उवाअणं पेसिअ णववसन्तावदारव्ववदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो भवं—इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहविदुं त्ति। भवदा वि से पडिण्णादं। ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह। (अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छाव।)

---

विदूषक—उससे कहा—आप महाराज को सूचित कर दें कि मैं उनके इस आदेश से अनुगृहीत हुई। किन्तु महारानी धारिणी उसकी इतनी अधिक रखवाली करती हैं कि सर्प से रक्षित खजाने की भाँति वह सुखपूर्वक नहीं मिल सकती। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगी।

राजा—भगवान् कामदेव! इस प्रकार पग-पग पर विघ्न-बाधाओं से भरे विषय में ऐसा प्रगाढ अनुराग उत्पन्न करके तुम क्यों ऐसा प्रहार कर रहे हो जिससे अधिक दिनों तक इस जन का जीवन भी कठिन बन गया है। (विस्मय के साथ) कहाँ तो हृदय को मथनेवाली यह दुराराध्य व्याधि और कहाँ तुम्हारे यह विश्वसनीय कुसुममय अस्त्र? हे कामदेव! लोग जो यह कहा करते हैं कि जो जितना ही कोमल होता है वह उतना ही कठोर होता है—यह तुम्हीं में मैं चरितार्थ देख रहा हूँ॥२॥

विदूषक—मैं तो आपसे कह रहा हूँ कि मैंने आपके इस कार्य को पूरा करने का उपयोगी उपाय कर लिया है। इसलिए आप अपने मन में धैर्य रखें।

राजा—अच्छा, अब इस दिन का अधिकांश समय बीत जाने के बाद जो मेरा मन सभी कार्यों से विमुख होकर उदास हो रहा है तो शेष दिन को कहाँ जाकर बिताऊँ?

विदूषक—आज ही सर्वप्रथम पुष्पित नवीन कुरबक के पुष्पों को भेजकर नववसन्तागमन की सूचना देने के बहाने से रानी इरावती ने अपनी दासी निपुणिका द्वारा यह सन्देश कहला भेजा है कि—'मैं आर्यपुत्र के साथ झूला झूलने का आनन्द लेना चाहती हूँ।' और आपने भी उसके अनुरोध को स्वीकार कर लिया है इसलिए उधर प्रमदवन की ओर चलिए न?

राजा—न क्षममिदम्।

विदूषकः—कह विअ। (कथमिव।)

राजा—वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। वयमन्यमकान्तहृदयमुपलाल्यमानमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति। अतः पश्यामि।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः॥३॥

विदूषकः—णारिहदि भवं अन्तेउरट्ठिदं दक्खिण्णं एक्कपदे पिट्ठदो कादुम्। (नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।)

राजा—[विचिन्त्य।] तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवं। (इत इतो भवान्।)

[उभौ परिक्रामतः।]

विदूषकः—ण एदं पमदवणं पवणचलचलाहिं पल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ भवन्तं पवेसिदुं। (नन्वेतत्प्रमदवनं पवनचलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम्।)

राजा—[स्पर्शं रूपयित्वा] अभिजातः खलु वसन्तः। सखे पश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।

---

राजा—यह ठीक नहीं है।

विदूषक—यह क्यों?

राजा—मित्र! स्त्रियाँ स्वभाव से ही चतुर होती हैं। दूसरी स्त्री में ऊपर आसक्त मेरे हृदय को बाहरी अनुराग प्रदर्शित करने पर भी क्या तुम्हारी वह सखी ताड़ नहीं लेगी। देखो—

प्रणय का परित्याग कर देना अच्छा है, क्योंकि उसके अनेकानेक कारण हो सकते हैं। किन्तु चतुर स्त्रियों के समीप पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करने पर भी अनुराग-विहीन व्यवहार करना उचित नहीं है॥३॥

विदूषक—किन्तु इस प्रकार अन्तःपुर की रानियों के प्रेम का एकाएक अनादर कर देना भी आपके लिए उचित नहीं है।

राजा—[कुछ विचार करके] अच्छा, तब फिर प्रमदवन का मार्ग दिखाओ।

विदूषक—आप इधर से आएँ, इधर से। [दोनों चलते हैं।]

विदूषक—लीजिए यह रहा प्रमदवन, जो वायु के बहने से चञ्चल अपनी पल्लवरूपी अंगुलियों से मानो प्रवेश में शीघ्रता करने के लिए कह रहा है।

राजा—[वायु के स्पर्श का अनुभव करते हुए] अहा, सब प्रकार से ऋतुराज वसन्त का प्रादुर्भाव हो गया। मित्र देखो—उन्मत्त कोकिलों के श्रवण सुखदायी मधुर कूक से मानों मेरे ऊपर सहानुभूति का भाव रखकर यह वसन्त मुझसे पूछ रहा है कि—'कामदेव की

अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥४॥

विदूषकः—पविस णिव्वुदिलाहाअ। (प्रविश निर्वृतिलाभाय।)

[उभौ प्रविशतः]

विदूषकः—अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं क्खु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवदीवेसलज्जावइत्तिअं वसन्तकुसुमणेवत्थं गहीदं (अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तमिव विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जापयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।)

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरबकं श्यामावदातारुणम्।
आक्रान्ता तिलकक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥५॥

[उभौ नाट्येनोद्यानशोभा निर्वर्णयतः।]
[ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका।]

मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारअं अहिलसन्दी अप्पणो वि दाव लज्जेमि। कुदो विहवो सिणिद्धस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्तं आचक्खिदुं। ण जाणे अप्पडिआरगरुअं वेअण

---

पीड़ा तो नहीं जा रही है न ?' आम की मंजरी की सुगन्धि से सिक्त यह दक्षिण पवन मेरे शरीर में ऐसा मधुर स्पर्श कर रहा है मानो मुझे धैर्य दिलाने के लिए यह वसन्त ही बड़े प्यार से अपनी कोमल हथेली फेर रहा है ॥४॥

विदूषक—चित्त की शान्ति के लिए इस प्रमदवन में प्रवेश करें। [दोनों जाते हैं।]

विदूषक—तनिक सावधानी से देखें। यह प्रमदवन की शोभा भी आपको लुभाने के लिए, युवती स्त्रियों के साज शृंगार को भी लज्जित करनेवाले वसन्ती फूलों से सज-धजकर उपस्थित है।

राजा—अरे! मैं तो चकित होकर इस प्रमदवन को देख रहा हूँ।

इस लाल अशोक के पुष्पों की सुन्दरता ने सुन्दरी रमणियों के बिम्ब सदृश अधरों पर लगाए आलते की लालिमा को लज्जित कर दिया है, काले, उजले और लाल रंगों के इन कुरबक पुष्पों ने स्त्रियों के मुखों पर की गई चित्रकारी को फीका कर दिया है। काले भ्रमरों से लिपटे हुए तिलक के पुष्पों ने स्त्रियों के मस्तकों पर लगाए तिलक को नीचा दिखा दिया है। ऐसा मालूम पड़ रहा है कि यह वसन्त की शोभा सुन्दरी रमणियों के मुखों के शृंगार प्रसाधनों का अपमान कर रही है ॥५॥

[दोनों उस प्रमदवन की शोभा को देखने का अभिनय करते हैं।]

[विरहातुर मालविका आती है।]

मालविका—महाराज के हृदय का मुझे ज्ञान नहीं है किन्तु फिर भी इन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा करने में अपने आप लज्जा का अनुभव कर रही हूँ। अपनी प्यारी सखी

केत्तिअं कालं मअणो म णइस्सदि त्ति। [इति स्मृतिमभिनीय] आदिट्ठम्हि देवीए—मालविए गोदमचापलादो दोलापरिब्भट्टाए सरुजो मह चलणो। तुमं दाव गदुअ तवणीआसोअस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति। जइ सो पञ्चरत्तब्भन्तरे कुसुमं दंसेदि तदा अहं अहिलासपूरइत्तअं पसादं दावइस्सं त्ति। ता जाव णिओअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह चलणालङ्कारहत्थाए बउलावलिआए आअन्दव्वं ताव वीसद्धं मुहुत्तअं। (अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्मनाऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम्। न जानेऽप्रतिकारगुरुका वेदना कियन्तं कालं मदनो मा नेष्यतीति। आः कुत्र खलु प्रस्थितास्मि। आदिष्टास्मि देव्या—मालविके गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टायाः सरुजो मम चरणो। त्वं तावद्गत्वा तपनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्तयेति। यद्यसौ पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति ततोऽहमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दापयिष्यामीति। तद्यावन्नियोगभूमिं प्रथमं गता भवामि तावदनुपदं मम चरणालङ्कारहस्तया बकुलावलिकयाऽऽगन्तव्यम्। तत्परिदेवयिष्ये तावद्विस्रब्धं मुहूर्तकम्।)

[इति परिक्रामति।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा] ही ही। वअस्स एदं क्खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छण्डिआ उपणदा।

(आश्चर्यमाश्चर्यम्। वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।)

राजा—अये किमेतत्।

विदूषकः—एसा णादिपरिक्खिदवेसा ऊसुअवअणा एआइणी मालविआ अदूरे वट्टदि। (एषा नातिपरिष्कृतवेषोत्सुकवदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वर्तते।)

---

से मैं अपने इस वृत्तान्त को कहूँ—इतनी सामर्थ्य मेरी नहीं है। मैं नहीं जानती ऐसी प्रेम-वेदना में मुझे कामदेव कितने समय तक सताता रहेगा, जिसके प्रतीकार की कोई औषध नहीं है। [दो चार पग चलकर] अरे! मैं किस काम के लिए कहाँ जा रही थी! [स्मरण करने का नाट्य करती हुई] हाँ, स्मरण आ गया। देवी ने मुझे आदेश दिया है कि—मालविका! गौतम की चंचलता के कारण मैं झूले पर से नीचे गिर पड़ी थी, और मेरे दोनों चरणों में चोट लग गई है, इसलिए तुम जाकर उस सुनहरे अशोक के फूल का दोहदकर्म सम्पन्न कर आओ। यदि पाँच रात के भीतर उसमें फूल निकल आयें तो मैं तुम्हें तुम्हारा मनचाहा पुरस्कार दूँगी। मैं जब तक उस सुनहरे अशोक के समीप पहुँचूँगी तब तक मेरे पीछे पीछे बकुलावलिका भी चरणालङ्कार लेकर वहाँ पहुँच जायगी। जब तक वह नहीं आ रही होगी तब तक मैं अकेले जी भरकर रुदन तो कर लूँगी। [चलती है।]

विदूषक—[उसे देखकर] हा, हा, आश्चर्य है, आश्चर्य है! मित्र! यह तो मदिरा पीकर मतवाले बने मनुष्य को और भी मतवाला बना देने के लिए मिश्री की डली सम्मुख आ गई है।

राजा—अरे! वह कौन सी वस्तु है?

विदूषक—अरे! वह क्या थोड़ी ही दूर पर, अत्यन्त भड़कीली नहीं किन्तु सादी वेशभूषा में अपना उदास चेहरा लिये हुए मालविका अकेली ही विद्यमान है।

राजा—[सहर्षम्] कथं मालविका।

विदूषक—अह इं (अथ किम।)

राजा—शक्यमिदानीं जीवितमवलम्बयितुम।

त्वदुपलभ्य समीपगता प्रिया हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृता पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात् ॥६॥

अथ क्व तत्र भवती।

विदूषक—एसा तरुराइमज्झादो णिक्कन्ता इदो ज्जेव्व परिवट्टन्ती दीसइ। (एसा तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना दृश्यते।)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] वयस्य पश्याम्येनाम।

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥७॥

सखे! पूर्वस्मादतिमनोहरावस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती। तथा हि—

शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥८॥

विदूषक—एसा वि भवं विअ मअणवाहिणा परिमिट्टा भविस्सदि। (एषापि भवानिव मदनव्याधिना परिमृष्टा भविष्यति।)

राजा—सौहार्दमेव पश्यति।

---

राजा—[सहर्ष] अरे! क्या सचमुच मालविका है?

विदूषक—और क्या?

राजा—अब मैं अपना जीवन धारण कर सकूंगा। क्योंकि जिस प्रकार से सारस पक्षियों के कलरव को सुनकर वृक्षों के झुरमुट में छिपी हुई नदी की धारा का जानकर कोई प्यासा पथिक प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा प्रिया का समीपवर्ती होना सुनकर मेरा व्याकुल हृदय उत्कण्ठित हो गया है॥६॥ हां तो वह है कहां?

विदूषक—यह क्या वृक्षों के पंक्तियों के बीच में होकर वह इसी ओर आता हुई दिखाई पड रही है।

राजा—[देखकर सहर्ष] मित्र! मैं उसे देख रहा हूँ। स्थूल नितम्ब कृश कटिभाग दोनों उन्नत उरोज तथा अतीव विशाल नेत्रों से युक्त—यह तो मेरा जीवन ही इसी ओर चला आ रहा है॥७॥

सखे! अब तो यह पहले की अपेक्षा अधिक रमणीय एक दूसरी ही अवस्था को प्राप्त हो गई है। क्योंकि इसका कपोल सरकण्डे के समान पाण्डुवर्ण का हो गया है शरीर पर बहुत गिने चुने आभूषण हैं और ऐसा मालूम पड रहा है जैसे वसन्त ऋतु में पके हुए पत्तों के साथ गिने चुने पुष्पों से युक्त कुन्द की लता हो॥८॥

विदूषक—यह भी तो आपकी ही तरह उसी कामव्याधि से पीड़ित होगी।

राजा—प्रेम इसी प्रकार देखता है।

मालविका—अह सो ललिदसुउमालदोहलापेक्खी अगिहीदकुसुमणेवत्थो उक्कण्ठिदाए मह अणुकरेदि असोओ। जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्ण अप्पाणं विणोदेमि। (अय स ललितसुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममाऽनुकरोत्यशोकः। यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णात्मानं विनोदयामि।)

विदूषक—सुदं भवदा उक्कण्ठिदम्हि त्ति तत्तहोदी मन्तेदि। (श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्त्रयते।)

राजा—नैतावता भवन्त प्रसन्नतर्कं मन्ये। कुत —

वोढा कुरबककरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगत.।
अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवात ॥९॥

[मालविकोपविष्टा]

राजा—सखे इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवाव।

विदूषक—इरावदिं विअ अदूरे पेक्खामि। (इरावतीमिवादूरे प्रेक्षे।)

राजा—नहि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गज। [इति विलोकयन्स्थित.।]

मालविका—हिअअ णिरवलम्बणादो अदिभूमिलङ्घिणो दे मणोरहादो विरम। किं मं आआसेसि। (हृदय निरवलम्बनादतिभूमिलङ्घिनो मनोरथाद्विरम। किं मामायासय।)

[विदूषको राजानं पश्यते।]

---

मालविका—मनोरम एव कामल दोहद की अपने मनोरथ की पूर्ति की प्रतीक्षा करनेवाला पुष्पों की सजावट से सूना यह अशोक वृक्ष मेरी ही तरह अधीर हो रहा है। तो चलूं जब तक इसी की सुशीतल स्निग्ध छाया में बैठकर अपने मन को बहलाऊं।

विदूषक—कुछ सुना आपने जो वह भी कह रही है कि 'मैं उत्कण्ठित हूँ।'

राजा—केवल इतने से ही मैं तुम्हारे अनुमान को सच नहीं मान सकता। क्योंकि कुरवक पुष्पों के पराग से बसा हुआ तथा किसलयों के पुटों को खोलकर उनके जलकणों से युक्त यह मलयपवन बिना किसी कारण के भी हृदय को उत्कण्ठित कर देता है॥९॥

[मालविका बैठ जाती है।]

राजा—मित्र! हम दोनों इधर लताकुंज में तनिक छिप जायें।

विदूषक—मैं थोड़ी ही दूर पर इरावती के समान किसी को आती हुई देख रहा हूँ।

राजा—गजराज जब कमलिनी को देख लेता है तो जल में छिपे हुए मगर से नहीं डरा करता। [देखते हुए खड़ा हो जाता है।]

मालविका—हे मेरे हृदय! तुम ऐसे मनोरथ को छोड़ दो जिस पर कोई अपना वश नहीं है और न जहाँ तक अपनी कोई पहुँच ही हो सकती है। तुम मुझे क्यों परेशान कर रहे हो।

[विदूषक राजा की ओर देखता है।]

राजा—प्रिये पश्य वामत्वं स्नेहस्य।

औत्सुक्यहेतुं विवृणोषि न त्वं तत्त्वावबोधैकफलो न तर्कः।
तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम् ॥१०॥

विदूषकः—संपद भवदो णिस्ससअं भविस्सदि। एसा अप्पिदमअणसंदेसा विवित्ते ण बउलावलिआ उवट्ठिदा। (सांप्रतं भवतो निःसंशयं भविष्यति। एषार्पितमदनसंदेशा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता।)

राजा—अपि स्मरेदस्मदभ्यर्थनाम्।

विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए दुहिदा तुह गरुअं संदेसं विसुमरेदि। अहं दाव ण विसुमरेमि। (किमिदानीमेषा दास्या दुहिता तव गुरुकं संदेशं विस्मरति। अहं तावन्न विस्मरामि।)

[प्रविश्य चरणालङ्कारहस्ता बकुलावलिका।]

बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए। (अपि सुखं सख्याः।)

मालविका—अम्हो बउलावलिआ उवट्ठिदा। सहि साअदं दे। उवविस। (अहो बकुलावलिकोपस्थिता। सखि स्वागतं ते। उपविश।)

बकुलावलिका—[उपविश्य] हला तुमं दाणिं जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि जाव सालत्तअं सणूउरं अ करेमि। (सखि त्वमिदानीं योग्यतया नियुक्ता। तस्मादेकं ते चरणमुपनय यावत्सालक्तकं सनूपुरं च करोमि।)

---

राजा—प्रिये! देखो स्नेह की कैसी उलटी चाल है। हे रम्भोरु! यद्यपि अभी तक तुम अपनी उत्कण्ठा का कारण नहीं प्रकट कर रही हो और न अनुमान से ही ठीक ठीक पता लग पा रहा है तथापि मैं तो तुम्हारे इस रोने धोने का लक्ष्य अपने को ही समझ रहा हूँ। ॥१०॥

विदूषक—अब तो आपका सन्देह दूर हो ही जायगा। यह जो बकुलावलिका को हम लोगों ने काम सन्देश दिया था, वह इस एकान्त स्थान में आकर उपस्थित हो गई है।

राजा—क्या उसे मेरा उक्त सन्देश स्मरण होगा।

विदूषक—क्या अब यह दासी की छोकरी भी तुम्हारे महत्त्वपूर्ण सन्देश को भूल जायगी जब कि मैं नहीं भूल सका हूँ।

[चरणों का अलंकार अपने हाथों में लेकर बकुलावलिका का प्रवेश होता है।]

बकुलावलिका—कहो सखी! सुख से तो हो न?

मालविका—अहा बकुलावलिका आ गई। सखी! तुम्हारा स्वागत है। आओ, बैठो।

बकुलावलिका—[बैठकर] सखी! तुम्हें इस कार्य के लिए सम्प्रति उपयुक्त समझकर नियुक्त किया गया है। तो लाओ, अपना एक चरण इधर करो, जिससे उसे रँगकर नूपुर पहना दूँ।

मालविका—[आत्मगतम्] हिअअ अत्र सुहिदाए उवट्ठिदो अअं विहवो। कहं दाणिं अत्ताणं मोचेइस्सं। अहवा एदं एव्व मे मिच्चुमण्डणं भविस्सदि। (हृदय अलं सुखितया उपस्थितोऽयं विभवः। कथं वेदानीमात्मानं मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।)

बकुलावलिका—किं विआरेसि। उस्सुआ क्खु इमस्स तवणीआसोअस्स कुसुमोग्गमे देवी। (किं विचारयसि। उत्सुका खल्वस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।)

राजा—वयमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः।

विदूषकः—किं ण क्खु जाणासि तुमं। मह कारणादो देवी मं अन्तेउरणेवच्छेण योजइस्सदि त्ति। (किं नु खलु जानासि त्वम्। मम कारणाद्देवीमामन्तःपुरनेपथ्येन योजयिष्यतीति।)

मालविका—हला मरिसेहि दाव णं। (सखि मर्षय तावदेनम्।) [इति पादमुपहरति।]

बकुलावलिका—अइ सरीरं सि मे। (अयि शरीरमसि मे।)

[इति नाट्येन चरणसत्कारमारभते।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥११॥

विदूषकः—चलणाणुरूवो तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो। (चरणानुरूपस्तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः।)

---

मालविका—[मन ही मन] हृदय! यह ऐश्वर्य उपस्थित देखकर तुम सुखी मत बनो। किन्तु मैं अब इससे कैसे अपने को छुटकारा दिला सकती हूँ। अथवा यही अब मेरी मृत्यु का शृंगार होगा।

बकुलावलिका—क्या सोच रही हो? इस सुनहरे अशोक में पुष्पोत्पत्ति के लिए महारानी बहुत उत्सुक हैं।

राजा—क्या इस अशोक के दोहद के लिए यह उपाय हो रहा है।

विदूषक—तो क्या तुम समझ रहे थे कि तुम्हारे लिए महारानी इसे अन्तःपुर के गहनों-शृंगार करा रही होंगी।

मालविका—सखी! पर इसके लिए मुझे क्षमा करना। [अपने चरण बकुलावलिका की ओर बढ़ाती है।]

बकुलावलिका—अरे! तुम तो मेरा ही शरीर हो।

[चरणों के रंगने का अभिनय करती है।]

राजा—हे मित्र! देखो, प्रिया के एक चरण में अभी अभी जो यह लाली की सरस रेखा खींची गई है, वह ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो महादेव द्वारा जलाए गए कामदेव-रूपी वृक्ष में नई-नई कोंपलें निकली हुई हों ॥११॥

विदूषक—इनके चरणों के योग्य ही देवी द्वारा इसे अधिकार भी सौंपा गया है।

राजा—सम्यगाह भवान्।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्॥१२॥

विदूषक—पहरिस्सादि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम्। (प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराद्धम्।)

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य।

[ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च।]

इरावती—हञ्जे णिउणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमण्डणं त्ति। अवि सच्चो एसो लोअवाओ। (चेटि निपुणिके शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति। अपि सत्य एष लोकवादः।)

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव्व अज्ज सच्चो संवुत्तो। (प्रथमं लोकवाद एवाद्य सत्यः संवृत्तः।)

इरावती—अलं मयि सिणेहेण। कहेहि कुदो दाणिं ओगमिदव्वं दोलाघरं पढमं गदो भट्टा ण वेत्ति। (अलं मयि स्नेहेन। कथय कुत इदानीमवगन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता न वेति।)

निपुणिका—भट्टिणीए अखिण्डदादो पणआदो। (भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात्।)

इरावती—अलं सेवाए। मज्झत्थदं परिग्गहिअ भणाहि। (अलं सेवया। मध्यस्थतां परिगृह्य भण।)

---

राजा—आपने ठीक ही कहा। नवीन किसलयों के समान लाल रंग के इसके पंजों पर नखों की शोभा प्रस्फुटित हो रही है और आलते की लालिमा उसे और भी स्निग्ध कर रही है। इस प्रकार सुशोभित इस सुन्दरी का यह चरण या तो बिना फूले हुए अशोक पर, दौहद की पूर्ति के लिए अथवा प्रणय में अपराध करनेवाले प्रियतम के अवनत मस्तक पर प्रहार करने योग्य है॥१२॥

विदूषक—तब तो फिर यदि तुम प्रणयापराधी बनोगे तो यह तुम पर प्रहार करेगी।

राजा—कार्यसिद्धि की सूचना देनेवाले ब्राह्मण के इस वचन को मैं सिर पर चढ़ाता हूँ।

[तदनन्तर मदिरा से छकी हुई रानी इरावती तथा उसकी दासी प्रवेश करती है।]

इरावती—दासी निपुणिका! मैं अनेक बार सुनती हूँ कि मदिरा स्त्रियों के लिए विशेष रूप से शृंगार बन जाती है। क्या यह लोकचर्चा सत्य है?

निपुणिका—पहले भले ही लोकचर्चा रही हो किन्तु अब तो सत्य पा रही हूँ।

इरावती—मुझमें इतना स्नेह मत दिखा। बताओ, अब यह बात किससे मालूम की जाय कि महाराज झूलाघर में पहले से पहुँच गए हैं या नहीं।

निपुणिका—स्वामिनी अपने अखण्ड प्रणय से ही इसे जान सकती हैं?

इरावती—मुझे प्रसन्न मत करो। निष्पक्ष होकर बताओ।

निपुणिका—वसन्तोस्सवोवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिअं तुवरदु भट्टिणी त्ति। (वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।)

इरावती—[अवस्थासदृशं परिक्रम्य।] हञ्जे मदेण किलाम्माणं अत्ताणं अज्जउत्तस्स दंसणे हिअअं तुवरेदि। चलणा उण ण मह पसरन्ति। (चेटि मदेन क्लाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।)

निपुणिका—णं संपत्त म्ह दोलाघरं। (ननु सम्प्राप्ते स्वो दोलागृहम्।)

इरावती—णिउणिए! अज्जउत्तो एत्थ ण दीसदि। (निपुणिके! आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते।)

निपुणिका—णं भट्टिणीए ओलोअदु। परिहासणिमित्तं कहिं वि अदिट्ठेण भत्तुणा होदव्वं। अम्हे वि पिअङ्गुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं पविसामो। (ननु भट्टिन्यवलोकयतु। परिहासनिमित्तं क्वाप्यदृष्टेन भर्त्रा भवितव्यम्। आवामपि प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः।)

इरावती—तह। (तथा।)

निपुणिका—[विलोक्य] ओलोअदु भट्टिणी चूदङ्कुरं विचिणन्तीओ पिपीलिआहिं दंसिद। (अवलोकयतु भट्टिनी चूताङ्कुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दंश्यम्।)

इरावती—कहं विअ एदं। (कथमिवेदम्।)

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाआए मालविआए वउलावलिआ चलणालङ्कारं णिव्वट्टेदि। (एषाशोकपादपच्छायायां मालविकाया बकुलावलिका चरणालङ्कारं निर्वर्तयति।)

---

निपुणिका—अरे! वसन्तोत्सव का उपहार पाने के लोभी आर्य गौतम ने यह कहा था कि स्वामिनी शीघ्रता करेंगी।

इरावती—[मदिरा के नशे में झूमती हुई चलकर] दासी! मदिरा का नशा जोरों पर है, हृदय शीघ्र से शीघ्र आर्यपुत्र का दर्शन करने के लिए शीघ्रता कर रहा है किन्तु मेरे पैर आगे बढ़ ही नहीं रहे हैं।

निपुणिका—अब तो हम लोग अपने झूलाघर में पहुँच गई हैं।

इरावती—निपुणिका! यहाँ तो आर्यपुत्र नहीं दिखाई पड़ रहे हैं।

निपुणिका—मजाक करने के लिए महाराज यहीं कहीं छिप गए होंगे। चलें, हम लोग भी प्रियंगु के लता मण्डप में अशोक वृक्ष के नीचे रखी पत्थर की पटिया पर बैठें।

इरावती—अच्छा।

निपुणिका—[देखकर] स्वामिनी देखें, हम लोग आम की मञ्जरी ढूँढ रही थीं और हमें चींटियों ने काट लिया।

इरावती—यह कैसे?

निपुणिका—यह अशोक वृक्ष की छाया में बैठी हुई मालविका के चरणों को बकुलावलिका अलंकृत कर रही है।

इरावती—[शङ्का रूपयित्वा] अभूमी इअ मालविआए यह एत्थ तक्केसि।
(अभूमिरियं मालविकाया। कथमत्र तर्कयसि।)

निपुणिका—तक्केमि दोलापरिब्भंसिदाए देवीए असोअदोहलाहिआरे मालविआ णिव त्तित्ति। अण्णाहा। कहं देवी सअं धारिअं णेउरजुअलं परिअणस्स अब्भणु जाणिस्सदि।
(तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्याऽशोकदोहदाधिकारे मालविका नियुक्तेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरयुगलं परिजनस्याभ्यनुज्ञास्यति)

इरावती—महदी क्खु से संभावणा। (महती खल्वस्याः संभावना।)

निपुणिका—किं ण अण्णेसीअदि भट्टा। (किं नान्विष्यते भर्ता।)

इरावती—हला ण मे चलणा अण्णदो पवट्टन्ति। मदो मं विआरेदि। आसङ्किदस्स दाव अन्तं गमिस्सं। [मालविकां निर्वर्ण्य। निरूप्यात्मगतम्।] ठाणे क्खु कादरं मे हिअअं।
(सखि न मे चरणावन्यत प्रवर्तेते। मदो मां विकारयति। आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि। स्थाने खलु कातरं मे हृदयम्।)

बकुलावलिका—[मालविकायाः चरणं दर्शयन्ती।] अवि रोअदि दे राअरेहाविण्णासो।
(अपि रोचते ते रागरेखाविन्यासः।)

मालविका—हला अत्तणो चलण त्ति लज्जेमि ण पसंसिदुं। केण पसाहणकलाए अहिणीदासि। (सखि आत्मनश्चरण इति लज्जे एनं प्रशंसितुम्। केन प्रसाधनकलायाम भिनीतासि।)

---

इरावती—[आशंकित होकर] मालविका को तो यहां नहीं आना चाहिए। तुम उसके यहां आने की कैसे समझ रही हो?

निपुणिका—मेरा तो अनुमान है कि झूले पर से गिर जाने के कारण महारानी के चरणों में चोट लग गई है इसलिए उन्होंने इस अशोक की दोहद क्रिया का अधिकार मालविका को दिया होगा। अन्यथा देवी जिन नूपुरों को स्वयं धारण करती हैं उन्हें दासियों को पहनने की आज्ञा कैसे दे देंगी।

इरावती—हाँ इसी बात की अधिक सम्भावना है।

निपुणिका—तो क्या महाराज को ढूंढिएगा नहीं?

इरावती—सखी! मेरे तो पैर ही आगे नहीं बढ़ रहे हैं क्योंकि मदिरा ने मुझे बेकाबू कर दिया है। किन्तु मेरे मन में जो आशंका बैठ गई है उसका निवारण तो करना ही होगा। [मालविका को देखकर और समझ कर अपने मन में] वास्तव में जो मेरे मन में कातरता है वह निरर्थक नहीं है।

बकुलावलिका—[मालविका को उसका रंगा हुआ चरण दिखाती हुई] यही रंग की रेखा तुम्हारे मन को पसन्द आ रही है।

मालविका—सखी! अपने ही चरण की प्रशंसा करते हुए मुझे लज्जा आ रही है। तूने यह शृंगारकला की शिक्षा किससे प्राप्त की है।

बकुलावलिका—एत्थ क्खु भत्तुणो सीसम्हि। (अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि।)

विदूषकः—तुवरेहि दाव णं गुरुदक्खिणाए। (त्वरय तावदेनां गुरुदक्षिणायै।)

मालविका—दिट्ठिआ ण गव्विदाम्हि। (दिष्ट्या न गर्वितास्मि।)

बकुलावलिका—उवदेसाणुरूवा चलणा लम्भिअ अज्ज दाव गव्विदा भविस्सं। [राजानं विलोक्यात्मगतम्] हन्त सिद्धो मे दप्पो। [प्रकाशम्] सहि एक्कस्स दे चलणस्स अवसिदो राअणिक्खेवो। केवलं मुहमारुदो लम्भइदव्वो। अहवा पवाद एव्व ठाणं। (उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वाद्य तावद्गर्विता भविष्यामि। हन्त सिद्धो मे दर्पः। सखि एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः। केवलं मुखमारुतो लम्भयितव्यः। अथवा प्रवातमेतत्स्थानम्।)

राजा—वयस्य पश्य।

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन वीजयितुम्।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः संप्रति सेवावकाशो मे॥१३॥

विदूषकः—कुदो दे अणुसओ। एदं अवरा चिरक्कमेण अणुभविदव्वं। (कुतस्तेऽनुशयः। एतावदनया चिरक्रमेणानुभवितव्यम्।)

बकुलावलिका—सहि अरुणसदवत्तं विअ सोहदि दे चलणं। सव्वहा भत्तुणो अङ्कपरिवट्टिणी होहि। (सखि अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम्। सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव।)

[इरावती निपुणिकामवेक्षते।]

---

बकुलावलिका—अरी! इस कला में तो मैं स्वयं महाराज की शिष्या हूँ।

विदूषक—अरे! तो आप इनसे गुरुदक्षिणा प्राप्त करने की शीघ्रता करें।

मालविका—यह सौभाग्य है कि गुण होने पर भी गर्व नहीं करती हो।

बकुलावलिका—अपनी शिक्षा के अनुरूप आज सुन्दर चरणों को प्राप्त करके अवश्य गर्व का अनुभव कर रही हूँ [राजा को देखकर मन ही मन] अहा! आज मेरा गर्व सफल हुआ। [प्रकट रूप में] सखी! तुम्हारे एक पैर को रंगने का काम समाप्त हो गया है केवल मुँह से फूँक मारकर सुखाना बाकी है, अथवा यहाँ वायु तो चल ही रही है।

राजा—मित्र देखो! गीले महावर से रंगे हुए इनके पैर को मुख की फूँक से सुखा कर अपनी प्रियतमा की सेवा करने का मेरे लिए इस समय सबसे अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है॥१३॥

विदूषक—तो तुम्हें इसके लिए खेद क्यों हो रहा है? यह कार्य तो तुम्हें अब बहुत दिनों तक करना ही पड़ेगा।

बकुलावलिका—सखी! लाल कमल की भाँति तुम्हारा चरण सुशोभित हो रहा है। मैं तो मनाती हूँ कि तुम महाराज के गोद में रहनेवाली बनो।

[इरावती निपुणिका की ओर देखती है।]

राजा—ममेयमाशी।

मालविका—हला मा अवअणीअं मन्तेहि। (सखि मा अवचनीयं मन्त्रयस्व।)

बकुलावलिका—मन्तइदव्वं एव्व मन्तिदं मए। (मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया।)

मालविका—पिआ क्खु अहं तव। (प्रिया खल्वहं तव।)

बकुलावलिका—ण केवलं मह। (न केवलं मम।)

मालविका—कस्स वा अण्णस्स। (कस्य वान्यस्य।)

बकुलावलिका—गुणेसु अहिणिवेसिणो भत्तुणो वि। (गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि।)

मालविका—अलिअं मन्तेसि। एदं एव्व मइ णत्थि। (अलीकं मन्त्रयसे। एतदेव मयि नास्ति।)

बकुलावलिका—सच्चं तुइ णत्थि। भत्तुणो किसेसु सुन्दरपाण्डरेसु दीसइ अंगेसु। (सत्यं त्वयि नास्ति। भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यतेऽङ्गेषु।)

निपुणिका—पढमं गणिदं विअ हदासाए उत्तरं। (प्रथमं गणितमिव हताशाया उत्तरम्।)

बकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वो त्ति सुअणवअणं प्रमाणीकरेहि। (अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु।)

मालविका—किं अत्तणो छन्देण मन्तेसि (किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसि।)

---

राजा—यह तो मेरे लिए आशीर्वाद हुआ।

मालविका—सखी! ऐसी न कहने योग्य बातें क्यों कहती हो?

बकुलावलिका—अरे! मैंने कहने योग्य बात ही कही है।

मालविका—मैं तुम्हारी प्रिय हूँ, इसलिए ऐसा कह रही हो।

बकुलावलिका—केवल मेरी ही प्रिय नहीं हो।

मालविका—तब और किसकी प्रिय हूँ।

बकुलावलिका—गुणों पर रीझनेवाले महाराज की भी प्रिया तुम हो।

मालविका—तुम झूठ बोल रही हो। कोई ऐसा गुण तो मुझमें नहीं है।

बकुलावलिका—सत्य ही तुम पर उनका प्रेम नहीं है। किन्तु वह तो महाराज के दुर्बल तथा वियोग से खिन्न पाण्डुवर्ण के अंगों पर देखा जा सकता है।

निपुणिका—इस हतभागिनी ने वही उत्तर दिया जो पहले से सोच रखा था।

बकुलावलिका—सज्जन लोग कहते हैं कि दूसरों के प्रेम की परख अपने प्रेम से की जाती है, तो इस बात को तो तुम प्रमाण मानो।

मालविका—क्या तुम अपने मन से गढ़-गढ़ कर बातें बना रही हो?

बकुलावलिका—णहि णहि। भत्तुणो क्खु एदाइं पणअमिदुलाइं अक्खराइं वअणन्तरिदाइं। (नहि नहि। भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वचनान्तरितानि।)

मालविका—हला देवीं चिन्तिअ ण मे हिअअं विस्ससदि। (सखि देवीं चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति।)

बकुलावलिका—मुद्धे भमरसपादो भविस्सदि त्ति वसन्तावदारसव्वस्सं किं ण चूदप्पसवो ओदंसिदव्वो। (मुग्धे भ्रमरसंपातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः।)

मालविका—तुमं दाव दुज्जादे गच्छन्तरा सहाथिणी होहि। (त्वं तावद्दुर्जाते गच्छतः सहायिनी भव।)

बकुलावलिका—विमद्दसुरही बउलावलिआ क्खु अहं। (विमर्दसुरभिर्बकुलावलिका खल्वहम्।)

राजा—साधु बकुलावलिके साधु।

भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥१४॥

इरावती—हञ्जे! पेक्ख कारिदं एव्व बउलावलिआए एदस्सिं पदं मालविआए। (सखि! पश्य कारितमेव बकुलावलिकयैतस्मिन्पदं मालविकायाः।)

निपुणिका—भट्टिणी! अहिआरस्स उइदो उवदेसो। (भट्टिनि! अधिकारस्योचित उपदेशः।)

---

बकुलावलिका—नहीं, ऐसी बात नहीं है। ये प्रेम से भरे हुए कोमल अक्षर स्वयं महाराज के ही मुख से निकले हैं।

मालविका—सखी! किन्तु उधर से महारानी का विचार करती हूँ तो मेरे हृदय में विश्वास नहीं जमता।

बकुलावलिका—अरी बावरी! वसन्त ऋतु के आगमन पर उसकी सर्वस्व आम की मंजरी को कर्णफूल को क्या भ्रमरों के आक्रमण के भय से धारण नहीं करना चाहिए।

मालविका—तो फिर इस विपदा के अवसर पर तुम मेरी सहायता करना।

बकुलावलिका—मैं तो विपत्ति में सहायता करने वाली (संघर्ष में सुगंध देनेवाली) बकुलावलिका तो हूँ ही।

राजा—वाह बकुलावलिका शाबाश। उसके अभिप्राय को समझकर मेरे प्रणय का प्रस्ताव करती है, और जब वह खण्डन करती है तो युक्तियुक्त उत्तर देकर उसको अपनी बातों से सहमत करती है। सचमुच कामीजनों के प्राण ऐसी दूतियों के ही अधीन होते हैं॥१४॥

इरावती—अरी निपुणिका! देख मालविका को इस स्थिति में इस बकुलावलिका ने ही पहुँचाया है।

निपुणिका—स्वामिनी! इसे जो काम सौंपा गया था, उसके अनुरूप ही इसे पाठ पढ़ाया है।

इरावती—ठाणे क्खु सकिद मे हिअअं। गहीदत्था अणन्तरं चिन्तइस्सं। (स्थाने खलु शङ्कितं मे हृदयम्। गृहीतार्थानन्तरं चिन्तयिष्यामि।)

बकुलावलिका—एसो दुदीओ वि दे णिव्वुत्तपरिकम्मा चलणो। जाव णं सणूउरं करेमि। [इति नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य।] हला उट्ठेहि। असोअविआसइत्तअं देवीए णिओअं अणुचिट्ठ। (एष द्वितीयोऽपि ते निर्वृत्तपरिकर्मा चरणः। यावदेनं सनूपुरं करोमि। हला उत्तिष्ठ। अशोकविकासयितृकं देव्या नियोगमनुतिष्ठ।)

[उभे उत्तिष्ठतः।]

इरावती—सुदो देवीए णिओओ। होदु दाणिं। (श्रुतो देव्या नियोगः। भवत्विदानीम्।)

बकुलावलिका—एसो उवारूढराओ उअभोअक्खमो पुरदो दे वट्टइ। (एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते।)

मालविका—[सहर्षम्] किं भट्टा। (किं भर्ता।)

बकुलावलिका—[सस्मितम्।] ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलम्बी पल्लवगुच्छओ। ओदंसेहि णं। (न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसयैनम्।)

[मालविका विषादं नाटयति।]

विदूषकः—सुदं भवदा। (श्रुतं भवता।)

---

इरावती—मेरे हृदय में जो आशंका थी, वह ठीक ही थी। मैं सब कुछ समझ गई हूँ, अब पीछे चलकर इस सम्बन्ध में सोच विचार करूँगी।

बकुलावलिका—यह तुम्हारा दूसरा चरण भी रँगा जा चुका, अब इसमें नूपुर पहनाऊँगी। [नूपुर पहनाने का अभिनय करती हुई] सखी! अब उठो। अशोक वृक्ष के पुष्पित होने के लिए महारानी ने जो आदेश दिया है उसे पूरा करो। [दोनों उठती हैं।]

इरावती—महारानी की आज्ञा सुन ली! ठीक है इस समय पूरी हो जाने दें।

बकुलावलिका—यह अनुराग से भरा हुआ और तुम्हारे सेवन करने योग्य सामने ही खड़ा है।

मालविका—[सहर्ष] क्या महाराज खड़े हैं?

बकुलावलिका—[मुस्कराती हुई] महाराज नहीं हैं। यह अशोक की शाखा से लटका हुआ पल्लवों का गुच्छा है। इसे अपने कानों में पहन लो।

[मालविका विषाद का अभिनय करती है।]

विदूषक—आपने कुछ सुना?

राजा—सखे ! पर्याप्तमेतावता कामिनाम्।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥

[मालविका रचितपल्लवावतंसा पादमशोकाय प्रहिणोति।]

राजा—वयस्य।

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥१६॥

बकुलावलिका—हला णत्थि दे दोसो। णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमन्थरो भवे जो दे चलणसक्कारं लम्भिअ। (सखि नास्ति ते दोषः। निर्गुणोऽयमशोको यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेत् यस्तेचरणसत्कारं लब्ध्वा।)

राजा—

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥१७॥

सखे वचनावसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि।

---

राजा—इतना ही कामी जनों के लिए पर्याप्त है। जहाँ, एक ओर मिलने की अतीव उत्कण्ठा हो और दूसरी ओर मिलने की आतुरता न हो—ऐसे दो प्रेमी प्रेमिका के समागम को मैं पसन्द नहीं करता। किन्तु जहाँ दोनों ओर से मिलने के लिए समानुराग होने से अत्यन्त अधीरता के कारण निराश होकर शरीर का नाश भी हो जाय तो उसे मैं श्रेष्ठ समझता हूँ।

[मालविका पल्लवों के गुच्छे को कानों पर धारण कर अशोक वृक्ष पर लात मारती है।]

राजा—मित्र ! इस अशोक वृक्ष ने अपने कर्णाभरण पल्लव के गुच्छे को लेकर उसी पर यह अपने चरणों का प्रहार भी करती है और मैं इन दोनों के इस समान अदला-बदली के व्यवहार से अपने को वंचित समझ रहा हूँ॥१६॥

बकुलावलिका—सखी ! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यदि तुम्हारे चरणों का सत्कार प्राप्त करके भी यह अशोक कुसुमित नहीं होता। इसमें तो इसी की गुणहीनता समझी जायेगी।

राजा—इस कृशोदरी मालविका ने कमल के समान कोमल अपने नूपुरयुक्त चरणों के द्वारा तुम्हारा जो सम्मान किया है, हे अशोक ! उस पर भी यदि तुम तुरन्त कलियों नहीं फूटती हैं तब तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरियों के लात मारने से पुष्पित होने की जो लालसा सरस प्रेमियों के मन में होता है उसे तुम व्यर्थ ही धारण करते हो॥१७॥

मित्र ! कुछ कहने का अवसर प्राप्त करके मैं प्रवेश करना चाहता हूँ।

विदूषक—एहि। ण परिहासइस्स। (एहि एना परिहासयिष्यामि।)

[उभौ प्रवेशं कुरुतः ]

निपुणिका—भट्टिणि भट्टिणि! भट्टा एत्थ पविसदि। (भट्टिनि भट्टिनि! भर्ताऽत्र प्रविशति।)

इरावती—एद मम पढम चिन्तिद हिअएण। (एतन्मम प्रथम चिन्तित हृदयेन।)

विदूषक—[उपेत्य] भोदि। जुत्त णाम अत्तहोदि पिअवअस्सो अअ असोओ ण वामपादेण ताडिदु। (भवति। युक्त नाम अत्रभवति प्रियवयस्योऽयमशोको ननु वामपादेन ताडयितुम्।)

उभे—[ससम्भ्रमम्] अम्हो भट्टा। (अहो भर्ता।)

विदूषक—बउलावलिए! गहीदत्थाए तुए अत्तहोदी ईरिस अवणिअ करन्ती कीस ण णिवारिदा। (बकुलावलिके! गृहीतार्थया त्वयात्रभवतीदृशमविनय कुर्वती कस्मान्न निवारिता।)

[मालविका भय रूपयति।]

निपुणिका—भट्टिणि पेक्ख। किं पउत्ता अज्जगोदमेण। (भट्टिनि पश्य। किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन।)

इरावती—कह क्खु ब्रह्मबन्धू अण्णहा जीविस्सदि। (कथं खलु ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति।)

बकुलावलिका—अज्ज। एसा देवीए णिओअ अणुचिट्ठदि। एदस्सि अदिक्कमे परवदी इअ। पसीदवु भट्टा। (आर्य। एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति। एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम्। प्रसीदतु भर्ता।) [इत्यात्मना सहैता प्रणिपातयति।]

---

विदूषक—आइए, इसका परिहास करेंगे। [दोनों प्रवेश करते हैं।]

निपुणिका—स्वामिनी! स्वामिनी! महाराज यहाँ आ रहे है।

इरावती—यह तो मेरे हृदय ने पहले ही से सोच रखा था।

विदूषक—[समीप जाकर] कहिए देवी जी! आपने हमारे इस प्यारे मित्र के रहते हुए इस अशोक को पाद प्रहार से क्यों ताडित किया।

दोनों—[घबराकर] अरे महाराज!

विदूषक—बकुलावलिका! तुम तो सब कुछ जानती थी, फिर इस प्रकार के अविनय का आचरण करते हुए इसे क्यों नहीं रोका। [मालविका डर जाती है]।

निपुणिका—स्वामिनी देखो! आर्य गौतम ने कैसा ढोंग फैलाया?

इरावती—यदि ऐसा न करे तो यह ब्राह्मण जियेगा कैसे?

बकुलावलिका—महाराज! यह तो महारानी की आज्ञा का पालन कर रही थी। इस अपराध में तो यह परवश थी। महाराज क्रोध न करें। [अपने साथ मालविका को भी राजा के चरणों में गिराती है।]

राजा—यद्येवमनपराधामि। उत्तिष्ठ भद्रे। [हस्तेन गृहीत्वैनामुत्थापयति]

विदूषक—जुज्जइ देवी एत्थमाणइदव्वा। (युज्यते, देव्यत्र मानयितव्या।)

राजा—[विहस्य]

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे।
चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य॥१८॥

[मालविका लज्जां नाटयति।]

इरावती—अहो णवणीदकप्पहिअओ अज्जउत्तो। (अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्र।)

मालविका—वउलावलिए एहि। अणुट्ठिद अत्तणो णिओअ देवीए णिवेदेम्ह। (बकुलावलिके! एहि। अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयाव।)

बकुलावलिका—विणावेहि भट्टार विसज्जेहि त्ति। (विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति।)

राजा—भद्रे यास्यसि। मम तावदुपजातावसरमर्थित्वं श्रूयताम्।

बकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि। आणवेदु भट्टा। (अवहिता शृणु। आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः॥१९॥

---

राजा—यदि ऐसा है तो फिर यह अपराधिनी नहीं है। [हाथ से पकड़कर उसे उठाता है।]

विदूषक—ठीक है, इसे तो महारानी की आज्ञा का आदर करना ही चाहिए था।

राजा—[हँसकर] नूतन पल्लवों के समान नितान्त कोमल तुम्हारा यह बायाँ चरण इस कठोर अशोक पर प्रहार करने से इस समय कहीं दुखता तो नहीं रहा है॥१८॥

[मालविका लज्जित होने का नाट्य करती है।]

इरावती—अहा! आर्यपुत्र का हृदय नवनीत के समान कोमल बन गया है।

मालविका—बकुलावलिका! अब आओ चलें, महारानी से निवेदन कर दें कि हमने आपकी आज्ञा का पालन कर दिया है।

बकुलावलिका—महाराज से प्रार्थना करो कि वे तुम्हें छोड़ तो दें।

राजा—भद्रे! तुम जा सकती हो किन्तु इस समय मेरी भी एक मौके की प्रार्थना सुन लो।

बकुलावलिका—सावधान होकर सुन लो। महाराज आज्ञा दें।

राजा—तुम्हारे सिवा अन्य किसी के प्रति रुचि न रखनेवाला यह तुम्हारा प्रेमी भी उस अशोक वृक्ष की भाँति बहुत दिनों से धैर्यरूपी पुष्प से वञ्चित है। अब इसके मनोरथ को भी तुम अपने स्पर्शरूपी अमृत से पूर्ण कर दो॥१९॥

इरावती—[सहसोपसृत्य] पूरेहि। असोओ कुसुमं ण दसेदि। अअं उण पुप्फदि एव्व। (पूरय पूरय। अशोकः कुसुमं न दर्शयति। अयं पुनः पुष्पत्येव।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।]

राजा—[अपवार्य।] वयस्य! का प्रतिपत्तिरत्र।

विदूषकः—किं अण्णं। जङ्घावलं एव्व। (किमन्यत्। जङ्घाबलमेव।)

इरावती—बउलावलिए! तुए साहु उवक्कन्तं। दाणिं सफलब्भत्थणं करेहि अज्जउत्तं। (बकुलावलिके! त्वया साधूपक्रान्तम्। इदानीं सफलाभ्यर्थनं कुर्वार्यपुत्रम्।)

उभे—पसीददु भट्टिणी। का आवां अम्हे भत्तुणो पणअपरिग्गहस्स। (प्रसीदतु भट्टिनी। के आवां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य।) [इति निष्क्रान्ते।]

इरावती—अविस्ससणीआ पुरिसा। वञ्चणवअणं पमाणीकरिअ आतिअत्ताए वाहजणगीदगहीदचित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णादं मए। (अविश्वसनीयाः पुरुषाः। आत्मनो वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्याभिज्ञतया व्याधजनगीतगृहीतचित्तयेव हरिण्यैतन्न विज्ञातं मया।)

विदूषकः—[जनान्तिकम्] भो पडिवज्जेहि किं पि उत्तरम्। कम्मगहीदेण वि कुम्भीलएण संधिच्छेदे सिक्खिदोम्हि त्ति वत्तव्वं होदि। (भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम्। कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन संधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति।)

राजा—सुन्दरि। न मे मालविकया कश्चिदर्थः। मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदितः।

---

इरावती—[एकाएक समीप आकर] मनोरथ पूर्ण करा लो, अशोक में पुष्प भले ही नहीं दिखाई पड़ रहे हैं किन्तु यह तो फूले ही हुए हैं।

[सब लोग इरावती को देखकर घबरा जाते हैं।]

राजा—[अलग से] मित्र! अब क्या उपाय करना चाहिए।

विदूषक—और क्या किया जा सकता है। अपनी जाँघों का ही सहारा लेना चाहिए।

इरावती—बकुलावलिका! तूने अच्छा धन्धा आरम्भ किया है। अब तो आर्यपुत्र की प्रार्थना को सफल करो।

दोनों—स्वामिनि! अपराध क्षमा करें। भला हम दोनों महाराज की प्रणय-प्रार्थना को सफल करनेवाली कौन हैं? [दोनों जाती हैं।]

इरावती—पुरुषों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। व्याधा के गीतों पर मुग्ध हुई हरिणी की भाँति इनकी मीठी-मीठी छल-कपट से भरी बातों को सच मानकर इनकी चालों में फँसी हुई होने के कारण मैंने अभी तक यह नहीं समझा था।

विदूषक—[धीरे से] अजी! कुछ सीधा टेढ़ा उत्तर तो देना ही चाहिए। सेंध लगाए हुए पकड़ा गया चोर जैसे कहने लगता है कि मैं चोरी के लिए नहीं बल्कि दीवार में छेद करना ही जो विद्या सीखी है उसी का प्रयोग देख रहा था, इसी प्रकार आप भी कुछ बनाकर उत्तर दे दें।

राजा—सुन्दरी! मेरा मालविका से कोई प्रयोजन नहीं था। चूँकि तुम आज देर तक नहीं थी इसलिए मैं अपना चित्त इस प्रकार से बहला रहा था।

इरावती—विस्सलणीओसि। ण मए विण्णाद ईरिस विणोदवुत्तन्त अज्जउत्तेण उवलद्ध त्ति। अण्णहा दुक्खभाइणीए एव्व ण करीअदि। (विश्वनीयोऽसि। न मया विज्ञातमीदृशं विनोदवृत्तान्तमार्यपुत्रेणोपलब्धं इति। अन्यथा दुःखभागिन्येवं न क्रियते।)

विदूषकः—मा दाव अत्तभोदो दक्खिण्णस्स उवरोह करेहि। समावदिट्ठेण देवीए परिचारिइत्थिआजणेन सक्कावि जइ वारीअदि एत्थ तुम एव्व पमाण। (मा तावदत्रभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं कुरु। समीपदृष्टेन देव्याः परिचारिस्त्रीजनेन सक्यापि यदि वार्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम्।)

इरावती—ण सक्हा णाम होदु। किंति अत्ताण आआसइस्सम्। (ननु सक्या नाम भवतु। किमित्यात्मानमायासयिष्यामि) [इति रुषा प्रस्थिता।]

राजा—[अनुसरन्।] प्रसीदतु भवती।

[इरावती रशनासमाकर्षितचरणा व्रजत्येव।]

राजा—सुन्दरि! न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता।

इरावती—सठ! अविस्ससणीअहिअओसि। (शठ! अविश्वसनीयहृदयोऽसि।)

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलयापि याचिता॥२०॥

इरावती—इअं पि हदासा तुम एव्व अणुसरदि। (इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति।) [इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति।]

---

इरावती—आप बहुत विश्वास के योग्य हैं। मैं नहीं जानती थी कि महाराज को ऐसी विनोद की वस्तु मिल गई है? अन्यथा यहाँ आकर आपको क्यों दुःख पहुँचाती।

विदूषक—देवी जी! आप महाराज के साधारण शिष्टाचार में क्यों बाधा पहुँचाती हैं। यदि आप महाराज को अपने समीप में आई हुई महारानी की दासियों से भी वार्तालाप करने के लिए रोकती हैं तो इस सम्बन्ध में आप ही प्रमाण हैं।

इरावती—अच्छा तो फिर वार्तालाप होने दीजिए। मैं क्या अपने को दुःखी करूँ। [जाती है।]

राजा—[पीछे पीछे चलते हुए] देवी प्रसन्न हों।

[इरावती के पैरों में करधनी फँस जाती है, फिर भी वह जाती है।]

राजा—सुन्दरी! अपने प्रियजन के प्रति इस प्रकार की उदासीनता उचित नहीं है।

इरावती—शठ! तुम्हारे हृदय का विश्वास नहीं किया जा सकता।

राजा—हे प्रिये! तुमने जो यह 'शठ' कहकर मेरा निरादर किया है, उसमें मैं भली भांति परिचित हूँ। किन्तु हे कोपने! चरणों पर गिरकर मनानेवाली इन करधनी की बात को तुम क्यों नहीं सुन रही हो॥२०॥

इरावती—यह अभागिनी भी तुम्हारा ही अनुसरण कर रही है। [करधनी लेकर राजा को मारना चाहती है।]

राजा—वयस्य ! इयमिरावती।

बाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन श्रोणीबिम्बादप्युपेक्षाच्युतेन।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम्॥२१॥

इरावती—किं म एव्व भूओ वि अवरद्ध करेसि। (किं मामेवं भूयोऽप्यपराद्धां करोषि।)

राजा—[सरशन हस्तमवलम्बयति।]

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च॥२२॥

नूनमिदमनुज्ञातम्। [इति पादयोः पतति।]

इरावती—ण क्खु इमे मालविआचलणा जे दे हरिसदोहलं पूरयिस्सन्ति। (न खल्विमौ मालविकाचरणौ यौ ते हर्षदोहदं पूरयिष्यतः।)

[इति निष्क्रान्ता सह चेट्या।]

विदूषकः—उट्ठेहि अकिदप्पसादोऽसि। (उत्तिष्ठ। अकृतप्रसादोऽसि।)

राजा—[उत्थायेरावतीमपश्यन्।] तत्कथं गतैव प्रिया।

---

राजा—मित्र ! मेघों की पंक्ति जिस प्रकार विद्युत् की माला से विन्ध्याचल को प्रताडित करती है, उसी प्रकार क्रोधावेश में भरकर आंसू बहाती हुई, यह इरावती उपेक्षा के कारण नीचे गिरती हुई अपनी करधनी से मुझ अपराधी के ऊपर प्रहार करना चाहती है॥२१॥

इरावती—तुम मुझको ही पुनः क्यों अपराधिनी बना रहे हो।

राजा—[करधनी समेत इरावती का हाथ पकड़ लेता है] ओ घुंघराले केशों वाली ! तुम मुझ अपराधी को दण्ड देते-देते क्यों रुक गई हो ? इस समय मुझ सेवक पर जो तुम प्यार कर रही हो, उससे तो तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गई है॥२२॥

तो अब मेरी प्रार्थना को तुमने अवश्य स्वीकार कर लिया। [राजा इरावती के चरणों में गिरता है।]

इरावती—अरे ! यह मालविका के चरण नहीं हैं जो तुम्हारे प्रेम की अभिलाषा की पूर्ति करेंगे।

[अपनी दासी के साथ जाती है।]

विदूषक—उठिए। आप तो प्रसन्न नहीं कर सके।

राजा—[उठकर इरावती को देखते हुए] तो क्या प्रिया चली ही गई।

**विदूषकः**—वअस्स ! दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा। ता वअ सिग्घ अवक्कमाम। जाव अङ्गारओ रासिं विअ वणुवक्कं ण करेदि। (वयस्य ! दिष्ट्यानेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा तद्वयं शीघ्रमपक्रमामः। यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रप्रतिगमनं न करोति।)

**राजा**—अहो मदनस्य वैषम्यम्।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम्।
एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥२३॥

[इति निष्क्रान्तः सह वयस्येन]

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

---

विदूषक—मित्र ! इसे अपना सौभाग्य ही समझो कि आपके अपराध से अप्रसन्न होकर वह चली गई हैं। चलिए, हम लोग यहाँ से तब तक निकल चलें, जब तक मंगल ग्रह के समान विपरीत गति से चलकर वह इसी स्थान पर वापस न लौट आएं।

राजा—हाय ! कामदेव का भी कैसा विपरीत व्यवहार होता है। प्रियतमा मालविका ने हमारे हृदय को हर लिया है, इसलिए देवी इरावती की इस अप्रसन्नता को भी जो वे मेरे प्रणिपात को भी ठुकरा कर चली गईं, मैं अपनी सेवा ही मानता हूँ। क्योंकि वह क्रुद्ध हैं अतः उनकी उपेक्षा करके भी कुछ समय रह सकता हूँ ॥२३॥

[अपने मित्र विदूषक के साथ राजा जाता है।]

तृतीय अंक समाप्त।

# चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतीहारी च।]

राजा—[आत्मगतम्]

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा
त्कुर्यात्कान्त मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥१॥

[प्रकाशम्] सखे गौतम !

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा ! असहिणिदो गोदमो। (जयतु जयतु भर्ता। असंनिहितो गौतमः।)

राजा—[आत्मगतम्।] आ मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषित।
विदूषक—[प्रविश्य।] वड्ढदु भवं। (वर्धतां भवान्।)
राजा—जयसेने ! जानीहि तावत्क्व देवी धारिणी सरुजचरणत्वाद्विनोद्यत इति।
प्रतीहारी—जं देवो आणिवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

---

## चतुर्थ अंक

[तदन्तर अनमने से राजा तथा प्रतीहारी का प्रवेश होता है।]

राजा—[मन ही मन] अपनी प्रिया मालविका के सम्बन्ध मे सुनने से जो आशा उत्पन्न हुई वही जिसकी जड़ें हैं उसे अपने नेत्रों के देखने से जो अनुराग जाग्रत हुआ, वही जिसके पल्लव हैं उसके हाथ के स्पर्श से जो रोमाच हुआ वही जिसके पुष्प हैं, ऐसा वह कामदेव [प्रेम] का वृक्ष मुझे उस प्रियतमा का स्वामी बनाकर अपने फल के रस को चखने का अवसर प्रदान करे॥१॥

[प्रकट रूप मे] मित्र गौतम !

प्रतीहारी—महाराज की जय हो, जय हो। गौतम तो इस समय यहाँ नही हैं।

राजा—[अपने आप] हाँ, मालविका का वृत्तान्त जानने के लिए मैंने भेजा है।

विदूषक—[प्रवेश करके] आपको बधाई है।

राजा—जयसेना ! तनिक देख तो आ कि महारानी पैर की पीडा से कहाँ अपना मन बहला रही हैं।

प्रतीहारी—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाती है]

राजा—गौतम ! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्या ।

विदूषकः—जो बिडालगहीदाए परहुदिआए। (यो बिडालगृहीतायाः परभृतिकायाः।)

राजा—[सविषादम्] कथमिव।

विदूषकः—सा क्खु तवस्सिणी तए पिङ्गलच्छीए सारभण्डभूघरए गुहाए विअ णिक्खित्ता। (सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभण्डभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।)

राजा—ननु मत्संपर्कमुपलभ्य।

विदूषकः—अह इ। (अथ किम्।)

राजा—क एव विगुणोऽस्माकम्। येन चण्डीकृता देवी।

विदूषकः—सुणादु भवं परिव्वाजिआए मे कहिदं। हिओ किल तत्तहोदी इरावदी रअक्कन्तचलणं देविं सुहपुच्छिआ आअदा। (शृणोतु भवान्। परिव्राजिकया मे कथितम्। ह्यः किल तत्रभवतीरावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छिकागता।)

राजा—ततस्तत !

विदूषकः—तदो सा देवीए पुच्छिदा। किं णु ओलोइदो वल्लहजणो त्ति। ताए उत्तं। मन्दो वो उवआरो ज परिजणे संकन्तं वल्लहत्तणं ण जाणीअदि। (ततः सा देव्या पृष्टा। किन्त्ववलोकितो वल्लभजन इति। तयोक्तम्। मन्दो व उपचारः यत्परिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते।)

राजा—अहो निर्भेदादृतेऽपि मालविकायाममुमुपन्यासं शङ्कयति।

---

राजा—गौतम ! हाँ तो तुम्हारी सखी का क्या वृत्तान्त है ?

विदूषक—जो बिडाल के पंजों में पड़ी हुई कोयल का होता है।

राजा—[विषाद के साथ] यह कैसे ?

विदूषक—उस बेचारी को उस पिंगलाक्षी ने नीचे की भाण्डारवाली गुफा की अंधेरी कोठरी में बन्द कर दिया है।

राजा—मेरा सम्पर्क समझ कर ही ऐसा किया होगा ?

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कौन हम लोगों का शत्रु है, जिसने देवी को इतना अप्रसन्न कर दिया है।

विदूषक—आप सुनें। मुझसे परिव्राजिका जी कह रही थीं कि कल पैर में चोट लग जाने के कारण महारानी से उनका कुशल-समाचार पूछने के लिए इरावती देवी उनके पास गई हुई थीं।

राजा—तब फिर।

विदूषक—तब महारानी ने उनसे पूछा कि—क्या इधर प्रिय महाराज के दर्शन हुए हैं। तब उन्होंने कहा—आजकल उनका प्रेम-व्यवहार हमारे ऊपर से शिथिल हो गया है। क्या आप नहीं जानतीं कि उनका प्रेम अब दासियों में हो गया है।

राजा—इस छिपी हुई बात से भी तो यही मालूम पड़ता है कि मालविका को ही लक्ष्य करके यह बात कही गई है।

विदूषक—तदा ताए अणुबन्धिज्जमाणा सा भवदो अविणअं अन्तरेण परिगदत्था किदा देवी। (ततस्तयानुबध्यमाना सा भवतोऽविनयमन्तरेण परिगतार्था कृता देवी।)

राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्या। अतः परं कथय।

विदूषक—किं अवरं। मालविआ बउलावलिआ अ पादालवासं णिगलपदीओ अदिट्ठ-सुज्जपादं णाअकण्णआओ विअ अणुहोन्ति। (किमपरम्। मालविका बकुलावलिका च पातालवासं निगलपदावदृष्टसूर्यपादं नागकन्यके इवानुभवतः।)

राजा—कष्टं कष्टम्।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ॥२॥

अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात्।

विदूषकः—कहं भविस्सदि। जं सारभाण्डघरव्यापारिदा माहविआ देवीए संदिट्ठा। मह अङ्गुलीअमुद्दिअं अदेक्खिअ ण मोत्तव्वा तुए हदासा मालविआ बउलावलिआ अत्ति। (कथं भविष्यति। यस्सारभाण्डगृहव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा। ममाङ्गुलीयकमुद्रिकामदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वया हताशा मालविका बकुलावलिका चेति।)

राजा—[निःश्वस्य सपरामर्शम्।] सखे! किमत्र कर्तव्यम्।

विदूषक—[विचिन्त्य] अत्थि एत्थ उवाओ। (अस्त्यत्रोपायः।)

राजा—क इव।

---

विदूषक—इस पर जब महारानी ने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने आपके अविनय की सारी बातें उनसे खोलकर कह दी।

राजा—अहा! इरावती बहुत क्रोध में हैं। फिर इसके बाद क्या हुआ, बताओ।

विदूषक—और क्या होता? मालविका और बकुलावलिका के चरणों में बेड़ियाँ डाल दी गईं और वे दोनों नागकन्याओं की भाँति उस पातालवास का अनुभव कर रही हैं जहाँ उन्हें सूर्य की किरणों के दर्शन भी नहीं होते हैं।

राजा—यह तो बड़े दुःख की बात है बौरे हुए आम पर एक साथ बैठी हुई मधुर स्वर वाली कोयल तथा भ्रमरी को प्रचण्ड पुरवैया की हवा तथा असमय की वर्षा ने वृक्ष के कोटरों में जबर्दस्ती बन्द कर दिया है ॥२॥

तो क्या उन दोनों के छुड़ाने का कोई उपाय भी हो सकता है।

विदूषक—कैसे उपाय हो सकेगा? उस भाण्डारघर की कोठरी की रखवाली करने वाली माधविका से महारानी ने कहा है कि—मेरी अँगूठी की मुद्रा को देखे बिना तुम इन दोनों अभागिनों—मालविका और बकुलावलिका को मत छोड़ना।

राजा—[गहरी साँसें लेकर कुछ सोचते हुए] मित्र! अब ऐसी कठिन स्थिति में क्या करना चाहिए?

विदूषक—[विचार करके] इस सम्बन्ध में एक उपाय है।

राजा—वह कौन सा उपाय है?

विदूषकः—[सदृष्टिक्षेपम्] को वि अदिट्ठो सुणिस्सदि। कण्णे दे कहेमि। [इत्युपश्लिष्य कर्णे] एव्वं विअ। (कोऽप्यदृष्टः श्रोष्यति। कर्णे ते कथयामि। एवमिव।) [इत्यावेदयति।]

राजा—[सहर्षम्] सुष्ठु। प्रयुज्यतां सिद्धये।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—देव! पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दणधारिणा परिअणहत्थगदेण चलणेण भअवदीए कहाहिं विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि। (देव! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।)

राजा—तस्मादस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः।

विदूषकः—भो! गच्छदु भवं। अहं वि देविं पेक्खिदुं अरित्तपाणी भविस्सं। (भो गच्छतु भवान्। अहमपि देवीं द्रष्टुमरिक्तपाणिर्भविष्यामि।)

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्गमनं विदितं कुरु।

विदूषकः—तह। [इति कर्णे] एव्वं विअ होदि। (तथा। एवमिव भवति।) [इत्यावेद्य निष्क्रान्तः।]

राजा—जयसेने! प्रवातशयनमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।)

[ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।]

देवी—भअवदि! रमणिज्जं कहावत्थु। तदो तदो। (भगवति! रमणीयं कथावस्तु। ततस्ततः।)

---

विदूषक—[इधर-उधर आँखें दौड़ाकर] कोई छिपा हुआ सुन न ले। तुम्हारे कान में कहूँगा। [राजा से सटकर उनके कान में] इस तरह से। [कान में कुछ कहता है।]

राजा—[सहर्ष] बहुत ठीक है। तब फिर इसकी सिद्धि में लग जाओ।

प्रतीहारी—[प्रवेश करके] महाराज! उसी हवादार शयनकक्ष में महारानी शय्या पर बैठी हुई हैं। उनके चरणों में लाल चन्दन लगा हुआ है, और उसे दासियों ने पकड़ रखा है। भगवती परिव्राजिका कथाओं से उनका मन बहला रही हैं।

राजा—तब तो हमारे वहाँ चलने का यह अच्छा अवसर है।

विदूषक—अच्छा तो आप चलें। मैं भी अपने हाथ में कुछ भेंट लेकर महारानी को देखने के लिए आऊँगा।

राजा—जयसेना! उस हवादार शयनकक्ष का मार्ग दिखाओ।

प्रतीहारी—महाराज! इधर से आएँ, इधर से।

[शय्या पर बैठी हुई महारानी तथा परिव्राजिका के साथ परिजन यथास्थान बैठे हुए हैं।]

देवी (धारिणी)—यह तो बड़ी सुन्दर कथा है। हाँ, तो फिर इसके आगे क्या हुआ?

**परिव्राजिका**—[सदृष्टिक्षेपम्] देवी। अत पर पुन. कथयिष्यामि। अत्र भगवान्विदिशेश्वर. सप्राप्त ।

**धारिणी**—अम्हो भट्टा। (अहो भर्ता।) [इत्युत्थातुमिच्छति।]

**राजा**—अलमलमुपचारयन्त्रणया।

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि मां च पीडयितुम् ॥३॥

**धारिणी**—जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

**परिव्राजिका**—विजयता देव ।

**राजा**—[परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य।] देवि! अपि सह्या वेदना।

**धारिणी**—अज्ज अत्थि मे विसेसो। (अद्यास्ति मे विशेषः।)

[ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धाङ्गुष्ठः संभ्रान्तो विदूषकः।]

**विदूषक**.—परित्ताअदु परित्ताअदु भव। सप्पेणम्हि दट्ठो। (परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः।)

[सर्वे विषण्णाः।]

**राजा**—कष्ट कष्टम्। क्व भवान्परिभ्रान्त ।

**विदूषकः**—देविं देक्खिस्स त्ति आआरपुप्फग्गहणकारणादो पमदवण गदोम्हि। (देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।)

---

**परिव्राजिका**—[आँखें घुमाकर] देवी! अब इसके बाद की कथा फिर कहूँगी। लीजिए अब तो महामहिम विदिशापति का पदार्पण हो रहा है।

**धारिणी**—अहा! महाराज हैं। [उठना चाहती है।]

**राजा**—बस। अब शिष्टाचार के लिए कष्ट उठाने की जरूरत नहीं है। हे मधुरभाषिणी! यह तो अनुचित हो रहा है कि जो बिना किसी कारण के ही नूपुरों का वियोग सहन कर रहे हैं, सुवर्ण की चौकी पर रखे हुए अपने उन चोटीले चरणों को उठाने का कष्ट देकर तुम मुझे भी कष्ट पहुँचाओ॥३॥

**धारिणी**—आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

**परिव्राजिका**—महाराज की विजय हो।

**राजा**—[परिव्राजिका को प्रणाम करके बैठते हुए] देवी! पीडा कुछ सहने योग्य हुई?

**धारिणी**—आज तो कुछ अन्तर मालूम पडता है।

[तदनन्तर यज्ञोपवीत से अपने अँगूठे को बाँधे हुए घबराहट के साथ विदूषक आता है।]

**विदूषक**—महाराज! आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें। सर्प ने मुझे डँस लिया है।

[सभी लोग दुखी होते हैं।]

**राजा**—अरे! यह तो बडे दुख की बात है। तुम किधर घूम रहे थे?

**विदूषक**—महारानी के दर्शन के लिए आ रहा था तो सोचा कि उन्हें उपहार देने के लिए पुष्प ही लेता चलूँ सो उसी पुष्प को तोडने के लिए प्रमदवन की ओर चला गया था।

धारिणी—हद्धी हद्धी। अहं एव्व बम्हणस्स जीविदसंसअणिमित्तं जादम्हि। (हा धिक् हा धिक्। अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जातास्मि।)

विदूषकः—तहिं असोअत्थवअकारणादो पसारिदो दक्खिणहत्थो। तदो कोटरणिग्गदेण सप्परूवेण कालेण दट्ठोम्हि। ण एदाणि दुवे दसणपदाणि। (तस्मिन्नशोकस्तबककारणात्प्रसारितो दक्षिणहस्तः। ततः कोटरनिर्गतेन सर्परूपेण कालेन दष्टोऽस्मि। नन्वेते द्वे दंशनपदे।) [इति दंशं दर्शयति]

परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥४॥

राजा—सम्प्रति विषवैद्यानां कर्म। जयसेने! ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम्।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

विदूषकः—अहो पावेण मिच्चुणा गहीदोम्हि। (अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि।)

राजा—मा कातरो भूः। अविषोऽपि कदाचिद्दंशो भवेत्।

विदूषकः—कहं ण भाइस्सं। सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाइं। (कथं न भेष्यामि। सिमसिमायन्ति मेऽङ्गानि।) [इति विषवेगं रूपयति।]

धारिणी—हा दंसिद असुहं विआरेण। अवलम्बध बम्हणं। (हा दर्शितमशुभं विकारेण। अवलम्बध्वं ब्राह्मणम्)

[परिव्राजिका ससंभ्रममवलम्बते।]

---

धारिणी—हाय, हाय! यह तो मैं ही इस ब्राह्मण के प्राणों को संकट में डालने का कारण हूँ।

विदूषक—तो वहाँ अशोक के पुष्पों का स्तवक तोड़ने के लिए ज्यों ही मैंने अपना हाथ आगे बढ़ाया त्योंही उसके खोखले में से उस सर्परूपी काल ने आकर मुझे डँस लिया। ये दो उसके डँसने के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। [डँसने का निशान दिखलाता है।]

परिव्राजिका—साँप के डँसने पर जो पहला काम सुना जाता है वह है उस स्थान को काट देना। तो फिर इनके उस अंग को काट दो।

डसे हुए स्थान को काट देना, जला देना, या घाव में से रक्त निकाल देना—ये सब उपचार यदि सर्प से डँसे हुए लोगों का कर दिया जाय तो उनका जीवन बच जाता है।

राजा—इस समय विषवैद्य की जरूरत है। जयसेना! जाओ, शीघ्र ध्रुवसिद्धि को ले आओ।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा। [जाती है।]

विदूषक—हाय! पापी मृत्यु ने मुझे पकड़ लिया है।

राजा—अरे इतना मत घबराओ। कभी कभी साँप का काटना निर्विष भी होता है।

विदूषक—अरे! कैसे न घबराऊँ। मेरे अंग सनसना रहे हैं। [विष वेग का प्रभाव प्रकट करता है।]

धारिणी—हाय। इसके विकार तो अमंगल की सूचना दे रहे हैं। इस ब्राह्मण को सहारा दो।

[परिव्राजिका घबराहट के साथ विदूषक को सम्हालती है।]

विदूषक—[राजानं विलोक्य] भो ! भवदो बाल्लादो वि पिअवअस्सोम्हि। तं विआरिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगक्खेमं वहेहि। (भोः ! भवतो बाल्यादपि प्रियवयस्योऽस्मि। तद्विचार्यापुत्राया मे जनन्या योगक्षेमं वह।)

राजा—मा भैषीर्गौतम। स्थिरो भव। अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव ! आणाविदो ध्रुवसिद्धि विण्णावेदि इह एव्व आणी—अदु सो गोदमो त्ति। (देव ! आज्ञापितो ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—इहैवानीयतां स गौतम इति।)

राजा—तेन हि प्रतिगृहीतमेनं तत्रभवतः सकाशं प्रापय।

जयसेना—तहा। (तथा।)।

विदूषक—[देवीं विलोक्य।] भोदि ! जीवेअं वा ण वा। जं मए अत्तभवन्तं सेवमाणेण ते अवरद्धं तं मरिसेहि। (भवति ! जीवेयं वा न वा। यन्मयात्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मृष्यस्व।)

धारिणी—दीहाऊ होहि। (दीर्घायुर्भव।)

[निष्क्रान्तो विदूषक प्रतीहारी च।]

राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेदु जेदु भट्टा। ध्रुवसिद्धि विण्णावेदि-उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिअं किंपि कप्पिदव्वं। तं अण्णेसीअदु त्ति। (जयतु जयतु भर्ता। ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति—उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। तदन्विष्यतामिति।)

---

विदूषक—[राजा की ओर देखकर] देखिए। मैं अपने बाल्यकाल से ही आपका मित्र रहा हूँ। यह सोचकर मेरी पुत्रविहीना माँ की देख भाल रखिएगा।

राजा—अरे गौतम ! तुम डरो मत। धैर्य धारण करो। बहुत जल्द ही वैद्य तुम्हें चिकित्सा करके चंगा कर देगा।

जयसेना—[प्रवेश करके] आपका आदेश सुनकर ध्रुवसिद्धि ने कहा है कि गौतम को यहीं ले आओ।

राजा—तब फिर इसे सम्हाल कर उसके समीप ले जाओ।

जयसेना—बहुत अच्छा।

विदूषक—[देवी की ओर देखकर] महारानी मैं जीवित बचूँगा या नहीं। यदि महाराज की सेवा करते समय आपके प्रति कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा करेंगी।

धारिणी—तुम बहुत दिनों तक जीवित रहो।

[प्रतीहारी और विदूषक बाहर जाते है।]

राजा—यह तपस्वी ब्राह्मण जन्म से ही डरपोक है जो अपने नाम के समान गुणी ध्रुवसिद्धि की चिकित्सा पर भी इसका विश्वास नहीं जम रहा है।

जयसेना—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो जय हो। ध्रुवसिद्धि ने कहा है कि जल के घड़े के सहारे से ऐसी किसी वस्तु के द्वारा गौतम का विष उतारा जायगा जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो। तो कोई एसी वस्तु ढूँढकर ले आओ।

**धारिणी**—इद सप्पमुद्दिअ अंगुलीअअं। पच्छा मम हत्थे देहि ण। (इदं सर्पमुद्रितमगुलीयकम्। पश्चान्मम हस्ते देहोतत्।) [इत्यगुलीयकं ददाति।]

[प्रतीहारी गृहीत्वा स्थिता।]

**राजा**—जयसेने! कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानय।

**प्रतीहारी**—ज देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।)

**परिव्राजिका**—यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतम।

**राजा**—भूयादेवम्।

[प्रविश्य]

**जयसेना**—जेदु देवो भट्टा। णिवुत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पकिदित्थो संवुत्तो। (जयतु देवो भर्ता। निवृत्त विषवेगो गौतमो मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः।)

**धारिणी**—दिट्ठिआ वअणीआदो मुत्तम्हि। (दिष्ट्या वचनीयान्मुक्तास्मि।)

**प्रतीहारी**—एसो उण वाहतओ अमच्चो विण्णवेदि—राअकज्ज बहु मन्तिदव्व दसणेण अणुगह इच्छामि त्ति। (एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति—राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्य दर्शनेनानुग्रहमिच्छामीति।)

**धारिणी**—गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए! (गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये।)

**राजा**—देवि! आतपाक्रान्तोऽयमुद्देश। शीतक्रिया चास्या रुज प्रशस्ता। तदन्यत्र नीयता शयनम्।

**देवी**—वालिआओ। अज्जउत्तवअण अणुचिट्ठह। (बालिकाः आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत।)

---

**धारिणी**—यह नागमुद्रा से जडी हुई मेरी अगूठी है। कार्य हो जाने पर फिर इसे मेरे ही हाथ मे देना। [अगूठी देती है।]

[प्रतीहारी अगूठी लेकर खडी होती है।]

**राजा**—कार्यसिद्धि हो जाने पर शीघ्र ही उसकी सूचना देना।

**प्रतीहारी**—जैसी महाराज की आज्ञा। [जाती है।]

**परिव्राजिका**—मेरा हृदय तो कह रहा है कि गौतम का विष उतर गया है।

**राजा**—ऐसा ही हो।

**जयसेना**—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो, जय हो। गौतम का विष का प्रभाव शान्त हो गया और वह शीघ्र ही चगे हो गये हैं।

**धारिणी**—बडे भाग्य से मैं अपकीर्ति मे बच गई।

**प्रतीहारी**—अमात्य वाहतक ने कहलाया है कि—राजकाज की बहुतेरी बातो पर आपके साथ बहुत विचार-विमर्श करना है तो दर्शन देने की कृपा चाहता हूँ।

**धारिणी**—आर्यपुत्र अब अपने राज कार्य को देखने के लिए जायें।

**राजा**—देवि! इस स्थान पर बडी धूप हो गई है। इस रोग मे ठण्डे स्थान मे रहना अच्छा बताया गया है। तो अपना पलग दूसरी ओर उठवा लें।

**धारिणी**—अरी लडकियो! आर्यपुत्र जैसा कह रहे हैं, वैसा करो।

परिजन—तह। (तथा।)

[निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च।]

राजा—जयसेने! मा गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय।

जयसेना—इदो इदो देवो। (इत इतो देव।)

राजा—जयसेने! ननु समाप्तकार्यो गौतम।

जयसेना—अह इ। (अथ किम्।)

राजा—

इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा।
संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम् ॥५॥

[प्रविश्य]

विदूषक—वड्ढदु भवं। सिद्धाणि दे मङ्गलकम्माणि। (वर्धतां भवान्। सिद्धानि ते मङ्गलकर्माणि।)

राजा—जयसेने! त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

जयसेना—जं देवो आणवेदि। (यद्देव आज्ञापयति।) [इति निष्क्रान्ता।]

राजा—गौतम! क्षुद्रा माधविका। न खलु किंचिद्विचारितमनया।

विदूषक—देवीए अङ्गुलीअअमुद्दिअं देक्खिअ कहं विआरेदि। (देव्या अङ्गुलीयक-मुद्रां दृष्ट्वा कथं विचारयति।)

---

परिजन—बहुत अच्छा। [देवी, परिव्राजिका तथा दासियाँ—सभी चली जाती हैं।]

राजा—जयसेना! मुझे गुप्त मार्ग से प्रमदवन की ओर ले चलो।

जयसेना—महाराज इधर से आएँ। इधर से।

राजा—जयसेना! गौतम ने तो अपना कार्य पूरा कर लिया होगा।

जयसेना—और क्या?

राजा—अपनी अभिलषित वस्तु को प्राप्त करने के लिए किए गए उपाय को अत्यन्त उपयुक्त समझने हुए भी हृदय उसकी सफलता में सन्देहयुक्त तथा अधीर बना रहता है ॥५॥

[विदूषक प्रवेश करता है।]

विदूषक—आपको बधाई है। आपके सब मांगलिक कार्य सफल हो गए।

राजा—जयसेना! तुम अब जाओ, अपना कार्य करो।

जयसेना—महाराज की जैसी आज्ञा। [जाती है।]

राजा—गौतम! माधविका तो बड़ी क्षुद्र है। क्या उसने कुछ सोच-विचार नहीं किया।

विदूषक—देवी की अंगूठी की मुद्रा देखकर फिर वह क्या सोच विचार करती।

राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि। एतयोर्द्वयोः किंनिमित्तो मोक्षः। किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्सन्दिष्ट इत्येतदनया प्रष्टव्यम्।

विदूषकः—णं पुच्छिदोम्हि। पुणो मन्दस्स मे तस्सिं पच्चुप्पण्णा मदी। (ननु पृष्टोऽस्मि। पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः।)

राजा—कथ्यताम्।

विदूषकः—भणिदं मए। देव्वचिन्तएहिं विण्णाविदो राआ—सोवसग्गं वो णक्खत्तं। ता अवस्सं सव्वबन्धमोक्खो करीअदु त्ति (भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।)

राजा—[सहर्षम्] ततस्ततः।

विदूषकः—तं सुणिअ देवीए इरावदीए चित्तं रक्खन्तीए राआ किल मोएदि त्ति अहं सन्दिट्ठो त्ति। तदो जुज्जदि त्ति ताए एव्व सम्पादिदो अत्थो। (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीत्यहं संदिष्ट इति। ततो युज्यत इति तयैव सम्पादितोऽर्थः।)

राजा—[विदूषकं परिष्वज्य] सखे! प्रियोऽहं खलु तव।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते॥६॥

विदूषकः—तुवरदु भवं। समुद्दघरए सहीसहिदं मालविअं ठाविअ भवन्तं पच्चुग्गदोम्हि। (त्वरतां भवान्। समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि।)

---

राजा—मैं मुद्रा के सम्बन्ध में नहीं पूछ रहा हूँ। इन दोनों को क्यों छोड़ा जा रहा है और देवी ने अपनी दासियों को छोड़कर आपसे यह सन्देश क्यों भेजा—यह सब बातें भी तो उसे पूछनी चाहिए थीं।

विदूषक—अरे! यह सब तो उसने पूछा ही था। किन्तु उसी समय मुझ मूर्ख की भी बुद्धि जाग्रत हो गई।

राजा—तो बताओ न।

विदूषक—मैंने कहा। ज्योतिषियों ने महाराज से बताया है कि आपके ग्रह विरुद्ध पड़ रहे हैं, तो इनकी शान्ति के लिए सभी बन्दियों को मुक्त करवा दीजिए।

राजा—[सहर्ष] तब फिर।

विदूषक—यह बात सुनकर महारानी ने इरावती का मन रखने के लिए मुझसे यह सन्देश भेजा है, जिससे ज्ञात हो कि राजा ने इन्हें छुड़वाया है। वह इस मेरी बात को सच मान गई और उन्हें मुक्त कर दिया।

राजा—[विदूषक को गले लगाकर] मित्र! मैं तुम्हारा सचमुच प्रिय हूँ। क्योंकि केवल बुद्धि के द्वारा ही कोई अपने मित्रों का काम नहीं करता, कार्य की सफलता का मार्ग बहुत सूक्ष्म होता है, और वह स्नेह के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥६॥

विदूषक—आप शीघ्रता करें। उस समुद्रगृह में मालविका और बकुलावलिका को बैठाकर मैं आपके समीप चला आया हूँ।

राजा—अहमेना समावयामि। गच्छाग्रत।

विदूषकः—एदु भव। [परिश्रम्य] एद समुद्दघर। (एतु भवान्। इदं समुद्रगृहम्।)

राजा—[साशङ्कम्।] वयस्य। एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका सनिकृष्टमागच्छति। इतस्तावदावां भित्तिगूढौ भवाव।

विदूषकः—अहो। कुम्भीलएहिं कामुएहिं च परिहरणीआ क्खु चन्दिआ। (अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका।)

[उभौ यथोक्तं कुरुतः।]

राजा—गौतम! कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति। एहि। एनां गवाक्षमाश्रित्य विलोकयाव।

विदूषकः—तह। (तथा।)

[उभौ विलोकयन्तौ तिष्ठतः।]

[ततः प्रविशति मालविका बकुलावलिका च।]

बकुलावलिका—सहि! पणम भट्टार। (सखि। प्रणम भर्तारम्।)

मालविका—णमो दे। (नमस्ते।)

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निर्दिशति।

मालविका—[सहर्षं द्वारमवलोक्य सविषादम्] हला! म वप्पलम्भेसि! (सखि। मा विप्रलम्भयसि।)

---

राजा—मैं चलकर उसका आदर करता हूँ, तुम आगे आगे चलो।

विदूषक—आइए, आप। [चलकर] यही समुद्रगृह है।

राजा—[आशंका के साथ] मित्र! तुम्हारी सखी इरावती की दासी चन्द्रिका पुष्प चुनती हुई इसी ओर समीप चली आ रही है। तो आओ, हम दोनों इस दीवार की ओट में छिप जायँ।

विदूषक—हाँ, हाँ, चन्द्रिका (चांदनी रात) से तो चोर और कामुक को बचना ही चाहिए।

[दोनों दीवार की ओट में छिप जाते हैं।]

राजा—मित्र गौतम! तुम्हारी सखी मालविका मेरी प्रतीक्षा किस प्रकार से करती है। आओ, उसे इस खिड़की में से हम लोग तनिक देखें तो।

विदूषक—बहुत अच्छा। [दोनों खिड़की में से देखते हैं।]

[तदनन्तर मालविका तथा बकुलावलिका का प्रवेश होता है।]

बकुलावलिका—सखी! महाराज को प्रणाम करो।

मालविका—आपको प्रणाम निवेदन करती हूँ।

राजा—जान पड़ता है, यह मेरा चित्र दिखला रही है।

मालविका—[प्रसन्नता के साथ द्वार को देखकर फिर विषाद के साथ] सखी! तुम मुझे धोखा दे रही हो।

राजा—हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्या प्रीतोऽस्मि।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य।
वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणाद्ढे ॥७॥

बकुलावलिका—ण एसो चित्तगदो भट्टा। (नन्वेष चित्रगतो भर्ता।)

उभे—(प्रणिपत्य।) जेदु भट्टा। (जयतु भर्ता।)

मालविका—हला! तदा सम्भमदिट्ठे भट्टिणो रूवे जहा ण वितिण्हम्हि तहा अज्जवि मए भाविदो अवितिण्हदसणो भट्टा। (सखि! तदा सम्भ्रमदृष्टे भर्तू रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथापि मया भाविनोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता।)

विदूषकः—सुदं भवदा। तत्तहोदी—चित्ते जहा दिट्ठो ण तहा दिट्ठो भव त्ति मन्तेदि। मुहा दाणिं मज्जूसा विअ रअणभण्डअं जोव्वणगव्वं वहेसि। (श्रुतं भवता। तत्रभवती—चित्रे यथा दृष्टो न तथा दृष्टो भवानिति मन्त्रयति। मुधेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि।)

राजा—सखे! कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः। पश्य—

कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम्।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥८॥

मालविका—हला! का एसा पासपरिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाइअदि। (सखि! कैषा पार्श्वपरिवृत्तमुखेन भर्त्रा मे स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते।)

---

राजा—इनके इस हर्ष और विषाद को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है।

सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय कमल की जो दो दशाएँ होती हैं, उन्हें इस सुन्दर मुख-वाली मालविका के मुख ने एक ही क्षण में धारण कर लिया था॥७॥

बकुलावलिका—अरे! यह सामने चित्र में महाराज विद्यमान हैं।

दोनों—[प्रणाम करके] महाराज की जय हो।

मालविका—हे सखी! उस दिन घबराहट में मैं महाराज के सुन्दर रूप को जितना अच्छी तरह नहीं देख सकी थी वैसे ही आज इस चित्र में अच्छी तरह देख करके भी मेरा चित्त भरा नहीं है।

विदूषक—आपने कुछ सुना। यह कह रही है कि आपको चित्र में जिस प्रकार सुन्दर देखा है उसी प्रकार प्रत्यक्ष में नहीं देखा था। तब तो रत्न के छूँछे डिब्बे से युक्त मंजूषा की भाँति व्यर्थ ही यौवन का गर्व आपने धारण किया है।

राजा—मित्र! अत्यन्त उत्कण्ठा रखकर भी स्त्रियाँ बड़ी लज्जाशील हुआ करती हैं। क्योंकि ये स्त्रियाँ अपने प्रथम समागम में अपने प्रियतम को जी भरकर देखना तो चाहती हैं किन्तु उन विशाल लोचनोंवाली सुन्दरियों की आँखें सम्पूर्ण रूप से अपने प्रियतम की ओर उठ ही नहीं पातीं॥८॥

मालविका—सखी! यह कौन देवी हैं, जिन्हें इधर मुँह घुमाकर महाराज प्रेम-भरी दृष्टि से देख रहे हैं।

बकुलावलिका—ण इअ पासगदा इरावदी। (नन्विय पार्श्वगतेरावती।)

मालविका—सहि! अदक्खिणो विअ भट्टा मे पडिभादि जो सव्वदेवीजण उज्झिअ एक्काए मुहे बद्धलक्खो। (सखि! अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः।)

बकुलावलिका—[आत्मगतम्] चित्तगद भट्टारअ परमत्थदो सकप्पिअ असूअदि। होदु। कीडिस्स दाव एदाए। [प्रकाशम्] हला भट्टिणो वल्लहा एसा। (चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति। भवतु। क्रीडिष्यामि तावदेतया। सखि भर्तुर्वल्लभैषा।)

मालविका—तदो कि दाणि अत्ताण आआसइस्स। (ततः किमिदानीमात्मानमायासयिष्यामि।) [इति सासूयं परावर्तते।]

राजा—सखे! पश्य।

**भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या।**
**कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा।।९।।**

विदूषक—अणुणअसज्जो दाणि होहि। (अनुनयसज्ज इदानीं भव।)

मालविका—अज्जगोदमो एत्थ एव ससेवदि ण। (आर्यगौतमोऽत्रैव ससेवत एनाम्।) [पुनः स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति।]

बकुलावलिका—[मालविकां रुद्ध्वा।] ण क्खु कुविदा दाणि तुम। (न खलु कुपितेदानीं त्वम्।)

---

बकुलावलिका—अरे यह राजा की बगल में खड़ी हुई इरावती है।

मालविका—सखी! मुझे तो महाराज का प्रेम सब पर एक समान नहीं दिखाई पड़ रहा है। क्योंकि वे अन्य सभी रानियों को छोड़कर केवल एक ही के मुख की ओर इस प्रकार देख रहे हैं।

बकुलावलिका—[मन ही मन] यह चित्र में विद्यमान महाराज को वास्तविक मानकर इस प्रकार से डाह कर रही है। अच्छा तो इससे जरा मजाक करूँ। [प्रकट रूप में] सखी! यह महाराज की अत्यन्त प्रेमिका हैं।

मालविका—तब फिर मैं अपने को इस कष्टदायक स्थिति में क्यों डालूँ। [डाह के साथ मुँह दूसरी ओर घुमाकर बैठ जाती है।]

राजा—मित्र देखो तो, इसने डाह के कारण मेरे चित्र की ओर से अपना मुख हटा लिया है। भौंहें चढ़ा लेने से ललाट का तिलक बिगड़ गया है। नीचे का होंठ ऐंठा पड़ा रहा है मानों इसके नाट्यकला के शिक्षक ने प्रियतम के अपराध पर क्रोध प्रकट करने के लिए इसे जिस सुन्दर अभिनय को करने की शिक्षा दी है, उसे ही इस समय सम्पन्न करके दिखला रही है।।९।।

विदूषक—तब फिर अब इसे मनाने के लिए तैयार हो जाइए।

मालविका—आर्य गौतम भी तो यहीं बैठे हुए इन्हीं की सेवा में लगे हैं। [मुँह फिर से दूसरी ओर कर लेती है। और अन्यत्र जाना चाहती है।]

बकुलावलिका—[मालविका को रोककर] अरे! अब तू अप्रसन्न तो नहीं हो गई।

मालविका—जइ चिर कुविद एव्व म मण्णेसि एसो पच्चाणीअदि कोवो। (यदि चिर कुपितामेव मा मन्यसे एष प्रत्यानीयते कोप.।)

राजा—[उपेत्य]

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे।
ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥१०॥

बकुलावलिका—जेदु जेदु भट्टा। (जयतु जयतु भर्ता।)

मालविका—[आत्मगतम्] कह चित्तगदो भट्टा मए असूइदो। (कथ चित्रगतो भर्ता मयासूयित।) [प्रकाश सव्रीडवदनमञ्जलिं करोति।]

[राजा मदनकातर्यं रूपयति।]

विदूषक—किं भव उदासीणो विअ दीसइ। (किं भवानुदासीन इव दृश्यते।)

राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्तव।

विदूषक—अत्तहोदीए अअ कह तुह अविस्सासो। (अत्र भवत्यामयं कथं तवाविश्वासः।)

राजा—श्रूयताम्।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-
त्सरति सहसा बाह्वोर्मध्यं गतापि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैव समागममायया
कथमिव सखे विश्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥११॥

---

मालविका—यदि तुम यह समझती हो कि मैं सदा अप्रसन्न ही रहती हूँ तो लो मैं सचमुच रूठ जाती हूँ।

राजा—[समीप में आकर] हे कमलनयनी! तुम इस चित्र में बने हुए मेरे भावों को देखकर क्यों रूठ रही हो। अरे! तुम्हारे सामने असाधारण दास के रूप में तो मैं प्रत्यक्ष उपस्थित हूँ ॥१०॥

बकुलावलिका—महाराज की जय हो, जय हो।

मालविका—[मन ही मन] अरे! मैंने चित्र में विद्यमान महाराज को क्यों दोषी ठहराया। [राजा के प्रति स्नेहपूर्वक हाथ जोड़ती है।]

[राजा प्रेम की पीड़ा से व्याकुल होने का नाट्य करता है।]

विदूषक—आप अब उदासीन की भाँति क्यों हो गए हैं?

राजा—तुम्हारी सखी के अपने प्रति विश्वास न होने के कारण।

विदूषक—अरे! क्या आप इन पर विश्वास नहीं कर रहे हैं?

राजा—सुनिए! यह तुम्हारी सखी कभी तो मेरे नेत्रों के सामने आती है और कभी क्षण भर में ही गायब हो जाती है और कभी मेरी भुजाओं के बीच में आकर सहसा सरक जाती है। काम-वेदना से अत्यन्त पीड़ित प्रणयी के प्रति इस प्रकार की वंचना के करते रहने पर भी भला इन पर मेरा मन कैसे विश्वास करे ॥११॥

बकुलावलिका—सहि! बहुसो क्खु भट्टा विपलद्धो। ता तुए अत्ता विस्ससणिज्जो करीअदु। (सखि! बहुशः किल भर्ता विप्रलब्धः। तत्त्वयात्मा विश्वसनीयः क्रियताम्।)

मालविका—सहि। मह उण मन्दभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि। (सखि! मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत्।)

बकुलावलिका—भट्टा वहेदु से उत्तर। (भर्ता कथयत्वस्या उत्तरम्।)

राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम्।
तव सख्ये मया दत्तो न सेव्य. सेविता रहः॥१२॥

बकुलावलिका—अणुगहीदम्हि। (अनुगृहीतास्मि।)

विदूषक—[परिक्रम्य ससंभ्रमम्] बउलावलिए! एसोबालासोअरुक्खस्स पल्लवाइं लङ्घेदि हरिणो। एहि णिवारेम ण। (बकुलावलिके। एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिण.। एहि निवारयाम एनम्।)

बकुलावलिका—तह। (तथा।) [इति प्रस्थिता।]

राजा—वयस्य। एवमेवास्मिन्रक्षणक्षणेऽवहितेन त्वया भवितव्यम्।

विदूषकः—एव्व वि गोदमो सन्दिसेअदि। (एवमपि गौतम' सन्दिश्यते।)

बकुलावलिका—[परिक्रम्य] अज्ज गोतम! अहं अप्पआसे चिट्ठामि। तुम दुवार-रक्खओ होहि। (आर्य गौतम! अहमप्रकाशे तिष्ठामि। त्वं द्वाररक्षको भव।)

---

बकुलावलिका—सखी! तुमने सचमुच महाराज को अनेक बार छकाया है। तो अब अपने को विश्वास के योग्य सिद्ध करो।

मालविका—अरी सखी! मुझ अभागिनी के लिए तो स्वामी का समागम स्वप्न में भी दुर्लभ था।

बकुलावलिका—स्वामी! इसका उत्तर तो अब आप ही दे सकते हैं।

राजा—मुझे उत्तर देने की अब क्या आवश्यकता है। मैंने काम की अग्नि को साक्षी बनाकर तुम्हारी सखी को अपनी आत्मा ही समर्पित कर दी है। जो एकान्त में सेवापरायण हो उसे सेव्य बनाना उचित नहीं है॥२१॥

बकुलावलिका—आभारी हूँ।

विदूषक—[घूमकर, घबराहट के साथ] अरी बकुलावलिका! इस छोटे से अशोक के पल्लवों को यह हरिण का छौना कुतरना चाहता है, तो आओ, चलकर उसे रोकें।

बकुलावलिका—बहुत अच्छा। [जाती है।]

राजा—मित्र! देखना, इस रखवाली करने योग्य अवसर पर बड़ी सावधानी तुम्हें रखनी होगी।

विदूषक—क्या यह बात भी अब गौतम को समझानी होगी।

बकुलावलिका—[घूमकर] आर्य गौतम! मैं आड़ में छिपी रहती हूँ। तुम द्वार की रखवाली करना।

विदूषकः—जुज्जइ। (युज्यते।)

[निष्क्रान्ता बकुलावलिका।]

विदूषकः—इमं दाव फलिहत्थम्भअस्सिदो होमि। [इति तथा कृत्वा] अहो सुहप्फरिसदा सिलाविसेसस्स। (इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाश्रितो भवामि। अहो सुखस्पर्शता शिलाविशेषस्य।) [इति निद्रायते।]

[मालविका ससाध्वसा तिष्ठति।]

राजा—

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥१३॥

मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि। (देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।)

राजा—अयि न भेतव्यम्।

मालविका—[सोपालम्भम्] जो ण भाअदि सो मए भट्टिणीदंसणे दिट्ठसामत्थो भट्टा। (यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता।)

राजा—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥१४॥

---

विदूषक—यह ठीक है। [बकुलावलिका जाती है।]

विदूषक—तो चलूं इस स्फटिक के खम्भे का सहारा लेकर बैठूं। [बैठता है।] वाह, यह कितनी शीतल तथा चिकनी शिला है। [ऊँघने लगता है।]

[मालविका भयभीत सी खड़ी रहती है।]

राजा—हे सुन्दरी! तुम मेरे समागम से मत डरो। मैं तो बहुत दिनों से तुम्हारे लिए अधीर हो रहा था। जिस प्रकार से माधवी लता आम के वृक्ष से लिपट जाती है, वैसे ही तुम भी आकर मुझसे लिपट जाओ॥१३॥

मालविका—महारानी के भय से अपने मन का मनोरथ भी नहीं पूर्ण कर पाती हूँ।

राजा—अरे! ऐसा नहीं डरना चाहिए।

मालविका—[उलाहना के स्वर में] जी हाँ, आज नहीं डर रहे हैं, उन्हीं महाराज का साहस उस दिन देवी इरावती के आ जाने पर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।

राजा—हे बिम्बाफल के समान लाल अधरवाली! प्रेमी लोग यों तो दिखाने के लिए सभी सुन्दरी रमणियों से प्रेम करते हैं, किन्तु हे दीर्घनेत्रे! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा में बँधे हुए हैं॥१४॥

तदनुगृह्यतां चिरानुरक्तोऽयं जनः। [इति सश्लेषमुपजनयति।]

[मालविका नाट्येन परिहरति।]

**राजा**—[आत्मगतम्] रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः। तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुणद्धि रशनाव्यापारलोलाङ्गुलीः
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥१५॥

[ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च।]

**इरावती**—हञ्जे [illegible]
एआई अज्जगोदमो [illegible]
समुद्रगृहालिन्दशयित [illegible]

**निपुणिका**—अण्णहा कहं भट्टिणीए विण्णावेमि। (अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि।)

**इरावती**—तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह। ससआदो मुत्तं पिअवअस्सं पुच्छिदुं अ। (तेन हि तत्रैव गच्छामः संशयान्मुक्तं प्रियवयस्यं प्रष्टुं च।)

**निपुणिका**—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं। (सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम्।)

---

तो इस चिरकाल से अनुरक्त जन पर तुम अनुग्रह करो। [आलिंगन करना चाहता है। और मालविका अभिनयपूर्वक आलिंगन से बचती जाती है।]

**राजा**—[मन ही मन] अहा! नई नवेली रमणियों में कामवासना का उदय भी कितना मनोहर होता है। क्योंकि यह मालविका अपने हाथों को कँपाती है। करधनी खोलने के लिए उत्सुक मेरी अंगुलियों को रोक लेती है। और जब हम बलपूर्वक इसे आलिंगन पाश में बाँधना चाहते हैं तो यह अपने दोनों हाथों से अपने स्तनमण्डल को ढँक लेती है, और जब मैं इसके सघन पलकों से युक्त नेत्रों के कारण अतीव सुन्दर लगनेवाले मुख को चूमने के लिए ऊपर उठाता हूँ, तो यह अपने मुख को घुमा लेती है। और इस प्रकार मानो अपने निषेध के बहाने ही यह मेरी अभिलाषा की पूर्ति का सुख मुझे दे रही है ॥१५॥

[इसी समय इरावती और निपुणिका का प्रवेश होता है।]

**इरावती**—अरी निपुणिका! सचमुच क्या तुमसे चन्द्रिका ने कहा है कि—समुद्र-गृह के दरवाजे पर सोते हुए अकेले आर्य गौतम को मैंने देखा है।

**निपुणिका**—तो मैं स्वामिनी से झूठे ही थोड़े कह देती।

**इरावती**—तो फिर वहीं चलती हूँ, अपना सन्देह भी दूर कर लूँगी और प्रिय मित्र से उनका कुशल समाचार भी पूछ लूँगी।

**निपुणिका**—स्वामिनी जैसे कुछ और भी कहना चाहती थी।

इरावती—अण्ण च चित्तगदं अज्जउत्तं पसादेदुं। (अन्यच्च चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम्।)

निपुणिका—अह दाणिं वहिणु भट्टा एव्व अणुणीअदि। (अथेदानीं कथं नु भर्तैवानुनीयते।)

इरावती—मुद्धे! जारिसो चित्तगदो ण तारिसो एव्व अण्णसंकन्तहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कम पमज्जिदुं अअं आरम्भो। (मुग्धे! यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसंक्रान्तहृदय आर्यपुत्रः। केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्जितुमयमारम्भः।)

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी (इत इतो भट्टिनी।)

[उभे परिक्रामतः।]

[प्रविश्य]

चेटी—जेदु जेदु भट्टिणी। भट्टिणि देवी भणादि—ण मे मच्छरस्स एसो कालो। तेण क्खु बहुमाणं वड्ढेदुं वअस्साए सह णिअलबन्धणे किदा मालविआ। जइ अणुमण्णसि अज्जउत्तस्स पिअं कादुं तहा करेमि। जं तुह इच्छिअं तं मे भणाहि त्ति। (जयतु जयतु भट्टिनी। भट्टिनि! देवी भणति—न मे मत्सरस्यैष कालः। तेन खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणेति।)

इरावती—णाअरिए! विण्णावेहि देवीं—का वअं भट्टिणीं णिओजेदुं। परिअणणिग्गहेण दंसिदो मइ अणुग्गहो। कस्स वा पसादेण अअं जणो वड्ढदि त्ति। (नागरिके! विज्ञापय देवीम्—का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण दर्शितो मय्यनुग्रहः। कस्य वा प्रसादेनायं जनो वर्धत इति।)

---

इरावती—हाँ, यही कि वहाँ चलकर चित्र में विद्यमान आर्यपुत्र को भी मना लिया जायगा।

निपुणिका—तब फिर आप इस समय महाराज को ही चलकर क्यों नहीं मना लेतीं।

इरावती—अरी मूर्खे! आर्यपुत्र का हृदय किसी दूसरी में लगा हुआ है, अत मेरे लिए जैसे वे प्रत्यक्ष वैसे ही चित्र में विद्यमान। यह तो मैं इसलिए करना चाहती हूँ कि उस दिन जो उनके साथ साधारण शिष्टाचार का भी पालन मैं नहीं कर सकी थी।

निपुणिका—स्वामिनी इधर से आएँ, इधर से। [दोनों घूमती हैं।]

दासी—[प्रवेश करके] स्वामिनी की जय हो, जय हो। महारानी ने कहा है—यह हम लोगों के लिए झगड़ने या रूठने का समय नहीं है। इसीलिए मैंने तुम्हारी ही बात का बहुत सम्मान करके सखी समेत मालविका को बन्धन में डाल दिया है। और भी, आर्यपुत्र का प्रिय करने के लिए तुम जो कुछ सोचो, बताओ वह भी करूँगी। तुम जो कुछ चाहो, मुझे बतला देना।

इरावती—नागरिका! महारानी से जाकर निवेदन कर देना कि महारानी से अपना काम करानेवाली मैं कौन होती हूँ। अपनी दासियों को बन्धन में डालकर उन्होंने मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है। मैं भला किसी अन्य की कृपा से थोड़े ही सम्मानित हुई हूँ।

चेटी—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ता।]

निपुणिका—[परिक्रम्यावलोक्य च] भट्टिणि! एसो दुवाहदेसे समुद्दघरअस्स विपणिगदो विअ बलीवद्दो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि। (भट्टिनि! एष द्वारोद्देशे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।)

इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसो विसविआरो हवे। (अत्याहितम्। न खलु सावशेषो विषविकारो भवेत्।)

निपुणिका—पसण्णमुहवण्णो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छिदो। ता से असङ्कणिज्ज पाव। (प्रसन्नमुखवर्णो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्याशङ्कनीयं पापम्।)

विदूषक—[उत्स्वप्नायते] भोदि मालविए। (भवति मालविके।)

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए। कस्स एसो अत्तणिओअसम्पादणे विस्ससणिज्जो हदासो। सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खिं पूरिअ सपदं मालविअं सिविणावेदि। (श्रुतं भट्टिन्या। कस्यैष आत्मनियोगसम्पादने विश्वसनीयो हताशः। सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा साम्प्रतं मालविकां स्वप्नायते।)

विदूषक—इरावदी अदिक्कमन्ती होहि। (इरावतीमतिक्रामन्ती भव।)

निपुणिका—एदं अच्चाहिदं। इमं भुअङ्गभीरुअं बह्मबन्धुं इमिणा भुअगकुडिलेण दण्डकट्ठेण खम्भन्तरिदा भाअइस्सं। (एतदत्याहितम्। इमं भुजगभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भाययिष्यामि।)

इरावती—अरिहदि एव्व किदग्घो उवद्दवस्स। (अर्हत्येव कृतघ्न उपद्रवस्य।)

---

दासी—बहुत अच्छा। [जाती है।]

निपुणिका—[घूमकर और देखकर] स्वामिनी! देखें। यह समुद्रगृह के द्वार पर बाजार की सड़क पर सोए हुए भाड़ की तरह आर्य गौतम बैठे हुए ऊँघ रहे हैं।

इरावती—यह तो बहुत बुरा हुआ। कहीं इसके विष का विकार अभी शेष न रह गया हो।

निपुणिका—इसके चेहरे का रंग तो अच्छा दिखाई पड़ रहा है। और जबकि ध्रुवसिद्धि ने विष का उपचार किया है तब फिर इसके अनर्थ की आशंका नहीं करनी चाहिए।

विदूषक—[स्वप्न में बड़बड़ाते हुए की भाँति] देवी मालविका!

निपुणिका—स्वामिनी ने कुछ सुना। अपना कार्य सिद्ध कराने के लिए इस अभागे व्यक्ति पर भला कौन विश्वास करेगा? सदा-सर्वदा तो यह आपके यहाँ के मांगलिक पूजा के लड्डुओं से अपना पेट भरता है और स्वप्न में मालविका को देखा करता है।

विदूषक—तुम इरावती से भी आगे बढ़ जाओ।

निपुणिका—यह तो बड़ा ही अनर्थ हुआ। सर्प से डरनेवाले इस नीच ब्राह्मण को इस सर्प के समान टेढ़े-मेढ़े लकड़ी के डण्डे से इस खम्भे के पीछे छिपकर मैं डरवाऊँगी।

इरावती—यह कृतघ्न इस उपद्रव के योग्य है ही।

[निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति।]

विदूषक—[सहसा प्रबुध्य] अविहा अविहा। भो वअस्स। सप्पो मे उवरि पडिदो। (अविधा अविधा। भो वयस्य! सर्पो मे उपरि पतितः।)

राजा—[सहसोपसृत्य] सखे न भेतव्यं न भेतव्यम्।

मालविका—[अनुसृत्य] भट्टा। मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पो त्ति भणीअदि। (भर्तः! मा तावत्सहसा निष्काम। सर्प इति भण्यते।)

इरावती—हद्धी हद्धी। भट्टा इदो एव्व धावदि। (हा धिक् हा धिक्। भर्ता इत एव धावति।)

विदूषक—[सप्रहासम्] कहं दण्डकट्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए केदईकण्टएहिं दंसं करिअ सप्पस्स उवरि अजसं किदं तं मे फलिदं त्ति। (कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकण्टकैर्दंशं कृत्वा सर्पस्योपर्ययशः कृतं तन्मे फलितमिति।)

[प्रविश्य पटाक्षेपेण।]

बकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु। इह कुडिलगई सप्पो विअ दीसदि। (मा तावद्भर्ता प्रविशतु। इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते।)

इरावती—[स्तम्भान्तरिता राजानं सहसोपेत्य] अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवासंकेदो मिहुणस्स। (अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासङ्केतो मिथुनस्य।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः।]

---

[निपुणिका विदूषक के ऊपर उस टेढ़े-मेढ़े लकड़ी के डण्डे को फेंकती है।]

विदूषक—[एकाएक जागकर] हाय! हाय! अरे मित्र! मेरे ऊपर तो सर्प गिर गया है।

राजा—[तुरन्त समीप आकर] मित्र! डरो मत, डरो मत।

मालविका—[पीछे-पीछे आकर] स्वामी! ऐसे मत जाइए। वह कह रहे हैं कि सर्प है।

इरावती—हाय हाय! महाराज इसी ओर दौड़े चले आ रहे हैं।

विदूषक—[हँसते हुए] अरे यह तो लकड़ी का डण्डा है। मैंने तो समझा था कि केतकी के काँटों से सर्प के डस का चिह्न बनाकर मैंने सर्पों पर जो मिथ्या कलङ्क लगाया था, उसी का परिणाम यह मुझे भुगतना पड़ रहा है।

बकुलावलिका—[पर्दा हटाते हुए प्रवेश करके] अरे! महाराज इधर न आएँ। यह तो सर्प की तरह टेढ़ा चलता हुआ कुछ दिखाई पड़ रहा है।

इरावती—[खम्भे की आड़ से एकाएक राजा के समीप आकर] कहिए! जुगल जोड़ी की दिन में संकेत करके जो मनोरथ की पूर्ति होने वाली थी वह तो निर्विघ्न सम्पन्न हो गई न?

[सभी लोग इरावती को देखकर घबरा जाते हैं।]

राजा—प्रिये अपूर्वोऽयमुपचारः।

इरावती—बउलावलिए! दिट्ठिआ दुव्वाहिआरविसआ सपुण्णा दे पइण्णा। (बकुलावलिके! दिष्ट्या दूत्याभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा।)

बकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी। किं मए किद त्ति देवो पुच्छिदव्वो। दद्दुरा वाहरन्ति त्ति किं देवो पुहवीएँ वरिसिदुं विरमदि। (प्रसीदतु भट्टिनी। किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः। दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्या वर्षितुं स्मरति।)

विदूषकः—मा दाव। भोदीए दसणमत्तेण अत्तभव पणिवादलङ्घण विसुमरिदो। तुम उण अज्जवि पसाद ण गेण्हसि। (मा तावत्। भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान्प्रणिपातलङ्घनं विस्मृतः। त्वं पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णासि।)

इरावती—कुविदा दाणिं अहं किं करिस्सं। (कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि।)

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि। तथा हि।

कदा मुखं वरतनु कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति॥१६॥

इरावती—अट्ठाणे त्ति सुट्ठु वाहरिद अज्जउत्तेण। अण्णसकन्तेसु अम्हाण भाअहेएसु जइ उण कुप्पेअं तदो ण अहं हस्सा भवेअं। (अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण। अन्यसंक्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयम् ततो नन्वहं हास्या भवेयम्।)

---

राजा—प्रिये! यह शिष्टाचार अपूर्व ही रहा।

इरावती—बकुलावलिका! तुझे इस अभिसार की सफल दूती बनने की बधाई है। तेरी प्रतिज्ञा तो पूर्ण हो गई न?

बकुलावलिका—स्वामिनी क्रोध न करें। मैंने क्या किया है, इस सम्बन्ध में आप महाराज से ही पूछ लें। क्या मेंढकों की टर्र-टर्र आवाज को सुनकर ही देव पृथ्वी पर जल बरसाने का स्मरण करते हैं।

विदूषक—अजी! ऐसा न कहिए। देखिए आपको देखते ही महाराज अपने प्रणिपात का उल्लंघन करने का आपका अपराध भूल गए। और तुम हो जो अब भी प्रसन्न नहीं हो रही हो।

इरावती—मैं अप्रसन्न रहकर भी अब क्या करूँगी।

राजा—किन्तु बिना किसी अवसर के ही इस प्रकार तुम्हारा रूठ जाना उचित नहीं है। क्योंकि हे सुन्दर शरीरवाली! इसके पहले तुमने कब अपना मुख क्रोध के कारण विकृत किया था। भला पूर्णमासी के बिना राहु के ग्रसने से चन्द्रमण्डल किस रात्रि को कलुषित होता है॥१६॥

इरावती—आर्यपुत्र यह ठीक ही कह रहे हैं कि मैं बिना अवसर के ही रूठ गई हूँ। हमारे स्वामी हमारे सौभाग्य को किसी अन्य को सौंप रहे हों, यदि इस अवसर पर मैं क्रोध प्रकट करूँ तो इससे तो मैं अपनी हँसी ही कराऊँगी।

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च॥१७॥

इरावती—णिउणिए! गच्छ। देवीं विण्णावेहि—दिट्ठो भवदीए पक्खवादो ण अज्ज त्ति। (निपुणिके! गच्छ। देवीं विज्ञापय—दृष्टो भवत्याः पक्षपातो नन्वद्येति।)

निपुणिका—तह। (तथा।) [इति निष्क्रान्ता।]

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहो अणत्थो सम्पडिदो। बन्धणब्भट्टो गिहकवोदो बिडालिआए आलोए पडिदो। (अहो अनर्थः संपतितः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः।)

निपुणिका—[प्रविश्यापवार्य] भट्टिणि! जदिच्छादिट्ठाए माहविआए आचक्खिदं—एव्वं क्खु एदं णिव्वुत्तं त्ति। (भट्टिनि! यदृच्छादृष्टया माधविकयाख्यातम्—एवं खल्वेतन्निर्वृत्तमिति।) [इति कर्णे कथयति।]

इरावती—[आत्मगतम्] उववण्णं। सच्चं अज्ज एत्थ बह्मबन्धुणा किदो पओओ। [विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्] इअं इमस्स कामतन्तसचिवस्स णीदी। (उपपन्नम्। सत्यमद्यात्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः।)

विदूषकः—भोदि! जदि णीदिगदं एक्कं वि अक्खरं पढेअं ण मए अत्तभवं पेसिदो हुवे। (भवति! यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं ननु मयात्रभवान्प्रेषितो भवेत्।)

---

राजा—तुम तो दूसरी ही कल्पना करने लगती हो। मैं तो वस्तुतः इस अवसर पर तुम्हारे क्रोध करने का कोई कारण नहीं देखता। क्योंकि,

उत्सव के दिनों में अपराधी दास-दासियों को भी दण्ड देना उचित नहीं होता, इसीलिए मैंने इन दोनों को बन्धन से मुक्त करा दिया था और उसी उपलक्ष में ये दोनों मुझे प्रणाम करने के लिए यहाँ आई हुई थीं॥१७॥

इरावती—निपुणिका! जाओ और महारानी को सूचना दो कि वे मुझे जितना मानती हैं वह आज देख लिया गया।

निपुणिका—बहुत अच्छा। [जाती है]

विदूषक—[मन ही मन] यह तो अनर्थ हो गया। बन्धन से छूटा हुआ पालतू कबूतर बिल्ली की आँखों के सामने पड़ गया।

निपुणिका—[प्रवेश करके अलग से] स्वामिनी! अभी संयोग से मुझे माधविका मिल गई थी। उसने बताया है कि यह सब इस प्रकार से हुआ है। [कान में सब बताती है।]

इरावती—समझ गई। यह सब इसी दुष्ट ब्राह्मण की करतूत है। [विदूषक को ओर देखकर प्रकट रूप में] यह सब इसी कामसचिव की नीति फलित हुई है।

विदूषक—देवी! यदि मैंने नीति का एक भी अक्षर पढ़ा होता तो मैं महाराज को यहाँ भला भेजता?

**राजा**—[आत्मगतम्] कथं नु खल्वस्मात्सङ्कटादात्मानं मोचयिष्यामि।

[प्रविश्य]

**जयसेना**—देव ! कुमारी वसुलच्छी कन्दुअं अणुधावन्दी पिङ्गलवाणरेण बलीअं तासिदा अङ्कणिसण्णा देवीए पवादकिसलअं विअ वेवमाणा ण किंवि पकिदिं पडिवज्जइ। (देव ! कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवत्त्रासिताङ्कनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किंचित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते।)

**राजा**—कष्टं कष्टम्। कातरो बालभावः।

**इरावती**—[सावेगम्] तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासिदुं। मा से संतासजणिदो विआरो वड्ढदु। (त्वरतामार्यपुत्र एनां समाश्वासयितुम्। मास्याः संत्रासजनितो विकारो वर्धताम्।)

**राजा**—अयमेनामहं संज्ञापयामि। [इति सत्वरं परिक्रामति।]

**विदूषकः**—साहु रे पिङ्गलवाणर साहु। परित्तादो तुए सपक्खो। (साधु रे पिङ्गलवानर साधु। परित्रातस्त्वया स्वपक्षः।)

[निष्क्रान्तो राजा विदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च।]

**मालविका**—हला ! देविं चिन्तिअ वेवदि मे हिअअं। ण जाणे अदो वरं किं वा अणुहविदव्वं हविस्सदि त्ति। (सखि ! देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम्। न जानेऽतः परं किं वानुभवितव्यं भविष्यतीति।)

---

**राजा**—[मन ही मन] अब इस संकट से मैं अपने को कैसे बचाऊँ ?

जयसेना—[प्रवेश करके] महाराज ! कुमारी वसुलक्ष्मी गेंद के पीछे-पीछे दौड़ रही थी कि इसी बीच एक पीला बन्दर वहाँ आ पहुँचा तो उसे देखकर वह अत्यन्त डर गई हैं। वह महारानी की गोद में पड़ी हुई आँधी से हिलती हुई पल्लव के समान काँप रही हैं और उन्हें तनिक भी होश नहीं हो रहा है।

**राजा**—अरे ! यह तो बड़े कष्ट की बात है। बच्चों का डरने का स्वभाव ही होता है।

**इरावती**—[घबराहट के साथ] आर्यपुत्र ! वसुलक्ष्मी को धैर्य बँधाने के लिए आप शीघ्र चलें। उसका भय का विकार कहीं बढ़ न जाय।

**राजा**—मैं अभी चलकर उसे होश में लाता हूँ। [जल्दी से घूमते हैं।]

**विदूषक**—वाह रे पीले वानर ! तुमने अपने पक्ष को अच्छा बचा लिया।

[राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका तथा प्रतीहारी सब जाते हैं।]

**मालविका**—सखी ! महारानी का विचार करके मेरा हृदय काँपता है। न जाने अब इस घटना के बाद हमें क्या भोगना पड़ेगा और कौन-सी घटना घटित होगी।

[नेपथ्ये।]

अच्चरिअ अच्चरिअ। अपुण्णे एव्व पचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं सणद्धो तवणीआसोओ। जाव देवीए णिवेदेमि। (आश्चर्यमाश्चर्यम्। अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः सनद्धस्तपनीयाशोकः। यावद्देव्यै निवेदयामि।)

[उभे श्रुत्वा प्रहृष्टे।]

बकुलावलिका—आस्ससिदु सही। सच्चप्पइण्णा देवी। (आश्वसितु सखी। सत्यप्रतिज्ञा देवी।)

मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होमि। (तेन हि प्रमदवनपालिकाया. पृष्ठतो भवामि।)

बकुलावलिका—तह। (तथा।)

[इति निष्क्रान्ते]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

---

[ नेपथ्य में ]

यह बड़े आश्चर्य की बात है। दोहद-पूर्ति को पूरा किए पाँच रात की अवधि अभी पूर्ण नहीं हुई कि इस सुनहरे अशोक के वृक्ष में कलियाँ लग गईं। चलकर महारानी से निवेदन करूँ। [दोनों यह बात सुनकर प्रसन्न होती हैं।]

बकुलावलिका—सखी! अब धैर्य रखो। देवी अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करती हैं।

मालविका—तो चलो हम लोग भी उस प्रमदवन की मालिन के पीछे हो लें।

बकुलावलिका—बहुत अच्छा। [दोनों जाती हैं]

चतुर्थ अंक समाप्त॥

# पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्युद्यानपालिका।]

**उद्यानपालिका**—उवक्खित्तो मए विरइदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआबन्धो। जाव अणुट्ठिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि। [परिक्रम्य] अहो देवस्स अणुकम्पणीआ मालविआ। तस्सिं तह चण्डिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तन्तेण पसादसुमुही हविस्सदि। कहिं णु क्खु देवी हवे। [विलोक्य] अम्हो एसो देवीए परिअणब्भन्तरो किंवि जदुमुद्दालञ्छिदं मञ्जूसं गेण्हिअ चदुस्सालादो कुज्जो सारसिओ णिक्कमदि। पुच्छिस्सं दाव णं। [ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टहस्तः कुब्जः।] सारसिअ! कहिं पत्थिदोसि। (उपक्षिप्तो मया कृतसत्कारविधिस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः। यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि। अहो देवस्यानुकम्पनीया मालविका। तस्यां तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति। कुत्र नु खलु देवी भवेत्। अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालाञ्छितां मञ्जूषां गृहीत्वा चतुःशालात् कुब्जः सारसिको निष्क्रामति। प्रक्ष्यामि तावदेनम्। सारसिक! कुत्र प्रस्थितोऽसि।)

**सारसिक**—महुअरिए! विज्जाभरिआणं बह्मणाणं णिच्चदक्खिणं मासिअं पुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं। (मधुकरिके! विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।)

**मधुकरिका**—अह किंणिमित्तं। (अथ किं निमित्तम्।)

---

## पाँचवाँ अंक

[तदन्तर मालिन का प्रवेश होता है।]

**मालिन**—मैंने उस सुनहरे अशोक के मूल भाग की वेदी से सब घास-पात निकालकर स्वच्छ कर दिया है और उसे सुन्दर बना दिया है। अब चलकर महारानी से निवेदन करूँ कि उनकी आज्ञा का पालन हो गया है। [घूमकर] अहा! दैव ने मालविका पर बड़ी कृपा कर दी है। उस पर महारानी अत्यन्त क्रुद्ध थी किन्तु इस सुनहरे अशोक के पुष्पित होने के वृत्तान्त को सुनकर उनका मुख प्रसन्नता से खिल जायगा। महारानी इस समय कहाँ होंगी? [देखकर] अरे! महारानी का यह कुबड़ा सेवक सारसिक, लाख की छाप लगी हुई मंजूषा लेकर अन्तःपुर से बाहर निकला जा रहा है। तो चलूँ उसी से पूछ लूँ। [तदन्तर हाथ में मंजूषा लिए हुए कुबड़ा दिखाई पड़ता है।] अरे सारसिक! तुम कहाँ जा रहे हो?

**सारसिक**—मधुकरिका! विद्वान् ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन दक्षिणा दी जाती है वही एक मास भर की दक्षिणा लेकर पुरोहित महाशय को देने के लिए मैं जा रहा हूँ।

**मधुकरिका**—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जाती है?

सारसिका—जदप्पहुदि सेणावदी जण्णतुरगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमित्तो तदप्पहुदिसस आउसणिमित्तं णिक्खसदसुवण्णपरिमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहिं परिग्गाहेदि (यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।)

मधुकरिका—अह कहिं देवी। किं वा अणुचिट्ठदि। (अथ कुत्र देवी। किं वानुतिष्ठति।)

सारसिका—मंगलघरे आसणत्था भविअ विदब्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लेहं लेहअरेहिं वाइज्जमाणं सुणादि। (मङ्गलगृह आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं शृणोति।)

मधुरिका—को उण विदब्भराअवुत्तन्तो सुणीअदि। (क पुनर्विदर्भराजवृत्तान्तः श्रूयते।)

सारसिका—वसीकिदो क्खु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तुओ विजअदंडेहिं विदब्भणाहो। मोइदो से दाआदो माहवसेणो दूदो अ तेण महासाराणि रअणाणि वाहणाणि सिप्पआरिआ-भूइट्ठं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो त्ति। (वशीकृतः किल वीरसेन-प्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः। मोचितोऽस्य दायादो माधवसेनः। दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषित इति।)

मधुकरिका—गच्छ अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि देविं पेक्खिस्सं। (गच्छानुतिष्ठात्मनो नियोगम्। अहमपि देवीं प्रेक्षिष्ये।)

[इति निष्क्रान्ते।]

॥प्रवेशकः॥

---

सारसिका—जब से सेनापति को सौंप गए यज्ञ के अश्व की रक्षा में राजकुमार वसुमित्र की नियुक्ति हुई है तब से उनकी दीर्घायु की कामना से महारानी प्रतिदिन सौ मुहरों की दक्षिणा योग्य पात्रों में प्रदान करती हैं।

मधुकरिका—बताओ महारानी कहाँ हैं और क्या कर रही हैं?

सारसिका—मंगलगृह में आसन पर बैठी हुई विदर्भ के सम्बन्ध में अपने भाई वीरसेन द्वारा भेजे गए पत्र को अपने लेखक से पढ़वाकर सुन रही हैं।

मधुकरिका—विदर्भ नरेश का कैसा समाचार सुनाई पड़ा है?

सारसिका—महाराज के वीरसेन प्रभृति विजयी सैनिकों ने विदर्भ नरेश को बन्दी बना लिया है। और उनके चचेरे भाई माधवसेन को मुक्त करा दिया है। माधवसेन ने अपने एक दूत के साथ बहुत-से कीमती रत्न, हाथी, घोड़े आदि वाहन, विविध प्रकार के शिल्पी एवं दास-दासियों को भेंटस्वरूप महाराज की सेवा में भेजा है।

मधुकरिका—अच्छा जाओ, अब अपना काम पूरा कर आओ। मैं भी महारानी का दर्शन करने के लिए जा रही हूँ। [दोनों जाते हैं।]

प्रवेशक समाप्त।

[ततः प्रविशति प्रतीहारी।]

[illegible] अज्जउत्तम्।
[illegible] जाव धम्मा-
[illegible] ..ापयार्यपुत्रम्।
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुमिति। तद्यावद्धर्मासनगत देव प्रतिपालयामि।)

[इति परिक्रामति।]

[नेपथ्ये वैतालिकौ]

प्रथमः—विजयतां विजयतां देव। दिष्ट्या दण्डैरेव रिपुशिरःसु वर्तते देव।

परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुं
नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान्।
विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते
वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः॥१॥

द्वितीयः—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपम सूरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्ये कृत्य स्थितं क्रथकैशिकान्।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम्॥२॥

---

[तदनन्तर प्रतीहारी प्रवेश करता है।]

**प्रतीहारी**—अशोक के सत्कार मे व्यस्त देवी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर महाराज से कह दो कि मैं महाराज के संग ही अशोक की कुसुम-शोभा देखना चाहती हूँ। इसलिए जब तक महाराज न्यायासन पर विराजमान हैं तब तक उनकी प्रतीक्षा करूँ। [घूमती है।]

[नेपथ्य में दो बन्दीजन गीत गाते हैं।]

**प्रथम**—महाराज की जय हो, जय हो। सौभाग्यवश अपने दण्ड द्वारा शत्रुओ के मस्तक को कुचल देनेवाले महाराज को बधाई है।

हे वरदान देनेवाले महाराज! आप तो इधर सुन्दर शरीरवाले रति के सहचर कामदेव के समान कोकिल की मनोहर कूक सुनते हुए विदिशा के तट पर फैले हुए उपवनो मे अपना वसन्त का समय बिता रहे हैं और उधर आपका बलवान शत्रु वरदा नदी के तट पर खड़े हुए उन वृक्षों के साथ ही झुका दिया गया है, जो आपकी विजयिनी सेना के गजराजों को बाँधने के खम्भे बने हुए खड़े है॥१॥

**द्वितीय**—हे देवतुल्य! दण्डविधान के लिए सुरक्षित आपके वीर सैनिकों ने क्रथकैशिक अर्थात् विदर्भ के नरेश की लक्ष्मी का हरण कर लिया है और इसी प्रकार पूर्व काल मे लोहे की अर्गला के समान अपनी बड़ी-बड़ी भुजाओ से भगवान् श्रीकृष्ण ने वहीं से रुक्मिणी जी का हरण किया था—वीरों से प्रेम रखनेवाले कवियों ने इन दोनों की कीर्ति का गान किया है, जिसके कारण आज समूचा विदर्भ गूँज रहा है॥२॥

**प्रतीहारी**—एसो जअसद्दसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि। अहं वि दाव इमस्स पमुहादो लोआदो ओसरिअ त्थम्भन्तरिदा होमि। (एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्तत एवागच्छति। अहमपि तावदस्य प्रमुखाल्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि।
[इत्येकान्ते स्थिता।]

[प्रविश्य सवयस्यो राजा।]

**राजा**—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमश्नुते च ॥३॥

**विदूषकः**—जह अहं पेक्खामि तह एकन्तसुहिदो भवं हविस्सदि। (यथाहं प्रेक्ष्ये तथा एकान्तसुखितो भवान्भविष्यति।)

**राजा**—कथमिव।

**विदूषकः**—अज्ज किल देवीए एव्व पण्डिदकोसिई भणिदा—भअवदि! जं तुमं पसाहणगव्वं वहसि तं दंसेहि मालविआए सरीरे विवाहणेवत्थ त्ति। ताए सविसेसालङ्किदा मालविआ। तत्तहोदी कदावि पूरए भवदोवि मणोरहं। (अद्य किल देव्यैव पण्डितकौशिकी भणिता—भगवति! यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति। तया सविशेषालंकृता मालविका। तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथम्।)

**राजा**—सखे! मदपेक्षामनुप्राप्य अनया धारिण्या पूर्वाचरितैः संभाव्यत एवैतत्।

---

**प्रतीहारी**—यह जय-जयकार महाराज के यहाँ से उठकर प्रस्थान करने की सूचना
दे रहा है। अतः मैं भी इन प्रमुख लोगों के सामने से हटकर इस खम्भे की ओट में ही जाऊँ।
[खम्भे की ओट में जाती है।]

[विदूषक के साथ राजा प्रवेश करता है।]

[illegible]

तो मेरा मन कड़ी धूप में होनेवाली वृष्टि की धारा से [illegible]
दुःख और सुख दोनों का अनुभव कर रहा है ॥३॥

**विदूषक**—मैं तो समझता हूँ कि अब आप केवल सुख ही सुख का अनुभव करेंगे।

**राजा**—यह कैसे?

**विदूषक**—आज महारानी धारिणी पण्डिता कौशिकी से कह रही थी कि—'भगवती!
यदि आपको वास्तव में अलङ्कार पहनाने की कला में अभिमान है तो मालविका को विवाह
की वेश भूषा में अलङ्कृत करें।' इस पर उन्होंने मालविका का विधिवत् अलंकृत किया है।
तो यह संभव है कि कदाचित् महारानी स्वयं आपके मनोरथ को पूर्ण कर दें।

**राजा**—मित्र! महारानी धारिणी पहले ही से मेरा ध्यान रखकर ऐसा करती
आई हैं, अतः तुम जो कह रहे हो उसकी संभावना की जा सकती है।

प्रतीहारी—[उपगम्य] जेदु जेदु भट्टा। देवी विण्णावेदि–तवणीआसोअस्स कुसुमसंदंसणेण सह आरम्भो सफ्फलो करीअदु त्ति। (जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन समारम्भः सफलः क्रियतामिति।)

राजा—ननु तत्रैव देवी तिष्ठति।

प्रतीहारी—अह इ। जहरिहसम्माणसुहिअ अन्तेउरं विसज्जिअ मालविआपुरोएण अत्तणो परिअणेण सह देवं पडिवालेदि। (अथ किम्। यथार्हसम्मानसुखितमन्तःपुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणात्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति।)

राजा—[सहर्षं विदूषकं विलोक्य] जयसेने! गच्छाग्रतः।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो। (एत्वेतु देवः।) [इति परिक्रामति।]

विदूषकः—[विलोक्य] भो वअस्स! किंवि परिवुत्तजोव्वणो विअ वसन्तो पमदवणे लक्खीअदि। (भो वयस्य! किंचित्परिवृत्तयौवन इव वसन्तः प्रमदवने लक्ष्यते।)

राजा—यथाह भवान्।

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालकभिद्यमानसहकारम्।
परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः॥४॥

विदूषकः—[परिक्रम्य] अहो! अअं सो दिण्णणेवत्थो विअ कुसुमत्थवएहिं तवणीआसोओ। ओलोअदु भवं। (अहो! अयं स दत्तनेपथ्य इव कुसुमस्तबकैस्तपनीयाशोकः। अवलोकतां भवान्।)

---

प्रतीहारी—[समीप आकर] महाराज की जय हो, जय हो। देवी ने कहलाया है कि उस सुनहरे अशोक के पुष्पों का एक साथ दर्शन करके महाराज मेरे प्रयत्नों को सफल करेंगे।

राजा—क्या महारानी वहीं पर है?

प्रतीहारी—हाँ, महाराज! उन्होंने अन्तःपुर की सभी रानियों को यथोचित स्वागत-समादर से सुप्रसन्न कर वहाँ से विदा कर दिया है और मालविका आदि अपने प्रमुख परिजनों के साथ महाराज की प्रतीक्षा कर रही हैं।

राजा—[हर्ष के साथ विदूषक की ओर देखकर] जयसेना! तुम आगे आगे चलो।

प्रतीहारी—महाराज! इधर से आएँ, इधर से। [घूमती है।]

विदूषक—हे मित्र! देखता हूँ कि इस प्रमदवन में वसन्त की जवानी कुछ ढलती-सी दिखाई पड़ रही है।

राजा—तुम ठीक ही कहते हो। आगे बिखरे हुए कुरबक के फलों के समूह के साथ साथ आम भी अब बौरने लग गए हैं और इस प्रकार अपनी पूर्णावस्था को पहुँची हुई वसन्त ऋतु की जवानी हमारे चित्त को उत्कंठित सी कर रही है॥४॥

विदूषक—[घूमकर] अहा! पुष्पों के इन गुच्छों से यह सुनहरा अशोक ऐसा मालूम पड़ रहा है जैसे किसी ने इसे भी खूब सजा दिया हो। आप इसे देखें तनिक।

राजा—स्थाने खलु प्रसवमन्थरोऽयमभूत्। यदिदानीमनन्यसाधारणी शोभामुद्वहति। पश्य—

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम्।
निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि ॥५॥

विदूषकः—तह। भो वीसद्धो होहि। अम्हेसु सण्णिहिदेसुवि धारिणी पासपरिवट्टिणी मालविअं अणुमण्णेदि। (तथा। भोः विस्रब्धो भव। अस्मासु सन्निहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनीं मालविकामनुमन्यते।)

राजा—[सहर्षम्] सखे! पश्य—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥६॥

[ततः प्रविशति धारिणी मालविका परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।]

मालविका—[आत्मगतम्] जाणामि णिमित्तं कोदुआलंकारस्स। तह वि मे हिअअं विसिणीपत्तगदं विअ सलिलं वेवदि। अवि अ दक्खिणेदरं वि मे णअणं बहुसो फुरदि। (जानामि निमित्तं कौतुकालंकारस्य। तथापि मे हृदयं बिसिनीपत्रगतमिव सलिलं वेपते। अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति।)

विदूषकः—भो वअस्स! विवाहणवत्थेण सविसेसं क्खु सोहदि मालविआ। (भो वयस्य! विवाहनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते मालविका।)

---

राजा—यह जो देर से फूला, सो अच्छा ही हुआ। क्योंकि इस समय यह असाधारण शोभा धारण कर रहा है। देखो—जिन अशोक के वृक्षों ने पहले ही वसन्त का वैभव दिखलाया था, ऐसा मालूम पड़ता है कि उन सबने अपने-अपने फूल इस अशोक के वृक्ष को दे दिए हैं ॥५॥

विदूषक—हाँ, ठीक कह रहे हैं आप। अजी! अब आप विश्वास करें। क्योंकि हम लोगों के समीप आ जाने पर भी महारानी धारिणी ने मालविका को अपने समीप रहने की अनुमति दे दी है।

राजा—[सहर्ष] मित्र! देखो, महारानी धारिणी हमारे स्वागत में उठ रही हैं और प्रिया मालविका कमलरूपी हाथों को पसारे हुए उनका साथ दे रही है। यह इस समय ऐसी मालूम पड़ रही है, जैसे पृथ्वी के पीछे राज्यलक्ष्मी हो ॥६॥

[तदनन्तर महारानी धारिणी, मालविका, परिव्राजिका और दासियाँ प्रवेश करती दिखाई पड़ती हैं।]

मालविका—[मन ही मन] मैं अपने इस अलंकार का कारण तो जान रही हूँ किन्तु फिर भी कमलिनी के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान मेरा हृदय काँप रहा है। और यही नहीं, मेरी बाईं आँख भी आज बहुत बार फड़क रही है।

विदूषक—हे मित्र! इस विवाह की वेश भूषा में सजी हुई मालविका आज विशेष रूप से सुन्दर दिखाई पड़ रही है।

राजा—पश्याम्येनाम्। यैषा—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥७॥

धारिणी—[उपेत्य] जेदु जेदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः।)

विदूषकः—वड्ढदु भोदी। (वर्धतां भवती।)

परिव्राजिका—विजयतां देव।

राजा—भगवति! अभिवादये।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु।

धारिणी—[सस्मितम्] अज्जउत्त! एस दे अम्हेहिं तरुणीजणसहाअस्स असोओ सङ्केदघरो कप्पिदो। (आर्यपुत्र! एष तेऽस्माभिस्तरुणीजनसहायस्याशोकः सङ्केतगृहं कल्पितः।)

विदूषकः—भो आराहिओसि। (भोः आराधितोऽसि।)

राजा—[सव्रीडमशोकमभितः परिक्रामन्।]

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥८॥

विदूषकः—भो वीसद्धो भविअ इमं जोव्वणवदिं इमं पेक्ख। (भोः विस्रब्धो भूत्वा एवं यौवनवतीमिमां पश्य।)

---

राजा—मैं भी उसे देख रहा हूँ। जो कि एक छोटी सी ओढ़नी सिर पर ओढ़े हुए और पैर से शिर तक अनेक प्रकार के आभूषणों से लदी हुई मुझे ऐसी मालूम पड़ रही है, जैसे शिशिर ऋतु के बीत जाने पर उज्ज्वल नक्षत्रों तथा उदयोन्मुख चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से युक्त चैत्र की रात्रि हो ॥७॥

धारिणी—आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

विदूषक—महारानी को बधाई है।

परिव्राजिका—महाराज की विजय हो।

राजा—भगवती! मैं प्रणाम करता हूँ।

परिव्राजिका—आपका मनोरथ पूरा हो।

धारिणी—[मुस्कराकर] आर्यपुत्र! हम लोगों ने इस अशोक वृक्ष को आपके लिए ऐसा सकेतस्थल बना दिया है, जहाँ आप तरुणी स्त्रियों से मिल सकते हैं।

विदूषक—अजी! अब तो महारानी ने आपकी सेवा कर दी है।

राजा—[लज्जापूर्वक अशोक वृक्ष के चारों ओर घूमते हुए] महारानी के हाथों से इस सुनहरे अशोक वृक्ष का ऐसा सम्मान तो होना ही चाहिए, क्योंकि इसने भी वसन्त की लक्ष्मी की आज्ञा न मानकर उस ऋतु में पुष्प नहीं दिया और आपके प्रयत्न करने पर अब पुष्पित होकर आपके प्रति अपना आदर प्रकट किया है। ॥८॥

विदूषक—मित्र! अब आप एकाग्रचित्त से इस यौवनवाली को देख सकते हैं।

धारिणी—क। (काम्।)

विदूषक—भोदि तवणीआसोअस्स कुसुमसोहम्। (भवति! तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम्।)

[सर्वं उपविशन्ति।]

राजा—[मालविकां विलोक्य आत्मगतम्] कष्टः खलु संनिधिवियोग।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे।
अननुज्ञातसंपर्का धारिणी रजनीव नौ॥९॥

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विजयतां देव। देव अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयापायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघुशरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते। तदाज्ञां देवो दातुमर्हतीति।

राजा—प्रवेशय ते।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह प्रविश्य।] इत इतो भवत्यौ।

प्रथमा—[जनान्तिकम्] हला मदणिए' अपुव्व इम राअउलं पविसन्तीए पसीददि मे हिअअ। (सखि मदनिके' अपूर्वमिद राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम्।)

---

धारिणी—किसे?

विदूषक—देवी! इस सुनहरे अशोक की पुष्पशोभा को। [सभी लोग बैठ जाते हैं।]

राजा—[मालविका की ओर देखकर, मन ही मन] समीप रहकर भी जो वियोग होता है वह बड़ा कष्टदायी होता है। हम दोनों चकवा-चकवी की भाँति एक दूसरे के नितान्त समीप रहते हुए भी धारिणीरूपी रात्रि के कारण परस्पर मिलने में असमर्थ हैं॥९॥

कंचुकी—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो। अमात्य महाशय ने कहलाया है कि विदर्भ देश से जो दो कला निष्णात स्त्रियाँ भेंट के रूप में आई हैं, वे उस समय बहुत थकी होने के कारण आपकी सेवा में उपस्थित नहीं की जा सकीं। अब वे आपकी सेवा में उपस्थित करने योग्य हो गई हैं। अतः इसके लिए आज्ञा प्रदान करें।

राजा—तब उन्हें ले आओ।

कंचुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। [निकलकर जाता है और फिर उन दोनों के साथ आता है।] इधर से आएँ आप लोग, इधर से।

पहली स्त्री—[अलग से] सखी मदनिका! यह राजकुल यद्यपि मेरा पूर्व परिचित नहीं है तथापि इसमें प्रवेश करके मेरा हृदय प्रसन्न हो रहा है।

**द्वितीया**—जोसिणीए ! अत्थि क्खु लोअप्पवादो। आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति। (ज्योत्स्निके ! अस्ति खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।)

**प्रथमा**—सो सच्चो दाणिं होदु। (स सत्य इदानीं भवतु।)

**कञ्चुकी**—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ।

[उभे उपसर्पतः]

[मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः।]

**उभे**—[प्रणिपत्य] जेदु जेदु भट्टा। जेदु जेदु भट्टिणी (जयतु जयतु भर्ता। जयतु जयतु भर्त्री।)

[उभे राजाज्ञया उपविष्टे।]

**राजा**—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ।

**उभे**—भट्टा ! संगीदए अब्भन्तरम्ह। (भर्तः ! संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।)

**राजा**—देवि ! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

**धारणी**—मालविए ! इदो पेक्ख। कदरा दे संगीदसहआरिणी रुच्चदि। (मालविके ! इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।)

**उभे**—[मालविकां दृष्ट्वा] अम्हो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ। (अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका।) [इति प्रणम्य तया सह बाष्पं विसृजतः।]

[सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति।]

---

**दूसरी स्त्री**—अरी ज्योत्स्निका ! मेरे हृदय की भी यही स्थिति है। लोगों का कहना है कि हृदय की अवस्था ही आनेवाले सुख एवं दुःख की सूचना देती है।

**पहली**—भगवान् करें यह लोगों का कहना सत्य हो।

**कंचुकी**—महाराज महारानी के साथ यहीं सामने विद्यमान हैं। आप लोग उनके समीप जायें। [दोनों जाती है।]

[मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियों को देखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं।]

**दोनों दासियाँ**—[प्रणाम करके] महाराज की जय हो, जय हो। महारानी की जय हो, जय हो।

[दोनों राजा की आज्ञा से बैठती हैं।]

**राजा**—आप दोनों को किस कला में विशेष शिक्षा दी गई है।

**दोनों**—महाराज ! हम दोनों ने संगीत कला सीखी है।

**राजा**—महारानी ! इनमें से जिस एक को आप चाहें, चुन लें।

**धारिणी**—मालविका ! इधर देखो। तुम किसे अपनी संगीत-सहकारिणी बनाना पसन्द करोगी।

**दोनों**—[मालविका को देखकर] अरे राजकुमारी ! जय हो तुम्हारी, जय हो। [प्रणाम करके उसके साथ ही आँसू बहाती हैं। सभी लोग विस्मय के साथ देखते हैं।]

राजा—के भवत्यौ। का चेयम्।

उभे—भट्टा ! एसा अम्हाण भट्टारिआ। (भर्तः ! एषास्माकं भर्तृदारिका।)

राजा—कथमिव।

उभे—सुणादु भट्टा। जो सो भट्टिणा विजअदण्डेहिं विदब्भणाहं वसीकरिअ बन्धणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम। (शृणोतु भर्ता। यः स भर्त्रा विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम।)

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं। (कथम् राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।)

राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता।

मालविका—[निःश्वस्यात्मगतम्।] विहिणिओएण। (विधिनियोगेन।)

द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसगदे भट्टदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अज्जसुमदिणा अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा। (शृणोतु भर्ता। दायादवशगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा।)

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत्। ततस्ततः।

द्वितीया—भट्टा ! अदो वरं ण आणामि। (भर्तः ! अतः परं न जानामि।)

परिव्राजिका—अत परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

---

राजा—आप दोनों कौन हैं, और यह कौन है ?

दोनों—महाराज ! यह हमारे महाराज की कन्या है।

राजा—यह कैसे ?

दोनों—महाराज सुनें। आपने अपनी विजयिनी सेना के द्वारा विदर्भराज को पराजित कर जिन्हें मुक्त कराया है, उन्हीं कुमार माधवसेन की छोटी बहिन यह मालविका है।

धारिणी—अरे क्या यह राजा की कन्या है। हाय ! चन्दन से मैंने खड़ाऊँ का काम लेकर पाप किया।

राजा—तब इनकी यह दशा कैसे हुई ?

मालविका—[लम्बी साँसें खींचती हुई, मन ही मन] भाग्य के फेर से।

दूसरी स्त्री—महाराज सुनें ! हमारे महाराज के पुत्र माधवसेन को जब उनके दायादों ने बंदी बना लिया था तब उनके मंत्री आर्य सुमति ने हम लोगों को वहीं छोड़कर, इन्हें छिपाकर यहीं गुप्त स्थान पर पहुँचा दिया था।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ। तब उसके बाद क्या हुआ ?

दूसरी स्त्री—महाराज ! इसके बाद क्या हुआ—यह मैं नहीं जानती हूँ।

परिव्राजिका—इसके बाद की घटना यह अभागिनी बताएगी।

द्वितीया—जोसिणीए! अत्थि क्खु लोअप्पवादो। आआमि सुहं दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदि त्ति। (ज्योत्स्निके! अस्ति खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।)

प्रथमा—सो सच्चो दाणिं होदु। (स सत्य इदानीं भवतु।)

कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ।

[उभे उपसर्पतः]

[मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः।]

उभे—[प्रणिपत्य] जेदु जेदु भट्टा। जेदु जेदु भट्टिणी (जयतु जयतु भर्ता। जयतु जयतु भट्टिनी।)

[उभे राजाज्ञया उपविष्टे।]

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ।

उभे—भट्टा! सगीदए अब्भन्तरेम्ह। (भर्तः! संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।)

राजा—देवि! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

धारणी—मालविए! इदो पेक्ख। कदरा दे सगीदसहआरिणी रुच्चदि। (मालविके! इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।)

उभे—[मालविकां दृष्ट्वा] अम्हो भट्टदारिआ। जेदु जेदु भट्टदारिआ। (अहो भर्तृदारिका। जयतु जयतु भर्तृदारिका।) [इति प्रणम्य तया सह बाष्पं विसृजतः।]

[सर्वे सविस्मयं विलोकयन्ति।]

---

दूसरी स्त्री—अरी ज्योत्स्निका! मेरे हृदय की भी वही स्थिति है। लोगों का कहना है कि हृदय की अवस्था ही आनेवाले सुख एवं दुःख की सूचना देती है।

पहली—भगवान् करें यह लोगों का कहना सत्य हो।

कंचुकी—महाराज महारानी के साथ यहीं सामने विद्यमान हैं। आप लोग उनके समीप जायें। [दोनों जाती हैं।]

[मालविका और परिव्राजिका इन दोनों दासियों को देखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं।]

दोनों दासियाँ—[प्रणाम करके] महाराज की जय हो, जय हो। महारानी की जय हो, जय हो।

[दोनों राजा की आज्ञा से बैठती हैं।]

राजा—आप दोनों को किस कला में विशेष शिक्षा दी गई है।

दोनों—महाराज! हम दोनों ने संगीत कला सीखी है।

राजा—महारानी! इनमें से जिस एक को आप चाहें, चुन लें।

धारिणी—मालविका! इधर देखो। तुम किसे अपनी संगीत-सहकारिणी बनाना पसन्द करोगी।

दोनों—[मालविका को देखकर] अरे राजकुमारी! जय हो तुम्हारी, जय हो। [प्रणाम करके उसके साथ ही आँसू बहाती हैं। सभी लोग विस्मय के साथ देखते हैं।]

राजा—के भवत्यौ। का वेयम्।

उभे—भट्टा! एसा अम्हाण भट्टारिआ। (भर्तः! एषास्माकं भर्तृदारिका।)

राजा—कथमिव।

उभे—सुणादु भट्टा। जो सो भट्टिणा विजअदण्डेहिं विदब्भणाहं वसीकरिअ बंधणादो मोइओ कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम। (शृणोतु भर्ता। यः स भर्त्रा विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम।)

धारिणी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं क्खु मए पादुओवओएण दूसिदं। (कथम् राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।)

राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता।

मालविका—[निःश्वस्यात्मगतम्।] विहिणिओएण। (विधिनियोगेन।)

द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसगदे भट्टदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अज्जसुमदिणा अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं आणीदा एसा। (शृणोतु भर्ता। दायादवशगते भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिनास्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमानीतैषा।)

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत्। ततस्ततः।

द्वितीया—भट्टा! अदो वरं ण आणामि। (भर्तः! अतः परं न जानामि।)

परिव्राजिका—अतः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

---

राजा—आप दोनों कौन हैं और यह कौन है?

दोनों—महाराज! यह हमारे महाराज की कन्या है।

राजा—यह कैसे?

दोनों—महाराज सुनें। आपने अपनी विजयिनी सेना के द्वारा विदर्भराज को पराजित कर जिन्हें मुक्त कराया है उन्हीं कुमार माधवसेन की छोटी बहिन यह मालविका है।

धारिणी—अरे क्या यह राजा की कन्या है। हाय! चन्दन से मैंने खड़ाऊँ का काम लेकर पाप किया।

राजा—तब इनकी यह दशा कैसे हुई?

मालविका—[लम्बी सांसें खींचती हुई मन ही मन] भाग्य के फेर से।

दूसरी स्त्री—महाराज सुनें! हमारे महाराज के पुत्र माधवसेन को जब उनके दायादों ने बंदी बना लिया था तब उनके मंत्री आर्य सुमति ने हम लोगों को वहीं छोड़कर, इन्हें छिपाकर यहीं गुप्त स्थान पर पहुँचा दिया था।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ। तब उसके बाद क्या हुआ?

दूसरी स्त्री—महाराज! इसके बाद क्या हुआ—यह मैं नहीं जानती हूँ।

परिव्राजिका—इसके बाद की घटना यह अभागिनी बताएगी।

उभे—भट्टिदारिए ! अज्जकोसिईए विअ सरसंजोओ। ण सा एव्व। (भर्तृदारिके ! आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः। ननु सैव।)

मालविका—अह इम् ! (अथ किम्।)

उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभावीअदि। भअवदि ! णमो दे। (यतिवेषधारिण्यार्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते। भगवति ! नमस्ते)

परिव्राजिका—स्वस्ति भवतीभ्याम्।

राजा—कथम्। आप्तवर्गोऽयं भगवत्या।

परिव्राजिका—एवमेतत्।

विदूषक—तेण हि कहेदु भअवदी अत्तहोदीए वुत्तन्तं दाव असेसं। (तेन हि कथयतु भगवत्यत्रभवत्या वृत्तान्तं तावदशेषम्।)

परिव्राजिका—[सवैक्लव्यम्] तावच्छ्रूयताम्। माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिमवगच्छ।

राजा—उपलक्षितं, ततस्ततः।

परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः।

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—स चाटव्यन्तरे निविष्टो गतश्रमो वणिग्गणः।

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततः किंचाप्यत्।

---

दोनों—राजकुमारी ! यह तो आर्या कौशिकी की तरह बोली मालूम पड रही है। वे ही यह हैं क्या ?

मालविका—और क्या ?

दोनों—इस सन्यासिनी के वेश में आर्या कौशिकी कठिनाई से पहचानी जा रही है। भगवती को प्रणाम है।

परिव्राजिका—तुम दोनों का कल्याण हो।

राजा—क्या ये दोनों आपकी पूर्व परिचिता हैं ?

परिव्राजिका—हां ऐसी ही बात है।

विदूषक—तो अब भगवती हां इनकी सारी बातें बताएँ।

परिव्राजिका—[अत्यन्त विकल होकर] तो सुनिए। माधवसेन के मन्त्री सुमति मेरे बड़ भाई थे।

राजा—अच्छा समझ गए। फिर इसके बाद।

परिव्राजिका—वे मेरे भाई सुमति मालविका के भाई माधवसेन के बन्दी हो जाने पर आपके साथ इनका विवाह सम्बन्ध कर देने के विचार से मेरे साथ इन्हें भी लेकर विदिशा की ओर आते हुए एक व्यापारी दल के साथ हो लिए थ।

राजा—तब उसके बाद क्या हुआ ?

परिव्राजिका—थोड़ा मार्ग समाप्त कर वह वणिकदल एक जंगल में घुसा।

राजा—तब क्या हुआ ?

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि ।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥१०॥

[मालविका भयं रूपयति।]

विदूषक—भोदि! मा भाआहि। अदिक्कन्तं क्खु तत्तहोदि कहेदि। (भवति! मा बिभीहि। अतिक्रान्तं खलु तत्रभवती कथयति।)

राजा—ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धायुधास्ते पराङ्मुखीभूता सार्थवाहयोधास्तस्करैः।

राजा—हन्त! इतः परं कष्टतरं श्रोतव्यम्।

परिव्राजिका—ततः स मत्सोदर्यः—

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम्।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥११॥

प्रथमा—हा हदो सुमदी। (अहो हतः सुमतिः)

द्वितीया—इदो क्खु इअं भट्टिदारिआए समवत्था संवुत्ता। (ततः खल्वियं भर्तृदारिकायाः समवस्था संवृत्ता।)

[परिव्राजिका बाष्पं विसृजति।]

---

परिव्राजिका—फिर क्या था! तूणीर बाँधने की पेटी द्वारा दोनों बाहुओं के मध्य भाग को कसे हुए, पीठ पर पैर तक लटकते हुए मयूर का पंख बाँधे हुए धनुष-बाणधारी डाकुओं का दल ललकारते हुए हम लोगों पर ऐसा टूट पड़ा कि उनसे लड़कर जीतना बड़ा कठिन हो गया ॥१०॥

[मालविका भय का नाट्य करती है।]

विदूषक—देवी! डरें नहीं। यह तो आपको बीती हुई घटना का वर्णन सुनाया जा रहा है।

राजा—तब फिर क्या हुआ?

परिव्राजिका—तब फिर, थोड़ी ही देर में व्यापारियों के उस दल के साथ जो योद्धा थे उन्हें उन डाकुओं ने मार भगाया।

राजा—हाय! इसके बाद क्या इससे भी अधिक दुःखदायी बातें सुननी होंगी।

परिव्राजिका—इसके बाद तो मेरे भाई सुमति ने शत्रु डाकुओं के आक्रमण से आतंकित इस मालविका को उस आपत्ति से बचाने के लिए अपने प्राणों को देकर अपने स्वामी का ऋण चुकता कर दिया ॥११॥

पहली स्त्री—अरे! तो क्या सुमति जी मारे गए।

दूसरी—तभी तो हमारे महाराज की कन्या की यह दशा हुई है। [परिव्राजिका रोती है।]

राजा—भगवति! तनुत्यजामीदृशी लोकयात्रा। न शोच्यस्तत्रभवान्सफलीकृत-भर्तृपिण्ड.। ततस्ततः।

परिव्राजिका—ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां लभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता।

राजा—महत्खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।

राजा—युक्तः सज्जनस्यैष पन्थाः। ततस्ततः।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाच्च देवीं गता। देवीगृहे लब्ध-प्रवेशया मया चानन्तरं दृष्टेत्येतदवसानं कथायाः।

मालविका—[आत्मगतम्] किं णु क्खु संपदं भट्टा भणादि। (किं नु खलु सांप्रतं भर्ता भणति।)

राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः। कुतः—

प्रैष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥१२॥

---

राजा—भगवती! शरीरधारियों के लिए तो इस संसार की यात्रा इसी प्रकार की होती है। आपके भाई सुमति ने तो अपने स्वामी का अन्न चुकाने मे अपना शरीर गँवाया अतः उनके लिए चिन्ता करना उचित नहीं है। तब फिर क्या हुआ?

परिव्राजिका—तदनन्तर तो मैं मूर्च्छित हो गई थी, और जब मुझे होश आया तो इसका दर्शन दुर्लभ हो गया।

राजा—तब तो भगवती ने बड़ा कष्ट उठाया।

परिव्राजिका—तब अपने भाई के मृतक शरीर को जलाकर मैंने अपने वैधव्य के दुःख को नवीन रूप मे अनुभव किया और यहाँ आपके देश मे आकर मैंने यह गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया।

राजा—सत्पुरुषो के लिए यही मार्ग ठीक भी है। तब फिर क्या हुआ?

परिव्राजिका—तब फिर यह मालविका उन जंगली डाकुओं के पास से वीरसेन के पास और फिर वीरसेन के पास से देवी के समीप आई। और जब मैं देवी के समीप आई तो मैंने भी इसे यहाँ देखा। यहीं इस कथा का अन्त है।

मालविका—[मन ही मन] अब देखें, महाराज क्या कहते हैं।

राजा—अहा! विपत्तियाँ भी कितना अपमान सहाती हैं। क्योंकि जो देवी कहलाने योग्य सती थी वह दासी बनी। यह बात तो ठीक उसी तरह हुई कि कीमती पशमीने के वस्त्र से मैंने नहाने की तौलिया का काम लिया ॥१२॥

धारिणी—भअवदि। जुए अभिजणवदि मालविअं अणाचक्खन्तीए असपदं किदम्। (भगवति। त्वयाभिजनवतीं मालविकामनाचक्षणयाऽसांप्रतं कृतम्।)

परिव्राजिका—शान्तं पापम्। केनचित्कारणेन खलु मया नैर्घृण्यमवलम्बितम्।

देवी—किं विअ तं कारणम्। (किमिव तत्कारणम्।)

परिव्राजिका—इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धादेशेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा—आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यतीति। तदेवभाविनमादेशमस्यास्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा।

कञ्चुकी—देव! कथान्तरेणान्तरितम्। अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति।

राजा—मौद्गल्य! तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकामोऽस्मि।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव॥१३॥

---

धारिणी—भगवती! आपने उच्च कुल में उत्पन्न मालविका का जो हमें परिचय नहीं दिया, वह ठीक नहीं किया।

परिव्राजिका—आप शान्त हों। किसी विशेष कारण से ही मैंने इतनी निर्दयता की थी।

देवी—वह कौन-सा विशेष कारण था।

परिव्राजिका—जब इसके पिता जीवित थे उन्हीं दिनों एक देवस्थान की यात्रा के प्रसंग में आए हुए किसी सिद्ध महात्मा पुरुष ने कहा था कि यह कन्या एक वर्ष तक दासी का जीवन बिताने के बाद अपने योग्य स्वामी को प्राप्त करेगी। जब मैंने देखा कि इसके सम्बन्ध की यह भविष्यवाणी आपके चरणों की सेवा करते हुए पूरी हो रही है तो मैंने उपर्युक्त समय आने की प्रतीक्षा करते हुए चुप्पी साध ली। और ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया—ऐसा देख रही हूँ।

राजा—प्रतीक्षा उचित थी।

कंचुकी—महाराज! इस प्रसंग में दूसरी कथा आ गई। अमात्य महोदय ने कहलाया है कि विदर्भ के लिए हमें जो कुछ करना था वह सब कर चुके। और अब महाराज की क्या इच्छा है—मैं यह जानना चाहता हूँ।

राजा—मौद्गल्य! अब मैं चाहता हूँ कि यज्ञसेन और माधवसेन के दो राज्य अब अलग-अलग बना दिए जाएँ। वे दोनों वरदा नदी के दक्षिण तथा उत्तर के तटवर्ती राज्यों का अलग-अलग शासन करें, जैसे सूर्य और चन्द्रमा दिन और रात को आपस में बाँटकर रहते हैं॥१३॥

कञ्चुकी—देव ! एवममात्यपरिषदे निवेदयामि।

[राजाङ्गुल्यानुमन्यते।]

[निष्क्रान्तः कञ्चुकी।]

प्रथमा—[जनान्तिकम्] भट्टिदारिए ! दिट्ठिआ भट्टिणा भट्टिदारओ अद्धरज्जे पडिट्ठ गमइस्सदि। (भर्तृदारिके ! दिष्ट्या भर्ता भर्तृदारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठां गमयिष्यते।)

मालविका—एद दाव बहु मणिदव्व ज जीविदससआदो मुत्तो। (एतत्तावद्बहु मन्तव्यम् यज्जीवितसंशयान्मुक्तः।)

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विजयतां देव। देव अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धि मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। कुत—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ ॥१४॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेव नियतामिति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। [इति निष्क्रम्य सप्राभृतकं लेखं गृहीत्वा पुन. प्रविष्ट·] अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अय देवस्य सेनापते पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेख प्राप्त। प्रत्यक्षीकरोत्वेन देव।

---

कचुकी—महाराज ! मैं जाकर यही आज्ञा मन्त्रिपरिषद् मे निवेदित किए देता हूँ।

[राजा अगुली से स्वीकृति का इशारा करते हैं] [कचुकी जाता है।]

पहली स्त्री—[अलग से] राजपुत्री ! अब भाग्य से महाराज राजकुमार माधवसेन को आधे राज्य पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं।

मालविका—अरे इसे ही बहुत समझो कि अपने जीवन के सशय से बच गए।

कचुकी—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो। महाराज अमात्य महोदय ने कहलाया है—महाराज की बुद्धि ने कल्याणकारी बात मानी है। मन्त्रिपरिषद् ने भी यही बात सोची थी। क्योंकि, दो भागो मे विभक्त राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करके वे दोनों एक दूसरे के ऊपर आक्रमण करने की प्रवृत्ति को भूलकर सदैव आपकी आज्ञा मे उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार दो भागों मे बँटे हुए रथ के भार को उसके दो अश्व ढोते है और एक दूसरे से लडने झगडने की बात को भूलकर सारथी की आज्ञा मे रहते हैं॥१४॥

राजा—तो तुम मन्त्रिपरिषद् से जाकर कहो कि सेनापति वीरसेन के पास इस आज्ञा की लिखित सूचना भेज दी जाय कि वह ऐसा ही कर दें।

कचुकी—महाराज की जैसी आज्ञा। [बाहर जाकर फिर भेट की चादर और पत्र को हाथ मे लेकर वापस आता है।] महाराज की आज्ञा पूरी की गई। यह महाराज के सेनापति पुष्यमित्र के समीप से चादर आदि भेंट की इन सामग्रियो के साथ पत्र आया है। महाराज इसका अवलोकन करें।

[राजोत्थाय सप्राभृतकं लेखं सोपचारं गृहीत्वा परिजनायार्पयति।]

[परिजनो लेखं नाट्येनोद्घाटयति।]

धारिणी—[आत्मगतम्] अम्हो! तदोमुहं एव्व णो हिअअं। सुणिस्सं दाव गुरुअणस्स कुसलाणन्तरं वसुमित्तस्स वुत्तन्तं। अदिघोरे क्खु पुत्तओ सेनावदिणा णिउत्तो। (अहो! ततोमुखमेव नो हृदयम्। श्रोष्यामि तावद्गुरुजनस्य कुशलानन्तरं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिघोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः।)

राजा—[उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति।] स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपावर्तनीयो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सैन्ययोर्महानासीत्संमर्दः।

[देवी विषादं नाटयति।]

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम्। [शेषं पुनर्वाचयति।]

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः॥१५॥

धारिणी—इमिणा आसत्थिदं मे हिअअं। (अनेनाश्वस्तं मे हृदयम्।)

---

[राजा उठकर, उस चादर और पत्र को आदर और उचित आचार के साथ लेकर सेवकों को देता है। सेवक उस पत्र को खोलने का अभिनय करता है।]

धारिणी—[मन ही मन] इसी में तो मेरा हृदय लगा हुआ है। गुरुजनों का कुशल समाचार सुनकर वसुमित्र का वृत्तान्त सुनूंगी। सेनापति ने हमारे छोटे-से बेटे को बड़े कठिन कार्य में नियुक्त कर दिया है।

राजा—[बैठकर बड़े आदर के साथ उस पत्र को लेकर पढ़ते हैं] स्वस्ति श्री विदिशा निवासी चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्र को अश्वमेध स्थान से सेनापति पुष्यमित्र का सस्नेह आलिंगनपूर्वक यह समाचार ज्ञात हो कि मैंने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लेकर तथा एक वर्ष की अवधि बाँधकर जो अनिर्बन्ध अश्व छोड़ा था, जिसकी रक्षा के लिए सौ राजपुत्रों के साथ कुमार वसुमित्र नियुक्त किए गए थे, वह अश्व जब घूमता हुआ सिन्धु नदी के दाहिने तट पर पहुँचा तब उसे वहाँ की यवन जाति के किसी अश्वारोही ने पकड़ लिया। उसी पर दोनों ओर की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। [महारानी धारिणी उदास होती है।]

राजा—यह कैसे हो गया? [फिर आगे बाँचता है।] फिर धनुषधारी कुमार वसुमित्र बड़े पराक्रम से उन शत्रुओं को पराजित कर बलपूर्वक वह मेरा घोड़ा छीन लाए॥१५॥

धारिणी—इसे सुनकर मेरे हृदय में धैर्य हुआ।

राजा—[शेषं पुनर्वाचयति] सोऽहमिदानीमनुमता भगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥१६॥

धारिणी—भअवदि। परितुट्ठम्हि ज पिदरं अणुजादो मे वच्छओ। (भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः।)

राजा—मौद्गल्य! ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम्।

कञ्चुकी—देव! अथ कुमार.।

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां वधुरिवोरुजन्मा ॥१७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेनस्यालमग्रेकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव.। (इति निष्क्रान्तः)

धारिणी—जयसेणे! गच्छ। इरावदीपमुहाणं अन्तेउराणं पुत्तस्स वत्तन्तं णिवेदेहि। (जयसेने! गच्छ। इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्तःपुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय।)

[प्रतीहारी प्रस्थिता।]

---

राजा—जिस प्रकार अंशुमान् द्वारा घोड़ा छुड़ा लाने पर सगर ने यज्ञ किया था उसी प्रकार अब मैं भी यज्ञ करने जा रहा हूँ। आप तत्काल प्रसन्न चित हो वधुओं के साथ यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए आ जायें।

राजा—यह तो मुझ पर कृपा है।

परिव्राजिका—सौभाग्यवश पुत्र के विजयी होने के उपलक्ष्य मे दम्पती को बधाई है। अब तक आप ससार की सभी वीर पत्नियो की सिरमौर थी और अब तो आपके वीर पुत्र ने आपके नाम के साथ वीर माता की पदवी भी जोड़ दी है॥१६॥

धारिणी—भगवती! आज मैं अत्यन्त सुखी हूँ जो मेरा छोटा-सा पुत्र अपने पिता के समान महान् बलशाली हुआ।

राजा—मौद्गल्य! सचमुच इस हाथी के बच्चे ने इस समय गजराज का काम किया है।

कंचुकी—महाराज! कुमार की इस वीरता से मुझे आश्चर्य नहीं हो रहा है। क्योंकि समुद्र को जला डालनेवाले वडवानल के जन्मदाता और्व मुनि के समान अजेय आप जिसके जन्मदाता हैं, उसकी यह वीरता कोई आश्चर्यजनक नहीं है।।१७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेन के साले के साथ जितने भी बन्दी हैं, उन सब को मुक्त कर दो।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा।

धारिणी—जयसेना! जाओ, और इरावती प्रमुख अन्तःपुर की सभी रानियों को पुत्र के इस विजय के समाचार को सुना दो। [प्रतीहारी जाती है।]

धारिणी—एहि दाव। (एहि तावत्।)

प्रतीहारी—[प्रतिनिवृत्य।] इअ म्हि। (इयमस्मि।)

धारिणी—[जनान्तिकम्] ज मए असोअदोहलएणि ओए मालविआए पइण्णाद त से अभिजण च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदि अणुणेहि—तुए अह सच्चादो ण विब्भंसि- दव्वे ति। (यन्मयाशोकदोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातम् तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय—सत्यान्न विभ्रंशयितव्येति।)

प्रतीहारी—ज देवी आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] भट्टिणी ! पुत्तविजअ- णिमित्तेण परितोसेण अन्तेउराण आहरणाण मञ्जूसम्हि संवुत्ता। (यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि ! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता।)

धारिणी—एद किं अच्चरिअं। साहारणो क्खु ताण मह अ अअ अब्भुदओ। (एतत्किमाश्चर्यम्। साधारणः खलु तासां मम चायमभ्युदयः।)

प्रतीहारी—[जनान्तिकम्] भट्टिणि ! इरावदी उण विण्णवेदि—सरिसं देवीए पहु- वन्तीए। तुह वअण सङ्कप्पिद ण जुज्जदि अण्णहा कादु ति। (भट्टिनि ! इरावती पुनर्विज्ञापयति—सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः। तव वचनं सङ्कल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।)

धारिणी—भअवदि ! तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसङ्कप्पिद मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदु। (भगवति ! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसङ्कल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम्।)

---

धारिणी—और भी सुनती जाओ।

प्रतीहारी—[वापस लौट कर] आ गई।

धारिणी—जो मैंने सुनहरे अशोक में पुष्प निकलने के लिए मालविका से प्रतिज्ञा की थी, उस बात को तथा उसके साथ मालविका के उच्च वंश में उत्पन्न होने का समाचार देकर इरावती को मेरी ओर से जाकर प्रसन्न करो और कहो कि ऐसा कुछ करें जिससे मुझे अपनी बात से न डिगना पड़े।

प्रतीहारी—जैसी महारानी की आज्ञा [बाहर जाकर पुनः वापस लौटती है।] स्वामिनी ! पुत्र की विजय सुनकर मेरे ऊपर पुरस्कारों की इतनी वर्षा हुई है कि मैं तो रनिवास के आभूषणों की मञ्जूषा बन गई हूँ।

धारिणी—इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? मेरा यह अभ्युदय तो उन सबके लिए भी है।

प्रतीहारी—[अलग से] स्वामिनी, रानी इरावती ने कहलाया है कि महारानी ने अपने अधिकार के अनुरूप ही बात सोची है। आपके द्वारा सङ्कल्पित वचन को अन्यथा करना अनुचित है।

धारिणी—भगवती ! आर्य सुमति ने पहिले ही मालविका को आर्यपुत्र को समर्पित करने का जो सङ्कल्प किया था, उसके लिए यदि आप अनुमति दें तो मैं मालविका को उन्हें भेंट कर दूं।

राजा—[शेषं पुनर्वाचयति] मोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेणेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवत्या वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥१६॥

धारिणी—भअवदि। परितुट्ठम्हि ज पितरं अणुजादो मे वच्छओ। (भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः।)

राजा—मौद्गल्य! ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम्।

कञ्चुकी—देव! अय कुमार।

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥१७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेनस्यालमुरीकृत्य मोच्यतां सर्वे बन्धनस्थाः।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव। (इति निष्क्रान्तः)

धारिणी—जयसेणे! गच्छ। इरावदीपमुहाणं अन्तेउराणं पुत्तस्स वत्तन्तं णिवेदेहि। (जयसेने! गच्छ। इरावतीप्रमुखेभ्योऽन्तःपुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय।)

[प्रतीहारी प्रस्थिता।]

---

राजा—जिस प्रकार अंशुमान द्वारा घोडा छुडा लाने पर सगर ने यज्ञ किया था उसी प्रकार अब मैं भी यज्ञ करने जा रहा हूँ। आप तत्काल प्रसन्न चित्त हो वधुओं के साथ यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आ जायें।

राजा—यह तो मुझ पर कृपा है।

परिव्राजिका—सौभाग्यवश पुत्र के विजयी होने के उपलक्ष्य में दम्पती को बधाई है। अब तक आप संसार की सभी वीर पत्नियों की सिरमौर थीं और अब तो आपके वीर पुत्र ने आपके नाम के साथ वीर माता की पदवी भी जोड दी है ॥१६॥

धारिणी—भगवती! आज मैं अत्यन्त सुखी हूँ जो मेरा छोटा-सा पुत्र अपने पिताके समान महान् बलशाली हुआ।

राजा—मौद्गल्य! सचमुच इस हाथी के बच्चे ने इस समय गजराज का काम किया है।

कंचुकी—महाराज! कुमार की इस वीरता से मुझे आश्चर्य नहीं हो रहा है। क्योंकि समुद्र को जला डालनेवाले वडवानल के जन्मदाता और्व मुनि के समान अजेय आप जिसके जन्मदाता हैं, उसकी यह वीरता कोई आश्चर्यजनक नहीं है ॥१७॥

राजा—मौद्गल्य! यज्ञसेन के साले के साथ जितने भी बन्दी हैं, उन सब को मुक्त कर दो।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा।

धारिणी—जयसेना! जाओ, और इरावती प्रमुख अन्तःपुर की सभी रानियों को पुत्र के इस विजय के समाचार को सुना दो। [प्रतीहारी जाती है।]

धारिणी—एहि दाव। (एहि तावत्।)

प्रतीहारी—[प्रतिनिवृत्य।] इअ म्हि। (इयमस्मि।)

धारिणी—[जनान्तिकम्] जं मए असोअदोहलणिमित्तं मालविआए पडिण्णादं तं से अहिजणं च णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि—तुए अहं सच्चादो ण विब्भंसिदव्वे त्ति। (यन्मयाशोकदोहदनियोगे मालविकायै प्रतिज्ञातम् तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय—सत्यान्न विभ्रंशयितव्येति।)

प्रतीहारी—जं देवी आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] भट्टिणि! पुत्तविजअणिमित्तेण परितोसेण अन्तेउराणं आहरणाणं मंजूसम्हि संवुत्ता। (यद्देव्याज्ञापयति। भट्टिनि! पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता।)

धारिणी—एदं किं अच्चरिअं। साहारणो क्खु ताणं मह अ अअं अब्भुदओ। (एतत्किमाश्चर्यम्। साधारणः खलु तासां मम चायमभ्युदयः।)

प्रतीहारी—[जनान्तिकम्] भट्टिणि! इरावदी उण विण्णवेदि—सरिसं देवीए पहुत्तणीए। तुह वअणं संकप्पिदं ण जुज्जदि अण्णहा कादुं त्ति। (भट्टिनि! इरावती पुनर्विज्ञापयति—सदृशं देव्याः प्रभवन्त्याः। तव वचनं सङ्कल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।)

धारिणी—भअवदि! तुए अणुमदा इच्छामि अज्जसुमदिणा पढमसंकप्पिदं मालविअं अज्जउत्तस्स पडिवादेदुं। (भगवति! त्वयानुमतेच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसङ्कल्पितां मालविकामार्यपुत्राय प्रतिपादयितुम्।)

---

धारिणी—और भी सुनती जाओ।

प्रतीहारी—[वापस लौट कर] आ गई।

धारिणी—जो मैंने सुनहरे अशोक में पुष्प निकलने के लिए मालविका से प्रतिज्ञा की थी, उस बात को तथा उसके साथ मालविका के उच्च वंश में उत्पन्न होने का समाचार देकर इरावती को मेरी ओर से जाकर प्रसन्न करो और कहो कि ऐसा कुछ करें जिससे मुझे अपनी बात से न डिगना पड़े।

प्रतीहारी—जैसी महारानी की आज्ञा [बाहर जाकर पुनः वापस लौटती है।] स्वामिनी! पुत्र की विजय सुनकर मेरे ऊपर पुरस्कारों की इतनी वर्षा हुई है कि मैं तो रनिवास के आभूषणों की मंजूषा बन गई हूँ।

धारिणी—इसमें आश्चर्य की क्या बात है? मेरा यह अभ्युदय तो उन सबके लिए भी है।

प्रतीहारी—[अलग से] स्वामिनी, रानी इरावती ने कहलाया है कि महारानी ने अपने अधिकार के अनुरूप ही बात सोची है। आपके द्वारा संकल्पित वचन को अन्यथा करना अनुचित है।

धारिणी—भगवती! आर्य सुमति ने पहिले ही मालविका को आर्यपुत्र को समर्पित करने का जो संकल्प किया था, उसके लिए यदि आप अनुमति दें तो मैं मालविका को उन्हें भेंट कर दूं।

परिव्राजिका—इदानीमपि त्वमेवास्या प्रभवसि।

धारिणी—[मालविका हस्ते गृहीत्वा।] इद अज्जउत्तोपिअणिवेदणाणुरूव परितोसिअ पडिच्छदुत्ति। (इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूप पारितोषिक प्रतीच्छत्विति।)

(राजा व्रीडा नाटयति।)

धारिणी—[सस्मितम्] किं अवधीरेदि अज्जउत्तो। (किमवधीरयत्यार्यपुत्रः।)

विदूषक—भोदि! एसो लोअव्ववहारो। सव्वो णववरो लज्जादुरो होदि त्ति। (भवति! एष लोकव्यवहारः। सर्वो नववरो लज्जातुरो भवतीति।)

[राजा विदूषकमवेक्षते।]

विदूषक—अह देवीए एव्व किदप्पणअविसेस दिण्णदेवीसद्द मालविअ अत्तभव पडिग्गहीदु इच्छदि। (अथ देव्यैव कृतप्रणयविशेषा दत्तदेवीशब्दा मालविकामत्रभवान्प्रतिग्रहीतुमिच्छति।)

धारिणी—एदाए राअदारिआए अहिजणेण एव्व दिण्णो देवीसद्दो किं पुणरुत्तेण। (एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्दः किं पुनरुक्तेन।)

परिव्राजिका—मा मैवम्।

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः।
जातरूपेण कल्याणि मणिः सयोगमर्हति ॥१८॥

---

परिव्राजिका—अब भी तो आप ही इसकी सब कुछ हैं।

धारिणी—[मालविका को हाथ से पकड़कर] आर्यपुत्र ने जो इतना प्रिय सवाद मुझे सुनाया है, उसके अनुरूप ही यह पारितोषिक भी स्वीकार करें। [राजा लज्जा का नाट्य करता है।]

धारिणी—[मुस्कराती हुई] क्या आर्यपुत्र मेरी भेंट का अपमान करना चाहते हैं।

विदूषक—देवी! यह तो लोकरीति है। सभी नये दूल्हे लजाया करते हैं। [राजा विदूषक की ओर देखते हैं।]

विदूषक—स्वय महारानी ने ही अत्यन्त प्रेमपूर्वक जिसे 'देवी' का पद दिया है, उस मालविका को महाराज को स्वीकार कर लेना चाहिए।

धारिणी—इस राजकुमारी के उच्च कुल ने ही इसे देवी बना दिया है, उसे दुहराने की क्या बात है?

परिव्राजिका—नहीं देवी, ऐसी बात नहीं है। खान से निकल कर रत्न की अच्छी जाति होने पर भी मणि को सुवर्ण में जडाने की आवश्यकता तो होती ही है ॥१८॥

**धारिणी**—[स्मृत्वा] मरिसेदु भअवदी! अब्भुदअकहाए उइदं ण लक्खिदं। जअसेणे! गच्छ दाव। कोसेअपत्तोण्णजुअलं उवणेहि। (मर्षयतु भगवती! अभ्युदयकथयोचितं न लक्षितम्। जयसेने! गच्छ तावत्। कौशेयपत्रोर्णयुगलमुपनय।)

**प्रतीहारी**—जं देवी आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पत्रोर्णं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य] देवि! एदं। (यद्देव्याज्ञापयति। देवि! एतत्।)

**धारिणी**—[मालविकामवगुण्ठनवतीं कृत्वा] अज्जउत्त! दाणिं इमं पडिच्छदु। (आर्यपुत्र! इदानीमिमां प्रतीच्छतु।)

**राजा**—त्वच्छासनानतिवृत्ता एव वयम्। [अपवार्य] हन्त प्रतिगृहीता।

**विदूषकः**—अहो देवीए अणुऊलदा। (अहो देव्या अनुकूलता।)

[देवी परिजनमवलोकयति।]

**प्रतीहारी**—[मालविकामुपेत्य।] जेदु भट्टिणी। (जयतु भट्टिनी।)

[देवी परिव्राजिकां निरीक्षते]

**परिव्राजिका**—नैतच्चित्रं त्वयि।

---

**धारिणी**—[कुछ स्मरण करती हुई] देवी क्षमा करें। कुमार के इस विजयोल्लास की चर्चा में एक आवश्यक बात का ध्यान नहीं रख सकी। जयसेना! जाओ, शीघ्र ही रेशमी-ऊनी दुशाले तो ले आओ।

**प्रतीहारी**—जैसी महारानी की आज्ञा। [बाहर जाकर रेशमी-ऊनी दुशाले लाकर फिर आती है।] देवी! यह रहा दुशाला।

**धारिणी**—[मालविका को ओढ़ाकर घूँघटवाली बनाती हुई] आर्यपुत्र! अब इसे स्वीकार करें।

**राजा**—तुम्हारी आज्ञा तो माननी ही पड़ेगी। [मन में] इसे स्वीकार करता हूँ।

**विदूषक**—अहा! देवी की कितनी कृपा है।

[महारानी अपनी दासियों की ओर देखती हैं।]

**प्रतीहारी**—[मालविका के समीप जाकर] स्वामिनी की जय हो।

[देवी धारिणी परिव्राजिका की ओर देखती हैं।]

**परिव्राजिका**—देवी! आपके लिए यह कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है। पति में प्रेम रखनेवाली साध्वी स्त्रियाँ अपनी सपत्नियों के द्वारा भी पति को प्रसन्न रखने में

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥१९॥

[प्रविश्य]

निपुणिका—जेदु भट्टा। इरावदी विण्णावेदि—जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरुद्धा तं सअं एव्व भत्तुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं। संपद पुण्णमणोरहेण भत्तुणा पसादमत्तेण सभावइदव्वेत्ति। (जयतु भर्ता। इरावती विज्ञापयति—यदुपचारातिक्रमेण तदा भर्त्रे अपराद्धा तत्स्वयमेव भर्तुरनुकूलं नाम मयाचरितम्। सांप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण सभावयितव्येति।)

धारिणी—णिउणिए ! अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि। (निपुणिके ! अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति।)

निपुणिका—अणुग्गहीदम्हि। (अनुगृहीतास्मि।)

परिव्राजिका—देव ! अमुना युक्तसंबन्धेन चरितार्थं माधवसेनं सभाजयितुं गच्छामि।

धारिणी—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे परिच्चइदुं। (भगवत्या न युक्तमस्मान्परित्यक्तुम्।)

राजा—भगवति ! मदीयेष्वेव लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामि।

---

सफल होती हैं। समुद्र में जानेवाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियों के जल को भी समुद्र में पहुँचा देती हैं॥१९॥

निपुणिका—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो। रानी इरावती ने कहलवाया है कि महाराज के प्रति शिष्टाचार का उल्लंघन करके जो मैंने अपराध किया है, वह सब जान-बूझकर स्वयं मैंने महाराज की अनुकूलता के लिए ही किया था। अब महाराज का मनोरथ पूर्ण हुआ तो मुझ पर प्रसन्न होकर अनुगृहीत करें।

धारिणी—निपुणिका ! उन्होंने आर्यपुत्र की जो सेवा की है उसका यह अवश्य ध्यान रखेंगे।

निपुणिका—कृपा के लिए आभारी हूँ।

परिव्राजिका—महाराज ! इस उचित सम्बन्ध को सुनकर कृतकृत्य होनेवाले माधवसेन को बधाई देने के लिए मैं जाना चाहती हूँ।

धारिणी—हम सबको छोड़कर भगवती का जाना उचित नहीं है।

राजा—भगवती ! हम अपने पत्र में ही आपकी ओर से बधाई का सन्देश लिखवा कर भेजवा देंगे।

परिव्राजिका—युवयोः स्नेहात्परवानयं जनः।

धारिणी—अज्जउत्त ! किं ते भूओ वि पिअं उवहरामि। (आर्यपुत्र ! किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्यमेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम्।

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥ ॥२०॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥

---

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनों के स्नेह के वश में हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र ! आपको और प्रिय उपहार मैं क्या दे सकती हूँ।

राजा—हे देवी ! मैं तो अपने हृदय में इतना ही चाहता हूँ कि तुम मेरे ऊपर सर्वंव सुप्रसन्न और अनुकूल बनी रहो।

फिर भी इतना और हो जाय कि [भरत वाक्य]

*जब तक इस धरती पर राजा अग्निमित्र का शासन रहे तब तक उसकी प्रजा में किसी* प्रकार की अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि उपद्रवों को अवसर न मिले ॥२०॥

[ सब चले जाते हैं। ]

पाचवाँ अंक समाप्त।

महाकवि कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र नामक नाटक सम

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥१९॥

[प्रविश्य]

**निपुणिका**—जेदु भट्टा। इरावदी विण्णावेदि—जं उवआरातिक्कमेण तदा भट्टिणो अवरुद्धा तं सअं एव्व भत्तुणो अणुऊलं णाम मए आअरिदं। संपदं पुण्णमणोरहेण भत्तुणा पसादमत्तेण सभावइदव्वेत्ति। (जयतु भर्ता। इरावती विज्ञापयति—यदुपचारातिक्रमेण तदा भर्त्रे अपराद्धा तत्स्वयमेव भर्तुरनुकूलं नाम मयाचरितम्। सांप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्त्रा प्रसादमात्रेण सभावयितव्येति।)

**धारिणी**—णिउणिए! अवस्सं से सेविदं अज्जउत्तो जाणिस्सदि। (निपुणिके! अवश्यमस्याः सेवितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति।)

**निपुणिका**—अणुग्गहीदम्हि। (अनुगृहीतास्मि।)

**परिव्राजिका**—देव! अमुना युक्तसवन्धेन चरितार्थं माधवसेन सभाजयितुं गच्छामि।

**धारिणी**—भअवदीए ण जुत्तं अम्हे परिच्चइदुं। (भगवत्या न युक्तमस्मान्परित्यक्तुम्।)

**राजा**—भगवति! मदीयेष्वेव लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामि।

---

सफल होती हैं। समुद्र में जानेवाली नदियाँ अपने साथ-साथ दूसरी नदियों के जल को भी समुद्र में पहुँचा देती हैं॥१९॥

**निपुणिका**—[प्रवेश करके] महाराज की जय हो। रानी इरावती ने कहलवाया है कि महाराज के प्रति शिष्टाचार का उल्लघन करके जो मैंने अपराध किया है, वह सब जान-बूझकर स्वयं मैंने महाराज की अनुकूलता के लिए ही किया था। अब महाराज का मनोरथ पूर्ण हुआ तो मुझ पर प्रसन्न होकर अनुगृहीत करें।

**धारिणी**—निपुणिका! उन्होंने आर्यपुत्र की जो सेवा की है उसका यह अवश्य ध्यान रखेंगे।

**निपुणिका**—कृपा के लिए आभारी हूई।

**परिव्राजिका**—महाराज! इस उचित सम्बन्ध को सुनकर कृतकृत्य होनेवाले माधवसेन को बधाई देने के लिए मैं जाना चाहती हूँ।

**धारिणी**—हम सबको छोड़कर भगवती का जाना उचित नहीं है।

**राजा**—भगवती! हम अपने पत्र में ही आपकी ओर से बधाई का सन्देश लिखवा कर भेजवा देंगे।

परिव्राजिका—युवयोः स्नेहात्परवानय जनः।

धारिणी—अज्जउत्त ! किं ते भूओ वि पिअं उवहरामि। (आर्यपुत्र ! किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्यमेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम्।

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥ ॥२०॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥

---

परिव्राजिका—मैं तो आप दोनों के स्नेह के वश में हूँ।

धारिणी—आर्यपुत्र ! आपको और प्रिय उपहार मैं क्या दे सकती हूँ।

राजा—हे देवी ! मैं तो अपने हृदय में इतना ही चाहता हूँ कि तुम मेरे ऊपर सर्वंव सुप्रसन्न और अनुकूल बनी रहो।

फिर भी इतना और हो जाय कि [भरत वाक्य]

जब तक इस धरती पर राजा अग्निमित्र का शासन रहे तब तक उनकी प्रजा में किसी प्रकार की अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि उपद्रवों को अवसर न मिले ॥२०॥

[ सब चले जाते हैं। ]

पाचवां अंक समाप्त।

महाकवि कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र नामक नाटक समाप्त